

Q1, Cx1, 1 1584
15NA
Mudhusudantirtha
Swamy
Dharmānirupanam;
Vedic dharmānir-
panam

158A

[illegible]

Q1, Col 1, 1
15NA

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR
LIBRARY.

Jangamwadi Math, VARANASI,

Acc. No. ~~2265~~ 1584

कल्याणपञ्चमसर्वस्वे ।

॥ यत्शूद्रकुलमत्यन्तेन्द्रियासक्तं, ततस्तत्कुलमज्ञानावृतं मोहा-
यभिहितं शास्त्रे । क्षत्रियवलं प्रधानं यत्समाजे, तद्वलं तु समाजे-

(11-)

10.
J.

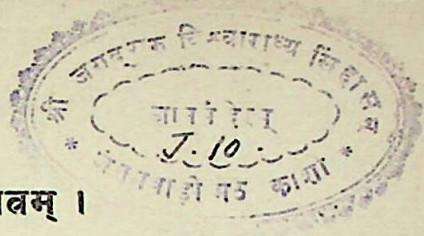
Offset Plates made by
J. SWAIN & SON, LTD.

*Printed by Ward & Robertson, Ltd.,
Canden Town, N. W.*

Printed on J. RATCLIFF & SONS
FLATBED OFFSET MACHINE

This Paper, the world-renowned Cordelia, is suitable for covers, booklets, menus, programmes, tickets, envelopes, etc. Some of these uses are demonstrated in an attractive portfolio, a copy of which will be sent at once on receipt of this voucher, accompanied by a business card or letter-heading. Cordelia is stocked in nine choice colours in a variety of sizes and substances large enough to cover all ordinary requirements, and is priced at a much lower figure than many inferior imported papers.

VOUCHER:
JOHN DICKINSON & CO., LTD.
send me one of your
Cordelia Portfolios.



सूचिपत्रम् ।

(अ)

| | | |
|--|-----|------------|
| अनुपविचारः | ... | पृष्ठा ११५ |
| असंस्कृता कन्या | ... | १४०—१४२ |
| अन्तर्जातीय विवाह विचारः | ... | ३१६—२० |
| अभक्ष्यनिर्णय सनुवचनम् | ... | ३२०—८२ |
| अपक्वपायसादिवर्जनम् | ... | ३८२—८३ |
| अनर्चित नांसवर्जनम् | ... | ३८४—८५ |
| अनीध्यादिप्रभवद्रव्यभक्षण निषेधः | ... | ३८८ |
| अनीध्वभुगुणीजीरभक्षण निषेधः | ... | ३८२ |
| अभक्ष्यनांसपक्षिभक्षणम् | ... | ३८२—८३ |
| अभक्ष्यपशुनांसानि | ... | ३८३—८५ |
| अवलेपादियुक्तजान्नभक्षण निषेधः | ... | ४२१ |
| अमृजायादुद्विगृहभक्षण निषेधः | ... | ४२३ |
| अभोज्यभाण्डस्त्रजलादिपान प्रायश्चित्तं | ... | ४२४ |
| अष्टविधभक्ष्यविचारः | ... | ४३०—३१ |
| अस्पृश्यजलविचारः | ... | ४४८ |
| असंस्कृतानांपितृधनेनसंस्कारविधिः | ... | ५२२—२४ |
| अस्त्रशस्त्राचीकरणपत्रं | ... | ५५१—५२ |
| अस्त्रशस्त्राचीवेवैज्ञानिकाचार्यं न | ... | ५५२—५४ |
| अस्त्रशस्त्ररूपम् | ... | ५७२ |
| अतिरुद्रशस्त्ररूपम् | ... | ५७२ |
| अद्विजशस्त्राभाविगायत्रीजपविधिः | ... | ५७६ |
| अष्टविधपातकनिर्णयः | ... | ५७८ |
| अतिपातकनिर्णयः | ... | ५७८—८० |
| अकामकृतब्राह्मणवधनिरूपणं | ... | ५८३—८४ |
| अकामतोवैश्यकृतब्राह्मणवध प्रायश्चित्तं | ... | ५८८ |
| अकामतःशूद्रकृतब्राह्मणवध प्रायश्चित्तं | ... | ५८८ |
| अशास्त्रीयताडनादौ प्रायश्चित्तं | ... | ६०२ |
| अकामतःसुरापानेराजस्यवैश्यनांदापाभावः | ... | ६०६ |
| अज्ञानतोगुरुतत्पगसने प्रायश्चित्तं | ... | ६०६ |
| अज्ञानकृतब्राह्मणकत्रियवैश्यकर्तृक कत्रिय- स्वामिकगवीवध प्रायश्चित्तं | ... | ७०६ |
| अभिचार प्रायश्चित्तं | ... | ७३८ |
| अभक्ष्यभक्षण प्रायश्चित्तं | ... | ७३८ |
| अज्ञताचमनपानभोजन प्रायश्चित्तं | ... | ७५३ |
| अश्लोष्टभक्षण प्रायश्चित्तं | ... | ७५६ |

| | | |
|--|-----|-----|
| अस्यादिद्रुपितान्नभक्षण प्रायश्चित्तं... | ... | ७५६ |
| अन्यजस्त्रोगमन प्रायश्चित्तं | ... | ७७६ |
| अवकीर्ण प्रायश्चित्तं | ... | ७८१ |
| असत्याभिधान प्रायश्चित्तं | ... | ७८३ |
| अजात्यादिवधप्रायश्चित्तं | ... | ७२७ |

(आ)

| | | |
|---------------------------------|-----|-----|
| आपत्कालविचारः | ... | ७० |
| आध्वनाद्यज्ञोभूतान्नभक्षणनिषेधः | ... | ४१० |
| आमिषद्रव्यविचारः | ... | ४४६ |

(उ)

| | | |
|-----------------------------|-----|-----|
| उपरस्त्वणभक्षणनिषेधः | ... | ३८७ |
| उच्छिष्टभक्षण प्रायश्चित्तं | ... | ४०७ |
| उयान्नभक्षणनिषेधः | ... | ४१० |
| उपकाराचरणवधनियतोवधापनाः | ... | ६०३ |

(ज)

| | | |
|----------------------------------|-----|-----|
| ऊनेकादशवर्षीयवाल्स प्रायश्चित्तं | ... | ५८८ |
|----------------------------------|-----|-----|

(ऋ)

| | | |
|-------------------------------|-----|--------|
| ऋतुभेदगमनभेदः | ... | ४३४—३५ |
| ऋतौभाष्यानभिगमन प्रायश्चित्तं | ... | ७७१ |

(ए)

| | | |
|---|-----|--------|
| एकादश्यादिष्वन्नत्यागस्यकारणं | ... | ४१५ |
| एकभक्त्याससंख्या | ... | ५७२ |
| एकब्राह्मणकृतानेकब्राह्मणवध प्रायश्चित्तविचारः | ... | ५८८—८८ |

(औ)

| | | |
|--------------|-----|--------|
| औरस्यफलक्षणं | ... | ५२६—२८ |
|--------------|-----|--------|

(क)

| | | |
|--------------------------------|-----|--------|
| कन्यास्त्ररूपविचारः | ... | ३२३—३० |
| कन्याभ्यन्तरिकलक्षणविचारः | ... | ३०७—११ |
| कन्यावाह्यलक्षणविचारः | ... | ३११—१२ |
| कलियुगागुप्ततपुप्रयोग्यलविचारः | ... | ५२६—६६ |
| कस्यकीदृक् प्रायश्चित्तविधिः | ... | ५७८—८८ |

(का)

(गो)

| | पृष्ठा | | पृष्ठा |
|--|--------|---|--------|
| कांस्यादिपावस्थनारिकेलजलपानप्रायश्चित्तं | ५२५ | गोरजाविचारः | १०२ |
| कामकृतप्रायश्चित्तविचारः | ५५६—६० | गोमप्रवरविचारः | २३५—४४ |
| कामकृततल्लक्षणं | ५८२ | गोहीतोऽन्नपावस्थनारिकेलजलपानप्रायश्चित्तं | ४१३ |
| कामकृतनिगुणप्रायश्चित्तवधः | ५८२ | | |
| कामतोवैयर्थकृतव्रतवधः प्रायश्चित्तं | ५८८ | (च) | |
| कारागृहवास प्रायश्चित्तं | ७६३ | चक्षुरोगादियुक्तजनान्नभक्षणनिषेधः | ४१० |
| कार्तिकेयदर्शनविधिः | ४०४ | चतुर्गुणसंसर्गनिरूपणं | ६२३ |

(कि)

(चा)

| | | | |
|---|--------|---|-----|
| क्रियसाकालिनकतमेनसंसर्गपतित- साव्यत्यनिरूपणं | ६२३—१० | चान्द्रायणस्वरूपं | ५०४ |
| | | चाण्डालाद्यन्नभक्षणप्रायश्चित्तं | ७४५ |
| (की) | | चाण्डालपतितस्युष्टान्नभक्षण प्रायश्चित्तं | ७४६ |
| कीटक्रान्ताशनं प्रायश्चित्तं च विधेयं | ११०—२१ | चाण्डालस्युष्टाकृतस्नानभोजन प्रायश्चित्तं | ७४७ |
| | | चाण्डालकूपोदकपान प्रायश्चित्तं | ७६१ |

(कु)

(छ)

| | | | |
|-----------------------|--------|------------------|-----|
| कुसीदविचारः | ११२—१५ | कुवकाभक्षणनिषेधः | ३८० |
| कुलपरीचाविचारः | ३१२—१८ | | |
| कुमचिद्वधधादौदीपाभावः | ६०२ | (ज) | |

(क)

| | |
|--|-----|
| कलाघ्निसरणीयतस्याजातेनरुणप्रायश्चित्तं | ५८८ |
|--|-----|

केपुचि नृकृतप्रायश्चित्तेष्वपि व्यवहारनिषेधः ५६२—६३

(ग)

(जा)

| | | | |
|-----------------------------|-----|------------------------------|--------|
| गभिणीगोवध प्रायश्चित्तं | ७०५ | जातिसङ्करप्रायश्चित्तं | ७८६ |
| गवोवधप्रायश्चित्तं | ७०६ | (ज्ये) | |
| गभैवध प्रायश्चित्तं | ७२४ | ज्येष्ठकनिष्ठादिविभागनिरूपणं | ५१८—२२ |
| गजाश्वादिवधप्रायश्चित्तं | ७२५ | (ति) | |
| गवादिमांसभक्षणप्रायश्चित्तं | ७४० | तिलकुधारणविधिः | ४७० |

(गा)

| | |
|-----------------------------|-----|
| तिर्यग्योनिगमनप्रायश्चित्तं | ७७० |
|-----------------------------|-----|

गादाधरीयखाद्यक्रमः ३३५—३७

(तु)

गादाधरीयामन्यनिर्णयः ३८५—३८७

| | |
|----------------------------|-----|
| तुलापुरुषाख्यक्रूरस्वरूपम् | ५७३ |
|----------------------------|-----|

(गि)

(त्रि)

| | | | |
|------------|-----|---------------------|-----|
| गिरिविचारः | ११५ | त्रिविधसुरानिरूपणम् | ६०४ |
|------------|-----|---------------------|-----|

(गु)

(त्रै)

| | | | |
|---|--------|--------------------|-----|
| गुर्वाङ्गनानिरूपणं गुरुशब्दाद्यर्थं | ६१०—१८ | दैवार्थिकव्रतविधिः | ५७० |
| गुरुतत्त्वगमनप्रायश्चित्तहेतुविध्वनिर्णयः | ६१८—१९ | | |

(द)

| | | |
|------------------------------|-----|--------|
| दत्तकाष्ठप्रमाणं | ... | ४६८ |
| दत्तकपुत्रविचारः | ... | ५२६—३४ |
| दत्तकपुत्रगोत्रसंस्कारविचारः | ... | ५३४—४० |
| दत्तकपुत्रप्रतिग्रहप्रकारः | ... | ५४०—४१ |
| दत्तककन्याविचारः | ... | ५४१ |

(दा)

| | | |
|---------------|-----|--------|
| दायभागलक्षणम् | ... | ४६८ |
| दायशब्दाः | ... | ४६८—६६ |

(दि)

| | | |
|----------------------------|-----|-----|
| दिवालाजारावौदधिभक्षणनिषेधः | ... | ३६१ |
| दिवासेष्टुनप्रायश्चित्तं | ... | ७७२ |

(द्वा)

| | | |
|---------------------------|-----|-----|
| द्वादशवार्षिकव्रतविधिः | ... | ५७८ |
| द्वादशवार्षिकदक्षिणाविधिः | ... | ६०१ |
| द्वादशविधसुरानिरूपणम् | ... | ६०५ |

(द्वि)

| | | |
|---------------------------|-----|-----|
| द्विष्टान्नादिभक्षणनिषेधः | ... | ४११ |
| द्विजभार्यासुरापाननिरूपणं | ... | ६०७ |

(द्वे)

| | | |
|----------------------|-----|-----|
| द्वैवार्षिकव्रतविधिः | ... | ५७६ |
|----------------------|-----|-----|

(ध)

| | | |
|-----------------|-----|-------|
| धर्म्यप्रज्ञसा | ... | ४५ |
| धर्म्यलुडानफलम् | ... | ४५ |
| धर्म्यप्रमाणानि | ... | ४५—५५ |
| धर्म्यधिकारिणः | ... | ५५—५७ |

(धृ)

| | | |
|------------|-----|-----|
| धृतिविचारः | ... | १११ |
|------------|-----|-----|

(न)

| | | |
|-----------------------------|-----|-----|
| ननुविचारः | ... | ११५ |
| नरास्थिमर्शादिप्रायश्चित्तं | ... | ७८६ |

(नि)

| | | |
|---------------------------------|-----|--------|
| निवन्धान्तरीणसापिण्डविचारः | ... | ३८०—६१ |
| निशाचराद्यन्नभक्षणप्रायश्चित्तं | ... | ४२४ |
| नित्यभक्षणतीयद्रव्यविधिः | ... | ४३१—३९ |
| नित्याचारप्रातःस्मरणम् | ... | ४६६—६८ |
| निरुक्तमतानुगतविचारः | ... | ६१६ |

(प)

| | | |
|---|-----|--------|
| परपाकयहणदीधः | ... | ४२१—२२ |
| पर-पाकवर्णनम् | ... | ४२२ |
| पक्ष्वादिष्टान्नभक्षणनिषेधः | ... | ४०६ |
| पच-मासकायावदपूजितदेवब्राह्मणस्य गृहान्नभ- | | |

| | | |
|-------------------------|-----|--------|
| क्षणनिषेधः | ... | ४२२ |
| पण्डित सर्वस्वमतं | ... | ४४७—४८ |
| पञ्चदेवतामन्त्रजपविधिः | ... | ४७८—८० |
| पराकस्वरूपम् | ... | ४७३ |
| पतितसंसर्गप्रायश्चित्तं | ... | ६२१ |
| पञ्चलघुसंसर्गनिरूपणं | ... | ६२२—२३ |
| पयुषितान्नभक्षणनिषेधः | ... | ४१३ |

(पा)

| | | |
|------------------------------|-----|--------|
| पारावतादिमांस-सर्वज्जनं | ... | ३८४ |
| पालननिमित्तगोवधप्रायश्चित्तं | ... | ७०५ |
| पापसङ्करप्रायश्चित्तं | ... | ७६८ |
| पापकृच्छ्ररूपम् | ... | ५७२ |
| पापमेद निरूपणम् | ... | १७८—७९ |

(पी)

| | | |
|----------------------------|-----|-----|
| पीतश्रेष्ठतय प्रायश्चित्तं | ... | ४०७ |
|----------------------------|-----|-----|

(पु)

| | | |
|-------------------|-----|-----|
| पुरीषोत्सर्गविधिः | ... | ४६८ |
| पुरुषसूक्तविधिः | ... | ४७५ |

(प्र)

| | | |
|---------------------------------|-----|-----|
| प्रतिवर्णसाधारणधर्माः | ... | ५७ |
| प्रत्यक्षलक्षण भक्षण निषेधः | ... | ३८७ |
| प्रकृतहितकार द्रव्यभक्षणनिषेधः | ... | ३३३ |
| प्रतिलोमजात विविध प्रायश्चित्तं | ... | ७२१ |
| प्रतिलोमस्त्रीगमन प्रायश्चित्तं | ... | ७६६ |
| प्रकीर्णप्रायश्चित्तं | ... | ७८८ |

(पो)

पृष्ठा

| | | | |
|-------------------------|-----|-------------------------------------|-----|
| पोतिका भक्षण निषेधः ... | ३८६ | विशेषाभक्ष्यभक्षण प्रायश्चित्तं ... | ७४१ |
| | | विशेषपक्षिवध प्रायश्चित्तं ... | ७३१ |
| | | विनासैद्युनप्रायश्चित्तं ... | ७७२ |

(प्रा)

| | | | |
|--------------------------------------|--------|---------------------------------|--------|
| प्राग्दत्त प्रमाणनिवहानुकूल व्यवस्था | ६२०-२१ | (वे) | |
| प्रायश्चित्तोपसंहारः ... | ८०१ | वेदविहितप्रति मार्गनिरूपणम् ... | ४६६-६८ |

| | | | |
|------------------------------|--------|--|--------|
| प्रायश्चित्तकरणम् ... | ५४२-५० | (वै) | |
| प्रायश्चित्त स्वरूप कथनं ... | ५५४-५६ | वैदिकधर्मानिरूपणम् ... | ४५ |
| प्रायश्चित्त प्रकारः ... | ५६३-६५ | वैश्वसृष्टत्वविचारः ... | ४५६ |
| प्रायश्चित्त दानादिविधिः ... | ५६५-७० | वैज्ञानिकब्राह्मण सम्मान निरूपणं ... | ५५६-५८ |
| प्राजापत्यहोत्रस्वरूपं ... | ५७२ | वैश्वदेवविधिः ... | ४८०-८१ |
| प्रायश्चित्तविचारः ... | ५८७-८८ | वैज्ञानिक भारतीय भक्ष्याभक्ष्य निरूपणं ... | ४०६ |

(प्रो)

| | | | |
|------------------------------|-----|---|-----|
| प्रोक्षित मांसविधिनिषेधः ... | ३६७ | वैश्वज्ञतशोवधप्रायश्चित्तं ... | ७०५ |
| | | वैश्वकर्तृक क्षत्रियस्त्रात्मिकशोवध प्रायश्चित्तं ... | ७०६ |

(व)

| | | | |
|------------------------------|---------|---|-----|
| वरस्वरूपनिरूपणम् ... | १६४-७७ | (वृ) | |
| वर्णशब्दाद्यः ... | १७७ | वृषल निस्सन्निव ब्राह्मणान्न भक्षण निषेधः ... | ४०८ |
| वर्णविशेष कथनं ... | १७९-२०१ | वृक्षच्छेदन प्रायश्चित्तं ... | ७३४ |
| वर्णभेदोत्पत्तिः ... | २०१-१६ | (व्य) | |
| वरगुणविचारः ... | २१६-२३ | व्यवहार शब्द पारिभाषिकाद्यः ... | ४५६ |
| वरस्यकन्यागृहगमनविधिः ... | ३२१-३२३ | व्यभिचरित स्त्रीवध प्रायश्चित्तं ... | ७२३ |
| वधप्रयोगकपापभागित्वं ... | ५८५ | (ब्र) | |
| वधनिमित्तकर्तृवधभागित्वं ... | ५८५-८६ | ब्रह्मचारिभक्त भक्षण निषेधः ... | ४२२ |

(वा)

| | | | |
|---------------------------|--------|---|--------|
| वाङ्मयनराशीचर्चणार्थः ... | ५५१-५२ | ब्रह्मवधानुयाहकादीनां प्रायश्चित्तं ... | ५८४-८५ |
| वाक्यविवाहनिरूपणं ... | १४४-५७ | ब्रह्महन्त्रस्वरूपम् ... | ५७०-७१ |

(वि)

| | | | |
|----------------------------------|---------|--|--------|
| विद्याविचारः ... | ८४-८६ | ब्रह्मविवाह लक्षणं ... | १४२-४४ |
| विपणि विचारः ... | १०२-७ | ब्रह्मण्यगृहशुद्धिभक्षण निषेधः ... | ४२२ |
| विवाहविचारः ... | | ब्रह्मण्यगृहशुद्धिप्राप्तपाक भक्षण निषेधः ... | ४१० |
| विवाहशब्दाद्यः ... | १२१-२४ | ब्रह्मण्यकर्तृकाकासब्राह्मणवध प्रायश्चित्तं ... | ५८३-८४ |
| विवाहविधिवादः ... | १२४-४० | ब्रह्मण्यकर्तृक खादसहोदरादिवध प्रायश्चित्तविचारः ... | ५८७-८८ |
| विजातीयसापिण्डनिर्णयः ... | २६३ | | |
| विधवायाः पत्यन्तरसंयहनिषेधः ... | २२३-२४ | | |
| विध्यनधिकारिस्त्रैच्छनिरूपणं ... | ४४८ | | |
| विभाग शब्दाद्यः ... | ४६६-५०० | | |

(ब्रा)

| | |
|---|--------|
| ब्राह्मण सम्माननानिर्णयः ... | ४५२-५४ |
| ब्राह्मणस्य-गृहशुद्धि भक्षण निषेधः ... | ४२२ |
| ब्राह्मणविवाह लक्षणं ... | १४२-४४ |
| ब्राह्मण्यगृहशुद्धिप्राप्तपाक भक्षण निषेधः ... | ४१० |
| ब्राह्मण्यकर्तृकाकासब्राह्मणवध प्रायश्चित्तं ... | ५८३-८४ |
| ब्राह्मण्यकर्तृक खादसहोदरादिवध प्रायश्चित्तविचारः ... | ५८७-८८ |

| पृष्ठा | पृष्ठा |
|---|---|
| ब्राह्मणकृत गोवध प्रायश्चित् ... | ७०५ महापातक साधारण प्रायश्चित् ... ५८०-८८ |
| ब्राह्मण चविय वैश्य कर्तृक ब्राह्मण | सत्स्नादि जलचर वध प्रायश्चित् ७३३ |
| स्नामिकाज्ञानकृत गोवध प्राय- | महापातकौ गमन प्रायश्चित् ... ७७४ |
| श्चित् | ७०५ (मा) |
| ब्राह्मणचवियवैश्य कर्तृक ज्ञानकृत | मातापितृधनविभाग काल निरूपण ५१०-१८ |
| वैश्य स्नामिक गवौवध प्रायश्चित् | माज्जारादिवध प्रायश्चित् ... ७२८ |
| ब्राह्मण चविय वैश्य कर्तृक ज्ञानकृत | ७०६ (यु) |
| गृहस्नामिकगवौवध प्रायश्चित् | युगमेदिनधर्ममेदः ... ५७ ७० |
| ब्राह्मणप्रायश्चित्तविचारः ... | युवतो विवाह विचारः ... १५७ ६३ |
| ब्राह्मणस्यगीतादिनाथगार्ज्जने प्रायश्चित् | ७६७ (र) |
| (भ) | |
| भक्त्याभक्त्य व्यवहार फलम् ... | ३७६-८० रसदुष्ट भक्त्य निषेधः ... ४२६ |
| भक्त्याभक्त्य शब्दार्थ विचारः ... | ३८० रसदुष्ट भक्त्य निषेधः ... ४२६-४२७ |
| भक्त्याभक्त्यवैज्ञानिक समालोचनं | ४२५-२६ रजकाद्यन्यान्न भक्षण प्रायश्चित् ७४३ |
| (भा) | ७६४ रहस्य प्रायश्चित्त विचारः ... ७६४ |
| भागयोग्यायोग्यनिरूपणं ... | ४४१-४४८ (रे) |
| भावदुष्टभक्त्यविचारः ... | ४२७-२८ रेतोमूत्रपुरीव भक्षण प्रायश्चित् ... ७५५ |
| भावदुष्टभक्त्यविचारः ... | ४२८-२९ (ल) |
| (भू) | |
| भूसिपभक्ति निरूपणं ... | ४५५ लयनादि भक्षण प्रायश्चित् ... ७५० |
| भूतनादिभक्षण निषेधः ... | ३८६ (श) |
| भूमीतपनसादिभक्षण निषेधः ... | ३९० शकटविचारः ... ११५ |
| (भो) | शङ्करीकरणपात्रीकरणमलावह |
| भोजननिषिद्धासन विचारः ... | ४३९-४० प्रायश्चित् ... ७१८७ |
| भोज्यद्रव्यभेदः ... | ४३३ (शि) |
| भोजन निषिद्ध देश विचारः ... | ४३७ ३९ शिल्पविवेकः ... १००-१०१ |
| भोजनकाले गुदस्ताव प्रायश्चित् ... | ७ ७५७ शिष्टाचार विवेकः ... ४५६-४६६ |
| (भै) | (शू) |
| भैत्यविचारः ... | १११ शूद्रभुक्तभाष्ठावशिष्टान्न भक्षण निषेधः ४०६ |
| (भृ) | शूद्राशितान्न भक्षण निषेधः ... ४१८ |
| भृतिविचारः ... | १०१ शूद्रगारसादि भक्षण निषेधः ... ४१९-२० |
| (म) | शूद्रप्रतिग्रहविधिः ... ४२० |
| सत्तन्त्रुधाद्यन्न भक्षणं ... | ४०७ शूद्रपात्रादि भोजन प्रायश्चित् ... ४२५ |
| महापातक वालदुर्वलादिपु ... | ४०५ शूद्रकृत गोवध प्रायश्चित् ... ७०५ |
| प्रायश्चित्त प्रकारः ... | ५६३-६५ शूद्रकर्तृकाज्ञानकृत चविय स्नामिक |
| | गवौवध प्रायश्चित् ... ७०६ |

| | | | |
|---|------------|---|---------|
| शूद्रक्षत्रभोजन प्रायश्चित् ... | पृष्ठा ७५२ | (ख) | पृष्ठा |
| (घ) | | | |
| पञ्चार्थिकव्रतविधिः ... | ५७७ | स्वकीयोच्छिष्ट भक्षण प्रायश्चित् ... | ७५२ |
| (स) | | स्वभावदुष्ट विचारः ... | ४२८ |
| समुद्रयात्रा ... | ८६-८१ | स्वभावदुष्टान्य विचारः ... | ४२८ |
| समुद्रयात्रा प्रायश्चित् विचारः ... | ८१-१०० | स्वत्वलौकिकालौकिक विचारः | ५०३-१० |
| सद्गुण निर्गुण ब्राह्मणवध प्रायश्चित् | ५८१-५८२ | (से) | |
| सवनस्थवध प्रायश्चित् विचारः | ५८६-८७ | सेवाविचारः ... | १०१-२ |
| सवर्णासवर्ण स्त्री गमन प्रायश्चित् | ७६४ | (स्त्री) | |
| सद्यः प्रसवित् गोवधं मासान् यावद्भक्ष्य | ३८८ | | |
| सदाचारशब्दार्थः ... | ४५८-५८ | स्त्रीशिक्षाविचारः ... | २८७-३०७ |
| सन्ध्याविधिः ... | ४७०-७४ | स्त्रीकृतगोवध प्रायश्चित् ... | ७०५ |
| सप्रतिवन्धा प्रतिवन्धदायविचारः ... | ५००-३ | स्त्रीवध प्रायश्चित् ... | ७२१ |
| सप्तकच्छस्वरूपम् ... | ५७० | स्त्रीव्यभिचार प्रायश्चित् ... | ७७३ |
| (सा) | | (सौ) | |
| सापिण्डोपयोगित्व विचारः ... | २८१-८७ | सौम्यकच्छस्वरूपम् ... | ५७३ |
| सालिकराजसतामसाहारनिर्णयः... | ४००-४ | (स्ते) | |
| सालिकादिभक्ष्यद्रव्य विचारः ... | ४३१ | स्तेयसुवर्ण दाने दोषाभावः ... | ६१६ |
| सामान्य विभाग विचारः ... | ५२४-२६ | (स्था) | |
| सान्त्वनकच्छस्वरूपम् ... | ५०७ | | |
| साख्यानस्थिवध प्रायश्चित् ... | ७३३ | स्थानकालादि विशेषे स्थास्यष्ट विचारः | ४४६ |
| सामान्याभक्ष्यभक्षण प्रायश्चित् ... | ७४० | (स्ना) | |
| (सु) | | | |
| सुरापाननिषेधः ... | २८८-८८ | स्नानविधिः ... | ४६८-६७० |
| सुरादिर्षं स्पष्ट शूद्रोच्छिष्टवत् ... | ४२४ | (सं) | |
| सुराशब्दार्थः ... | ६०४ | | |
| सुरापानचतुर्विध प्रायश्चित् ... | ६०६ | संक्षिप्तपूजाविधिः ... | ४८१-८३ |
| सुरापानेयोरुप प्रायश्चित् ... | ६०७ | (ह) | |
| सुरापाने गुरुलघु प्रतिपादक वाक्यानि | ६०८-८ | | |
| सुरापान विषयकनिरुक्तविचारः ... | ६१० | हविष्यद्रव्य विचारः ... | ४४५-४६ |
| सुवर्ण हरणस्य महापातकत्वं ... | ६१०-११ | (ज) | |
| सुवर्णवद्वाञ्छलवस्त्रापहारन सुवर्णस्तेयदोषः | ६११-१२ | | |
| सुवर्णस्तेयराजदण्डप्रापनाशकत्वं | ६१३ | चरित्रादि कर्तृक ब्राह्मणवध प्रायश्चित् | ५८५-८६ |
| सुवर्णस्तेये द्वादशवर्षिकव्रतं ... | ६१४-१५ | चरित्रकर्तृक गोवध प्रायश्चित् | ७०५ |
| सुवर्णस्तेयेपण्डित सञ्ज्वलनमत्तमवलम्ब्य | | चरित्र वध प्रायश्चित् ... | ७१७ |
| विचारः ... | ६१६ | चरित्रादिस्त्रीषामनूलोमगमने प्रायश्चित् | ७६६ |

मङ्गलाचरणं

सर्वं ब्रह्म जगच्छ्रुताविति महावाक्यस्य प्रत्यक्षता-
 माविर्भावमितः प्रकाशयति यो दार्व्याकृतौ भूतले ।
 विघ्नव्यूहगजान् विनाश्य सततं नीलाद्रिसिंहः स मे,
 दत्तादौष्णितमौक्तिकानि विगतौषम्योऽद्वितीयः प्रभुः ॥ १
 सर्वचैतन्यरूपं तं परमात्मानमाश्रये ।
 चरौकर्त्ति वरौभर्त्ति संजरौहर्त्ति यो जगत् ॥ २
 यज्ञादौ यदपूजनाद्विनिहतो विघ्नैः क्रतुः श्रौविधे,-
 रिन्द्राद्याः परिपूजयन्ति सततं देवाश्च यं भक्तितः ।
 वन्दे ऽहं मदघूर्णिताक्षमनिशं स्वर्णदुर्गतिं श्रौयुतं,
 पाशाभौतिवरांकुशांकितकरं वन्द्यं गजेन्द्राननं ॥ ३
 मुक्तादामलसत्कण्ठा कज्जलाङ्कितलोचना ।
 सदा तिष्ठतु मे कण्ठे वाग्देवौ सुरवन्दिता ॥ ४
 प्रवालमण्डितकरा शारदेन्दुसमानना ।
 शारदाहृदयाभोजी सदा सन्निहितास्तु मे ॥ ५

अन्यकर्तुर्वैशपरिचयः !

यत् स्थिता द्विजवराः परिशुद्धगात्रा,
वेदादिशास्त्रपरिशौलनपूतचित्ताः ।

श्रीनारिकेलतरुराजिविद्वज्जोभो,
विप्राश्रमो हृतमनाश्च विलोकनेन ॥

पूर्याः प्रसिद्धतमशासनवृन्दमध्ये,
ख्यातिं गतं सकलदिक्षु सुधीरवासैः ।

दामोदराभिधपुरं भुवि राजते तत्,
कोणे स्थितं हि मरुतः पुरुषोत्तमस्य ॥

तद्गामोऽमगिष्ठ येनाविलगुणानिकराधारभूतेन कौर्त्तया,
याथार्थं स्थापितं वै बहुसवनविधानेन येनापि नाम्नः ।

मिश्रो यज्ञेश्वराग्र्यः सरगुरुवियः सर्वशास्त्रेषु दक्षो,-
नौतौ काव्योपमेयो विजितहरपरोऽभूत् स हारौतवंशे ॥

हारौतगोत्राम्बुधिपूर्णचन्द्रो,-

विप्राग्रन्थोर्वहविदां वरिष्ठः ।

आसौज्जगन्नाथसमाप्तयोऽस्मिन्,

पुत्रोऽस्य विघ्नेश्वरदत्तचित्तः ॥

श्रीरामचन्द्रस्तनयोऽस्य चाम्भू,—

ब्रह्माद्यादिशास्त्रे परिलब्धकीर्तिः ।

विद्वत्तया ख्यातयशा गुणाढ्यो,—

गणेशसंपूजनसक्तचेताः ॥

तस्य पुत्राश्च चत्वारोऽभवन् विगतकिल्बिषाः ।

तेषु विद्वत्तया ख्यातो रघुनाथविनायकौ ॥

रघुनाथस्य पुत्रोऽभूच्छ्रीधराख्यो महामुधीः ।

विद्वान् शास्त्रविभागेषु स्वजात्युन्नतिकारकः ॥

सदाशिवाख्यस्तत्पुत्रः स्वल्पधौरतिदुर्भगः ।

गुरुदेवस्य कृपया प्राप्तवान् ज्ञानमल्पकं ॥

मन्वादिशास्त्रनिचयं स्वगुरोरधौत्य-

हेमाद्रिमाधर्वमतानि विविच्य यत्नात् ।

श्रीवाजपेयिकमलाकरदिव्यसिंह—

स्मार्त्तादितत्त्वमनुसृत्य विशेषतश्च ॥

मयाल्पबुद्धिना तेन नत्वा गुरुपदाम्बुजं,

चार्याणामुपकाराय धर्मसंरक्षणाय च ॥

सापत्कालप्रयोज्यानि चार्थवाक्यानि यत्नतः ।
 संगृह्य क्रियते नूतो निबन्धोऽयं हि भारते ॥
 सन्ति यद्यपि धोराणां स्मृतिग्रन्थाश्च कोटिशः
 तथापि सारमाकृत्य क्रियते नूतनोद्यमः ॥
 एष प्रेक्षावतां प्रौढिप्रदोऽतो गुणशालिनां ।
 मात्सर्यदोषशून्यानां भवेदिति च प्रत्ययः ॥



अथ ग्रन्थोपसुखवन्धः ।

—:०:—

भारतीयानामाख्याणां समर्थोपयोगिनि समुन्नतिकल्पे “केवलं शास्त्रमाश्रित्य न-
कर्त्तव्योऽर्थ-निश्चयः । युक्तिहीनविचारेण धर्मज्ञानिः प्रजायते” ॥ इत्येतदृहस्यत्त-
वचनमवलम्ब्य प्रायशो धर्मशास्त्रीयप्रमाणसाहाय्येन कचित्-कचित्तदनुगतयुक्तिविसराश्रयेण-
च लिखितोऽयं कल्याणद्वर्गसर्वस्वामिधो निबन्धग्रन्थः । समर्पितोऽयं निबन्धः समाज-
संस्कारार्थं करकमले भरतखण्डमखण्डनायमानकोविदमखलीनां सारासारविचारकुशलानाम् ॥
‘ज्ञाते वाचनं न ह्यविद्वान्निहितोऽस्ती’ति जैमिनीयतृतीयाध्यायाद्युपपादनवमाधि-
करणोक्तसूत्रोपन्यायेनाप्येतदनुष्ठानं सङ्गतमेव ।

तथाहि, तत्र संशयपूर्वपक्षसिद्धान्ताभिधायिनीयं माधवीयकारिका,—

“वाचयेत् स्वामिनं ज्ञाज्ञो वाचनीयो ज्ञ-एव वा ।

अविशेषादुभौ ज्ञस्य स्वामित्वाद्वाचयेदमुमिति ॥”

“अस्यार्थः,—वाचयेत् अयमेव, कृत्तव्यं जमानं वाचयति “आयुर्थ्येन कल्पतां”—
इत्यादयो मन्त्राः कृत्तव्यः । तत्र मन्त्रतदर्थोभिन्नमनभिन्नं चोभावपि वाचयेत् । विद्वांस-
वाचयेत् इत्येवं विशेषस्याश्रयणात् । अनभिज्ञं तदेव शिक्षयित्वापि वाचयितुं शक्यत्वादिति
चेन्नैवं । अध्ययनविधिवलादधीतवेदस्य विदितवेदार्थस्यैव यजमानत्वात् । तस्मादभिज्ञमेव
वाचयेत्” । प्रकृते तु विद्वन्मखलीहस्तसमर्पणं समुपपन्नमिति बोध्यं । अतो-
विश्वजनीनहितमभिलष्य विचारयन्तु भवन्त इत्यनुरोधोऽस्माकं ।

एधियासस्यामलभन्ताविर्भावं तिरोभावं च बहुविधा धर्माः । अपिच स्वल्पसमयतः-
प्राक् कतिपये धर्मा—उपलभ्याविर्भावमपि विलयमभजन्त सत्वरं । किम्वा वक्तव्यमेवात्र ।
नाममात्रमप्यधुना नाकर्ण्यते तेषां । केवलमेतस्मिन्नपि विशाले जगति श्रौतधर्मोऽयमा-
विर्भयातिप्राचीनकालतो-बहुविधप्रत्यूहं तद्विघातकविजातीयसन्द्वायाद्याचारं चातिक्रम्य-
वरीवर्त्तोदानीमपि सर्वसमन्ततः ।

धर्मोऽयं सकलधर्मोपेक्षया वयसा ज्येष्ठ-इत्यनुमीयते सर्वैः । एतदादर्शज्यैव-
नानाविधधर्मवृद्धिः परिदृश्यते जगति । हिमालयकुमारिकान्तरीययोरन्तरालावस्थिते
भूम्यंशे धर्मोऽयं सुमनीषिभिः कालावस्थादिकमभिलक्ष्योक्त्य सुसंस्कृततया विराजतेऽनव-
न्निभावेन बहुकाले धर्ममेतं समयपरम्परया विलोपयितुमाविर्भूते सत्यपि-
वौद्वाद्यनेकविधसन्द्वा-गर्थं देशकालपात्रनिहितवृद्धितया यथैव लक्ष्यभ्रंशो न-

भवेद्धर्मभित्तेरिति विभाष्य धर्मस्यास्य “कूर्माङ्गन्यायेन” संकोचनप्रसारणविधानमनुष्ठितवन्त-
स्त्रिकालविदः पूज्यपादा महर्षयः । त्वेतादृक् निविडमित्यवस्थापिततया चान्द्रादिकप्रभञ्ज-
नातिशयेनापि नोत्पाटितोऽयं धर्मस्तम्भः । नापि विदेशीयचक्रवर्तिनां भिन्नधर्माव-
लम्बितया तदीयशासनावसरे तद्धर्मप्रचारककृपाघातेन प्रभावविधेयानलयोरपि प्रावल्थेन च
विनाशमलभताद्यावधि सः । नेतत् सर्वं स्वकपोलकल्पितं अपितु युक्तिनिहितमेव ।
प्रमाणितं—“कतकरजोन्यायेन” निर्मलीकृतं चैतन्निष्कोद्धतप्रमाणजालेनैव ।

तथाच, वैदिकधर्मविरोधावैदकसांप्रदायिकानामन्यतमप्रमाणग्रन्थे चार्वाकदर्शने-

चामाणकः,—

“अग्निहोतं तयोर्वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम् ।

बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति वृहस्पतिः” ॥ इति ।

तथा वृहस्पतिराह,—

“न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः ।

नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः ॥

अग्निहोतं तयोर्वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम् ।

बुद्धिपौरुषहीनानां जीविका धातुनिर्मिता ॥

पशुष्वेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति ।

स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते ॥

मृतानामपि जन्तूनां आहं चेत्तृप्तिकारणम् ।

गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम् ॥

स्वर्गस्थिता यदा तृप्तिं गच्छेयुस्तत्र दानतः ।

प्रासादस्योपरिस्थानामत्र कस्मान्न दीयते ॥

यावज्जीवं सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिवेत् ।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

यदि गच्छेत्-परं लोकं देहादेष विनिर्गतः ।

कस्मात् भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः ॥

ततश्च जीवनोपायो-ब्राह्मणैर्विहितस्त्रिह ।

मृतानां प्रेतकार्याणि न त्वन्यद्विद्यते कश्चित् ॥

तयो-वेदस्य कर्त्तारो-भण्डधूर्त्तनिशाचराः !
 जर्फरी तर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम् ॥
 अश्वस्यात्र हि शिशन्तु पत्नीग्राह्यं प्रकीर्त्तितम् ।
 भण्डैस्तद्वत्परं चैव ग्राह्यजातं प्रकीर्त्तितम् ।
 मांसानां खादनं तद्वन्निशाचरसमीरितम्” ॥ इति

तथा भागवते,—

“ततः कलौ संप्रवृत्ते संमोहाय सुरद्विषाम् ।
 बुद्धो नामाजिनसुतः कीकटेषु भविष्यति” ॥ इति ।

सुरद्विषां वैदिकानामित्यर्थः ; बृहस्पत्युक्तप्रमाणजालेनैव वैदिकानां निशाचरात्मकत्वेन-
 पद्मैर्गणितत्वात् ।

तथा गीतगोविन्देऽपि,—

“निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातं । सद्यह्मदय ! दर्शितपशुधातं ।

केशव ! धृतबुद्धशरीर ! जय जय देव हरे” ! ।

एवं बहूनि वेदविरुद्धानि प्रमाणान्यन्येषु सांप्रदायिकग्रन्थेषु विद्यमानान्यपि ग्रन्थ-
 बाहुल्यमिदं नोद्धतान्यत्र ।

यथा, देशकालपात्रादिकमावेदयति नियमाचरणमत्रिनिम्नस्थप्रमाणेन,—

“देशकालं वयःशक्तिं पापं चावेक्ष्येत्ततः ।

प्रायश्चित्तं प्रकल्प्य स्यात्-यस्य चोक्ता न निष्कृतिः” ॥ इति ।

तथा याज्ञवल्क्येऽपि,—

“देशं कालं वयः शक्तिं पापं चावेक्ष्य यत्नतः ।

प्रायश्चित्तं प्रकल्प्य स्याद्-यत्र चोक्ता न निष्कृतिः ॥ इति ।

तथा-तद्वाख्यायां विज्ञानेश्वरः, “यदुक्तं प्रायश्चित्तजातं वक्ष्यमाणं वा तद्देशादिकमवेक्ष्य-
 यथा कर्त्तुं प्राणविपत्तिर्न भवति तथा विषयविशेषे कल्पनीयं । इतरथा प्रधाननिवृत्ति-
 प्रसङ्गात् । तथा वक्ष्यति,—“वायुमन्त्रो हिवा तिष्ठन्नात्रिं नीत्वाऽसु सूयंङ्गिति” तत्र यदि
 ह्रिमवन्निरिनिगटवासिनामुदकवास उपदिश्यते । अतिशीताकुलिते वा शिशिरादिकात् तदा
 प्राणवियोगोभवेदिति तद्देशकालपरिहारेणोदकवासः कल्पनीयः ।

तथा, वयोविशेषादपि यदि नवतिवार्षिकादेरपूर्वद्वादशवार्षिकस्य वा द्वादशाब्दिकं
 प्रायश्चित्तमुपदिश्यते, तदा प्राणा विपदोरन्निति । ततोऽन्यवयस्के तत् प्रायश्चित्तं कल्प्यम् ।

अतएव स्मृत्यन्तरे,—

“कच्चिद्वर्द्धं कच्चित्पाद” इति वृद्धादिषु प्रायश्चित्तस्य द्वायोऽभिहितः तत्तु प्राक् प्रपञ्चितं ।
तथा धनदानतपश्चरणादिशक्यपेक्षया च न हि निर्द्धनस्य पात्रे धनं वा पर्याप्तमित्याद्य-
पपद्यते । तथोद्विक्तपित्तादेर्वा परकादिकं नापि स्त्रीशूद्रादेर्जपादिकम् । अतएव
गजादीनामशक्तुवन् “दानं दातं चरेत् क्षच्छमेकैकस्य विशुद्धये” इत्युक्तम् ।

तथा,—‘प्रायश्चित्ताद्धर्महन्ति स्त्रियो रोगिण एव-चेति’—

तपस्यशक्तस्य स्मृत्यन्तरे प्राक्प्रायश्चित्तस्य द्वायोऽभिहितः । पापं च महापातक-
रूपेण प्रत्ययाप्रत्ययसकृदभ्यासादिरूपेण वावेक्ष्य यत्नतः सकलधर्मशाल्मपर्यालोचनया
प्रायश्चित्तं कल्पनीयम् ।

गौतमेनाप्येतान्येवानादेशे विकल्पेन क्रियेरन्नित्येकाह्वाद्यः प्रतिपादिताः ।

उच्यते सत्यमख्येव सामान्यतः प्रायश्चित्तोपदेशस्तथापि सर्वत्र देशकालादीनाम-
पेक्षितत्वादस्येव कल्पनावसरः । विवरणमिदमन्येयासुपलब्धकम् ।

देशकालप्राप्तानुरोधेन विज्ञापयति प्रमाणं भागवतोक्तम् ;

यथा,—

“त्रिवर्गं नातिक्लच्छ्रेण भजेत गृहमेध्वपि ।

यथाकालं यथादेशं यथा दैवोपपादितम्” ॥ इति ।

तथा धर्मराजीयप्रमाणमपि,—

“देशं कालं तथात्मानं द्रव्यं द्रव्यप्रयोजनम् ।

उपपत्तिमवस्थां च ज्ञात्वा धर्मं समाचरेत्” ॥ इति ।

यथा देशकालपातं च धर्मप्रभृतेः प्रसारणसंकोचनाद्यनुष्ठानविषये विद्यमानानि मन्वादि-
धर्मशाल्केषु समवलोच्यन्ते प्रमाणानि ।

यथाह मनुः,—

“चतुष्पात्-सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे ।

नाधर्मेणागमः कश्चिन्ननुष्यान् प्रतिवर्त्तते ॥

इतरेष्वागमाद्धर्मः पादशस्त्ववरोपितः ।

चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादशः ॥

अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षगतायुषः ।

कृते त्रेतादिषु ह्येषामायुर्द्धसति पादशः ॥

वेदोक्तमायुर्मर्त्यानामाशिवश्चैव कर्मणाम् !
 फलन्त्यनुयुगं लौकिके प्रभावश्च शरीरिणाम् ॥
 अन्ये कृतयुगे धर्मास्तेतायां ह्यपरे परे ।
 अन्ये कलियुगे नृणां युगक्रासानुसारतः ॥” इति ।

यथा, भागवते,—

“आयुर्वीर्यमथो बुद्धिर्वलं तेजश्च पाण्डव ! ।
 मनुष्याणामनुयुगं क्रसतीति निबोध मे” ॥ इति

यथा मनुपराशरौ—

“कृते तपः प्रशंसन्ति त्रेतायां ज्ञानमुत्तमम् ।
 ह्यपरे यज्ञमित्याहुः कलौ दानं प्रशस्यते” ॥ इति ।

तथा भागवते—

‘ध्यायन् कृते यजन् यज्ञे त्रेतायां ह्यपरेऽर्चयन् ।
 यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्णं केशवम्” ॥ इति ॥

तथा, पाराशरौ—

“त्यजेद्देशं कृतयुगे त्रेतायां ग्राममुसंस्मरेत् ।
 ह्यपरे कुलमेकं तु कर्त्तारं च कलौ युगे ॥
 कृते सम्भाषणात्-पापं त्रेतायां चैव दर्शनात् ।
 ह्यपरे चान्नमादाय कलौ पतति कर्मणा ॥
 कृते तु तत्क्षणाच्छापस्तेतायां दशभिर्दिनैः ।
 ह्यपरे याचमानाय सेवया दीयते कलौ” ॥ इति ।

प्राज्ञमनुसृत्य प्रमाणानि यथा कान्दे—

“राजकार्यं नियुक्तस्य बन्धनिग्रहवर्त्तिनः ।
 व्यसनेषु च सर्वेषु ग्राहं विप्रेण कारयेत् ॥”

तथा, गादाधरौ कालसारे,—

“एकाहं स्यात्-प्रयाते मरणमनुपनीतासपिण्डेऽथ सद्यः,
 शौचास्तृक्षादिशिष्यद्विजनिचयमतौ सूपकारादिकारुः ।
 अन्यानिर्वाह्यकाव्ये व्यपतिषु च निजेष्वेकभूमिपतीष्ठे,
 वैद्यः सत्री च भूपानुचरनृपतयो दासदास्यावमात्याः ॥” इति ।

हारीतः,—

“एकाहमसपिण्डतः” । इदमनुप्रनीतासपिण्डपरम् ।

सद्यःशौचे विष्णुः,—

“नाशौचं राज्ञां राजकर्मणि, न व्रतिनां व्रते, न स्त्रलिणां सत्रे !
स्वकर्मणि च राजाज्ञाकारिणां, न कारुणां कारकर्मणि ॥”

प्रचेताः,—

“कारवः शिल्पिनो वैद्या दासदास्यस्तथैव च ।
राजानो राजभृत्याश्च सद्यःशौचाः प्रकीर्त्तिताः” इति !

कारवः सुपकारादयः ॥

शिल्पिनो-वर्जं किञ्चित्कारशौचित्यकेलनिर्णयकतन्तुवायादयः ।

दासस्तु,—

“अधिकारी तु यो यस्य स दासस्तस्य कीर्त्तितः” ।
इति लघुहारीतोक्तलक्षणम् ।

थासः,—

“चिकित्सको यः कुरुते तदन्येन न शक्यते ।
तस्माच्चिकित्सक, स्पर्शं शुद्धो भवति नित्यशः” ॥ इत्यादि ।

ननु प्रमाणानामेतेषामभ्यन्तरे केषांचिदपि विषयान्तरबोधकतया न प्रकृतोपयोगित्व-
मिति चेन्न । उपलक्षणविधया—यथायुगं देशकालपात्राण्यभिलक्ष्य संकीर्चनप्रसारणावेदक-
तया प्रकृतोपयोगित्वादिति बोध्यम् ।

“तथा कात्यायनः,—

“ब्राह्मणान्-भोजयेत्-पश्चादभिरूपान् स्वशक्तितः ।
यजमानस्ततोऽग्नीयादिति कात्यायनोऽब्रवीत्” ॥ इति ।

स्वशक्तितः स्वसामर्थ्यानुसारेण द्वौ त्रीनित्यादि ब्राह्मणान् भोजयेदित्यनेन प्रस्तावितोपयो-
गिरङ्कोचप्रसारणविधानं प्रतीयते स्फुटतः ।

तथा भिन्नधर्मावलम्बिनां वृषतीनां भरतखण्डाधिपत्यं हिन्दुधर्मविलोपनशालित्वं चावग-
मयन्ति निम्नलिखितधर्मशास्त्रीयप्रमाणानि,—यथा पुरश्चरणरसोज्ञासौयतन्त्रे,—

“ततोऽष्टौ-यवना भाव्याश्चतुर्दशतुरष्ककाः ।
भूयो दश गुरुण्डाश्च मौला-एकादशैव तु ॥

एते भोक्ष्यन्ति पृथिवीं दशवर्षशतानि च ।

सिन्धोस्तटं चन्द्रभागां कान्तीं काश्मीरमण्डलम् ॥

भेक्ष्यन्ति शूद्रा-ब्राह्मणा स्नेच्छा-अन्नवर्षसः ।

तुल्यकाला इमे राजन् स्नेच्छप्रायास्तु मृशृतः ॥

एतेऽधर्मानृतपराः फलादास्त्रीव्रमन्वः ॥” इति ।

अन्नवर्षसः ब्रह्मतेजोविहीनाः । अधर्मानृतपरा अधर्मपरा धर्मविरुद्धधर्मासक्ता अनृतपराः कपटचारिणस्तेत्यादिविशेषणादानेन हिन्दुधर्मं चाभिधासित्वं स्पष्टतः संचित-
मेतेषां विदेशीयचक्रवर्तिनामित्यवधेयम् ।

तथा मेरुतन्त्रीये,—

“अधिपा मण्डलानां च संग्रामेष्वपराजिताः ।

इरेजा नवषट्पञ्च लण्डजाश्चापि भाविनः” ॥ इति ।

इरेजभिन्नानां चक्रवर्तिनामेतेषां स्वधर्मप्रसारणे स्वशक्तिपरिचालनं विद्वेषानलप्रकटनं चावलोकनीयं भारतेतिवृत्ततः ।

निरुक्तशास्त्रीयप्रमाणसन्दोहैरवगम्यते स्फुटतो यत्, विभिन्नसमयमभिलक्ष्य नानाविधा-
कारसंकोचनप्रसारणानुष्ठानेनैव संरक्षितोऽयं धर्मः पूज्यपाटैर्महर्षिभिः ।

तथादिह—प्राक्तनधर्मशास्त्रीयग्रन्थेष्वनुल्लेखितानां स्वस्वसमयानुष्ठितानां नवनवाचार-
व्यवहाराणामपि तत्तत्-कालोन्धर्मशास्त्रीयग्रन्थेषु स्पष्टतः परिदृश्यते लेखः । यथा—
विक्रयार्थमापदि पृथिव्यादिकतिपयद्रव्याणां सति मनुनिषेधाविषयत्वेऽपि गौतमयाज्ञव-
ल्करनिषेधविषयकत्वस्य परिदर्शनात् । वक्ष्यन्तेऽग्रे प्रमाणानि ।

तथा, पुरातनधर्मशास्त्रीयादरविषयीभूतनियमानामप्यनावश्यकत्वदृष्ट्या परिवर्ति-
त्वमुपलक्ष्यते तत्-परभाविधर्मशास्त्रनिवहेयु, यथा—पूज्यपादमनुयाज्ञवल्करादिसंहितानि-
र्माहभिरुद्धावितानामपि द्वादशपुत्राणां तदनन्तरकालीनादित्यप्राणादिधर्मशास्त्रकर्तृभिः
कल्पवच्छिन्नकाले पुत्रदयादानस्येवाडततया विपरिवर्तितत्वस्य परिदर्शनादितिदिक् ।

प्रदर्श्यन्तेऽनुपदमेव प्रमाणानि प्रथाक्रमं ।

द्वादशविधतनयादरणे मानवीयप्रमाणानि—यथा,—

“स्वे क्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुत्पादयेद्विजम् ।

तमौरसं विजानीयात्पुत्रं प्रथमकल्पितम् ॥

यस्तत्पुत्रः प्रमीतस्य स्त्रीवस्य व्याधितस्य वा ।

स्वधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः ॥

माता पिता वा दद्यातां यमङ्गिः पुत्रमापदि ।
 सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्तिसः सुतः ॥
 सदृशं तु प्रकुर्व्याद्यं गुणदोषविचक्षणम् ।
 पुत्रं पुत्रगुणैर्युक्तं स विज्ञेयश्च कृत्तिसः ॥
 उत्पद्यते गृहे यस्य न च ज्ञायेत कस्य सः ।
 स गृहे गूढ उत्पन्नस्तस्य स्याद्यस्य तल्पजः ॥
 मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा ।
 यं पुत्रं परिगृह्णीयादपविद्वः स उच्यते ।
 पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्ब्रह्मः ।
 तं कानौनं बदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्भवम् ॥
 या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताज्ञातापि वा सती ।
 वोढुः स गर्भो भवति सहोद इति चोच्यते ॥
 क्रीणीयाद'यस्त्वपत्यार्थं मातापितृर्यमन्तिकात् ।
 स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा ॥
 या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा निजेच्छया ।
 उत्पादयेत्पुनर्भृत्वा स पौनर्भव उच्यते ॥
 सा चेदक्षतयोनिः स्याद्गतप्रत्यागतापि वा ।
 पौनर्भवेण भर्तुः सा पुनः संस्कारमर्हति ॥
 मातापितृविहीनो यस्यक्तो वा स्यादकारणात् ।
 आत्मानं स्पर्शयेद्यस्मै स्वयं दत्तस्तु स स्मृतः" इति ।

याज्ञवल्क्यप्रमाणानां मानवीयप्रमाणतुल्यतया बाहुल्यशङ्कया चानुवृत्तत्वात् ।

याज्ञवल्क्यप्रटीकायां कलावधिक्षत्वाद् बृहस्पतिः,—

“अनेकधाः कृताः पुत्रा-ऋषिभिर्यैः पुरातनैः ।

न शक्यन्तेऽधुना कर्तुं शक्तिहीनैरिदंतनैः” ॥ इति ।

कलिवर्च्यप्रकरणे कल्यवच्छिन्नकालाधिकरणकसन्तानद्वयादाने सन्ति प्रमाणान्यादि-
 त्वपुराणे यथा,—

“वरातिथिपितृभ्यश्च पशूपाकरणक्रिया ।

दत्तोरसेतरेषां तु पुत्रत्वेन परिग्रहः” ॥ इत्यादि ।



अथ ग्रन्थीयमुखवन्धः ।

—:०:—

भारतीयावामार्थाणां समग्रोपयोगिनि समुन्नतिकल्पे “केवलं शास्त्रमाश्रित्य न-
कर्त्तव्योऽर्थ-निश्चयः । युक्तिहीनविचारेण धर्महानिः प्रजायते” ॥ इत्येतद्वृहस्पत्य-
वचनमवलम्ब्य प्रायशो धर्मशास्त्रीयप्रमाणसाहायेन कचित्-कचित्तदनुगतयुक्तिविसराश्रयेण-
च लिखितोऽयं कल्याणधर्मसर्वस्वामिधो निबन्धग्रन्थः । समर्पितोऽयं निबन्धः समाज-
संस्कारार्थं करकमले भरतखण्डमखण्डनायमानकोविदमण्डलीनां सारासारविचारकुशलानाम् ॥
‘ज्ञाते वाचनं ननु विद्वान्निहितोऽस्ती’ति जैमिनीयवृत्तीयाध्यायाद्यमपादनवमाधि-
करणोक्तसूत्रेणान्वायेनाप्येतदनुष्ठानं सङ्गतमेव ।

तथाहि, तत्र संशयपूर्वपक्षसिद्धान्ताभिधायिनीयं माधवीयकारिका,—

“वाचयेत् स्वामिनं ज्ञात्री वाचनीयो ज्ञ-एव वा ।

अविशेषादुभौ ज्ञस्य स्वामित्वाद्वाचयेदमुमिति ॥”

“अस्यार्थः,—वाजपेये श्रूयते, क्लृप्तीर्थ्यजमानं वाचयति “आशुर्थ्येन कल्पतः”—
इत्यादयो मन्त्राः क्लृप्तयः । तत्र मन्त्रतदर्थोभिज्ञमनभिज्ञं चोभावपि वाचयेत् । विद्वांस-
वाचयेत् इत्येवं विशेषस्याश्रवणात् । अनभिज्ञं तदेव शिक्षयित्वापि वाचयितुं शक्यत्वादिति
चेन्नैवं । अध्ययनविधिवलादधीतवेद्य विदितवेदार्थस्यैव यजमानत्वात् । तस्मादभिज्ञमेव
वाचयेत्” । प्रकृते तु विद्वन्मण्डलीहस्तसमर्पणं समुपपन्नमिति बोध्यं । अतो-
विश्वजनीनहितमभिलष्य विचारयन्तु भवन्त इत्यनुरोधोऽस्माकं ।

पृथिव्यामस्यामलभन्ताविर्भावं तिरोभावं च बहुविधा धर्माः । अपिच स्वल्पसमयतः-
प्राक् कतिपये धर्मा—उपलभ्याविर्भावमपि विलयमभजन्त सत्वरं । किम्वा वक्तव्यमेवात्र ।
नामसात्रमप्यधुना नाकर्ण्यते तेषां । केवलमेतस्मिन्नपि विशाले जगति श्रौतधर्मोऽयमा-
विर्भ्यातिप्राचीनकालतो-बहुविधप्रत्यूहं तद्विघातकविजातीयसम्राट्पादाचारं चातिक्रम्य-
वरीवर्त्तमानोमपि सर्वसमक्षतः ।

धर्मोऽयं सकलधर्मापेक्षया वयसा ज्येष्ठ-इत्यनुमीयते सर्वैः । एतदादर्शेऽन्येव-
नानाविधधर्मवृत्तिः परित्यज्यते । हिमालयकुमारिकान्तरौययोरन्तरालावस्थिते-
भूस्वर्गेषु धर्मोऽयं सुमनीषिभिः कालावस्येन कुमभिलक्ष्यीकृत्य सुसंस्कृतः । जतेऽनव-
न्निभावेन बहुकालावधि । समग्रं समस्तं पर्यायं विलोपयितुमावर्तते सत्यपि-
वैद्वाद्यनेकविधसम्राट्पादे तद्विचक्षणार्थं देशकालपात्रनिहितदृष्टितया शैव-धर्मो न-

वेदधर्मभित्तेरिति विभाज्य धर्मस्यास्य “कूर्माङ्गन्यायेन” संकोचनप्रसारणविधानमनुष्ठितवन्त-
स्त्रिकालविदः पूज्यपादा महर्षयः । त्वेतादृक् निविडमित्यवस्थापिततया साम्नादधिकप्रभञ्ज-
नातिशयेनापि नोत्पाटितोऽयं धर्मस्तम्भः । नापि विदेशीयचक्रवर्तिनां भिन्नधर्माव-
लम्बितया तदीयशासनावसरे तद्वर्धप्रचारककशाघातेन प्रभावविधेयानलयोरपि प्रावलीन च
विनाशमलभताद्यावधि सः । नेतृत्वं सर्वं स्वकपोलकल्पितं अपितु युक्तिनिहितमेव ।
प्रमाणितं—“कतकरजोन्यायेन” निर्मलीकृतं चेतन्निष्कृतप्रमाणजालेनैव ।

तथाच, वेदिकधर्मविरोधावेदकसांप्रदायिकानामन्यतमप्रमाणग्रन्थे चार्वाकदर्शने-

चामाणकः,—

“अग्निहोत्रं त्रयोवेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्डनम् ।

बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति वृहस्पतिः” ॥ इति ।

तथा वृहस्पतिराह,—

“न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः ।

नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः ॥

अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्डनम् ।

बुद्धिपौरुषहीनानां जीविका धातुनिर्मिता ॥

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति ।

स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते ॥

मृतानामपि जन्तूनां आहं चेत्तृप्तिकारणम् ।

गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम् ॥

स्वर्गस्थिता यदा तृप्तिं गच्छेयुस्तत्र दानतः ।

प्रासादस्योपरिस्थानामत्र कस्मान्न दीयते ॥

यावज्जीवं सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिवेत् ।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

यदि गच्छेत्-परं लोकं देहादेष निनिर्गतः ।

या,— स्मात् भूयो न चायाति बभूव हसमाकुलः ॥

ततश्च जीवनोपायो-प्राशूपात्पाहतीत्या ।

दत्तानां प्रेतकार्याणि न त्वन्यद्विद्यते काश्चित् ॥

तयो-वेदस्य कर्तारो-भण्डधूर्तनिशाचराः !

जर्फरी तर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम् ॥

अश्वस्यात हि शिअन्तु पत्नीग्राह्यं प्रकीर्तितम् ।

भण्डैस्तद्वत्परं चैव ग्राह्यजातं प्रकीर्तितम् ।

मांसानां खादनं तद्वन्निशाचरसमीरितम्” ॥ इति

तथा भागवते,—

“ततः कलौ संप्रवृत्ते संमोहाय सुरद्विषाम् ।

बुद्धो नामाजिनसुतः कीकटेषु भविष्यति” ॥ इति ।

सुरद्विषां वैदिकानामित्यर्थः ; बृहस्पत्युक्तप्रमाणजालेनैव वैदिकानां निशाचरात्मकत्वेन-
प्रायश्चित्तत्वात् ।

तथा गीतगोविन्देऽपि,—

“निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातं । सदयहृदय ! दर्शितपशुधातं ।

केशव ! धृतबुद्धुशरीर ! जय जय देव हरे” ! ।

एवं बहूनि वेदविरुद्धानि प्रमाणान्यन्येषु सांप्रदायिकग्रन्थेषु विद्यमानान्यपि ग्रन्थ-
वाहुल्यमिमां नोद्धतान्यत्र ।

यथा, देशकालपात्रादिकमावेदयति नियमाचरणमत्रिनिम्नस्थप्रमाणेन,—

“देशकालं वयःशक्तिं पापं चावेक्ष्येत्ततः ।

प्रायश्चित्तं प्रकल्प्य स्यात्-यस्य चोक्ता न निष्कृतिः” ॥ इति ।

तथा याज्ञवल्क्येऽपि,—

“देशं कालं वयः शक्तिं पापं चावेक्ष्य यत्नतः ।

प्रायश्चित्तं प्रकल्प्य स्याद्-यत्न चोक्ता न निष्कृतिः ॥ इति ।

तथा-तद्व्याख्यायां विज्ञानेश्वरः, “यदुक्तं प्रायश्चित्तजातं वक्ष्यमाणं वा तद्देशादिकमवेक्ष्य-
यथा कर्तुं प्राणविपत्तिर्न भवति तथा विषयविशेषे कल्पनीयं । इतरथा प्रधाननिवृत्ति-
प्रसङ्गात् । तथा वक्ष्यति,—“वायुमध्यो दिवा तिष्ठन्नात्रिं नीत्वाप्तुं सूय्यङ्गिति” तत्र यदि
हिमवन्निरिनिकटवासिनामुदकवास उपदिश्यते । अतिशीताकुलिते वा शिशिरादिकात्वे तदा
प्राणवियोगोभवेदिति तद्देशकालपात्रादिकमुदकवासः कल्पनीयः ।

तथा, वयोविशेषादपि यदि नृणां श्रिंकादेरपूर्णद्वादशवार्षिकस्य तदा दशाब्दिकं
प्रायश्चित्तमुपदिश्यते, तदा नृणां विपद्येरन्ति । ततोऽन्यवयस्के तत् प्रायश्चित्तं कल्प्यम् ।

अतएव स्मृत्यन्तरे,—

“कचिदहं कचित्पाद” इति वृद्धादिषु प्रायश्चित्तस्य द्वासोऽभिहितः तत्तु प्राक् प्रपञ्चितं ।
तथा धनदानतपश्चरणादिशक्यपेक्षया च न हि निर्जनस्य पात्रे धनं वा पर्याप्तमित्याद्य
पपद्यते । तथोद्विग्नपित्तादेर्वा परकादिकं नापि स्त्रीशूद्रादेर्जपादिकम् । अतएव
गजादीनामशक्तुवन् “दानं दातं चरेत् कच्छमेकैकस्य विष्णुद्वये” इत्युक्तम् ।

तथा,—‘प्रायश्चित्ताहंमर्हन्ति स्त्रियो रोगिण एव-चेति’—

तपस्यशक्तस्य स्मृत्यन्तरे प्राक्प्रायश्चित्तस्य द्वासोऽभिहितः । पापं च महापातक-
रूपेण प्रत्ययाप्रत्ययसहदभ्यासादिरूपेण बावेक्ष्य यत्नतः सकलधर्मशाल्मपर्वालोचनया
प्रायश्चित्तं कल्पनीयम् ।

गौतमेनाप्येतान्येवानादेशे विकल्पेन क्रियेरन्त्रिकेकाह्यादयः प्रतिपादिताः ।

उच्यते सत्यमस्येव सामान्यतः प्रायश्चित्तोपदेशस्तथापि सर्वत्र देशकालादीनाम-
पेक्षितत्वाद्यस्येव कल्पनावसरः । विवरणमिदमन्येषासुपलक्षकम् ।

देशकालपान्नाशुरोधेन विज्ञापयति प्रमाणं भागवतीयम् ;

यथा,—

“त्रिवर्गं नातिकच्छेण भजेत गृहमेध्यपि ।

यथाकालं यथादेशं यथा दैवोपपादितम्” ॥ इति ।

तथा धर्मराजीयप्रमाणमपि,—

“देशं कालं तथात्मानं द्रव्यं द्रव्यप्रयोजनम् ।

उपपत्तिमवस्थां च ज्ञात्वा धर्मं समाचरेत्” ॥ इति ।

यथा देशकालपात्रं च धर्मप्रभृतेः प्रसारणसंकोचनाद्यनुष्ठानविधये विद्यमानानि मन्वादि-
धर्मशास्त्रेषु समवलोच्यन्ते प्रमाणानि ।

यथाह मनुः,—

“चतुष्पात्-सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे ।

नाधर्मेणागमः कश्चिन्ननुष्ठानं प्रतिवर्त्तते ॥

इतरेष्वागमाधर्मः पादशस्त्ववरोपितः ।

चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादशः ॥

अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः ।

कृते चैतादिषु ह्येषामायुर्हंसति पादशः ॥

दश

वेदोक्तमायुर्मर्त्यानामाशिवश्चैव कर्मणाम् !
 फलन्त्यनुयुगं लौकिके प्रभावश्च शरीरिणाम् ॥
 अन्ये कृतयुगे धर्मास्तेतायां द्वापरे परे ।
 अन्ये कलियुगे नृणां युगक्रासानुसारतः ॥” इति ।

यथा, भागवते,—

“आयुर्वीर्यमथो बुद्धिर्वलं तेजश्च पाण्डव ! ।
 मनुष्याणामनुयुगं क्रसतीति निबोध मे” ॥ इति

यथा मनुपराशरौ—

“कृते तपः प्रशंसन्ति त्रेतायां ज्ञानमुत्तमम् ।
 द्वापरे यज्ञमित्याहुः कलौ दानं प्रशस्यते” ॥ इति ।

तथा भागवते—

“ध्यायन् कृते यजन् यज्ञे त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन् ।
 यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्णं केशवम्” ॥ इति ॥

तथा, पाराशरीये—

“त्वजेद्देशं कृतयुगे त्रेतायां ग्राममुसंभजेत् ।
 द्वापरे कुलमेकं तु कर्त्तारं च कलौ युगे ॥
 कृते सन्धाषणात्-पापं त्रेतायां चैव दर्शनात् ।
 द्वापरे चान्नमादाय कलौ पतति कर्मणा ॥
 कृते तु तत्क्षणाच्छापस्तेतायां दशभिर्दिनैः ।
 द्वापरे याचमानाय सेवया दीयते कलौ” ॥ इति ।

पातमनुसृत्य प्रमाणानि यथा कान्दे—

“राजकार्ये नियुक्तस्य बन्धनिग्रहवर्त्तिनः ।
 व्यसनेषु च सर्वेषु आहं विप्रेण कारयेत् ॥”

तथा, गादाधरीये कालसारे,—

“एकाहं स्यात्-प्रयाते मरणमनुपनीतासपिण्डेऽथ सद्यः,
 शीचास्तृक्षादिशिर्लपिद्विजनिचयमतौ सूपकारादिकारः ।
 अन्यानिर्वाहकाव्येव्यपतिषु च निजेष्वेकभूमिपतीषे,
 वैद्यः सत्री च भूपानुचरनृपतयो दासदास्यावमात्याः ॥” इति ।

हारीतः,—

“यकाहमसपिण्डतः” । इदमनुपनीतासपिण्डपरम् ।

सद्यःशौचे विष्णुः,—

“नाशौचं राज्ञां राजकर्मणि, न व्रतिनां व्रते, न खलिणां सत्रे !
स्वकर्मणि च राजाज्ञाकारिणां, न कारुणां कारुकर्मणि ॥”

प्रचेताः—

“कारवः शिल्पिनो वैद्या दासदास्यस्तथैव च ।
राजानो राजभृत्याश्च सद्यःशौचाः प्रकीर्त्तिताः” इति !

कारवः सुपकारादयः ॥

शिल्पिनो-वर्द्धकिचित्रकारशौचिकचेलनिर्णयकतनुवायादयः ।

दासस्तु—

“अधिकारी तु यो यस्य स दासस्तस्य कीर्त्तितः” ।

इति लघुहारीतोक्तलक्षणम् ।

थासः,—

“चिकित्सको यः कुरुते तदन्येन न शक्यते ।

तस्माच्चिकित्सक, स्वर्गं शुद्धो भवति नित्यशः” ॥ इत्यादि ।

ननु प्रमाणानामेतेषामभ्यन्तरे केषांचिदपि विधयान्तरबोधकतया न प्रकृतोपयोगित्व-
मिति चेन्न । उपलक्षणविधया—यथायुगं देशकालपात्राण्यभिलक्ष्य संकोचनप्रसारणावेदक-
तयाप्रकृतोपयोगित्वादिति बोध्यम् ।

“तथा कात्यायनः,—

“ब्राह्मणान्-भोजयेत्-पश्चादभिरूपान् स्वशक्तितः ।

यजमानस्ततोऽग्नीयादिति कात्यायनोऽब्रवीत्” ॥ इति ।

स्वशक्तितः स्वसामर्थ्यानुसारेण द्वौ त्रीनित्यादि ब्राह्मणान् भोजयेदित्यनेन प्रस्तावितोपयो-
गिरसंकोचप्रसारणविधानं प्रतीयते स्फुटतः ।

तथा भिन्नधर्मावलम्बिनां वृषतीनां भरतखण्डाधिपत्यं हित्दुधर्मविलोपनशालित्वं चावश-
मयन्ति निम्नलिखितधर्मशास्त्रीयप्रमाणानि,—यथा पुरश्चरणरसोक्तासीयतन्त्रे,—

“ततोऽष्टौ-यवना भाव्याश्चतुर्दशतुरष्ककाः ।

भूयो दश गुरुण्डाश्च मौला-एकादशैव तु ॥

एते भोक्ष्यन्ति पृथिवीं दशवर्षशतानि च ।

सिन्धोस्तटं चन्द्रभागां कान्तीं काश्मीरमण्डलम् ॥

मेक्ष्यन्ति शूद्रा-ब्राह्म्याद्या स्लेच्छा-अव्रक्षवर्चसः ।

तुल्यकाला इमे राजन् स्लेच्छप्रायास्तु मृभृतः ॥

एतेऽधर्मानृतपराः फल्गुदास्तीव्रमन्यवः ॥” इति ।

अश्रवणवर्चसः ब्रह्मतेजोविहीनाः । अधर्मानृतपरा अधर्मपरा धर्मविरुद्धधर्मसक्ता
अनृतपराः कपटचारिणश्चेत्यादिविशेषणादानेन हिन्दुधर्मध्वंसाभिलाषित्वं स्पष्टतः संचित-
मेतेषां विदेशीयचक्रवर्तिनामित्यवधेयम् ।

तथा मेरुतन्त्राये,—

“अधिपा मण्डलानां च संग्रामेष्वपराजिताः ।

इंरेजा नवषट्पञ्च लण्डजाद्यापि भाविनः” ॥ इति ।

इंरेजमित्रानां चक्रवर्तिनामेतेषां स्वधर्मप्रसारणे स्वशक्तिपरिचालनं विद्विधानलप्रकटनं
चावलोकनीयं भारतेतिष्ठततः ।

निरुक्तशास्त्रीयप्रमाणसन्दोहेरवगम्यते स्फुटतो यत्, विभिन्नसमयमभिलक्ष्य नानाविधा-
कारसंकीर्णप्रसारणानुष्ठानेनैव संरक्षितोऽयं धर्मः पूज्यपाटैर्महर्षिभिः ।

तथादिह—प्राकृतनधर्मशास्त्रीयग्रन्थेष्वनुल्लेखितानां स्वस्वसमयानुष्ठितानां नवनवाचार-
व्यवहाराणामपि तत्तत्-कालीनधर्मशास्त्रीयग्रन्थेषु स्पष्टतः परिदृश्यते लेखः । यथा—
विक्रयार्थमापदि पृथिव्यादिकतिपयद्रव्याणां सति मनुनिधेयाविषयत्वेऽपि गौतमयाज्ञव-
ल्क्यनिषेधविषयकत्वस्य परिदर्शनात् । वक्ष्यन्तेऽग्रे प्रमाणानि ।

तथा, पुरातनधर्मशास्त्रीयादरविषयौभूतनियमानामप्यनावश्यकत्वदृष्ट्या परिवर्त्ति-
त्वमुपलक्ष्यते तत्-परभाविधर्मशास्त्रनिवहेषु, यथा—पूज्यपादमनुयाज्ञवल्क्यादिसंहितानि-
र्मातृभिरुद्भाषितानामपि द्वादशप्रश्नोत्तराणां तदनन्तरकालीनादिह्युपाणादिधर्मशास्त्रकर्तृभिः
कल्पवृक्षेनकाले पुत्रद्वयादानस्येवावृत्ततया विपरिवर्त्तितत्वस्य परिदर्शनादितिदिक् ।

प्रदर्श्यन्तेऽनुपदमेव प्रमाणानि प्रथाक्रमं ।

द्वादशविधतनयादरणे मानवीयप्रमाणानि—यथा,—

“स्वे चित्रे संस्कृतायां तु स्वयमुत्पादयेद्विजम् ।

तमौरसं विजानीयात्पुत्रं प्रथमकल्पितम् ॥

यस्तत्पुत्रः प्रमीतस्य क्लीवस्य व्याधितस्य वा ।

स्वधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः चैत्रजः स्मृतः ॥

माता पिता वा दद्यातां यमङ्गिः पुत्रमापदि ।
 सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्तिसः सुतः ॥
 सदृशं तु प्रकुर्व्यादयं गुणदोषविचक्षणम् ।
 पुत्रं पुत्रगुणैर्युक्तं स विज्ञेयश्च कृत्तिसः ॥
 उत्पद्यते गृहे यस्य न च ज्ञायेत कस्य सः ।
 स गृहे गूढ उत्पन्नस्तस्य स्यादयस्य तत्पुत्रजः ॥
 मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा ।
 यं पुत्रं परिगृह्णीयादपविद्वः स उच्यते ।
 पितृवेषानि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्ब्रह्मः ।
 तं कानौनं वदेन्नाज्जा वोढुः कन्यासमुद्भवम् ॥
 या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताज्ञातापि वा सती ।
 वोढुः स गर्भो भवति सहोद इति चोच्यते ॥
 क्रीणीयादयस्त्वपत्यार्थं मातापितृर्यमन्तिकात् ।
 स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा ॥
 या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा निजेच्छया ।
 उत्पादयेत्पुनर्भृत्वा स पौनर्भव उच्यते ॥
 सा चेदक्षतयोनिः स्याद्गतप्रत्यागतापि वा ।
 पौनर्भवेण भर्तुः सा पुनः संस्कारमर्हति ॥
 मातापितृविहीनो यस्यक्तो वा स्यादकारणात् ।
 आत्मानं स्पर्शयेद्यस्मै स्वयं दत्तस्तु स स्मृतः” इति ।

याज्ञवल्क्यीयप्रमाणानां मानवैयप्रमाणतुल्यतया बाहुल्यशङ्कया चातुद्वतत्वादस ।
 याज्ञवल्क्यटीकायां कलावधिलब्धाह वृद्धस्यतिः—

“अनेकधाः कृताः पुत्रा-ऋषिभिर्भयैः पुरातनैः ।

न शक्यन्तेऽधुना कर्तुं शक्तिहीनैरिदंतनैः” ॥ इति ।

कलिवर्ज्यप्रकरणे कल्यवच्छिन्नकालाधिकरणकसन्तानदयादाने सन्ति प्रमाणान्यादि
 त्वपुराणे यथा,—

“वरातिथिपितृभ्यश्च पशूपाकरणक्रिया ।

दत्तोरसेतरेषां तु पुत्रत्वेन परिग्रहः” ॥ इत्यादि ।

अपिच—विभिन्नधर्मावलम्बिनां विदेशीयनरनाथनिकराणां शासनाधीनतामनधिगते-
सत्यपि भरतखण्डे भविष्यद्-ज्ञानदृष्ट्या पुराणाचार्याणां स्त्रीयस्त्रीयधर्मशास्त्रीयग्रन्थाभ्यन्तरे-
कुत्र कुत्र संचेपतः सन्निवेशितानां भाष्याचारव्यवहारप्रकाशकप्रमाणानां कचिद्वचिताच्चा-
त्मस्वन्वेन कुत्र कुत्रोपलक्षणविधया चावलोक्यते लेखः ।

एतदनुमोदते भागवतीयप्रमाणं यथा,—

“राजानो ब्राह्मणा वैश्याः शूद्राश्चैव युधिष्ठिर ! ।

व्याजैर्धर्मं चरिष्यन्ति धर्मवैतंसिका नराः” ॥ इति ।

तथा पुरचरणरसोक्तासतन्त्रे,—

“स्त्रीवालगोद्विजघ्नाश्च परदारधनादृताः ।

उदितास्तमयप्राया अल्पसत्वाल्पकायुषः ॥

असंस्कृताः क्रियाहीना रजसा तमसा वृताः ।

प्रजास्ते भक्षयिष्यन्ति स्लेच्छराजन्यरूपिणः” ॥ इत्यादि ।

एवं विद्यमानान्यपि भविष्यात्प्राप्तपुराणादिषु प्रमाणानि ग्रन्थाधिक्यमभयान्नोक्तोलितान्यत्र ।
अपरं च, विदेशीयचक्रवर्त्तिशासनं तदुपयोगितदीयभाषाशिष्यादिनवनवाचारव्यव-
हारजालं च यद्यपि समस्ततत्कालीनाचार्याणामभविष्यदुपस्थितम्, तदा ते विषयेऽस्मिन्-
समुचितव्यवस्थामविधाय नोरवा अभविष्यन्निवसम्भवम् ।

नच केवलं वैदिकाचारमूलकतयैव धर्मोऽयं परिचालितस्तैरिति वाच्यम् । अद्यावधि-
धर्मस्यास्याविद्यमानत्वात्,—स्मृत्यादिपुराणान्तर्धर्मशास्त्रजालस्य प्रयोजनशून्यतया नुद्गू-
तत्वाच्च ।

अन्यच्च—यद्यपि वैदिकाचारोपर्यैव भारसुग्रन्थस्य धर्ममेतं परिचालयितुं तेषामभविष्यच्चेद-
भिप्रायस्तदा धर्मस्यास्याविद्यमानत्वमभविष्यदेव ।

अपिच—स्मृत्युपस्मृत्यागमपुराणानामुद्भवो नाभविष्यदादावेव ।

अथ च स्त्रीयस्त्रीयसमयान्तःप्रचलितव्यवहारनिवहानां स्वस्वरचितस्मृतिग्रन्थनियमनानु-
ष्ठितत्वमपि न विस्मृतं पूर्वाचार्यैः ।

एतमपि प्राचीनधर्मशास्त्रीयनियमनिकराणामन्तराले स्त्रीयस्त्रीयसमयानादृततयाऽ-
व्यवहारायनियमनविसर्जनपूर्वकं तदीयनियमानां कतिपयानामपि परिवर्त्तनं स्वस्वसमयोप-
कारावैदिकनियमननियमजातं च सन्निवेश्य निजनिजग्रन्थान्निर्मितवन्तः प्राचीनाचार्या-
महर्षयः । समग्रस्यावश्यकतया समाजस्योपयोगित्वेन च रीतिं नीतिं चानुसृत्य यथेदानी-
मधुनातनराजकीयनियमानां भवन्ति संकलनपरिवर्त्तनप्रचारणानि तथा स्मृतीनामप्यासन्-
तान्येव पूर्वतः । तथा करणमतीवावश्यकमिति प्रतिभाति । विशेषोपयोगितया समुद्रय-
त्नादिविचारावसरे लिखितग्रन्थेतदानुकूल्यप्रमापकानि प्रमाणानि तत्र तत्र द्रष्टव्यानि ।

अपरं च—भारतेऽस्मिन् वैदेशिकचक्रवर्तिनां शासनानेहसि मुनिकल्पानां महाशया-
नामभावेऽसत्यपि यावन्जिक्सावमौमवृत्तेभिर्नधर्मावलम्बितया राजशक्तिपरिचालित-
महम्मदीयधर्मस्य च विदेशप्रलोभनाभ्यामार्यधर्मस्यास्य क्षीयतामवलोक्य तत्कालीनधर्म-
शास्त्रप्रणेतारः प्रादेशिकभूमिपतीनां स्वस्वराज्याभ्यन्तरे तत्तत्राज्यवासिनो हिन्दुधर्माव-
लम्बितः सकलान् सूत्रेणैकेन नियन्तुं सर्वान्नेन हिन्दुसमाजादृतेभ्यो वेदादिपुराणान्तधर्मशास्त्रीय-
ग्रन्थेभ्यः संकलय्य स्वस्वप्रदेशीयव्यवहारानुकूलानि प्रमाणानि तथा मौलिकस्य वैदिकधर्मस्य-
अर्थान्जगद्देशोपदिष्टश्रेयःसाधनात्मकधर्मस्य संरक्षणाय सामाजिकरुच्यनुगतानि शास्त्रानु-
मोदितानि नूतनानुशासनानि च सन्निवेश्य निवन्धग्रन्थान् संकलयांचक्रुः । तद्दिनादारभ्य-
सन्तस्तदनुगामिनो न चेत्तुभारतवासिनो-निजधर्मतः । प्रददन्त साध्यं तत्तत्प्रदेशीया-
गादाधिकमलाकरभट्टीयादिनिवन्धग्रन्थाः ।

प्रमाणानि यथा गादाधरीये कालसारे,—

ननु,—

“तिथ्यादौ तु भवेदुयावान्-ज्ञासो-वृद्धिः परेऽहनि ।

तावान्-ग्राह्यः स पूर्वैद्युरदृष्टोऽपि स्वकर्मणि ॥”

इति स्मृतिमुपजीव्योत्तरतिथिगतवृद्धिचयप्रक्षेपेण कृतस्य प्रेक्षावच्छिखामणि-
माधवाचार्यनिर्णयस्य किमित्यनादरः कृत इति चेदुच्यते,—अस्याः स्मृतेर्भूलाभावेऽपि-
स्वदेशाचारोपष्टम्भेनैव माधवाचार्यस्तादृशो निर्णयः कृतः । कल्पतरुक्रमभूतिभिस्त-
थासदृशैः प्राचोनेरन्यशिष्टैरपि स्वदेशाचारविरुद्धः स निर्णयो न कृत इत्यस्माभिरपि-
नादृतः । नन्वस्मद्देशेऽपि कैश्चिन्नवीनेर्महतां माधवाचार्याणां निर्णयः कथं न स्वीकार्य-
इत्याग्रहः क्रियते इति चेत्, न किंचिदेतत् । यदि माधवाचार्यव्यवस्था सर्वत्रैवादरणीया,—
तर्हि वक्ष्यमाणाभावास्याश्राद्धेऽपराक्तकालीनो “दर्श आम्बिकवन्नत” इति पञ्चधाविभाग-
पक्षमाह्वय तत्कृतां व्यवस्थामनाह्वय त्रिधाविभागपक्षः किमिति तैरप्यान्वियेत ।

अथ तैर्वक्तव्यम्,—

“येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः ।

तेन गच्छेत्-सतां मार्गं तेन गच्छंस्तरौष्यति” ॥

इति मनुस्मृत्यनुशासनायां स्वदेशाचार एव गृहीत इति । स्वदेशाचारोपष्टम्भेनैव-
तद्व्यवस्था नादरणीयैव । तस्मादस्मद्देशसमाचारविरुद्धा माधवाचार्यव्यवस्थास्वदेशीयैः आह्व-
विषये नाद्रियत एव । इत्यभावात्स्येतरपार्वण्यश्राद्धकालनिर्णयः पार्वणिभिः साम्बत्सरिके-
योच्यः । विघ्नवशादपराक्लासम्भवे सायाह्नेऽपि सर्वपार्वण्यश्राद्धकरणेऽप्यदोषः” ।

अनेन स्वदेशीयशिष्टाचारस्य प्राधान्यं प्रदर्शितम् ।

तथा विवाहप्रकरणे श्रुतानन्दः,—

“गर्भादष्टमवर्षे तु दशमे द्वादशेऽपि वा ।

कन्यापरिणयः शस्त इति वात्स्यादिसम्मतः” ॥

तथा, सम्बन्तः,—

“विवाहस्त्वष्टवर्षायाः कन्यायाः शस्यते वृधैः ।” गर्भादिति सर्वत्रान्वयः ।

अन्यथा,—

“कन्या द्वादशवर्षाणि या प्रदत्ता गृहे वसेत् ।

भ्रूणहत्या पितुस्तस्याः सा कन्या वरयेत्-स्वयम्” ॥ इत्यादि ।

यमादीनां तु द्वादशवर्षे विवाहे निन्दावचनमनर्थकं स्यात् ।

अतएव जन्नावधिसप्तमवर्षे गौरौत्वमाह कश्यपः,—

“सप्तवर्षा भवेद्गौरी दशवर्षा तु कन्यका ।

प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे कुमारीत्यभिधीयते” ॥ इति ।

भविष्येऽपि,—

“सप्तवर्षा भवेद्गौरी दशवर्षा तु नग्निका ।

द्वादशे तु भवेत् कन्या अत ऊर्ध्वं रजस्वला” ॥ इति ।

सप्तमवर्षस्य गर्भाष्टमत्वादिति कल्पतरुकाराः ।

तथाच—भासदयाधिकषड्वर्षानन्तरं स्त्रीणां विवाहकाल इत्यर्थः, तस्मिन्नेव वर्षे कन्याया—गौरीत्वमिति च सिद्धं एवं च स्त्रीणां जन्नावध्येकादशवर्षमभियाप्य विवाहकालस्य परमावधिरित्युक्तम् ।

ब्राह्मणकन्याया-वाल्मीकिविवाहकालस्य जन्नावध्येकादशवर्षपरमावधित्वमध्यवसितं शुवती-विवाहादिकं नाङ्गीकृतं चैतन्निवन्धकारेणेति प्रतिभाति ।

तथाच, प्रमाणानि यथा कमलाकरभट्टीये,—

यमः,—

“कन्या द्वादशवर्षाणि या प्रदत्ता गृहे वसेत् ।

ब्रह्महत्या पितुस्तस्याः सा कन्या वरयेत्-स्वयम्” ॥ इति ।

भारते—

“त्रिंशद्वर्षः षोडशाब्दां भार्यां विन्देत नग्निकाम् ।

द्वादशवर्षाष्टवर्षा वा धर्मे सीदति सत्वरः ॥

अतोऽप्रवृत्ते रजसि कन्यां दद्यात्-पिता सकृत्” ।

तत्रैव,—

सप्तसम्बत्सरादूर्ध्वं विवाहः सार्ववर्णिकः ।

कन्यायाः शस्यते राजन्नान्यथा धर्मगर्हितः” ॥ इति ।

राजमार्त्तखः,—

“राहुग्रस्ते तथा युद्धे पितृणां प्राणसंशये ।

अतिप्रौढा च या कन्या चन्द्रलग्नवलेन तु” ॥ इति ।

मनुः,—

“त्रिंशद्वर्षां वह्नेकन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् ।

द्वाष्टवर्षांऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः” ॥ इति ।

यद्यपि,—

“विवाहस्त्वष्टवर्षायाः कन्यायाः शस्यते वृधैः ।

इति सम्बर्त्तोक्तेः, “अत ऊर्ध्वं रजस्वला” इत्यादेशः, दशवर्षादूर्ध्वं विवाहो निषिद्धः ।
तथापि दातुरभावे द्वादशघोडशाब्दे ज्ञेये ।

“त्रीणि वर्षाण्युत्तमती काञ्चित् पितृशासनम्” ॥ इति—

पराशरमाधवीये वौधायनोक्तेश्च ।

“तथा—कन्याया रजोदृष्टौ तु अपरार्के सम्बर्त्ते,—

“माता चैव पिता चैव ज्येष्ठभ्राता तथैव च ।

त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्” ॥ इति ।

हारीतः,—

“पितुर्गृहे तु या कन्या रजः पश्यत्यसंस्कृता ।

सा कन्या वृषली ज्ञेया तत्पतिर्हृषलीपतिः” ॥ इत्यादि ।

वरं प्रत्याह,—

पित्रे न दद्याच्छुक्लं तु कन्यामृतमतीं हरन् ।

स हि स्वाभ्यादतिक्रामेदृतूनां प्रतिबोधनात्” ॥ इति ।

अत्र प्रायश्चित्तमुक्तमाश्वलायनेन,

“कन्यामृतमतीं शुद्धां कृत्वा निष्कृतिमात्मनः ।

शुचिं च कारयित्वा तामुद्देहदानृशंस्यधीः ॥

पिता ऋतून् स्वपुत्र्यासु गणयेदादितः सुधीः ।

दानावधि गृहे यन्नात्-पालयेच्च रजोवतीम् ॥

दद्यात्तद्वृतुसंख्या गाः शक्तः कन्यापिता यदि ।

दातव्यैकापि निःस्त्रेन दाने तस्या-यथाविधि ॥

दद्याद्वा ब्राह्मणेष्वन्नमतिनिःस्त्रः सदक्षिणम् ।

तस्यातीतर्त्तुसंख्येषु वराय प्रतिपादयेत्” ॥ इत्यादि ।

विप्रजातीयकन्याया असत्यपि रजोवत्त्वे वाल्योपयमसमयस्याषोडशादपरमावधिकत्वं-
युवत्युपयमनं च व्यवस्थापितं तद्देशीयश्रियाचारानुगततयैतन्निवन्धग्रन्थसंकलनकर्त्तृति-
सुस्थितम् ।

तथा रघुनन्दनीये उदाहृतत्वे अङ्गिराः,—

“आवृत्ते तीर्थगमने प्रतिज्ञाते च कर्मणि ।

कालात्यये च कन्यायाः कालदोषो न विद्यते ॥

अष्टवर्षा भवेदुगौरी नववर्षा तु रोहिणी ।

दशमे कन्यका प्रोक्ता अत-जङ्घं रजस्वला ॥

तस्मात्सम्बत्सरे प्राप्तो दशमे कन्याका बुधैः ।

प्रदातव्या प्रयत्नेन न दोषः कालदोषतः ॥

कालदोषस्य विषयो राजमार्त्तच्छीये तु व्यक्तीभविष्यति” । इति ।

यमः,—

“कन्या द्वादशवर्षाणि याऽप्रदत्ता गृहे वसेत् ।

ब्रह्महत्या पितुस्तस्याः सा कन्या वरयेत्स्वयम्” ॥ इति ।

महाभारते,—

“त्रिंशद्वर्षः षोडशाब्दां भार्यां विन्देत नग्निकाम् ।

अतोऽप्रवृत्ते रजसि कन्यां दद्यात्-पिता सक्तत् ॥

महादोषः स्पृशेदेनमन्यथैष विधिः स्मृतः । इति ।

नग्निका अनागतार्त्तत्वा अन्यथा प्रवृत्ते रजसि” ॥

अत्रिकश्यपौ,—

“पितुर्गृहे च या कन्या रजः पश्यत्यसंस्कृता ।

भ्रुणहत्या पितुस्तस्याः सा कन्या वृषली स्मृता ॥

यस्तु तां वरयेत्कन्यां ब्राह्मणो ज्ञानदुर्वलः ।

अश्राद्धेयमपाङ्क्त्यं तं विद्याद्वृषलीपतिम्” ॥ इति ।

यत्, मनुवचनम्,—

“कामसामरणं तिष्ठेदृष्टहे कन्यर्तुमन्यपि ।

न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्” । इति ।

इति गुणहीनसङ्गावमात्रविषयम् ।

अतो-गुणवते-अष्टवर्षेभ्योऽपि दयेत्याह मनुः,—

“उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सट्टशाय च ।

अप्राप्तामपि तां कन्यां तस्मै दद्यादयथाविधि” ॥ इति ।

अप्राप्तां अप्राप्तविवाहप्रशस्तकालाम् ।

स्मृतिः,—

“सप्तसंवत्सरादूर्ध्वं विवाहः सार्ववर्णिकः ।

कन्यायाः शस्यते राजनान्यथा धर्मगर्हितः” ॥

राजमात्तरेण्ये,—

“राजग्रस्ते तथा युद्धे पितृणां प्राणसंशये ।

अतिप्रौढा च या कन्या कुलधर्मविरोधिनी ।

अविशुद्धापि सा देया चन्द्रलग्नवलेन तु” ॥ इति ।

भुजवलयभौमे,—

“ग्रहशुद्धिमन्दशुद्धिं शुद्धिं मासायनर्तुदिवसानाम् ।

अर्वाक्-दशवर्षेभ्यो मुनयः कथयन्ति कन्यकानाम् ॥ इति ।

दशवर्षाभ्यन्तरे शुद्धौ ग्रहाब्दादीनां विशेषोपादानात् तदूर्ध्वं- तावन्मात्रानियमः ।

अत्रैव विषये,—

“माङ्गल्येषु विवाहेषु कन्यासंवरणेषु च ।

दश मासाः प्रशस्यन्ते चैत्रपौषविवर्जिताः” ॥

ब्राह्मणकन्याया वाक्यविवाहकालस्याधोदशाब्दपरमाधिकतमं पूर्ववदिचारितमनेन,
किन्तु युवत्युपयमस्योद्घाटनं न कुत्राप्याचरितं स्वदेशीयशिष्टानादृतत्वादिति सम्भाव्यते ।

तथा कमलाकरभट्टीयनिर्णयसिन्धौ सपिण्डविचारप्रकरणे,—

यत् स्मृतिचन्द्रिकामाधवादय आहुः—

“तृतीये सङ्गच्छावहै, चतुर्थे सङ्गच्छावहै, गर्भे तु नौ जनिता दम्पतीकः” ।—

इति च मन्त्रवर्णात् ।

“मातृष्वसुतां केचित्-पितृष्वसुतां तथा ।

विवहन्ति कचिद्देशे सङ्कोचापि सपिण्डताम्” ॥

इति शातातपोक्ते च मातुलकन्योदाहः कार्यः ।

यद्यपि पितृष्वसुतकन्योदाहोऽपि प्राप्तस्तथापि,—

“अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्ममप्याचरेन्न तु” ।

इति निषेधाद्वचनान्तरेण—तदुदाहस्याविधानाच्च न कार्यः, अयं तु दाक्षिणात्य-
शिष्टाचारात्कार्य इति ।

न च पूर्वोक्तश्रुतीनामर्थवादमात्रता । मानान्तरेणासिद्धौ “उपरिहि देवेभ्यो धारयति ।”

इतिवदानुवादानुपपत्त्या विधिकल्पनात् ।

दृढस्यतिरपि,—

“उदूह्यते दाक्षिणात्यैर्मातुलस्य सुता द्विजैः ।

मव्यादाश्च नराः पूर्वं व्यभिचाररताः स्त्रियः ॥

उत्तरे मद्यपाशैव सृश्या नृणां रजस्वलाः” ।

इत्यनाचारत्वमाह ।

एतदनुमोदते संस्कारकौस्तुभकारोऽपि,—

यथा—

“कलावपि येषां कुले देशे अनुकल्पत्वेन

सापिण्डसङ्कोचः परम्परया समागतः”,—

तेषां तादृशसङ्कोचेन विवाहो न दोषः । अस्ति च भार्योत्वोपपत्तिः ।

अन्येषां तैः सह विवाहे न दोषः । हेमाद्रादौ आहनिषेधोऽपि स्वकुलदेशे परम्परयाऽ-
नागतसापिण्डसङ्कोचेन कृतविवाहविषय इति बोध्यम्” । इत्यनेन ।

तथा विद्याकरीयनित्याचारपद्धतौ—

“क्षुते श्लेषपरित्यागे पीते वा भक्षिते सति ।

चाण्डालस्य च सम्भाषे स्वप्ने वाचम्य शुद्धति” ॥

इत्यादि वाक्यैर्यत्र यन्नाशुद्धिरुक्ता तत्र तन्त्रेणाचमनमशुद्धिनिवृत्त्यर्थं प्रत्यवायानुपाद-
नार्थं च । यन्नाशुद्धिर्नास्ति तत्र प्रत्यवायानुपादनार्थम् । एवं ताम्बूलभक्षणादावप्यशुद्धभावे-
ऽप्याचमनं प्राप्नोति । अतएव भट्टपादेः परस्परसृष्टताम्बूलभक्षणं तदवसानानाचमनश्च-
दाक्षिणात्यानां दुराचारा उक्ताः” । देशविशेषेषु दुराचारस्यापि तत्तद्देशीयशिष्टादित्वेन-

प्रमाणत्वात्तथाङ्गीकृतं तत्तत्तद्देशीयनिवासिभिरिति, सूचितमेतैर्निबन्धकारैः । एवं-
प्रमाणान्यन्यानि भारतौयान्यान्यनिबन्धग्रन्थेषु द्रष्टव्यानि ।

तथाच—श्रिष्टाचारस्य प्रामाण्यम् ।

“श्रिष्टाकोपे विरुद्धमिति चेत्, न, शास्त्रपरिमाणत्वात् । अपि वा कारणग्रहणे प्रयुक्तानि
प्रतीयेरन्” । इति जैमिनोयप्रथमाध्यायतृतीयपादचतुर्थाधिकरणन्यायेन समर्थितम् ।

तथाहि -तत्र संशयपूर्वपक्षसिद्धान्ताभिधायिनोयं माधवोयकारिका ।

“सदाचारोऽप्रमा मा वा निर्मूलत्वादमानता ।

अष्टकादेरिवैतस्य समूलत्वात्प्रमाणाता” ॥

होलाकोत्सवादिसदाचारस्य नूलभूतवेदाभावादप्रामाण्यमिति चेन्न । वेदिकैः श्रिष्टैः—
परिगृहीतत्वेनाष्टकादिवेदमूलत्वात् ।

अतो मन्वादिभिर्ग्रन्थगौरवभयाद्विशेषाकारेणानुपदिष्टोऽपि सदाचारः सामान्याकारेणो-
पदिष्टः । “श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः” इत्येवं धर्मं प्रमाणोपन्यासात् ।

तस्माच्छ्रिष्टाचारः प्रमाणं । परन्तु, यथा—देशकालपातं सामाजिकधर्माणां सङ्कोच-
प्रसारणजातं निरुक्तप्रमाणविसरेभ्यो न वा प्रतीयेत इति विभावनोयं सानुग्रहं प्रेक्षावद्भि-
रित्यनुयाचनम् ।

अन्यच्च—साधारणतोऽयथामार्गमनुसर्तुं न भवन्ति कुण्डिता वालिशाः । तथाप्यार्याणा-
मन्ततः केचन राजानुग्रहाभिलाषितया कोऽपि तच्छक्तिपराभूतत्वेन कतिपये वित्तलोलुप-
तया चानुलम्बितवन्तो यवनोयधर्मम् । एवं क्रमशो हिन्दुसम्प्रदायस्यातिक्रायमभिधीक्ष्यो-
दारचरिताः पूजनौया महात्मानो नानकचेतन्यप्रभृत्याचार्यवर्याः । हिन्दुसमाजपरिचालन-
कठोरनियमावलिं प्रति दृष्टिपातमविधायापत्कालधिया तन्नियमविपर्ययेणार्थधर्मं रक्षित-
वन्तोऽतिप्रयत्नेन ।

ते त्वार्थसम्प्रदायचूडामणीनपि खखसम्प्रदायान्तर्भूतानकार्षुः । अतो बाधो न कश्चित्
सङ्घटितो मौलिकधर्मस्योपरि । विपरिवर्तितनियमराजीनां मौलिकधर्मवाधनाजनकत्वा-
न्नोपस्थितं किमप्यसुविधानालम् ।

धर्मद्वयस्यास्य प्रतिपादयितुं साम्यं तात्कालिकचक्रवर्त्तिनियमाभ्यन्तरतः स्वधर्मान्तरांय-
भूतान् कांश्चिन्नियमानानोय चक्रुः स्वधर्मान्तर्गतान् । आचर्यतेऽधुनापि सत्यपीरपूजादिकम् ।
अर्थात् सत्यनारायणपूजादिकं हिन्दुसम्प्रदायान्तराले ।

ततो मौलिकोऽयं धर्मोऽतिक्रम्य विभ्रनिवहमतिवाह्यमास यवनोयराष्ट्रविभ्रवाधारक-
मतिभयावहकालम् । इतः पूर्वत एव धर्मविभ्रवसङ्कटनावसरेऽपूज्यपादशङ्कररामानुजा-
चार्यादय उदारहृदया महात्मानस्तत्तद्धर्ममतिररक्षन्तस्वखे निर्वाधं संप्रत्येकस्मिन्-

भौत्वाधायके सम्यक्सोतसि निपतितोऽयं हिन्दुसम्प्रदायः । एतत्पूर्ववर्तिनि स्तरे न सङ्घटिता-
सीदेतादृशी कष्टदायिकावस्था । यतस्तत्कालीनविदेशीयसन्नाटशासनं न तावत्ताडक-
मुशिन्नाधिष्ठितम् । अतः सुशिञ्चिता हिन्दवः समुन्नत्यभिकाङ्क्षया तत्-विद्याशिन्नादि-
व्यापारे स्वतः प्रवृत्तिमाश्रित्य तैः साकं कार्यमनुष्ठानं नाग्रसरा बभूवुः । तात्कालिकनृपशक्तेः-
शिञ्चाप्रसरणपरिपन्थितया शिष्यविज्ञानाद्यावेदकशास्त्रत्रातमलभत मलिनत्वम् । प्रत्यन्योऽन्य-
समूयापरवशतया सत्यप्येकताविहीने भारतीयनृपपट्वन्दे प्रादेशिकभूपतयो निजनिजराष्ट्रान्त-
राले संरक्षितुं स्वधर्मं बभूवुर्वहपरिकराः ।

विषयान्तरसन्दोहे सन्तोऽप्येकताशून्या भारतीयार्थसन्ततयः प्राणपणं बभूवुः सम्मि-
लितास्त्रातुं धर्ममिमम् । निरुक्तेऽस्मिन् सकलविषये प्रमाणं भारतीयेतिवृत्तम् । यवनौय-
जातिस्पर्शेन तदीयभाषाशिञ्चाकरणेन च सत्यपि प्रचारिते दोषावेदके कर्कशधर्मशास्त्रीय-
नियमनिवहे नापितगोपालादिजातिनिकरा विदेशीयनृपतयश्चक्रवर्तिजातीया इति-
विभाव्यानुष्ठितवन्तस्तेषां क्षौरवाहनादिकार्यम् । तथापि स्वसम्प्रदायदौर्बल्यसम्भावनया-
कठोरविधिजालं प्रति सप्रदृश्यानास्थां सामाजिकैरे निष्काशितास्ते स्वसमाजतः ।
प्रमाणमत्रमनुमानम् ।

अन्यच्च—चक्रवर्तिभिरिदानीन्तनेर्विभिन्नचर्मावलम्बितया वैदेशिकत्वेनापि सुशिञ्चा-
सभ्यतादिगुणादियोगतो महतोमनुसृत्योदारनोतिं विहितधर्मनैतिपार्थक्याद्राजानोतेर्विदे-
शीया वा स्वदेशीया हिन्दवोऽहिन्दवो वा सर्वे स्वस्वसम्प्रदायसंरक्षणे स्वाच्छान्दमनुभवन्ति-
साकल्यतः । प्रजावर्गस्य नानाविधसाम्प्रदायिकत्वेन “राजानुगतो धर्मः” अर्थात् धर्म-
पुष्टिसाधनस्य सर्वांशतो नृपहस्तायत्ततया च संपूर्णतो-राजशक्तिसाहाय्येन परिचालित-
व्यासीत्—सदैवायं हिन्दुधर्मः । मन्वादिभिरपि समर्थितोऽयं परिच्छेदः ।

राजधर्मविचारप्रकरणे यथा जगाद मनुः,—

“ब्राह्म” प्राप्तेन संस्कारं क्षत्त्रियेण-यथाविधि ।

सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्त्तव्यं परिरक्षणम् ॥

कार्यं सोऽवेक्ष्य शक्तिञ्च देशकालौ च तत्त्वतः ।

कुर्वते धर्मसिद्धयर्थे विश्वरूपं पुनः पुनः ॥

यत्र धर्मोऽह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ।

हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्त्र सभासदः ॥

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।

तस्माधर्मो न हन्तव्यो-मानो-धर्मो हतोऽवधीत् ॥

वृषो-हि भगवान्-धर्मस्तस्य यः कुरुते क्षलम् ।

वृषलन्तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥'

तद्वीकायां नारदोऽप्याह—

“रक्षणं वेदधर्मायं तपः क्षत्रस्य रक्षणम् ।

सर्वतो-धर्मषड् भागो-राज्ञो-भवति रक्षितः ॥”

तथोवाच याज्ञवल्क्यस्तन—

“इति सच्चित्त्वं नृपतिः क्रतुतुल्यफलं पृथक् ।

व्यवहारान् स्वयं पश्येत्-सस्यैः परिवृतोऽन्वहम् ॥

कुलानि जातीः श्रेणीश्च गणान् जानपदानपि ।

स्वधर्माञ्चलितान् राजा विनीय स्थापयेत्पथि ॥’

अपरच—

प्रायशः पृथिव्याः सकलप्रदेशेषु राजशक्तिप्रतिपालितोऽयं धर्मोऽवलोकित-आसीत् ।

केवलं भारतीयार्थाणां दुर्भाग्यवशातो न सङ्घटितमेतदिदानीम् । बहुदिवसादारभ्य-
वर्हितोऽपि राजाश्रिततया संप्रति निरवलम्बनोऽयं वैदिकधर्मः । कारणमत्र पराधीनमेतद्भारतं-
बहुवासरतः ।

अपिच,—यत्र निपातयेद्दृष्टिं तद्दिशि भारतं सकलविषयेऽभिवीक्ष्यते पञ्चात्पदम् ।

भरतखण्डस्यास्येदानीन्तनी रीतिरवस्था च परिवर्तितास्तीत्यवतोभावेन ॥

प्रत्येकजातिरपि स्वस्वजातीयवृत्तिमवलम्ब्य निर्वाहयितुं जीविकामनुभवति-

क्ते प्रमधुना । स्थानविशेषेषु भवत्यसम्भवो जीविकानिर्वाहस्य । तथा सति स्मात्तर्क्य-
नियमाः किं निर्मिताः समाजाहितसम्पादनाय । तत् कदापि न सम्भवेज्जगति । नियमाना-
मेषां समयोपयोगिपरिवर्तनकरणशक्तानां धर्माध्यक्षाणां महर्षीणां तथा ग्रियमपरिचाल-
कानां नरपतीनां चाभाव एव निदानमेवानुमीयते सर्वैः ।

संप्रति समाजस्यास्याधुनातनावस्थायाः श्रोचनीयत्वपरिदर्शनाद्भारतीयलोकनिवहानां-
स्वस्वजीविकाप्रतिबन्धकहेतुदर्शनाद्धर्मशास्त्राणामदृष्टादरत्वाच्च निश्चयत्वेनावस्थानं सदस-
दिचारधर्मराणां विद्वत्कुटुम्बगणैर्ना नोचितमिति प्रतिभाति ।

ब्राह्मणानां त्वनापदि यजनयाजनाध्ययनाध्यापनदानप्रतिग्रहात्मिका वृत्तिर्यवस्था-
पिता धर्मशास्त्राकारैरर्चनोपचर्यैर्निभिः ।

यथा, प्रमाणमाह मनुः,—

“अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।

दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥

तथाचष्टे याज्ञवल्क्योऽपि,—

“इज्याध्ययनदानानि वैश्यस्य क्षत्रियस्य च ।

प्रतिग्रहोऽधिको-विप्रे याजनाध्यापने तथा” ॥

तट्टीकायां विज्ञानेश्वरः,—

“एतान्यनापदि ब्राह्मणस्य षट्कर्माणि । तत्र त्रीण्य्यादीनि धर्मार्थानि, प्रति-
ग्रहादीनि वृत्तार्थानि ।

पक्षां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्मणि जीविका ।

“याजनाध्यापने चैव विशुद्धाश्च प्रतिग्रहः ॥ इति मनुस्मरणात् ।

एवमपि,—शूद्रशिष्यादिकरणं राजादितः प्रतिग्रहानुष्ठानञ्च—मन्त्रादिधर्मशास्त्र-
विरुद्धमेव” । प्रदर्शयन्तेऽत्र प्रमाणानि ।

यथा, मनुराह,—आर्हतीयप्रकरणान्तर्गतापांक्तेयब्राह्मणवर्जनकथनावसरे,—

“चिकित्सकान्-देवलकान्-मांसविक्रयिणस्तथा ।

विपण्येन च जीवन्तो वर्ज्याः स्युर्हव्यकव्ययोः ॥

श्रुतकाध्यापको-यश्च श्रुतकाध्यापितस्तथा ।

शूद्रशिष्यो-गुरुश्चैव वाग्दुष्टः कुण्डगोलकौ ।

हस्तिगोऽश्वोऽद्रदमको-नक्षत्रैर्यश्च जीवति ॥” इत्यादि ।

तथा, गाह्यस्यप्रनियमकथनप्रकरणे,—

“न राज्ञः प्रतिगृह्णीयादराजन्यप्रसूतितः ।

सूनाचक्रध्वजवतां वेशेनैव च जीवताम् ॥

दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो-ध्वजः ।

दशध्वजसमो-वेशो-दशवेशसमो नृपः ।

दशसूनासहस्राणि यो-वाहयति सौनिकः ॥

तेन तुल्यः श्रुतो-राजा घोरस्तस्य प्रतिग्रहः ।

यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिनः ।

स पथ्यायेण यातीमान्-नरकानेकविंशतिम् ॥”

तथा, याज्ञवल्क्यः,—

“प्रतिग्रहे सूनिचक्रध्वजिवेश्यानराधिपाः ।

दुष्टा दशगुणं पूर्वात्पूर्वादिते यथाक्रमम् ॥

प्रायश्चित्तप्रकरणे तथा वृद्धहारीतः,—

“रात्रः प्रतिग्रहं कृत्वा माससप्तु सदा वसेत् ।

षष्ठे काले पयोभक्षः पूर्णं मासे विशुध्यति ॥”

तथा मनु,—

“निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम् ।

अपात्रीकरणं-ज्ञेयमसत्यस्य च भाषणम् ॥”

धर्मशास्त्रेभ्येषु सन्त्यप्येतादृशानि प्रमाणाभ्यन्तर्गोचरानि ग्रन्थाधिक्यत्वात् । तथा—
सति कार्यतः प्रतिपाल्यते किमधुना ? अथैवेदानीं परिचलनं शास्त्रतः किं सम्भावनीयम् ?
न तावदेतत् ।

अपरं च—

क्षत्रियादिसंस्तुजातीनामपि स्वजातीयव्यक्तिनिवृत्तिपरिचालनार्थं तत्तजातीयवृत्तिम्—
निर्द्धारयामासुर्धर्मशास्त्रनिर्मातारः । जागृत्कालि प्रमाणान्येतद्विषये मन्वादिधर्मशास्त्रेषु ।

यथा मनु,—

‘प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।

विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।

वणिक्-पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ।

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।

एतेषामेव वर्णानां शूद्राभ्युपगमसूचया” ।

यथा याज्ञवल्क्यः,—

“इज्याध्ययनदानानि वैश्यस्य क्षत्रियस्य च ।

प्रधानं क्षत्रिये कर्म प्रजानां परिपालनम् ।

कुसीदकृषिवाणिज्यपाशुपाल्यं विशः स्मृतम् ।

शूद्रस्य द्विजशूद्रा तथाऽजीवन् वणिग्भवेत् ।

शिल्पिर्वा विविधैर्जीवेद्द्विजातिहितमाचरेत्” ।

एवमन्यानि प्रमाणान्यपि द्रष्टव्यानि धर्मशास्त्रान्तरेषु । बाहुल्यशङ्कयात्र हेयानि तानि ।
त्वनापदि परकीयसेवाऽतिगर्हिता शूद्रातिरिक्तजातेः । नात्रावलीक्यतेऽभावो धर्मशास्त्रीय
प्रमाणजालस्य ।

यथाह मनुः,—

‘अद्रोहेणैव श्रुतानामल्पद्रोहेण या पुनः ।
या वृत्तिस्तामवस्थाय विप्रो जीवेदनापदि ॥
यात्रामात्रं प्रसिद्धार्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः ।
अल्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयम् ।
ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु ऋतेन प्रमृतेन वा ।
सत्यामृताख्यया वापि न श्ववत्या कदाचन ॥
सेवा स्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत्’

तथा कुल्लू कभट्टोऽपि—

‘कः कर्मभिरित्यत्राह—ऋतामृताभ्यामित्यनापदीत्यनुवर्तते । ऋतादिभिरनापदि जीवेत्
सेवया त्वनापदि कदाचिन्न वर्तते’ ।

अन्यच्च—सं प्रत्यनिच्छायां सत्यामपि विद्यमानायामतीववित्ताभाववशतोऽनाद्यूतापि-
भूसुरवर्च्याः कर्त्तुं प्रतिग्रहं राजादितः सन्तोऽपि दारस्था भवन्ति पराङ्मुखाः । तथा,
प्रसिद्धादारभ्य मूर्खावधिऽविप्रादयो-वर्णाः सर्वे सदा विधातुं परसेवां लोलुपा-अपि भवन्ति-
लाञ्छिताश्च पराभूताः तथा भारतमन्तरा स्थानान्तरगमनमास्तां दूरतः । विनापि तीर्था-
भिगमनं सत्यपि भारतगमित्वे कतिपयप्रदेशानां गमनानुष्ठानमपि धर्मशास्त्रनिषिद्धमेव ।
विषयेऽस्मिन् याज्ञवल्क्यप्रटीकायां विज्ञानेश्वरः,—यथा,

कचिदेशविशेषगमनेऽपि देवल आह—

‘सिन्धुसीवीरमौराष्ट्रांस्तथा प्रत्यन्तवासिनः ।

अङ्गवङ्गकलिङ्गान्प्रान्-गत्वा संस्कारमर्हति ॥’

एतच्च—तीर्थयात्राद्यतिरेकेण द्रष्टव्यम् । किं न्निदानौ समस्तदेशमभिलक्ष्य यातायातीय
पद्धतेर्यान्त्य च सुलभतयैतत्कठोरनियमावलीं प्रति विद्यायास्यां गमनागमनमनुतिष्ठन्ति—
विप्रादयो वर्णाः सर्वे निर्विवादम् ।

एवमपि—विप्रजातीयाः शुद्रादिनानानौचजातीयानपि जनानन्तेवासयन्ति निःशङ्कम् ।
स्पर्शोऽपि यद्व्यञ्जातीयनराणां प्रायश्चित्ताचरणं निम्नस्थशातातपीयवाचनिकप्रामाण्य
बलाद्भवति स शास्त्रप्रसिद्धम् ।

यथा,—

गादाधरीयाचारसारे शातातपः,—

‘रजकश्चर्मकारश्च व्याधजालोपजीवकी ।

चेन्ननिर्णेजकश्चैव नटः शैलूषकस्तथा ॥

मुखेभगस्तथा वेश्या वनिता सर्ववर्णगा ।

चक्री ध्वजी वज्रगान्त्री ग्राम्यकुक्कुटशूकरौ ।

एभिर्यदङ्गं संस्पृष्टं शिरोवर्जं द्विजातिषु ।

तोयेन जालनं कृत्वा आचान्तः शुचितामियात्” ।

अद्यैव तत्तज्जातीयमानवानामन्तराले कतिपये गृहीतसम्प्रदायान्तरं या केचिद्विज्ञा-
वलेन लब्धनरेशशक्तिमत्वेन चोपविशन्ति साकमेकासने ब्राह्मणादिप्रकृतजातीयपुरुषैः ।
के केऽप्यधमजातीयमनुजाः स्वस्वजातीयव्यक्तिं प्रत्यवलोक्य विप्रादिप्रधानजातीयमानवा-
चरितजुगुप्सां परित्यज्य हिन्दुसंप्रदायं गृहीतुम् समु प्रदायान्तरं भवन्त्यभीषवः । भवतु-
दूरतो वक्ष्यमाणप्रमाणवशतो धर्मशास्त्रीयगौणकल्पोऽक्षतयोनिकाविधाहः । किन्त्विदानीं-
प्रतिस्थानं दयस्करविधवापरिणयनं विप्रादिजातित्रये भवति चलितुमारब्धम् ।

कन्याशुल्कस्य शृजिनाधायकत्वप्रतिपादने—

“न कन्यायाः पिता विद्वान् गृह्णीयाच्छूल्कमणुपि ।

गृह्णन्-शुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी ॥” इति—

मनुवचनादिधर्मशास्त्रीयप्रमाणनिरकरस्य स्वरेणैकेन सत्यपि गदितुं जागरूकत्वे तं
प्रति केऽपि श्रुतिपातमविधाय निरुक्तशुल्कमादातुमशक्यं भवन्त्यन्वानवदनाच्च ।

अपिच—

अश्रुतचरोऽपि वरशुल्कोऽनुसरति कां कामपि जातिमधुना ।

तथा—

“अपात्रीकरणं ज्ञेयमसत्यस्य च भाषणम्” ।

इति मनुः ।

“एकशय्यासनं पंक्तिर्भाण्डपत्तयन्मिश्रणम् ।

याजनाध्यापने योनिस्तथाच सहभोजनम् ॥

नवधासङ्करः प्रोक्तो न कर्त्तव्योऽधर्मै सह ।” इति बृहद्ब्रह्मसंहिता ।

इत्येतद्वर्गशास्त्रीयवचनद्वितयेनानृतभाषणस्य स्वेतरजातिभिः साङ्गमेकपंक्तिभोजनादि-
निन्दितव्यवहारजातस्य च सत्यवगतधर्मशास्त्रीयविप्रतिप्रतिविषयकत्वेऽपि तत्सर्वमनु-
तिष्ठन्तोऽपि ब्राह्मणा न निपतन्त्यधुना स्वसमाजतः । एवमपि विदेशप्रत्यावृत्ताना-
मेतत्संप्रदायिकसुयोग्यव्यक्तीनां तथा तद्वितरमानवानां शास्त्रनिषिद्धाचारवतां च हिन्दु-
सम्प्रदायादन्तरिततया सम्प्रदायोऽयं क्षीणाङ्गवति क्षीणतरः ।

तथा समाजादस्मान्निष्कासितव्यक्तिजातमपि सम्प्रदायस्यास्य विलोपयितुमस्ति त्वं सततं-
यतते प्राणप्रणम् । समयेऽस्मिन्नेवविधे विनापि समाजसंस्कारं वैदिकोऽयं धर्मोऽवतिष्ठेत्-

सततमिनि न कदापि सम्भायम् । एतदपेक्षया वलीयांसं धर्मविप्रवरूपमापत्समयं शक्त-
यात्को वक्तुम् । नाद्यैव विद्यन्तेऽस्मिन् भरतखण्डे महर्षयः पूज्यपादा-आर्यनरनाथाश्च । सं-
प्रतिचक्रवर्त्तिनो विदेशीयाः । युगोऽयं कलिः । विचारसाहसनिपुणानां माननीयानां धर्मपरि-
चालकभारतीयविद्वन्मण्डलीनामुपरि विन्यस्तमेतत् संरक्षणं साकल्येन । विरतमिदानीम् ।
चानुमोदितं वा नियमितमिदं मन्वादिभिः पूर्वाचार्यैः ।

तेषु यथा मनुः—

“भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।

बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥

ब्राह्मणेषु तु विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः ।

कृतबुद्धिषु कर्त्तारः कर्त्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥

उत्पत्तिरेव विप्रस्य सृर्त्तिर्धर्मस्य शाश्वती ।

स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

ब्राह्मणो-जायमानो-हि पृथिव्यामपि जायते ।

ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोषस्य गुप्तये ॥”

तथा—यवहारमवलोकयितुमशक्तवता राज्ञापि तद्दर्शने प्रेक्षावतो-ब्राह्मणस्य वृत्तत्वं
प्रतिनिधित्वेन प्रतिपादितंमनुना । यथा,—

“यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम् ।

तदा नियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥

सोऽस्य कार्य्याणि संपश्येत्-सभ्यैरेव तिभिर्वृतः ।

सभामिव प्रविश्याग्रामासीनः स्थित एव वा ॥

यस्मिन् देशे निषोदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः ।

राज्ञश्चाधिकृतो विद्वान् ब्राह्मणस्तां सभां विदुः ॥”

अतएवेदानीमपि विद्वन्मण्डलकर्तृकधर्मप्रतिपालनं पिञ्जरचालनन्यायेन भविष्यति-
सुखङ्गतमिति सम्भाष्यतेऽस्माभिः । यद्यप्यत्र धर्मशास्त्रानुमोदितं विधातुं संस्कारं न मे भवन्ति-
वह्नपरिकराः, तदा कालवशेन सनातनधर्मोऽयं भवेद्विपुलप्रायः क्रमशः । वैदिकयुगमभि-
आप्येतद्दुःश्रमपर्यन्तं रक्षितुमिमं धर्मं नियमद्वयेनापि चालितोऽयं मनुव्यसमाजः ।
मध्येतन्निग्रहद्वयं जगदीश्वरविहितो-नियमः प्रथमः । देशकालपात्रानुसारतोऽपकारोपकार-
दृष्ट्या च स्थापयितुं लोकान् सन्मार्गे विद्वत्समाजानुष्ठितो नियमो द्वितीयः । तत्र प्राथमिक-
नियमस्य जगदीश्वरदृष्टत्वं अर्थात् स्वाभाविकत्वमनुमेयम् ।

के तावदैश्वरिकनियमाः कया रीत्या वा तदनुमानमित्याशङ्कायां विवृण्वतेऽधः कतिचित्-
पंक्तिभिस्तत्त्वैर्म ।

यथा—सत्यकथनं, मिथ्यावादाप्रवादः, जगत्पातुरुपासनं परपोडावर्जनमित्यादयो-
नियमाः । त्वेतिन्नियमजालस्थायोयानायायवनीयस्त्रीष्टीयप्रभृतिषु समस्तसम्प्रदायेष्वा-
वहुमानकालतः साम्येन विद्यमानतयैतदनुमानं वक्ष्यमाणविधया विधयेमेव ।

यथा—प्राथमिको-नियमो जगदौश्वर्यविषयकः जगत्कर्तृकृष्टप्राणिमात्रेषु अवैकस्येण
साधारणतोऽवलोकनीयत्वात् जगत्कर्तृकृष्टमनुजेषु सर्वेषु स्ववैकस्याभाववत्वे सति
सकलसम्प्रदायेष्वद्वितीयत्वेनाभासमानत्वाद्वा ।

“सत्येनार्कः प्रतपति सत्येनाप्यायते शशी” इत्यादिरामायणीयप्रमाणसामर्थ्येनेदं
दृष्टीभूतमनुमानम् । अन्यथा सत्यादिनियमानामौश्वर्यकर्तृकत्वाभावे सत्याद्वधीनत्वमवलम्ब्य
सूर्यादिदेवकर्तृकस्वकार्यानुष्ठानस्यासम्भविष्यत्वात् । निरुक्तनियमानां साधारण-
नियमत्वं नियमस्यापि धर्म इति नामान्तरत्वं च प्रतिपादितं धर्मशास्त्रकारैः ।

यथा, याज्ञवल्क्यसंहितायामादितो-मुनयः—

“योगीश्वरं याज्ञवल्क्यं संपूज्य मुनयोऽनुवन् ।

वर्णाश्रमेतराणां मे ब्रूहि धर्मानशेषतः ॥”

तथा, तट्टीकाकारो-विज्ञानेश्वरः,—

साधारणो-धर्मः अहिंसादिः । न हिंस्यात् सर्वभूतानीत्याचष्टालं साधारणो धर्मः ।
मन्वादिभिरपि तथोक्तानि वचनानि नोक्तोलितान्यत्र बाहुल्यमथात् । शेषोक्तनियमसङ्घे-
स्त्वावश्यकतायामधुनाऽवस्थाप्यन्ते युक्तयोऽनुकूलाः । यथा भरतखण्डस्य ग्रीष्मप्रधान
देशात्मकतया पलाण्डुद्विस्पर्शनस्य मद्वादिपानस्य च धर्मशास्त्रोपनिषद्विषयकत्वमित्यनु-
मीयते तर्ककुशलैः । देयान्यनुपदमेव प्रमाणान्यत्र,—

ब्राह्मे,—

“पलाण्डुलशुनस्पर्शं स्नात्वा नक्तं समाचरेत् ॥”

मनुहारीतयमाः,—

“सुरा वै मलमन्त्रानां पाप्मा च मलमुच्यते ।

तस्माद्-ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिवेत् ॥

पलाण्डुलशुनस्पर्शस्यापि सति दोषाघायकत्वे सुरां तद्भक्षणाख्यातीवदोषजनकत्वं
मित्यर्थत आयातम् ।

तथाच पलाण्डुद्विनामप्यभक्षितत्वमुपपादितं मनुना यथा,—

“लशुनं गुच्छनं चैव पलाण्डुं कवकानि च ।

अभक्ष्याणि द्विजातीनामभेद्यप्रभवाणि च” ॥

सम्पदवसरे राजप्रतिग्रहादिषु सत्स्वपि धर्मनिषिद्धेषु दुर्मिच्छाद्यापत्समये तत्प्रत्यनुष्ठानं-
शास्त्रानुज्ञानमेव । इदं तु पूर्वतो राजप्रतिग्रहादिजन्यपापवेदकप्रमाणेष्विदानीं तत्प्रति-
प्रसवप्रमाणान्युल्लिखितयान्यत्र ।

यथाह मनुः,—

“सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद्ब्राह्मणस्त्वनयं गतः ।

पवित्रं दुष्यतीत्येतद्धर्मतो-नोपपद्यते ॥

नाध्यापनाद्याजनाद्वा गर्हिताद्वा प्रतिग्रहात् ।

दोषो-भवति विप्राणां ज्वलनाम्बुसमा हि ते” ॥ इत्यादि ।

युगे तु वेदिके अतिविहितयज्ञादि-कार्यविशेषे मद्यसेवनस्य गोमांसभक्षणस्य च सत्यपि-
अवहार्यत्वेऽपकारदर्शने नावलोक्यतेऽधुना तन्निषेधः ।

इदं कुर्वन्त्येतद्विचारं वैदिकादिप्रमाणानि ।

यथा, तृतीयाधिकरणोपसंशयपूर्वपक्षसिद्धान्तविषयिणी माधवीयकारिका,—

“सौत्रामण्यां ग्रहे स्विष्टकृदाद्यस्ति नवास्ति तत् ।

शेषणान्नसुराक्षीरयोरन्यत्रोपयोगतः ॥”

अस्या अर्थः—“सौत्रामणीनामके यागे श्रूयते,—

“पयोग्रहाः सुराग्रहाश्च गृह्यन्ते” । इति ।

तत्र-प्रवृत्तिगत-सोमग्रहेष्विव शेषकार्यं स्विष्टकृदादिकमस्ति । न चात्र पूर्ववच्छेषाभावः,—
“उच्छिन्नमिष्टि, न सर्वं जुहोति” इत्यवशेषयितव्यत्वश्रवणादिति चेन्नैवम् । अवशिष्टस्यान्य-
त्रोपयोगश्रवणात् ।

“ब्राह्मणं परिक्रीणीयादुच्छेषणस्य पातारम्” । इति श्रूयते ।

“यदि ब्राह्मणं न विन्देत, बल्मीकवपायामवनयेत्” । इति च ।

शतादृशायामवनयेत् इति च । शतच्छिद्रा कुम्भी शतादृश ।

तस्मान्नास्ति स्विष्टकृदादिकम्” ।

वैदिकमन्त्रो-यथा,—

“सिञ्चन्ति परिषिञ्चन्त्युत्सिञ्चन्ति पुनन्ति च ।

सुरायैव त्वैमदे किं त्वो वदति किं त्वः” ॥

अशुष्टुपुक्कन्दः । सुरा देवता । सुरादाने विनियोगः ।

“अ॒ शु॒नाति अ॒ शुः पृ॒च्यतां प॒रुषा प॒रुः ।

गन्ध॒स्ते सोम॑मवतु म॒दाय॑ र॒सोऽच्युतः” ॥

मन्त्रोऽयं सुरासंसर्जने विनिश्च्यते” ।

तथा—महाकविना भवभूतिनापि वेदमनुसृत्य गोमांसाशनसुद्धावितं स्वरचितदृश्यकाच्ये भाण्डयनमुखेन ।

यथा,—“भाण्डायनः, समांसो मधुपर्क इत्याम्नायं बहुमन्यमाना; ओत्रियायाभ्यागताय-
वत्सतरीं मद्भोचं वा महाजं वा निवपन्ति हि गृहमेधिन इति हि धर्मसूत्रकाराः-
समामनन्ति” ।

तथाच—गोमेधयज्ञेऽपि गोमांसयवहारो वेदे परिदृश्यते ।

त्वपकारदृष्टितो-निषेधवचनमादित्यपुराणीयं कलिवर्ज्यप्रकरणे,—यथा,

“महाप्रस्थानगमनं गोसंज्ञमिच्छ गोसवे ।

सौचामण्यामपि सुराग्रहणस्य च संग्रहः” ॥

एतानि कलियुगे-वर्ज्यानीत्यर्थः ।

तथाच, निगमः,—

“अग्निहोचं गवालम्बं सन्धासं पलपैटकम् ।

देवराच्च सुतोत्पत्तिः कलौ पञ्च विवर्जयेत्” ॥

उभयविधोऽयं नियमः परस्परपेक्षित्वमाकाङ्क्षते सततम् ।

यथा मनुः,—

“यो ग्रामदेशसङ्गानां कृत्वा सतीग्रं संविदम् ।

विसंवदेन्नरो लोभात्तं राट्प्राहिप्रवासयेत्” ॥ इति ।

सत्यावलम्बनपूर्वकराष्ट्रीयलोकपरिपालनस्य शुभजनकलेन तदन्वयाकरणे राजकर्तृक-
राज्यनिर्वासनात्मकस्यामङ्गलस्य सम्भवादिद्वयमाजानुष्ठितलोकप्रतिपालनरूपनियमो-जग-
दौशकर्तृकसत्यात्मकनियममपेक्षते—इति मानवीयेतद्वचनाकृतम् । यच्छरीराहितापादकं-
तदैश्वरिकोपास्तिविप्रतिपत्तुत्पादकं, सन्त्येतदावेदकानि धर्मशास्त्रीयवचनानि ।

यथा मनुः,—

“एवं यथोक्तं विप्राणां स्वधर्ममनुतिष्ठताम् ।

कथं मृत्युः प्रभवति वेदशास्त्रविदां प्रभो ! ॥

स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन् मानवो मृगुः ।

आलस्यादन्नदोषाच्च मृतुर्विप्रान् जिघांसति” ॥ इत्यादि ।

शरीरस्य दूषितान्नादिसेवनेनैवापादितानिष्ठतया धार्मिकाणां सञ्जातमृदुत्वात्-सुतरा-
मीश्वरोपास्तिविरोधाधायकत्वं स्फुटतः सूचितमाभ्यां वचनाभ्यामेव ।

तथाच चरकोऽपि,—

“धर्मार्थकाममोक्षणामारोग्यं मूलमुत्तमम् ।

रोगास्तस्यापहर्त्तारः श्रेयसो-जीवितस्य च” ॥

तथैव समर्थितमेतत्प्रमाणेनैव । प्रेक्षावत्समाजाचरित-शरीररक्षणनियमानुलङ्घनस्य जग-
दीशोपासनविध्वंसित्वादनयोः परस्परापेक्षित्वमाभातं स्फुटतः । एतदतिरिक्तानामुभयविध-
नियमानामन्योन्यापेक्षित्वमङ्गनीयं स्थालीपुलाकन्यायेन ।

“शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनं”मित्येतत्पदाङ्गोक्तेखेनेतन्मतमनुमोदितं महाकविना-
कालिदासेनापि, समाप्तिमितोऽयं सकलसम्प्रदायानुगतः साधारणनियमविचारः संचेपतः ।
संप्रत्यर्थपूर्वाचार्यवर्त्याः सर्वतो रक्षितुं धर्मं नियमद्वयस्यैतस्य निम्नलिखितविधित्रितयान्त-
र्भूतत्वानुष्ठानकौशले परां काष्ठां प्रदर्शयामासुः ।

विधित्रय-निदानभूतस्य विधिसामान्यस्य प्रकृतोपयोगितयादितस्तद्विधिसुत्याप्यानन्तरं-
करणोयोऽत्र विधित्रितयपरामर्शः ।

कस्तवद्विधिरित्याकाङ्क्षायामुच्यतेऽत्र सः ।

यथा, विधिर्नामाज्ञातार्थबोधकं वाक्यं, सतु त्रिविधः ।

यथा, अपूर्वविधिः, नियमविधिः, परिसङ्ख्याविधिश्चेति ॥

यथाहर्मीमांसकास्तत्र,—

“विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति ।

तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते” ॥ इति ।

अस्यायमर्थः “यस्य यदर्थत्वं प्रमाणान्तरेणाप्राप्तं तस्य तदर्थत्वेन यो-विधिः,—
अर्थात् प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्य प्रापको-विधिः सोऽपूर्वविधिः ।

यथा “यजेत खर्गकामं” इत्यादिः” । यागस्य हि खर्गार्थत्वं न प्रमाणान्तरेण ज्ञायते,—
किन्त्वनेनैव विधिनेति—भवत्ययमपूर्वविधिः, अपूर्वस्य प्राक् तदर्थत्वेनानुभूतस्य विधि-
रित्यर्थः । पक्षे रागाभावपक्षे प्राप्तस्य तु यो विधिः, अर्थात् पक्षप्राप्तानुवादको-विधिः,—
स नियमविधिः ।

यथा “व्रीहीनवहन्त्यादित्यादिः” । अवपूर्वको-हन्ति वैतुष्यानुकूलाघातविशेषार्थः । अनेन-
हि विधिना अवघातस्य न वैतुष्यार्थत्वं बोध्यते, अन्ययतिरेकसिद्धत्वात् । किन्तु-
नियमोऽवघातावश्यकत्वम् । स चाप्राशपूरणं वैतुष्यस्य हि नानोपायसाध्यत्वात् ।
यस्यां दशायामवघातं परित्यज्य उपायान्तरं ग्रहीतुमारभते तस्यां दशायामवघातस्या-
प्राप्तत्वेन तद्विधानात्मकमप्राप्तांशपूरणमेवानेन विधिना क्रियते । अतश्च नियमविधाव-

प्राप्तांशपूरणात्मको नियम एव वाक्यार्थः। पक्षे अप्राप्ततादशायामवघातविधानमिति-
यावत्। नत्वपूर्वविधाविवात्यन्ताप्राप्तयागविधानमिति।

एतद्विद्वत्तिथ्या—

अप्राप्तेरत्यन्तसत्ता तद्विधिमन्तरेण रागादितः कार्वाचिकप्राप्तेरप्यसत्ता। नियमस्थले तु-
रागाभावात्तदानीमप्राप्तत्वेऽपि कालान्तरे विधिं विनापि रागवशादप्राप्तिर्नावतिष्ठत इति—
नात्यन्तिको अप्राप्तिसत्तेति वैलक्षण्यम्। पाक्षिके अप्राप्ते इति शेषः। तत्र तद्विधि-
प्रतिपादो।

अन्यत्र तद्विधिप्रतिपादोत्तरत्र। चकारद्वयं समुच्चयावश्यम्भार्वार्थम्। उभयस्य युगपत्-
प्राप्तावितरव्यावृत्तिपरः, इतरव्यावृत्तिफलको-विधिः परिसंख्याविधिः।

तथा चैतत् व्याख्याकारः,—

तत्र चान्यत्रेति व्याचष्टे उभयस्येति। तद्वाक्यप्रतिपन्नस्य तदितरस्य चेत्पर्यः। युगपत्-
प्राप्तौ युगपदुपस्थितियोग्यत्वे। योग्यत्वं च अन्यतरोपस्थितावन्यतरस्यावाधितत्वम्।
नियमस्थले तु एकस्याश्रयणे अन्यस्य प्रयोजनाभावेन बाधितत्वान्न युगपत्प्राप्तिः। परिसंख्यायां-
पञ्चपञ्चनखभक्षणप्राप्तावपि तदितरपञ्चनखभक्षणस्य विजातीयत्वप्रान्तरजनकतया तत्कामस्य-
तद्रूपप्रयोजनसम्भवादबाधितत्वमिति द्वयोरपि युगपत्प्राप्तिसम्भवः। इतरव्यावृत्तिपरः उपदिष्ट-
सजातीयस्य उपदिष्टेतरस्य सख्यव्यवच्छेदायोच्चरितः। एतेन पञ्चपञ्चनखेतरस्यान्नादेर्भक्ष-
णेऽपि न प्रव्याय इति सिध्यति।

अतएव—

“भक्ष्यान् पञ्चनखेष्वहुरनुद्रांशैकतोदतः”।

इति मनुना पञ्चनखेष्विति निर्द्धारणं कृतम्।

एवं चाप्राप्तायास्तदितरनिवृत्तेः प्रापकतया अस्या अप्याप्राप्तप्रापकत्वरूपसामान्य-
धर्मवत्त्वात् विधित्वमक्ष्यम्। तदेव दर्शयति परिसंख्याविधिरिति। नूनं, यथा—

“पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या” इति। इदं हि वाक्यं न भक्षणविधिपरं तस्य रागतः प्राप्तत्वात्।
नापि नियमपरम्। पञ्चपञ्चनखापञ्चनखभक्षणस्य युगपत्प्राप्तेः पक्षे प्राप्तभावात् अत-
इदमपञ्चनखभक्षणनिवृत्तिपरमिति भवति परिसंख्याविधिः। सा च परिसंख्या द्विविधा-
श्रौती लाक्षणिकी चेति। तत्र अत्र ह्येवावपन्तीत्यत्र श्रौती परिसंख्या।

एवकारेण वपमानातिरिक्तस्तोत्रव्यावृत्तेरभिधानात्।

पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः,—

इत्यत्र तु लाक्षणिकी। इतरनिवृत्तिवाचकस्य पदस्याभावात्।

तथा चैतद्व्याख्याकारः,—

उदाहरति, यथेति—पञ्च पञ्चसंख्याकाः।

यद्यपि—

“श्राविधं श्रत्यकं गोधां खङ्गकूर्मशशांस्तथा ।

भक्ष्यान् पञ्चनखेष्वहुरनुष्टांश्चैकतोदतः” ॥

इति यस्यां पञ्चनखानां भक्ष्यत्वमुक्तं, तथापि श्राविच्छ्लोकपदयोर्द्वयोरपि श्रल्लकीवाच-
कत्वादीषद्भेदमङ्गीकृत्य मनुना षट्संख्यकत्वमभिहितम्, तद्भेदनादरे तु पञ्चत्वमेव घटते ।

अतएव स्मृत्यन्तरे,—

“शशकः श्रल्लकी गोधा खङ्गी कूर्मस्तु पञ्चमः” ।

भक्ष्यान् पञ्चनखेष्वहुरित्यादिना पञ्चानामेव भक्ष्यत्वमुक्तम् । भक्ष्यविधिपरं-
शशकादिपञ्चनखपञ्चकभक्ष्यविधायकम् ।

रागत इति । रागप्राप्तस्याप्राप्तत्वाभावेन विधानासम्भवत्वादिति भावः । अपूर्व-
विधित्वं निराकृत्य नियमविधित्वमपि निराकरोति नापीति । नियमपरं पञ्चनखपञ्चक-
भक्ष्यविधायकम् । तथात्वे वाधकमाह । पञ्चनखापञ्चनखेति । पञ्चविध-
पञ्चनखतदितरपञ्चनखेत्यर्थः ।

युगपत्प्राप्तियोग्यत्वात् । पक्षे प्राप्तभावात् पाक्षिकप्राप्तभावात् । शशकादिपञ्चनखे-
तरपञ्चनखभक्ष्यप्राप्तौ शशकादिपञ्चनखपञ्चकभक्ष्यस्यावाधितत्वेनाप्राप्तभावादिति-यावत् ।
अत इति ।

यतोऽस्य नापूर्वविधित्वं नापि नियमविधित्वं सम्भवति अत इत्यर्थः,

प्रकारान्तराभावादिति भावः ।

इदं पञ्च पञ्चनखा इति वाक्यम् । अपञ्चनखेति । शशकादिपञ्चविधपञ्चनखेतरपञ्च-
नखेत्यर्थः ।

परिसंख्याविधिरिति परिसंख्याया निर्दिष्टेतरनिवृत्तेर्विधिरिति यावत् । परिसंख्या-
विभजति सा चेति । द्वैविध्यं दर्शयति औतीति । शब्दाभिधेयेत्यर्थः । लाक्षणिकी लक्षणया-
बोद्ध्या । किन्तुपदान्ते विधितयेऽस्मिन् निम्नस्थाः कतिपये संशयाः, यथा,—

किमर्थमेतद्विधितयस्योद्भावनम् ? जगदीश्वरोद्भासितमेतत्तत्तयं वा महर्ष्युद्भावि-
तम् । कथा रीत्या वा निरुक्तनियमद्वयस्य तदन्तर्भूतत्वम् ? तत्तयस्य सति वेदोपयोगित्वे-
कथं लौकिकव्यवहारोपकारकत्वमित्यात्मकसन्देहनिवृद्धानां निरसनमधः प्रकाशयते यथाक्रमं-
कतिचित्पङ्क्तिभिः स्फुटतः । यथा—

धर्मार्थकामनोक्षाख्यपुरुषार्थचतुष्टयसम्पत्तिर्हि वेदार्थज्ञानाधीना, इत्यत्र न केषामप्या-
ख्यानां भवति विप्रतिपत्तिः । वेदश्च—“मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्, इत्यापस्तम्बादुक्तेर्मन्त्र-
ब्राह्मणोभयात्मकः कर्मोपासनाज्ञानप्रतिपादकः । तत्र देवद्रव्योभयसाध्यो-यागादिः कर्म ।
ब्रह्मजीवयोरुपास्योपासकत्वदृष्टिरुपासना । जीवब्रह्मणोरभेद एवात्र ज्ञानम् ।

तत्र च वेदे पूर्वापरविरोधादिना वास्तवार्थविचिकित्सायां प्रसक्तायां तद्वारणाय रचित-
मीमांसाशास्त्रम् ।

तत्र कर्मसाधिकानां श्रुतीनां विचाररूपो भागः पूर्वकाण्डः,—

प्रथमतस्तद्व्यवहृतो-मीमांसात्वेन प्रसिद्धः ख्यातिं गतो जैमिनीयत्वेन । श्रुतीना-
मुपासनाज्ञानसाधिकानां विचारात्मको-वेदान्तत्वेन प्रसिद्धो भागः शारीरिकशब्दाद्यो-
वेयासिकत्वेन ख्यातिं गतः । तत्र च विधिप्रतिपादकवाक्यानां निर्णेतुं परस्पर-
प्रभेदं मीमांसादर्शने विधित्वसुझावितं महर्षिणा जैमिनिना । अतो-मीमांसादर्शनस्य
जैमिनिनिर्मिततया तद्विधित्वविधित्वनिर्मातृत्वं जैमिनेर्नैव स्यादिति राद्धान्तः । विधित्व-
भ्यन्तरेऽपूर्वविधिर्नैव स्यादिति वेदमूलकानिःश्रेयसस्वर्गादिसाधको धर्मो यागादिः । तदुप-
योगिजगदीशकृतसत्यपालनादि, तथा महर्षिसमाजानुष्ठितोदूखलनिर्माणधान्यावहनादि-
चान्तरा फलजनकत्वासम्भवात्तस्य समुद्भूतोऽयं नियमविधिस्तदुपकारकत्वेन । क्वचित्-
कुत्रैतन्नियमद्वयप्रसारणस्याहितजनकत्वेन मौलिकधर्मोऽपि व्याधातसम्भवादिधातुं तत्सङ्कोच-
प्रादुरासीत्यरिसंख्याविधिः । मानवोद्यव्यवहारादिपलक्षणविधया परिचालितं विधित्व-
त्रिकालविद्धिर्महर्षिभिरिति सिद्धम् ।

नैषा विवृतिः स्वकपोलकल्पिता सत्यनिष्ठेनागृहीतशूद्रादिद्रव्यैरेण दिजेनानुष्ठितयागाद्या-
त्मकधर्मस्यावश्यम्भाविफलाधायकत्वे मन्वादिधर्मशास्त्रीयप्रमाणवृन्दस्य अगणकत्वात् ।
प्रमाणान्यत्र तत्तत्संहितासु द्रष्टव्यानि ।

न च "यजेत स्वर्गकाम" इति वेदाव्यतिपादितयागस्यादृष्टद्वारा स्वर्गफलजनकतया-
निःश्रेयसस्वरूपफलोत्पादकत्वमस्यानुपपन्नमिति वाच्यम् । श्रौगोविन्दार्पणबुद्ध्या क्रिय-
माणस्य यागस्य तद्धेतुत्वाद्धर्मस्यास्य सति यदुद्देशकविधिप्रतिपादितत्वे तदुद्देशेन क्रिय-
माणस्य तद्धेतुत्वात् । प्रयोजनमुद्दिश्य रागादिधर्मस्य वेदे विहितत्वाच्च । न च तदर्पणबुद्ध्या-
प्रमाणाभाव इति वाच्यम् ।

“यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।

यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम्” ॥

इति स्मृति प्रमाणस्य विद्यमानत्वात् । ननु ब्रीहौन्नवहन्वादिति, तथात ह्येवावप्रन्तीति-
वैदिकवाक्यद्वयेन यथाक्रमं नियमविधेः परिसंख्याविधेश्च प्रकटितत्वादेदस्यापौरुषेयत्वाच्च
कथमुभयविधेरङ्गीकृतं महर्षिसंसदनुष्ठितत्वमिति चेन्न । निरुक्तवाक्यद्वयस्य सत्यपि वेद-
वोधितत्वे नियमविधिरयमेवायं-परिसंख्याविधिरिति वैदिकविभागस्य मीमांसीयदार्शनिक-
विभागमन्तराऽचाक्षुर्विषयत्वात्, तथा कथा रीत्योदूखलनिर्माणपूर्वकावहनादिकरणस्यावो-
ल्लेखाभावात् तथोदूखलनिर्माणपूर्वकावहनानुष्ठानस्य रागतः प्राप्तेतरव्यावृत्तिविषयकज्ञानस्य-
च महर्षिसमाजाधीनत्वाच्च । अतो-नियमविधेः परिसंख्याविधेश्च कर्त्तव्यत्वांशे बहुपरि-
माणतो-मुनिसमाजकर्त्तृकविधानस्य स्पष्टतः प्रकाशमानतया तथोर्मुनिसमाजनिर्मितत्वमप्य-

वश्यमङ्गोकरणीयम् । अवहननावपनोदूखलपदानां शब्दतो-वेदबोधितत्वेऽपि तदनुष्ठानादे-
र्मुनिसमाजपरवशत्वादिति दिक् । वेदस्य, पौरुषेयत्वे हिन्दुसाम्प्रदायिकदार्शनिकमतान्तरस्य-
सत्यं विद्यमानत्वे तत्साम्प्रदायिकबहुजनसमाजस्य वेदस्यापौरुषेयत्ववादिमतस्यानुगतो-
ऽयं विचारो विधित्वस्य ।

अन्यच्च—सध्येविधित्वं परिसंख्याविधेः रागतः प्राप्तेतरव्यावृत्तिपरत्वे स्फुटतः प्रतीयते-
तस्यैच्छिकत्वम् । प्रमाणाभावोऽपि नात्र परिदृश्यते ।

यथाह मनुः,—

“न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।

प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला” ॥

मेधातिथिः,—

“यस्तु तेन विनापि शक्नोति जीवितं तस्य निवृत्तिर्महाफला” ।

तथा च सर्वज्ञनारायणः,—

“पूर्ववर्जं व्रजेच्चैनमित्यनुमेयने विहितेऽपि न दोषः” ।

प्रवृत्तिरेषा भूतानां—यतः रागवशात् सर्वसाधारणा प्रवृत्तिर्न वैधौ” ।

तथा, बृहस्पतिनापि, “मांसमद्याच्चतुर्विधा परिसंख्येत्यक्ता” ।

“रोगार्ताऽभ्यर्थितो-वापि यो-मांसं नाच्यलोलुपः ।

फलं प्राप्नोत्ययत्नेन सोऽश्वमेधशतस्य चेत्युक्तम्” ॥

अतो-विहितादपि भक्षणाद्विनिवृत्तिर्महाफलेति गम्यते ।

कुल्लूकः,—

“भक्षणापानमैथुनादौ प्रवृत्तिः स्वाभाविकोऽयं धर्मः वर्जनं पुनर्महाफलम्” ।

तथा भागवतैकादशस्कन्धे, चमसः ;

“लोके अवायाभिषमदासेवा निव्यास्तु जन्तोर्नहि तत्र चोदना ।

अवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञसुरायज्ञैरासु निवृत्तिरिष्टा” ॥

श्रीधरः,—

“ननु अवायादीनामपि ऋतौ भार्यामुपेयात् हृतशेषं भक्षयेत् इत्यादिना विहितत्वात्-
क्रमेवं निव्यते, अत आह लोक इति,—

अवायः स्त्रीसंसर्गः । निव्या रागत एव निव्यप्राप्ताः, जन्तोः प्राणिमात्रस्य,

अतस्तासु चोदनाविधिर्नास्ति ।

ननु ऋतावुपेयादित्यादिना विधिर्दर्शितः, सत्यं, नत्वयमपूर्वविधिः । किन्तु नियमविधि-
रूपेण रागिणामभ्यनुज्ञामात्रं क्रियते । तदाह अवस्थितिरिति, तेषु अवायादिषु ।

कैविवाह्यज्ञसुरायज्ञैः विवाहविषय एव अवायः कार्यः, यज्ञ एव आमिषसेवा,—
सौतामण्यां सुरायज्ञान् गृह्णातीति अतस्त्वैव मदसेवेति नियमः क्रियते ।

ननु च नियमपक्षेऽप्यावश्यकत्वान्न निन्दा युक्ता । अत आह आसु निवृत्तौति । अयं-
भावः, नार्यं नियमविधिरपि नित्यप्राप्तत्वात् अतो निवृत्तिः परिसंख्यैव । आसु अवाया-
मिषमदसेवासु निवृत्तिरिष्टा । कथं तर्हि अवस्थितिरित्युक्तम्, उच्यते, न तावत्-
परिसंख्याविधिना अत्र निवृत्तिरुच्यते । तथा सति स्वार्थत्यागः, परार्थकल्पना प्राप्त-
वाधश्चेति दोषत्रयं स्यात् । अतः क्वचित्प्राप्त्यतोऽप्यर्थस्य प्रापणमनर्थकमित्यपूर्वविधि-
द्वारा अन्यनिवृत्तिः फलतो भवति । तद्वयथा—इमामगृह्णन् शनान्तस्थित्यन्वाभिधान-
मादत्त इत्यत्र रश्नानलिङ्गतो गदंभास्वाभिधानीरश्नाद्वये प्राप्त्यतो मन्त्रस्यापूर्वविधिद्वारा
परिसंख्योच्यते ।

यथोक्तं तन्त्रवार्तिके,—

“अप्राप्तविधिरवायमतो मन्त्रस्य निश्चितः ।

परिसंख्या फलेनोक्ता न विशेषः पुनः श्रुतिः” ॥ इति ।

क्वचित्पुं रागतो नित्यप्राप्तस्याऽप्राप्तांशपूरणलक्षणस्य नियमफलस्याप्यभावान्नियमविधि-
द्वारा फलतः परिसंख्या भवति । यथा पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या इति । तथा रागतो नित्यवत्-
प्राप्तस्य अवायादेः विवाहादिनियमेनाभ्यनुज्ञाद्वारा परिसंख्यैवेति ।

ननु यदभ्यनुज्ञामात्रमेतद्वेत् तर्हि,

“ऋतुस्नातां तु यो-भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति ।

घोरायां भ्रूणहत्यायां पच्यते नात्र संशयः” ॥

इत्यादि दोषश्रवणं न स्यात् । नैष दोषः मनसि कामे सत्यपि तस्यामरुच्या देवादिना-
वा तामननुगच्छतो दोषश्रवणोपपत्तेरिति सर्वमनवदम् ।

तथा भागवतीयैकादशस्कन्धे,—

“स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः ।

कर्मणां जात्यशुद्धानामनेन नियमः कृतः” ।

श्रीधरः,—

“पुरुषस्याशुद्धिर्नाम न प्रवृत्तेरन्यास्ति स्वाभाविकप्रवृत्तैव तस्य मलिनत्वात् न च सहसा-
सर्वतो निवृत्तिः कर्तुं शक्यते । अत इदं न कर्त्तव्यम् । इदमेव कर्त्तव्यं इत्येवं स्वाभाविक-
प्रवृत्तिसङ्कोचद्वारेण निवृत्तिरेव क्रियते । यथाच न प्रवृत्तिपरो वेदः” ।

तथाच भागवते एकादशस्कन्धे,—

“यतो यतो निवर्त्तत विमुच्येत ततस्ततः ।

एष धर्मी नृणां क्षेमः शोकमोहभयावहः” ॥

श्रीधरः,—

“अतो-गुणदोषनियमविधौनां प्रवृत्तिसङ्कोचद्वारा निवृत्तावेव तात्पर्यमित्यभिप्रेत्याह-
यतो-यत इति” ।

“विषयाभिनिवेशेन नात्मानं वेदनापरम् ।

फलश्रुतिरियं नृणां न श्रेयो-रोचनं परम् ।

श्रेयो-विवक्षया प्रोक्तं यथा भैषज्यरोचनम्” ॥

तथा श्रीधरः,—

‘ननु प्रवृत्तस्य स्वर्गादिफलश्रवणात्कृतः स्वार्थविभ्रंशः, तत्राह इयं फलश्रुतिर्न श्रेयसः-
परमपुरुषार्थपरा न भवतीत्यर्थः । किन्तु वह्निर्मुखानां नृणां मोक्षविवक्षया अवान्तरफलेः-
कर्तुं रुचुःत्वादनमात्रम् । वेदतात्पर्याज्ञानाच्चान्यान् यजन्तीत्याह । स्वमतमेवाह-
हिंसायां मांसभक्षणार्थं तत्फलार्थं च यदि रागः स्यात्तर्हि यज्ञ एवेति अभ्युपगमाद्वारा वा
परिसंख्येयं नत्वावश्यकत्वेन चोदनेत्येवं रूपम्” ।

आपस्तम्बधर्मसूत्रीयभाष्ये,—

हरदत्तः “पौरुषेयी व्यवस्थासमयः । स च त्रिविधः विधिर्नियमः प्रतिषेधश्च । सन्ध्योश्च-
वह्निर्गामादसनं वाग्यतस्त्रेत्यादिः । निवृत्तिप्रयोजनावितरौ, प्राङ्मुखोऽज्ञानि भुञ्जीतेति—
नियमः, क्षुद्रपक्षातार्था भोजने प्रवृत्तिः शक्या च यत्किञ्चिद्दिङ्मुखेनापि भुञ्जानेन क्षुद्रप-
क्षन्तुम् ।” तत्र नियमः क्रियते,

“प्राङ्मुख एव भुञ्जीत न दक्षिणामुख इति” ।

परिसंख्या-नियमस्य क्रियानपि भेदः ।

विज्ञानेश्वरः,—तस्मिन् युगासु संविशेदिति ; किमयं विधिर्नियमः परिसंख्या बोध्यते ।
न तावद्विधिः प्राप्तार्थत्वात् ।

“विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति ।

तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्या निगद्यते” ॥

तस्माद्वतावेव गच्छेन्नान्यत्रेति परिसंख्येति युक्ता ।

केयटः,—

“नत्वयं विधिरप्राप्तेरभावात् । विवरणं,—विधिरिति अपूर्वविधिरित्यर्थः, अन्यनिवृत्ति—
फला परिसंख्या” । अतः परिसंख्याया ऐच्छिकत्वे न कापि विप्रतिपत्तिरिति सिद्धम् ।

अपरश्च—एतादृशविधित्व-प्रकटनेन यद्वर्तमानं संरक्षितं मौमांसकैस्तत् दार्शनिकैः कां-
शैतिमवलस्य प्रतिपालितं तदधो-विनियतेऽत्र ।

यथा वैशेषिकदर्शनसूत्रं, “द्विविधोऽयं धर्मोः दार्शनिकसम्मतः” “अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धि-

धर्म" इति । अभ्युदयसिद्धिः अर्थात् प्रवृत्तिलक्षणो-मङ्गलात्मकः स्वर्गादिफलसाधकः, तथा निःश्रेयससिद्धिः अर्थात् निवृत्तिलक्षणोऽपवर्गसाधकश्च धर्म इत्यर्थः ।

प्रथमोक्तधर्मपुष्टिकारकत्वमदृष्टविधेः कियदंशेन नियमविधेः परिसंख्याविधेः । तथा-श्रेयोक्तधर्मपुष्टिवर्द्धकत्वं कियत्परिमाणेन नियमविधेः साकल्येन परिसंख्याविधेः । परिसंख्याविधेरैच्छिकतया विद्वत्समाजेच्छानुसारेण श्रेयोक्तधर्मपरिवर्त्तनस्य सद्यपि सम्पत्सोपयोगित्वे-निःश्रेयससाधकस्य वेदभूलकधर्मस्य न भवति यथा विपरीतगामित्वं तस्य, तथानुष्ठेय-मेतत्परिवर्त्तनम् ।

एतद्विधिवशवर्त्तितयेदानीं नियमान् निर्माय प्रचारयितुं हिन्दुसमाजाभ्यन्तरे न भवेद्युः-केऽपि शक्ताः । न विद्यते सास्त्रिन् भारते महर्षिसंस्तु चत्त्रियपरिचयेदानीम् । शिष्टा तु-समाजादस्मादन्तर्हितेत्युच्यते चेन्न भवेदुक्तिः ।

तर्हि विदेशीयवनराजत्वावसरे प्रादेशिकनिबन्धग्रन्थसङ्कलनमिव सम्प्रति कर्त्तव्यं निबन्ध-ग्रन्थनिर्माणम्, न तावत्तत् किन्त्वावश्यकम् । तदननुष्ठाने च सन्ति कारणानि वहुनि । यथा,—

तस्मिन्नवसरे प्रत्येकभारतीयप्रदेश-आसीत्सीमानियमितः । गमनागमने चान्यस्या-अपि कस्याः सुचयस्याया अविद्यमानतया साह्यं स्वस्वप्रदेशैः प्रदेशान्तराणां सम्पर्का-भावात्सर्वे धरा स्वस्वप्रदेश-इति मन्यन्ते तत्रत्यैः ।

अतएव स्वस्वप्रादेशिकाचारव्यवहाराणां तत्तद्देशीयविप्रादिजातिनिबन्धस्य च तत्त-प्रादेशिकनिबन्धग्रन्थेषु प्राधान्यमापादितं तत्तत्कालीननिबन्धनिर्मातृभिः । भरतखण्डस्येदानीं-प्रत्येकप्रदेशीया मानवाः स्वप्रादेशिकभाषाज्ञानमन्तरा प्रदेशान्तरभाषानभिज्ञा अपि-राजकीयभाषाशिखायाः सर्वत्र प्रचारिततया स्वान्तरीयभावं अस्तीकर्तुं समन्ततः-प्रदेशान्तरीयचत्तेर्भवन्ति सच्चमाः ।

त्वेकस्यानतः समुद्भूता खीयजातिरिति बुध्यते सर्वैः । सर्वेषामुत्पद्यते मनसि विश्व-जनीनो-भावः । जलस्थलयोर्वासीययानस्य सुलभतया सुदूरदेशवातं भवति सुगमम् । अतोऽन्यान्यप्रदेशवासि-मनुजानामभ्यन्तरे भवति बन्धुता सुदृढा । सहजतया स्वस्व-जातीयपरिचयस्य परस्परयौनसम्बन्धं खाद्य पेयादिकं चानुष्ठानसुलभन्ते सर्वे । सम्प्राप्त-पक्षतो-न भवति किमेकविधमिदं धर्मसंरक्षणम् ।

नेदानीं भवन्तुप्रकाराधायकाः पूर्व-पूर्व-सङ्कलितनिबन्धग्रन्था इति सम्भाव्यते साकल्यतः । ततोऽधुनातनहिन्दुसम्प्रदायस्योन्नतिविधाने निगमागमसमृद्धपञ्चमपुराणोपपुराणसदाचारादि-भूलकतया देशकालोपयोगित्वेन च विश्वजनीननिबन्धग्रन्थोऽवश्यं सङ्कलनीय-इत्येदं-सर्वमानवानां मनसि ।

अत-एतादृशो-ग्रन्थः कर्तव्यो-देशकालानुरूपः । एतदुपयोगीनि वर्त्तमानकालीन-कलेरूपकारककार्यकलापोद्बोधकानि प्रमाणजालानि स्वस्वरचितसंहिताग्रन्थेषु समुल्लिखि-

तानि सर्वज्ञैर्महर्षिभिः-सर्वैः । न च सति विद्यमाने संहिताग्रन्थसन्दोहे नावश्यकं निबन्ध-
ग्रन्थान्तरनिर्माणमिति वाच्यम् । प्रतियुगं तद्व्युत्पद्यधर्माणां प्राचीनाचार्योद्भावितत्वे-
सत्यप्येकस्थानतस्तत्प्रमाणानामचक्षुर्विषयत्वात् । प्रतियुगमपि विद्यते ह्यापत्कालः । प्रति-
स्थानं तत्कालीनधर्मानुष्ठानमपि पृथक्तया निर्दिदिशुर्महर्षयः । किन्तु कल्पवच्छेदे-
ऽनुष्ठेयाः के के धर्माः ? तदभ्यन्तरे को वापत्कालः ? तत्र वा करणीयानि कानि-
कानि कार्याणि ? एतत्-समस्तविवरणोल्लेखनं स्फुटतः कुत्रापि स्थले न भवति दृष्टि-
गोचरम् । अतश्चैतत्सकलविषयस्य स्युक्तो-विधातुं विवृतिं निबन्धग्रन्थनिर्माणमवश्यं-
प्रयोजनीयम् । तर्हि कलियुगधर्मविवरणभित्तुप्रत्यवस्थापितयोऽयं निबन्धो वा-तदीयापत्काल-
विधेयधर्ममूलकतयानुज्ञातय-इत्येवंविधे सति सञ्जायमाने सन्दोहे कलिधर्मभित्तिसमस्तग्र-
संग्रहग्रन्थकरणे तन्निवारणसम्भावनीयमिति निर्णयतेऽस्माभिः ।

यन्निरुक्तप्रमाणोद्भाषितकलीयधर्माणां विशेषतः परिदृश्यते अतिक्रमोऽत्र । अतः-
प्रोक्तभित्तुप्रवस्थापितनिबन्धग्रन्थेनैव धर्मसंरक्षणाभावादेव न सम्भवपरम् । सुविचारेणाप्य-
स्माकमेतदनुष्ठानमुचितमित्यवबुध्यतेऽस्माभिः । ततोऽनुष्ठानतयास्य धर्मस्य संरक्ष्य मौलि-
कतां निर्मेयं देशकालोपयोगि धर्मशास्त्रम् । तथा सति रक्षितोऽयं हिन्दुधर्मः कियत्समस्तारा-
वधीति सम्भावना । कुत इति चेदुच्यते,—

यथा—समयेऽस्मिन्नविधिविधिरूपेण, सुखो-गौणत्वेन, गौणो सुखरूपतयावगम्यते धर्म-
शास्त्रीयप्रमाणेभ्यः ।

यथा त्वनापदि,—

“वरं स्वधर्मां विगुणो न पारक्वः खनुष्ठितः ।

परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः ॥”

इत्युक्तमानवीयप्रमाणेन दिजाति-कर्तृकानन्तरवृत्तिग्रहणस्याविधित्वेऽप्यापदि विधित्व-
मापादितं मन्वादिभिर्धर्मशास्त्रकारैः ।

यथाह मनुः,—

“अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा ।

जीवेत्-क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः ॥

उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेदुभवेत् ।

क्षत्रिगोरक्षमास्थाय जीवेद्दैत्यस्य जीविकाम् ॥”

इत्येवंविधान्यन्यासु संहितासु द्रष्टव्यानि प्रमाणवचनान्यतः परिवर्त्याण्यत्र ।

तथा सुखत्वं, सुखे आदौ भवः सुखः तस्य भावः सुखत्वं, अर्थात् प्रथमकल्पत्वम् ।
अमरोक्तेर्वा श्रेष्ठत्वम् । तत्, कदा कदा वा लभते गौणत्वम् ।

यथा—“अर्थद्रव्यविरोधेऽर्थो द्रव्याभावे तदुत्पत्तेर्द्रव्याणामर्थशेषत्वा”दिति जैमिनीयघटा-
ध्यायतृतीयपादौयविंशाधिकरणन्यायेनैतत्प्रमथितम् । तथाहि तत्र संशयपूर्वपक्षसिद्धान्ताभि-
धायिनीयं माधवीयकारिका,—

“नियोजनेऽप्ययोग्यश्चेत्-खदिरः किं तदा भवेत् ।

मुख्यत्वेन सदैव स्यात्तद्वैयर्थ्यं न हीतरः ॥”

तद्विवृतिस्तु यथा—“यदात्यन्तकृशत्वात्तच्छणादिरुद्धितोऽपि खदिरो नियोजनेऽप्ययोग्यः ।
तदापि मुखप्रत्वात् खदिर एवोपादेयः । इति चेत् सैवम् । उपात्तस्य प्रयोजना
भावान्नियोजनयोग्यः प्रतिनिधिरेवोपादेयः” । अत्रैव मुख्यत्वेनाभिमतखदिरात्मक-यपस्य-
नियोजनोपतया गौणत्वमापन्नं निर्विवादमेव ।

तथाच—“सोमाभावे पूतिकलणान्यभिधुग्या”दित्यादौ मुखप्राभावे गौणस्य कृमत्वात्-
गौणत्वं च मुखप्रत्ययवच्छेदकप्रकारकारोपविशेष्यत्वम् ।

स चारोपो-धर्माधर्मस्थले शास्त्रजन्यो ग्राह्यः ।

अन्यथा—सर्वेष्वपि लणेषु सोमत्वारोपापत्तेः । तथा—प्रतिनिधिश्च तद्वत्, तद्वत्प्रयो-
जनेकत्वात् ।

अशास्त्रलक्षणत्वा”दिति जैमिनीयतृतीयाध्यायषष्ठपादौयचतुर्दशाधिकरणन्यायेनाप्येत-
दनुमोदितम् । तथाहि—तत्र संशयपूर्वपक्षसिद्धान्ताभिधायिनीयं कारिका ।

“नीवारादि प्रतिनिधेरतुल्यो वा विधिः स्मृतः ।

पुरेवा तुल्यतासाम्यमाकारादुद्ग्रीहिता यतः ॥”

“ब्रौहिभिर्यजेत,—इति विहितानां ब्रौहिणामसम्भवे नीवाराः प्रतिनिधित्वेन स्वीकार्या-
इति वक्ष्यते । तत्र पूर्वन्यायेनावघातादिविधयो-ब्रौहिण्युक्तार्थाः पश्चात्-भाविनि नीवारादौ न
प्रवर्तन्ते इति चेन्मैवम् । ब्रौहिण्युद्धो हि जातिविशेषणाकारविशेषण बोधेन द्रव्यमाचष्टे
नीवारेषु जातितो-ब्रौहिण्युद्धार्थत्वाभावेऽप्याकारतो ब्रौहिण्युद्धार्थत्वेन “ब्रौहीनवहन्ति”
इति विधिः प्रवर्तते । यथा ब्रौहिजातावेव समोचीनानां ब्रौहीणामभावे जलदङ्गादुपघातेन
सारविकलेष्वपि विधिः । तथा जातिविकलेष्वपि ब्रौहीषु सुखैकदेशरूपत्वाद्विधिरस्तु” ।

उपलक्षकजैमिनीयप्रमाणजातमेतदाश्रित्य समयविपर्ययपरम्परया खानुष्ठितधर्माणामपि
प्रधानगौणत्वव्यवस्थापादिता प्रेक्षावद्भिरिति सिद्धान्तः ।

न च विद्वत्-समाजानुष्ठितत्वे प्रमाणाभाव इति वाच्यम् ।

“यतेः सायं गृह्यत्वं च सूरिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।

एतानि लोकगुप्त्यर्थं कलेरादौ महात्मभिः” ।

निमित्तानीत्यध्याह्वयम् । इत्यादित्यपुराणीयवचनेन लोकरक्षार्थं विद्वत्समाजानुष्ठित-

धर्मस्य प्रमाणितत्वात्, “प्रेतस्पर्शिनो-ग्रामं न प्रविशेयुरानक्षत्रदर्शनात्-रात्रौ चेद्वादित्यस्य”,
प्रेतस्पर्शानुवृत्तौ हारीतः,—“ब्राह्मणानामनुमत्या वा” ।

तथाच यदा ग्रामप्रवेशं विना आत्यन्तिकः कार्यनाश-आपद्यते, स्पर्शिनोऽशक्तिर्वा तदा-
ब्राह्मणाणां गृहीत्वा पूर्वोक्तविधिमुल्लङ्घ्य ग्रामप्रवेशोऽप्यदोषः” । इति गादाधरीयकालसारो-
द्भावितमोमांसया यथादेशकालपानं प्रकटीकृतविद्वत्समाजाचरितधर्मत्वाच्च । इत्यलं-
पक्षवितेन ।

अन्यत्रेहानोन्तनसमयं सत्यापत्कालात्मकत्वेन निर्योते रोगदुर्भिक्षादिप्रपौडितावस्थाया-
आपद्रूपत्वेन परिसंख्यातत्वात्तदीयकाल-एवापत्समय इत्यापत्तिमुत्थापयन्ति केचन तर्क-
कुशला निम्नस्थयुक्तिप्रदर्शनेनैव ।

यथा निरुक्तकालस्य बहुवर्षानवस्थायितया समयस्याधुनातनस्य बहुसंवत्सरस्यापित्वेन च-
कथमापत्समयात्मकत्वेन भवेत्परिगणितत्वमस्य ।

अपि च वित्ताद्यभाववशतः कतिपयानां मानवानां सत्यां विपत्तौ संघटितायामपि-
दृष्टिनियमाधीनतया क्रोडीकर्तुं मानवान् सर्वान् विपदिषु न संघटेतेति पूर्वपक्षः । सिद्धान्ते-
तु वक्ष्यमाणविधया सत्याचरिते समधाने न सम्भवेत् काप्यापत्तिः । कुत इति चेद्विद्वत्ये-
तन्न संक्षेपतः । यथा,—

धर्मशास्त्रमतानुगतापत्तविधा । रोगाद्यभिभूतावस्था । सम्यग्वर्त्तनोपायानुपलम्भो-
धर्मविज्ञवच्च । अर्थात् रोगशोकादिभिः प्रपौडितप्राणिनां यावस्था, सम्यग्रूपेण
स्वस्वजीविकानिर्वाहकोपायस्य योऽभावः, क्रमशो धर्मलोपोपक्रमश्च । सर्वमेतदापदा-
त्मकत्वेनाभिहितमेव । तदात्मकानामापदां सर्वासां स्यादेवाव्ययकालस्थायित्वं तथा बहुवर्ष-
स्यापित्वञ्च ।

ज्वरादिषु कतिपयेषु गर्देषु कियत्समयमुपगतेषु सत्स्वप्युपशमं, कुडादयो रोगा-भवन्त्या-
मरणं क्षेपदायकाः ।

तथा सति सद्यः समयः किमापत्काल इति न परिगण्यते सर्वैः । यदा कस्मादभाव-
वशतोऽप्याजीवनावधि स्वाच्छन्द्येन परिचालयितुं स्वजीविकां न कमपुण्यायमुपलभेरनु-
लोकाः, तदा स एव समयो-विपत्समयात्कोऽन्य इति कथ्यते लोकैः । भवति नैतच्छास्त्र-
दृष्टम् । अतः स एवापत्कालातिरिक्तः क इति नोद्यते सर्वैः । नच सांसारिकद्विषमाशु-
सारणेनैकदा सर्वे लोका नाभावयस्ता इत्यापत्तिः सुसङ्गतेति वाच्यम् । सति पारावारनिमज्ज-
पोते तदारोहिण्यां प्राणिनां सर्वेषामेकदा दृष्टप्राणविसर्जनत्वात्, ग्रामदाहाद्यवसरे तद्-
ग्रामावस्थितानां प्राणिनां युगपदौचित्यभङ्गीभूतत्वाच्च ।

अग्नौचादिप्रकरणेऽवलोकितान्येवैतद्विषयकाणि साक्षिवचनानि सकलेषु धर्मशास्त्रेषु ।
तावदवलोक्यते प्रायशो यथैव महाघावसरेऽन्नाद्यभावप्रपौडितानां प्राणिनां व्याकुलता-
सदातनी, तथैव परिदृश्यन्तेऽभावशून्या धनिका वित्तादेः संरक्षणावेक्षणे, तथा राजानो-

ऽपि प्रजादिपरिपालने तदपेक्षया विशेषाकुलाः । सकलानामेतेषां आकुलतैका वा विभिन्ना । न तावद्विभिन्ना । आकुलतात्वावच्छिन्नआकुलताया ऐक्यात् । अतः सर्वैरेवावश्यमङ्गीक्रियते सैकेति ।

ततो-आकुलतोपलक्षितः काल-एवापत्समयो-नान्य-इत्यवश्यमेव स्वीकरणीयं सर्वैर्निर्विवादम् । परामर्शमिदानीं भवेद्युच्छेदग्रसरास्तदा ज्ञास्यन्ति यदेकांशोऽवस्थापन्नः, पञ्चदशांशा-अभावाक्रान्ता-इति । अत एतत्समयो-न सार्वजनीनापत्समय-इति न कथयिष्यते कैरपि हृदयवद्विर्लोकैः ।

श्रीजादीश्वरहृद्येनियमोऽयं यत्, कियत्स्वेकविषयकाभावाभिभूतया सत्स्वपि दुःखितेषु केचनान्यविषयकाभावेन भवन्ति कातराः । किन्तु तदुपलक्षितः काल-आपत्समय-एवेति वक्ष्यते सर्वैः । सत्यामित्यत्समयपर्यन्तयापिन्यामापदि तदभिलक्षितः कालो-विपत्समयात्मकत्वेन कथनीय इति न ब्रूवन्ति शास्त्राणि । वरं शास्त्राणि यथा—विपत्समयत्वं प्रतिपादयन्त्यल्पकालयापि दुःखितावस्थायां सत्या बहुसंस्तुसरयापि दुःखापन्नावस्थायाश्च ।

अतो-यापत्-यत्समययापिनी, तद्विप्रदस्तत्समय एवापत्काल-इति निर्गलितार्थः । विपत्कालविचारवसरे लिखितयान्येतद्विवरणसमकर्थकानि महाभारतीयापह्नवपूर्वोक्तवचनानि प्रमाणानि द्रष्टव्यानि । निरुक्तविवरणावलिपरिदर्शनेनैवेदानीं तनसमयोऽप्यापत्काल इत्यवश्यं स्वीक्रियते सुक्तकण्ठैः सर्वैर्निर्व्याहृद्म् । तत एतन्निबन्धस्य प्रथमतः कर्तव्यो-विपत्समयविचारः । परस्परमनुष्ठेयस्तदुपयोगिविषयनिर्णयः । तथा सति भारतीय-धनातनसकलायुषांप्रदायिकाः सन्तः पुष्टकलेवराः प्राणपणं दक्षितुं निजधर्मं भविष्यन्ति-सचेष्टाः । अतएवापत्कालतत्तुधर्मविचारपूर्वतो वेदविहितधर्मविचारस्यावश्यकतया निबन्धीय-मुख्यत्वात्परमेव मोक्षांसादर्शनाभिमतस्य वैदिकधर्मस्यादावेव विवेको विधेय-इति सुस्थिरम् ।

समाप्तोऽयं ग्रन्थीय-सुखवन्दः ।

धर्मनिरूपणम् ।

अथ पूर्वाह्नारम्भः ।

—०००००—

वैदिकधर्मनिरूपणम् ।

यथा,—

वैदिकधर्मरक्षार्थमुल्लेख्योऽयं निबन्ध-इत्येतस्य सुखबन्धतः प्रतिज्ञाततया-
कस्तावद्वैदिकधर्म इत्याकाङ्क्षायासुच्यते स एवात्र । इह खलु संसारे सुखं-
दुःखनिवृत्तिश्च परमं प्रयोजनं तत्रापि दुःखनिवृत्त्यपेक्षया सुखमेवमाणतरं-
लक्ष्यते ।

तथाह्येतद्रूपाभीष्टसाधनार्थमेव सर्व एव लोकास्तत्साधनोपायवस्तूनां सम्पा-
दनादिविषये अमायासादिजन्यक्लेशराशीन् सहन्ते । सहन्ते च सुखसाधन-
सम्पादनसमयेऽवान्तरदुःखराशीन् । यथा मत्स्यभोजने कण्टकवेधं पाकश्चमं,
भोजने तदाहरणजन्यक्लेशराशीन् ।

तत्र तत्र जायमानानपि क्लेशान् अगणयित्वैव प्रवर्तन्ते तत्र तत्र ।

तथा जायमानेष्वपि क्लेशेषु तत्तत्कर्मभ्यो-न निवर्तन्ते केऽपि । प्रतुष्ट-
तत्र प्रयतन्त-एव । अतो-दुःखोत्पत्तिभिर्या वैषयिकसुखसम्पादनाय-
नैतत्तत्कर्मभ्यो विरमन्तीति लोकसिद्धम् । ततश्च सर्वं वैषयिकसुखं दुःखानु-
विद्धमपि न कश्चिदपि हातुमिच्छति । सति च सुखस्यैवमाणत्वे सर्व-एव-
जनाः कालान्तरभाविसुखाभिलाषेण सुखसाधनवस्तुसम्पादनार्थं प्रथमतः-
सहन्ते बहुविधं क्लेशम् । यथा क्षीवीला हेमन्तावसरे शस्यलाभप्रत्याशया-
ग्रीष्मवर्षादिकाले क्षेत्रकर्षणं धान्यादिवपनञ्च कुर्वन्तः सुखसन्ततिलाभाशया-
यौवनसमये विद्याशिल्पकलाकलापादिकमभ्यसन्तो-बाल्यकाले सहन्ते बहु-
विधं क्लेशसञ्चयम् । किन्तु मानवमात्रस्यैवेदृशः स्वभावो दृश्यते यदल्पसुखेन-
न केऽपि परित्यज्यन्ति वरं क्रमशः पूर्वप्राप्तसुखापेक्षयाऽधिकमेव सुखं कामयन्ते ।

यथा वृष्टिसलिलैर्देहसन्तापनिवारणरूपे ज्ञानफले सत्यपि-विद्यमाने निवार-
यितुं विशिष्टसन्तापं दूरवर्त्तिनोमपि नदीं वापीं चावगाहितुं प्रायेण प्रवर्त्तन्ते
सर्व एव, प्रवर्त्तन्ते च प्रात्याह्निकान्नभोजनजन्यसुखे जायमानेऽपि मिष्टान्न-
भोजनजन्यसुखसम्पादनाय । अनेन विश्वजनीन-प्रवृत्तिदर्शनेन ज्ञायते यत्-
आत्मन्युत्कृष्टसुखधारा उत्तरोत्तराधिकास्त्विति सर्वेषामेवैवं कामना । तथाच-
विषयवस्तुसम्बन्धसमय एव वैषयिकसुखमुत्पद्यते, विषयवस्तुसम्बन्धविगमसमये-
च व्यपैति । विषयसम्बन्धश्च न पुनश्चिरस्थायी । इत्थं वैषयिकसुखं क्षणविनश्यत्-
विषयज्ञानसमकालोत्पन्नत्वात् । सुतरां वैषयिकसुखस्यास्य विगमावसरे जायते-
मनस्तापादिदुःखम् । विशेषत-एकविषयसुखानुभवोत्तर-समयेऽन्यविधशारी-
रिकपीडादिमानसिकैर्यादिकं च दुःखं प्रायशः प्राणिनां भवत्येव । सुखकाले च-
तादृशदुःखान्तरनिवारणाय-उपायान्तरादर्शनात् समस्तलोका भवन्ति-
उद्देजिताः । नाद्यापि तादृशो लौकिक उपायः कश्चिदुद्भावितः । येनोपायेन-
वैषयिकसुखं चिरस्थायि कर्तुं शक्यते । तत्-समये वान्यादृशं दुःखं नोत्पद्यत-
इति । अतश्चिरस्थायिनीं दुःखानुविद्धां सुखसन्ततिमभिलषतो-जनस्य-
विशेषतो-देहान्तरभावितादृशसुखधाराभिलाषिणश्च न कश्चिदृश्यते लौकिक-
उपायः । तथाहि—

यथा, वात्याभ्यस्तविद्यादिभिर्यौवने जरादिकाले च देहेऽस्मिन्नेव सुख-
लाभो भवति न तु देहान्तरे । एवमिह देहे समुपार्जितेन येन लौकिकोपायेन-
देहान्तरे शर्मलाभो-भवेदेवविध-उपायो-न दृश्यते कश्चित् ।

अपरञ्च—

यथा, दण्डमृत्तिकासलिलसूतसामग्रीभ्यो घटः । तुरीतन्वादिभ्यः पठः ।
त्वमिर्भोजनेन । तथा सुगन्धिघ्राणे सुखं च भवति इति तत्तद्वस्तूनां कार्यकारण-
भावः प्रत्यक्षसिद्धः । चिरस्थायि दुःखरहितं देहान्तरभावि सुखं प्रति तु न-
किञ्चित् कारणं प्रत्यक्षेणोपलभ्यते । कारणताग्राहकयोः । (तत्सत्त्वे तत्-
सत्त्वमन्वयस्तदसत्त्वे तदसत्त्वं व्यतिरेकः) । अन्यव्यतिरेकयोस्तत्रासत्त्वात्-
निश्चितकारणभावमेव वस्तुकार्योत्पादनाय व्यापार्यमाणं दृश्यते । न-
खलु कापि लौकिकोपाये तादृशसुखान्वयव्यतिरेको दृश्येति येन तत्र तादृशसुख-

कारण-ताग्रहो भवेत् । इत्थं प्रत्यक्षप्रमाणेन कापि तथाविधसुखस्योपायता-
निश्चयाभावे तत्रानुमानप्रवृत्तिरपि न भवति । तथाहि येन पदार्थेन यः-
।दार्थाऽनुमीयते तयोर्द्वयोः पदार्थयोरनेकस्मिन् स्थले सहचारावलोकनेनैव-
सति व्याप्तिग्रहे गृहीत-व्याप्तिकेन हेतुना साध्यमनुमीयते । यथा, अनेकत्र-
सहचारदर्शनात् गृहीत-व्याप्तिकधूमादङ्गिः । प्रकृते च तथाविधसुखस्य-
तत्साधनेन कुत्रापि न सहचारो दृश्यते येन व्याप्तिगृह्येत । अतो व्याप्तिनिश्च-
याभावान्नानुमानप्रवृत्तिः ।

अतएव चिरस्थायिनो-दुःखाननुविद्धस्य सुखसञ्चयस्य, विशेषतो-देहा-
न्तरभाविनः सुखसञ्चयस्य सम्पादनाय न कश्चन लौकिक उपायोऽध्यवसीयते ।
परिशेषादलौकिकोपायस्यावलम्बनीयत्वे कस्य वस्तुनः कीदृक्कारणं तस्य
कारणत्वं वा केन मानेन गृह्यते । प्रमाणमन्तरिणैव कारणत्वे स्वीकृते सर्वाण्येव-
वस्तूनि सर्वेषामेव वस्तूनां कारणानि स्युः ।

एवमेवापत्तिरुत्तिष्ठते, सेयमापत्तिराप्तवचनरूपप्रामाण्यात् गृहीतकारण-
भावस्यालौकिकोपायस्यैव तादृशसुखहेतुतेत्यङ्गीकारान्निरस्यते ।

आप्तश्च यथार्थज्ञानवान् भ्रमप्रमादादिशून्यो-रागद्वेषादिवर्जितः । तस्यो-
पदेश-एवाप्तोपदेशः । तेनैवोपदिष्टेन वाक्येनालौकिकपदार्थयोः कार्य-
कारणभावो निश्चीयते । तत्र सर्वनियन्ता सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञः सर्वस्रष्टा-
परमेश्वर एव प्रधानमाप्तः । स एव परमेश्वरः पूर्वमचिन्तनीयशक्तिद्वारा-
सृष्ट्वा विश्वमण्डलं विश्वसंसारस्य मर्यादारक्षायै प्रवृत्तिलक्षणं धर्ममुपदिश्य-
प्रथमतः प्राणिनो-धर्मानुरक्तान् विधाय परिशेषे निरतिशयानन्दसन्दोहस्वरूप-
मुक्तिप्राप्तये निवृत्तिलक्षणमपि धर्ममुपदिदेश । तादृशाप्तोपदेशानुसारेणैव-
प्रवृत्तिलक्षणं धर्ममवलम्ब्य संसारयात्रां निर्वाहयन्तः सर्व-एव जनाः क्रमशः-
स्वच्छान्तःकरणाः निर्दोषाः निर्लोभाः निर्मलचित्ताश्च भूत्वा परनिर्वृतिसाधनं-
तत्त्वज्ञानं लब्ध्वा परमपदं प्राप्नुवन्ति ।

अस्यैव जगत्पातुर्यद्यपि तादात्म्यादिसम्बन्धेनैव सर्व-एव लोकाः समाना-
स्तथापि देशकालपात्रशक्तिभेदादधिकारिभेदमुद्दिश्य स धर्मविशेषमादिदेश ।
यो-यादृशधर्माधिकारी स तादृशधर्ममनुतिष्ठन् परमपदं लभते, न पुनरन्य-

धर्मस्यान्यैरनुष्ठाने तत्र तनुरपि फलोदयः, प्रत्युत तत्रानर्थपरम्परा जायते, यथा शस्यविशेषाणां क्षेत्रविशेष-एव फलोदयः । नहि हैमन्तिकधान्यभूमौ-इक्षुत्पद्यते इक्षुभूमौ वा हैमन्तिकधान्यम् । प्रत्युत तथा वैपरीत्येन वपने-तत्तत् क्षेत्रे निर्वीर्यितैव जायते । तथा परमेश्वरोऽपि यादृशमानवक्षेत्रे यादृश-धर्मवीजमुप्यमानं फलोदयाय कल्पते, तन्निश्चित्य तादृशमानवक्षेत्रभेदे तादृश-वीजरूपं कर्मभेदं विधातुमुपदिदेश । इत्यधिकारिभेदाद्धर्मभेदोऽस्तीति गम्यते । तेनतरेणापरधर्मानुष्ठाने तदाज्ञातिक्रमो-भवति । तदाज्ञासतिक्रम्य कर्मणि कृते च तदवमानना कृता स्यात् । ततश्च तज्जन्ययन्त्रणापि भुज्यते ।

“श्रुतिस्मृती समेवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते ।

आज्ञाच्छिदो सम द्वेषी नरकं प्रतिपद्यते” ॥

वाराहम्,—

“यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो-भयावहः ।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ॥

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ !

ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्” । इति गीता ।

एभिः शास्त्रैर्युक्तिभिश्चाधिकारिभेदेन धर्मभेद-इति सिद्धम् । एतेषां धर्माणां चानुष्ठानोद्देशं परमेश्वराज्ञापालनमेव । धर्माणां बहुवचननिर्देशो वर्णा-श्रमसम्प्रदायादिधर्माभिप्रायेण परमेश्वरकर्तृकवैदिकधर्मनिर्देशोऽत्र महर्ष्यादि-कर्तृकस्मृत्यादिधर्माणामुपलक्षक इति बोध्यम् ।

ब्राह्मणादिभिः स्वस्वकर्मानुष्ठानेन-आज्ञापालनेन सम्मानितश्च । परमे-श्वरोऽभीष्टफलं चैभ्यो यच्छति । स चैकोऽप्युपासकानां सिद्ध्यर्थं नानारूपतां-प्राप्नोऽपि यस्य यस्य यत्र यत्र जायते अहा, तत्तदुपासनयैव तस्य तस्य-प्रयच्छति विशेषफलम् ।

तदप्युक्तं गीतायाम्,—

“यो-यो-यां-यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमीहते ।
तस्य तस्यैव तानां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥
स तथा श्रद्धया युक्तस्तस्यैव धनमीहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हितान्” ॥

ईश्वराराधने च सर्वेषामेवाधिकारः ।

तदुक्तं तत्रैव,—

मां हि पार्थ ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्तुः पापयोनयः ।
स्त्रियो-वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति पराङ्गतिम् ॥

इत्थं सर्वेषां वर्णानां परमेश्वरस्योपासनैव मुख्योद्देश्या, एवमधिकारि-
भेदेन धर्मभेदे साधिते स्वस्वधर्मशास्त्रे यदतिरेषां धर्माणां निन्दा श्रूयते, तस्येद-
मेव मुख्योद्देश्यं, यत् स्वस्वशास्त्रानुसारिणि धर्मे तदधिकारिणः प्रवर्त्तन्तां-एव-
मितरेऽस्वधर्मे प्रवर्त्तन्तामिति ।

तथा परधर्मावलम्बने स्वप्रतिपाल्यधर्माकरणे च मङ्गलं मास्त्विदमेव मुख्यं-
शास्त्रोद्देश्यम् । परमेश्वर एव प्रधानमात्म इति लिखितं पूर्वतः । किन्तु-
मानवान् प्रति परमेश्वरकर्तृकधर्मोपदेशो-गुरुवन्न सम्भवति साक्षात्-सम्बन्धेन ।
अतोऽस्माज्जातिपक्षे तु परमेश्वरोद्भासितं वेदशास्त्रमेव प्रधानाप्तोपदेशः । तदेव-
शास्त्रमेवावलम्ब्य तदनुसारेणैव कर्म कर्तव्यम् । वेदशास्त्रं च दुरुहं तथा दुष्प्रापं-
चेति विविच्य परमकारुणिकाः पूर्वपूर्वमहर्षिगणा-वेदार्थाननुभूय वेद-
समानार्थकं सुगमञ्च स्मृत्यादिशास्त्रं व्यरचयन् । सर्वाणि च वेदशास्त्राणि-
दुर्लभानि । विशेषतस्तानि प्राप्तान्यपि तेषां दुर्बोधत्वाद् वेदार्थज्ञाने-
ऽस्माकमासीन्नहान् क्लेशः । पूर्वतना महर्षयस्तु वेदधर्मानुकूलधर्मशास्त्रादि-
निर्माणेनास्माकं क्लेशमपाचक्रुः । अतस्तेषामुपदेशा अपि-आप्तोपदेशा-
इत्युच्यते ।

वेदशास्त्रं तु-अलौकिकपदार्थबोधनार्थमेव प्रवृत्तम् । तच्च वेदलक्षण-
दर्शनेनैव शास्त्रनिर्मातारः स्पष्टीचक्रुः । यदाह-ऋग्वेदभाष्ये माधवाचार्यः,—

“अनधिगताबाधितार्थबोधकः शब्दो-वेदः” ।

प्रतप्रक्षेणानुमतया वा यस्तूपायोन बुध्यते ।

एतं विदन्ति वेदेन तस्माद्-वेदस्य वेदता” ॥

इत्यृग्वेदभाष्यधृतस्मृतिवाक्येनापीदमेव तल्लक्षणं प्रतीयते ।

शब्दचिन्तामणिग्रन्थेऽप्याह,—

“शब्दतदुपजीविप्रमाणातिरिक्तप्रमाणजन्यप्रमित्यविषयार्थकत्वे सति शब्दा-
जन्यं वाक्यार्थज्ञानाजन्यप्रमाणशब्दत्वम्” । सुतरां ये यत्पदार्थबोधनार्थं
प्रवृत्तास्तेषां तत्पदार्थबोधनेनैव मुख्योद्देश्याः । अतएव वेदादिशास्त्रमलौकिक-
पदार्थबोधकम् । अस्मज्जातीयानां पक्षे तु वेदादिशास्त्रमेव परं प्रमाणम् । यथा-
वेदशास्त्रे तथा वेदमूलकस्मृत्यादिशास्त्रेऽपि-नानालौकिकपदार्था विद्यन्ते ।
तन्मध्ये-धर्म-एवातिप्रधानं, स-एव पुरुषस्य-चिरस्थायिनो-दुःखरहितसुखसञ्चयस्य
कारणमतो-धर्म-एव विशिष्य प्रदर्श्यते ।

भागवते,—

“त्रिवर्गं नातिरुच्छ्रेण भजेत गृहमेध्यपि ।

यथाकालं यथादेशं यथाद्वैवोपपादितम्” ॥

नन्वस्मिन् किल भारतवर्षे निखिललोकपुरुषार्थत्वेनाविगीतानां चतुर्णां
मपि धर्मार्थकाममोक्षाणां मध्ये ब्रह्मविद्-ब्रह्मैव भवति न स पुनरावर्तते,-
इत्यादिश्रुतेर्मोक्षस्य परमपुरुषार्थतया तत्रैव यत्नः करणीय इति । यद्यपि-
सकलसन्दर्भसम्भता सरणिस्तथापि धर्मस्य निवृत्तिरूपस्य तद्धेतुतया स-एव-
मोमांसाशास्त्रानुमोदितस्तावदस्मिन् ग्रन्थे पुरतो-विवेचनीय-इत्यालोच्य-
तत्रादौ धर्मो-निरूप्यते ।

तत्र जैमिनिसूत्रम्,—

“चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः”—इति उभयविधचोदनया अर्थात्-प्रवृत्तिनिवृत्त्या-

त्मकविधिवाक्येन लक्ष्यतेऽर्थः, श्रेयःसाधनं ज्योतिष्टोमादिः, अनर्थः प्रत्यवाय-
साधनं श्वेनादिस्तत्र “वेदप्रमाणम् । श्रेयःसाधनं ज्योतिष्टोमादिर्धर्म-इति
सूत्रार्थः ।

तथाच, हारीतः,—

“अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः” । श्रुतिप्रमाणको-धर्मः ।

भविष्ये,—

“धर्मः श्रेयः समुद्दिष्टं श्रेयोऽभुदयकारणम् ।

स तु पञ्चविधः प्रोक्तो वेदमूलः सनातनः ॥

अस्य सम्यगनुष्ठानात्-स्वर्गो-मोक्षश्च जायते ।

ब्रह्म लोके सुखैश्वर्यमनुलब्धं खगाधिप !” ॥

स्मृत्यादीनामपि वेदमूलकत्वेन धर्मप्रमाणत्वात्तत्प्रमाणकोऽपि धर्म इति ।
धर्मे स्मृत्यादीनां प्रमाणमग्रे वक्ष्यते ।

अथ धर्मप्रशंसा । तत्र श्रुतिः,—

“धर्मा विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा-उपसर्पयन्ति” । धर्मेण-
पापमपनुदन्ति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम् । तस्मात्तं धर्मं परमं वदन्तीति ।

अथ धर्मानुष्ठानफलम् । तत्र मनुः,—

“श्रुतिस्मृत्युद्दितं धर्ममनुतिष्ठन्-हि मानवः ।

ब्रह्म कौर्त्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्” ॥

वाराहे,—

“प्रवृत्तिसंज्ञके धर्मे फलमभुदयो-मतः ।

निवृत्तिसंज्ञके धर्मे फलं निःश्रेयसं मतम्” ॥

अथ धर्मप्रमाणानि तत्र मनुः,—

“वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।

आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च” ॥

वेद ऋग्यजुःसामाथर्वलक्षणः-सर्वो-विध्यर्थवादमन्त्रात्मा धर्मे मूलं-

प्रमाणम् । अथैवादीनामपि विध्येकवाक्यतस्तावकत्वेन धर्मं प्रामाण्यात् ।
यदाह जैमिनिः,—

“विधिना त्वेकवाक्यत्वात् सुत्यर्थेन विधिना स्युरिति” । अखिलः साङ्ग-
इत्यन्ये । तद्विदां मन्वादीनां स्मृतिर्धर्मे प्रमाणम् । वेदविदामिति विशेषणो-
पादानाद्-वेदमूलकत्वेनैव स्मृत्यादीनां प्रामाण्यमभिहितम् । शीलं श्रुतिस्मृति-
प्रत्यक्षदृष्टनिषेधव्यतिरिक्तनिषेधपरिपालनं स्वभावकृतम् । यथा भोजन
व्यतिरेकेण मयोदकं न पेयमित्यादि वा शीलम् । ब्रह्मण्यतादिरूपं । तदा
हारीतः,—ब्रह्मण्यता, देवपितृभक्तता, सौम्यता, अपरोपताह—अनसूयता,
मृदुता चापारुष्यम्, मित्रता, प्रियवादित्वं, क्षतज्ञता, शरण्यता, कारुण्यं,
प्रशान्तिश्चेति त्रयोदशविधं शीलम् ।

आचारः,—

सदाचारः श्रुतिस्मृतिप्रत्यक्षदृष्टव्यतिरिक्तधर्मानुष्ठानं अर्थात्

“यस्मिन् देशे य आचारः पारंपर्यक्रममागतः ।

श्रुतिस्मृत्याविरोधेन स सदाचार उच्यते” ॥

इति गोविन्दराजधृतवचनोक्तेः ।

देवलोऽपि,—

“यस्मिन् देशे य-आचारो-न्यायदृष्टः स कल्पितः ।

स तस्मिन्नेव कर्तव्यो-देशाचारो-भृगोर्मतः” ॥

आत्मनस्तुष्टिवैकल्पिकपदार्थविषया ।

तदाह गार्ग्यः,—

“वैकल्पिके आत्मतुष्टिः प्रमाणम् । भट्टचार्येण तु शिष्टात्मतुष्टिविषयत्वेन-
पूर्वमसदेव धर्मत्वमुत्पद्यते नकुलदन्तस्यष्टौषधिवदित्युक्तम् ।

तथा याज्ञवल्क्यः,—

“श्रुतिस्मृतिसदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।

सम्यक्-सङ्कल्पजः कामो-धर्म-मूलमिदं स्मृतम् ॥

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।

वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश” ॥

न्यायपदं न्यायवैशेषिकपरम् । मीमांसा कर्मब्रह्मविषया इति नृसिंह
वाजपेयी ।

विष्णुपुराणे,—

“अङ्गानि वेदाश्चत्वारो-मीमांसा न्यायविस्तरः ।

धर्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्यां ह्येताश्चतुर्दश ॥

आयुर्वेदो-धनुर्वेदो-गान्धर्वश्चेति ते त्रयः ।

अर्थशास्त्रं चतुर्थञ्च विद्यां अष्टादशैव ताः ॥

अङ्गानि च,—

शिक्षा कल्पो-व्याकरणं निरुक्तं छन्द-एव च ।

ज्योतिषां प्रचितिश्चैव षडङ्गो-वेद-द्रव्यते” ।

कल्पः कात्यायनश्रौतसूत्रं वा कल्पः स्मृतिर्मन्वादीनां धर्म-
शास्त्रं । दृष्टार्थानामप्यायुर्वेदादीनां चतुर्णां कचिदलौकिकार्थप्रतिपादनाद्धर्म-
प्रासाध्यम् ।

वेदानाह चरणव्यूहः,

“ऋग्वेदो-यदुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदश्चेति” ।

स्मृतयः शङ्खलिखितोक्ताः,—

यथा स्मृतयो धर्मशास्त्राणि, तेषां प्रणेतारो मनुविष्णुदक्षयमाङ्गिरोऽत्रि-
वृहस्पत्युशन-आपस्तम्बवशिष्ठकात्यायनपराशरव्यासशङ्खलिखितसंवर्त्तगौतमशा-
तातपहारीतयाज्ञवल्करप्रचेतसादयः ।

यमः—

“मनुर्यमो-वशिष्ठोऽत्रिर्दक्षो-विष्णुस्तथाङ्गिराः ।

उशना-वाक्पतिर्व्यास-आपस्तम्बोऽथ गौतमः ॥

कात्यायनो-नारदश्च याज्ञवल्करः पराशरः ।
 सम्बर्त्तश्चैव शङ्खश्च हारीतो-लिखितस्तथा ॥
 एतैर्यानि प्रणीतानि धर्मशास्त्राणि वै पुरा ।
 तान्येव तु प्रमाणानि न हन्तव्यानि हेतुभिः” ॥

याज्ञवल्करः,—

“वक्तारो-धर्मशास्त्राणां मनुर्विष्णुर्विश्वामित्रोऽङ्गिराः ।
 वशिष्ठदत्तसम्बर्त्तशातातपपराशराः ॥
 आपस्तम्बोशनोव्यासाः कात्यायनबृहस्पती ।
 गौतमः शङ्खलिखितौ हारीतोऽतिरहं तथा” ॥

आदिशब्दाच्च देवलसुमन्तुजैर्मिनिजमदग्निप्रजापतिविश्वामित्रपेठोन-
 सिपितामहवौधायनच्छागलेयजावालिच्यवनमरीचिकश्यापाइत्येव-षट्त्रिंशत् ।

तथाच भविष्ये,—

“आष्टादशपुराणेषु यानि वाक्यानि पुत्रकाः ।
 अनालोच्य महाबाहो ! तथा स्मृत्यन्तरेषु च ॥
 मन्वादिस्मृतयो याश्च षट्त्रिंशत् परिकीर्त्तिताः ।
 तासां वाक्यानि क्रमशः समालोक्य ब्रवीमि ते” ॥

योगियाज्ञवल्करहन्मनुहृदयशातातपप्रभृतीनि तैरेव कृतानि । एतदु-
 व्यतिरिक्ता-याः स्मृतय-उपलभ्यन्ते शिष्टपरिगृहीताः शुनःशेफशुनःपुच्छकाष्णी-
 जिनिव्याघ्रकण्णजातुकर्णलोगान्निव्याघ्रपादगर्गगार्ग्यनाडीजङ्घपुलस्त्यपुलहभृगुगौ-
 तमशौनकयज्ञपार्श्ववैजवापश्यायनभीष्मोक्तभस्मक्रतु-ऋष्यशृङ्गगोभिलाश्वला-
 यनप्रणीतास्तासामपि तथा स्मृत्यन्तरेषु चेत्यनेन भविष्यपुराण-एव-परिगणना,
 यानि पुनर्महाभारतरामायणविष्णुधर्मशिवधर्मप्रभृतीनि गृह्यपरिशिष्टानि च
 तानि स्मृत्यन्तरेषु चेत्यनेनैवोपात्तानि प्रमाणानि ।

तथा चोक्तं भविष्यपुराणे,—

“अष्टादशपुराणानि रामस्य चरितं तथा ।
विष्णुधर्माणि शास्त्राणि शिवधर्माश्च भारत ! ॥
कार्ष्णिश्च पञ्चमो-वेदो-यन्महाभारतं स्मृतम् ।
सौराश्च धर्मा राजेन्द्र ! मानवोक्ता महीपते ! ।
जयेति नाम चैतेषां प्रवदन्ति मनोषिणः” ॥

एवं यद्यदन्वदप्यविगीतं हेमाद्विप्रभृतिशिष्टनिबन्धपरिगृहीतं तदपि-
स्मृत्यन्तरेषु चेत्यनेन परिगृहीतं वेदितव्यं । षट्त्रिंशन्मतादिकमपि शिष्ट-
परिगृहीतत्वेनाविरुद्धत्वेन च प्रमाणं ज्ञेयमिति सांप्रदायिकाः ।

अथ पुराणानि विष्णुपुराणे,—

“ब्राह्मणं पाद्मं वैष्णवञ्च शैवं भागवतं तथा ।
तथान्यन्नारदीयञ्च मार्कण्डेयञ्च सप्तमम् ॥
आग्नेयमष्टमञ्चैव भविष्यं नवमं स्मृतम् ।
दशमं ब्रह्मवैवर्तं लैङ्गमेकादशं तथा ॥
वाराहं द्वादशञ्चैवं स्कान्दञ्चैव त्रयोदशम् ।
चतुर्दशं वामनञ्च कौर्मं पञ्चदशं स्मृतम् ।
मात्स्यञ्च गारुडं चैव ब्रह्माण्डञ्च ततः परम्” ॥

कौर्मं,—

“अन्यान्युपपुराणानि मुनिभिः कथितानि तु ।
आद्यं सनत्कुमारोक्तं नारसिंहमतः परम् ॥
द्वितीयं स्कान्दमुद्दिष्टं कुमारिण तु भाषितम् ।
चतुर्थं शिवधर्माख्यं साक्षान्नन्दोशभाषितं ।
दुर्वाससोक्तमाश्वर्य्यं नारोदोक्तमतः परम् ॥

कापिलं मानवं चैव तथैवोशनसेरितम् ।
 ब्रह्माण्डं वारुणं चैव कालिकाह्वयमेव च ।
 माहेश्वरं तथा शास्त्रं सौरं सर्वार्थसञ्चयम् ॥
 पराशरोक्तं प्रवरं तथा भागवताह्वयम् ।
 इदमष्टादशं चोक्तं पुराणं कौर्ममुत्तमम्” ॥

एवं सति ब्रह्माण्डमेकं महापुराणमेकमुपपुराणं चेति द्वयं ज्ञेयम् ।
 एवमन्यत् ।

माख्ये,—

“अष्टादशभ्यस्तु पृथक्पुराणं यत्तु दृश्यते ।
 विजानीध्वं द्विजश्रेष्ठास्तदेतेभ्यो-विनिर्गतम्” ॥

यत्तु पाञ्चे पार्वतीपरमेश्वरसम्वादे,—

“शृणु देवि ! प्रवक्ष्यामि तामसानि यथाक्रमम् ।
 येषां स्मरणमात्रेण पातित्यं ज्ञानिनामपि ॥
 प्रथमं तु मयैवोक्तं शैवं पाशुपतादिकम् ।
 मच्छक्त्या वेशितैर्विप्रैः संप्रोक्तानि ततः परम् ॥
 कणादेन तु संप्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत् ।
 गौतमेन तथा न्यायं साङ्ख्यं तु कपिलेन वै ॥
 द्विजन्मना जैमिनिना पूर्वं वेदप्रकाशनम् ।
 निरीश्वरेण वादेन कृतं शास्त्रं महत्तरम् ॥
 विशेषेण तथा प्रोक्तं चार्वाकमतिगर्हितम् ।
 दैतयानां नाशनार्थाय विष्णुना बुद्धिरूपिणा” ॥ इति ।

तथा कूर्मपुराणेऽपि,—

“चकार मोहशास्त्राणि केशवः सशिवस्तदा ।
कापालं लाकुलं वामं भैरवं पूर्वपश्चिमम् ॥
पञ्चरात्रं पाशुपतं तथान्यानि सहस्रशः ।
क्वचित्-क्वचित्-पुराणादौ वेदमूलेऽपि सर्वथा” ॥

“सन्ति निमूलतन्त्रांशास्ते तु ग्राह्या न वैदिकैः” ।

तत्र विरुद्धपञ्चरात्रादीनामेव त्यागकथनम् ।

तथाच पराशरोपपुराणे,—

“पञ्चरात्रं भागवतं बौद्धं दैगम्बरं तथा ।
लोकायनं च कापालं सोमं पाशुपतं तथा ॥
लाकुलं भैरवं वामं शाक्तं शाम्भवयामले ।
एवम्बिधानि शास्त्राणि विरुद्धानि महामुने ! ॥
स्वतःप्रमाणभूतेन वेदेन मुनिसत्तम ! ।
वैदिकस्तानि शास्त्राणि मनसापि न संस्मरेत् ॥

तथा,—

“सर्वं वेदाविरुद्धेन प्रमाणं नानग्रथा भवेत् ।
तस्मात्-सर्वप्रयत्नेन ब्रह्मन्-वेदविदां वर ! ।
त्यक्त्वा वेदविरुद्धानि वेदमेकं समाश्रयेत्” ॥

यत्र यत्र च वेदमार्गाभावस्तत्र तु वेदाविरुद्धपञ्चरात्रविधिर्याह्यः ।
“अभावे वेदमन्त्राणां पञ्चरात्रोदितो-विधि”रिति वराहपुराणवचनात् । पञ्च-
रात्रादीनामधिकारिणो वैष्णवादयः प्रत्यक्षसिद्धाः । वैशेषिकादिषु तु वेद-
विरुद्धांशत्यागः । न तु सर्वशास्त्रस्य । तथाच विज्ञानेश्वरभट्टृतं सांख्यभाष्ये-
पाद्यवचनम् ।

JAGADGURU VISHWARADHYA
JANANA SIMHASANA JNANAMANDIR
LIBRARY

Jangamawadi Math, Varanasi

Acc. No. 1584

“गौतमीये च काणादे सांख्ये मीमांसके तथा ।

तत्राज्यः श्रुतिविरुद्धोऽश्रुतिसिद्धं न वर्जयेत्” ॥

न्यायवैशेषिकयोः सुखदुःखादिसत्त्वमात्मनः श्रुतिविरुद्धम् । सांख्य-
मीमांसयोर्निरौश्वरता श्रुतिविरुद्धा । तदंश-एव तेषामप्रामाण्यमिति ।
चण्डीटीकायां नागोजिभट्टः,—

“सांख्ययोगयोस्तु वैधर्हिंसानिषेधप्रतिपादनात्तदंशेन वेदविरोधादेव तदंशे-
ऽप्रामाण्य”मिति नृसिंहवाजपेयी । योगशास्त्रस्य त्वप्रामाण्यमन्यत्र कथितम् ।
तच्चांशिकाप्रामाण्यपरम् ।

अतएव योगियाज्ञवल्करः,—

“सांख्यं योगः पञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा ।

अतिप्रमाणान्येतानि हेतुभिर्न विरोधयेत्” ॥

“सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते ।

हिरण्यगर्भे यागस्य वक्तुशीलः पुरातनः ॥

पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम्” ।

एवं च वेदविरुद्धत्वात् सामुद्रिकवास्तुविद्यादीनामपि प्रामाण्यं शिष्टैः-
कथितम् ।

कौर्म—

“वेदार्थवित्तमैः काय्यै यत्स्मृतं मुनिभिः पुरा ।

स ज्ञेयः परमो-धर्मो-नानाशास्त्रेषु संस्थितिः ॥

मनुरपि,—

“या वेदवाह्याः स्मृतयो-याश्च काश्च कुट्टयः ।

सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥

उत्पद्यन्ते च्यवन्तो-यानप्रतोऽन्यत्रानि च कानिचित् ।

तानप्रवाक्कालिकतया निष्फलानप्रवृत्तानि च” ॥

तथा,—

“प्रतत्रचमनुमानञ्च शब्दञ्च विविधागमम् ।
त्रयं समुदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥
आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥

प्रमाणत्रयं मनोरभिमतम् ।

उपमानार्थापत्त्यादेयानुमानान्तर्भाव इति । तर्केण मीमांसादिन्यायेनेति-
कुल्लूकभट्टः । तत्र धर्मे करणं वेदो-मीमांसा चेतिकर्तव्यतास्थानीया ।

तदुक्तं भट्टवार्तिककृता,—

“धर्मे प्रसीयमाणे हि वेदेन करणात्मना ।
इति कर्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति ॥

शातातपः,—

“श्रुतिः स्मृतिश्च विप्राणां चक्षुषी द्वे प्रकीर्तिते ।
काणस्तत्रैकहीनस्तु द्वाभ्यामन्धो-द्विजः स्मृतः ॥

पाद्मे,—

“बहुत्वादिह शास्त्राणां धर्ममूलं श्रुतिस्मृती ।
इतिहासपुराणानि तस्मात्तेषु मनः कृथाः” ॥

शङ्खलिखितौ,—

“वेदानां विप्रकीर्णत्वाद्दुर्ज्ञेयं धर्मसाधनम् ।
सुबोधास्तत्समर्थानां ब्रह्मणा विहिता स्मृतिः ॥
श्रुतिस्मृत्युद्दितान् धर्मान् मानवास्तान् पृथक् पृथक् ।
कुर्वन्तः प्राप्नुयुर्धर्ममन्यथा नरके गतिम् ॥
श्रौतस्मार्त्तक्रियावाक्यं हेतुभिर्योऽभिघातयेत् ।
असच्छास्त्रमुपाश्रित्य स ज्ञेयः शिष्टनिन्दितः ॥

अतस्त्वमर्थानामिति च्छेदः ।

महाभारते,—

“इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपहृंहयेत् ।
विभेत्यल्पश्रुताद्देदो मामयं प्रहरिष्यति” ॥

व्यासः—

“वेदाः प्रमाणं स्मृतयः प्रमाणं धर्मार्थयुक्तं वचनं प्रमाणम् ।
यस्य प्रमाणं न भवेत्-प्रमाणं कस्तस्य कुर्याद्वचनं प्रमाणम् ।”
धर्मार्थयुक्तं वचनं मीमांसकसन्निवन्धवाक्यम् । यस्येत्यनन्तरोक्तप्रमाणत्रयं
यो-न मन्यत—इत्यर्थः ।

अथ प्रमाणद्वैधे क्रियते निर्णयः ।

तत्र मनुः,—

“श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ ।
उभावपि हितौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥

लोगाचिः,—

श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी ।
अविरोधे सदा कार्य्यं स्मार्त्तं वैदिकवत्-सदा ॥

प्रयोगपारिजातधृतसंग्रहे,—

“श्रुतिस्मृति-पुराणेषु विरुद्धेषु परस्परम् ।
पूर्वं पूर्वं बलीयः स्यादिति न्यायविदो-विदुः” ॥

व्यासः,—

“अतः स परमो-धर्मी-यो-वेदादवगम्यते ।
अपरः स तु विज्ञेयः पुराणादिषु यः स्थितः ॥

एतेभ्योऽपि यदन्यत्सग्राह्यं धर्माभिधायकम् ।

तच्च दूरतरं विद्धि मोहस्तस्याश्रयो मतः” ॥

चतुर्विंशतिमते,—

स्मृतेर्वेदविरोधेऽपि परित्यागो यथा भवेत् ।

तथैव लौकिकं वाक्यं स्मृतिबाधे परित्यजेत् ॥

कारिकायाम्,—

श्रुतिस्मृतिविरोधेऽपि श्रुतिरेव गरीयसी ।

स्मृत्योर्विरोधे विज्ञेयं वेदमूलं प्रमाणकम् ॥

मनुस्मृतेर्विशेषश्चान्दोग्यब्राह्मणे,—

“मनुर्वै यत्-किञ्चिदवदत्तवै भेषजं”

बृहस्पतिः,—

“वेदार्थोपनिबद्धत्वात्-प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम् ।

मन्वर्थविपरीता या सा स्मृतिर्न प्रशस्यते ॥

कल्पसूत्रस्मृत्योर्विरोधे प्रत्यक्षश्रुतिमूलत्वेन कल्पसूत्रं प्रधानमित्याह,—

हेमादौ कश्यपः,—

श्रौतानां कर्मणां क्लृप्तिः कल्पसूत्रं तदुच्यते ।

तथैव गृह्यकल्पानां स्मार्त्तानामुपसंग्रहः ॥

शाखानां विप्रकीर्णत्वात्-पुरुषाणां प्रमादतः ।

नानाप्रकरणस्थत्वात् स्मृतेर्मूलं न लक्ष्यते ॥

एवं वेदकल्पसूत्र-स्मृतिपुराणलोकाचाराणां विरोधे पूर्वं पूर्वं प्रवलिमिति सिद्धान्तः ।

अथात्राधिकारिणः ।

तत्र मनुः,—

“निषेकादिश्मशानान्तो-मन्त्रैर्यस्योदितो-विधिः ।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्ति नान्यस्य तु कदाचन” ॥

भागवते,—

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा ।

अत्र ब्राह्मणादित्रयस्याध्ययने श्रवणे चाधिकारः ।

द्विजबन्धुस्त्रीशूद्राणां तु तत्र नाधिकारः । किन्तु ब्राह्मणादिमन्तरा-
कृत्वा श्रवणे दोषाभावः ।

श्रावयेच्चतुरो-वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः ।

इति भारतवचनात् ।

अथ प्रोक्तसाधनभूतधर्मद्वयान्तर्गतनिःश्रेयससाधनभूताः युगलोकसाधा-
रणधर्माः ।

तत्र मनुः,—

“यत्-कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्-परितोषोऽन्तरात्मनः ।

तत्-प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतञ्च वर्जयेत् ॥

एतच्च विहितानिषिद्धगोचरं वैकल्पिकविषयं चेति कुल्लूकभट्टः ॥

विष्णुः,—

अहिंसा सत्यमस्तेऽयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

एतं सामसिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥

प्रकरणानामर्थात् संकीर्णानामप्ययं धर्मा-वेदितव्य-इति कुल्लूकभट्टः ।

यान्नवल्काः,—

“कर्माणा मनसा वाचा यत्नाद्वर्मं समाचरेत् ।

अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्ममप्याचरेन्न तु ॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

दानं दमो-दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्” ॥

सत्यं अप्राणिपीडाकरं यथार्थवचनम् । अन्तःकरणसंयमो-दमः । आपन्न-
रक्षणं दया । एते सर्वेषां पुरुषाणां ब्राह्मणाद्याचाण्डालान्तं धर्मसाधन-
मिति मिताक्षरा ।

अथ निःश्रेयससाधनभूताः प्रतिवर्णं साधारणधर्माः ।

तत्र श्रुतिः,—

वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत, ग्रीष्मे राजन्योऽग्नीनादधीत, शरदि-
वैश्योऽग्नीनादधीत ।

प्रतिदुर्गं सत्स्वपि निःश्रेयससाधनभूतेषु विशेषतस्तदुपयोगितया-
तत्तद्विशेषधर्मानाह मनुः,—

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे ।

अन्ये कलियुगे नृणां युगक्रासानुसारतः ॥

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते ।

द्वापरे यज्ञमित्याहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥

एतदेवमनुमनुते पराशरः ।

महाभारतेऽपि,—

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुत्तमम् ।

द्वापरे यज्ञमित्याहुः कलौ दानं दया दमः ॥

बृहत्सतिरपि,—

तृतीयो धर्मः कृतयुगे ज्ञानं त्रेतायुगे स्मृतम् ।

द्वापरे चाध्वरः प्रोक्तः कलौ दानं दया दमः ॥

इति युगभेदेन धर्मभेदः ।

भागवते,—

“ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन् ।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्तय केशवम्” ॥

यथा पराशरः,—

“मातापितृश्च शुश्रूषा परिणीताप्रपालनम् ।
संध्यास्नानादिनियमो-वैश्वदेवादिकाः क्रियाः ॥
अतिथेः पूजनं चैव पञ्च धर्माः कलौ युगे ।
यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तु ॥
द्वापरे मासमात्रेण अहोरात्रेण तत् कलौ” ।

कलैरधर्मबुद्ध्यतया तत्रत्यमानवानां शक्तिहीनत्वेन च कृतादियुगीय-
मानवादतमोक्षसाधनभूतधर्ममन्तरात्र वर्ज्याः कतिधर्मा बृहन्नारदीयेऽभि-
हिताः । यथा,—

“समुद्रयात्रास्त्रौकारः कमण्डलुविधारणं ।
द्विजानामसवर्णासु कन्यासूपयमस्तथा ॥
दत्ताक्षतायाः कन्यायाः पुनर्दानं वरस्य च ।
दीर्घकालं ब्रह्मचर्यं नरमेधाश्वमेधकौ ।
महाप्रस्थानगमनं गोमेधश्च तथा मखः ।
इमान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः ॥

कमण्डलुः “सोदकञ्च कमण्डलु” इत्युक्तः मृगययो वा दत्ता जडा ।

जडायाः पुनरुद्वाहं जेष्ठं गोबधं तथा ।

कलौ पञ्च न कुर्वीत भ्रातृजायां कमण्डलुम् ।

इति हेमाद्रौ वचनात् जडायाः । पुरा पुरुषसंयोगादृते देयेति केचन,
इत्यादिभिर्विवाह्यतोक्ता ।

हेमाद्रौ ब्राह्मे,—

गोत्रान्मातुः सपिण्डाच्च विवाहो-गोवधस्तथा ।

नराश्वमेधौ मद्यं च कलौ वर्ज्यं द्विजातिभिः ॥

गोत्रात् गोत्रजायाः पितृष्वसुः मातृसपिण्डान्मातुलात् तत्कन्याया-
विवाहः कलौ न कार्यः । तेन यानि तद्विधायकानि । तानि युगान्तरविषयाणि-
इति कमलाकरभट्टः ।

हेमाद्रौ आदित्यपुराणे,—

“विधवायां प्रजोत्पत्तौ देवरस्य नियोजनम् ।

बालायाः क्षतयोन्यास्तु वरेणानेन संस्कृतिः

कन्यानामसवर्णानां विवाहश्च द्विजन्मभिः ॥

आततायिद्विजाग्रगणां धर्मयुद्धेन हिंसनं ।

द्विजस्याब्धौ तु निर्व्याणं शोधितस्यापि संग्रहः ।

सप्तदीक्षा च सर्वेषां कमण्डलुविधारणं ॥

महाप्रस्थानगमनं गोसंज्ञमिश्र गोसवे ।

सौक्ष्माभ्यामपि सुराग्रहणस्य च संग्रहः ॥

अग्निहोत्रहवन्याश्च लेहो-लीढापरिग्रहः ।

वृत्तस्वाध्यायसापेक्षमधसंकोचनं तथा ॥

प्रायश्चित्तविधानं च विप्राणां मरणान्तिकं ।

संसर्गदोषः स्तेयान्यमहाप्रातकनिष्कृतिः ॥

वरातिथिपितृभ्यश्च पशूपाकरणक्रिया ।

दत्तौरसेतरेषां च पुत्रत्वेन परिग्रहः ॥

सवर्णान्याङ्गनादुष्टैः संसर्गः शोधितैरपि ।

अयोनौ संग्रहे वृत्ते परित्यागो-गुरुस्त्रियः ॥

परोदोशात्मसंत्याग-उद्दिष्टस्यापि वर्जनं ।
 प्रतिमाभ्यर्चनार्थाय संकल्पश्च सधर्मकः ॥
 अस्थिसञ्चयनादूर्ध्वमङ्गस्पर्शनमेव च ।
 शामित्रं चैव विप्राणां सोमविक्रयणं तथा ॥
 षड्भक्तानशने चान्नग्रहणं हीनकर्मणः ।
 शूद्रेषु दासगोपालकुलमित्रार्द्धसौरिणाम् ॥
 भोज्यान्नता गृहस्थस्य तीर्थसेवातिदूरतः ।
 शिष्यस्य गुरुदारेषु गुरुवहृत्तिशीलता ॥
 आपहृत्तिर्द्विजाग्र्याणामश्वस्तनिकता तथा ।
 प्रजार्थे तु द्विजाग्र्याणां प्रजारणिपरिग्रहः ॥
 ब्राह्मणानां प्रवासित्वं सुखाग्निधमनक्रिया ।
 बलत्कारादिदुष्टस्त्रीसंग्रहो विधिचोदितः ॥
 यतश्च सर्ववर्णेषु भिक्षाचर्याविधानतः ।
 नवोदके दशाहं च दक्षिणा विधिचोदिता ॥
 ब्राह्मणादिषु शूद्रस्य पचनादिक्रियापि च ।
 भृग्वग्निपतनैश्चैव वृद्धादिमरणं तथा ।
 गोदृष्टिशिष्टे पयसि शिष्टैराचमनक्रिया ॥
 पितापुत्रविरोधेषु साक्षिणां दण्डकल्पनम् ।
 यतेः सायंगृहत्वं च सूरिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥
 एतानि लोकगुप्तार्थं कलेरादौ महात्मभिः ।
 निवर्तितानि विद्वद्भिर्व्यवस्थापूर्वकं बुधैः ॥

सुराग्रहणस्य तत्कर्तुः । संग्रहो व्यवहारकः । सुराग्रहणस्योद्देश्यस्य
 सौत्तमणिविशेषणाविवक्षया अपिशब्दाच्च वाजपेयेऽपि निषेधः । वाजपेये-

तु तव्याप्तौ मानाभावात् सोमसुरयोः सहत्यागिन अंशे सुराद्रव्यत्वात् तत्-
प्रख्यतया यागनामत्वेन तां विना संज्ञायोगात् कलौ नाधिकारः ।

वृत्तेति,—

एकाह्राद्वाह्मणः शुद्धेन्द्रयोऽग्निवेदसमन्वितः ।

इतुप्रक्ताघस्याशौचस्य सङ्कोचः ।

न तस्य निष्कृतिर्दृष्टा भृग्वग्निपतनादृते ।

इतुप्रक्तस्य प्रायश्चित्तस्य विधानं उपदेशः । संसर्गस्तत्संसर्गी च पञ्चम-
इत्यादिना उक्तः स्तेयं च ताभ्यां भिन्नेषु ब्रह्मइत्यासुरापानगुरुदारगमनेषु
कामकृतेषु मरणान्तिकं विना निष्कृतिः प्रायश्चित्तम् । सवर्णान्या असवर्णा-
न्नक्षत्रादिः तथा दृष्टैः । अयोनौ शिष्यादौ ।

“चतस्रस्तु परित्याज्याः शिष्यगा गुरुगा च या ॥”

इतुप्रक्तस्यागः । परोद्देशेन ब्राह्मणाद्यर्थं आत्मनस्त्यागः । यद्वा-
परोद्देशात्मतयागो गोदानम् । “मनसा पातमुद्दिश्य” इतुप्रक्तम् ।

उद्दिष्टस्य त्यक्तस्य वर्जनम् । प्रतिग्रहसमर्थोऽपीत्युक्तम् । वेतनग्रहणे-
न प्रतिमा पूज्या । “स्वाशौचकालाद्विज्ञेयं स्पर्शनं तु त्रिभागतः” । इतुप्रक्तः
स्पर्शः । षडिति,—

“उपोषितस्त्वरहं स्थित्वा धान्यमब्राह्मणाद्वरेत्” ॥

इतुप्रक्तमन्नचौर्यम् । सामान्यतः कलावपि सति मद्यमांसादिविगीत-
द्रव्याशननिषेधे पापाभावाभ्यनुज्ञयैतदयुगीयापद्येतदेव भक्षयेदित्याशङ्क्या-
पवृत्तिर्दिर्जाग्रत्यामिदुप्रदृष्टितं ग्रन्थकृता । अतः ब्राह्मणानामापत्त्वृत्तिः सति
सुयोगे जीविकानिर्वाहार्थमाप्लाकीनेतस्ततो-भोजनमद्यपानगवादिनिषिद्ध-
मांससेवनादिरूपा ।

एतद्व्याख्यानं तु न स्वकपोलकल्पितं, किंत्वेतस्य गत्यन्तरे सत्यविद्यमाने
चाक्रायणाद्यृषिभिर्होच्छादिपाचितकुल्माषादिभक्षणादिरूपापवृत्तिनिषेधपरतया
व्याख्यानमनुष्ठितम् ।

अन्यथा, “क्षत्रहत्या वैश्यवृत्तिः प्रशस्ता स्यात् कलौ युग” इति । आश्व-
लायनवचनस्य नैरर्थक्यापत्तेः । उपलक्षणमेतत् । तेन क्षत्रियादीनामपि-
ग्रहणम् ।

तथा, हिन्दुसाम्प्रदायिकशिष्टादृताचारः परिदृश्यते भारतेऽस्मिन् । अश्वस्त-
निकता । “व्रह्मैहिको-वापि भवेदश्वस्तनिक एव वा” ।

इति मनुवचनोक्तमेवं दिवसव्यापि धनसम्यादनम् ।

यत्तु आपवृत्तिर्हि जाग्रामित्यत्रापवृत्तिः क्षत्रियादिवृत्तिरित्यर्था-
पयन्ति । तत्तुच्छं, ब्राह्मणानामन्तस्तद्वृत्त्यपेक्षया प्रायशो-विगीतापवृत्त्याचरण-
परिदर्शनात् ।

अतो-दोषबहुले कलियुगे अतधर्मस्य विशेषतः सङ्गृहीततया प्रायः-
स्वजातीयतेजोविहीनस्य विप्रस्य विपत्कालीनात्यन्तनिषिद्धाचरणजनितपाप-
भक्तीकरणशक्तिशून्यत्वेन तपोयज्ञादिकष्टकर्मसाध्यधर्मज्ञसनवदापदि स्वस्व-
जातीयतेजोज्ञासकरणमतीवगर्हितवृत्तिसङ्कोचनं विधेयमित्येतद्वचनस्याभिप्राय-
इति निष्कर्षः । एतदयुक्तिमनुमोदन्ते पुराणधर्मशास्त्रादिप्रमाणानि ।
कलियुगे ब्राह्मणादिजातीनां तेज-आदिशक्तिहीनत्वं वर्णितम्,—

भागवते यथा,—

“कृते चतुष्पात्-सकलो-निर्व्याजोपाधिवर्जितः ।

वृषः प्रतिष्ठितो-धर्मो-मनुष्ये भरतर्षभ ! ॥

अधर्मः पादविद्वस्तु त्रिभिरंशैः प्रतिष्ठितः ।

त्रेतायां द्वापरैर्द्धेन व्यामिश्रो-धर्म-उच्यते ॥

त्रिभिरंशैरधर्मस्तु लोकानाक्रम्य तिष्ठति ।

तामसं युगमासाद्य तदा भरतसत्तम ! ॥

चतुर्थांशेन धर्मस्तु मनुष्यानुपतिष्ठति ।

आयुर्वीर्यमथो-बुद्धिर्वलं तेजश्च पाण्डव ! ॥

मनुष्याणामनुयुगं ऋसतीति निबोध मे ।
 राजानो-ब्राह्मणा-वैश्याः शूद्राश्चैव युधिष्ठिर ! ॥
 व्याजैर्धर्मं चरिष्यन्ति धर्मवैतंसिका-नराः ।
 सत्यं संचेष्ट्यते लोके नरैः पण्डितमानिभिः ॥
 सत्यहान्या ततस्तेषामायुरल्पं भविष्यति ।
 आयुषः प्रक्षयाद्विद्यां न शक्नुवन्तुः प्रजीवितुं ॥
 विद्याहीनानविज्ञानाल्लोभोऽप्यभिभविष्यति ।
 ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः सङ्कौर्यन्ते परस्परम् ॥
 शूद्रतुल्या भविष्यन्ति तपःसत्यविवर्जिताः” । इत्यादि ।

अपि च कलियुगे,—

यथैवान्येषामवलम्बनं निषिद्धं, तथैवाश्वस्तनिकतात्मिकाऽपदवृत्तिः,
 अर्थात्—ब्राह्मणानामश्वस्तनिकतावस्थायां प्राणरक्षणोपयोगिब्रह्मसत्रात्मकाप-
 वृत्तिः कलौ परिहरणीयेत्येवं रूपोऽर्थः प्रतिभाति समीचीनतया । अन्यथा-
 युगेऽस्मिन् प्रत्यक्षतः प्रचलितनिरुक्तप्रमाणव्रातोक्तविगर्हिताचारजातानुष्ठान-
 परिदर्शनासम्भवात् ।

अत-एतद्वृत्तिनिषेधेन सति सुयोगाभावेऽगतिकतया तदतिरिक्तापवृत्ति-
 व्रातावलम्बनमदोषाधायकत्वेनाभ्यनुज्ञातमिति भवति प्रतिभातम् । न चाश्व-
 स्तनिकतावस्थापरिचायकब्रह्मसत्रनामकवृत्तेः शिलोष्कवृत्तिवदनापवृत्तित्वात्
 भवेदापदवृत्त्यात्मिकैषेति वाच्यं, वाणिज्यादिवदस्या निरुक्तोभयवृत्त्यात्मकत्वात् ।
 कक्षीकुर्वन्ति विवेचनमेतन्मानवीयप्रमाणानि,—

यथाह मनुनापदि,—

“ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा ।

सत्यानृताख्यया वापि न श्ववृत्त्या कथञ्चन ॥

ऋतमुच्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् ।
 मृतन्तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥
 सत्यान्तं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते ।
 सेवा श्रवृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥
 कुशूलधान्यको-वा स्यात् कुम्भौधान्यक-एव वा ।
 त्यहैहिको वापि भवेदश्वस्तनिक एव वा ॥”

तथाच तट्टीकाकारः कुल्लूकभट्टः कैः कर्मभिरित्यत्राह, —

ऋतामृताभ्यामिति । अनापदोत्यनुवर्त्तते । ऋतादिभिरनापदि जीवेत् ।
 सेवया त्वनापदि कदाचिन्न वर्त्तते इत्यादि । तथापदवृत्तित्वमापादयति ऋता-
 दीनां स एव,—

शिलोच्छमप्याददीत विप्रोऽजीवं यतस्ततः ।
 प्रतिगृहाच्छिलः श्रेयांस्ततोऽपुनश्छः प्रशस्यते ॥

तथाच कुल्लूकभट्टः,—

शिलोच्छमिति,—

“ब्राह्मणः स्ववृत्त्या अजीवन् यतस्तत इतुप्रपातक्यादिभ्योऽपि शिलोच्छ-
 मृच्छीयात्, न तु तत्सम्भवे असत्यतिग्रहं कुर्यात् । यस्मादसत्यतिग्रहात् शिलः-
 प्रशस्त इत्यादि” । सूचितमनेनापदवृत्तित्वमप्युतादीनाम् । उभयवृत्तित्वमेते-
 नापि सुसिद्धमेतेषामिति निर्गलितार्थः । ननु प्रमाणेनानेन शिलोच्छयोरापद-
 वृत्त्यात्मकतया परिगृहीतत्वादापदवृत्तित्वेनाश्वस्तनिकता न भवेत्परिगणितेति-
 चेन्न, अश्वस्तनिकतावेदकब्रह्मसत्रस्य शिलोच्छयोरन्यतरवृत्तिरूपत्वेन मेधा-
 तिथिना स्वभाष्ये व्याख्यातत्वात् । यथाह मेधातिथिः,—“चतुर्थः पुनरश्वस्त-
 निको-ब्रह्मसत्रेण जीवति ब्रह्मसत्रं शिलोच्छयोरन्यन्तरा वृत्तिः । ब्रह्मणो-
 ब्राह्मणस्य सततभवत्वात् सत्रमिव सत्रमित्याह” । तथा वृत्तित्वमापादितं
 कुल्लूकभट्टेनाप्यश्वस्तनिकतायाः ।

यथाह कुल्लूकभट्टः,—

चतुर्णामपीति मानवीयवचनव्याख्यायाम् । “एषां चतुर्णामपि कुशूल-
धान्यकादीनां गृहस्थानां ब्राह्मणानां मध्ये यो यः शेषे पठितः स स श्रेष्ठो-
ज्ञातव्यः । यतोऽसौ वृत्तिसङ्कोचधर्मेण स्वर्गादिलोकजित्तमो-भवति । वृत्ति-
सङ्कोचधर्मेणेतिपदोपादानेनैव प्रकटीकृतमेतत् ।

वृत्तित्वं प्रकरणपठिताश्चस्तनिकतायाः । युगान्तरीयापदि तद्वृत्तेरुप-
कारकत्वेऽपि विपदबहुले कलियुगे तद्वृत्तेरुपयोगित्वाभावात्तन्निवारणमत्र-
सुसङ्गतमिति निष्कृष्टार्थः ।

यथापदि कलेरन्येषु युगेषु तपःप्रभावादिशक्त्याधिक्येन सद्भिर्गर्हितगोमांसादि-
द्रव्यभक्षणैऽपि पापाभावः, तथोपवर्णितो-मनुयान्नवल्काभ्याम् ।

मनुर्यथाह,—

“जीवितात्ययमापन्नो-योऽन्नमत्ति यतस्ततः ।
आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते ॥
अजीगर्तः सुतं हन्तुमुपासर्पद्बुभुक्षितः ।
न चालिपत्रत पापेन क्षुत्पतीकारमाचरन् ॥
श्वमांसमिच्छन्नात्तौऽत्तुं धर्माधर्मविचक्षणः ।
प्राणानां परिरक्षार्थं वामदेवो-न लिप्तवान् ॥
भरद्वाजः क्षुधार्तस्तु सपुत्रो विजने वने ।
वह्नौर्गाः प्रतिजग्राह वृधोस्तक्षोर्महातपाः ॥
क्षुधार्तश्चात्तुमभ्यगाद्विश्वामित्रः श्वजाघनीम् ।
चण्डालहस्तादादाय धर्माधर्मविचक्षणः” ॥

तथाच यान्नवल्काः,—

“आपद्गतः सम्प्रगच्छन् भुञ्जानो-वा यतस्ततः ।
न लिपेत्तैतैसा विप्रो-ज्वलनार्कसमो-हि सः” ॥

नच युगसाधारण्येनैव निषिद्धमांसाद्यशनोत्प्रेषणात्कथं कलेरन्ययुगविषय-
मित्यभिहितमिति वाच्यम् । आपवृत्तिर्द्विजाग्राममित्यनेन कलावापवृत्तेः-
संकुचितत्वात् । “सुखेनैव धमेदग्नि” मित्युक्तधमनम् । “दशाहेनैव शुद्धेन-
भूमिष्ठं च नवोदकम्” । इत्युक्तो दशाहः । शुद्धेषु दासगोपालेति ।

“कन्दुपक्वं स्नेहपक्वं यच्च दुग्धेन पाचितम् ।

एतान्यशूद्रान्नभुजो भोज्यानि मनुरब्रवीत्” ॥

इत्यपराकं सुमन्तूक्ता शूद्रस्य पाकक्रिया ।

“पितापुत्रविवादे तु साक्षिणां त्रिपणो दमः ।” इत्युक्तः । सायं गृहत्वं
“विधूमे सन्नमूले” इत्युक्तम् ।

पृथ्वीचन्द्रेण तु,—

“अटन्ति वसुधां विप्राः पृथिवौदर्शनाय च ।

अनिक्तेता ह्यनाहारा यत्र सायंगृहास्तु ते” ॥ इति,

विष्णुपुराणोक्तो-निषेधः । तेन ज्ञातशीलपान्यादेः आद्यादौ विनियोगो
न कार्यः कज्ञावित्यर्थ-उक्तः । एतानि वर्ज्यानीत्यर्थः ।

निगमः,—

“अग्निहोत्रं गवालम्भं सव्यासं पलपैतकम् ।

देवराच्च सुतोत्पत्तिः कलौ पञ्च विवर्जयेत्” ॥

अग्निहोत्रं तदर्थमाधानम् । एतच्च सर्वाधानपरम् ।

“अर्द्धाधानं स्मृतं श्रौतस्मार्त्ताग्न्योस्तु पृथक्कृतिः ।

सर्वाधानं तयोरैक्यकृतिः पूर्वयुगाश्रिता” ॥ इति ।

लोगाक्षिवचनादिति स्मृतिचन्द्रिकायाम् । एतेन

“चत्वार्यब्दसहस्राणि चत्वार्यब्दशतानि च” ।

“कलेर्यदागमिष्यन्ति तदा वेतापरिग्रहः ।

सव्यासश्च न कर्त्तव्यो-ब्राह्मणेन विजानता” । इति—

व्यासवचनं व्याख्यातम् ।

सर्वाधानेऽपि विशेषमाह देवलः,—

“यावद्वर्णविभागोऽस्ति यावद्वेदः प्रवर्तते ।

सत्र्यासं चाग्निहोत्रं च तावत्कुर्यात्-कलौ युगे” ।

इत्येतन्मतान्तरविषयम् । इदानीमपि तथा शिष्टाचारदर्शनात् । अन्ये-
त्वत्र पूर्वयुगाश्रितेति लोगाक्षिवाक्ये पूर्वयुगानि कृतादीनीत्यर्थापयन्ति ।
अपरेऽपि युगस्य पूर्वं कलैः पूर्वभागः । स “चत्वार्य्य्यसहस्राणीति पूर्वोक्त-
वाक्याच्चतुश्चत्वारिंशच्छतवर्षावच्छिन्नः । तस्मिन् भागे सर्वाधानं कार्यम् ।
तदुत्तरं तु यावद्वर्णविभागोऽस्तीति वाक्याद्वर्णविभागपर्यन्तमर्द्धाधान-
मित्याहुः । सत्र्यासस्त्रिदण्डः । एतादृशोभयाचारो-न कुत्राप्यवलोकित-
इत्यतोऽयं न समीचीन इति प्रतीतः ॥ शतयपेक्षया कलियुगे निःश्रेयस-
साधनीभूतधर्मसंकोचने व्यापृता महात्मान इति स्फुटतः प्रतिपादयन्ति-
हहन्नारदीयवचनानि । तथा,—

हेमाद्रुःश्रुतादित्यपुराणीयप्रमाणोक्तलोकगुल्यर्थपदेनैव निःश्रेयसाभ्युदय-
साधनीभूतोभयधर्मसंकोचनं स्फुटतः प्रकाशितम् । अतो लोकोन्नतिप्रति-
पादनतत्परैः पूर्वाचार्य्यैर्यथासमयं संकुचितोऽयं प्रथमः । द्वितीयस्तु फल-
हीनतया परिहृतः कदा वांशतः कदा वावश्यकतया परिवर्द्धितः कुत्रापि-
परिवर्तितश्चानुमीयते । नत्वयमीश्वरनिर्मितः । व्यवस्थापूर्वकं बुधैरित्यत्र
बुधपादोपादानेनैव द्वितीयनियमस्य प्रकटीकृतसामाजिककर्तृकत्वात् ।
प्रसङ्गतः कलियुगसाधारणधर्मा-उपवर्ण्यन्तेऽत्र ।

कलिधर्मा-यथा,—

“यदा सदानृत्यं तन्द्री निद्रा हिंसा विषादनम् ।

शोकमोहभयं दैन्यं स कलिस्तु तदा स्मृतः ॥

यस्मिन् जनाः कामिनः स्युः शश्वत्कटुकभाषिणः ।

दस्युकृष्टा जनपदा वेदाः पाषण्डदूषिताः ॥

राजानश्च प्रजाभक्ष्याः शिश्रोदरपरा द्विजाः ।
 अत्रता वटवोऽशौचा भिक्षवश्च कुटुम्बिनः ॥
 तपस्विनो ग्रामवासा न्यासिनो हर्षलोलुपाः ।
 ऋक्काया महाहाराश्चौर्यमायोरुसाहसाः ॥
 त्यज्यन्ति भृत्याश्च पतिं तापसास्त्वखिलं व्रतम् ।
 शूद्राः प्रतिग्रहीष्यन्ति तपोवेशोपजीविनः ॥
 उद्विग्ना-श्चानलंकाराः पिशाचसदृशाः प्रजाः ।
 अस्नातभोजनेनाग्निदेवतातिथिपूजनम् ॥
 करिष्यन्ति कलौ प्राप्ते न च पिण्डोदकक्रियाम् ।
 स्त्रीपराश्च जना सर्वे शूद्रप्रायाश्च शौनक ! ॥
 बहुप्रजाल्पभाग्याश्च भविष्यन्ति कलौ स्त्रियः ।
 शिरःकाण्डूयनपरा आज्ञां भेत्स्यन्ति सत्पतेः ॥
 विष्णुं न पूजयिष्यन्ति पाषण्डोपहता जनाः ।
 कलेर्दोषनिधेर्विप्र ! अस्ति ह्येको-महान् गुणः ॥
 कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तवन्धः परं व्रजेत् ।
 कृते यद्वप्रायतो-विष्णुं चेतायां यजतः फलम् ॥
 द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्वरिकीर्तनात् ।
 तस्माद्ध्वेयो हरिर्नित्यं ध्येयः पूज्यश्च शौनक ! ॥

इति गारुडे युगधर्मे ।

तथा कलियुगधर्मा भागवते,—

उदरंभरिता स्वार्थः सत्यत्वे धार्ष्ट्यमेव हि ।
 दाक्ष्ये कुटुम्बभरणं यशोऽर्थे धर्मसेवनम् ॥

एवं प्रजाभिर्दुष्टाभिराकौर्णक्षितिमण्डले ।
 ब्रह्मविट्क्षत्रशूद्राणां यो-बली भविता नृप ! ॥
 प्रजा हि लुब्धै-राजन्यैर्निघ्नैर्दस्यधर्मभिः ।
 आच्छिन्नदारद्रविणा यास्यन्ति गिरिकाननम् ॥
 शाकमूलामिषचौद्रफलपुष्पाष्टिभोजनाः ।
 अनावृष्ट्या विनक्ष्यन्ति दुर्भिक्षकरपीडिताः ॥
 शीतवातातपप्रावृड्हिमैरन्योऽन्यतः प्रजाः ।
 क्षुत्तृड्भ्यां व्याधिभिश्चैव सन्तप्यन्ते च चिन्तया ॥
 त्रिंशद्विंशतिवर्षाणि परमायुः कलौ नृणाम् ।
 पाषण्डप्रचुरे धर्मे दस्युप्रायेषु राजसु ॥
 चौर्यान्तवृथाहिंसानानावृत्तिषु वै नृषु ।
 शूद्रप्रायेषु वर्णेषु क्लृप्तप्रायासु धेनुषु ॥
 गृहप्रायेष्वाश्रमेषु यौनप्रायेषु बन्धुषु ।
 अनुप्रायास्त्रौषधीषु शमौप्रायेषु स्यात्सुषु ॥
 विद्युत्प्रायेषु मेघेषु शून्यप्रायेषु सद्मसु ।
 इत्थं कलौ गतप्राये जनेषु खरधर्मिषु ।
 धर्मत्वाणाय सत्त्वेन भगवान् वतरिष्यति ॥” इति ।

कलियुगीयापत्कालसाधारणा एते धर्मा इत्यवधेयम् ।

अन्यथा “चत्वार्यब्दसहस्राणीत्यारभ्य यदा त्रेतापरिग्रह-इत्यन्तवचनस्य-
 निष्फलत्वापत्तेः । तथैव समर्थिता एते धर्मा महानिर्वाणतन्त्रपराशराध्यात्म-
 रासायणादिधर्मशास्त्रीयग्रन्थनिवहेन । एवं सत्स्वपि वर्णाश्रमादिबहुविध-
 धर्मेषु प्रकृतानुपयोगितया परिहृतस्तद्विचारः ।

इदानीं तनमानवानां सुखकालावलम्बितनियमपरिपालनाशक्तत्वेन-

निषिद्धकार्यानुष्ठानव्यवहारपरिदर्शनात् प्रतिधर्मशास्त्रं पृथक्तया पूजनीय-
महर्षिभिर्निरूपितापद्धर्मस्य पर्यालोचनया चाधुनातनकलियुगीयसमय-
स्तावदापत्कालिक-इति सर्वैरवश्यमङ्गीकरणीयं निर्विवादम् । अतोऽस्य-
प्रस्तावितविषयतया तन्निरूपणमत्र कर्तव्यमादितः ।

अथापत्कालविचारः ।

आपद्युक्तः कालः, का तावदापदित्याकाङ्क्षायामितुश्चते,—

रोगाद्यभिभूततावस्था, सम्यग्वर्त्तनोपायानुपलम्बो-धर्मविप्लवश्च आपत्,
तैर्युक्तः समय-आपत्काल इत्यर्थः । आपदां समूहः आपदं तस्य कालः
आपत्कालः ।

उदाहरणं यथा महाभारते,—

“पीडा चापत्कालश्च पत्तिज्ञानं च पाण्डव ! ।”

तन्निवृत्तिसु कुत्राल्पदिनात्मिका, कदा वानेकसंख्यत्सरसापेक्षा ।

अतो यस्या आपदः यत्कालव्यापित्वं तस्यास्तत्कालावधिकत्व-मव-
धार्यं, इत्यपरिमितकालस्य कैश्चिदपि महर्षिभिरनिर्द्धारितत्वात् । अत-
एवापत्कालस्य स्वल्पदिनस्थायित्वं बहुसमयव्यापित्वं च सिद्धमित्यर्थः । तथा
—ज्वरादिकियद्भोगस्याल्पदिवसस्थायित्वं, कुष्ठादिकियद्भदानां जीवनावधि-
व्यापित्वं च, एवं दुर्भिन्नादौ सम्यग्वर्त्तनोपायानुपलम्बश्च दृश्यते सर्वत्र ।
विशेषविवरणस्य सुखवन्धतः सन्निवेशितमवलोकितव्यम् । एतेनापत्-
कालस्य यावत्कालं रोगाद्यभिभूततासम्यग्वर्त्तनोपायानुपलम्बान्यतरजन्य-
निषिद्धकार्यानुष्ठानप्रवृत्तिजनकत्वविशिष्टत्वं, अथवा धर्मविप्लवस्यापत्काला-
त्मकत्वेन विद्यमानतया विधीयते लक्षणान्तरम् । यथा, यावत्कालं-
रोगाद्यभिभूततासम्यग्वर्त्तनोपायानुपलम्बधर्मविप्लवान्यतमजन्यनिषिद्धाचरण-
प्रवृत्तिजनकत्वविशिष्टत्वं आपत्कालत्वमिति लक्षणं समायातम् । इति
धर्मविप्लवमादायान्यतमनिवेशः ।

एतद्विचारसहायभूतानि प्रमाणानि यथा महाभारतीय-शान्तिपर्वात्-
गतापद्धर्मपर्वणि, —यथा,—

युधिष्ठिर उवाच,—

“हीने परमके धर्मे सर्वलोकाभिलङ्घिते ।
 अधर्मे धर्मतां नौते धर्मे चाधर्मताङ्गते ॥
 मर्यादासु विनष्टासु क्षुभिते धर्मनिश्चये ।
 राजभिः पीडिते लोके परैर्वापि विशांपते ! ॥
 सर्वाश्रमेषु मूढेषु कर्मस्वपहतेषु च ।
 कामाल्लोभाच्च मोहाच्च भयं पश्यत्सु भारत ! ॥
 अविश्वस्तेषु सर्वेषु नित्यं भीतेषु पार्थिव ! ।
 निकृत्याहन्यमानेषु वञ्चयत्सु परस्परम् ॥
 सम्प्रदीपेषु देशेषु ब्राह्मणे चातिपौडिते ।
 अवर्षति च पर्जन्ये मिथो-भेदे समुत्थिते ॥
 सर्वस्मिन् दस्युसाङ्गते पृथिव्यामुपजीवने ।
 केनचित्ब्राह्मणो जीवेज्जघन्ये काल-आगते ॥
 अतितिक्षुः पुत्रपौत्राननुक्रोशान्नराधिप ! ।
 कथमापत्सु वर्त्तत तन्मे ब्रूहि पितामह ! ॥
 कथञ्च राजा वर्त्तत लोके कलुषतां गते ।
 कथमर्थाच्च धर्माच्च न हीयेत परन्तप ! ॥

भीष्म-उवाच,—

“राजमूला महाबाहो ! योगक्षेमसुवृष्टयः ।
 प्रजासु व्याधयश्चैव मरणञ्च भयानि च ॥
 कृतं चेता द्वापरञ्च कलिश्च भरतर्षभ ! ।
 राजमूला इति मतिर्मम नास्त्यत्र संशयः ॥

तस्मिँस्त्वभ्यागते काले प्रजानां दोषकारके ।
 विज्ञानबलमास्थाय जीवितव्यं भवेत्तदा ॥
 अत्रापुनराहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
 विश्वामित्रस्य सम्बादं चण्डालस्य च पक्षणे ॥
 त्रेताद्वापरयोः सन्धौ तदा दैवविधिक्रमात् ।
 अनावृष्टिरभूद्धोरा लोके द्वादशवार्षिकी ॥
 प्रजानामतिबुद्धानां युगान्ते समुपस्थिते ।
 त्रेताविमोक्षसमये द्वापरे प्रतिपादने ॥
 नववर्षं सहस्राक्षः प्रतिलोमोऽभवद्गुरुः ।
 जगाम दक्षिणं मार्गं सोमो व्यावृत्तलक्षणः ॥
 नावश्यायोऽपि तत्राभूत् कुत एवाभ्रजातयः ।
 नद्यः संचिप्ततोयौघाः किञ्चिदन्तर्गतास्ततः ॥
 तस्मिन् प्रतिभये काले क्षते धर्मे युधिष्ठिर ! ।
 बभ्रमुः क्षुधिता मर्त्याः खादमानाः परस्परम् ॥
 ऋषयो नियमांस्त्यक्त्वा परित्याज्याग्निदेवताः ।
 आश्रमान् सम्परित्यज्य पर्यधावन्नितस्ततः ॥
 विश्वामित्रोऽथ भगवान् महर्षिरनिकेतनः ।
 क्षुधापरिगतो धीमान् समन्तात् पर्यधावत ॥
 त्यक्त्वा दारांश्च पुत्रांश्च कस्यांचिज्जनसंसदि ।
 भक्ष्याभक्ष्यसमो भूत्वा निरग्निरनिकेतनः ॥

स कदाचित् परिपतन् श्वपचानां निवेशनम् ।
 हिंसाणां प्राणिघातानामाससाद वने क्वचित् ॥
 तत्-प्रविश्य क्षुधाविष्टो विश्वामित्रो-महानृषिः ।
 आहारान्वेषणे युक्तः परं यत्नं समास्थितः ॥
 न च क्वचिदविन्दत्स भिक्षमाणोऽपि कौशिकः ।
 मांसमन्नं फलं मूलमन्यद्वा तत्र किञ्चन ॥
 अहो कृच्छ्रं मया प्राप्तमिति निश्चित्य कौशिकः ।
 पपात भूमौ दौर्वल्यात्तस्मिंश्चाण्डालपक्षणे ॥
 सञ्चिन्तयामास मुनिः किं नु मे सुकृतं भवेत् ।
 कथं वृथा न मृत्युः स्यादिति पार्थिवसत्तम ! ॥
 स ददर्श श्वमांसस्य कुतन्वीं विततां मुनिः ।
 चाण्डालस्य गृहे राजन् ! सद्यः शस्त्रहतस्य वै ॥
 स चिन्तयामास सदा स्तैन्यं कार्य्यमितो मया ।
 न हीदानीमुपायो मे विद्यते प्राणधारणे ॥
 आपत्सु विहितं स्तैन्ये विशिष्टञ्च महीयसः ।
 विप्रेण प्राणरक्षार्थं कर्त्तव्यमिति निश्चयः ॥
 हीनादादेयमादौ स्यात्समानात्तदनन्तरम् ।
 असम्भवे वाददौत विशिष्टादपि धार्मिकात् ॥
 सोऽहमन्यावसानायां हराम्येनां प्रतिग्रहात् ।
 न स्तैन्यदोषं पश्यामि हरिष्यामि श्वजाघनीम् ॥

एतां बुद्धिं समाख्याय विश्वामित्रो महामुनिः ।
 तस्मिन् देशे सुसुध्वाप श्वपचो यत्र भारत ! ॥
 स विगाढां निशां दृष्ट्वा सुप्ते चाण्डालपक्षणे ।
 शनैरुत्थाय भगवन् ! प्रविवेश कुटीमतः ॥
 सुषुप्त इव चाण्डालः श्लेष्मापिहितलोचनः ।
 परिभिन्नस्वरो रुक्लः प्रोवाचाप्रियदर्शनः ॥

श्वपच-उवाच,—

“कः कुतन्त्रौ घटयति सुप्ते चाण्डालपक्षणे ।
 जागर्मि नात्र सुप्तोऽस्मि हतोऽस्मीति च दारुणः ॥
 विश्वामित्रस्ततो भीतः सहसा तमुवाच ह ।
 तत्र व्रीडाकुलमुखः सोद्वेगस्तेन कर्मणा ॥
 विश्वामित्रोऽहमायुष्मानागतोऽहं वुभुक्षितः ।
 मा वधीर्मम सद्बुद्धे ! यदि सम्यक्प्रपश्यसि ॥
 चाण्डालस्तद्वचः श्रुत्वा महर्षेर्भावितात्मनः ।
 शयनादुपसम्भ्रान्त उद्व्ययौ प्रति तं ततः ॥
 स विस्मजग्राश्रुनेत्राभ्यां बहुमानात्-कृताञ्जलिः ।
 उवाच कौशिकं रात्रौ ब्रह्मन् ! किन्ते चिकीर्षितम् ॥
 विश्वामित्रस्तु मातङ्गमुवाच परिसान्त्वयन् ।
 क्षुधितोऽहं गतप्राणो-हरिष्यामि श्वजाघनीम् ॥
 क्षुधितः कलुषं यातो नास्ति क्रीरशनार्थिनः ।
 अटन् भैक्ष्यं न विन्दामि यदा युष्माकमालये ॥
 तदा बुद्धिः कृता पापे हरिष्यामि श्वजाघनीम् ।
 अग्निमुखं पुरोधस्य देवानां शुचिषाङ्घ्रिभुः ॥

यथावत्-सर्वभुग्-ब्रह्मा तथा मां विद्धि धर्मतः ।
 विश्वामित्रस्ततो राजन् ! इतुर्गतो भरतर्षभ ! ॥
 क्षुधार्तः प्रतुर्वाचेदं पुनरेव महामुनिः ।
 येन येन विशेषेण कर्मणा येन केनचित् ॥
 अभ्युज्जीवित्साद्यमानः समर्थो धर्ममाचरेत् ।
 ऐन्द्रो-धर्मः क्षत्रियाणां ब्राह्मणानामथाग्निकः ॥
 ब्रह्म वज्रिर्मम बलं भक्षामि शमयन्-क्षुधाम् ।
 यथा यथैव जीवेद्धि तत्कर्तव्यमहेतया ॥
 जीवितं मरणाच्छ्रेयो-जीवन् धर्ममवाप्नुयात् ।
 सोऽहं जीवितमाकाङ्क्षन्न भक्षस्यापि भक्षणम् ।
 व्यवस्ये बुद्धिपूर्वं वै तद्भवाननुमन्यताम् ॥
 बलवन्तं करिष्यामि प्रणोक्त्याम्यशुभानि तु ।
 तपोभिर्विद्यया चैव जगतीषीव महत्तमः” ॥

भीष्म उवाच,—

“एवमुक्त्वा निवृत्ते मातङ्गः कौशिकं तदा ।
 विश्वामित्रो जहारैव कृतबुद्धिः श्वजाघनीम् ॥
 ततो जग्राह स श्वाङ्गं जीवितार्थी महामुनिः ।
 सदारस्तामुपाहृत्य वने भोक्तुमियेष सः” ॥ इत्यादि ।

तथात्र गौतमोपाख्यानं यथा,—

भीष्म-उवाच,—

“हन्त ते वर्त्तयिष्येऽहमितिहासं पुरातनम् ।
 उदिच्यां दिशि यद्वृत्तं ज्ञेच्छेषु मनुजाधिप ! ॥

ब्राह्मणो-मध्यदेशीयः कश्चिद्वै ब्रह्मवर्जितम् ।
 ग्रामं वृद्धियुतं वीक्ष्य प्राविशन्नैक्षिकाङ्क्षया ॥
 तत्र दस्युर्धनयुतः सर्ववर्णविशेषवित् ।
 ब्रह्मण्यः सत्यसन्धश्च दाने च निरतोऽभवत् ॥
 तस्य क्षयमुपागम्य ततो भिक्षामयाचत ।
 प्रतिश्रयं च वासार्थं भिक्षां चैवाथ वार्षिकीम् ॥
 प्रादात्तस्मै स विप्राय वस्त्रं च सदृशं नवम् ।
 नारीं चापि गुणोपेतां रूपयौवनशालिनीम् ॥
 तस्मिन् गिरिवरे राजंस्तथा रेमे स गौतमः ।
 कुटुम्बार्थं च दास्याश्च साहाय्यं चाप्यथाकरोत् ॥
 तत्रावसत्-स वर्षाणि समृद्धश्वरालये ।
 वाणवेधे परं यत्नमकरोच्चैव गौतमः ॥
 गौतमः सन्निकर्षेण दस्युभिः समतामियात् ।
 तथा तु वसतस्तस्य दस्युग्रामे सुखं तदा ॥
 अगमन् वहवो मासा निघ्नतः पक्षिणो वहून् ।
 ततः कदाचिदपरो द्विजस्तं देशमागतः ॥
 स ब्रह्मचारी तद्देश्यः सखा तस्यैव सुप्रियः ।
 तं दस्युग्राममगमद्यत्वासौ गौतमोऽवसत् ॥
 स तु विप्रगृहान्वेषौ शूदान्नपरिवर्जकः ।
 ग्रामे दस्युसमाकीर्णे व्यचरन् सर्वतो-दिनम् ॥

ततः स गौतमगृहं प्रविवेश द्विजोत्तम ! ।
 गौतमश्चापि संप्राप्तस्त्वावन्योन्येन संगतौ ।
 चक्राङ्गभारस्कन्धं तं धनुष्पाणिं धृतायुधम् ॥
 रुधिरणावसिक्ताङ्गं गृहद्वारमुपागतम् ।
 तं दृष्ट्वा पुरुषादाभमपध्वस्तं क्षयागतम् ॥
 अभिज्ञाय द्विजो-राजद्विदं वाक्यमथाब्रवीत् ।
 किमिदं कुरुषे मोहाद्विप्रस्त्वं हि कुलोद्वहः ॥
 मध्यदेशपरिज्ञातो दस्युभावं गतः कथम् ।
 पूर्वान् स्मर द्विजान् ज्ञातीन् प्रख्यातान् वेदपारगान् ॥
 तेषां वंशेऽभिजातस्त्वमौदृशः कुलपांशनः ।
 अवबुध्यात्मनात्मानं सत्त्वं शौलं श्रुतं दमम् ॥
 अनुक्रोशं च संस्मृत्य त्यज वासमिमं द्विज ! ।
 स एवमुक्तः सुहृदा तेन तत्र हितैषिणा ॥
 प्रतुप्रवाच ततो राजन् विनिश्चित्य तदार्त्तवत् ।
 निर्जनोऽस्मि द्विजश्रेष्ठो-नापि वेदविदप्यहम् ॥
 वित्तार्थमिह संप्राप्तं विद्धि मां द्विजसत्तम ! ।
 त्वद्दर्शनात्तु विप्रेन्द्र ! कृतार्थोऽस्म्यद्य वै द्विज ! ॥
 आवां हि सह यास्यावः शू वसस्वाद्य शर्वरीम् ।
 स तत्र न्यवसद्विप्रो-घृणी किञ्चिदसंस्पृशन् ।
 क्षुधितच्छन्द्यमानोऽपि भोजनं नाभ्यनन्दत” ॥ इत्यादि ।

एतदुपाख्यानद्वयसंग्रहेणात्र निबन्धनाहुल्येऽपि निवेशितमेतद्वयं बुभुत्सूनां-
 संशयनिरासार्थम् । यथाक्रममापदः क्रियत्कालावस्थायित्वं तथा बृहसमय-
 वरापित्वं च सूचितमेतदुपाख्यानद्वितयेनेत्यबधेयम् ।

धर्मविप्लवस्य चापद्रूपत्वे, पूर्वप्रदर्शितविश्वामित्रियोपाख्यानेनापि प्रकाशितानि प्रमाणानि विभावनीयान्येव ।

न चैतदुदाहरणद्वयस्य दुर्भिचार्याऽभावरूपापत्कालविषयतया नैतत् प्रकृतोपयोगीति वाच्यं, सर्वत्र दिङ्मात्रैकोदाहरणपरिदर्शनेनैवान्येषां समाहितत्वात् । तथैतद्वीकायां प्रदर्शितं नीलकण्ठेन,—“यथाहीन इति । आपद्यकार्यमपि-कणिकेनोक्तं । तत्र विश्वामित्रश्चजाघनीपचनरूपं शिष्टाचारं प्रमाणयति” ।

एतदनुसृतानि प्रमाणान्यप्यवलोच्यन्ते महाभारतीयापद्धर्मपर्वणि,—

“एवं विद्वानदीनात्मा व्यसनस्थो जिजीविषुः ।

सर्वोपायैरुपायज्ञो दीनमात्मानमुद्धरेत् ॥

एतां बुद्धिं समास्थाय जीवितव्यं सदा भवेत् ।

जीवन् पुण्यमवाप्नोति पुरुषो-भद्रमश्नुते ॥

तस्मात्-कौन्तेय ! विदुषा धर्माधर्मविनिश्चये ।

बुद्धिमास्थाय लोकेऽस्मिन् वर्त्तितव्यं कृतात्मना” ॥ इति ।

ननु बहुकालस्थायिन इदानींतनापत्कालस्य तदुद्धारोपायभूतस्य पोताद्यारोहणसमुद्रगमनविदेशीयशिञ्जानुष्ठानादिकस्य च प्रोक्तप्रमाणान्तर्भूतत्वात् तत्साधारणवचनान्तराभावाच्च तदुभयं न धर्मशास्त्रसन्धतमिति चेन्न, धर्मशास्त्रीयप्रमाणानां साक्षात्सम्बन्धेनैव समर्थकत्वाभावेऽपि उपलक्षणविधया खेतरप्रतिपादकत्वपरिदर्शनात्, आपत्कालरूपैतत्कालस्य तदुद्धारोपायनिवहस्य च सति शिष्टानुमोदनीयत्वे निश्चयवाक्यविसरेणैव मनुना तस्य प्रमाणरूपत्वेन तदुभयस्याभ्यनुज्ञातत्वाच्च ।

प्रमाणान्याह मनुः,—

“अनायातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ।

यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशङ्कितः ॥

दशावरा वा परिषद्द्वयं धर्मं परिकल्पयेत् ।

त्रयवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥

प्रत्यक्षं चानुमानञ्च शास्त्रञ्च विविधागमम् ।

तयं सुविदितं कार्य्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥

आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना ।

यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः” ॥

अतः सांप्रतिकसमयस्वापत्कालान्तर्भूतः ; तदुद्धरणोपायश्च तद्धर्मान्तर्गत-
इति सारासारविचारनिपुणानां प्रेक्षावतां राक्षान्तः ।

अथापद्धन्मविचारः,—

आपद्यनुष्ठेयो-धर्मः-वैदिकधर्मविरोधिसामाजिकधर्म-इत्यर्थः । एष-आपत्-
कल्पः इति कथ्यते । आपदि उचितः कल्पः विधिः अर्थात्जीवन-
निर्वाहकोपायः । स च किमात्मक इत्याकाङ्क्षायासुच्यते सः । ब्राह्मणादि-
जातीनां युगसामान्यनिषिद्धानि यानि यानि स्वस्ववृत्तिभिन्नवृत्त्यन्तरानु-
ष्ठानानि विशेषतो ब्राह्मणस्य यानि यानि कलिवर्ज्यानि, तान्यापद्युत्सर्गापवा-
दनप्रायेणाचरणीयानीत्युपायः ।

तेषामुत्सर्गापवादनायो,-यथा,—

“मा हिंस्यात्सर्वाणि भूतानीत्युत्सर्गः । अग्निष्टोमीयं पशुमालभेतेत्यप-
वादः । तत्र मा हिंस्यात्सर्वाणि भूतानीत्येतस्यासङ्कोचेन सर्वहिंसानिषेध-
परत्वे अग्नीसोमीयेत्यादेर्निर्विषयत्वमापद्येत । अतो मा हिंस्यात्सर्वाणि-
भूतानीत्यस्य सङ्कोचेनाग्नीसोमीयपञ्चतिरिक्तसर्वभूतहिंसानिषेधपरत्वमङ्गीकर-
णीयम् । प्रकृते तु युगसामान्ये स्वीयवृत्तिभिन्नवृत्तिग्रहणनिषेधकवचनानां-
नेवत्वं ब्राह्मणस्य कलिवर्ज्यप्रतिपादकद्विजस्यास्यौ तु नौयानमित्यादिवचना-
नाञ्चासङ्कोचेन युगसाधारणकलिसामान्यानुष्ठाननिषेधपरत्वेऽपि “क्षत्रेण
कर्मणा जीवेद्विशां वाप्यापदि द्विज” इत्यादिवचनवृत्तस्य निर्विषयत्वं स्यादेव,
अतो युगसाधारणानुष्ठेयवृत्त्यन्तरनिषेधकवाक्यानां कलिसामान्यवर्ज्याग्निहोत्र-
गवालश्वनादिविषयकप्रमाणानाञ्च सङ्कोचेनापत्कालानुष्ठेयवृत्त्यन्तरादिग्रहणा-
तिरिक्ततादियुगचतुष्टयसाधारणस्ववृत्तिभिन्नवृत्त्यन्तराद्यनुष्ठाननिषेधत्वमङ्गी-
कार्य्यम् । सन्त्यत्र वृत्त्यन्तरादिग्रहणे धर्मशास्त्रीयप्रचुरप्रमाणानि ।

यथा मनुः,—

“अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा ।
जीवेत्-क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः ॥
उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ।
क्षत्रिगोरक्षमास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम्” ॥

“अधुना आपद्धर्ममाह,—

अजीवन्निति, यथोक्तेनाध्यापनादिस्वकर्मणा ब्राह्मणो नित्यकर्मानुष्ठान-
कुटुम्बसम्बर्धनपूर्वकमजीवन् क्षत्रियकर्मणा ग्रामनगररक्षणादिना जीवेत् ।
यस्मात् क्षत्रियधर्मोऽस्य सन्निकृष्टा वृत्तिः ।

उभाभ्यामिति,—

ब्राह्मण उभाभ्यां स्ववृत्तिक्षत्रियवृत्तिभ्यामप्यजीवन् केन प्रकारेण वर्त्ततेति-
यदि संशयः स्यात्, तदा क्षत्रिपशुरक्षणे आश्रित्य वैश्यस्य वृत्तिमनुतिष्ठेत्,
क्षत्रिगोरक्षग्रहणं वाणिज्यस्यापि प्रदर्शनार्थम् । तथाच विक्रेयाणि वक्ष्यति ।
स्वयंकृतज्ञेदं कथ्यादि ब्राह्मणापदवृत्तिः, अस्वयंकृतस्य ऋतानृताभ्यां जीवेत-
इत्यनापद्येव विहितत्वादिति” कुल्लूकभट्टः ।

“वैश्यवृत्तिमनातिष्ठन् ब्राह्मणः स्वे पथि स्थितः ।
अवृत्तिकर्षितः सीदन्निमं धर्मं समाचरेत् ॥
सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद्ब्राह्मणस्त्वनयङ्गतः ।
पवित्रं दुष्यतीत्येतद्धर्मतो-नोपपद्यते ॥
नाध्यापनाद्याजनाद्वा गर्हिताद्वा प्रतिग्रहात् ।
दोषो-भवति विप्राणां ज्वलनाम्बुसमा हि ते ॥
जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयङ्गतः ।
न त्वेव ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित् ॥

यो लोभादधमो जात्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभिः ।
 तं राजा निर्जनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥
 वैश्योऽजीवन् स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्यापि वर्त्तयेत् ।
 अनाचरन्नकार्याणि निवर्त्तेत च शक्तिमान् ॥
 अशक्तुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम् ।
 पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत्-कारुक्कर्मभिः ॥
 यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः ।
 तानि कारुक्कर्मणि शिल्पानि विविधानि च” ॥

“सर्वत इति । ब्राह्मण आपदं प्राप्तः सर्वेभ्योऽपि निन्दितनिन्दिततर-
 निन्दितमेभ्यः क्रमेण प्रतिग्रहं कुर्यात् ।

अत्रार्थान्तरन्यासनामाकालङ्कारः ।

यस्मात्पवित्रं गङ्गादि रथोदकादिना दुष्यतीत्येतत् शास्त्रस्थित्या नोपपद्यते ।
 यस्मान्नाध्यापनादिति, ब्राह्मणानामापदि गर्हिताध्यापनयाजनप्रतिग्रहैरधर्मा
 न भवति । यस्मात् स्वभावतः पवित्रत्वेनाप्युदकतुल्यास्ते ।

जीवेदिति,—

क्षत्रिय आपदं प्राप्तः, एतेनेत्यभिधाय सर्वेणेत्यभिधानात् ब्राह्मणगोचरतया-
 निषिद्धेनापि रसादिविक्रयणेन वैश्यवज्जीवेत् । न पुनः कदाचित् ब्राह्मण-
 जीविकामाश्रयेत् । न केवलं क्षत्रियः वैश्यादयोऽन्येऽपि । शक्तिमानितु-
 पादानेनैव शक्तिविहीनस्याकार्यचरणे न कोऽपि दोष इत्यवगम्यते । विप्रा-
 दीनामुपलक्षणमेतत्” । इति तद्व्याख्यानकर्त्तारः । “आपद्यपि च कष्टायां
 सद्यः शौचं विधीयत” इत्यापदि मुख्याशौचकल्पनानुष्ठानासम्भवेन सद्यः-
 शौचाद्यनुकल्पमुल्लेखनीं तत्प्रसङ्गादापदि प्रतिग्रहोऽधिको बिभ्रे याजनाध्यापने-
 तथेत्याद्युक्तयाजनादिमुख्यवृत्त्यसम्भवेन वृत्त्यन्तरमाह,—

याज्ञवल्करः—

“क्षाणत्ते कर्मणा जीवेद्विशां वाप्यापदि द्विजः ।
निस्तीर्य्य तामथात्मानं पावयित्वा न्यसेत्पथि ॥

“द्विजो विप्रो बहुकुटुम्बतया स्ववृत्त्या जीवितुमसमर्थः ।
क्षत्रसम्बन्धिना कर्मणा शस्त्रग्रहणादिनापदि जीवेत्” ॥

तेनापि जीवितुमशक्नुवन् वैश्यस्य सम्बन्धिना कर्मणा वाणिज्यादिना जीवेत्-
न शूद्रवृत्त्या । तथा आपद्यपि नहि ब्राह्मी वृत्तिराश्रयणीया । किन्तु ब्राह्म-
णेन क्षात्री । क्षत्रियेण वैश्यसम्बन्धिनी, वैश्येन च शौद्रीत्येवं स्नानन्तर-
वृत्तिरेव । “अजीवन्तः स्वधर्मेणानन्तरां पापीयसीं वृत्तिमातिष्ठेरन् । न तु
कदाचिज्जायसीमि”ति वसिष्ठस्मरणात् । ज्यायसी च ब्राह्मी वृत्तिः ।

तथा च स्मृत्यन्तरं,—

“उत्कृष्टं वापकृष्टं वा तयोः कर्म न विद्यते ।
मध्यमे कर्मणी हित्वा सर्वसाधारणे हिते” ॥ इति
शूद्रस्य उत्कृष्टं ब्राह्मं कर्म न विद्यते ॥

तथा ब्राह्मणस्यापकृष्टं शौद्रं कर्म, मध्यमे क्षत्रवैश्यकर्मणी । पुनरापहत-
सर्ववर्णसाधारणे हिते । इति ।

“शूद्रश्चापद्गतो वैश्यवृत्त्या शिल्पैर्वा जीवेत् ।
शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा तयाऽजीवन् बणिक्-भवेत्” ॥

“शिल्पैर्वा विविधैर्जीवेद्विजातिहितमाचरन्नि”ति प्राशुक्तात् । अनेनैव-
न्यायेनानुलोमोत्पन्नानामपि स्नानन्तरवृत्तिरुहनीया । एवं स्नानन्तरहीन-
वृत्त्या आपदं निस्तीर्य्य प्रायश्चित्ताचरणेनात्मानं पावयित्वा पथि न्यसेत् ।
स्ववृत्तावात्मानं स्थापयेदित्यर्थः । यद्वायमर्थः, गर्हितवृत्त्या अर्जितं धनं-
पथि न्यसेत् उत्सृजेदिति ।

तथाच मनुः—

“जपहोमैरपेत्येनो याजनाध्यापनैः कृतम् ।

प्रतिग्रहनिमित्तं तु त्यागेन तपसैव त्वि”ति ॥

अनापद्यविहितकर्मान्तराचरणेन साधारणस्य प्रायश्चित्तानर्हत्वेन पातित्य-
मपांक्षेयत्वं च जीवनावधि स्थास्यतीति शास्त्रीयमर्थ्यादा, किन्त्वापदि सत्यपि-
तदाचरणे प्रायश्चित्तानुष्ठानेन तदुभयं विनाशितव्यमिति पावयित्वेत्यनेन प्रति-
पादितोऽयं विशेष इत्यवगन्तव्यं । नन्वापदि नीचनीचतरनीचतमजातिगृह-
भोजनमितुःपायान्तरं मनुयान्नवल्कलाभ्यामभ्यनुज्ञातमपि कथं नोद्विहित-
मत्रेति चेन्न, युगान्तरीयविषयतया प्रकृतानुपयोगित्वात्, पूर्वतोऽस्य स्फुटतो-
व्याख्यातत्वाच्च ।

गौतमोऽप्याह, —

“आपत्कल्पो ब्राह्मणस्याब्राह्मणादुविद्योपयोगोऽनुगमनम् । शुश्रूषाऽ-
समाप्ते । ब्राह्मणो गुरुः, याजनाध्यापनप्रतिग्रहाः । सर्वेषां पूर्वः पूर्वा गुरुः,
तदलाभे क्षत्रवृत्तिस्तदलाभे वैश्यवृत्तिः ।

प्रमाणं यथा बृहदारण्यकोपनिषदि ;—

“वाचा स्म वै पूर्वं उपयन्ति सहोपायनकीर्त्यावास” । अत्र भाष्यं, वाचा
स्म किल पूर्वं ब्राह्मणा विद्यार्थिनः सन्तः क्षत्रियान् वा वैश्यानुपयन्ति शिष्टवृत्त्या-
उपगच्छन्ति, नोपायनशुश्रूषाभिः, अतः स गौतमः उपायनकीर्त्या उपगम-
कीर्त्तनमात्रेणैव उवास उपिवान् नोपायनं चकार” ।

तथाऽनन्दगिरिः—

“आपदि समादधिकाद्वा विद्याप्राप्तसम्भवावस्थायां उपायनमुपगमनं-
पादोपसर्पणं ।

तथाच मनुः,—

“अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते ।

अनुब्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः” ॥ इति ॥

एतद्भिन्नेषु धर्मशास्त्रान्तरेषु विद्यमानान्यपि प्रायश एतत्तुल्यानि वद्वनि-
वचनानि निबन्धवाङ्मूल्यभियोपेक्षणीयानत्र । जीवनहेतुत्वेनापदि स्थूलतो-
वृत्त्यन्तराद्युपाये सत्यपि निरूपिते सम्प्रति विभागशस्त्रहेतुतया मनुयाज्ञ-
वल्क्यप्रदर्शिता बहुविधा उपायाः प्रकाश्यन्तेऽत्र ।

यथाह मनुः ;—

“विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्षं विपणिः कृषिः ।

धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः ॥

“विद्येति,—आपत्प्रकरणजीवनहेतव इति निर्देशादेषां मध्ये यया वृत्त्या-
यस्यानापदि जीवनं निषिद्धं, तया तस्यापद्यभ्यनुज्ञायते,

यथा ब्राह्मणस्य भृतिसेवादि एवं शिल्पादावपि ज्ञेयं । विद्या वेदविद्या-
व्यतिरिक्ता (जीविकानिर्वाहहेतुका) वैद्यतर्कविषापनयनादिविद्या (आदि-
पदेन मौलिकधर्माविरोधिविदेशीयविद्याशिक्षादिसंग्रहः) । सर्वेषामापदि-
जीवनार्थं न दुष्यति । शिल्पं लिखनादिकरणं (आदिपदोपादानेन-
सकलकारुक्मर्माणां संग्रहणं) । भृतिः प्रेक्षभावेन वेतनग्रहणं । सेवा परा-
ज्ञासम्पादनम् । अर्थात् नृपादिधनिकमानवसेवया जीविकापरिचालनम् ।
गोरक्षं पशुपाल्यं । विपणिं वाणिज्या । कृषिः स्वयंश्रुता । धृतिः सन्तोषः ।
तस्मिन्नल्पकेनापि जीवते । भैक्ष्यं भिक्षासमूहः । कुसीदं वृक्षरा धनप्रयोगः-
स्वयंश्रुतोऽपि इत्येभिर्दशभिरापदि जीवनीयमिति” कुल्लूकभट्टः ।

तथाहि मेधातिथिः,—

“सर्वपुरुषाणामापदि वृत्तिरियमनुज्ञायते । तत्र विद्या वेदविद्याव्यतिरेकेण
वैद्यतर्कभूतविषासनविद्या सर्वेषां जीवनार्था न दुष्यति । शिल्पं वराख्यातं ।
भृतिः प्रेक्षकत्वं । सेवा परवृत्तानुवृत्तित्वं । धृतिः सन्तोषः दृष्टार्थं चैतत् ।
अतो विहितवृत्त्यभावेन एते जीवनोपायाः संकीर्यन्ते पुरुषमात्रविषयत्वात्” ।

यथाह याज्ञवल्क्यः,—

“कृषिः शिल्पं भृतिर्विद्या कुसीदं शकटं गिरिः ।

सेवानूपं नृपो भैक्ष्यमापत्तौ जीवनानि तु” ॥

“किंच, आपत्तौ जीवनानीतिविशेषणात् कथादीनां मध्येऽनापद-
वस्थायां यस्य या वृत्तिः प्रतिषिद्धा तस्य सा वृत्तिरनेनाभ्यनुज्ञायते । यथापदि-
वैश्यवृत्तिः स्वयंकृता कृषिर्विप्रचक्षितयोरभ्यनुज्ञायते । एवं शिल्पादीन्यस्या-
भ्यनुज्ञायते । शिल्पं सूपकरणादि । भृतिः प्रेथत्वं, विद्या भृतकाध्याप-
कत्वाद्या । (आद्यपदोपादानेन कुल्लूकभट्टव्याख्यातविषया संगृहीता अत्र)
कुसीदं वृद्धार्थं द्रव्यप्रयोगः । तत् स्वयंकृतमभ्यनुज्ञायते । शकटं भाटकेन-
धान्यादिवहनद्वारेण जीवनहेतुः । गिरिस्तद्वतलण्मनद्वारेण जीवनं । सेवा-
परचित्तानुवर्त्तनम् । अनूपं प्रचुरलण्वृक्षजलप्रायप्रदेशः । तथा नृपयाचनं-
भैक्ष्यं स्नातकस्यापि एतान्नापत्तौ जीवनानि” । इति विज्ञानेश्वरः ।

प्रोक्तव्याख्याकर्तृभिः संक्षेपतो विवृतस्याप्येतद्वचनद्वयोक्तजीविकानिर्वाह-
प्रयोजनकोपायविसरस्य मनुवाक्यप्रकाशितोपायनिवहानुक्रमेण यथासम्भव-
मनुष्ठायतेऽत्र विशेषविवरणम् ।

क्रमप्राप्ता विद्या विचार्यन्तेऽत्रादितः ।

विद्या, ज्ञानार्थकविज्ञातोः करणे क्वप् प्रत्ययस्ततः स्त्रियां टाप् । अनया-
रीत्या विद्येति पदं निष्पन्नं । सा अध्ययनजन्यज्ञानात्मिका । सा तु चतु-
र्दशविधा, चत्वारो वेदाः षडङ्गानि, पुराणं, मीमांसा, न्यायः, धर्मशास्त्रं,
एतद्रूपा । किन्त्वेषा निःश्रेयससाधिका नत्वापदि जीविकाप्रचलना-
पादिका, अतस्तन्निर्वाहार्थमभ्युदयसाधनं नैदानिकधर्मानुगं यत् किञ्चिदपि-
विद्याध्यायनं करणीयमिति कुल्लूकभट्टाभिप्रायः । सति जीवनधारणे निःश्रेय-
ससाधनधर्मः सुसाध्य एव । अन्यथा तद्रक्षणं निराधारमेव, शरीरधारणमन्तरा
धर्मसंपादनस्यासाध्यत्वात्, प्रमाणान्यत्वावलोकितव्यानि पूर्वतः प्रदत्तानि ।

अपिचानधीतविद्यानां द्विजातीनां राज्ञा दण्ड्यत्वमपि प्रतिपादितं धर्म-
शास्त्रकारैरधःस्थप्रमाणजालेनैव ।

यथा पराशरः—

“अनृता ह्यनधीयाना यत्र भैक्षप्रचरा द्विजाः ।

तं ग्रामं दण्डयेद्वाजा चौरभक्तप्रदो हि सः” ॥

वशिष्ठोऽपि,—

“अत्रता ह्यनधीयाना यत्र भैक्ष्यचरा द्विजाः ।

तं ग्रामं दण्डयेद्राजा चौरभक्तप्रदो हि सः” ॥

प्रोक्तप्रमाणद्वयस्थानधीयाना इति विशेषणपदस्य भैक्ष्यचरविशेषणसाह-
चर्यादनधीतजीविकानिर्वाहकविद्यारूपोऽर्थो बोद्धव्यः । अतो द्विजानामुभय-
विधविद्याध्ययनं सदैव करणीयं । किन्त्वापत्सम्भावना निषिद्धाया-अपि-
यस्याः कस्याश्चिद्विद्याया द्विजातिकर्तृकाध्ययनस्य धर्मशास्त्रकारैरभ्यनु-
ज्ञातत्वाद्विदेशीयविद्याशिक्षानुष्ठानं न दोषाधायकमिति राज्ञान्तः । न च-
निम्नतमजातेरध्ययनं धर्मशास्त्रविरुद्धमिति वाच्यं । आपदि नीचाध्ययनस्य-
शास्त्राभ्यनुज्ञातत्वात् । एतत्तु नीचाध्यापनस्योपलक्षकम् । एतदीयप्रमाणानि-
पूर्वतः प्रदत्तानि । यत्तु “न स्तेच्छभाषां शिक्षते”ति वशिष्ठवचनप्रदर्शनेनैव-
स्तेच्छविद्याध्ययने विरोधमुत्पादयन्ति, तत्तुच्छं । निषिद्धविद्यापठनस्या-
पद्यभ्यनुज्ञातत्वात् यवनीयराजत्वावसरतस्तच्छिक्षायाः शिष्टैरादृतत्वाच्च ।

अत एतत्-प्रमाणानामनापत्कालविषयकत्वमिति बोद्धव्यं । किन्तु-
प्रायशो विनापि भारतभिन्नदेशान्तरगमनं न सम्भवति बहुविषयककौशला-
धायकविद्याध्ययनम् । तत्तु शिक्षाद्युद्देश्यकपोतकरणकसमुद्राधिकरणक-
गमनानुकूलकृत्याश्रयार्थत्वमपेक्षते । अत्र परस्परं विवदन्ते प्रधानतमा-
विद्वांसः । अत्रैके पापविनाशपूर्वकशुभादृष्टोत्पादनकरणकसमुद्रगमनमपि-
विद्यायान्यत्र समुद्रगमनमनिषिद्धं कलावर्थापयन्ति । अपरे तु सकलविषयक-
समुद्रगमनं निषेधन्ति । तन्मतद्वयं तु विविदुषूणांमाकाङ्क्षानिरसनाय यथाक्रम-
मतप्रदर्श्यते ।

“शोधितस्यापीत्यनेन कृतप्रायश्चित्तस्यैव संग्रहपदवाच्यव्यवहार्यतानिषेधेन
यत्र विषये समुद्रनौयानं निषिद्धं तत्रैव विषये कृतप्रायश्चित्तस्याप्यसंग्रह-
इति प्रतिपादितम् । अत्र शोधितत्वोक्तौत्र प्रायश्चित्तनिमित्तीभूतपापनिश्चय-
आक्षिप्यते ।

तन्निश्चयश्च पापावेदकशास्त्रादेव, समुद्रगमनमात्रे च कुत्रापि शास्त्रे प्रायश्चि-

साध्यदर्शनान्न तस्य निषिद्धता, किन्तु तद्गमनकाले स्नेच्छादिस्पृष्टजलान्न-
सेवन एव तत्पापापनोदाय तु कृतेऽपि प्रायश्चित्ते न तदुयातुः संग्रह-
इत्येवं कल्पयितुमुचितम् । शोधितस्यापीति पदस्वारस्यात् । अन्यथा-
समुद्रनौगमनमात्रे संग्रह इत्येवाभिदध्यात् । न च तथाभिहितम् । न च-
समुद्रयात्रास्वीकारः कमण्डलुविधारणमित्युपक्रम्य “इमान् धर्मान् कलियुगे
वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः” इति बृहन्नारदीयवचने समुद्रयात्रास्वीकारस्य कलौ-
निषिद्धतयोक्तेर्निषिद्धातिक्रमे च,—

“विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात् ।

अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति” ॥

इति याज्ञवल्करस्मृतौ क्रमशस्तथाचरणे पातित्यप्रतिपादनात् तद्विषय-
एव प्रायश्चित्ताचरणसम्भवेन तत्रैव शोधितस्यापीत्यस्यावकाश इति वाच्यम् ।
बृहन्नारदीयवचने उपसंहारे । “इमान्, धर्मान्” इत्युक्तेर्धर्मरूपसमुद्रयात्रा-
स्वीकारस्यैव कलौ निषेधात् वाणिज्यराजाज्ञादिनिमित्तकस्य तस्य निषेधा-
भावेन तद्विषयकत्वासम्भवात् । स्मर्यते च ब्रह्महत्यादिपापापनोदनार्थं समुद्र-
गमनं पराशरेण प्रायश्चित्तप्रकरणे,—

“शतयोजनविस्तीर्णं शतयोजनमायतम् ।

रामचन्द्रसमादिष्टनलसञ्चयसञ्चितम् ।

सेतुं दृष्ट्वा समुद्रस्य ब्रह्महत्या व्यपोहति” ॥

इत्युक्तेन न चाप्यत्र समुद्रसेतुदर्शनस्यैव ब्रह्महत्यानाशकत्वं शङ्क्यम्,
समुद्रयात्रास्वीकारं विना शतयोजनायतस्य सेतोर्दर्शनासम्भवेनाक्षेपेणैव तद्-
गमनलाभात् ।

अन्यथा सेतोर्यत्किञ्चिदंशमात्रस्य तथात्वे “शतयोजनमायत”मिति
विशेषणं निरर्थकं स्यात् ।

तथा च शतयोजनविस्तारायतसेतुवन्धदर्शनस्यैव प्रकृतब्रह्महत्यापाप-
नाशकत्वम् । अतएव “यो भूय आरभते तस्य फले विशेषः” इति

जैमिनिना सम्यगायासे फलवाङ्मयं निर्णीतम् । निर्णीतं च ऋग्वेदभाष्ये-
माधवाचार्येण सम्यगायासादिनालुठिताश्वमेधाद्यपेक्षया तत्तद्व्यञ्जविद्यावोधक-
वेदाध्यायिनोऽतिदिष्टब्रह्मवधादिनाशकत्वम् ।

एवं च प्रकृतब्रह्महत्याया अपनोदनार्थं शतयोजनदीर्घविस्तृतसेतु-
दर्शनं स्मृतौ विहितम् । तेनैव च समुद्रनौगमनमर्थापत्तिरुच्यते । एवं द्वारव-
त्यादितीर्थयात्राङ्गमपि समुद्रयानगमनमर्थापत्तिप्रमाणरूपम् । एवं च-
ईदृशसमुद्रयानस्यैव धर्मरूपतया विहितस्य कलौ निषेधो बृहन्नारदीयवचने-
कमण्डलुविधारणादिभिः पुण्यापरपर्यायधर्मसाधनत्वेन धर्मरूपैः समभि-
व्याहारेण पठितत्वात् धर्मस्यैव समुद्रयानस्य निषिद्धत्वोच्यते ।

“प्रायेण समानरूपाः सहचरा भवन्ति” इति न्यायात् ।

एतेन बृहन्नारदीये “समुद्रयात्रास्वीकार” इति पाठे रघुनन्दनमाधवा-
चार्यादिवहुनिबन्धकारसम्मतं स्थितं निर्णयसिन्धौ समुद्रयातुः स्वीकार-
इति काचित्कपाठस्तु अनाकरोऽनुचितश्च । तथासति समुद्रयातुर्जनस्य-
स्वीकाररूपव्यवहारस्य धर्मरूपत्वाभावेन “इमान् धर्मान्” इत्यभिधानस्या-
युक्तत्वापत्तेः । ततश्च धर्मार्थसमुद्रयात्रास्वीकारस्यैव निषिद्धतया वाणिज्य-
राजाज्ञादिनिमित्तकस्य तस्य कुत्राप्यनिषेधात् तत्समये स्तेच्छादिगुरुतर-
संसर्गे सन्ध्यावन्दनादित्यागे च तत्पापपनोदनार्थं शोधितस्य (कृतप्राय-
श्चित्तस्य) न संग्रह इत्यत्रैवादित्यपुराणतात्पर्यम् । यथा च “कामतो-
ऽव्यवहार्यस्तु” वचनादिह जायते । इति याज्ञवल्क्येन पातकविशेषे प्राय-
श्चित्ताचरणेऽपि अव्यवहार्यताभिहिता । तत्समानन्यायादत्रापि प्राय-
श्चित्ताचरणेऽपि न व्यवहार्यतेति युक्तमुत्पश्यामः । एवं च समुद्रनौगमन-
काले सन्ध्यादिकर्तुं स्तेच्छादिभिर्गुरुतरं संसर्गमकुर्वतश्च प्रायश्चित्तज्ञापक-
शास्त्राभावात् नाव्यवहार्यता । नापि प्रायश्चित्ताचरणम् ।

ततश्च,—

“उषित्वा यत्र कुचापि स्वधर्मं प्रतिपालयन् ।

षट् कर्माणि प्रकुर्वीरन् इति धर्मस्य निश्चयः ॥”

इति स्मृतौ यत्र कुत्रापि वासेऽपि स्वधर्मानुष्ठाने पापशून्यत्वमुक्तं सूपपन्नम् । अतएव कलौ वाणिज्यार्थं समुद्रगमने शिष्टाचारोऽपि दृश्यते । तथाहि-कलियुगनृपवत्सराजामात्ययौगैश्वरायणवाभ्रवरयोर्युद्धार्थं वत्सराजाज्ञया समुद्र-यानं रत्नावलीनाटके वर्णितम् । वर्णितं च भाषाचण्डीपुस्तके श्रीमन्ताभिध-वणिजस्तत्पितुश्च इतो-वङ्गदेशात् सिंहलगमनं । न च तद्गमनं तदा केनापि-विगीतम् । यदि तद्-विगीतं स्यात्, तदा ते हि शिष्टाः कथं तत्-कुर्युः । इदानींतनानां विगानं तु स्नेच्छभूरिसंसर्गाशङ्कयैवेति । तन्मू-लकमेवेदानीमप्यन्यैर्दक्षिणालैः शिष्टैर्वाणिज्याद्यर्थं सिंहलादिगमनमनुष्ठी-यते । अतः समुद्रयानगमनमात्रं निषिद्धमिति रिक्तं वचः । ततश्च धर्मार्थ-समुद्रयानगमनमेव कलौ निषिद्धमित्यायातम् । तद्-गमनकाले च यदा स्नेच्छा-दिभिर्गुरुतरसंसर्गः सन्त्यादित्यागश्च, तदैव प्रायश्चित्ताचरणेऽपि द्विजानामव्यव-हार्यता शूद्राणां तु प्रायश्चित्ताचरणे व्यवहार्यतैव द्विजपदस्वारस्यात् । अन्यथा-लोकस्याधौ त्वित्यभिदध्यात् । इत्येव द्विजेभ्यः शूद्राणां विशेष इति दिङ्-मात्रमुपदर्शितमित्येके आहुः ।

अपरं तु कलियुगे द्विजानां समुद्रयानं सामान्यतो धर्मशास्त्रनिषिद्धं न वेति, -शास्त्रनिषिद्धत्वेऽपि पातित्यहेतुर्न वेति, पातित्यहेतुत्वे तस्य प्रायश्चित्तमस्ति-नवेति, अस्तिचेत्तादृशप्रायश्चित्तेन परिपूतस्य समुद्रयायिसामान्यस्य संसर्गः-सामान्यतः शास्त्रनिषिद्धो नवेति च, चतुर्धा विप्रतिपत्तयः सन्ति । तत्र प्रथम-विप्रतिपत्तौ कलियुगे द्विजानां समुद्रयानं सामान्यतो धर्मशास्त्रनिषिद्धमिति-सिद्धान्तः । तथाहि कलिवर्ज्यप्रकरणे “पराशरमाधवीयस्मृतिसंग्रहयोर्द्विज-स्याधौ तु निर्याणं शोधितस्यापि संग्रहः” इति, स्मृतिसंग्रहे,—“समुद्रयान-स्त्रीकारः कमण्डलुविधारणमि”ति । मदनपारिजाते “समुद्रयात्रास्त्रीकारः-कमण्डलुविधारणमि”त्याद्यनेकवचनैः सामान्यतः समुद्रयानस्यैव निषेधात् ।

न च बोधायनसूत्रे,—“पञ्चधा विप्रतिपत्तिर्दक्षिणतस्तथोत्तरतो यानि-दक्षिणतस्तानि व्याख्यास्यामो यथैतदनुपनीतेन सह भोजनं पर्युषितभोजनं-मातुलपितृष्वसृदुहितपरिणयनमित्यथोत्तरत ऊर्णाविक्रयः शीधुपानमुभयतो-दङ्गिर्व्यवहार—आयुधीयकं समुद्रयानमितीतरदितरस्मिन् कुर्वन् दुष्यतीतरदि-

तरस्मिन्” तत्र तत्र देशप्रामाण्यादित्यनेन समुद्रयानस्योत्तरीयद्विजधर्मत्वेनोक्ता-
वौत्तरीयद्विजकर्तृकसमुद्रयाननिषेधासम्भवेन दाक्षिणात्यद्विजकर्तृकसमुद्रयान-
मात्रनिषेधस्यैव द्विजस्याव्यावित्यादिवचनात्पर्यविषयत्वाङ्गीकारावश्यकतया-
न समुद्रयानसामान्यस्य शास्त्रनिषिद्धत्वमिति वाच्यम् । उक्तबोधायनसूत्रे-
समुद्रयानस्योत्तरीयद्विजधर्मत्वेन प्रतिपादनं कलियुगेतरयुगाभिप्रायेणेति-
वक्तव्यम् । न च सहपठितानामूर्णाविक्रयशीधुपानादीनां कलिधर्मत्वेन-
समुद्रयानस्यापि कलिधर्मत्वमेव वक्तुं शक्यम् ।

आयुधीयकस्य कलिनिषिद्धस्यापि सह-पाठात् । आयुधीयकं शस्त्रधारणं
तत् ब्राह्मणानां कलियुगे निषिद्धम् ।

तथाच वैद्यनाथीये,—

ब्राह्मणानामापद्धत्तिकथनावसरे असम्भवे त्वापदि क्षत्रियादिद्विर्हिंसा-
प्राया वर्जनीया ।

“आततायिद्विजाग्रग्राणां धर्मयुद्धेन हिंसनम्” ।

“आपद्धत्तिर्द्विजाग्रग्राणामश्वस्तनिकता तथे”ति कलौ निषिद्धत्वात् ।

“क्षत्रहत्या वैश्यहन्तिः प्रशस्ता स्यात् कलौ युगे” । इत्याश्वलायनस्मरणा-
च्चेत्यादिना शस्त्रधारणरूपायुधीयकस्य हिंसाप्रायश्चित्तियहन्तिस्वरूपतया तस्य-
कलिनिषिद्धत्वं कलिवर्ज्यप्रकरणपठितेन आततायीत्यादिवचनेनाश्वलायनस्मृत्या-
च समर्थितम् । अतः कलिनिषिद्धेनायुधीयकेन सहपाठात् समुद्रयानस्यापि-
कलिनिषिद्धत्वमेव । न च विनिगमनाविरह इति वाच्यम् । उक्तबोधायनसूत्रस्य-
कलियुगेतरयुगसाधारणायुधीयकादिधर्मप्रतिपादकतया कलियुगधर्ममात्रप्रति-
पादकत्वाभावेन कल्यादिपदसमभिव्याहृतत्वाभावेन च तदपेक्षया उक्तकलि-
वर्ज्यप्रकरणपठितानां द्विजस्येत्यादिवचनानां नियमतः कलिवर्ज्यधर्मबोधनार्थमेव-
प्रवृत्ततया कल्यादिपदसमभिव्याहृतत्वेन प्रावच्यस्यैव विनिगमकत्वात् । उक्त-
बोधायनसूत्रे आयुधीयकसमुद्रयानयोः कलिनिषिद्धयोरुपादानं कलियुगेतर-
युगाभिप्रायकमेवेति कल्यवच्छन्नद्विजकर्तृकसमुद्रयानसामान्यस्य शास्त्रनिषिद्धत्वं-
युक्तमेवेति ।

अथ द्वितीयविप्रतिपत्तिनिषेध-कोटिवादिन उक्तरीत्या समुद्रयानस्य कलि-
निषिद्धत्वेन प्रत्यवायहेतुत्वेऽपि न तस्य पतनहेतुत्वं सम्भवति । पतनहेतुषु-
महापातकेषु तत्तुल्येषु च पातकेषु मनुयाज्ञवल्करपरशरादिभिः समुद्रयानस्या-
परिगणितत्वात् ।

प्रकृते तु समुद्रयानविषये प्रत्यवायविशेषाश्रयणात् प्रायश्चित्तविशेषाविधा-
नाच्च न तस्य पातित्यहेतुत्वमित्याहुस्तत्र । बोधायनाचार्य्येऽसु अथ पतनीया-
नीति प्रतिज्ञाय समुद्रयानं ब्राह्मणन्यासापहरणमित्याद्युपन्यासात्समुद्रयानस्य-
पतनीयत्वं कण्ठरवेणोक्तम् । न च बोधायनसूत्रे, पतनीयशब्दप्रयोगानुपपत्ति-
रिति शङ्क्यम् । उदाहरिष्यमाणनीचाभिगमनमित्यादि याज्ञवल्करवचनेऽभ्या-
सानपेक्षया पतनहेतुत्वपि पतनीयशब्दप्रयोगात् । किञ्च “नीचाभिगमनं-
गर्भपातनं भर्तृहिंसनम् । विशेषपतनीयानि स्त्रीणामेतान्यपि ध्रुव”मिति ।
याज्ञवल्करवचनव्याख्यानावसरे विज्ञानयोगिभिः,—अपिशब्दात् पुरुषस्य-
यानि पतननिमित्तानि महापातकातिपातकसमपातकानुपातकान्यभ्यस्तानि-
चोपपातकानि तान्यपि स्त्रीणां ध्रुवं निश्चितम् पतनकारणानि भवन्तीति-
व्याख्यानात् ।

उपपातकस्येवाभ्यासापेक्षया पतनहेतुत्वं ततः पूर्वोपदिष्टानां गुरुतराणां-
अनुपातकसमपातकातिपातकमहापातकानां सकृदनुष्ठानेनैव पतनहेतुत्व-
मित्याविष्कृतं । अतः समुद्रयानस्य अभ्यासं विनैव पतनहेतुत्वं सिद्धम् ।
यदि च महापातकानामेव पतनहेतुत्वमितरेषां तु यावताभ्यासेन-
तत्तुल्यत्वं तावदभ्यस्तानामेवेति समुद्रयानस्य वैद्यनाथदीक्षितैरपि पातक-
मध्यपाठेऽपि स्मृतौ कुत्रापि अतिपातकत्वानुक्तेः । यदनुक्तं तत्प्रकीर्णक-
मिति विष्णुवचनोक्तरीत्या प्रकीर्णकत्वमङ्गीकृत्य यथा दिवा स्वापादीनामत्यल्प-
प्रायश्चित्तापनोद्यत्वेन न पतनहेतुत्वं सम्भवतीत्याग्रहः । तदापि वक्ष्यमाण-
रीत्या इदानीन्तनसमुद्रयानस्य कामकृतत्वद्विरावृत्तत्वाभ्यां बोधायनसूत्रोक्त-
त्वेवार्षिकप्रायश्चित्तस्य चातुर्गुण्येन द्वादशवार्षिकत्वसम्पत्त्या महापातकतुल्यत्व-
सम्भवेन भवदुक्तरीत्यापीदानीन्तनसमुद्रयानस्य पतनहेतुत्वं सिद्धमिति विधि-
कोटिरेव ज्यायसीत्यलं पल्लवितेन ।

अथ तृतीयविप्रतिपत्तिनिषेधकोटिवादिन उक्तरीत्या समुद्रयानस्य-
पातित्यहेतुत्वेऽपि माधवविज्ञानयोगिप्रभृतिभिर्धर्मशास्त्रनिबन्धनकर्तृभिः प्राय-
श्चित्तस्यानिर्णीतत्वान्नाख्येव प्रायश्चित्तमित्याहुः । तन्न । कलौ द्वीपान्तरे द्विजा-
नामभावेनास्माद्वीपाद्वीपान्तरगमनसाध्यकार्याणामभावात्समुद्रयानस्य विशेषतः
प्रसक्त्यभावमभिप्रेत्य माधवादिभिः प्रायश्चित्ताकरणेऽपि वैद्यनाथदीक्षितैः-
प्रथमं प्रायश्चित्तनिमित्तविभजनावसरेऽतिपातकेषु बोधायनोऽपीतुपक्रमस्य समुद्र-
यानं ब्राह्मणन्यासापहरणमित्यादि बोधायनसूत्रलेखनेन समुद्रयानस्याति-
पातकत्वं प्रकटय्य प्रायश्चित्तनिरूपणावसरे पतनीयानां प्रायश्चित्तमाह बोधायन-
इतुपक्रमस्य समुद्रयानं ब्राह्मणन्यासापहरणं भूयन्तृतं सर्वापण्यैर्व्यहरणम् ।
शूद्रसेवनं, शूद्राभिगमनम् ।

यद्य शूद्रायामभिजायते तदपत्यञ्च भवति तेषाञ्च निर्देशश्चतुर्थकालं-
मितभोजिनः स्युरपोऽभ्युपेयः सवनानुकल्पः स्थानासनाभ्यां विहरन्त-एते-
त्रिभिर्वर्षैस्तदपहरन्ति पापमिति बोधायनसूत्रमुदाहृत्य शूद्राभिगमन-इदं-
महत्प्रायश्चित्तं ऋतूपगमनेऽपत्योत्पत्तौ द्रष्टव्यं ।

“वृषलीफेनपीतस्य निःश्वासोपहतस्य च ।

तस्यां चैव प्रसूतस्य निष्कृतिर्न विधीयते” ॥

इतिस्मृतेरितिलेखनेन उक्तबोधायनसूत्रगतं शूद्राभिगमनमित्यस्यैव शूद्रायाम-
पत्योत्पत्त्याधायक-ऋतुगमनरूपविषयविशेषपरिकल्पनेनेतरिषां समुद्रयान-
मित्यादीनां यथाश्रुतार्थपरतया समुद्रयानादिषु असङ्कोचेनैव त्रैवार्षिकप्राय-
श्चित्तं विधेयमित्यभिप्रायः सुटीकृतः । न च शूद्राभिगमनमात्रे प्रायश्चित्त-
निर्णायकत्वमिति वाच्यम् । उपक्रमे पतनीयानामिति बहुवचनविरोधापत्तेः ।
तस्मात् समुद्रयाने बोधायनोक्तत्रैवार्षिकप्रायश्चित्तमेव विधेयमिति वैद्यनाथा-
भिप्राय इति सिद्धम् । तादृशं प्रायश्चित्तं अकामकृतसमुद्रयाने, कामकृतसमुद्र-
याने तु ऋग्विधाने, सकृत्कृतसमुद्रयाने तु प्रायश्चित्तमुदाहृतम् ।

“बहुकालादभ्यसने प्रायश्चित्तं तु नैव हि ।

कलौ द्विजोऽप्यौ याने तु प्रायश्चित्तेन शुध्यति” ॥

वर्षतयं व्रतं कृत्वा सहस्रञ्च हिरण्यकम् ।

ब्राह्मणेभ्यः प्रदद्याच्च शक्त्या गोदानमेव च” ॥

इत्यादिना,

आश्वलायनोक्तगोदानसहस्रहिरण्यदानसहितत्रैवार्षिकव्रतम्,—वा,

मन्वङ्गिरोव्याघ्रवचनोक्तरीत्या बोधायनोक्तत्रैवार्षिकव्रतं द्विगुणीकृत्य षड्-
वार्षिकव्रतं वा प्रायश्चित्तं विधेयम् । एवञ्च विवक्षितविवेकेन समुद्रयाने-
तत्तत्प्रायश्चित्तानि शास्त्रीयाणि सन्त्येवेति विधिकोटिरेव ज्यायसीत्यलं
प्रसक्तानुप्रसक्त्या ।

अथ चतुर्थविप्रतिपत्तिनिषेधकोटिवादिनः कृतप्रायश्चित्तसमुद्रयायि-
सामान्यस्य संसर्गः सामान्यतः शास्त्रनिषिद्धो न भवति, परन्तु शास्त्र-
सम्मत एव । तथाहि,—“एनस्त्रिभिरनिर्णिकैर्नाथं किञ्चित्-समाचरेत् ।
कृतनिर्णैजनाथैव न जुगप्सेत कर्हिचिदि”ति, मनुवचनेन कृतप्रायश्चित्तपापि-
संसर्गकर्त्तव्यतायाः सूचितत्वात् तादृशमनुवचनतात्पर्यनिर्णायककुल्लूकभट्ट-
व्याख्यायां पापकारिभिरकृतप्रायश्चित्तैः सह दानप्रतिग्रहादिकमर्थं किञ्चि-
न्नानुतिष्ठेत् । कृतप्रायश्चित्तान्नैव कदाचिदपि पूर्वकृतपापत्वेन निन्देत्, किन्तु-
पूर्ववद्वावहरेदित्यनेन कृतप्रायश्चित्तपापिनां संव्यवहार्यत्वस्य स्फुटं प्रति-
पादनाच्च । न च “द्विजस्याब्धौ तु नौयातुः शोधितस्यापि संग्रहः” इति वृद्ध-
पराशरवचनेन समुद्रयानरूपपापविशेषविषये कृतप्रायश्चित्तस्यापि तादृश-
पापिनः असंशयान्नत्वप्रतिपादकत्वेन विरोधात् । निरुक्तमनुवचनस्य समुद्र-
यानरूपपापतिरिक्तपापविषयकत्वस्याङ्गीकरणीयतया कृतप्रायश्चित्तसमुद्रयायि-
संसर्गस्य स्मृतिनिषेधत्वेन न शास्त्रसम्मतत्वमिति वाच्यम् । आहवर्ज्यब्राह्मण-
निरूपणावसरे माधवीयवैद्यनाथीयोदाहृतम्,—

“अगारदाहौ गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी ।

समुद्रयायी वन्दी च तैलकः कूटकारकः” ॥

इति यन्मनुवचनं, यच्च—

“समुद्रयायी वान्ताशी केशविक्रयिणश्च ये ।

अवकीर्णी च वीरघ्नो गुरुघ्नः पित्रघातकः”॥

इति यमवचनम् ।

ताभ्यां समुद्रयायिनः आहवर्ज्यत्वप्रतिपादनं निरुक्तद्विजस्येत्यादिवचनस्य सामान्यतः समुद्रयायिसंसर्गनिषेधपरत्वेनोपपद्यते । अप्रसक्तस्य प्रतिषेधानर्हत्वात् । अतो निरुक्तद्विजस्येत्यादिवचनगतसंग्रहपदस्य आहनिमन्त्रणीयत्वरूपसंसर्गविशेषपरत्वमङ्गीकृतं । निरुक्तमनुयमवचनसमानार्थकत्वमुपपादनीयम् । अथवा निरुक्तद्विजस्येत्यादिवचनगतद्विजपदस्य वा अवकीर्णिनैटकादिविजविशेषपरत्वमङ्गीकृत्य,—

“नैष्ठिकानां वनस्थानां यतीनां चावकीर्णिनाम् ।

शुद्धानामपि लोकेऽस्मिन् प्रत्यासत्तिर्न विद्यते” ॥

इति माधवाचार्योदाहृतकौशिकवचनसमानार्थकत्वमुपपादनीयं । तथाच, समुद्रयायिसामान्यप्रतियोगिकआहनिमन्त्रणीयत्वरूपसंसर्गविशेषस्य वा अवकीर्णिनैष्ठिकादिरूपसमुद्रयायिविशेषप्रतियोगिकसंसर्गसामान्यस्य वा उक्तद्विजस्येत्यादिवचनेन निषेधान्न समुद्रयायिसामान्यसंसर्गः सामान्यतः शास्त्रनिषिद्ध इति, तदितरसमुद्रयायिसंसर्गः कर्त्तव्यत्वेन निरुक्तमनुवचनसम्मत एव । तथाचोक्तद्विजस्येत्यादिस्मृत्या कामतस्त्रिवाराधिकतयाऽनुष्ठेयमानसमुद्रयानवत्पुरुषसंसर्गस्यैव निषिद्धतया अकामतः कामतो वा सकृदनुष्ठितसमुद्रयानवत्पुरुषसंसर्गस्योक्तपराशरस्मृतिमाधवाचार्यकृततदव्याख्याभ्यां कर्त्तव्यत्वं शास्त्रसम्मतमिति सिद्धमित्याहुः । तन्न । कलिवर्ज्यप्रकरणेषु माधवीयस्मृतिसंग्रहयोर्“द्विजस्याब्धौ तु निर्याणं शोधितस्यापि संग्रह” इति । हेमाद्रावादित्यपुराणे,—वृद्धपराशरस्मृतावपि, “द्विजस्याब्धौ तु नौयातुः शोधितस्यापि संग्रह”—इति । वृद्धन्नारदीये,—“समुद्रयातुः स्वीकारः कमण्डलुविधारण”मित्युदाहृतैर्वचनैः सामान्यतः समुद्रयायिसंसर्गस्य निषिद्धत्वात् । ननूक्तद्विजस्येत्यादिवचनानां समुद्रयायिसंसर्गसामान्यनिषेधपरत्वमेव न सम्भवति ।

तथाहि,—

स्मृतिकर्तृभिः संसर्गसामान्यप्रतितीच्छया संसर्गः संकरः संव्यवहारः प्रत्यापत्तिः संप्रयोगः संवसेदित्याद्यानुपूर्वकाण्येव पदानि तत्र तत्र प्रयुक्तानि न तु संग्रहस्वीकारशब्दौ । तयोर्मध्ये संग्रहशब्दः ग्रह-उपादाने इत्यस्माद्वातोः समित्युपसर्गपूर्वकाज्ञावघजन्ततया निष्पन्नः । स्वीकारशब्दस्तु अस्त्वं स्वं सम्पद्यते तं करोतीति व्युत्पत्तिमहिम्ना आह्वनिमन्त्रणीयत्वादिरूपसंसर्गसामान्यम् । इत्युक्तद्विजस्येत्यादिवचनेषु तादृशसंग्रहस्वीकारशब्दयोरेवोपादानेन समुद्रयायिप्रतियोगिकआह्वनिमन्त्रणीयत्वादिरूपसंसर्गविशेषनिषेधपरत्वात्तेषां न तस्मान्नान्यनिषेधपरत्वमिति चेन्न । सृज् विसर्गे इत्यस्माद्वातोः समित्युपसर्गपूर्वकाज्ञावघजन्ततया निष्पन्नसंसर्गशब्दस्यावयवव्युत्पत्त्या संसर्गसामान्यवाचकत्वेऽपि सप्रयोगसमाचारणसंव्यवहारसंवासप्रत्यापत्तिशब्दानां विभिन्नधातुभ्यो निष्पन्नानामवयवव्युत्पत्त्या संसर्गसामान्यवाचकत्वं न सम्भवतीति । रूढिशक्त्यैवतेषां संसर्गसामान्यवाचकत्वस्याङ्गीकरणीयतया संग्रहस्वीकारशब्दयोरपिरूढिशक्त्यङ्गीकारेण संसर्गसामान्यवाचकत्वसम्भवात् । न च संग्रहस्वीकारशब्दयोः संसर्गसामान्यपरत्वेन इतरत्र स्मृतिषु कापि अप्रयुक्ततया कोषादिष्वप्यपरिदृश्यमानतया न तयोरूढिशक्त्यङ्गीकारः सम्भवतीति वाच्यम् । तयोर्मध्ये संग्रहशब्दस्य कोषादावप्रयुक्तत्वेऽपि बलात्कारादिदुष्टस्वीसंग्रहो विधिचोदित इति सौत्रामण्यामपि सुराग्रहणस्य च संग्रह इत्यनयोः कलिवर्ज्यप्रकरणपठितयोर्वचनयोः संसर्गसामान्यपरतयेवोपात्ततया रूढिशक्त्यङ्गीकारावश्यकत्वात् । बलात्कारादीत्यादिवचनगतसंग्रहपदस्य संसर्गसामान्यवाचित्वञ्च ।

“जारेण जनयेद्गर्भं मृतेऽव्यक्ते गते पतौ ।

तां त्यजेत परे राष्ट्रे पतितां पापकारिणीम्” ॥ इति,

“ब्राह्मणी तु यदा गच्छेत्-परपुंसा विवर्जिता ।

गत्वा पुंसश्शतं याति त्यजियुस्ताञ्च गोचिणः” ॥

इति च पराशरवचनाभ्यां बलात्कारादिना दुष्टानामतएव पतितानां-

स्त्रीणां सम्भाषणादिसंसर्गसामान्यवर्जनरूपत्यागस्यैवोक्तत्वात् सिद्धम् । सौत्रा-
मण्यामपीत्यादिवचनस्य सौत्रामण्यां सुराग्रहणकर्तुः संसर्गः संसर्गसामान्य-
मपि कलौ वर्ज्यमित्यर्थः । तद्वचनगतसंग्रहपदस्य संसर्गसामान्यवाचिता-
त् “ब्रह्महासुरापगुरुतत्पगमाहपितृयोनिस्वन्धगस्तेननास्तिकनिन्दितकर्माभ्या-
सिपतितात्याज्यापतितत्यागिनः पतिता” इति गौतमसूत्रेण, सुरापायिनां-
पतितत्वस्य “न पतितैः सह संव्यवहारो विध्यते” इत्यापस्तम्बसूत्रेण,
पतितप्रतियोगिकसंसर्गसामान्यस्यापि निषिद्धत्वात्-सिद्धा । यदि चावयव-
वृत्तपत्तिमहिम्ना स्त्रीक्रियते, तर्हि संप्रयोगादिशब्दानामप्यविशेषेण संसर्ग-
विशेषवाचकत्वापत्त्या संसर्गसामान्यवाचकशब्दस्यैवाभावापत्तेः । अतः-
संप्रयोगादिशब्दानां रुढिशक्त्या संसर्गसामान्यपरत्वमिव संग्रहशब्दस्यापि
संसर्गसामान्यपरत्वमङ्गीकरणीयम् । एवञ्च तत्प्रतिपादयार्थे प्रयुक्तस्य स्त्रीकार-
शब्दस्यापि संसर्गसामान्यपरत्वमङ्गीकरणीयम् । इतुरभयोः संग्रहस्त्रीकार-
शब्दयोरपि संसर्गसामान्यपरतया तादृशपदघटितनिरुक्तद्विजस्येत्यादिवचन-
जातस्य समुद्रयायिसंसर्गसामान्यनिषेधपरत्वं सिद्धम् ।

तथाच निरुक्तपराशरवचनविरोधाभावादुक्तद्विजस्येत्यादिवचनजातमसङ्कोचे-
नैव स्वार्थं बोधयतीति कलौ सक्तत्कृतासक्तत्कृतकामकृताकामकृतभेदे-
नानेकविधसमुद्रयानवतां कृतप्रायश्चित्ताकृतप्रायश्चित्तभेदेन द्विविधानामपि
द्विजानां संसर्गः सामान्यतो धर्मशास्त्रनिषिद्ध इत्यलं बहुना ।

सम्भविष्यत्येतद्व्यवस्थाद्वयमित्याशङ्क्यात्त्रोदभावितमिदमादितः । व्यवस्था-
द्वयस्यास्य तत्तत्कर्तृणां पाण्डित्याधिकावेदकत्वेऽपि “स्थूणानिखननन्यायेन”
स्वस्वमतदृढीकरणायार्थान्तरं क्रोडीकर्तुं “भूषिकमारणे पर्वतखननमिति”-
न्यायेन वज्रायासमवलम्ब्योदभावयन्ति बुद्धिकौशलमत्र व्यवस्थापकप्रवरा इति
धीः । यदैतादृक्पाण्डित्यं भारतेऽत्राविभूतं, तदारभ्य भारतावनत्यापादकमेत
दित्यनुमीयते भारतीयोन्नतिसम्पादनोन्मुखैः सर्वशास्त्रकोविदैरिदानीन्तनैः ।
निदानमेवैतदत्र । न तावत्प्रायशोऽत्र पूज्यपादैर्महर्षिभिर्निर्मितं स्वस्वधर्म-
शास्त्रं सर्वांशमवलोक्य भारतस्येति सम्भाव्यते । किन्तु यदैवाय्यां आर्यावर्त्त-
स्थापितोपनिवेशस्तद्विषयसमभिवाप्य मनुना स्वायम्भुवेन तद्देशीयाचारव्यवहारं-

गोचरीकृत्यानुष्ठितं वेदधर्मानुगतं मनुसंहितानामकं धर्मशास्त्रमिति निर्धार्यते-
ऽधुनाप्रकृतत्त्वविद्भिः ।

यदैव यथाक्रममेतैर्भारतवर्षस्य विभिन्नविभागाः स्वायत्तीकृतास्तदैव-
तत्तद्देशीयाचारव्यवहारनिस्तूतानि प्रायेण श्रुतितत्स्मृत्याधारकाणि स्वीयस्वीय-
धर्मशास्त्राणि विरचितान्येकैरपरैश्च महर्षिभिः सर्वावयवमवलोकयन्निरिति,
तत्तदग्रन्यप्रमाणैः समर्थ्यते युक्तिरेषा ।

मनुः,—

“आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरिवान्तरं गिर्योराय्यावर्त्तं विदुर्वुधाः ॥
तस्मिन् देशे च आचारः पारंपर्यक्रमगतः ।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरितं शिञ्जेरन्-पृथिव्यां सर्वमानवाः” ॥

अन्यच्च—

“पतत्यर्द्धशरीरस्य यस्य भाय्यां सुरां पिवेत् ।
पतितार्द्धशरीरस्य निष्कृतिर्न विधीयते ॥

इति मनुवचनविसरात् स्फुटतः प्रतीयत-एतच्छास्त्रं तत्रैव निर्मितमिति ।

अङ्गिराः,—

“सर्वेषामेव वर्णानां सूतके मृतके तथा ।
दशाहाक्षुद्धिरथवा इति शातातपोऽब्रवीत्” ॥

भारतस्य विनैवोत्कलं सर्वत्र विप्रादिवर्णानुसारेण मनुक्तदशाहाद्यशौचा-
वलम्बनं, केवलमुत्कले तु सकलवर्णानां दशाहाशौचाश्रयणं, अतः शातातपोक्तं-

धर्मशास्त्रं प्रायेणोत्कलीयाचारव्यवहारमूलकमिति सम्भाव्यते युक्तिकुशलैः ।
देशविशेषे दोषो नास्तीति कल्पतरौ,—

“मत्स्यादास्तु नराः पूर्वे व्यभिचाररताः स्त्रियः ।

उत्तरे मद्यपा नार्यः स्पृश्या नृणां रजस्वलाः ॥

शङ्खजाताः प्रगृह्णन्ति आह्वार्यामभर्तृकाम् ।

अनेन विधिना नैते प्रायश्चित्तमनर्हकाः” ॥

निरुक्तबोधायनसूत्रेऽपि प्रायशोऽवलोक्यन्ते सर्वदेशीयाचारव्यवहाराः ।
अनेनोभयग्रन्थकर्तृकमेतदग्रन्थद्वयं सुस्थिरीक्रियते सकलदेशाचारव्यवहार-
विषयकधर्मशास्त्रमिति । अतस्तदग्रन्थनिर्मादभ्यां भारतस्य सर्वविभाग-
प्रसमीक्ष्य विरचितं धर्मशास्त्रद्वयमेतदिति सुस्थितम् ।

पुनश्चात्र,—

“पतत्यर्द्धशरीरस्ये”ति वचनस्य उत्तरे मद्यपा नार्यः” इति कल्पतरुवाक्येन-
साङ्गं विरोधाशङ्कया तत्परिहारार्थं कल्पतरुवचनं युगान्तरीयविषयकमित्यर्थ-
करणं विनापि सत्यापलापं न किमपि प्रयोजनकमिति प्रमाणयोरनयो-
परस्परविरोधस्य स्फुटतोऽवभासमानत्वात् । अतएव सकलांशे भरतखण्डस्य-
व्यवहारादिकं सदृशीकर्तुं प्रमाणद्वितयस्य तस्य याथार्थ्यपरिहरणे यतमानानां-
प्रेक्षावतामर्थान्तरकरणं पाण्डित्योत्कर्षापादकमपि स्वस्वव्यवस्थागतं, न तु लोके-
तदन्यथाचरणनिरीक्षणात्सर्वैरनुमोदितमेव ।

अत एतदुद्भावनीयायाससहनं न प्रतिभाति समीचीनमिति । यद्-
भवत्वेतद्व्यवस्थाद्वयस्य कलिसामान्यपरतया न कल्पभ्यन्तरवर्त्यापत्कालोपयोगित्वं-
निरुक्तद्विजस्येत्यादिसुनिभाषितेन समुद्रयानादिनिषेधस्य कलिसामान्येऽभ्यनु-
ज्ञातत्वात् । अतोऽर्द्धजरतीन्यायेनैतद्व्यवस्थाद्वितयादरः परिहृत्य इति सिद्धान्तः ।
न च युगान्तरापेक्षया युगेऽस्मिन् भविष्यमाणानानाविधानिष्टसङ्ख्यापेक्षप्रमाणैः
सूचितत्वात् कलिसामान्यमेवापत्समय इति शङ्कम् ।

“चत्वार्यब्दसहस्राणि चत्वार्यब्दशतानि च ।

कलेर्यदा गमिष्यन्ति तदा त्रेतापरिग्रहः” ॥

इति व्यासोक्तवचनेन चतुःशताब्दसहितचतुःसहस्राब्दपरिमितस्य कल्यं-
शस्य त्रिपादधर्माधारभूतत्वेतायुगात्मकत्वेन परिगणिततया कलिसामान्यस्य-
नापत्कालत्वात् ।

आपद्धवृत्तिर्हिजाग्रणामित्यादिवाक्येनैव विप्राणां पूर्वतो व्याख्यातकियत्-
परिमाणकापद्धत्यनवलम्बनस्यातिदिष्टतया कल्यन्तरालेऽप्यपक्षमयस्य सत्तायां-
विवादासदस्वाभावात्, अनेन न कलिसामान्यमेवापक्षमय इति राहान्तः ।
न चास्येदानीन्तनस्य समयस्यानापत्कालत्वमिति शङ्कनीयम् । बहुवासरतो-
भरतखण्डस्य विदेशीयधर्मान्तरावलम्बनरपत्यधीनतया कलिप्रावलयस्य-
शास्त्रीयप्रमाणसुविदितत्वेनापक्षमयत्वात्, कलिप्रवल्गताया आपत्समयत्वाच्च ।
प्रमाणितं चैतदनेन,—

“यदा तु स्लेच्छजातीया राजानो धनलीलुपाः ।

भविष्यन्ति महाप्राप्ते ! तदैव प्रवलः कलिः” ॥

इत्याद्युक्तासतन्ववचनेन । अतोऽनापदि निषिद्धानामप्यापदि विदेशीय-
विद्याध्ययनवाणिज्यादिकरणार्थं पोताधिकरणताकसमुद्गमनजात्यन्तरादि-
संसर्गप्रभृतिधर्माणामनुष्ठानं नापराधापादकमिति धर्मशास्त्रनिकराभिप्रायः ।

केवलं तु तद्गमनविदेशावस्थानाद्यवसरेऽगतिकतया सति सम्भवे सन्ध्यादि-
नित्यकर्मानुष्ठानविसर्जनस्याभक्ष्यभक्षणविजातीयसंसर्गादेश्च प्रोक्तविद्याध्यय-
नादिकार्यसमाप्त्यनन्तरं कृते सति स्वदेशप्रत्यावर्त्तने तत्पापापनोदनाय देश-
कालपात्रदृष्टितः सामान्येन प्रायश्चित्तं विधाय विप्रादिवैश्यः पूतो व्यवहार्यश्चेति
विदुषां परामर्शः । नन्वनिश्चितावधिकस्य कल्यभ्यन्तरपातिनोऽधुनातनापक्ष-
मयस्य विद्यमानतया “निस्तीर्थं तमथात्मानं पावयित्वा न्यसेत् पथि” ।

इत्यादि याज्ञवल्कीयवचनेनोत्तीर्णापत्समयस्याभ्यनुज्ञातप्रायश्चित्तेत्वेन च-
विद्याध्ययनादिकर्मसमापनानन्तरं कथं विप्रादीनां प्रायश्चित्तं विधातव्यमिति-
व्यवस्थापितमिति चेन्न । “अहरहः सन्ध्यामुपासीत” ।

इति श्रुतिप्रामाण्यात् ।

“नानुतिष्ठति यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।

स शूद्रवद्वहिष्कार्यः सर्वस्मात्-द्विजकर्मणः” ॥

इति मनुस्मृत्युक्तवचनबलाच्चाशौचवदापद्यपि सङ्कोचेनापि प्रात्याह्निक-सन्धानुष्ठानस्याभ्यनुज्ञाततयाऽकरणे प्रत्यवायश्चवणाच्चापायान्तरविहीनतया का-दाचित्कतदतिक्रमजन्यपापोपशमनाय कृतेऽपि प्रायश्चित्ते “अधिकं तु प्रविष्टं न च तद्धानिरिति न्यायेन प्रकृतस्यासम्भवेनापि दोषाभावात् । समुद्रनौग-मनादिकाले सन्धादिकर्तुर्विप्रादिवैश्यान्तस्य द्विजस्यापदि प्रायश्चित्तावेदकशा-स्त्राभावान्नपि प्रायश्चित्ताचरणम् । ततश्च “उषित्वा यत्र कुत्रापि स्वधर्मं प्रति-पालयन्नि”ति निरुक्तस्मृतौ यत्र कुत्राप्यवस्थानेऽपि स्वधर्माचरणेन पापशून्यत्व-मुक्तं सूचयन्नम् । “शूद्रस्तु यस्मिन् कस्मिन् वा निवसेद्वृत्तिकर्षित” इति मनुभा-षितवचनस्य जागरूकतया शूद्राणां त्वापदि यत्र कुत्रापि वासेऽपि न प्रायश्चि-त्तानुष्ठानमित्यवधेयम् । अत्राप्ययमेव विशेषः, अनापदि सत्यप्यविहिताचरणे-कृतगुरुतरप्रायश्चित्तस्याप्यव्यवहार्यता । अत्र त्वविहितेऽपि तादृशकर्मानु-ष्ठाने संक्षेपतोऽनुष्ठितप्रायश्चित्तस्य व्यवहार्यता, अपि च सन्धादिनित्यकर्मोप-करणानां तथा धर्मशास्त्रविहिताहारीयद्रव्याणाञ्च सत्यपि प्राप्तिसम्भवे-तदन्यथाचरणजन्यपापोपनुत्तयेऽनुष्ठेयं गुरुतरप्रायश्चित्तम् । तथा तदसम्भवे-गतिकतया तदनुष्ठानस्य धर्मशास्त्राभ्यनुज्ञाततया लघुतरप्रायश्चित्तविधाने न-कापि विप्रतिपत्तिरिति परामर्शः । एवमेव सर्वत्रोक्ता, प्रायश्चित्तविवेचनं तु-सर्वावशेषे वक्तव्यम् । इत्येतदापत्कालविद्यावलम्बनविचारः ।

अथ शिल्पविवेचनम्,—

शिल्पपदं शिल्पातोर्भाववाच्यतावेदकपक्षप्रत्ययसम्बन्धेन सुसम्पन्नं, तत्तु-विद्यान्तर्भूतत्वेऽपि चित्रकरणवस्त्रादिवयनसूपकरणलिखनगृहमन्दिरमूर्त्यादि-निर्माणादिभेदेन नानाविधात्मकत्वप्रदर्शनार्थं प्राधान्येन पृथक्निर्दिष्ट-मन्वादिसंहिताकारैरिति विभावनीयम् । तद्विषयकशास्त्रं चापदि जीविका-परिचालनार्थं स्वदेशे वाल्पायामेन बहुविधाहुतकार्यसम्पादनाय विदेशे हीन-

हीनतरहीनतमाचार्येभ्योऽपि अवश्यमेव सादरं शिचणीयमित्याज्ञप्तं त्रिका-
लज्ञेर्मुनिभिः ।

ततश्च “विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः” ।

इति मनुस्मृत्युक्तं “सर्वतः शिल्पानि समादेयानी”ति प्रमाणं सुसंगतमेव ।
निरुक्तगुरुभ्यः शिचानुष्ठानमेतदर्थं सागरगमनदेशान्तराधिष्ठानादिकं च न-
दोषापादकमित्यत्र पूर्वतो लिखितानि प्रमाणान्यत्र विवेचानि । इति शिल्प-
विचारः ।

अथ भृतिविचारः,—

भाववाच्योद्वोधकक्तिप्रत्ययसाहचर्येण समुद्भूतस्य भृतिशब्दस्य कुल्लूक-
भट्टविज्ञानेश्वरादिभिष्टीकाकारैरुद्भावितो-वेतनादानपूर्वकदासत्वकरणरूपोऽर्थः,
तदपकृष्टक्षत्रियादिजातेः सविधे तदनुष्ठानं विप्रस्थापदि न दोषाधायकमिति-
सकलधर्मशास्त्रनिर्माहभिरभिहितम् । एवं क्षत्रियादेरपि बोध्यम् । न च-
“न श्ववत्या कदाचन” इति मनुवचनप्रामाण्येनैव दासत्वावलम्बनस्य सदैव-
विगर्हितत्वात् कथं प्रेष्यत्वाश्रयणमापदि सुसङ्गतमिति वाच्यम् । क्षत्रियादि-
वृत्तावपि सत्यां सुलभायां न प्रेष्यत्वमवलम्बनीयमित्यत्र पापादृष्टजनकनिषेध-
विधिवोधकेतद्वचनस्य दत्तावकाशत्वाद्वानापत्कालीनवृत्तिनिर्णायकप्रकरण-
पठिततयैतद्वचनस्यापत्समाप्तिरिक्तकालगोचरीभूतत्वात् ।

अन्यथा परस्परवचनविरोधापत्तेः । अत-आपदि क्षत्रियादिवृत्तेः सत्यप्य-
सम्भवे दासत्वं सम्भाश्रयणीयमिति शास्त्रीयराहान्तः ।

इति भृतिविचारः ।

अथ सेवादिविवेकः,—

सेवधातोर्भाववाच्ये अल्पप्रत्ययस्ततश्चाप्, अनया रीत्या सेवेतीति पदं सुसम्पन्नं,
तस्या-अभिधेयाः भजनाराधनोपभोगाश्रयरूपाः, तन्मध्यान्तर्गताश्रयरूपार्थस्य-
साचिध्येन कुल्लूकभट्टेन पराज्ञासम्पादनमिति विज्ञानेश्वरेणापि परचित्तानु-
वर्त्तनमिति चार्थापितं । उभयोः शब्दतो विभिन्नत्वेऽपि अर्थतोऽभिन्नार्थ-
त्वमित्यवधेयं । आपदि तु सा जीविकानिर्वाहोपयोगिनीत्यभ्यनुज्ञाता मन्वा-
दिभिः । ननु सेवाया दासधर्मान्तरतया सति भृत्यन्तर्गतत्वेऽपि किमस्याः-

पार्थक्येनाभिधाने सुनिदानमिति चेदुच्यते—श्रुत्यां त्वेकस्वामिनः सकाशाद्देतना-
दानपूर्वकदासत्वावज्ञस्वनेन तदायत्तत्वं । अत्र तु बहुस्वामिच्छन्दानुवर्त्तित्वेन-
यथानिर्दिष्टसमयं तदाज्ञापरीपालनेन च द्रव्यार्जनं न तेषामधीनत्वमिति
पृथक्निर्देशस्य तात्पर्यमिति ज्ञेयम् ।

इति सेवाविचारः ।

अथ गोरक्षाविचारः,—

गवां रक्षा पशुपाल्यमिति कुल्लूकभट्टः । सेव गोपालकवृत्तिः । स्वानुष्ठितया-
तया कुटुम्बपरिपालनमापदीति शास्त्रकारैरभ्यनुज्ञातं । तत्पालनवृत्तिस्तु-
द्विविधा, स्त्रीयगोरक्षणं परेषां गोरक्षणं च, एतयोरभ्यन्तरे स्वपालितगोब्रजादुत्-
पन्नक्षीरादिद्रव्यविक्रयणेन परकीयगोचारणरूपपरिपालनेन चोपार्जित-
धनादिना परिजनपोषणं न वृजिनजनकमत्रेति बोध्यम् ।

इति गोरक्षाविचारः ।

अथ विपणिविचारः,—

वि + पण् + इज् विपणिः, स एव वणिग्वृत्तिः, स्वानुष्ठितयानया प्रत्यहं-
नित्यकर्मानुष्ठानपूर्वकं कुटुम्बस्वस्वर्द्धनं करणीयमापदीत्यत्र न केषामपि धर्म-
शास्त्रकाराणां परिदृश्यते वा विप्रतिपत्तिः, अत एतद्वृत्त्यवलम्बनं-निर्वाधमेव ।
किन्त्वत्र वैश्यवृत्त्या जीवतो ब्राह्मणस्य यदापणीयं, तदाह मनुः,—

“इदं तु वृत्तिवैकल्यात्त्यजतो धर्मनैपुणं ।

विट्पण्यमुद्धृतोद्धारं विक्रेयं वित्तवर्द्धनं ॥

सर्वान् रसानपोहेत कृतान्नं च तिलैः सह ।

अश्मनो लवणं चैव पशवो ये च मानुषाः ॥

सर्वं च तान्तवं रक्तं शाणक्षोमादिकानि च ।

अपि चेतस्युररक्तानि फलमूलं तथौषधीः ॥

अपः शस्त्रं विषं मांसं सोमं गन्धांश्च सर्वशः ।

क्षीरं क्षौद्रं दधि घृतं तैलं मधु गुडं कुशान् ॥

आरण्यांश्च पशून् सर्वान् दंष्ट्रिणश्च वयांसि च ।

मयं नीलिं च लाक्षां च सर्वांश्चैकशफांस्तथा ॥”

“इदं त्विति ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य चात्मीयवृत्तेरसंभवे धर्मं प्रति यथोक्तनिष्णातत्वं त्यजतो वैश्येन यदि विक्रेतव्यं द्रव्यजातं, तद्वच्यमाणवर्जनीयवर्जित-धनवृद्धिकरं विक्रेयं । तानि वर्जनीयानीत्याह सर्वानिति । सर्वान् चोद्यमानान् रसान् तथा सिद्धान्नतिरुपावाणक्षत्रणपशुमनुयान् न विक्रीणीत । रसत्वेनैकलवणस्य निषेधसिद्धौ विशेषेण निषेधो दोषगौरवज्ञापनार्थः । तच्च प्रायश्चित्तगौरवार्थमेव । एवमन्यस्यापि पृथङ्निषेधो व्याख्येयः, - सर्वमिति, सर्वं तन्तुनिर्मितं वस्त्रं कुसुमादिना रक्तं वर्जयेत् । शण्चुमतन्तुमयान्याविक्रलोमभवानि च यदा लोहितान्यपि भवेयुस्तथापि न विक्रीणीत । तथा जलमूलगुडुच्यादीनि वर्जयेत् । अप-इति,-

जललोहविपमांससोमक्षीरदधिघृततैलगुडदर्भान् तथा गन्धवन्ति सर्वाणि-कर्पूरादीनि क्षौद्रं माक्षिकं मधु मधूच्छिष्टं “शस्त्रासवमधूच्छिष्टे” ति-याज्ञवल्क्यान वर्जयेत् । आरण्यानिति, आरण्यान् सर्वान् पशून् हस्त्यादीन्-दंष्ट्रिणः सिंहादीन् तथा पक्षिमद्यलाक्षाश्चैकशफांश्चाश्वादीन् न विक्रीणीत-इति” कुल्लूकभट्टः ।

आपदि वैश्यवृत्तिमाश्रयता विप्रेण यद्विक्रेयं तदप्याह याज्ञवल्करः,—

फलोपलक्षौमसोममनुष्यापूपवोरुधः ।

तिलौदनरसक्षारा दधि क्षीरं घृतं जलं ॥

शस्त्रासवमधूच्छिष्टं मधु लाक्षां च वर्हिषः ।

मृचर्मपुष्पकुतुपकेशतक्रविषक्षितीः ।

कौशेयनीललवणमांसैकशफसौसकान् ॥

शाकाद्वैषधिपिण्याकपशुगन्धांस्तथैव च” ।

नो विक्रीणीतेति प्रत्येकमभिसंबध्यते” ।

“फलानि कदलीफलादीनि वदरेङ्गदव्यतिरिक्तानि ।

यथाह नारदः,—

“स्वयं शौर्णानि पर्णानि फलानि वदरेङ्गदे” ।

रज्जुः कार्पासिकं सूतं तच्चेदविकृतं भवेदि”ति ।

उपलं माणिक्याद्यश्ममात्रम् । चोममतसीसूत्रमयं वस्त्रम् । चोम-
ग्रहणं तान्तवादेरुपलक्षणम् ।

यथाह मनुः,—

“सर्वञ्च तान्तवं रक्तं शालचौमादिकानि च ।

अपि चेत्स्युररक्तानि फलमूले तथोषधीरि”ति ॥

सोमो लताविशेषः । मनुष्यपदेनाविशेषात् स्त्रीनपुंसकानां ग्रहणम् ।
अपूपं मण्डकादिभक्षमात्रम् । वीरुधो वेत्रासृतादिलताः । तिलाः प्रसिद्धाः ।
ओदनं भोज्यमात्रोपलक्षणम् । रसा गुडेक्षुरसशर्करादयः ।

तथाच मनुः,—

“क्षीरं क्षौद्रं दधि घृतं तैलं मधुगुडं कुशानि”ति । चारा यवचारादयः ।
दधिक्षीरयोर्ग्रहणम् । मनुष्यिण्डकिंलाटकूर्चिकादीनां तदविकारानामुप-
लक्षणम् । क्षीरं सर्वविकारमिति गौतमस्मरणात् ।

घृतग्रहणं तैलादिस्नेहमात्रोपलक्षणम् ।

जलं प्रसिद्धम् । शस्त्रं खड्गादि । आसवग्रहणं मद्यमात्रोपलक्षणम् ।
मधूच्छिष्टं सिक्कम् । मधु क्षौद्रम् । लाक्षा जतु । वह्निषः कुशाः ।
मृत् प्रसिद्धा । चर्माजिनम् । पुष्पं प्रसिद्धम् । अजलोमकतः कखलः ।
कुतुपः चर्मनिर्मितपात्रम् । केशाश्चमर्थादिसम्बन्धाः । तक्र उदञ्चित् । विषं-
शृङ्गादि । क्षितिर्भूमिः । नित्यं भूमियवाजाव्यश्चर्षभधेन्वनडुहश्चैक-इति-
सुमन्तुस्मरणात् । कौशेयं कोशप्रभवं वसनम् । नोलं नीलीरसम् ।
लवणग्रहणेनैव विडूसीवर्चलसैन्धवसामुद्रसोमककृत्तिमाण्यविशेषेण गृह्यन्ते ।

मांसं प्रसिद्धम् । एकशफा हयादयः । सीसग्रहणं लोहमात्रोपलक्षणम् ।
शाकं सर्वमविशेषात् । औषधयः फलपाकान्ताः । आर्द्रौषधय-इति विशेषो-

पादानात् शुष्केषु न दोषः । पिण्याकः प्रसिद्धः । पशव आरण्याः । “आरण्याश्च-
पशून् सर्वान् दंष्ट्रिणश्च वयांसि चे”ति मनुस्मरणात् ।

गन्धाश्चन्दनागुरुप्रभृतयः सर्वानेतान् वैश्यवृत्त्या जीवन् ब्राह्मणः कदाचि-
दपि न विक्रीणीत । क्षत्रियादेस्तु न दोषः । अत एव नारदेन,—“वैश्य-
वृत्ताविक्रेयं ब्राह्मणस्य पयोदधि” इति ब्राह्मणग्रहणं कृतमिति विज्ञानेश्व-
रेण व्याख्यातम् ।

तदनुमनुते गौतमोऽपि,—

“विनिमयस्तु रसानां रसैः पशूनाञ्च न लवणकतान्नयोस्तिलानाञ्च समे-
नामेन तु पक्वस्य संप्रत्यये सर्वधातुवृत्तिरशक्तावशूद्रेण तदप्येके प्राणसंशये ।
तदवर्णसङ्करोऽभक्ष्यनियमस्तु प्राणसंशये । ब्राह्मणोऽपि शस्त्रमाददीत राजन्यो-
वैश्यकर्म” । एवमनुमोदन्ते प्रायशोऽन्ये संहिताकर्त्तारः । प्राचुर्यभिया-
नोद्भूतानि तेषां वचनान्यत्र । नन्वत्र संहितात्रयाभ्यन्तरे प्रायेणावभासमाने-
परस्परविरोधे कस्या-एकस्याः संहितायाः प्रामाण्यमङ्गीकरणीयमिति चेन्न ।

तस्य त्रयस्यापि प्रमाणकोटिप्रविष्टत्वात् ।

कथमिति चेद्-विचार्यते । यद्ययत्कालावच्छेदे यद्यदेशावच्छेदे-
चानुष्ठितो यः समाचारः तमनुसृत्य निर्मितो यः संहिताग्रन्थस्तत्तदवसराव-
च्छेदे तत्तद्देशावच्छेदे च शिष्टैः समादृतस्तत्तदग्रन्थः प्रमाणरूपेण । यथा,—

यदैवार्या आर्यावर्त्तवासिनस्तदा तदाचारव्यवहारगर्भिता मनुस्मृतिः-
प्रामाण्येनासीच्छिरोधार्या तत्तद्देशवासिभिः ।

याज्ञवल्क्यगौतमादयस्तु यद्यदेशे यद्यत्काले चावस्थिताः ।

तत्तद्देशीयाचारव्यवहारौ मूलीकृत्य निर्मिता याज्ञवल्क्यादिसंहितास्तैः ।
अतस्तास्ताः समनुमोदितास्तत्कालीनावगीताचारशिष्टैः । नैतत् स्वकपोल-
कल्पितमेव । तत्तदग्रन्थेष्ववलोकितान्येव तत्तत्समयानुष्ठितविभिन्नाचारव्यवहार-
बोधकप्रमाणानि । यथापदि विक्रयनिषिद्धानि यानि यानि द्रव्याणि मनुसमय-
प्रसिद्धानि तदन्तर्गतानि कानिचित्स्वशब्दवाच्यानि गुडादीनि द्रव्याणि गौतम-
याज्ञवल्क्याद्यवसरे त्वापदि तत्तत्संहितासु तत्तद्व्यनिषेधस्यादृष्टतया तत्तत्-
सामयिकशिष्टाचारानुमोदितानीत्यनुमीयते युक्तिकुशलैर्धार्मिकैर्देशहितसाधन-

तत्परैः । तदनिषिद्धान्यपि कानिचिद्भूष्यादीनि द्रव्याणि स्वस्वग्रन्थेष्वेतेषां निषिद्धोक्तिप्रविष्टतया गौतमादिभिर्निषिद्धानीति निर्णीयते तैः ।

तत्तत्संहिताव्याख्याकृद्भिश्च मूले त्वविशेषेणानिर्दिष्टान्यपि स्वस्वसमयाचारव्यवहारानुगततया सकलधर्मशास्त्राणामैकमत्यप्रतिपादनाय वा व्याख्यातानि तत्तत्संहितोक्तप्रमाणान्येव, कदलीगुडादिद्रव्याणां स्वशब्दवाच्यत्वाभावेऽपि फलरसयोरविशेषेण निर्दिष्टतया फलानि तत्तत्समयाव्यवहृततया कदलीफलादीनीति, एवं मन्वादिधर्मशास्त्रेण साकमेतत्संहितायाः विरोधविरामाय “तैलं मधु गुडं कुशानि”ति मनुवचननिदर्शनेनैव रमः-गुडेक्षुशर्कराप्रभृतय इति व्याख्यातं विज्ञानेश्वरेण । एव मन्वास्वपि व्याख्यासु द्रष्टव्यमिति दिक् ।

आपदि प्रतिप्रसवकथनावसरे मनुगौतमाभ्यां रसारसैरिति वाक्येनैव स्वजातीयविनिमयस्याभ्यनुज्ञातत्वेऽपि स्वसंहितायां तद्विषयस्यानुज्ञिषिततया निषिद्धोऽयं मन्वादुक्तनियमो याज्ञवल्क्येनेति प्रतिभाति । विष्णुस्मृतिरचनावसरे तु न तावत् कानिचिद्द्रव्याणि विक्रेतुं निषिद्धानीत्यनुमीयते । यतस्तत्संहितायामापदवृत्तिविचारकाले तु “आपद्यन्तरावृत्ति” रिति विशेषोक्तेन विष्णुना सर्वद्रव्यविक्रयणमभ्यनुज्ञातमेव ।

प्रतिप्रसवे तु यानि विक्रेतुं दत्तप्रसराणि तदभ्यन्तरे धर्मार्थं कुत्र कुत्रावृत्तमपि तिलविक्रयणं रसादिजातीयविनिमयश्चेदानीमतीव गर्हित-इति व्यवहारः परिदृश्यतेऽत्रोत्कलीयानां । विनापि लवणतैलमद्यादिकं व्याख्याकर्तृनिषिद्धमपि कदलीफलादिविक्रयणमविगीतशिष्टाचारानुमोदितमेवात्र । आदिपदेन तान्त्ववादीनां संग्रहणं । आपद्यपि धर्मशास्त्रनिषिद्धं चर्म्मनिश्चितभाजनं दूरतो जलाद्यानयनाय संप्रति तत्तद्देशीयशिष्टव्यवहृतमेवावलोक्यते भारतीयनिर्जलप्रदेशे सदैव । एवमन्यत्रापि । इदानीमप्यापदि तन्निषिद्धद्रव्याभ्यन्तरे केषांचिद्द्रव्याणां तिलतैललवणासवादिकमन्तरेणात्र विक्रयणे सत्येतद्देशीयशिष्टाचरितेऽन्यत्र तदतिरिक्तानां कतिपयनिषिद्धद्रव्याणां वाणिज्यमपि तत्तद्देशीयशिष्टाचारानुमतमेवेति परिलक्ष्यते प्रभेदः सततम् । अतः सर्वाव्यवहृतप्रोक्तनिषिद्धद्रव्यमन्तरा धर्माविरुद्धं

शिष्टाचारानुमोदितं लोकाचारव्यवहारजातं सदाचारस्य प्रमाणत्वात् न दोषा-
धायकमेव । लिखितमत्र प्रमाणं पूर्वतः ।

अथ क्रमप्राप्तकृषिविचारः,—

कृषिरिति पदं भावविहितकृतिप्रत्ययसाचिव्येन निष्पन्नम् । सा त्वापदि-
कुटुम्बपरिपालनार्थं स्वयंकृतत्वेनाभ्यनुज्ञाता सकलधर्मशास्त्रकारैः । प्रमाणा-
न्यक्तानि पूर्वतः ।

नन्वादितः कृषेरापदवृत्त्यन्तरत्वे सत्यपि मनुना निर्णीते ।

“वैश्यवृत्त्यापि जीवंस्तु ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा ।

हिंसाप्रायां पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत् ॥

कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिः सद्विगर्हिता ।

भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम्” ॥

इत्यनन्तरभाविनां तदीयवचनेन तद्वृत्त्यन्तरस्यापदि निषिद्धतया कथं
तदवलम्बनं धर्मशास्त्रसम्मतमिति चेन्न । बृहत्पाराशरीयवचने कलिपदस्यो-
पात्ततयैव तद्वचनस्य युगान्तरीयविषयत्वात् । अथवा सत्यपि वाणिज्यादेः
सुलभत्वे तदवलम्बनस्य जुगुप्सितत्वमित्यभिप्रायविषयत्वादेतद्वचनस्य । अन्यथा
बृहत्पाराशरप्रमाणनिवहस्य नैरर्थक्यापत्तेः । रीत्या कथेति चेद्विशद्यते युक्ति-
निर्देशपूर्वकप्रमाणव्रातेन । आस्तां तावदापदि सुदूरतः कृषिवृत्त्याश्रयणं,
कलावपि खानुष्ठितकृषिवृत्त्या कुटुम्बप्रतिपालनस्य बृहत्पाराशरेणाभ्यनुज्ञातत्वेन
मानवीयधर्मशास्त्रनिर्माणसमयापेक्षया बृहत्पाराशरीयधर्मशास्त्रस्य भारतान्तः-
पातिप्रदेशान्तरवासिनां कलियुगीयश्रोत्रियाणां कृषिवृत्त्याश्रयणस्योल्लेखनात्-
सम्भावितारजत्वेन शिष्टानुमोदिततत्कालीनाचारव्यवहारोपजीवत्वेन च
पश्चाद्भाविनां तद्वचनानां विशेषतः प्रमाणकोटिप्रविष्टतया सति मनुवचनस्या-
र्थान्तरकरणे प्रसज्येत बृहत्पाराशरीयप्रमाणनैष्कल्यमिति प्रतिभाति ।

अतः समीचीनोऽयं निरुक्तार्थ-इति निष्कर्षः । तथा परिदृश्यते लोके-
कचित् कचित्तथाविधः कर्षणव्यवहारः । तथा चैतद्विवरणं कच्चीक्रियते-
ऽनन्तरलेखनीयप्रमाणव्रातेन ।

तथाहि बृहत्पराशरः,—

“अतःपरं गृहस्थस्य कर्माचारं कलौ युगे ।
 धर्मं साधारणं साक्षाच्चतुर्वर्णक्रमागतम् ॥
 युष्माकं संप्रवक्ष्यामि पराशरप्रचोदितम् ।
 षट्कर्मसहितो विप्रः कृषिवृत्तिं समाश्रयेत् ॥
 हीनाङ्गं व्याधिसंयुक्तं प्राणहीनञ्च दुर्बलम् ।
 क्षुद्युक्तं तृषितं शान्तमनङ्गाहं न वाहयेत् ॥
 स्थिराङ्गं नीरुजं तृप्तं शान्तं षण्डविवर्जितम् ।
 अधृष्टं सबलप्राणमनङ्गाहं तु वाहयेत् ॥
 वाहयेद्दिवसस्थाङ्गं पश्चात्-ज्ञानं समाचरेत् ।
 कुगवैर्न कृषिं कुर्यात्-सर्वथा धेनुसंग्रहम् ॥
 बन्धनं पालनं रक्षा वर्द्धन्ते ते यथाक्रमम् ।
 संपश्येच्चरतः सर्वान् गोवृषादीन् स्वयं गृही ॥
 चिन्तयेत्-सर्वथात्मानं स्वयमेव कृषिं व्रजेत् ।
 प्रथमं कृषिवाणिज्यं द्वितीयं योनिपोषणम् ॥
 तृतीयं विक्रयः प्रोक्तश्चतुर्थं राजसेवनम् ।
 नखैर्विलिखने यस्या ब्रूयद्दोषं मनौषिणः ॥
 तस्याः सौरविदारेण किं न पापं क्षितेर्भवेत् ।
 तृणैकच्छेदमात्रेण प्रोच्यते क्षयमायुषः ॥
 असंख्यकन्दनिर्वासादसंख्यातं भवेदधम् ।
 यत्सेचनात्-कीटबधस्तथा सङ्कर्षणादपि ॥
 अंहः कुक्कुटिकानाञ्च तदंहः कृषिजीविनाम् ।
 वर्णानाञ्च गृहस्थानां कृषिवृत्तुप्रपञ्जीविनाम् ॥

तदेनसो विशुद्धार्थं प्राह सत्यवतीपतिः ।
 द्वादशो नवमो वापि सप्तमः पञ्चमोऽपि वा ॥
 धान्यभागः प्रदातव्यो देहिनिः क्षेत्रिणा ध्रुवम् ।
 अस्मर्य्यदूतभूमौ च विट्पतिः क्षेत्रभुग्भवेत् ॥
 एकैकांशापकर्म स्याद्यावद्दशमसप्तमौ ।
 ग्रामेशस्य नृपस्यापि वर्णिभिः कृषिजीविभिः ॥
 स स भागः प्रदातव्यो यतस्तौ कृषिभागिनौ ।
 व्यूढौ त्वश्वर्य्यमात्राया देयोऽंशः स्यात्तुर्दशः ॥
 एकैकांशापकर्म स्याद्यावद्दशमसप्तमौ ।
 ब्राह्मणस्तु कृषिं कुर्वन् वाहयेद्विच्छया धराम् ॥
 न किञ्चित् कस्यचिद्दद्यात् स सर्वस्य प्रभुर्यतः ।
 ब्रह्मा वै ब्राह्मणानां स्यात्-प्रभुस्त्वसृजदादितः ॥
 तद्रक्षणाय बाहुभ्यामसृजत्क्षत्रियानपि ।
 पशुपाल्याशनोत्पत्त्यै उरुभ्याञ्च तथा विशः ॥
 द्विजदास्याय पश्याय पद्भ्यां शूद्रमकल्पयत् ।
 यत्किञ्चिज्जगतीसंस्थं भूगेहाश्च गजार्दकम् ॥
 स्वभावेनेह विप्राणां ब्रह्मा स्वयमकल्पयत् ।
 ब्राह्मणश्चैव राजा च द्वावप्येतौ धृतव्रतौ ॥
 न तयोरन्तरं किञ्चित्-प्रजाधर्मेण रक्षयेत् ।
 तस्मान्न ब्राह्मणो-दद्यात्-कुर्वाणो-धर्मतः कृषिम् ॥
 ग्रामेशस्य नृपस्यापि किञ्चिन्मात्रमसौ वलिम् ।
 अथान्यत्संप्रवक्ष्यामि कृषिकृच्छुद्धिकारणम् ।
 संशुद्धः कृषको-येन स्वर्गलोकमवाप्नुयात् ॥

कुर्यात्-कृषिं प्रयत्नेन सर्वसत्त्वोपजीव्यकृत् ।
 सर्वस्य स्थितिकारुण्यात्-सदेवपितृभिः पुनः ॥
 मनुष्याणां तु पोष्याय कृषिं कुर्यात् कृषीवलः ।
 वयांसि चान्यसत्त्वानि क्षुत्तृष्णातो विमुञ्चयेत् ।
 विमुक्तः सर्वपापेभ्यः स्वर्गोक्तमवाप्नुयात्” ।

हलकरणादिपक्षस्यच्छेदनान्तविषयकाणां भूयसां प्रमाणानामत्र सति विद्यमानत्वेऽपि निबन्धबाहुल्यभिया नोत्तोलितानि तानि ॥

सत्यप्यावश्यकत्वे तत्रैव द्रष्टव्यानि । कलियुगावच्छेदेऽपि स्नानुष्ठित-
 कृषिवृत्त्याश्रयणस्य प्रमाणैरितैरनुमोदिततया सुतरामापदि स्वयंकृतकृषिवृत्त्य-
 नुष्ठानेन पारिवारिकपोषणादिसांसारिककार्यविधानं भवेन्निर्विवादं ।

अन्यच्च. “हलान्तं हलान्तं ब्रह्मवर्चस”मिति यच्छ्रुतिप्रमाणमुदभाव्योत्क-
 लीयश्रोत्रिया हलधारणमन्तराऽन्यत्सकलं तदीयकार्यमनुष्ठाय कृषिं निष्पाद-
 यन्ति, तत्प्रमाणस्यादृष्टमूलकत्वात् “कृषिगोरक्षवाणिज्ये अस्वयंकृते कुसीदं-
 चेति” गौतमीयप्रमाणस्य ।

तथा,—

“कुसीदकृषिवाणिज्यं प्रकुर्वीतास्वयंकृतम् ।

आपत्काले स्वयं कुर्वन्नैनसा युज्यते द्विजः” ॥

इति बृहस्पतिवचनस्य चापत्कालातिरिक्तविषयत्वात् । निर्वाचितसाक्षि-
 वचनानां तदनुष्ठाने जागरूकत्वाच्चापदि स्वयंकृतकृषिसाहाय्येन कुटुम्बादि-
 कार्यपरिचालनं न दोषाधायकमिति राहान्तः । न च गौतमीयवचने-
 ऽनापदापच्छब्दस्योल्लेखाभावादुभयत्रास्वयंकृतकृषिकरणं न गौतमसम्मतमिति
 वाच्यम् ।

तत्संहितायामनापदि ब्राह्मणादीनां वृत्तिविचारकाले वचनस्यैतस्यो-
 ल्लेखदर्शनात्, बृहस्पतिवचने तदुभयशब्दोपादानावलोकनेनैतत्प्रमाणस्य तदर्थ-
 त्वात्, वक्ष्यमाणगरुडपुराणीयप्रमाणेनैव बृहस्पतिवचनस्यानुमोदितत्वाच्च ।

यद्यप्यापद्येतच्छ्रुतिप्रमाणाश्रयणेन यद्यत्प्रदेशेषु प्रोक्तप्रदेशीयश्रोत्रिय-
व्रातवद्विनापि हलकरणमितरक्षपिसम्बन्धीयकार्यजातानुष्ठानपूर्वकं कृषि-
माचर्य कुटुम्बादिभरणपोषणमाचरन्ति श्रोत्रियाः, तत्तत्प्रदेशेषु तत्तद्देशीय
शिष्टानुमोदितस्तदाचार एव प्रमाणमत्रेति बोध्यं ।

अन्यत् सर्वमेतदुविषयकमादितो लिखितकुल्लूकभट्टविद्वत्यामवलोकितव्यं ।
इति कृषिविचारः ।

अथ धृतिविचारः—

धृतेर्भावबोधकत्तिन्प्रत्ययसंयोगेन संजातं धृतिरितिपदं । तदर्थः सन्तोषः ।
सति तस्मिन् अल्पकेनापि जीव्यत इति कुल्लूकभट्टः । अतस्तस्याविशेषतो-
जीविकानिर्वाहोपयोगित्वमापदीत्यभ्यनुज्ञातं मन्वादिसंहिताकारैः ।

नन्ववस्थायां सर्वस्यां सत्यपि धृतेरावकश्यकत्वे धृतेरापद्येवावलम्बनीयत्वं न-
सुसङ्गतमिति चेन्न । धृतिभिन्नावस्थायां सर्वस्यां धृतेरसत्त्वेऽपि जीवनविस-
र्जनस्य सम्भवानर्हत्वात् । तथा, विपद्येव प्राणोत्सर्गस्यावश्यंभावित्वात् ।

तथा, “विपदि धैर्यमयाभ्युदये क्षमा” इत्यादि नीतिशास्त्रीयप्रमाणेनापदि-
धृत्यवलम्बनस्यानुमोदितत्वाच्च । अतएवापदि धृत्याश्रयणमेव प्रधानवृत्त्यन्तर-
मिति यदुच्चैःस्वरेणोक्तं धर्मशास्त्रकारैस्तत्त्वतीव समीचीनमिति निरवद्यम् ।

इति धृतिविचारः ।

अथ भैक्ष्यविचारः, भैक्ष्यमितिपदं भिक्षाशब्दात् समूहार्थकण्ठप्रत्ययसंयोगेन-
समुद्भूतं । याच्ञासमूहलब्धद्रव्यजातेन जीविकापरिचालनमिति तदर्थः ।
किन्त्वापदि तदप्याश्रणीयमेवेति धर्मशास्त्रकाराणामभिप्रायः । इममर्थमनुसरति-
कुल्लूकभट्टः । यथा भैक्ष्यं भिक्षासमूहः” इति । ननु भिक्षालब्धद्रव्येणैवापदि-
सति जीविकानिर्वाहे कथं कुल्लूकभट्टेन भैक्ष्यपदस्य भिक्षासमूहात्मकार्यकरणे-
कृतमनुगमनमिति वक्तव्यमिति चेदुच्यते, अनापदि क्षत्रवैश्यतो भिक्षाऽदान-
मनुष्ठानव्यं नान्यत इति सङ्कोचितमापैः प्रमाणैः । अत-आपदि चाण्डा-
लान्तेभ्यः सर्वेभ्यः कर्त्तव्यं भिक्षाग्रहणमिति कुल्लूकभट्टाकृतमित्यर्थः ! लिखितमत्र
प्रमाणमादितः ।

इति भैक्ष्यविचारः ॥

अथ कुसीदविचारः—

कुसीदपदं कुसुधातोरौणादिकेदप्रत्यययोगेन निपातनात् सिद्धं । नोप-
धागुणः ।

ऋखादिदीर्घादिश्चेति वृत्तिकारहरदत्तादयः ।

एतदर्थो-वृद्ध्या धनप्रयोगः । तत्त्वापदि कुटुम्बादिजीवनधारणस्य-
सहायीभूतमित्यभ्यनुज्ञातं धर्मशास्त्रनिर्मादभिर्महर्षिभिः । तत्स्वरूपञ्च
नारदेनोक्तम् ।

यथा—

“स्थानलाभनिमित्तं यद्दानग्रहणमिच्छते ।

तत्कुसीदमिति ज्ञेयं तेन वृद्धिः कुसीदिनाम्” ॥

अस्यार्थः ; स्थानं मूलधनावस्थानं, लाभो वृद्धिः, दानग्रहणपदे कर्मणि-
ल्युटा साध्ये, तेन मूलधनावस्थाने सत्येव यो लाभस्तदर्थं यद्दानं धनिकेन-
दीयमानं मूलधनं अधमर्णेन च ग्रहणम् । तथा स्वीकृत्य गृह्यमाणं यत्-
तादृशमिति, अवस्थापकरणीयत्वरूपगुणयोगादौणप्रयोगः । अतएव वाणिज्यार्थ-
प्रयुक्तस्य न ऋणत्वमिति मिथ्याः । तस्यावयवार्थमाह वृहस्पतिः,—

“कुत्सितात्सीदतश्चैव निर्विशङ्कैः प्रगृह्यते ।

चतुर्गुणं वाष्टगुणं कुसीदाख्यमृणं ततः” ॥ इति ।

अस्यार्थः कुत्सितात्सीदतश्चाधमर्णात् सकलधनं यदगृह्यते निर्वि-
शङ्कैरुत्तमर्णैः चतुर्गुणं वेति वाकारोऽनास्थायां तेन द्वैगुण्यादिलाभः । इति ।
कुसीदविशेषो गारुडे उक्तो,—

यथा,—

“कुसीदकृषिवाणिज्यं प्रकुर्वीतास्वयंकृतम् ।

आपत्काले स्वयं कुर्वन् नैनसा युज्यते द्विजः ॥

बहवो-वर्त्तनोपाया ऋषिभिः परिकीर्त्तिताः ।

सर्वेषामपि चैवेषां कुसीदमधिकं विदुः ॥

अनावृष्ट्या राजभयान्मूषिकाद्यैरुपद्रवैः ।
 कृष्यादिके भवेद्वाधा सा कुसौदे न विद्यते ॥
 शुक्लपक्षे तथा कृष्णे रजन्यां दिवसेऽपि वा ।
 उष्णे वर्षति शीते वा वर्द्धनं न निवर्त्तते ॥
 देशं गतानां या वृद्धिर्नानि पण्योपजीविनाम् ।
 कुसौदं सर्वतः सम्यक्-संस्थितस्यैव जायते ॥
 लब्धलाभः पितॄन् देवान् ब्राह्मणांश्चैव पूजयेत् ।
 ते तृप्तास्तस्य तद्दोषं शमयन्ति न संशयः ॥
 वणिक् कुसौदी दद्यात्तु वस्त्रङ्गां काञ्चनादिकम् ।
 कृषौवल्लोऽन्नपानानि यानशय्यासनानि च ॥
 पण्येभ्यो विंशतिं दत्त्वा पशुस्वर्णादिकं शतम् ।
 पादेनायस्य पारक्यं कुर्यात् सञ्चयमात्मवान् ॥
 अर्द्धेन चात्मभरणं नित्यनैमित्तिकान्वितम् ।
 पादञ्च प्रार्घ्यमानस्य मूलभूतं विवर्जयेत् ॥
 विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्षा विपणिः कृषिः ।
 वृत्तिर्भक्ष्यं कुसौदञ्च दश जीवनहेतवः ॥”

तस्य विप्रादिभिः स्वयं कर्त्तव्यता निर्णीताऽङ्गिकतत्त्वे रघुनन्दनभट्टा-
 चार्येण,—

यथा तत्र—गौतमः,—

“क्षत्रिगोरक्षवाणिज्ये अस्वयं कृते कुसौदं च”, कुसौदस्य पृथगग्रहण-
 मनापदि स्वयंकृतस्याभ्यनुज्ञानार्थं, कुसौदं वृद्धिकर्म प्रदेशान्तरेऽभिधानादिति
 कल्पतरुः ॥

तथाच ब्रह्मस्यतिः—

“कुसौदकृषिवाणिज्यं प्रकुर्वीतास्वयंकृतम् ।
 आपत्काले स्वयं कुर्वन्-नैनसा युज्यते द्विजः ॥
 लब्धलाभः पितॄन् देवान् ब्राह्मणांश्चैव भोजयेत् ।
 ते तृप्तास्तस्य तं दोषं शमयन्ति न संशयः ॥
 वणिक् कुसौदं दद्यात्तु वस्त्रगोकाञ्चनादिकम् ।
 कृषीवलोल्लापानानि यानशय्यासनानि च ॥
 पण्येभ्यो विंशकं दत्त्वा पशुस्वर्णादिकं शतम् ।
 वणिक् कुसिद्यदोषः स्याद्ब्राह्मणानाञ्च पूजनात् ॥
 राज्ञे दत्त्वा तु षड्भागं देवतानाञ्च विंशकम् ।
 विंशद्भागञ्च विप्राणां कृषिं कृत्वा न दोषभाक्” ॥ इति ।

ननु “ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वृद्धिं नैव प्रयोजयेत्” । इति पूर्वार्हना-
 पदि कुसौदवृत्त्याश्रयणं निषिध्य—“कामं तु खलु धर्मार्थं दद्यात्—पापीयसे-
 ऽल्पिका”मित्यपराधेन मनुना सामान्यतः प्रसारितत्वात्, तदर्वाचीनैर्ब्रह्म-
 त्यादिमहर्षिभिरापदि निःसंकोचं कुसौदरूपवृत्त्यन्तरावलम्बनस्य प्रसारित-
 त्वमतीवासङ्गतमिति चेन्न, यद्यदाचारस्य यद्यत्समयप्रसिद्धतया तथा-
 तथोक्तेखात् । अतो नासङ्गतिरिति सिद्धान्तः । इति कुसौदविवेचनम् ।

अप्यस्मिन् विषये याज्ञवल्केरनापि परिहृत्य धृतिगोरक्षविपणीः स्ववचने-
 नृपानूपशकटगिरिनामकान्यापदवृत्त्यन्तराणि कथं सन्निवेशितानीत्याशंकायां-
 निरस्यतेऽत्र सा, मनुक्तविपत्कालावलम्बनीयधृत्यादिब्रह्मन्तरत्रितयं तदवसरे-
 ऽनापद्यप्यवलम्बितमित्यनुमीयतेऽस्माभिः । अन्यथा,—याज्ञवल्करीयवचने मनु-
 वचनोक्तविषयान्यधोचरणपरिदर्शनात् “मन्वर्थविपरीता या सा स्मृतिर्नैव
 शस्यत” इति ब्रह्मस्यतृप्तवचनस्यान्यथानुपपत्तेः । अतस्तत्समये यद्वृत्त्यन्त-
 राणामापदि परिलक्ष्यते व्यवहारः, तान्येव स्वसंहितायामुपनिबद्धानीति-
 याज्ञवल्करप्रमाणाभिप्रायः । यद्भवतु, “अधिकं तु प्रविष्टं न तु तद्भानि”

रिति न्यायेन याज्ञवल्क्यानुमोदितापत्कालीनसहायभूतवृत्त्यन्तरचतुष्टयमत्र-
प्रकरणे सन्निवेश्य क्रमशो विचार्यते निम्नतः संक्षेपेण ।

अथ शकटविचारः,—

शक्तेः कर्तृवाच्यज्ञापकाटन्—प्रत्ययसम्बन्धिलनेन निष्पन्नशकटमितिपदम् ।
भाटकेन धान्यादिवहनद्वारेण जीवनहेतुरिति तत्परिष्कारार्थः । तदेवापद्या-
श्रयभूतमिति महर्षिभिरभ्यनुज्ञातम् ॥

धान्याद्यत्रादिपदोपादानेन शकटवाह्यानामन्वेषां द्रव्याणां संग्रहः ।
प्रतिदिनं शकटेन परकीयकार्यानुष्ठानेन वित्तस्य सुलभत्वसम्भावनया कुटुम्बादि-
परिपालनस्य तद्वारा सुगमत्वाच्च तदाश्रयणमापदि सुसङ्गतमितुष्टद्वितं
यद्युयाज्ञवल्केन स्वप्रमाणे, तदतीव समीचीनमिति राद्धान्तः । इति-
शकटविचारः ।

अथ गिरिविचारः,—

गिरिरिति पदं आसार्थकगृधातुना सादं कर्तृवाच्यविहितकिप्रत्ययसंयोगेन
सम्पन्नम् । तदर्थः पर्वतः, वाच्यार्थालकपर्वतपदार्थाश्रयणेनापदद्वारासम्भवात्-
संगच्छते लक्षणया तदुगततृणेन्यनविक्रयलब्धार्थजालेन जीवनधारणरूपार्थः ।
एतदर्थमनुमनुते “तदुगततृणेन्यनद्वारेण जीवन”मिति वाक्योल्लेखेन योगिविज्ञाने-
श्वरः । अतो विपत्तौ गिर्यवलम्बनमभ्यनुज्ञातं पूज्यपादैः । इति गिरिविचारः ।

अथानूपविचार —

निकटार्थकस्य वा सहितात्मकाभिधेयस्यानूपसर्गस्याव्यवहितपरवर्त्तिना-
ऽपा सह अप्रत्ययसंक्षेपेण तथाऽपाद्यकारस्योकारकरणेन च सुसिद्धमनूप-
मिति पदं, तदर्थस्तु जलप्रायप्रदेशः । तदर्थेनैवापदि साकल्यतो-जीविका-
निर्वाहसम्भावनया प्रचुरतृणवृक्षजलप्रदेश इत्यर्थानुष्ठाने कृतमनुधावनं-
विज्ञानेश्वरेण । अतएव जीविकापरिचालकोपायान्तराणां तत्रैव सदा विद्य-
मानत्वाच्छास्त्रनिषिद्धमपि तत्स्थानाश्रयणमापदि विधेयमित्यादिष्टं मह-
र्षिभिस्तैः । इत्यनूपविचारः ।

अथ नृपविचारः,—

नृशब्दोपपदस्य पालनार्थकस्य पाधातोर्द्विप्रत्ययसंसर्गेणैव नृपपदस्य सुसम्पन्न-

तया लोकपालकत्वमभिधेयं बोधयति तत् पदम् । किन्त्वापदि तदुवाचार्थस्य-
प्रकृतोपयोगाघटकतया तत्संगतये लक्षितोऽर्थो नृपप्रार्थनात्मकः । अर्थे-
ऽस्मिन् परिदृश्यते सम्प्रतिर्विज्ञानेश्वरस्य । नृपयाचनेनापदि वृत्तिपरिचालनस्य-
सत्यपि शास्त्रविरुद्धत्वे गत्यन्तरविहीनतया नृपयाचनमापदि भविष्यत्यवश्यं-
श्रेयस्करमित्यादिष्टं जगद्धितकाञ्चिभिर्मुनिभिः । इति नृपयाचनविचारः ।

वक्तव्यमेतत्पूर्वार्द्धस्योपसंहारे तु निरुपद्रवावसरे धर्मशास्त्रनिषिद्धेनापि-
निरुक्तमूलधर्माविरोधिना प्राण्यहितानापादकेन चेष्टाजालेनापदि यतस्ततोऽपि-
वित्ताऽदानेन कुटुम्बादिपरिपालने न कापि विप्रतिपत्तिरिति समेदं
शास्त्रीयम् ।

अतो-सौलिकधर्मजागतिकसम्मानयोः संरक्षणोपायभूतस्यार्थनिवहस्य-
प्रतिभातप्रथमपुरुषार्थतया निर्वाचितया यया कयापि वृत्त्या धर्मतस्तदर्जने-
प्रयत्नो विधेयः स्नातकादिभिरिति सदसद्विचारनिपुणानां प्रेक्षावतां-
राज्ञान्तः ।

नैतद्विवेचनं स्वचित्तोज्ज्ञावितमेव ।

साहाय्यमापादितमत्र जैमिनीयन्यायभालाविस्तरे साधवाचार्येण ।

यथा—

“द्रव्यार्जनं स्यात् क्रत्वर्थं पुमर्थं वा क्रताविदम् ।

नियतत्वात्पुमर्थत्वं दृष्टं क्रत्वर्थताऽर्थिकी ॥”

“ब्राह्मणस्य द्रव्यार्जने प्रतिग्रहयाजनाध्यापनान्वेव नियतानि तत्र तत्र-
श्रुतानि” राजन्यस्य जयादिकम्, शूद्रस्य सेवादिकम् । तच्च यदेतद्व्यसंपादनं-
तदेतत् क्रत्वर्थम् । कुतः, अर्जनोपायानां नियतत्वात् । पुरुषप्रतीतेषु येन-
केनापि द्रव्येण सिद्धत्वादर्जनोपायनियमसार्थको-नियम-इति प्राप्ते ब्रूमः-
द्रव्यार्जने रागः प्रवर्त्तको दृष्ट इति न विधिरपेक्ष्यते । फलं च क्षुब्धवृत्त्यादि-
रूपं दृष्टमेव । अतएव स्मर्यते,—

“प्रक्षां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका ।

याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः” ॥ इति ।

क्रत्वर्थे तु जीवनाभावात् क्रतुरेव न सिध्येत ।

पुरुषार्थतायां त्वेहिकप्रोतिकारिभोजनादिवत् क्रतोरासुखिकप्रोतिकारितया-
पुरुषार्थेष्वन्तर्भावात् क्रत्वर्थताव्यार्थिकी सिध्यति । उपायनियमस्तूपायान्तरेषु-
प्रत्यवायविवक्षयोपपद्यते । तस्मात्-द्रव्यार्जनं पुरुषार्थम्” । अतएव निर्वाचित-
वृत्तिविसरोपार्जितार्थनिकरेण सति जीवनरक्षणे धर्मपालनं सुतरां भविष्यत्ये-
वेति निष्प्रतूरहम् । समाप्तोऽयं पूर्वार्धः ।

अथारभ्यते उत्तरार्धः,—

पूज्यपादा महर्षिर्वर्ज्यास्त्रिकालदृष्ट्या परिचालयितुं प्रोक्तधर्मद्वये लोकान्-
यथादेशकालपात्रमादितो-नियमबृन्दमारचय्य सांसारिकवर्त्म परिश्रुक्नुर्निष्कण्ट-
कम् । तन्नियमसृष्टिर्यदेतादृशी यद्यस्य योग्यं, तत्तेन नियमितम् । न तावदश्वेन
सार्धं हस्तिनः, दरिद्रेण साकं चक्रवर्त्तिनः, रोगिणा सह सूक्ष्मकलेवरस्य-
प्रतिपादिता योग्यता पूजनीयचरणैस्तैः । एतद्व्यवहितनिष्क्रोद्धतप्रमाणव्रातं-
प्रति कृते दृष्टिनिक्षेपे सहजतो-बोद्धव्यं कीदृशजनमभिलक्ष्य कीदृग्-राजशासनं-
प्रायश्चित्तं च विधेयमिति । समर्थितमेतद्विवेचनं स्वस्वप्रमाणैर्मन्वादिभिरार्थ-
धर्मरक्षकचूडामणिभिः ।

यथाह मनुः,—

“तान् प्रजापतिराहेत्य मा कृद्धं विषमं समम् ।

अज्ञापूतं वदान्यसत्र हतमश्रद्धयेतरत् ॥”

“तानिति, तान् देवानागत्य ब्रह्मा प्रोवाच विषमानं मा समं कुरुत ।
विषमसमीकरणमनुचितमिति कुङ्कुमभट्टः । अनेनैव कस्यापि समस्य विषमेष-
साकं साम्यसम्पादनं कदापि नानुष्ठेयमित्युपलक्षणम् ।

तथाच राजशासनविचारावसरे मनुः,—

“सत्यमर्थञ्च सम्पश्येदात्मानमथ साक्षिणः ।

देशं रूपञ्च कालञ्च व्यवहारविधौ स्थितः ॥

तं देशकालौ शक्तिञ्च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः ।

यथार्हतः सम्प्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्त्तिषु ॥

स्त्रीवालिभ्यस्तद्विज्ञानां दरिद्राणाञ्च रोगिणाम् ।
शिपां विदलरज्ज्वाद्यैर्विदध्यान्नृपतिर्दमम्” ॥ इति ।

“स्त्रीति,—

स्त्रीवालादीनां पुनः शिपां वेणुदलप्रहाररज्जुवन्धनादिभिर्दमनं राजा-
कुर्यात्”, इति कुल्लूकभट्टः ।

तथा प्रायश्चित्तविचारावसरे याज्ञवल्क्यीयं प्रमाणं तथा मिताक्षरोक्तं
प्रमाणजालं च प्रथमतो-लिखितमपि पुनः प्रकटीकृतं पाठकपरिश्रमलाघवाय ।

यथाह याज्ञवल्क्यः,—

“देशं कालं वयः शक्तिं पापं चावेक्ष्य यत्नतः ।

प्रायश्चित्तं प्रकल्प्य स्यात्-यत्र चोक्ता न निष्कृतिः” ॥ इति ।

तथा तट्टीकाकारो विज्ञानेश्वरः,—

‘यदुक्तं प्रायश्चित्तजातं वक्ष्यमाणं वा तद्देशादिकमवेक्ष्य यथा कर्तुः-
प्राणविपत्तिर्न भवति । तथा विषयविशेषे कल्पनीयं, इतरथा प्रधाननिवृत्ति-
प्रसंगात्, यथा वक्ष्यति वायुभक्ष्यो दिवा तिष्ठेत् रात्रिं नीत्वाप्सु सूर्य्यदृगिति,
तत्र यदि हिमगिरिनिकटवर्तिनामुदकवास उपदिश्यते अतिशीताकुलित-
वा शिशिरादिकाले तदा प्राणवियोगो भवेदिति तद्देशकालपरिहारेणोदक-
वासः कल्पनीयः । तथा वयोविशेषादपि यदि नवतिवार्षिकादेरपूर्णद्वादश-
वार्षिकस्य वा द्वादशाब्दिकं प्रायश्चित्तमुपदिश्यते तदा प्राणा विपद्येरन्निति ।
ततोऽन्यवयस्के तत्प्रायश्चित्तं कल्प्यम् । अतएव स्मृत्यन्तरे क्वचिदहं क्वचित्पादं-
इति वृद्धादिषु प्रायश्चित्तस्य क्लृप्तोऽभिहितः । तत्तु प्राक्प्रपञ्चितम् । तथा-
धनदानतपश्चरणादिशक्त्यपेक्षया च न हि निर्हनस्य पात्रे धनं वा पर्याप्त-
मित्याद्युपपद्यते इति, “चैत्यवृक्षश्चितिर्युपशृङ्खलः सोमविक्रयी एतांसु-
ब्राह्मणः सृष्ट्वा सचेलो जलमाविशेदिति पाराशरीयवचनादिवलाद्यद्यज्जातीय-
व्यक्तीनां स्पर्शस्य सत्यपि शास्त्रनिषिद्धत्वे कार्यविशेषतस्तत्तज्जातीयव्यक्तीनामपि
प्रतिपादितं परिशुद्धत्वं धर्मशास्त्रनिर्मादभिः ।

तथाच जैमिनिः निषादस्थपत्यधिकरणे,—

यथा “स्थपतिर्निषादः स्याच्छब्दसामर्थ्यात्, लिङ्गदर्शनाच्च” । इति ।

तथा जैमिनीयन्यायमालाविस्तरे माधवाचार्याः,—

यथा,—

“द्विजः स्थपतिरन्यो वा द्विजः षष्ठीसमासतः ।

कर्मधारयमुख्यत्वान्निषादो-रौद्रयागकृत्” ॥

“वासुमयं रौद्रं चरुं निर्वपेत्” इति प्रकृत्य श्रूयते “एतया निषादस्थपतिं-
याजयेत्” इति, वासुशब्दः किञ्चित् प्रकृतिद्रव्यविशेषमाह । एतस्यामिष्टाव-
धिकारी स्थपतिशब्दवाचस्त्वैवर्णिकः । कुतः “निषादानामधिपतिः” इति-
षष्ठीसमासस्य त्रैवर्णिके सम्भवात् । तस्य चाधीतवेदत्वेन विद्यासम्भवाच्च इति
चेत् । मैवं । “निषादश्चासौ स्थपतिश्च” इति कर्मधारयसमासस्य मुख्यत्वात् ।
षष्ठीसमासे तु सङ्कीर्णजातिविशेषवाचिना निषादशब्देन तत्सम्बन्ध उपलभ्येत ।
नत्वयं कर्मधारये दोषोऽस्ति । ततस्तात्कालिकाचार्योपदेशादिना विद्यां-
सम्पाद्य धनिको निषादो रौद्रं यागं कुर्यादिति” ।

तथाच सत्यपि स्त्रीणां पारतन्त्र्ये मन्वादिभिः स्वाधीनत्वमप्यभ्यनुज्ञातं-
कार्यभेदे ।

यथा मनुः,—

“चतुर्णामपि वर्णानां दारा रक्ष्यतमाः सदा ।

भिदुका वन्दिनश्चैव दीक्षिताः कारवस्तथा ।

सम्भाषणं सह स्त्रीभिः कुर्युरप्रतिवारिताः” ॥ इति ।

किन्त्वस्मदीयदृष्टेः संकीर्णज्योतिष्कतया दुहेः स्थूलात् स्थूलतरत्वेन च-
असमं सममिति, असंगतं संगतमिति, अन्यायं न्यायमिति च मननमेवासीद्-
व्यवसायोऽस्माकम् । सारासारविवेचनमभूत् सुदूरपराहतम् । अत आदावेवास्म-
दीयसनोराज्ये तदीयनिगूढाभिप्रायो न प्रवेष्टुं शक्नोति, विशेषज्ञैरिदानीन्तनैः-
स्फुटतः प्रकाशितं सत्यपि तदभिप्राये कतिपये विद्वांसस्तत्सर्वं कुर्वन्तोऽपि-
हृदयंगमं स्वस्वामिमानाधिकृतः दृढीकर्तुं पुरातन-व्यवहारं भवन्ति वद-

परिकराः । अतएव साकं धर्महान्या लभते यथाक्रममनिशमवनतिं-
भारतम् । अतो निरुक्तापत्त्यस्य तत्कालीनवृत्तेश्चालुपाचारव्यवहार-
संवर्ण्य यथाक्रमं सह प्रमाणोल्लेखेन व्यञ्जयितुं महर्षीणामभिप्रायसारभ्यति-
सुत्तरार्हः । तत्र स्नातकानां सुगुणाधारभूताया वनितायाः प्रधानसहाय-
भूतत्वभापादितं सर्वदा महर्षिभिः पूज्याग्निभिः ।

तथाच, मनुः—

“प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गृहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥
उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयाचायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ॥
अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिकृत्तमम् ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च हि” ॥

तथाच तद्वृत्तिकारः कुल्लूकभट्टः,—

यथा, “प्रजनार्थमिति” यद्यप्यासां रक्षणार्थं दोषा-उक्तास्तथापि शक्य-
प्रतीकारत्वादिह दोषाभावः । एताः स्त्रियो महोपकारा गर्भोत्पादनार्थ-
बहुकल्याणभाजनभूता वस्त्रालङ्कारादिदानेन सम्मानार्हाः स्वगृहशोभा-
कारिण्यः स्त्रियः श्रियश्च गृहे तुल्यरूपाः नानयोर्विशेषो विद्यते । यथा
निःश्रीकं गृहं न राजत्येवं निःस्त्रीकमिति” ।

अपिच “उत्पादनमिति”—

अपत्यस्य जननं जातस्य परिपालनं प्रतिदिनं चातिथिमित्रभोजनादेलोक-
व्यवहारस्य प्रत्यक्षं भार्यैव निदानम् ।

“अपत्यमिति, तथाच,—

अपत्योत्पादनमुक्तमप्येतदभ्यहितत्वज्ञापनार्थं पुनरभिधानम् । धर्मकार्या-
ण्यग्निहोत्रादीनि परिचर्या उत्कृष्टा रतिः पितृणामात्मनश्चापत्यजननादिना-
स्वर्ग इत्येतत्सर्वं भार्याधीनमिति” ।

निरुक्तप्रमाणेस्तस्मात्स्वेतद्विभागीयवर्णितविषयव्राताभ्यन्तरे सर्वप्रधान-
मित्यनुमीयतेऽस्माभिः । तस्याप्तेर्विवाहाधीनतया तत्पूर्वानुष्ठितस्य प्रधानाङ्ग-
भूतस्योपनयनादेः प्रकृतानुपयोगित्वात्तदीयव्ययबाहुल्यसङ्कोचस्य पुरतः पृथक्-
विवेचत्वेन च तत्परिहायानुष्ठीयते तद्विवेचनमादितः । तदनन्तरं येन-
साङ्गं विद्यते यस्य विशेषासक्तिः, तत्परं विधेयस्तद्विवेकः । इत्युत्तर-
भागीयोपक्रमः ।

अथ विवाहविचारः—

विपूर्वकाद् वहधातोर्भावाच्चावेदकघङ्प्रत्ययसंयोगेन सम्पन्नं विवाह-
इति पदम् ।

तदर्थस्तु कन्यावरयोः संस्कारेण अर्थाद्विवाहविध्यनुष्ठानेन परस्पर-
सम्बलनम् । परिणयोपयमशब्दाभ्यामपि कथितोऽयं विवाहशब्दोऽमरकोषे ।
गतमेतद्वातुप्रत्ययानुसृतमभिधेयम् ।

अन्यच्च, अत्र विवाहशब्दो वहप्रापण इत्यस्माद्वातोर्भावे घङि कृते वहनं-
वाहः । विशिष्टो वाहो विवाह इति व्युत्पत्त्या निष्पद्यते । वैशिष्ट्यं प्रतिग्रहा-
द्यष्टविधोपायान्यतमोपायेन स्वीकृतायां होमादिसप्तमपदनयनान्तकर्मभिः-
संस्कृतत्वम् । तथाच, विवाहपदार्था द्विदलः सिध्यति स्वत्वोत्पादनं-
संस्काराधानं चेति । तदेतत्स्पष्टीकृतं पारस्करेण “पित्रा प्रप्तामादाय-
गृहीत्वा निष्क्रामतीत्युपक्रमस्य प्रदक्षिणमग्निं पर्याणीयैके-इत्यादिनाऽचार्याय-
वरं ददातीत्यन्तेन सूत्रेण । आदाय प्रतिगृह्य गृहीत्वा हस्ते धृत्वा ।

परिशिष्टेऽपि,—

“गात्रवर्वासुरपैशाचा विवाहा राक्षसाश्च ये ।

पूर्वं परिणयस्तेषां पञ्चाङ्गोमो विधीयते” ॥

परिणयः स्वीकरणम् । एवं च स्वीकृताऽप्यसंस्कृता संस्कृताप्यस्वीकृता वा-
न भार्या भवतीति निश्चीयते । विशिष्टस्य विवाहपदार्थत्वात् । तत्रोत्तरदलार्थ-
स्यष्टयति ।

वशिष्टः,—

“बलादपहृता कन्या यदि मन्त्रेन संस्क्रता ।

अन्यस्मै विधिवद्देया यथा कन्या तथैव सा” ॥ इति ।

अपहरोऽत्र समविधस्त्वलोपायानामुपलक्षणम् ।

पूर्वदलार्थं स्पष्टयति यमः,—

“नोदकेन विना चायं कन्यायाः पतिरुच्यते ।

पाणिग्रहणसंस्कारात् पतित्वं सप्तमे पदे” ॥ इति ।

उदकं उदकपूर्वकं दानं । अलङ्घ्य कन्यामुदकपूर्वां दद्यादित्या-
श्लायनस्मरणात् । एतेन ब्राह्मादिपञ्चके नित्यवद्दानश्रवणादासुरादिव्ये,—
“गुणापेक्षं भवेद्दानमासुरादिषु च त्रिषु ।” इति, नारदेन पात्रिकदान-
विधानाच्च दानमपि तृतीयं दलं सिध्यति । वस्तुतस्तु उदकपदं स्वीकारपरं ।
अतश्च दलद्वयमेव विवाहपदार्थः । अन्यथा दानस्यासत्वे आसुरादिषु
अव्याप्तेः । ततश्चानुत्पादितस्त्वत्वायाः कन्यायाः पाणिग्रहणसंस्कारात् पतिः-
स्वामी स्त्ववान्न । सप्तमे पदे पतित्वं पतिसंस्कारश्च न । ततश्च स्वीकृताया-
मेव संस्कारोत्पत्तिरित्यर्थः । नन्वत्र “भार्यात्वं सप्तमे पदे” इति-
वक्तव्यम् । “उदवहेत द्विजोभार्या”मित्यत्र द्वितीयया भार्यया एव संस्कार्य-
त्वाभिधानात् । न तु पतुरः, तस्य द्विज इति प्रथमया संस्कारकर्तृत्वप्रतीत्यै-
कस्य कर्तृकर्मभावविरोधेन संस्कार्यत्वायोगाच्चेति चेत्, सैवम् । पतित्वस्य
उद्वाहविधिभार्याभार्यात्वान्तरीयकत्वेन तद्वोधकपतित्वशब्दोपादानेऽपि-
बाधकाभावात् । ननु पतित्वं भार्यात्वानुनिष्पादीति न वक्तव्यम् । ‘विन्देत-
सदृशं पति’मित्यादिष्वविधिप्रयुक्तत्वात् । यथोद्वाहेन वरो भार्यां कुर्यादिति-
विध्यर्थः, तथा कन्याप्युद्वाहेन वरं कुर्यादिति विध्यर्थस्तुल्य-एव । तस्मान्नानुनि-
ष्पादि पतित्वमिति चेत्सत्यम् । अस्ति विधिः परं तु नोद्वाहविषयः ।
उद्वाहस्य मन्त्रसाध्यत्वात् । स्त्रीणां चामन्त्रत्वात् । न च प्रधानविधि-
बलादेव मन्त्रकल्पनम् । प्रधानविधेरिव वराभ्युपगममात्रविषयत्वेनोद्वाह-
विषयत्वाभावात् । नचाभ्युपगमो विवाहं लघयिष्यति । विधौ लक्षणानङ्गी-

कारात् । किञ्च दानभावे ऋतुदर्शनादिनिमित्तकोऽयं विधिः न सर्व-
कालं कन्याकर्तृकतां पतित्वस्य गमयितुमीष्टे । तस्मात्सिद्धं भार्यात्वानु-
निष्ठादि पतित्वमिति विवाहस्यार्थद्वयं प्रतिपादितं निबन्धकारैः । वस्तुतस्तु-
शाखान्तरे तासां च मन्त्रविधानाद्विनिगमनाविरहेण च पतित्वस्यैव भार्यात्वानु-
निष्ठादिकत्वे प्रमाणाभावादुभयथा विधिदर्शनाच्चोभयमप्युदाहभाव्यम् । अतश्च-
पतित्वं सप्तमे पदे इति युक्तमेवोक्तमिति । न चैवं कर्तृकर्मविरोधः । एकस्मिन्-
वाक्ये उभयोरनुपादानेन शाब्दबोधे तस्याभावात् । वास्तवस्य च कर्तृकर्म-
भावस्य यजेत स्वर्गकाम इत्यत्र स्वर्गकामे गुणप्रधानभावस्येवाविरोधः । तच्च-
यथोक्तविधिना सप्तमपदप्रापणात्सिध्यति ।

“पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियतं दारलक्षणम् ।

तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे ॥”

इति मनुस्मरणात् ।

इति प्रकारान्तरेण विवाहस्यार्थद्वयं प्रतिपादितं निबन्धकारैः ।

अपरं च,

“वैवाहिको विधिः स्त्रीणां मौपनायनकं स्मृतम् । इति ॥

मनुवचनेनाभिहितः स्त्रीणामुपनयनरूपत्वेनायमेव ।

तथाच,—

पूज्यपादेन मेधातिथिनाऽपि स्वभाष्ये ब्राह्मधर्मविचारकाले विवाहस्य-
यन्निर्द्धारितं कीदृगर्थरूपत्वं, प्रकाशयते तदधः । स्वयं प्रागयाचितः स्वपुरुषे-
णैवाह्वय अन्तिकदेशमानाय्य वरं यद्दानं, स ब्राह्मधर्मा विवाहः । अविशेष-
वचनोऽपि धर्मशब्दः पूर्वापेक्षितत्वादस्य तत्पर एव द्रष्टव्यः । अयाचितलाभो-
ऽप्यर्हणापूर्वको ब्राह्मो विवाह-इतिलक्षणाद्यः । ननु चेदमुक्तं स्त्रीस्त्रीकारार्थो-
विवाह-इति यावद्विवाहपर्यन्तं चैतद्दानम् । नाकृते विवाहे दानार्थनिवृत्तिः ।
स हि तस्याः प्रतिग्रहकालः । नचासति प्रतिग्रहे दानं परिसमाप्यते, न
स्वत्वनिवृत्तिमात्रं दानम् । परस्वत्वापत्तिपर्यन्तं हि तत् । तथाच वक्ष्यति ।
“तेषां तु निष्ठा विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे” । एवं विवाहकाल एव कन्या

दातव्या । तथाच गृह्यकारस्तस्मिन्नेव काले ब्राह्मणविवाहे काण्डिकधर्म-
दर्शयति,—

यत्तु प्राग्विवाहादानं तदुपसंवादनवाचनमात्रम् ।

न हि तस्मिन्नाक्रियमाणे अभिप्रेतकालेऽवश्यं विवाहनिर्वृत्तिः, कथिष्याग-
निरूपिते न दद्यादपि, इतरोऽपि वा कदाचिन्न प्रतिगृह्णीयात् । तस्मात्-
प्राग्विवाहादुपसंवादः कर्त्तव्यः । तदा त्वयेयं देया मया चैयं वोढव्येति ।
यथैवान्तःक्रतुः सोऽपक्रियोऽचोदिततत्त्विद्वार्थोऽर्थात् वहिष्क्रियते । ये तु
मन्यन्ते यथैव गवादेर्द्रव्यस्यादृष्टार्थतया दीयमानस्य मन्त्रपूर्वकेण प्रतिग्रहण-
दानमपि निर्वर्त्तते । तेनैवेदमुक्तं ददातिषु चैवं धर्मेऽस्त्विति । एवञ्चेह प्रतिग्रह-
मन्त्रस्थानीयो विवाह-इति । तथाच उपयमनं विवाह-इत्येकोऽर्थः । उप-
यमनं स्वीकरणम् । एवमाहस्य भगवान् पाणिनिः, स्मरति उपाद्यमः-
स्वीकरण इति । अतो विवाहः कन्यास्वीकारार्थः । तदुक्तं स्वीकृताया-विवाहो-
भार्याकरणार्थः । नानेन कर्मणा प्रतिगृह्णीयादिति विधिरस्ति । न च
वैवाहिका मन्त्राः प्रतिग्रहप्रकारकाः । यथा देवस्य त्वा प्रतिगृह्णामीति-
मन्त्राः । यत्तु स्वीकरण इति तन्न विरुद्धम् । विवाहस्याप्यस्ति स्वीकरणरूपता ।
दानेन स्वत्वमात्रे प्रतिपन्ने विवाहेन विशिष्टं स्वत्वं क्रियते । नेयं गवादि-
द्रव्यवत् स्वं यथेष्टविनियोज्यतया अपि तु जायात्वेन । विशिष्ट एव हि-
स्वस्वामिभावो जायापतिलक्षणसम्बन्धः । तथाच, दर्शयिष्यति संगलाय-
स्वसूयनम् । विवाहेषु प्रदानं स्वाभ्यकारणमिति” साधारण्यतो-विवाहविवेचनं-
परामृष्टमत्र ।

संप्रति धर्मशास्त्रकारैस्तु विवाहरूपसंस्कारस्य किमात्मकविध्यन्तर्गतत्व-
मापादितं, तदधः विव्रियते ।

तथाच मनुः,—

“गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो-यथाविधि ।

उद्धहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥

त्रिंशद्वर्षो वहैत्कन्यां हृद्यां द्वादशवर्षिकीम् ।” इति,

तथाच याज्ञवल्करः—

“अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यथीयसौम् ।

वर्षैरेकगुणां भार्यामुद्वहेत्त्रिगुणां स्वयम्” । इति ।

निरुक्तप्रमाणाभ्यन्तरे उद्वहेत्, उद्वहेत्, एवं वहेदित्यादि विधिबोधक-
लिङ्गविभक्तिनिष्पन्नक्रियापदत्रयपरिदर्शनात् तथैतत्प्रमाणजालमुभयतः-संलग्न-
प्रमाणानां समालोचनया कतिपयमीमांसककर्तृकव्याख्यावलोकनेन-च बुध्यते-
ऽस्माभिः ।

“विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पान्दिके सति ।

तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति कीर्त्यते” ॥

इत्युक्तप्रमाणोक्तविधित्रयान्तरालेऽत्यन्ताप्राप्तस्य वंशाविच्छेदरूपफलस्य च-
प्रापकापूर्वविधेरनुभूतोऽयं विवाह इति । नात्र फलप्राप्तौ प्रमाणाभावः ।

यथा याज्ञवल्करः—

“लोकानन्त्यं दिवः प्राप्तिः पुत्रपौत्रप्रपौत्रकैः ।

यस्मात्तस्मात् स्त्रियः सेव्याः कर्त्तव्याश्च सुरक्षिताः” ॥

तथा विज्ञानेश्वराः—

“लोकानन्त्यं वंशस्याविच्छेदः, दिवः प्राप्तिश्च दारसंग्रहश्च प्रयोजनं,—
कथमित्याह,—

पुत्रपौत्रप्रपौत्रकैः लोकानन्त्यं,

अग्निहोत्रादिभिश्च स्वर्गप्राप्तिरित्यन्वयः,

यस्मात्-स्त्रीभ्य एतद्वयं भवति, तस्मात् स्त्रियः सेव्याः, उपभोग्याः प्रजार्थं,-
रक्षितव्याश्च धर्मार्थं, तथा चापस्तम्बेन धर्मप्रजासम्पत्तिः प्रयोजनं दार-
संग्रहस्योक्तम्” ।

तथाच कालसारे गदाधरः—

मनुः—

“असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।

सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥

“दारकर्मणि दारत्वजनके विवाहे—मैथुने मिथुनवाचे स्त्रीपुंससाधे-
आधानकर्मणि न केवलं स्त्रीसाध्यपाकादिकर्मणि अपि तूभयसाध्येऽपि सा-
प्रशस्तेत्यर्थः । मिथुनसाध्यधर्मे पुत्रोत्पत्तौ, इति कल्पतरुकाराः । तथा-
कचीकृत्य नियमविधिं यथा गर्भाधानस्यापूर्वविध्यन्तर्भूतत्वमापादितं, गदा-
धरेण तथोद्दिश्यते तदत्र ।

मनुः—

“ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा” । इति ।

“अत्र व्रते” इति सूत्रेण व्रतार्थे णिनिप्रत्ययः ।

अयमृतुकालगमनविधिरपूर्वविधिः । पुत्रोत्पादनं प्रत्यप्राप्तस्य ऋतुगमनस्य-
शास्त्रेण विधानात् । नात्र नियमविधिः शङ्का, पुत्रोत्पादने ऋतुगमनस्य-
पाक्षिकप्राप्तेरभावात् ।

तथाच,

“विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति ।

तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति कीर्त्यते” ॥

यत्तु नियम-इति विज्ञानेश्वरैरुक्तं, तत् पुत्रोत्पादनस्य नित्यत्वात् ऋतु-
गमनमपि नित्यम् । न च निरुक्तवचनानामृतुसम्बन्धितया विवाहविषयाप्रति-
पादकत्वादुपयमस्य नापूर्वविध्यन्तर्गतत्वमिति वाच्यम् । व्याख्याकर्तृभिरुप-
लक्षणविधया विवाहर्तुगमनयोः प्रतिपादितैक्यात् । विवाहेत्युपलक्षणं विवाह-
एव तत्रापि ऋतावेव व्यवायः कार्य इति-क्रमसन्दर्भीयविवृतेरत्र जागरूक-
त्वात् । यत्तु व्यवायस्य रागतः प्राप्तत्वात्-परिणयबोधकप्रमाणं नापूर्वविधि-
विषयकं, किन्तु परिसंख्याविध्यावेदकं अतएव परिणयस्य सुसिद्धं स्त्रीपुरुषे-
च्छाधीनत्वम् । मनुरपि मतमेतदनुमोदते साकल्येन ।

यथा,—

“न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।

प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला” ॥

तथा चैकादशस्कन्धे भागवतीये,—

चमशः,—

“लोके व्यवयामिषमद्यसेवे”ति भागवतीयप्रमाणं, तथा श्रीधरीयतद्विवरणञ्च पूर्वतः प्रदर्शितं द्रष्टव्यम् ।

एतत्तुल्यानि धर्मशास्त्रीयप्रमाणान्तराणि चक्षुर्विपयाण्यपि ग्रन्थबाहुल्यशङ्कया नोत्तोलितान्यत्र ।

विवाहस्यातः स्त्रीपुरुषेच्छापरवशतया केचन परिसंख्याविध्यन्तर्गतत्वमामनन्ति । तत्तुच्छम् । (अर्थात् प्रमाणान्येतान्याश्रित्यापच्युत्थापनमसङ्गतमित्यर्थाऽवबुध्यते अस्माभिः) धर्मशास्त्रीयवचनप्रमाणोद्धरणपूर्वतः पूर्वापरीयप्रमाणविसरस्य तथोद्देशस्य चाविवेचितत्वेनातीवायुक्तिसहत्वात् । सत्यत्वमेतस्य प्रत्यक्षीकर्तुमस्ति चेदभिलाषः, तदा न भविष्यति बहुदूरगमनम् । एतदव्यवहितपरामर्शस्य सत्यपि दृष्टिविषयत्वे दूरीभविष्यति सत्वरं सन्देहः ।

यथा—“न मांसं भक्षणे दोषः” इति मानवोद्यप्रमाणस्य सार्वकालिकमांसभक्षणादिजन्यदोषनिवारकत्वं वा वैदिकविध्युपयोगिमांसाशनजन्यदोषनिराकरणपरत्वमिति । नाद्यः, निर्वाचितप्रमाणपूर्ववर्तिकतिपयमानवीयप्रमाणजालस्य सति परामृष्टत्वेऽस्याप्यतथात्वात् । निबन्धेऽस्मिन् तद्विवेचनस्यावश्यकतया कुत्राप्यननुष्ठितत्वेन चात्र परामर्ष्टुमुत्तोल्यते निम्नतः प्रमाणव्रातम् ।

“यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येत्येष दैवो विधिः स्मृतः ।

अतोऽन्यथा प्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुच्यते ॥

क्रौत्वा स्वयं वापुःत्पाद्य परोपकृतमेव वा ॥

देवान् पितॄन् चार्चयित्वा खादन् मांसं न दोषभाक् ।

मधुपर्को च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि ॥

अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्वेत्यब्रवीन्मनुः ।

गृहे गुरावरण्ये वा निवसन्नात्मवान् द्विजः ॥

नावेदविहितां हिंसामापद्यपि समाचरेत् ।
 या वेदविहिता हिंसा नियताऽस्मिंश्चराचरे ॥
 अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्वर्मी हि निर्वभौ ।
 योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ॥
 स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्-सुखमेधते ।
 न भक्षयति यो मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत् ॥
 स लोके प्रियतां याति व्याधिभिश्च न पौड्यते ।
 स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
 अनभ्यर्च्य पितॄन् देवांस्ततोऽन्यो नाख्यपुण्यवान् ॥”

इत्यादिमानवीयप्रमाणानां कृते सति सुविवेचने को विश्वसेद्यत् “न
 मांसभक्षणे दोषः”-इति प्रमाणस्य सार्वकालिकमांसभक्षणादिजन्यदोषनिवारक-
 तया स्वाभाविकानुरागवशतः परिसंख्याविधिपरिचायकत्वमिति । न
 तावत्तत् । किन्तु द्वितीयपक्षीयवैधिकमांसभक्षणजन्यदोषोपशमनावेदकत्व-
 मेतस्य ।

एतादृशार्थो न भवेदशास्त्रीयोऽयौक्तिकश्च । निरुक्तवचनस्य भाष्यकर्तु-
 र्मेधातिथेस्तद्वचनव्याख्यातुः कुल्लूकभट्टस्य चैतद्विवृतेः पर्यालोचनयाऽस्यार्थस्य-
 स्फुटतः प्रकाशितत्वात् । अतः प्रमाणमेतत् कस्यापि विधेर्न परिचायकं-
 प्रस्तुतविषयबोधकं प्रोक्तमांसवर्जनमहाफलानुवादमात्रम् । विवरणस्यास्य-
 समस्तस्य सत्यत्वमनुभवितुमभिलाषश्चेत् । तदीयं निम्नस्थमेधातिथिभाष्यं-
 तथा कुल्लूकभट्टस्य तदीयविवृतिं चावलोकयन्तु भवन्तः ।

तथा मेधातिथिः,—

“प्रणस्यानमित्यत-आरभ्य यावदयं श्लोकोऽर्थवादसङ्घात एव द्विवाः-
 श्लोका विषयार्थाः । न मांसभक्षणे दोषो, यथा क्रीत्वा स्वयं चाप्युत्पाद्येति-
 तथायमपि श्लोकः । निवृत्तिस्तु महाफलेत्येतदत्र श्रूयते । बहुभिर्निन्दाकरै-
 रीदृशः संस्कारो जातो यन्न किञ्चिन्मांसमशितव्यं । भूतानां ह्यर्थमाह । न-

मांसभक्षणे दोष इति । देवार्चनशिष्टे ब्राह्मणकाम्यादिषु निमित्तेषु प्रागुक्तेषु-
न दोषः । किञ्चिदशितुमिच्छन्ति । निवृत्तिर्न भक्षयामीति सङ्कल्पपूर्विका-
महाफला । फलविशेषाश्रुतः स्वर्गः फलमिति मीमांसकाः । एवं मद्ये-
क्षत्रियादीनां, मैथुने तु सर्ववर्णानां दिवोदक्या पर्वकालादन्यत्र । अल्पस्वल्पा-
प्रवृत्तिरेषा शास्त्रीया भूतानां शरीरस्थितिहेत्वर्था प्रवृत्तिः ।

तथा चायुर्वेदकृतः,—

“आहारो ब्रह्मचर्यं च निद्रा चेति त्रयं मतम् ।

मादकञ्च स्त्रियश्चैव ह्युपस्तम्भनमायुषः ॥ इति ।

यस्तु तेन विनापि शक्नोति जीवितुं तस्य निवृत्तिर्महाफला । प्रदर्शनार्थञ्चै-
तदशिष्टाप्रतिषिद्धविषयाणामन्येषामपि निवृत्तिरेवमेव । व्यासश्च भगवानेव-
माह । ये तु संसक्तितोऽशिष्टाप्रतिषिद्धा अपि यथाहसितकण्डूयनादयस्ततो-
निवृत्तिर्धर्माय” ।

तथाच कुक्कुकभट्टः,—

“न मांसभक्षण इति । ब्राह्मणादीनां वर्णानां यथाधिकारमविहिताप्रति-
षिद्धभक्षणादौ न कश्चिद्दोषो यस्मात् प्राणिनां भक्षणपानमैथुनादौ प्रवृत्तिः-
स्वाभाविकोऽयं धर्मः । वर्जनं पुनर्महाफलं । अविहिताप्रतिषिद्धमद्यमैथुन-
निवृत्तेर्महाफलकथनार्थोऽयं उक्तस्य मांसवर्जनमहाफलकथनस्यानुवादः” ।
गतोऽयं मनुवाक्यपरामर्शः ।

संप्रति समालोच्यते निरुक्तभागवतीयवचनं । पूर्वप्रदर्शितस्यैतस्य वचनस्य-
व्याख्याकर्तृणां स्वाभिचरणानां प्रोक्तविशेषविहत्या यथा प्रतिपादितम् । परि-
संख्याविध्यन्तर्गतत्वमृतुगमनस्य तन्नायौक्तिकं तत्पक्षतः । कुत इति चेदुच्यते,-
निरुक्तभागवतीयवचनस्य वक्तुश्चमसस्यावधूततया तद्व्याख्याकारकस्यापि-
परमहंसपरिव्राजकतया च तदीयसिद्धान्तेन विवाहस्य सत्येव परिसंख्यान्तर्गत-
त्वेऽपि न कोऽपि दोषः संघटेत । यतो नाधिकारिता कर्मकाण्डे ज्ञानैक-
परायणानां । अतो मीमांसकैः साकं ज्ञानिनां नानुचितो मतभेदः ।

श्रीविश्वनाथचक्रवर्तिकर्तृकैतद्वचनविहतेः सति नयनगोचरीभूतत्वे-

याथार्थमेतत् हृदयादर्शं प्रतिफलितं सत् पाठकानन्दोत्पादकं भविष्यतीत्यनु-
मिनुमः । अतस्तद्विवृतेः कतिचित्-पञ्क्तयोऽलोक्तोक्ताः । यथा, विश्वनाथ-
चक्रवर्त्तिनः । “प्रवृत्तिकर्मैकनिष्ठानां सते यथा—अत्यन्तमप्राप्तौ विधिः, यत्र
रागतो विध्यन्तरतो वा सर्वथैव प्राप्तिर्नास्ति । स विधिरुच्यते ।

अहरहः सन्ध्यासुपासीतेत्यादि । साधनानं प्रकुर्वीतेति, निशि न
स्नायात् । चन्द्रग्रहे स्नायादिति ॥ अथ निवृत्तिकर्मैकनिष्ठानां सतेऽर्थो यथा—

अत्यन्तं सर्वथा प्राप्तौ विधिः, अहरहः सन्ध्यासुपासीतेत्यादि । अथवा
वचनस्यास्य यथा स्वयम्बरपक्षे सावकाशत्वं तदेवाग्रे स्फुटीभविव्यति” । यात-
मेतदज्ञानिर्व्याणां मतमेव । अधुना मीमांसकचूडामणिभिः श्रीविज्ञानेश्वर-
चरणैर्मिताक्षरानामिकायां स्वस्ततयाज्ञवल्काटीकायां परिसंख्याविधेः प्रदर्श्य-
दोषसंकुलतामृतगमनस्य नियमविध्यन्तर्भूतत्वमापादितं कीदृक्, तत्पश्यन्तु-
निजतः—

यथा मिताक्षरायां विज्ञानेश्वरः,—“तत्र सुरचितत्वं यथा कामित्वेन-
स्त्रान्तरागमनेन भवतीत्यत्राह । तस्मिन् शुग्मासु संविशेदिति । किमयं
विधिर्नियमः परिसंख्या वा । उच्यते । न तावद्विधिः प्राप्तार्थत्वात् । नापि-
परिसंख्या दोषत्रयसमासक्तेः । अतो नियमं प्रतिपेदिरे न्यायविदः । कः पुन-
रेषां भेदः । अत्यन्ताप्राप्तप्रापणं विधिः । यथा, “अग्निहोत्रं जुहुयादष्टकाः-
कर्त्तव्या” इति । पक्षे प्राप्तस्याप्राप्तपक्षान्तरप्रापणं नियमः । यथा स “समे
देशे यजेत” इति । यागः कर्त्तव्यतया विहितः स च देशमन्तरेण कर्त्तुमशक्त्व-
इत्यर्थाद्देशः प्राप्तः, स च समो विषमश्चेति द्विविधः । तदा यजमानः समे-
यियच्छते, तदा समे यजेतेति वचनमुदास्ये स्वार्थस्य प्राप्तत्वात् । यदा तु विषमे-
देशे यियच्छते, तदा समे यजेतेति स्वार्थं विधत्ते स्वार्थस्य तदानीमप्राप्त-
त्वात् । विषमदेशनिवृत्तिस्वार्थिकी, चोदितशब्देन यागनिष्पत्तिः ।
अचोदितदेशोपादाने यथाशास्त्रं यागो नानुष्ठितः स्यादिति । तथा-
“प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीत” इति । इदमपि स्मार्त्तमुदाहरणं पूर्वेण व्याख्यातम् ।
एकस्यानेकत्र प्राप्तस्यान्यतो निवृत्त्यर्थमेकत्र पुनर्वचनं परिसंख्या । तद्यथा,—

“इमामगृह्णन्नृशनामृतस्य इत्यश्वाभिधानीमादत्त इत्ययं सन्तः । स-

सामर्थ्यादश्वाभिधान्या गर्दभाभिधान्याश्च रशनाया ग्रहणे विनियुक्तः पुनरश्वाभिधानीमादत्त इत्यनेनाश्वाभिधान्या विनियुज्यमानो गर्दभाभिधान्या निवर्त्तते ।

तथा, “पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः”, इत्यत्र हि यदृच्छया खादिषु शशादिषु च भक्षणं प्राप्तं पुनः शशादिषु श्रूयमाणं खादिभ्यो निवर्त्तत इति । किं पुनरत्र युक्तं परिसंख्येत्याह । तथाहि कृतदारसंग्रहस्य स्वेच्छयैवर्त्तौ-गमनं प्राप्तमिति न विधेरयं विषयः, नापि नियमस्य, गृह्यस्मृतिविरोधात् । एवं हि स्मरन्ति गृह्यकाराः । “दारसंग्रहानन्तरं त्रिरात्रं द्वादशरात्रं-संवत्सरं वा ब्रह्मचारी स्यादि”ति । तत्र द्वादशरात्रात्संवत्सराद्वा पूर्वमेव ऋतुसंभवे ऋतौ गच्छेदेवेति नियमात्-ब्रह्मचर्ये स्मरणं बाधेत । अपिच, प्राप्ते भावार्थे वचनं विशेषणपरं युक्तम् । प्राप्तं चर्त्तौ भार्यागमनेच्छयैवातो-यदि गच्छेद्वतावेवेति वचनव्यतिर्युक्ता । किंच नैयमिकात्पुत्रोत्पत्ति-विधेरिव ऋतौ गमनं नित्यप्राप्तमेवेति ऋतौ गच्छेदेवेति नियमोऽनर्थकः स्यात् । नियमे चादृष्टं कल्पनीयं । किंच, ऋतौ गन्तव्यमेवेति-नियमे ऽसन्निहितस्य व्याध्यादिनाऽसमर्थस्यानिच्छोश्चाशक्वोऽर्थ-उपदिष्टः स्यात् । विध्यनुवादविरोधश्च नियमे, तथाहि एकः शब्दः सकृदुच्चरितस्तमेवार्थं पक्षे-अनुवदति पक्षे विधत्ते च” इति । तस्माद्वतावेव गच्छेन्नान्यत्र परिसंख्यैव युक्ता । तदिदं भावचिचिखरूपादयो-नानुमन्यन्ते । यतो-नियम-एव युक्तः । पक्षे-स्वार्थविधिसम्भवात्, अगमने दोषश्रवणाच्च ।

“ऋतुज्ञातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति ।

घोरायां भ्रूणहत्यायां युज्यते नात्र संशयः” ॥ इति ।

न च विध्यनुवादविरोधः अनुवादाभावात् विध्यर्थत्वाच्च वचनस्य । तत्र-हि विध्यनुवादविरोधः ।

यत्र विधेयाबाधितया तदेवानुवेदितव्यमप्राप्ततयाऽन्योद्देशेन विधातव्यञ्च । यथा वाजपेयाधिकरणपूर्वपक्षे वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेतेति । वाजपेयलक्षणगुणाविधानावधित्वेन यागोऽनुवेदितव्यः । स एव स्वाराज्य-लक्षणफलोद्देशेन विधातव्यश्चेति । न चानुवादेनेह कल्पमस्ति । यत्तु-

नियमेऽदृष्टं कल्पनीयमित्युक्तं तत्परिसंख्यायामपि समानम् । अनृतौ-गच्छतो-
दोषकल्पनात् । यत्तु नैयमिकपुत्रोत्पादनविध्यान्नेपेणैव ऋतौ नित्यगमन-
प्राप्तेर्न नियम-इति तदसत् । स एवायं नैयमिकपुत्रोत्पादनविधिः
स्यान्मतम् । एवं गच्छन् स्त्रियं चामां लक्षणं जनयेदिति स्त्र्यभिगमनाति-
रिक्तः पुत्रोत्पादनविधिरिति, तन्न । गमनकरणिकाया भावनाया एव-
पुत्रोत्पत्तिकर्मता प्रदृश्यते । एवं गच्छन् लक्षणं पुत्रं जनयेदित्यनेन यथाग्नि-
होत्रं जुह्वन् स्वर्गं भावयेदिति । न चासन्निहितादेरशक्यार्थविधिप्रसङ्गः-
सन्निहितशक्तयोरेवोपदेशात् । “ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोप-
गच्छतीति ।” “यः स्वदारानृतुस्नातान् स्वस्थः सन्नोपगच्छती”ति विशेषोपा-
दानात् । अनिच्छानिवृत्तिस्तु नियमविधानादेव । न च विशेषणपरतापि-
पक्षे भावार्थविधिसम्भवात् । नापि गृह्य-स्मृतिविरोधः । सम्बत्सरात्-पूर्वमेव-
ऋतुदर्शने संविशतो ब्रह्मचर्यस्खलनदोषः आह्लादिषु । तस्मात् स्वार्थज्ञानि-
परार्थकल्पनाप्राप्तबाधलक्षणदोषत्रयवती परिसंख्या न युक्ता । स्वार्थस्य श्रुतस्य
वाच्यार्थस्य ऋतुगमनस्य त्यागः स्यात्, तथा परार्थस्याश्रुतस्यानृतुगमनस्या
नृतौ भार्यां नोपेयादित्येवं कल्पनेति दोषद्वयं शब्दप्रवहारेण प्रतीयत इति-
शब्दनिष्ठं, तथा रागतः प्राप्तस्यानृतुगमनस्य बाध इत्येको दोषोऽर्थविचारात्-
कल्पित इत्यर्थनिष्ठ इत्येवं दोषत्रयं स्यात् यतो-वाच्यार्थासम्भावान्नक्षणातो-
निवृत्तिपरिभाषणे दोषत्रयम् । इति ।

“पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या”-इत्यत्र यद्यपि शशादिषु भक्षणस्य पक्षे प्राप्तेर्नियमः,
शशादिषु खादिषु च प्राप्तेः परिसंख्येत्युभयसम्भवः । तथापि नियमपक्षे शशाद्य-
भक्षणे दोषप्रसङ्गः । खादिभक्षणे चादोषप्रसङ्गेन प्रायश्चित्तस्मृतिविरोध इति-
परिसंख्यैव श्रिता । एतेन “सायं प्रातर्द्विजातीनामशनं स्मृतिचोदित”मित्य-
त्रापि नियमो व्याख्यातः । नान्तरा भोजनं कुर्यादिति च पुनरुक्तं स्यात्-परि-
संख्यायामेव च नियमे सति ऋतावृताविति विष्ठा लभ्यते निमित्तावृता
नैमित्तिकमप्यावर्त्तते इति न्यायात् । यथा कामी भवेदित्यपि नियम एव ।
अनृतावपि स्त्रीकामनायां सत्यां स्त्रियमपि रमयेदेवेति । ऋतावुपेया-
त्सवत्र वा प्रतिषिद्धवर्ज्यमित्येतदपि गौतमीयसूत्रद्वयं नियमपरमेव ।

ऋतावुपेयादन्तावपि स्त्रीकामनायां प्रतिषिद्धवर्ज्यमुपेयादेवेत्यलमति-
प्रसङ्गेनेति ।

निरुक्तप्रमाणपरामर्शतो यदुपलब्धमेतत्, प्रवृत्तिमार्गेकनिष्ठानां निवृत्ति-
कर्मैकपरायणानाञ्च मतं पृथगिति ध्रुववचनम् । तथापि विषयेऽस्मिन् पुनर-
प्यापत्यन्तरं भवेदुत्थापितम् । तस्य किमात्मकतायां सति सन्देहे विव्रियते-
निन्नतस्तत् ।

यथा पराशरस्मृतौ आचाराध्याये माधवः ।

ननु नैष्ठिकब्रह्मचर्याङ्गीकारे गार्हस्थ्यं निर्विषयं स्यात् । तन्न, गार्हस्थ्यस्य-
रागिविषयत्वात् ऐच्छिकत्वञ्च वशिष्ठेन दर्शितम् । “चत्वार आश्रमा ब्रह्मचारि-
ग्रहस्थवानप्रस्थपरिव्राजकास्तेषां वेदमधीयीत वेदान् वा चीर्णब्रह्मचर्या-
यमिच्छेत्तमावसेदिति ।”

भविष्यपुराणेऽपि,—

“गार्हस्थ्यमिच्छन् भूपाल ! कुर्याद्धारपरिग्रहम् ।

ब्रह्मचर्येण वा कालं नयेत्सङ्कल्पपूर्वकम् ।

वैखानसो वापि भवेत्-परिव्राडथवेच्छया” ॥ इति ।

तस्माद्वागिविषयत्वेनैव गार्हस्थ्यं व्यवस्थापनीयम् ।

तथा ऋक्वेदे मं १० सू ८५ ऋ ६—

“सोमो बधूरभवदश्विनास्त्रासुभावरा ।

सूर्यां यत्पत्ये शंसंतीं मनसा सविता ददात्” ।

सायनः,—

“पत्ये शंसंतीं पतिं कामयमानां पर्याप्तयौवनामित्यर्थः” ।

ऋक्वेदे—मं १० सू ८३ ऋ ३७—

“या न ऊरू उशती विप्रयाते यस्यामुशन्तः प्रहरेम शेफम्” ।

सायनः,—“उशतीं कामयमानां” ।

एतादृक्श्रौतस्मार्त्तपौराणिकप्रमाणानां चक्षुर्गोचरीभूतत्वेऽपि बाहुल्यभिया-
ग्रथस्य न सन्निवेशितान्यत् तानि । प्रावत्येनैतत्प्रमाणवृन्दस्य नैष्ठिक-

ब्रह्मचारिणोरिव साधारणस्त्रीपुरुषाणां प्रतिभाति विवाहस्येच्छाधीनत्वमिति पूर्वपक्षः । मैवं । उपर्युक्तविश्वनाथचक्रवर्त्तिज्ञतद्विवर्तेः पर्यालोचनयैव-सत्यपि-संजाते समाधाने बहुदूरानुसरणं न समीचीनमिति निष्कर्षः । यत्तु, प्रोक्तप्रमाण-विसरप्रकाशितैच्छिकत्वरागित्वादिशब्दावलोकनेनैव यद्विवाहस्यैच्छिकत्वमुद्भावितं तन्नन्दं । अतो जननीजनकावगतिविषयत्वमन्तरा वक्ष्यमाणाष्टविध-विवाहादन्यतमे शास्त्रगर्हिते गान्धर्वविवाहे विवाहपूर्वतः परस्परं कामयमानयोः कन्यावरयोरेतादृशशब्दव्यवहारस्य सुवचस्वं नान्यत्रेति निर्विवादम् । अन्यथा पूर्वापरासङ्गत्यापत्तेः । तथा नैष्ठिकब्रह्मचारिणोरुपयमस्यैच्छिकत्वकल्पने स्वमतसमर्थनमन्तरा नान्यदिति भावः । तथात्वे यागादीनामपीच्छामूलकत्वेनापूर्वादिविधिकल्पनाभङ्गापत्तिः विनापीच्छां कार्य्यमात्रेऽपि प्रवृत्तेरचक्षुर्विषयत्वात्, कर्त्तव्यमेवमकर्त्तव्यमेवमिति कार्य्यसामान्यस्यापि कामनामूलकत्वाच्च ।

अन्यच्च

स्त्रीपुरुषयोः संप्रदाने पित्रादीनामधिकारस्य विद्यमानतया न तावदम्पतीच्छाधीनत्वं विवाहस्येति सुस्थिरम् । दृढीकरणार्थमेतस्य संयोजितान्यत्रप्रमाणानि ।

यथा याज्ञवल्करः,—

“पिता पितामहो भ्राता साकुल्यो जननी तथा ।

कन्याप्रदः पूर्वनाशे प्रकृतिस्थः परः परः ॥

अप्रयच्छन् समाप्नोति भ्रूणहत्यामृतावृतौ ।” इत्यादि ।

अतो विदितमेतद्यत्, मीमांसकानां विवाहविषयेऽपूर्वनियमान्यतरविधिमवलम्ब्य सत्यपि मतभेदे लक्षिते न तदीयानां केषामपि सुखतो विवाहस्योच्चरितं परिसंख्याविध्यन्तर्गतत्वं । ननु स्वयम्भवावसरे गान्धर्वविवाहस्यदम्पतीच्छया निष्पन्नत्वेन न कथं भवेत्परिसंख्याविध्यन्तर्भूतत्वं तस्येति चेत्, न । तत्रापि तयोः संप्रदाने पित्रादीनामधिकारस्य पूर्वतः प्रोक्ततयाऽपूर्वविधिपूर्वकस्य वा नियमविधिपूर्वकस्य परिसंख्याविधेरन्तर्भूतत्वात् केवल-

परिसंख्याविधेरनन्तर्गतत्वाच्च । अतो विवाहस्यापूर्वनियमान्यतरविध्यन्तर्गत-
त्वेन केवलपरिसंख्याविध्यन्तर्भूतत्वमप्यस्य दूरमपास्तमिति परामर्शः ।

इति विवादीयविधिविचारः ॥

विवाहस्य विध्यन्तर्भूतत्वविचाराभ्यन्तरे तस्याष्टविधत्वोल्लेखदर्शनात्-
कौटुम्बिकविधत्वं तस्येति समुत्पन्ने सत्यपि सन्देहे तन्निरसनाय नामतो मन्वादि-
भिर्धर्मशास्त्रकारैस्तस्य यथाष्टविधत्वमापादितं तदधः प्रकाश्यतेऽत्र ।

यथाह मनुः,

“चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिताहितान् ।

अष्टाविमान् समासेन स्त्रीविवाहान् निबोधत ॥”

“चतुर्णामपि वर्णानां ब्राह्मणादीनां परलोके इहलोके च काञ्चित् हितान्-
काञ्चिदहितान् इमान् अभिधास्यमानान् अष्टौ संक्षेपेण भार्याप्राप्तिहेतून्-
विवाहान् शृणुते”ति कुल्लूकभट्टः ।

तथा,—

“ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः ।

गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥”

“त एते नामतो निर्दिश्यन्ते ब्राह्म इति ।

ब्राह्मराक्षसादिसंज्ञा चेयं शास्त्रसंव्यवहारार्थां स्तुतिनिन्दाप्रकाशनार्थां च-
ब्राह्मण-इवायं ब्राह्मः । राक्षस इवायं राक्षसः । न तु ब्रह्मादिदेवताकत्वं-
विवाहानां सम्भवति । पैशाचस्याधमत्वाभिधानं निन्दातिशयार्थमिति”
कुल्लूकभट्टः । निरुक्तविवाहनिवहस्य गुणदोषोल्लेखपूर्वकं धर्म्यगर्ह्यपरिहार्यत्वं
प्रदर्श्यते शास्त्रकारैर्यद्यद्वर्णस्य, संप्रति निर्दिश्यते तद्विभागशस्तसद्वर्णस्य
निश्चितः ।

यथाह मनुः—

“यो यस्य धर्म्यो वर्णस्य गुणदोषौ च यस्य यौ ।

तद्वः सर्वं प्रवक्ष्यामि प्रसवे च गुणागुणान् ॥”

“धर्मादनपेतो धर्म्यः । यो विवाहो यस्य वर्णस्य धर्म्यो यस्य विवाहस्य यौ गुणदोषौ दृष्टानिष्टफले तद्विवाहोत्पन्नापत्तेषु ये गुणास्तत्सर्वं युष्माकं प्रकर्षेणाभिधास्यामि वक्ष्यमाणानुकीर्तनमिदं शिष्याणां सुखग्रहणार्थमित्ये”-
तद्विद्वत्तिकारः ।

पुनः स एव—

“षडानुपूर्व्या विप्रस्य क्षत्रस्य चतुरोऽवरान् ।
विट्शूद्रयोस्तु तानेव विद्याद्वर्मानराक्षसान् ॥
चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान् प्रशस्तान् कवयो-विदुः ।
राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः ॥
पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ स्मृताविह ।
पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्त्तव्यौ कदाचन ॥
पृथग्पृथग्वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्वचोदितौ ।
गान्धर्वौ राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ ॥”

“ब्राह्मणस्य ब्राह्मादिक्रमेण षट् । क्षत्रियस्य अवरान् उपरितनान्-
आसुरादींश्चतुरः ।

विट्शूद्रयोस्तु तानेव राक्षसवर्जितानासुरगान्धर्वपैशाचान् धर्मादनपेतान्-
जानीयात्” ॥ इति तद्व्याख्यातारः । मानवीययुगप्राग्भावि मतमिदम् ।

तथा,—

“ब्राह्मणस्य प्रथमपठितान् ब्राह्मादींश्चतुरः, क्षत्रियस्य राक्षसमेकमेव ।
वैश्यशूद्रयोरासुरं एतान् श्रेष्ठान् ज्ञातारो जानन्ति । अतएव ब्राह्मणादि-
व्वासुरादीनां पूर्वविहितानामप्यत्रानुपादानं जघन्यत्वज्ञापनार्थं । तेन-
प्रशस्तविवाहासम्भवे जघन्यस्यापि परिग्रह इति दर्शितम् । एवमुत्तरत्रापि-
विगर्हितपरित्यागो ब्रूव्यः ।” इति विद्वत्या पूर्वेण-साकं सामञ्जस्ये व्याख्यात्रा-
प्रतिपादिते सत्यपि न तावन्मन्त्रभिप्रायोऽयमिति स्पष्टतः प्रतीयते परतो-
आत्मनैव स्वमतस्य प्रकटीकृतत्वात् । अतो मतान्तरमेतदिति सुस्थिरम् ।

तथाच,—

“इह पेशाचप्रतिषेधादुपरितनानां पञ्चानां प्राजापत्यादीनां ग्रहणम् । तेषु मध्ये प्राजापत्यगान्धर्वराक्षसास्त्रयो धर्मादनपेताः । तत्र प्राजापत्यः-
क्षत्रियादीनामपामो विधीयते ब्राह्मणस्य विहितत्वादनूयते । गान्धर्वस्य च-
चतुर्णामिव प्राप्तत्वादनुवादः । राक्षसोऽपि वैश्यशूद्रयोर्विधीयते ब्राह्मणस्य-
क्षत्रियवृत्तावस्थितस्यापि आसुरपेशाच्चौ न कर्त्तव्यौ । कदाचनेत्यविशेषा-
चतुर्णामिव निषिध्यते । अत्र यं वर्णं प्रति यस्य विवाहस्य विधिनिषेधौ तस्य तं-
प्रति विकल्पो न च विहितासम्भवे बोद्धव्यः” । इत्येतद्व्याख्यातुर्व्याख्यानमिदं-
विभिन्नमतव्यूहैक्यावेदकमिति प्रतिभाति मनुवचनेनानेनैतद्भावस्याप्रकाशित-
त्वात् । मतान्तरबोधकशब्दानामत्रासत्त्वेन मतमिदं मन्वनुमोदितमिति
निर्णयः । तथा—“पृथक् पृथगिति—प्राप्तत्वादनूयते,—मिश्राविति विधीयते ।
पृथक् पृथक् मिश्रौ वा पूर्वविहितौ गान्धर्वराक्षसौ क्षत्रस्य धर्म्यौ मन्वादिभिः-
स्मृतौ । यदा स्त्रीपुंसयोरन्योन्यानुरागपूर्वकसम्वादेन परिणेता युद्धादिना
विजित्य तामुद्बहेत्,—तदा गान्धर्वराक्षसौ मिश्रौ भवतः ।”

इति तद्व्याख्यातारः । एतदपि तन्मतान्तर्भूतम् ।

गुणमन्तरोक्तिश्चिताष्टविधविवाहस्य विस्तरतः केवलं स्वरूपस्य मनुनोप-
वर्णिततया याज्ञवल्क्येनापि सगुणस्य तस्य संक्षेपतो युगपदुद्भावितत्वाच्च-
पृथुलाकृतित्वमियाऽस्य अन्यस्यैतद्विषयकमनूक्तवचनजालमपहाय संप्रति तेषां-
यथाक्रमं तत्तद्विवाहस्वरूपं विवृत्यते याज्ञवल्क्यवचनोपन्यासेनात्र,—

यथाह याज्ञवल्क्यः,—

“ब्राह्मो विवाह आहूय दीयते शक्त्यलंकृता ।

तज्जः पुनात्युभयतः पुरुषानेकविंशतिम् ॥

“स ब्राह्माभिधानो विवाहः यस्मिन् उक्तलक्षणाया अर्थात् (श्रुतशीलवते)
वराय आहूय यथाशक्त्यलंकृता कन्या दीयते उदकपूर्वकम् । तस्यां जातः-
पुत्रः उभयतः पित्रादीन् दश पुत्रादींश्च दश आत्मानं चैकविंशं पुनाति सद-
वृत्तश्चेदि”ति मिताक्षरा ।

तथा,—

“यज्ञस्य ऋत्विजे दैव आदायार्घस्तु गोद्वयम् ।

चतुर्दश प्रथमजः पुनात्युत्तरजश्च षट् ॥”

“स दैवो विवाहः यस्मिन् यज्ञानुष्ठाने वितते । (प्रारब्धे) ऋत्विजे कर्म-
कर्त्तुं शक्त्यलङ्घिता कन्या दीयते ॥

यत्र पुनर्गोमिथुनमादाय कन्या दीयते स आर्घः । प्रथमजो दैवविवाहजः-
चतुर्दश पुनाति समावरान् सप्त परान् । उत्तरज आर्घविवाहजः षट् पुनाति
तीन् पूर्वान् तीन् परान्” । इति विज्ञानेश्वरः ।”

तथाचात्र मनुवचनव्याख्याता कुल्लूकभट्टः । स्त्री-गवी पुंगवश्च गोमिथुनं-
तदेकं गोमिथुनं द्वे वा वरात् धर्मार्थं यागसिद्धये कन्यायै वा दातुं न शुक्लवृद्धा
गृहीत्वा यद् यथाशास्त्रं कन्यादानं स आर्घा विवाहो विधीयत” इति ।

पुनः स एव याज्ञवल्क्यः,—

“द्वत्युक्ता चरतां धर्मं सह या दीयतेऽर्थिने ।

स कायः पावयेत्तज्जः षट् षट् वंश्यान् सहात्मना” ॥

“सह धर्मं चरतामिति परिभाष्य कन्यादानं प्राजापत्यः । तज्जः षट्-
पूर्वान् षट् परान् आत्मना सहेत्येवं त्रयोदश पुनाति” । इति मिताक्षरायां-
विज्ञानेश्वरः ।

तथाच,—स एव,—

“आसुरो द्रविणादानाद्गान्धर्वः समयान्मिथः ।

राक्षसो युद्धहरणात्-पैशाचः कन्यकाकृलात्” ॥

“आसुरः पुनर्द्रविणादानात् । गान्धर्वस्तु परस्परानुरागेण भवति ।
राक्षसो युद्धेनापहरणात् । पैशाचस्तु कन्यकाकृलात् छलेन छद्मना स्वापाय-
वस्थास्वपहरणात् ॥”

इति योगी विज्ञानेश्वरः ।

तथाचात्र यथाह विशेषतो मनुसंहिताव्याख्यातकुल्लूकभट्टः,—

“कन्याया ज्ञातिभ्यः पितादिभ्यः कन्यायै वा यत् यथाशक्ति धनं दत्त्वा-
कन्याया आप्रदानं आदानं स्वीकारः स्वाच्छन्द्यात् स्वेच्छया न त्वार्थ इव-
शास्त्रीयधनजातिपरिमाणनियमेन स आसुरो विवाह उच्यते ।”

तथा,—

“कन्याया वरस्य चान्योन्यानुरागेण परस्परसंयोग-आलिङ्गनादिरूपः स-
गान्धर्वो ज्ञातव्यः ।

सम्भवत्यस्मादिति सम्भवः यस्मात् कन्यावरयोरभिलाषादसौ सम्भवति ।
अतएव मैथुनाय हितः सर्वविवाहानां मैथुन्यत्वे यद्यस्य-मैथुन्यत्वाभिधानं-
तत् सत्यपि मैथुने न विरोध इति प्रदर्शनार्थं”, इति ।

तथाच मनुभाष्यकर्तुर्मेधातिथेर्गान्धर्वविवाहविषयणी विवृतिः ।

यथा—

“इच्छया च वरस्य कुमार्याश्च प्रीत्या परस्परसंयोग-एकप्रदेशे संगमनं ।
तस्येयं निन्दा, मैथुन्यः कामसम्भवः । मिथुनप्रयोजनो मैथुनः तस्मै हितो-
मैथुन्यः एष एवार्थो विष्णुष्टीकृतः कामसम्भव इति, सम्भवत्यस्मादिति सम्भवः-
कामः सन्धवोऽस्येति” ।

अपरं च संक्षेपतो विवाहानामेतिषां प्रभेदः प्रदर्श्यते मेधातिथिना स्वभाष्ये,
यथा,—

“एषां च प्रभेदः, अप्रार्थितोपनतो भूमिहिरण्यादिवद् ब्राह्मः । ऋत्विक्त्वेन-
विशेषेण दैवः । गोमिथुनेनार्घ्यः याज्याऽयाज्या वा सहोभौ चरतां धर्म-
मिति व्यवस्थया प्राजापत्यः । शेषाः सुबोध्या भेदा”-इति । ननु निरुक्ताष्टविध
विवाहान्तर्गतगान्धर्वराक्षसपैशाचेषु संस्कारस्याविद्यमानतया विवाहत्वं कथं-
संगच्छत एतेषामिति संजातायां शङ्कायां निरस्यते सा मेधातिथिभाष्य-
प्रदर्शनेनैव ।

यथा मेधातिथिः,—

“इह गान्धर्वराक्षसपैशाचानां प्रकृतविवाहसामानाधिकरण्यात् संयोग-
हरणोपगमा एव पाणिग्रहणसंस्कारनिरपेक्षा विवाहा इति मन्यन्ते, तेषां
ब्राह्मादिष्वपि दानविवाहयोः सामानाधिकरण्यात्-संस्कारो विनिवर्त्तते ।

यथाच न निवर्त्तते तथा दर्शितं, लक्षण्या विवाहप्रयोजनदाने विवाह-
शब्दः ॥

गान्धर्वे तु भगवता कृष्णद्वैपायनेन दुष्प्रवृत्तशकुन्तलासंगमने वर्णितमन-
ग्निकममन्त्रकमिति । तद्दर्शनेन पाणिग्रहणसंस्कारोऽस्ति वर्जितस्तु पैशाचे ।
पुनर्विवदन्ते मुख्यञ्चोपगमनं न तु कन्यात्वमपेति संस्कारैस्तदुपनिवर्त्तनात् ।

अतः पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्त्वेव प्रतिष्ठिताः । इति

प्रतिषेधस्याप्रवृत्तेरस्येव मन्त्रवत्-संस्कारसम्बन्धः ॥

स च प्रतिषेधः कृतः संस्कारप्रतिषेधार्थः । सा हि मन्त्रैः संस्कृतत्वाद्वा-
पगतकन्याभावे । अतएव भवतु प्रथममुपगमस्ततोऽकन्यादोषो नास्ति । तथा-
च कानीनः कर्ण इति दर्शनं । यदि तु पुरुषप्रयोगेण कन्यात्वमपेयात्-
कथमियं वाचो युक्तिः कन्यायाः पुत्रः कानीनः । इति ।

अथ त्वसंस्कृता कन्योच्यते । ततो युक्तं कर्णादयो ह्यनूदायाः पुत्रा इति-
मुखेऽभ्युपगमने कन्याया अपत्योत्पत्तेः सम्भवः । वर्ण्यते चेतिहासादिषु-
तथाभूताया विवाहः । अथ मध्यमदादिना निर्हतेरिति सम्बन्धः किमर्थः-
संस्कार इति । अत्रोच्यते यद्यपि स्त्रीपुंस्वधर्मौ निवृत्तोऽतिक्रान्तश्च कन्या-
गमनप्रतिषेधस्तथापि तथा सहाधिकारार्थं पुनश्च गमने कन्यागमनं मा-
भूदिति तदर्थं संस्कारकरणं । कन्यागमनप्रतिषेधातिक्रमसम्बन्धेन पुरुषार्थ-
तयाऽपि” । इति ।

निरुक्तोपयमीयविषयस्य स्थूलतया सति सप्रमाणजालमुपवर्णितत्वेऽपि-
विषयस्यैतस्य जाटिल्येन सारमुद्धर्तुं तन्मध्यतोऽशक्यतया संक्षेपतः प्रदर्शयति-
तद्विवेचनं सुखसुबोधार्थमत्र । ब्राह्मणदृष्टिविधविवाहानाम् “षडानुपूर्व्य-त्यादि”
प्रमाणबलादिप्रादिवर्णभेदेन दृश्यते यादृग्विभागः । तदनन्तरं “चतुरो
ब्राह्मणस्ये”त्यादिवचनसामर्थ्येन यथावर्णं परिलक्ष्यते तत्सङ्कोचः ।

पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या इति—प्रभृतिप्रमाणशक्तिस्तत्परिवर्त्तनमपि-
नयनगोचरीभूतं तत्परतः । स्फुटतोऽवबोध्यते समयानुसारेण समाजादृता-
चाराबलीमवलोक्य लिपिबद्धाञ्चक्रुस्तां पूज्यपादा महर्षयः स्वस्वनिर्मितसंहिता-
ग्रन्थेष्विति । नैतदसङ्गतम् ।

यतः संसारस्य क्रमोन्नतिवशवर्त्तितया परिवर्त्तनशीलत्वं चावेक्ष्यते-
 ह्यनिशम् । अतएवाष्टविधविवाहस्य सति निर्विवादं पूर्वतः प्रचलितत्वे-
 ऽपि शिक्षायाः क्रमशो विस्तृततयाऽनन्तरभाविस्माजष्टदोषाधायकत्वेन-
 च तत्परिवर्त्त्याचार्यनिवहा रक्षणशीलानां यथाजातार्हशिचित्तव्यक्तीनां पूर्वा-
 दृतविवाहानिक्करे दृढविश्वाससुपलभ्य मूलतस्तदुत्पाटनमविधाय प्रकारान्तरेण-
 जघन्यत्व-प्रतिपादनपूर्वकं स्वार्थं प्रकटयामासुः सर्वसमक्षत इत्यनुमिनुमो-
 वयम् । समीक्ष्यतां तावत् कीदृक् विभागानुष्ठानं क्रमशः समयानुगुणम् ।
 यथा ब्राह्मणवधिराक्षसान्धविधौ विवाहो ब्राह्मणस्य । गान्धर्वादिपैशा-
 चान्तचतुर्विधो विवाहः क्षत्रियस्य । तथा गान्धर्वासुरपैशाचात्मकस्त्रिविधो-
 विवाहो वैश्यशूद्रयोः । केवलं पैशाचोऽन्यजादेः । ततस्तेषु दोषदृष्ट्या-
 भूसुरवर्गस्य ब्राह्मणादिप्राजापत्यान्तचतुर्विध्यात्मकत्वेन तथा द्वितीयवर्णस्य-
 केवलराक्षसरूपत्वेन तृतीयचतुर्थयोस्वासुरात्मकत्वेन च प्रतिपादितं सङ्गुचितत्वं-
 तस्य । जघन्यत्वनिर्देशेनान्धेषामनुष्ठितः परिहारः । तत्परं ब्राह्मणादि-
 शूद्रान्तजातेः प्राजापत्यादिराक्षसावधिकविवाहचित्तयस्य धर्म्यत्वेनात्तत्वं-
 पैशाचासुरयोरधर्म्यत्वेन परिहेयत्वं चापादितं स्वस्वग्रन्थतः । अतः सम्भाव्य-
 तैस्त यदा यदैव यद्यद्वर्णाभ्यन्तरे यद्यद्विवाहजालमासीत्प्रचलितम्,
 तदा तदैव तत्तज्जात्यन्तराले समादृतं तत्तदुपयमजातं प्रधानतममिति-
 निर्दिश्यते पूर्वाचार्यः । अन्यथा तत्तत्तत्तान्तरानुपपत्तेः । परन्तु-
 यथाकालं तद्वेतिमयस्य वैदिकधर्मवाधाऽनाधायकतया प्रायशः सर्वे-
 तदङ्गीकरणं नासन् कुण्ठिता इति धीः ।

अन्यच्च,—

मूलतः प्रधानवीजभूतहिन्दुचक्रवर्त्तिनो-विद्यमानतया तत्तद्वर्णान्तराले-
 तत्तद्विवाहानिक्करस्य परिवर्त्तितत्वादिकमवलम्बितुं सर्वे नासन् पराङ्मुखाः ।
 समाजाभ्यन्तरे च गर्हितविवाहानुष्ठानस्य निर्वधमासीत्परिचलनं तदनुरोधतः ।
 भारते तु क्रमशस्तदाधिपत्यविलोपेन साकं जघन्योपयमाः प्रायशस्तिरोभावम-
 लभन्त समाजतः । प्रकृष्टविवाहाः स्थापयामासुराधिपत्यं सदसि । अतएवावशेषे-
 विप्रादिशूद्रान्तवर्णाभ्यन्तरे विवाहद्वयमभवच्चान्द्रिं निष्प्रत्यूहम् ।

तत्राप्यदृश्यत ब्राह्मी विप्रवर्णमध्ये प्राजापत्यः क्षत्रियादिजातौ च ।

साक्ष्यमत्र प्रददति निबन्धारो विद्याकरवाजपेयिनः स्वनियन्त्रे ब्राह्मणस्य-
केवलदैवविवाहनिरूपणेन ।

यथा नित्याचारपद्धतौ विद्याकरवाजपेयिनः,—

अथ ब्राह्मविवाहलक्षणकथनम्,

“ब्राह्मो विवाह आहूय दीयते शतयलङ्कता” ।

इति यद्व्रह्मचारिणे अनर्थिने दानं स ब्राह्मः ।

“अद्विर्या दीयते कन्या ब्रह्मदेयेति तां विदुः ।

ज्योतिष्टोमातिरात्राणां शतं शतगुणान्वितम् ॥

प्राप्नोति पुरुषान् दत्त्वा होममन्त्रैश्च सत्कृताम् । इत्यादि ।

उपलक्षणमेतत्क्षत्रियजात्यादेः प्राजापत्यविवाहापादने ।

संप्रति तद्व्यस्य वरकन्ययोः शुल्कादानेनासुरसन्धिलितत्वेऽपि वैदिकधर्म-
ज्ञानैरसम्भवनया तन्निश्चितविवाहद्वयं समाचरन्ति सर्वे हिन्दवो निर्विवादम् ।

तथान्यजादिषु प्रायशो गान्धर्वासुरपैशाचाः समभिलक्ष्यन्ते सर्वतः ।

न च,—

“न कन्यायाः पिता विद्वान् गृह्णीयाच्छुल्कमशुपि ।

गृह्णन् शुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी ॥

स्त्रीधनानि तु यो मोहादुपजीवन्ति बान्धवाः ।

नारी यानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्यधोगतिम्” ॥

इत्यादि मानवीयवचनस्य, तथा—

“क्रीता द्रव्येण या नारी न सा पत्नी विधोयते ।

शुल्केन ये प्रयच्छन्ति मुतां लोभविमोहिताः ॥

न सा दैवे न सा पैत्रे दासीं तां काश्यपोऽब्रवौत् ।

आत्मविक्रयिणः पापाः महाकिल्बिषकास्तुते ।

पतन्ति नरके घोरे घ्नन्ति चासप्तमं कुलम् ॥”

इत्यादिविद्याकरवाजपेयिसङ्कलितनित्याचारपद्धत्युद्धृतप्रमाणनिकरस्य च-
सामर्थ्यवलात् शुल्कादानपूर्वकविवाहस्यातीव गर्हिततया तदवलम्बनं-
पुण्यहान्याधायकत्वेन न शास्त्रसङ्गतमिति वाच्यं, प्रमाणानामितेषामापदि-
दत्तावसरत्वात् ।

“प्रदाय शुल्कं कन्याया गच्छेद्गः स्त्रीधनं तथा ।

धार्या सा वर्षमेकं तु देयान्यस्मै विधानतः ॥”

इति नारदीयवचनेन शुल्कग्रहणस्यानुमोदितत्वात्,

“आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत्” ।

इति वचनोद्धेखेन मनुनोज्ञासितमतान्तरत्वाच्च ।

अन्यच्च, विद्वत्सदसि प्रधानप्रधानतरप्रधानतमकोविदमण्डलीनां न्यूना-
धिकसम्मानप्रदानवत् विशिष्टश्रोत्रियत्वतारतम्यव्यवस्थया विवाहेऽधुना व्यवहृत-
सम्मानरूपद्रव्यादानप्रदानस्य न शुल्कात्मकत्वमिति व्यवस्थापयन्ति शिष्टाः ।

यद्भवत्वापद्येतदपेक्षया निन्दार्हव्यवहारकरणस्य धर्मशास्त्रकारैरभ्यनुज्ञात-
तया नैतद्विवाहप्रचलनस्य दोषापादकत्वमिति प्रेक्षावतां सिद्धान्तः ।
तथापि विपत्समयस्य जीवनोपायाद्यभावात्मकतया नैतत्कालोपयोगित्व-
मस्य सञ्भाव्यते । कथमिति चेत् विवृत्यते । ननु युक्तिप्रमाणाभ्यां शुल्का-
दानस्यापराधानाधायकतया तथैतत्समये शुल्कग्रहणेनार्थस्य सुलभत्वेन-
च न कथं तदुपकारकत्वमस्य सङ्गच्छत इति चेन्न, शुल्कादानप्रदानसामर्थ्य-
शालिनां धनिकानां तत्काले पुत्रयोः सहजसम्पन्नोपयमत्वात्, तथा-
गुणान्वितयावतीशकुमाराणां वस्तुवलेन स्वायत्तीकरणस्यार्थकुवेराणां सुख-
साध्यत्वात्, तथा लोके व्यवहारपरिदर्शनात्, तत्सामर्थ्याभावेन धन-
विहीनानां तत्पुत्रदुहितोराकुमारब्रह्मचर्यसम्भवाच्च । अतो ब्राह्मादि-
प्राजापत्यान्तविवाहनिवहस्य विपुलद्रव्यव्ययनिरपेक्षत्वेन विप्रवर्णस्य सुख-
सम्पन्नत्वात्तत्तुष्टयस्य गरिष्ठत्वं तदन्येषां बहुव्ययसाध्यतया जघन्यत्वनिर्देशेन

परिहेयत्वं चापादितं मन्वादिभिः पूर्वतः, तथा राज्ञसासुरयोः प्रचुरव्यय-
साध्यत्वेऽपि धनिकप्रवरस्य क्षत्रियवर्णस्य राज्ञसानुष्ठानस्य वैश्यशूद्रयोरासुर-
विधानस्य च—साधीयस्त्वं सुसम्प्रादितं तैरादितः । अतएव शुल्कमन्तरा-
विप्रवर्णस्य ब्राह्मप्राजापत्यान्तरोपयमानुष्ठानं तदितरवर्णानां प्राजापत्या-
वलम्बनञ्च शास्त्रानुगतं विपक्षमयानुकूलं भवेन्नवेति विभाव्यं सुधीभिः । इति
सामान्यतो विवाहस्याष्टविधत्वविचारः ।

अथ प्रोक्तोपयमानां बाल्ययुवतीविवाहभेदेन शास्त्रकारैर्व्यवस्थापित-
सत्यपि द्वेविधे कस्य कीदृशपत्वस्य सकलस्योभयस्वरूपत्वस्य वा स्फुटतोऽव्यक्त-
तया विविच्य ततः कस्यैकत्वस्य सर्वस्य वा द्वैविध्यात्मकत्वस्य विचारोदघाटन-
मत्रानुष्ठेयं यथानुद्धितः ।

आदौ तावत् किंस्वरूपो बाल्यविवाह इति संजाते सन्देहे तन्निरसन-
मारभ्यते युक्तिप्रमाणनिर्देशमुखेनैव । बालावसरे भवः बाल्यः स चासी-
विवाहश्च बाल्यविवाहः । तस्य स्त्रीपुरुषसापेक्षत्वेऽपि केवलं स्त्रिया बाल्यकाल-
माश्रित्येतद्विवाहस्य विहिततया तन्नामनिर्देशस्य सुवचस्त्वेऽपि तस्य कियद्वर्षा-
वधिकत्वनिर्णयस्यावश्यकत्वेनापतिततया धर्मशास्त्रनिर्मातृभिर्निर्द्धारितः पूर्वतो-
यः, स एव कालः समर्थ्यते तत्तद्वर्षशास्त्रीयप्रमाणोल्लेखेनैव ।

यथा शब्दकल्पद्रुमाभिधेयेऽभिधाने बालशब्दविचारावसरे—बालः स तु-
षोडशवर्षपर्यन्तः प्रथमवयस्कः ।

तथाच स्मृतिः—

“आषोडशाद्भवेद्बालस्तुरुणस्तत उच्यते ।

वृद्धः स्यात्सप्ततैरुद्घ्वं वर्षीयान् नवतैः परम्” ॥ इति ।

तथा कालिदासः—

“आषोडशाद्-भवेद्बाला तरुणौ त्रिंशता मता ।

पञ्चपञ्चाशतः-पौढा वृद्धा भवति तत्परम्” ॥

इत्यादि प्रमाणव्राततो बाल्यविवाहसमयस्य षोडशवर्षावधिकत्वेऽपि तावद्-
वर्षसीमात्मकतया महर्षिभिर्नाद्रियतेऽयं विवाहः । कुत इति चेदुच्यते-

परतः । यथैतज्जारतवर्षस्य ग्रीष्मप्रधानस्थानात्मकत्वेन जन्मत आरभ्य दशम-
सम्बत्तरात् पक्षान्तरे वा गर्भेकादशवर्षात्परं कन्याया रजोदर्शनसम्भावना-
जन्मतः सप्तमाद्याद्येकादशवर्षान्तराले वालिकाया गौरीरोहिणीकन्यात्वात्म-
कोपाधितयप्रदानप्रदर्शनेनैव तत्समयं त्रिधा विभज्य तद्भिन्नान्यस्य पुण्याधि-
क्यजनकत्वतारतम्येन यथाक्रमं प्रधानतमप्रधानतरप्रधानत्वात्मकमुख्यगौणत्व-
व्यवस्थया गर्भद्वादशवर्षावधिकत्वं व्यवस्थापितमस्य विवाहस्य मन्वनन्तरभाविभिः-
मुनिभिः कतिपयैः पूज्यपादैः । अतो वात्यकालात्मकत्वेनाभिमतषोडशवर्षा-
भ्यन्तरे प्रसिद्धत्वेन निरुक्तविभागत्रितयस्य परिगणितत्वेऽपि यस्याः कन्यायाः-
षोडशाब्दपर्यन्तं परिदृश्यतेऽरजस्कृत्वं, तस्या विवाहस्तु वात्यविवाहस्वरूपत्वेना-
प्यनुमोद्यते पूर्वाचार्यैः ॥ एष सिद्धान्तः क्रोडीक्रीयते निम्नस्थप्रमाणजालैः ।

यथा, गदाधरपद्धतौ कालसारे,—

“शतानन्दः—

“गर्भादष्टमवर्षे तु दशमे द्वादशेऽपि वा ।

कन्यापरिणयः शस्त इति वाक्यादिसम्मतम्” ॥

तथा सम्बर्त्तः,—

“विवाहस्त्वष्टवर्षायाः कन्यायाः शस्यते बुधैः” ।

गर्भादिति सर्वत्रान्वयः ।

अन्यथा,

“कन्या द्वादशवर्षाणि याऽप्रदत्ता गृहे वसेत् ।

भूणहत्या पितुस्तस्याः सा कन्या वरयेत्सुयम्” ॥

इत्यादियमादीनां तु जन्मावधिद्वादशवर्षे विवाहे निन्दावचनमनर्थकं-
स्यात् । अतएव जन्मावधिसप्तमवर्षे गौरीत्वमाह कश्यपः,—

“सप्तवर्षा भवेद्गौरी दशवर्षा तु कन्यका ।

प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे कुमारीत्यभिधीयते” ॥

भविष्येऽपि ;—

“सप्तवर्षा भवेद्-गौरी दशवर्षा तु नग्निका ।

द्वादशे तु भवेत्-कन्या अत ऊर्ध्वं रजस्वला” ॥

सप्तमवर्षस्य गर्भाष्टमत्वादिति कल्पतरुकाराः ।

अत-आह कश्यपः,—

‘अष्टवर्षा भवेद्-गौरी नववर्षा तु रोहिणी ।

दशवर्षा भवेत्-कन्या अत ऊर्ध्वं रजस्वला” ॥

तथाच, मासद्वयाधिकषड्वर्षानन्तरं स्त्रीणां विवाहकाल इत्यर्थः । तस्मिन्नेव वर्षे कन्याया गौरीत्वमिति च सिद्धं । एवं स्त्रीणां जन्मावधेकादशवर्ष-मभिव्याप्य विवाहकालस्य परमावधिरित्युक्तं भवति” ॥

तथा, निर्णयसिन्धौ ज्योतिर्निबन्धीयप्रमाणम्,—

यथा,—

“षडब्दमध्ये नोद्वाह्या कन्या वर्षद्वयं यतः ।

सोमो भुङ्क्ते ततस्तद्वर्गध्वंश्च तथाऽनलः” ॥ इति ।

पराशरभाष्ये—

“जन्मतो गर्भाधानाद्वा पञ्चमाब्दात्परं शुभम् ।

कुमारी वरणं दानं मेखलावन्धनं तथा” ॥ इति ।

महाभारते ; —

“त्रिंशद्वर्षः षोडशाब्दां भार्यां विन्देत नग्निकाम् ।

द्वाष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सौदति सत्वरः ॥

अतोऽप्रवृत्ते रजसि कन्यां दद्यात्पिता सकृत्” ।

पुनस्तत्रैव ।

“सप्तसंवत्सरादूर्ध्वं विवाहः सार्ववर्णिकः ।

कन्यायाः शस्यते राजन्नान्यथा धर्मगर्हितः” ॥ इति ।

यद्यपि “विवाहस्त्वष्टवर्षायाः कन्यायाः शस्यते बुधैः”, इति सम्बर्त्तितेः,
अत ऊर्ध्वं रजस्वला इत्यादेश्य दशवर्षादूर्ध्वं विवाहो निषिद्धः, तथापि दातुरभावे-
द्वादशषोडशाद्रे ज्ञेये ।

“तौणि वर्षाण्यृतुमती कांचेत पितृशासनम्” । इति ।

पराशरमाधवीये वौधायनोक्तेः” ।

नग्निकां अनृतुमतीं । नग्निकालक्षणं तु गृह्यसंग्रहे,—

“नग्निकां तु वहेत्कन्या यावन्नर्तुमती भवेत्” ।

नृतुमती त्वनग्निका । तां प्रयच्छेत्तु नग्निकां ।

“अप्राप्तरजसो गौरी प्राप्ते रजसि रोहिणी ।

अव्यञ्जिता भवेत्कन्या कुचहीना च नग्निका” ॥ इति ।

तथा रजोदर्शनात् प्रागेव विवाहकारणमुक्तं तत्रैव ।

यथा—

“व्यञ्जनैस्तु समुत्पन्नैः सोमो भुञ्जीत कन्यकाम् ।

प्रयोधरैस्तु गन्धर्वी रजसाऽग्निः प्रकीर्त्तितः ॥

तस्मादव्यञ्जनोपेता अरजा अपयोधरा ।

अभुक्ता चैव सोमादयः कन्यका तु प्रशस्यते । इति” ॥

रघुनन्दनीयोद्वाहतत्त्वे,—

अङ्गिराः,—

“अष्टवर्षा भवेद्गौरी नववर्षा तु रोहिणी ।

दशमे कन्यका प्रोक्ता अत-ऊर्ध्वं रजस्वला ॥

तस्मात्-सम्बत्सरे प्राप्ते दशमे कन्यका बुधैः ।

प्रदातव्या प्रयत्नेन न दोषः कालदोषतः” ॥

यमः,—

“कनया द्वादशवर्षाणि याऽप्रदत्ता गृहे वसेत् ।
ब्रह्महत्या पितुस्तस्याः सा कनया वरयेत्स्वयम्” ॥

महाभारते,—

“त्रिंशद्वर्षः षोडशवर्षां भार्यां विन्देत नग्निकाम् ।

अतोऽप्रवृत्ते रजसि कन्यां दद्यात्-पिता सकृत् ।

महादोषः स्पृशेदेनमन्यथैष विधिः सताम् ॥”

नग्निका अन्तर्गतात्तवा । अन्यथा प्रवृत्ते रजसि अत्रिकश्यपौ,—

“पितुर्गेहे च या कनया रजः पश्यत्यसंस्कृता ।

भूणहत्या पितुस्तस्याः सा कनया वृषली स्मृता” ॥ इत्यादि ।

अतएव गुणवतेऽष्टवर्षन्यूनादेरित्याह मनुः,—

“उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च ।

अप्राप्तामपि तां कन्यां तस्मै देया यथाविधि ॥”

अप्राप्तविवाहप्रशस्तकालां । स्मृतिः ;—

“सप्तसम्बत्सरादूर्ध्वं विवाहः सार्ववर्णिकः” ।

इत्यादियुक्तिप्रमाणवशतो-निरुक्तभारतीयविभिन्नप्रादेशिकनिबन्धकर्तृणां-
वाक्यविवाहव्यवस्थापने ऋतुसम्भावनाया द्वादशवर्षीयकन्याविवाहनिराकरणे च-
प्रायशोऽवगम्यते मतविरोधराहित्यं । किन्तु तत्तन्निबन्धोक्तोलितप्रमाण-
सन्दोहपर्यालोचनया यथा खण्ड्यते तन्निराकरणं, वक्ष्यते हि तदग्रतः,—

सम्प्रति मानवौययुगे साधारणतो-विवाहस्यासीत्कीदृगादरो-भवेत्-
द्विवेचनमेतदुत्तरतः । न तावन्मनुनापि युवती-वाक्योपयमस्य समुद्भास्यते-
पार्यक्यं ; किन्तु यत्कर्तृकवेदाध्ययनसमाप्तेरभिलक्ष्यते यस्य जन्मतो यावद्-
वर्षवयस्कत्वापेक्षितं, तस्य त्रिधाविभक्ततत्समयैकांशपरिमितवयस्कया कनया

साकं व्यवस्थापितं तैर्विवाहानुष्ठानमेव । नैतावता प्रतिपादितमेतावदवयस्क-
स्त्रोपगुणयोर्नियमितत्वं, कुत्र कुत्र प्रमाणे तदन्यथाचरणोद्भावनस्य चक्षुर्विषय-
त्वात् । नैतत्स्वकपोलकल्पितं, किन्तु मानवीयप्रमाणैस्तत्पथाद्भाविमहर्ष्युक्त-
वचनव्रातैश्च कचीकृतमेतदेव ।

यथाह मनुः—

“षट्त्रिंशदादिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतं ।

तदद्विकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥”

इति । “पूर्वत्रासमाप्तेः शरीरस्थेत्यनेन नैष्ठिकब्रह्मचर्यमुक्तं, अतस्तस्यैव-
गार्हस्थ्यानधिकारः । तत्र कियदवधिविधौ ब्रह्मचर्यं तस्य गार्हस्थ्यमित्य-
पेक्षायामाह ;— षट्त्रिंशदादिकमिति । त्रयो वेदाः ऋग्यजुःसामाख्याः तेषां-
समाहारस्त्रीवेदी तद्विषयं व्रतं स्वगृहोक्तनियमसमूहरूपं, षट्त्रिंशदुर्वध-
यावदगुरुकुले चरितव्यम् ॥ षट्त्रिंशदादिकमिति षट्त्रिंशद्वद्दशब्दात् काला-
द्भुज् । अस्मिंश्च पक्षे समं स्यादश्रुतत्वादिति न्यायेन प्रतिवेदशाखां द्वादशवर्षाणि-
व्रताचरणं । तदधिकमष्टादशवर्षाणि तत्र प्रतिवेदशाखां षट्पादिकं नव-
वर्षाणि तत्र प्रतिवेदशाखां त्रीणि, यावता कालेनोक्तावधेरूर्ध्वमधो वा वेदान्-
गृह्णाति तावत्कालं वा व्रताचरणं, विषमशिष्टत्वेऽपि पक्षाणामेका देया तिस्रो-
देयाः षट् देया इति वत् नियमफले नूनाधिकापेक्षो विकल्पः । तथा च,
श्रुतिः “नियमेनाधीतं वीर्यवत्त्वं भवतीति” । ग्रहणान्तिकपक्षसंदर्शनात्
पूर्वाक्तपक्षत्रये ग्रहाणादूर्ध्वमपि व्रतानुष्ठानमवगम्यते । इति कुल्लूकभट्टः ।

तथा,—

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमं ।

अविलुप्ततब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत्” ॥

वेदानधीत्येति—

“वेदशब्दोऽयं भिन्नवेदशाखापरः । स्वशाखाध्ययनपूर्वकवेदशाखात्रयं ।
इयमेकां वा शाखां मन्त्रब्राह्मणक्रमेणाधीत्य गृहस्थाश्रमं गृहस्थविहितकर्म-
कलापरूपमनुतिष्ठेत् क्षतदारपरिश्रितो गृहस्थः ।

गृहशब्दस्य दारवचनत्वात् । अविभूतब्रह्मचर्य इति पूर्वविहितस्त्री-
संयोगमधुमांसमव्यवर्जनरूपब्रह्मचर्यानुवादोऽयं प्रकृष्टाध्ययनाङ्गत्वख्यापनार्थः ।
पुरुषशक्त्यपेक्षायामेकद्वित्रिशाखाध्ययनविकल्पः” । इति

तथा च स एव,—

“त्रिंशद्वर्षो वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवर्षिकीम् ।

अष्टवर्षोऽष्टवर्षा वा धर्मे सौदति सत्वरः” ॥

“सत्वरः गृहस्थाश्रमे त्वरायुक्तः सन्नित्यर्थः” । इति गदाधरः ।

तथा कुल्लूकभट्टः ;— त्रिंशदिति,—

“त्रिंशद्वर्षः पुमान् द्वादशवर्षवयस्कां मनोहारिणीं कन्यामुद्वहेत् ; चतु-
विंशतिवर्षोऽष्टवर्षा गार्हस्थ्यधर्मे ऽवसादं गच्छति त्वरावान् । एतच्च योग्य-
कालप्रदर्शनपरं न तु नियमार्थं । प्रायेणेतावता कालेन गृहीतवेदो भवति-
त्रिभागवयस्का च कन्या वोदयूनी योग्येति । गृहीतवेदोपकुर्वाणको-
गृहस्थाश्रमं प्रति न विलम्बेति सत्वर-इत्यर्थः” । इति । तथाच मेधा-
तिथिरपि,— इयता कालेन यवीयसी कन्या वोद्व्या न पुनरेतावद्वयस-
एव विवाह इत्युपदेशार्थ इति ॥”

तथा, चतुर्विंशतिसंग्रहे—

बृहस्पतिः,—

“त्रिंशद्वर्षो दशाब्दां तु भार्यां विन्देत नग्निकाम् ।

एकविंशतिवर्षो वा सप्तवर्षमवाप्नुयादिति” ॥

चतुर्विंशतिमतसंग्रहप्रभृतीनामन्येषां भारतीयनिबन्धग्रन्थानां वाच्यविवाह-
विवेकस्योद्धृतप्रशस्तगदाधरपद्धत्यादिनिबन्धतयोक्तिखिलतद्विवाहविचारेण साह-
प्रायशस्तुल्यत्वादेतदुग्रन्याकारवृद्धिभिरा नोत्तोलितानि तत्तद्विवेचनान्यत्र ।

अपिच,—

निरुक्तप्रमाणसन्दोहानां तथा तत्तद्व्याख्यातृणां निबन्धकर्तृणां च विवर्त-
पर्यालोचनयाऽवगम्यते स्त्रीपुरुषयोर्मुख्यगौणत्वव्यवस्थया विवाहयोग्यकाल-

विभागस्य सति बहुविधत्वेऽपि यथाक्रमं तत्तद्योग्यसप्तमषोडशाब्दात्मक-
कालस्य तथा स्त्रिया वाल्यपरिणयपरमावधिकत्वं द्वादशसम्बत्सरस्य, सत्य-
रजस्कत्वे षोडशवर्षावधिकत्वं, तथा पुरुषस्य यावत्परिमितवयस्कत्वस्य-
सति विविभक्तत्वे तद्विभागैकनियमितवयस्कत्वस्य कन्यायाः प्रमाणान्तरेणा-
न्यथा प्रतिपादितत्वात्तस्यानियमितत्वं चेति ।

यत्तु,—

“कन्याद्वादशवर्षाणीति” द्वादशवर्षविहितकन्याविवाहनिन्दापादकयमीय-
वचनस्य जागरूकत्वेन तथा तदनुगतस्वस्वदेशीयव्यवहारविरोधसम्भावनया-
च “गर्भादष्टमवर्षेऽपीत्यारभ्य सप्तवर्षा भवेदुगौरीत्यन्तगादाधरिकालसारोत्तो-
लितप्रमाणनिकराणां सत्यन्योन्यविरोधित्वेऽपि सर्वत्र गर्भादितिपदस्यान्वय-
विधानेनैकैकवाक्यतां प्रतिपाद्य व्यवस्थापितमेकादशाब्दावधिकत्वं वाल्यविवाहे ।
तत्तु न प्रतिभाति समीचीनमिति ॥ विभिन्नप्रदेशवास्तव्यानां ग्रन्थ-
रचयितॄणां तत्तद्देशीयव्यवहारदृष्ट्या विरचितप्रमाणव्यूहानामेकवाक्यताकरणस्य-
पण्डायासविषयकत्वात् । प्रोक्तकमलाकरीयपरामर्शतो निरुक्तयमीयवचनस्य-
द्वादशवर्षीययुवतिविवाहविषयतया वाल्यविवाहानुपयोगित्वात्, गर्भद्वादश-
वर्षस्य कन्याया मासद्वयाधिकैकादशसम्बत्सराल्मकतया, जन्मत एकादशाब्द-
परमावधिकत्वोक्तेस्त्वनस्यानवगताभिप्रायकत्वात्, तद्विन्ननिबन्धेषु विवरणस्यै-
तादृशस्यानवलोकितत्वात् । तथा प्रोक्तप्रत्येकवचनेषु कन्याया रोहिणीत्वे-
कन्यात्वेऽरजस्कत्वे च विभिन्नवर्षस्योक्तेस्त्वदर्शनेन परस्परप्रमाणविरोधदर्शनाच्च ।
अतस्त्रिंशद्वर्ष-इत्यादि-मानवीयवचनोद्भासित-द्वादशवर्षिकीतिशब्दस्य गर्भ-
द्वादशवर्षवयस्कामिति विवृतिः कस्यामपि तदव्याख्यायामचक्षुर्विषयतया-
वाल्मविवाहस्य गौणत्वेन जन्मतो द्वादशवर्षावधिकत्वं कुत्र कुत्र वा नग्निकत्वेन-
कन्यायाः षोडशाब्दावधिकत्वं व्यवस्थापितं पूर्वाचार्यैरिति राद्धान्तः ।
वीरमित्रोदयोद्धृतमहाभारतीयप्रमाणं, यथा,—

“त्रिंशद्वर्षः षोडशवर्षां भार्यां विन्दे त नग्निकाम् ।

एकविंशतिवर्षी वा स पूर्वेषामवाप्नुयात् ॥”

नग्निकाऽनागतार्त्वा । पूर्वेषां, लोकमिति शेषः । वर्षैरेकगुणामारभ्य-
पूर्वेषामवाप्नुयादित्यन्तप्रमाणेभ्य उद्भाव्यतेऽयमर्थः अन्यकृता, यथा “अत्रायं-
समुदायार्थः । अष्टवर्षान्ता कन्या त्रिगुणवयसा विवाह्या । अष्टवर्षामारभ्य-
द्वादशवर्षपर्यन्ता तत्सार्द्धद्विगुणवयसा विवाह्या । द्वादशवर्षामारभ्य षोडश-
वर्षपर्यन्ता तदष्टमांशन्यूनद्विगुणवयसा विवाह्या ।

अनाश्रमत्वादिना “धर्मे सौदति सत्वरः” इत्युक्तप्रमाणान्नूनवयस्को-
ऽपि न्यूनवयस्त्वामुदहेत् । अन्ये पुनस्तत्परिमाणान्नूनपरिमाणो न्यूनपरिमाणा-
मुदहन् धर्मे सौदति, धर्मातिक्रमकारी भवतीत्याहुः । इत्यनेन मतभेद-
परिदर्शनादयथादेशकालपातं वैद्यशास्त्रानुगता विवाहसमयव्यवस्था विधेयेति
निष्प्रत्यूहम् ।

तथा तत्रैवाश्वलायनः—

“जड्वं दशाब्दा या कन्या प्राग्रजोदर्शनात् सा ।

गाभ्यारी स्यात्समुद्वाह्या चिरं जीवितुमिच्छता ॥”

इत्यादि बहुप्रमाणेषु सत्त्वपि विद्यमानेषु ग्रन्थाकारस्थौल्यभिया नोद्धृता-
न्येव तानि ॥

नच मनोस्तत्पञ्चाङ्गाविभिर्मुनिभिः सार्द्धं मतैक्यं न प्रतिभातमत्रेति वाचं,
विभागशो विवाहद्वितयस्य स्फुटतोऽप्रकाशितत्वेऽपि ‘अष्टवर्षां द्वादश-
वार्षिकी’मिति शब्दद्वयस्योपात्तत्वेनैव यथाक्रमं द्विविधविवाहस्य प्रकारान्त-
रेण व्यक्तीकृतत्वात् । तदनन्तरभाविमहर्षिभिस्तदीयाभिप्रायस्य स्फुटतः-
प्रकटीकृतत्वाच्च । अन्यथैतच्छब्दद्वयोपादानस्य नैरर्थक्यापत्तेः । नन्वेता-
दृशात्पवयस्कया कन्यया साकं महर्षिभिर्व्यवस्थापितं विवाहानुष्ठानमतीव-
निष्प्रयोजनमिति चेन्न । वाच्यतः पातिव्रत्यशिद्धादानस्य प्रयोजनरूपत्वात् ।
“यन्नवे भाजने लग्न” इत्यादि प्रमाणलिङ्गेन वाच्यकालीनशिद्धान्यामामरणान्त-
मपि विस्मरणायोगात्सत्यपि सतीत्वे युवत्यां सन्देहकरणस्यान स्वभावसिद्धत्वा-
च्च । न चेत्तद्विवाहेऽधुनातनसमयवत् प्राचीनकालाभ्यन्तरे नारीणां विशेषतो-
वैधव्यस्यावश्यसम्भवत्वात्कथं नासीत्तदनुष्ठानमसङ्गतं पूर्वत इति वाच्यम् ।

वेदाध्ययनावसरे वाक्यावस्थातो बहुसम्बत्सरं ब्रह्मचर्यावलम्बनस्य क्लेशसहन-
शीलत्वस्य च सत्त्वात्, वेदाध्ययनसमाप्त्यनन्तरसमयात्मकेऽन्यान्यकाला-
पेक्षयाऽतिन्यूनं गौणभूते प्रोक्तमहाभारतीयवचनप्रतिपादितषोडशाब्देऽष्टम-
वर्षीयया कन्यकया साकं सत्यपि विवाहे स्त्रीपुरुषसङ्गमनस्य पुंसो विंशति-
वर्षानन्तरभावित्वात्, पाशववृत्तिपरायणाधुनातनस्त्रीपुरुषनिरन्तरसंसर्गवद्वतु-
समयगमनमन्तरा सार्वकालिकसहवासस्य तदानीमव्यवहृतत्वात्, तदुत्पन्नापत्य-
स्यायुर्वेदसम्मतचिरजीवित्वाच्च । अतोऽयथासमयोपयमे वैधव्यप्राचुर्यासम्भवेन-
तदा तत्कारणं नासङ्गतमिति निष्कर्षः ।

अन्यच्च अवसरेऽस्मिन् वाक्यतो ब्रह्मचर्याभावेन पुरुषवर्षापेक्षया प्रायशो-
ऽत्यल्पदिवसन्यूनवयस्क्या कन्यकया सह संजातोपयमत्वेन, तथा स्त्रीसंसर्गस्य-
सार्वकालिकत्वेन तथा मानवानां समुद्भूतपाशववृत्तित्वेन च,—

तथा—

“जनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम् ।

यदाधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥

जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः ।

तस्मादत्यन्तवालायां गर्भाधानं न कारयेत्” ॥ इति ।

सुश्रुतीयवचनप्रमाणलिङ्गात् द्वादशसम्बत्सरादधिके षोडशाब्दान्नूपनेऽवसरे-
समुत्पन्नस्त्रीसंसर्गत्वेन तत्संजातसन्ततेर्निर्द्धारिताल्पायुस्त्वाच्च, तत्परिणये-
वैधव्यबाहुल्यमिदानीं सुसमीचीनमेव ।

अत आपदि एवं च वदता आपद्गतस्य परधर्माश्रयणाद्विगुणमपि-
स्वधर्मानुष्ठानमेव मुख्य”मिति दर्शितं भवति,

तथाच मनुः,—

“वरं स्वधर्मी विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः” । इत्यादि—

विज्ञानेश्वरव्याख्यानं ।

तथा—

“मुख्यकाले यदावश्यं कर्म कर्तुं न शक्यते ।

गौणकालेऽपि तत्कार्यं गौणोऽप्येतादृशो मतः” ॥

इति मण्डनाचार्याक्तप्रमाणेन च गौणपक्षावलम्बनस्याभ्यनुज्ञाततया-
वात्यविवाहीयबहुविधपक्षाभ्यन्तरे निरुक्तप्रमाणैः, “अथाऽस्मै पञ्चविंशति-
वर्षाय द्वादशवर्षां पत्नीमावहेद्”ति सुश्रुतोक्तप्रमाणलिङ्गेन तथा “उदीर्यातः-
पतिमनती हेषा विश्वासुं मनसा गीर्भिरीले । अन्यामिच्छे पितृपदं व्यक्तां स-
ते भागो जनुषा तस्य विद्धि” । इत्यग्वेदीयदशममण्डलोक्तैकविंशत्यग्रका-
शितव्यक्तेतिपदस्य व्यक्तविवाहलक्षणार्थत्वेनानुमितासन्नयौवनया कन्यकया-
साकं विवाहस्य वेदप्रतिपादितत्वात्तथा द्वादशवर्षमन्तरा कन्याया आसन्न-
यौवनत्वासन्नवाच्च जन्मतः परमावधिकत्वेनाभिमतस्य गौणरूपस्य कन्याया-
द्वादशवर्षीयपक्षस्य तथा विवाहे प्रोक्तवचनव्रातवलेन पुरुषवयसो न्यूनाधिक-
व्यवस्थया सत्यनेकशो विभक्तत्वेऽपि संप्रति वेदाध्ययनस्य लुप्तप्रायतया तद्विद्वै-
तत्कालीनसकलविद्यापठनस्य प्रायशो विंशतिचतुर्विंशत्यब्दयोरन्तराले समाप्ते-
र्दृष्टिगोचरत्वेनोपयमे पुंसः प्रोक्तद्वयस्यतिसुश्रुतवचनानुमोदितस्य विंशदि-
पञ्चविंशाब्दान्तावसरस्येदानीमुपकारकत्वं मुख्यत्वं चेत्यवधेयम् । रीत्यानयानु-
ष्ठिते वाल्यविवाहे न तावत्सन्नावेन्नारीवैधव्यप्राचुर्यमित्यनुमीयतेऽस्माभिः ।

ननु समवर्षीयया सार्द्धमेकविंशतिवर्षीयपुरुषस्य निरुक्तद्वयस्यतिवचनेन-
नियमितोपयमत्वात्तथा साकं द्वादशवर्षवयस्कया पञ्चविंशतिवर्षीयपुंसः सन्नि-
यमितपरिणयत्वाच्च कथं सङ्गच्छते द्वादशवर्षीयकन्यकया निर्धारितप्रोक्तवर्ष-
वयस्कपुरुषस्योपयम इति चेन्न, पुंसो वेदाध्ययनसमाप्त्यवधिकयावत्सखत्वा-
वयस्कत्वस्य विवाहे शास्त्रसम्मतत्वात्तथा “त्रिंशद्वर्षो वहेत्कन्या”मिति मानवीय-
वचनव्याख्यावसरे त्रिंशद्वर्षः पुमान् दशवर्षवयस्कां मनोहारिणीं कन्यामु-
द्वहेत् । चतुर्विंशतिवर्षां वा अष्टवर्षां गार्हस्थ्यधर्मेऽवसादं गच्छति त्वरावान्-
एतच्च योग्यकालदर्शनपरं न तु नियमार्थं प्रायेणैतावता कालेन गृहीतवेदो-
भवतीत्येतच्चूर्णिकोलेखद्वारा कुल्लूकभट्टेनोपयमे वर्षबोधकनिरुक्तवचनजातस्य

प्रतिपादितनियमाविषयत्वाच्च । अतएव प्रायशो विंशपञ्चविंशब्दयोरभ्यन्तरेऽधुनातनविद्याध्ययनसमाप्तिसम्भावनयाऽपद्यस्यां विवाहे गौणसमयनिर्धारणं शास्त्रानुमोदिततया सुसङ्गतमेवेति राजान्तः ।

अपिच,—

ननु गौणपक्षाश्रयणापेक्षया पूर्वाहृतब्रह्मचर्यावलम्बनस्य श्रेयःसाधकतयैतद्गौणपक्षापेक्षणं भवेन्न शुभाधायकमिति चेन्न, बहुसम्बत्सरतो विस्मृतब्रह्मचर्यानुष्ठानस्य प्रायशो हिन्दुसमाजस्य समयेऽस्मिन् ब्रह्मचर्यावलम्बनस्य दुःसाध्यत्वात्, निम्नाभिमुखसरित्स्त्रोतःप्रत्यावर्त्तनस्यैव हिन्दुचक्रवर्त्तिनोऽभावतया निरङ्कुशप्रचलितलोकव्यवहारपरिवर्त्तनस्याशक्यत्वात् । तथेदानीन्तनसार्वभौमकर्तृकशासनभीतेः कस्यचिदुपरि केषामपि प्रभुत्वाभावेन सर्वेषामुद्भासितस्वाधीनत्वाच्च । अतएवापत्कालोपस्थितिसम्भावनया वैदिकधर्माप्रतिपत्त्यौ गौणधर्मावलम्बनस्य त्रिकालविद्धिर्महर्षिभिरभ्यनुज्ञाततया “यत्र एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थः बाधकं विनाऽन्यत्राप्युपकुर्वते” इति न्यायात् “आकांक्षायास्तुल्यत्वाच्च” विवाहे वरकन्ययोः साधीयो गौणकालाश्रयणमेतत्कालोपकारकश्रेयःसम्पादन इति निर्गलितार्थः ।

किन्त्वत्र गौणकालावलम्बनस्य बहुश उद्धृष्टतयाऽवगन्तुं तत्स्वरूपसत्यामाकांक्षायामारभ्यते प्रसंगात्मकत्वेन तद्विचारः । “प्रसङ्गस्तु अन्योद्देशेन प्रवृत्तावन्यस्य सिद्धिः प्रसङ्गः” । इत्यनेन सत्यामपि विवाहविवेचनप्रवृत्तौ गौणत्वरूपज्ञानसिद्धेः प्रसङ्गात्मकत्वेनेत्युक्तम् । अत्रैकस्य मुख्यत्वे सत्यन्यस्य गौणत्वसिद्ध्या “मुख्याभावे गौणस्योपादेयत्व” मिति न्यायाद्गौणत्वमादृतं शास्त्रकारैः । गौणत्वं च मुख्यकालकर्तव्यकर्मकरणयोग्यकालान्तरत्वम् । तत्तु “यद्वागामिक्रियामुख्यकालस्याप्यन्तरालवत् । गौणकालत्वमिच्छन्ति केचित् प्राक्तनकर्मणि” । यद्देति पक्षान्तरं । प्राक्तनकार्यं मध्यकालवत् अगामिक्रियाया मुख्यकालस्यापि गौणकालत्वम् । “तेन सायंसन्ध्याया रात्रिः प्रातःसन्ध्याकालश्च गौणकाल इति” हरिहरपद्धतुर्गृहृतवचनेन ; तथा “स्वकालादुत्तरो गौणः कालो यस्य च कर्मणः” । इति छन्दोगेन “मुख्याभावे प्रनिधि” रिति जैमिनीयसूत्रेण च समर्थितम् । अतएवावसरे गौणकालादरे न कापि-

क्षतिमौलिकधर्मस्येति प्रेक्षावतां परामर्शः । एतदवलम्ब्य परतो विधेयं समाधानम् ।

ननु कन्याया गौणकालात्मकस्य द्वादशसम्बन्धरस्यापदि केवलं बाल्यविवाह-योग्यत्वेन सत्यपि सुस्थिरत्वे “रविगुरुशुद्धिर्नते विवाहे चे”ति ज्योतिःशास्त्र-वचनबलाद्वाङ्मनादिजातौ कन्यायाः सर्वविधविवाहे रविगुरुशुद्धेः समाहत-तया तदभावे तत्र कथमुपयम इति चेन्न, सत्यपि तदभावे तदवसरे विवाहानुष्ठानस्याचार्यादीष्टत्वात्, तथा सत्यामपि तच्छुद्धौ तत्कालस्य-विरहितविवाहास्यदत्त्वात् ; निम्नलिखितधर्मशास्त्रीयप्रमाणानामेतदुक्त्यनु-कूलत्वाच्च ।

प्रमाणान्याह ज्योतिर्निबन्धे गर्गः,—

“स्त्रीणां गुरुबलं श्रेष्ठं पुरुषाणां रवेर्वलम् ।
तथोच्चन्द्रबलं श्रेष्ठमिति गर्गेण भाषितम् ॥
सर्वत्रापि शुभं दद्याद्द्वादशाब्दात्-परं गुरुः ।
पञ्चषष्ठाब्दयोरेव शुभगोचरता मता ॥
सप्तमात् पञ्चवर्षेषु स्त्रीचस्वर्चगतो यदि ।
अशुभोऽपि शुभं दद्याच्छुभकृत्तरेषु किं पुनः ॥
रजस्वलायाः कन्याया गुरुशुद्धिं न चिन्तयेत् ।
अर्कगुर्वोर्वलं गौर्या रोहिण्यर्कबला स्मृता ॥
कन्या चन्द्रबला प्रोक्ता वृषली लग्नतो बला” ।

तथाच भुजवलभीमे,—

“ग्रहशुद्धिमद्शुद्धिं शुद्धिमासायनर्तुदिवसानाम् ।
अर्वाक्दशवर्षेभ्यो मुनयः कथयन्ति कन्यकानाम्” ॥

दशवर्षाभ्यन्तरे शुद्धौ ग्रहाब्दादीनां विशेषोपादानात्तदूर्ध्वं तावन्मात्रा-

नियमः ।

तथा राजमार्त्तण्डे,—

“राजग्रस्ते तथा युङ्गे पितृणां प्राणसंशये ।

अतिप्रौढा च या कन्या नानुकूल्यं प्रतीक्षते ॥

अतिवृद्धा च या कन्या कुलधर्मविरोधिनी ।

अविशुद्धापि सा देया चन्द्रलग्नबलेन तु” ॥

इत्यादिप्रमाणव्रातैरष्टमादिदशमाद्वयोरन्तराले बाल्यविवाहे प्रतिपादितर-
व्यादिशुद्धितया तत्सम्बन्धरातिरिक्तवर्षे नग्निकत्वसम्भावनाया केवलचन्द्रलग्न-
शुद्ध्या तत्करणस्याभ्यनुज्ञातत्वेन रव्यादिशुद्धेर्विद्यमानत्वे तदनुष्ठानस्यानिषिद्ध-
तया सत्यामप्यत्र सर्वविधशुद्धौ तत्करणं न दोषाधायकमिति निष्कर्षः । न च-
बाल्यविवाहे नग्निकायाः कन्याया द्वादशवर्षवयस्कत्वस्य सत्यपि नियमितत्वे-
तत्सम्बन्धरे तन्नृणावसरे सम्भवति रजस्रलत्वेऽस्याः पित्रादीनां निरयपतना-
पराधस्य शास्त्रकारैर्निर्णीततया द्वादशवर्षनियमनं न धर्मशास्त्रानुमोदन-
विषयकमिति वाच्यम् । पूज्यपादैर्महर्षिभिरापदि गौणानुष्ठानस्याभ्यनु-
ज्ञाततया वक्ष्यमाणयुवतीविवाहविधिना तद्विधानस्य धर्मशास्त्रानुमोदन-
विषयत्वात् ।

अथ युवतीविवाहविचारः,—

सत्यपि परिणयस्य मुख्यगौणत्वव्यवस्थया बाल्यविवाहादिभेदेन चतुर्विधत्वे-
जातिविशेषं प्रति मुख्यात्मकबाल्ययुवतीत्वभेदेन विवाहस्य पूर्वतः निर्णीत-
द्विविधेन तत्तदनुसारतः प्रथमनिर्दिष्टबाल्यविवाहपर्यालोचनं परिसमाप्येदानीं-
क्रमप्राप्तयुवतीपरिणयविवेचनमुद्भाव्यतेऽव्यवहितपरतः । यथा—

युवत्या यौवनावस्थापन्नायाः कन्यायाः भार्यात्वसम्पादकग्रहणं युवती-
विवाहः तस्य भार्यात्वोत्पादकस्वीकाररूपज्ञानात्मकत्वं, विशेषस्तु समवाय-
विषयस्तयोर्भेदाद्वरकन्ययोर्थथाक्रमं विवाहकर्तृत्वकर्मत्वे सुस्पष्टे, इति, तस्य-
कालस्तु कन्यायाः षोडशवर्षादारभ्य पञ्चविंशतिसम्बन्धरावधिकः, पुरुषस्य-
च विंशतिवर्षादिचत्वारिंशद्वर्षान्त इति ध्येयम् । बाल्यविवाहविवेचनावसरे-
प्रोक्तप्रमाणातिरिक्तप्रमाणान्युद्ध्रियन्ते निम्नतोऽत्रैतदुपकारकत्वे ।

यथाह वाग्भटः,—

“पूर्णषोडशवर्षा स्त्री पूर्णविंशेन सङ्गता ।
 शुद्धे गर्भाशये मार्गे रक्ते शुक्लेऽनिले हृदि ॥
 वीर्यवन्तं सुतं सूते ततो नूनाब्दतः पुनः ।
 रोग्यल्पायुरधन्यो वा गर्भे भवति नैव वा” ॥ इति,

तथा,—

युवतीविवाहे विवाहदिवसीयरात्रावेव गर्भाधानकर्मणोऽवश्यमावित्वा-
 त्सत्यपि द्वादशवर्षीयकन्यायाः सरजस्कत्वसम्भवे वर्षत्रयानन्तरमेव तद्विवाहो-
 ऽनुष्ठेय इति नियमितं शास्त्रकारैः ।

यथाह मनुः ।

“तौणि वर्षाण्युदीचेत कुमार्यृतुमती सती ।
 ऊर्द्धं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥”

इत्यनेन विवाहेऽस्मिन् कन्याया निरुक्तकालनियमस्य साचिव्यमापादितं-
 स्फुटतः ।

पुनः स एव केवलपुरुषवर्षविषये षट्त्रिंशदाब्दिकमित्यारभ्य गृहस्था-
 श्रममावसेदित्यन्तप्रमाणजालस्य तथा कुक्कूकभट्टानुष्ठिततट्टीकाजातस्य च-
 पूर्वतो लिखितत्वात्तस्यात्र ग्रन्थप्राचुर्यभिया नोत्तोलितत्वेऽप्येतदुपयोगित्वं-
 विन्नियते एतेषां वक्ष्यमाणरूपेण ।

यथा,—

प्रोक्तप्रमाणविचारजालतो बाल्यविवाहे षट्त्रिंशदब्दादिकालस्य नियमितत्वे-
 कन्याया ऋतुमत्त्वस्यान्ततो वर्षत्रयानन्तरमावित्वात् षोडशवर्षानवयस्ककन्याया-
 साकं सहवासस्य दुष्टापत्योत्पत्त्यादिदोषाभायकतया शास्त्रनिषिद्धत्वात्तथा सह-
 वासावसरे पुरुषस्योपस्थितवार्धक्येन च युवतीविवाहे तद्विवाहदिवसीयरात्रा-
 वेवोभयसंयोगे गर्भाधानकर्मणः सुस्थिरत्वात् षट्त्रिंशदब्दपक्षतत्किञ्चिद्दूर्ध्व-
 ग्रहणान्तिकपक्षयोस्तदुपयोगित्वमवश्यं सम्भाव्यमिति निष्कर्षः ।

तथा स्त्रीपुरुषयोर्यथाक्रमं निरुक्तनियमितकालादधिके वयसि शास्त्र-
कारानभिमतत्वमापादितमधःस्थप्रमाणैः ।

यथा,—

प्रमाणान्याह राजमार्त्तण्डः—

अतिप्रौढा च या कन्या नानुकूल्यं प्रतीक्षते ।

अतिवृद्धा च या कन्या कुलधर्मविरोधिनौ ।

अविशुद्धापि सा देया चन्द्रलग्नवलेन तु ।

इत्यादिप्रमाणोद्भाविताया अतिप्रौढाया अतिवृद्धायाश्च रव्याद्यानुकूल्यमन-
पेक्ष्य दानस्य विहिततयाऽरुचित्वं स्फुटतः प्रकाशितं शास्त्रकारैः ।

तथा चत्वारिंशदब्दाधिकवयसि पुरुषस्यानुष्ठितोपयमत्वस्य शास्त्रविरुद्धत्व-
मापद्यतेऽधोलिखितप्रमाणजालैः । यथा—दयानन्दतिमिरभास्करोद्धृतप्रमाणं,—
चतस्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धियौवनं सम्पूर्णता किञ्चित्परिहाणियेति ।
आषोडशाद्वृद्धिः आपंचविंशतियौवनं आचत्वारिंशतः संपूर्णता ततः किञ्चित्-
परिहाणियेति” चत्वारिंशदब्दानन्तरमेवावस्थायाः क्रमशोऽवश्यंभाविच्छीणत्वा-
त्तत्परमेव विवाहविधानं न सङ्गतमितिसुस्थिरम् । अतोऽन्यथाचरणं नानाविध-
दोषापादकमित्यनुमीयते शिष्टैः । अतएव षोडशवर्षीयकन्यकया समं विंशति-
वर्षवयस्कपुरुषस्योपयम-उत्तमः । विंशतिवर्षीयेण त्रिंशद्वर्षवयस्केन वा पुंसा-
विंशतिवर्षीयकन्यायाः परिणयो मध्यमः । पञ्चविंशतिवर्षीयया त्रिंशद्वर्षवय-
स्कया वा कन्यया षट्त्रिंशदब्दवयस्कस्य वा चत्वारिंशद्वर्षीयस्य पुरुषस्योप-
यमोऽधमो युवतीविवाह इत्यभियुक्ताभिप्रायः । वाक्यविवाहेऽप्येवं तत्समयवि-
भक्त्यनुसारिणोत्तममध्यमाधमत्वसुन्नेयमेव । तथाप्यत्र कानीनगूढोत्पन्नपुत्रा-
द्यपराधस्य शङ्कयाऽस्य गर्हितत्वमापादितमधःस्थप्रमाणद्वारेण पूर्वाचार्यैः ।

यथा,—

कन्याया रजोदर्शने त्वपराके संवर्त्तः,—

“माता चैव पिता चैव ज्येष्ठभ्राता तथैव च ।

तयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥”

तथा हारीतः—

“पितुर्गृहे तु या कन्या रजः पश्यत्यसंस्कृता ।

सा कन्या वृषली ज्ञेया तत्पतिर्वृषलीपतिः” ॥

तथाच देवलात्रिकश्रुपाः,—पूर्वाह्निं तदेव ।

“भूणहत्या पितुस्तस्याः सा कन्या वृषली स्मृता ।

यस्तां समुद्बहेत्कन्यां ब्राह्मणो ज्ञानदुर्वलः ।

अश्रद्धेयमपांक्षेयं तं विद्यावृषलीपतिम् ॥

इत्यादिवचनजातं युवतीविवाहनिषेधमुखेनैव वाक्योपयमविधिसूति-
परतयाऽर्थवादान्तर्भूतं देवलादिवचने ब्राह्मणपदोक्तेष्वदर्शनाद्ब्राह्मणवर्ण-
वाक्यविवाहस्य मुख्यत्वापादकं चेति सम्भाव्यते शिष्टैः । नच हारीतादिवाक्ये
तत्पदलेखानवलोकनात्समस्तजातिविषयकमेतद्वचनजालमिति वाच्यम् । प्रमाणा-
न्तरे पदस्यास्योक्तेर्भावेऽप्युपलक्षणविधया देवलादिवाक्येन साकमेकत्रान्येषां-
स्वस्तिवन्धे शिष्टैर्विवेचितत्वेन विवादानास्यदत्वात्, तथैव विप्रजातीयाचारा-
वलोकनान्जात्यन्तरे मुख्यत्वेन तदन्यथाचरणेक्षणाच्च । अन्यच्च प्रोक्तप्रमाणव्रातै-
स्तत्परिणयस्य साधारणतो निन्दिततया तत्कन्योपयमे तत्पतेः सत्यपि पातित्ये-
विप्रवर्णमन्तरा भारतीयचत्त्रियजातावेव वैदिकयुगादारभ्येदानीन्तनसमय-
पर्यन्तमपि तद्विवाहव्यवहारस्य शास्त्रतो लोकतश्च परिदृश्यमानत्वात्पर-
स्परप्रमाणविरोधपरिहाराय स्वयम्बरादिसमयान्तरे तत्स्वामिनो दोषाभाव-
मापादयन्ति धर्मशास्त्रनिर्मातारः—

यथाविष्णुः, निर्णयसिन्धौ,

“ऋतुत्रयमुपास्यैव कन्या कुर्यात् स्वयम्बरम्” ।

अत्र वरस्य दोषाभावमाह यमः,—

“कन्या द्वादशवर्षाणि याऽप्रदत्ता गृहे वसेत् ।

भूणहत्या पितुस्तस्याः सा कन्या वरयेत् स्वयम् ॥”

एवं चोपनतां पत्नीं नावमन्येत्कदाचन ।

न तु तां वन्धकीं विदगन्मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्” ॥

तथा मनुः,—

अलङ्कारं नाददौत पितृदत्तं स्वयम्बरे ।

मातृदत्तं पितृदत्तं स्तेयौ स्यादगदि तं हरेत्” ॥

वरं प्रत्याह,—

पित्ते न दद्याच्छुल्कं तु कन्यामृतमतीं हरन् ।

स हि स्वाभ्यादतिक्रामेदतूनां प्रतिबोधनात् ॥

इति निरुक्तप्रमाणव्रातेन ब्राह्मणवर्णभिनज्जातिव्रजे युवतीविवाहप्रच-
लनस्यादोषावहत्वे सत्यपि प्रतिपादिते निम्नस्थप्रमाणजालपर्यालोचनतः-
प्रतीयते स्फुटतः प्रायश्चित्तानुष्ठानपूर्वकं तद्विवाहविधानं न दोषोत्पादकं-
विप्रजात्यन्तराल-इति ।

यथा कमलाकरभट्टीयेऽत्र प्रायश्चित्तमुक्तमाश्वलायनेन ।

“कन्यामृतमतीं शुद्धां कृत्वा निष्कृतिमात्मनः” ।

शुचिं च कारयित्वा तामुद्वहेदानृशंस्यधीः ॥

पिता ऋतून् खपुच्छग्रास्तु गणयेदादितः सुधीः ।

दानावधि गृहे यत्नात्पालयेच्च रजोवतीम् ॥

दद्यात्तदृतसंख्या गाः शतः कन्यापिता यदि ।

दातव्यैकापि निःस्वेन दाने तस्या यथाविधि ॥

दद्याद्वा ब्राह्मणेष्वन्नमतिनिःस्वः सदक्षिणम् ।

तस्यातौतर्तुसंख्येषु वराय प्रतिपादयेत् ॥

उपोष्य त्रिदिनं कनया रात्रौ पीत्वा गवां पयः ।

अदृष्टरजसे दद्यात्कन्यायै रत्नभूषणम् ॥

तामुद्वहन् वरश्चापि कुष्माण्डैर्जुहुयाद्द्विजः” । इति ।

तथा सति तदवसरे कदा कदा कन्यायाः सति रजसः सन्धवे किं कर्त्तव्यमत्रेति सञ्जातसन्देहनिरसनार्थं तत्कर्त्तव्यतापादकप्रमाणजातं प्रदर्शयते प्रसङ्गतः ।

यथा मदनपारिजाते यज्ञपार्श्वः,—

“विवाहे वितते तन्त्रे होमकाल उपस्थिते ।
कन्यामृतुमतौ दृष्ट्वा कथं कुर्वन्ति याज्ञिकाः ॥
ज्ञापयित्वा तु तां कन्यामर्चयित्वा यथाविधि ।
युञ्जानामाहुतिं हुत्वा ततस्तन्त्रं प्रवर्त्तयेत्” ॥

तथा वौधायनसूत्रं—

“अथ यदि कन्योपसाद्यमाना चोद्धमाना वा रजस्वला स्यात्तामनुमन्त्रयेत्”

“पुमांसौ मित्रावरुणौ पुमांसावश्विनावुभौ ।
पुमानिन्द्रश्च सूर्यश्च पुमांसञ्च दधात्वियम्” ॥ इति ।

“अथ द्वादशरात्रमलङ्कृत्य प्राशयेत् पञ्चगव्यमथ शुद्धां कृत्वा विवहेत्” ।
इत्यादि कमलाकरभट्टीयव्यवस्थावलोकनात्, कुत्र कुत्र भारतीयप्रदेशान्तरे-
भूसुरजाती तद्विवाहप्रचलनं गौणत्वेनैदानीमादृतमित्यनुमीयतेऽस्माभिः ।
अन्यथा तदुल्लेखो न सम्भवेदत्रेति निर्णयः ।

अपिच,—

भारतीयविप्रवर्णातिरिक्तजाती विशेषतः क्षत्रियजातावेवावहमानकालतो-
युवतीविवाहस्य मुख्यत्वेन प्रचलनावलोकनात्-तत्तज्जाती तद्विवाहव्यवहारस-
मुख्यत्वम् ; बाल्यविवाहाचरणस्य मुख्यत्वेन पूर्वतः प्रतिपादितत्वात् विप्रजाता-
वेव गौणत्वं चेत्यवधेयम् । नच ब्राह्मणजातिमन्तरा प्रायशः समस्तजाती-
विशेषतः क्षत्रियजाती बाल्यविवाहमपहाय युवतीविवाहाचरणे नावलोकते-
किमपि कारणमिति वाच्यम् । रजःसत्वोपसर्जनप्रकृतिकस्य क्षत्रियादिवर्णस्य
सति मनोजवशगत्वे हिताहितविवेकशून्यतया नानानिष्टसम्भवात्, तथालोके
व्यवहारपरिदर्शनाच्च । अतस्तत्प्रचलनं न निष्फलमित्यर्थः ।

अन्यच्च,—

अत्र तु तदयोग्यनियमितसमये रव्यादिशुद्धिरपेक्षणीया कन्यायाः,-
बलालातिक्रमे बाल्यविवाहवदुन्नेया व्यवस्थेत्यवगन्तव्यम् ।

अपरञ्च,—

यद्यज्जातेर्यद्वह्निवाहस्य मुख्यगौणत्वविवेचनं, तत्त्वष्टविधविवाहविचाराव-
सरे प्रदर्शिततया बाहुल्यभिया च नोद्धृतमेवात्र ।

अपिच यद्यपि यमादिना दशवर्षायां कन्याशब्दः परिभाषितः, तथापीह-
विवाहरहितस्त्रीमात्रपरो-बोध्यः ।

तथा चोसामहेश्वरसम्वादे,—

“ऋतुस्नाता तु या शुद्धा सा कन्येत्यभिधीयते” ।

अष्टावक्रोपाख्याने च वृद्धस्त्रियां प्रयुक्तः ।

“कौमारं वृक्षचर्यं मे कन्यैषास्मिन्न संशयः,” इति ।

सुल्यर्थसारे,—

विवाहे वितते तन्त्रे होमकाल उपस्थिते ।

कन्यामृतुमतौ दृष्ट्वा कथं कुर्वन्ति याज्ञिकाः ॥

ज्ञापयित्वा तु तां कन्यामर्चयित्वा यथाविधि ।

युञ्जानामाहुतिं हुत्वा ततः कर्म प्रवर्त्तते ॥ इत्यादि ।

उपसंहारे वक्तव्यमेतत्,—

यद्यज्जातावेतद्विवाहाचरणं तत्रैव, विधवाप्राचुर्यं न परिदृश्यते प्रत्यक्षतः ।
तथा पूर्वप्रचलिते सत्यस्मिन् शास्त्रासङ्गतेर्नयनागोचरतया नापि धर्महानेर-
सम्भवः । अतः सत्यपि बाल्यविवाहसमयपरिवर्त्तने तर्कच्छलेन विधवाधिक्यस्य-
सति सम्भवे ब्राह्मणादिद्विजातित्रये शास्त्रविगर्हितक्षतयोनिविधवोपयमापेक्षयै-
तदाश्रयणे न कापि विप्रतिपत्तिर्नापि शास्त्रासङ्गतिश्चापदि गौणपक्षावलम्बनस्य-
पूर्वाचार्यैरभ्यनुज्ञातत्वादिति सुधीप्रवराणां सुसिद्धान्तः ।

इति युवतीविवाहविवेचनसमाप्तिः ।

पूर्वतो निर्दिष्टचतुर्विधोपयमस्याभ्यन्तरे यथाक्रमं स्थूलतः प्रथमतो-वि-
चित्ताख्ययुवतीविवाहद्वयानन्तरं क्रमप्राप्ताऽक्षतयोनिक्षतयोनिविधवापरिणय-
विवेकस्य सत्यपि सन्भावितत्वे तदुपयमद्वयस्य निरुक्तविवाहविधिविहित-
पतेः पञ्चत्वानन्तरभावित्वात्तदुद्वयमपहायादितः पूर्वोक्तविवाहोपयोगि-
वरकन्ययोः स्वरूपविवेचने यथा बभूवुरश्वसरा मुनयः पूर्वतः, तदध उद्भाव्यते-
सप्रमाणं संक्षेपतः ।

यथैव वरस्वरूपनिरूपणे मनुः—

“वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।

अविष्णुतब्रह्मचर्य्यौ गृहस्थाश्रममावसेत् ॥

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः ।

स्वग्विणं तल्पमासीनमर्हयेत् प्रथमं गवा ॥

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि ।

उद्वहेत् द्विजो-भार्य्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्” ॥

द्विजपदोपादानमत्र क्षत्रियवैश्ययोरुपलक्षणम् ।

तथाच कुल्लूकभट्टः,—

“वेदानधीत्येति” वेदशब्दोऽयं भिन्नवेदशाखापरः । स्वशाखाध्ययन-
पूर्वकवेदशाखात्रयं द्वयमेकां शाखां मन्त्रब्राह्मणक्रमेणाधीत्य गृहस्थाश्रम-
गृहस्थविहितकर्मकलापमनुतिष्ठेत् । कृतदारपरिग्रहो गृहस्थः गृहशब्द-
दारवचनत्वात् । अविष्णुतब्रह्मचर्य्य इति पूर्वविहितस्त्रीसंयोगमधुमांसभक्ष-
वर्जनरूपब्रह्मचर्य्यानुवादोऽयम् । प्रकृष्टाध्ययनाङ्गत्वस्यापनार्थः । पुरुषशक्त्य-
पेक्षश्चायमेकद्वित्रिशाखाध्ययनविकल्पः । यद्यपि व्रतानि वेदाध्ययनं च-
नित्यमुपदिशता मनुनोभयस्नातक एव श्रेष्ठत्वादभिहितस्तथापि स्मृत्यन्तरा-
दन्यस्नातकोऽपि बोद्धव्यः” ।

तदाह हारीतः,—

“त्रयः स्नातका भवन्ति, विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्चेति ।

यः समाप्य वेदमसमाप्य व्रतानि समावर्त्तते स विद्यास्नातकः । यः समाप्य-
व्रतानि असमाप्य वेदं समावर्त्तते स व्रतस्नातकः । उभयं समाप्य समावर्त्तते-
यः स विद्याव्रतस्नातकः” ।

याज्ञवल्क्योऽप्याह,—

“वेदं व्रतानि वा पारं नीत्वा ह्युभयमेव वा” ।

“तमिति, तं ब्रह्मचारिधर्मानुष्ठानेन ख्यातम्—

दीयत इति दायः ब्रह्मैव दायो ब्रह्मदायः तं हरतीति ब्रह्मदायहरं-
पितुः पितृतो गृहीतवेदमित्यर्थः ।

पितृतोऽध्ययनं मुख्यमुक्तं, पितुरभावे आचार्यादेरप्यधीतवेदं मालया-
ऽलङ्कृतं उत्कृष्टशयनोपविष्टं गोसाधनमधुपर्केण पिता आचार्यो वा विवाहात्-
प्रथमं पूजयेत् ।

गुरुणेति—दत्तानुज्ञः स्वगृह्योक्तविधिना कृतस्नानसमावर्त्तनः समानवर्णा-
शुभलक्षणां कन्यां विवहेत्” ।

तथा च याज्ञवल्क्यः,—

“गुरवे तु वरं दत्त्वा स्नायीत तदनुज्ञया ।

वेदं व्रतानि वा पारं नीत्वाऽभ्युदयमेव वा ॥

अविभूतब्रह्मचर्य्यी लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत् ।

अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसौम्” ॥

तथा मिताक्षरायां विज्ञानेश्वरः,—

“पूर्वोक्तेन प्रकारेण वेदं मन्त्रब्राह्मणात्मकं मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयत्वात् ।

व्रतानि ब्रह्मचारिधर्मान् अक्रान्तान् वा । उभयं वा नीत्वा समाप्य गुरवे
पूर्वोक्ताय वरमभिलषितं यथाशक्ति दत्त्वा स्नायात् । अशक्तौ तदनुज्ञया दत्त-
वरोऽपि एषां पक्षाणां शक्तिकालाद्यपेक्षया व्यवस्था । अविभूतब्रह्मचर्य्यः-
अखलितब्रह्मचर्य्यः” ।

तथाच गौतमः—

“गृहस्थः सदृशौ भार्यां विन्देतानन्यपूर्विकाम्” ।

“गृहस्थः गृहस्थान्नमं कर्तुं अभिलषन्नित्यर्थः । गृहस्थ इति भाविनि-
भूतोपचारः यूपं तच्चतीतिवत्” ।

तथा दत्तोऽपि,—

“वेदानधीत्य यत्नेन पाठतो ज्ञानतस्तथा ।

समावर्त्तनपूर्वं तु लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्” ॥

वेदानधीत्येति प्रमाणलिङ्गाद्देदादिशास्त्रज्ञ एव विवहेत् । न तु मूर्ख-
वधिरक्लौवमूकादय इत्यर्थः प्रतीयते । समीचीना प्रतीतिरेषा । अन्यथा-
नानादोषसम्भवात् । यथेदानीं शास्त्रीयप्रमाणादेशमुल्लंघ्योपयमानुष्ठानेन-
निरुक्तव्यक्तीनां प्रचुरमूर्खसन्ततुप्रत्यक्षिदुर्भिन्नव्यभिचारादिनानाविधापराधाः-
सम्भवन्ति भारते सर्वतः । अतः पूर्वाचार्यैः पूज्यचरणैः प्रोक्तमन्तुनिकरोत्-
पत्तिशङ्कया निषेधितं प्रमाणैर्यथैयथाजातादिविवाहानुष्ठानम् । तान्यधः-
प्रकाश्यन्ते प्रमाणजालानि वैशद्येन ।

यथाह कात्यायनः,—

“स तु यदन्यजातीयः पतितः क्लौव एव वा ।

विकर्मस्थः सगोत्रो वा दासो दीर्घामयोऽपि वा ॥

ऊढापि देया साऽन्यस्मै सहाभरणभूषणा” ।

वीरमितोदये,—

“उन्मत्तः पतितः क्लौवो दुर्भगस्त्यक्तवान्धवः ।

कन्यादोषौ च यौ पूर्ववितौ दोषगुणौ वरे” ॥ इति ।

उन्मत्तो वायादिना । पतितो ब्रह्महत्यादिना । दुर्भगो भाग्यरहितः-
त्यक्तवान्धवः अदृष्टाचारबन्धून् विहाय स्वतन्त्रव्यवहारः । पूर्वोक्तकन्यादोषौ-
दीर्घकुक्षितरोगव्यङ्गत्वरूपौ नारदोक्तावेव । सार्द्धमेतैर्विवाहो न कार्यः ।
अत एते न विवाहार्हा इत्यर्थः ।

तथा वशिष्ठोऽपि—

“कुलशीलविहीनस्य षण्डादिपतितस्य च ।

अपस्मारिविधर्मस्य रोगिणां वेशधारिणाम् ॥

दत्तामपि हरेत् कन्यां सगोत्रोढां तथैव च” ।

अत्र सगोत्रापदं सपिण्डाया अप्युपलक्षणम् । समानन्यायात् ।

तथा पराशरोऽपि—

“कन्यां यच्छति वृद्धाय नौचाय धनलिप्सया ।

कुरूपपायाकुलीनाय स प्रेतो जायते नरः” ॥

वृद्धादिभिः सह कन्योपयमो न कार्यः धनलिप्सयेति सिद्धान्तः । वृद्ध-
शब्दोऽत्र निरुक्तविवाहसमयातिरिक्तवयस्कपरः । नौचशब्दस्तु श्रोत्रियभिन्न-
वृत्त्यन्तरावलम्बिनिकटब्राह्मणपरः न च ब्राह्मणातिरिक्तजातिवाचकः,
शास्त्रविगहितत्वादसवर्णविवाहस्य” ।

पुनर्वशिष्ठोऽपि—

“अत्यासन्नेऽतिदूरे च अत्याद्ये चातिदुर्वले ।

वृत्तिहीने च मूर्खे च षट्सु कन्या न दौयते ॥

इति कन्याया नानाविधदोषस्य चक्षुर्विषयत्वसम्भावनायाऽतिनिकटवर्त्तिने-
वराय कन्या न देया । तथा पूर्वतो दुर्गममार्गवशतो गमनागमनजन्यकष्टा-
शङ्कया वा साध्याद्यसुलभत्वेनातिदूरस्थपात्रस्य परिचयाभावाद्दानयोग्यत्वं नाति-
दूरवर्त्तिनः । अत्युपसर्गापादानेनात्र दानार्हत्वसिद्धिर्दूरस्थवरस्य । किन्त्वि-
दानीं वाच्यीययानेनातिदूरदेशकर्मताकयातायातस्य सहजसाध्यतया निरुक्त-
दोषासम्भवात् तद्दानं न दोषावहमिति राद्धान्तः । स्वापेक्षया धनविद्या-
कुलादिभिरत्युन्नताय वराय न प्रशस्तं कन्यादानं तदुपयोगिसम्मानाद्यनुष्ठाना-
भावेन मनोमालिन्यादेः सम्भाव्यमानत्वात् । सत्यपि तदनुरूपसम्मानदानाद्या-
चरणे स्वस्यावश्यंभाविदुरवस्थत्वाच्च । अतः साकं समानेन वाऽल्लोभ-
तेनानुष्ठेयः सम्बन्धो निजापेक्षयेति सिद्धम् । तथा प्राणविनाशादिदोषानु-

मानेनातिदुर्वलाय । तथा स्वपरिवारभरणपोषणादिकरणाक्षमत्वसम्भावना-
सम्पत्तिविहीनाय (अर्थात् दरिद्राय) तथा हिताहिताद्याचरणज्ञानविहीनेन-
सह सत्युपयमे तदुभयाद्याचरणज्ञानवत्याः कन्यायाः समुत्पन्नदुःखनिवह-
त्वात् मूर्खाय च न करणीयं कन्यादानमितेप्रतद्वचनतात्पर्यम् ।

ततः काव्यायनोऽपि—

“आक्रान्तस्तेन विद्विष्टस्तथा त्यक्तः स्वबन्धुभिः ।

अन्या जातिः क्षयी दासो लिङ्गस्थश्चोदरी यदि” ॥

“चक्षुःश्रोत्रविहीनश्च तथापस्मारदूषितः” ।

वरदोषाः स्मृता ह्येते—

प्राक्पश्चाद्वा समुत्पन्नं दानं तत्र निवर्त्तयेत्” ॥

निष्क्रान्तः देशान्तरगमनशीलः, तस्मै नोचितं कन्यादानं स्वामिनः-
सदैव वैदेशिकत्वेन कन्याया व्यभिचारादिवहुविधदोषसम्भवात् । तेन-
निष्क्रमणेन विद्विष्टो रक्षितः अत्यन्तप्रवासभीरुरिति यावत् । सदैव गृह्याव-
स्थितत्वेन सकलकार्यहानिवशतः समुद्भूतदरिद्र्यात् न तस्मै कन्यादानं-
धर्मशास्त्रसम्मतम् । कारणमूह्यमप्रतः ।

तथाच महाभारते—

“द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो विलशयानिव” । इति ।

लिङ्गस्थः वेदवाह्यलिङ्गधारी, उदरी जलोदरव्याधिवान् । प्राक् वाग्-
दानात् । पश्चात् वाग्दानानन्तरम् ।

अन्यानपि वर्थ्यानाह स एव ।

“दूरस्थानामवेद्यानां मोक्षमार्गानुसारिणाम् ।

शूराणां च निवृत्तानां न देया कन्यका बुधैः” ॥

षण्डो वर्जनीय इत्युक्तम् । तद्वर्जने कारणमाह नारदः—

“अपत्यार्थं स्त्रियः सृष्टाः स्त्री क्षेत्रं वीजिनो नराः ।

क्षेत्रं वीजवते देयं नावोजी क्षेत्रमर्हति” ॥ इति ।

“निषेधो विधातुं न शक्यते ; सामान्यशास्त्रोपजीवी स हि निषेधविधिवर्तव्यः” । इति शूलपाणिः । अत्र श्रीकृष्णतर्कालङ्कारः,—

“रात्रौ आह्नप्राप्तिं विना आह्ननिषेधो न तत्र विधातुं शक्यते । प्रसक्तं हि प्रतिषिध्यत-इति न्यायादित्यर्थः ।” उदाहरणेनैकेन विशदयते सः, “विद्यते-धर्मशास्त्रे तथाऽमावास्यायां कुर्यात् पार्वणआहं पितृपितामहादिभ्य” इति ।

प्रमाणमाह याज्ञवल्करः आह्नविवेके—

“अमावस्याष्टका वृद्धिः कृष्णपक्षोऽयनद्वयम् ।

द्रव्यं ब्राह्मणसम्पत्तिर्विष्णुवत्सूर्यसंक्रमः” ॥

पार्वणआह्नानुष्ठानेन यत्तृप्तिलाभो भवेत् परलोके पितृगणानां तमस्मान्बोधयति धर्मशास्त्रं ।

शास्त्रमन्तरा नास्त्येतादृक् कोऽप्युपायः, यद्वारेण बोद्धव्यमस्माभिः-पितृपुरुषद्वयमाधायक समावास्याआह्नमिति । आहं कुर्यादमावास्यायामित्येतद्विधिवाक्ये सामान्यतोऽमावास्याशब्दस्य विद्यमानतया क्षणे सर्वस्मिन्नमावस्यायाः अर्थाद्विसे वा रात्रौ यदा सम्बन्धो भवेदमावास्यायाः ; समये तस्मिन् भवेत् आह्नानुष्ठानेन पितृद्वयमिति बुध्यते तद्वक्तव्यतः । तदावतिष्ठतेऽमावास्यान्वितरात्रिदिवसात्मकसमयः आह्नविहितकाल इति । वदत्यतः परं यत्पुनः शास्त्रं, “रात्रौ न कुर्याच्छ्राद्धं” ।

प्रमाणमत्राह आह्नविवेके शातातपः,---

“रात्रौ आह्नं न कुर्वीत राहोरन्यत्र दर्शनात् ।

सूर्योदयमुहूर्त्तं च सन्ध्ययोरुभयोस्तथा ॥”

नजमेतं प्रसन्नप्रतिषेधनामकं न शक्नुयाद्वक्तुं । यतोऽयं मद्यपाननिषेधवत्प्रवृत्तिवशतो न निषेधयति किमपि वस्तु । कारणमिदमत्र । शास्त्रीयप्रमाणमन्तरेण रात्रौ आह्नानुष्ठानं नावबुध्यतेऽस्माभिः केनैवोपायेनान्येन ।

रजन्यां आह्नानुष्ठानं प्रतिपादयति शास्त्रं । पुनः शास्त्रमिदं निषेधयति-आह्नानुष्ठानं रात्रावेव । कथमेतद्—वा सम्भवपरम् ? सुतरामेतन्निषेधस्य सम्पादयितुं सार्थकं वदन्ति स्म शास्त्रकर्तारो-नजोऽस्य रात्रौ आह्नानुष्ठाना-

त्मको न भवत्यर्थः ; किन्तु रात्रिभिन्न इति । विनैतं नास्ति कोऽप्यर्थः । रात्रिभिन्न इति तत्च्छब्दस्य च कुर्याच्छ्राद्ध-ममावस्यायामित्येतद्विधिवाक्येन साकं भवेदन्वयः, अर्थाद्रात्रिभिन्नायाममावस्यायां-कुर्याच्छ्राद्धमयमेको वाक्यार्थः । किन्तु “आहं कुर्यादमावास्यायां” तथा “न कुर्याद्रात्रौ आहं” इति तत्स्य-वाक्यद्वयस्य सम्मेलनेन प्रतिपन्नोऽयमेवार्थः । तदायमेवावतिष्ठते ;— आहविधानसमयो रात्रिव्यतिरिक्तामावास्यान्वितकालः । समर्थितोऽयमर्थो-मलमासतत्त्वीय-विचारोन्नेखेनात् । एवमत्र तत्तद्विधिप्राप्त्याहकरणमनूय-रात्रीतरत्वमात्रं विधीयत” इति ।

तथाच, आहविवेकीयविवेकोपन्यासेन । यथा,—

“तथाहि अमावास्याशस्त्रस्य रात्रिमात्रपरत्वं दिवारात्रिपरत्वं वोपजीव-निषेधविधौ रात्रिज्ञानस्य बाध एव” । एतदेव “आहं कुर्यादमावास्यायां” इत्यनेनैकेन विधिवाक्येनासीत्प्रतिपादितम् । “रात्रौ न कुर्याच्छ्राद्धं” वाक्येऽस्मिन् नजः आहकरणरूपक्रियया सार्द्धमापाततः सति प्रतीयमान-सम्बन्धेऽपि वाक्यमेतद्वस्तुतो न बोधयत्यर्थमेवंप्रकारम् ।

एतदेव, “रात्रिव्यतिरिक्त”मित्येतावन्मात्रं बोधयति ।

अन्यच्च, “रात्रिव्यतिरिक्त”मेतद्विशेषणं । “कुर्याच्छ्राद्धममावास्यायां”-मिते तत्तद्विधिप्राप्तामावास्यात्मकआहकालेन समं भूत्वान्वितं विधेयार्थ-विशेषयति । अतो नजर्थोऽयं विधिवाक्यान्तर्गतस्य कस्याप्येकस्य विशेषण-मिति बोध्यम् ।

फलमेतदुपस्थितं यत्, प्रसज्यप्रतिषेधस्थले सत्यपि प्रतिषेधेऽनङ्गीकृते-भवेदेव प्रत्यवायभागी ; किन्तु प्रतिषिद्धक्रियासिद्धयर्थं न घटते कोऽपि-व्याघातः ।

प्रमाणानि यथा,—

मलमासतत्त्वे—

“प्रतिषेधे न तु कालान्तरीयानिष्ठहेतुत्वं ज्ञाप्यते” ।

तथा, “निषेधदर्शनाच्च वैगुण्येऽपि फलसिद्धिरवगम्यते” इति ।

पर्युदासस्थले निश्चितमेतद्विपरीतः ; सत्यप्यस्वीकृते पर्युदासे-

निषेधेन भवेत् कोऽपि प्रतयवायः । सत्यं, तदा निषिद्धकार्यमिदं न भवति-
सिद्धम् । यदि कोऽप्याग्रहतोऽज्ञानतो वा कुर्याच्छ्राद्धं रात्रावेव, तदा तेन-
आहकर्तुरस्य न सम्भवेत् कोऽपि प्रत्यवायः । किन्तु तदनुष्ठितश्राद्धं अर्थात्-
पितृपुरुषगणस्य हत्याधायकं कार्यं न भवेत् सिद्धम् । कथं न तदभवेत्-
सिद्धम् ? प्रत्यस्योत्तरमेतदेव । शास्त्रविहितं कार्यं कुर्यात् विहितावसरे-
यतः कार्यानुष्ठानमिदं कदा भवेत् सिद्धम् ? शास्त्रमन्तराऽवगन्तुमेतदन्यो-
नास्त्युपायः । तच्छास्त्रं यदा करोति रात्रिं पर्युदस्ताम् । अर्थाच्छ्राद्ध-
कालात्मकत्वेन न परिगणिता रात्रिस्तेन ; तदा केनापि प्रमाणेन वक्तुं-
यच्छक्त्युर्भवन्तः रात्रौ कृते सत्यपि श्राद्धे भवेत् सिद्धमेतत् ? अथवा-
“मद्यं न पिबे”दित्यात्मको यथा विद्यते स्फुटं निषेधः । तथा श्राद्धं-
नानुतिष्ठेदात्रा”वित्यात्मकं नास्ति किमपि निषेधवाक्यम् । “न कुर्याद्वाचौ-
श्राद्ध”मेवंभूतं यदस्ति वाक्यमेकं, पूर्वं प्रदर्शितस्तदर्थः । तस्मिन्नापाततो-
निषेधात्मकत्वेन सत्यपि प्रतीयमाने प्रकृततः—

सोऽयं न निषेधात्मकः, किन्त्वेतदमावास्यायां कुर्याच्छ्राद्धमित्यात्मक-
विधिवाक्यस्य विशेषणमात्रम् । साकं युक्त्यैतत्कथनमासीद्यमाणितं पूर्वतः ।
यदि कोऽपि कुर्याच्छ्राद्धं रात्रौ ; तदा तत्कर्तृकश्राद्धं नासीत्सिद्धमिति प्र-
तावन्मात्रं भवति सिद्धं तदा । निषेधस्यास्य लङ्घने मद्यपानस्थल इव न-
केनापि प्रतयवायेन भवेत् परिग्रस्तः । यतो निषेधोऽयं न निषेधरूपः ।
पर्युदासमात्रमेवायम् । इति नजर्थद्वयविचारः ।

प्रकृतोपयोगितया प्रसङ्गतो दूरगमने सत्यपि संभूतेऽधुना प्रकृतमनु-
सरामो वयं पूर्वापरसंगतिं कर्तुम् ।

तथाच गौतमः,—

“असमानप्रवरैर्विवाह”इति प्रवरमात्रस्यैव पर्युदासनिमित्ततां प्रकटयति ।
ततश्च गोत्रभेदेऽपि प्रवरैक्ये न विवाहः ।

तद्यथा,—

यास्त्वधूलमौनमौकशर्कराष्टिशार्ष्टिसावर्णिशालङ्कायनदैवतप्रायनानां-
गोत्राणां भेदेऽपि भार्गववैतहव्यसवेतिसेतिप्रवरैक्ये ।

तथा प्रवरभेदेऽपि गोत्रैक्ये ;

तद्यथा,—

तित्तिरिक्पिभूमिस्त्रन्दितखण्डितानां गोत्राणामाङ्गिरससैन्यगार्थ्येति ;
अङ्गिरास्तित्तिरिः कपिभूमिरिति चेति गोत्रैक्येऽपि वैकल्पिकप्रवरभेदे
यत्तु ; हरिहरकुत्सपिङ्गशङ्खदर्भभैरवगवानामाङ्गिरसाश्वरीषयौवनाश्वेति, मान्द-
वश्वरीषयौवनाश्वेति वैकल्पिकप्रवरभेदादसमानार्धत्वेन विवाहप्रसक्तौ गोत्रैक्येन-
तन्निषेध इत्याधुनिकैरुदाहृतम् । तन्न सुन्दरं । आङ्गिरसमान्यात्रोर्विकल्पेन-
भेदेऽपि अश्वरीषयौवनाश्वयोर्द्वयोरभेदेन विवाहाप्रसक्त्या प्रकृतोदाहणाभावात् ।

तथाच, प्रवरनिर्णयकाराः स्मरन्ति,—

“पञ्चनां त्रिषु सामान्याद्विवाहस्त्रिषु द्वयोः ।

भृग्वङ्गिरोगणेष्वेवं शेषेष्वेकोऽपि वारयेत्” ॥ इति ।

यत्तु, समानं आर्धं यस्य तत् समानार्धं, समानार्धं च तत् गोत्रं च-
समानार्धगोत्रं समानार्धगोत्रे जाता समानार्धगोत्रजा ; न समानार्धगोत्रजा-
असमानार्धगोत्रजा इति प्राचां समासकरणं । तन्न सुन्दरं ; विशिष्टनिषेध-
गोत्रैक्येऽपि प्रवरभेदे विवाहप्रसङ्गात् । यथा, तित्तिरिक्पिभूम्याद्युक्तोदाहरणे-
न चेष्टापत्तिः । “न सगोत्राय दुहितरं प्रयच्छेदिति” गौतमेन गोत्रमात्र-
स्यैव पृथक्निषेधात् । तत्र गोत्रलक्षणं वीरमित्रोदयस्य संस्कारप्रकाशे,
तत्र गोत्रलक्षणं किं तावदित्याकांक्षायांमुच्यते,—गोत्रलक्षणं, “अगस्त्याष्टम-
सप्तस्वन्यतमापत्यं साक्षात्परंपराजातं यत् तत् गोत्रमुच्यते ।

तथाच स्मृतिः—

“जमदग्निर्भरद्वाजो विश्वामित्रोऽत्रिगौतमौ ।

वशिष्ठकश्यपागस्त्या मुनयो गोत्रकारिणः” ॥

एतेषां यान्यपत्यानि तानि गोत्राणि मन्यते” ॥ इति ।

गोत्रकारिणो गोत्रप्रवर्तका इत्यर्थः । ग्रथप्रवर्तकतेषां तानि कानि-
गोत्राणीत्याह ;—एतेषां यान्यपत्यानीति, अत्र गोत्रभूतमपत्यमनन्तरमपि ;
न तु पाणिनेरिव पारिभाषिकं पौत्रप्रभृत्येव । तथात्वे प्रमाणाभावात् । न च-

कृत्रिमाकृत्रिमन्यायस्यात्र प्रसङ्गोऽस्ति । कृत्रिमपरिभाषायास्तथाविधाया-
वोधायनाश्वलायनादीनां केषांचिददर्शनात् । सत्वे वा पाणिनेरिवापत्याधिका-
राभवेन तस्य नियमेनाग्रहणात् । किंच व्याकरणेऽप्यपत्याधिकारस्यासत्वे-
लौकिकगोत्रस्यापत्यमात्रस्य ग्रहणमेव युक्तं । अपत्याधिकारादन्यत्र लौकिक-
स्येव गोत्रस्य ग्रहणमिति भाष्यवैयटपदमञ्जव्यादिषु स्थितत्वात् । दृश्यतेऽपि-
तत्कचित् । अत्र गोत्रभूता एव केचित् प्रवरास्ते च ऋष्यार्षेयशब्दवाच्या इति-
ऋषिभूतं सर्वं तदिति न श्रमितव्यम् । किन्तु वंशपरंपराप्रसिद्धमेव । यच्च-
सूत्रादिषु गोत्रपरिगणनं तदपि प्रसिद्धिमूलकमेव । एतदभिप्रेत्य निबन्धेषु -
गोत्रं ऋषिवंशपरंपरेति व्याख्यातं ।

अत्र केचिदेवं व्याचक्षते । गोत्रशब्दः सम्बन्धिशब्द इति ; किं केषां केषां-
गोत्रमिति जिज्ञासायां अगस्त्याष्टमसप्तर्षीणां यान्यपत्यानि तेषां गोत्रमेते-
सम ऋषय इति । एवं च भरद्वाजादिषु शिष्टानां गोत्रव्यवहारोऽप्युपपद्यते ;
भरद्वाजगोत्रा वयं वशिष्ठगोत्रा वयमित्यादि, तन्न, सन्दर्भविरोधात् । न हि-
घट इति वक्तव्ये अनघट इति विद्वांसो वदन्ति । तेषां च गोत्रत्वे गोत्राण्य-
ष्टसंख्यकानि स्युः । ततश्च—

“गोत्राणां च सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च” । इति सूत्रविरोधः । कथं-
विश्वामित्रादिषु गोत्रव्यवहारः । आरोपात् । सर्वेषां तेषां गणनां परस्परं-
विवाहो नास्तीत्यवान्तर—ऋषिष्वेव गोत्रत्वविवक्षायां प्रयोजनाभावात् । यत्र-
तु प्रयोजनमस्ति ; ऋषिष्वेव गोत्रविवक्षा, यथा जमदग्निव्यतिरिक्तभृगुगणेषु-
केवलाङ्गिरोगणेषु च केषुचित् । अन्यथा गोत्रप्रवरसाम्याभावात् विवाहः-
प्रसज्येत । तस्मादगस्त्याष्टमसप्तर्ष्यपत्यमेव गोत्रं ।

अत्र गोत्राणां समानत्वं कचिदेकत्वं कचित् सादृश्यं । तत्राद्यं एकैक-
गणान्तःपातिनां गोत्राणां । यथा,—मूलभूतस्य वत्सादेः प्रसिद्धस्य गोत्र-
स्यैकत्वं । गणावान्तर-ऋषीणामपि यत्र गोत्रत्वं तत्रापि तेषां स्वपरंपरां-
प्रत्येकत्वमप्रतिहतमेव ।

द्वितीयं तु गोत्ररूपाणामृषीणां भिन्नभिन्नगणनिविष्टानां तन्मूलभूता-
नामवान्तराणां वा । तदप्यगस्त्याष्टमसप्तर्ष्यन्यतमैक-ऋषेरपत्यत्वरूपयानुवृत्त्या ।

तदनुवृत्तिज्ञानं च बहुधाप्रवरान्तर्भावादेव । सूत्रादिगतानुक्रमणेषु तु-
क्वचित्तथाविधपूर्वापरीभृतगोत्रपाठान्तर्भावात् ।

तथाचोक्तं ;—

“त्रियमाणतया वापि सत्तया वानुवर्त्तनं ।

एकस्य दृश्यते यत्र तद्गोत्रं कस्य कथ्यते ॥”

इति, तद्गोत्रं तस्य ऋषिरपत्यं कथ्यते । इति । तेन रूपेण तेषां गोत्राणां-
समानत्वमित्यर्थः । सत्तयेति वदता त्रियमाणतयेत्यस्य वीधायनोक्तैतन्मूलभूत-
एक एव ऋषिरिति लक्षणे प्रवरेष्वित्यस्य चोपलक्षणत्वेन यथाकथंचिदेकस्या-
नुवर्त्तनं सूचितं भवति । उत्पाद्योत्पादकभावः सत्ता । भूसत्तायामिति-
स्मृतेः । क्वचित्सु स्वतयेति पाठः । तत्रापि यमधिकृत्य ये पठितास्ते तस्य-
स्वे आत्मीया इत्यक्षरानुसारेण तत्रैव पर्यवस्यति । एतदुक्तं भवति । यथा,
पारिभाषिकं गोत्रं ; तथा समानगोत्रत्वमपि । इतरथा तस्यानिर्वचनात् ।

किञ्च,—

“एक एव ऋषिर्यावत्-प्रवरेष्वनुवर्त्तते” ।

तावत् समानगोत्रत्वमित्युक्ते एक एव अगस्त्याष्टमसप्तम्यन्यतम एव ति-
सृभिः कोटिसंख्याभिः संख्यातानां वक्ष्यमाणानां गोत्राणां मध्ये यावत्संख्य-
कानां गोत्राणां एकद्वित्रिपञ्चसंख्यान्यतमसंख्याकेषु प्रवरेष्वनुवर्त्तते तावतां-
गोत्राणां तत्समानगोत्रत्वं ।

एवं गोत्रस्वरूपं समानगोत्रत्वञ्च निरूपितं संचेपतः ।

इदानीं प्रवरस्वरूपं तत्समानत्वञ्च निरूप्यते । तत्र प्रवरान् व्याख्यास्यामः ।
समानप्रवराः ; त्र्यार्षेयः प्रवरः ; पञ्चार्षेयः प्रवरः इत्यादिषु प्रत्रियत-
इति कर्मव्युत्पन्नः । प्रवरणं प्रवर इति भावव्युत्पन्न इति भार्गवच्यावनाप्रवानौ-
र्बजामदग्नेरिति ।

जमदग्निषदूर्ध्ववदप्रवानवच्चप्रवनवदभृगुवदिति तद्धितवत्प्रत्ययान्तप्रयोगिणाम्ने-
प्रकर्षेण वरणानि, प्रार्थनापर्यायः प्रवरणब्दो भावव्युत्पन्न इति प्रवर-
मञ्जरीकारः । ननु गोत्रत्वेन परिगणिताः केचिदृषय एव गोत्रसम्बन्धिनः-

पितृपुत्रपोत्रक्रमेणावस्थिताः ; प्रवरास्तथैव दंशपूर्णमासाङ्गभूतहोत्रध्वर्यादिवर-
णविधानास्त्रिज्ञादवसूयते ।

तथा मत्स्यपुराणेऽपि —

“भृगुः पुलोमश्च सुतां दिव्यां भार्यामविन्दत ।

यस्यामस्मात्ततोऽपत्यभूता द्वादशदेवताः ॥

पौलस्त्यजनयद्विप्रान् देवानां तु कनौयसः ।

च्यवनं तु महाभागमप्रवानं तथाप्यसौ ।

अप्रवानात्मजश्चैव जमदग्निस्तदात्मजः” ॥ इति ।

तदपत्यभूता ऋषय इत्युक्तं । तन्नोत्रप्रवरान् वक्ष्ये इत्युपक्रम्य च्यवनादी-
नुक्ता इत्येते प्रवरा मता इत्युपसंहृतं ।

संग्रहेऽप्युक्तं,—

“पञ्चानां त्रिषु सामान्यादविवाहस्त्रिषु द्वयोः ।

भृग्वङ्गिरोगणेष्वेवं शेषेष्वेकोऽपि वारयेत्” ॥

इदञ्च, जमदग्निगौतमभरद्वाजरूपेष्वपि भृग्वङ्गिरोगणेषु समानप्रवरत्वे-
समानं । अतएव तेष्वविवाहप्रयोजकत्वेन समानप्रवरत्वमेतद्विशेषसहितमेव-
प्रवरमञ्जरीकृता अभिहितमिति तत्रैवायं विशेषो यद्यपि वक्तुं युक्तः ; तथापि-
तेष्वेकमात्रप्रवरसाम्येऽपि सर्वेषामसाम्येऽपि वा सगोत्रत्वादेवेतरगोत्रवदविवाह-
सम्भवान्नैतस्य विधानस्य तत्र व्यतिरेकतः किञ्चित् प्रयोजनमस्तीति तद्विन्न-
भृग्वङ्गिरोगणविषयतया व्याख्यातं ।

यत्र विशेषविधिर्नास्ति ; तत्रैकप्रवरसाम्येऽपि समानप्रवरसाम्यत्वं ;
यथा,—भृग्वङ्गिरोगणभिन्नेषु ; शेषेष्वेकोऽपि वारयेदिति वचनात् । एवञ्च-
केवलभृग्वङ्गिरसां गोत्रत्वाभावादसंकीर्णः प्रवरसाम्यादेवाविवाहः ।

नन्वेतेषां गोत्रत्वाभावे हरितमुद्गलादीनां सकलार्थावर्त्तिशिष्टादृताविगीत-
गोत्रत्वमृतिः कथमपलपितुं शक्या कथं वा गोत्रस्य प्रवरोपपत्तिः । द्वयो-
र्मुद्गलयोर्हरितयोरेव वा विवाहे सगोत्रविवाहनिमित्तं प्रायश्चित्तञ्च कथं स्यात् ।

कन्यादाने च हरितमुद्गलादीनां वरत्वे हरितगोत्रायेत्याद्यभिलापः शिष्टेष्व-
कथंकारं क्रियेतेति चेत् । यदि बहुतरशिष्टानां निवन्धकतां वाचाभिनिवेश-
स्तदैवमुपपाद्यं ।

तथाहि,—

सत्याषाढसूत्रे परिभाषायां प्रवरान् व्याख्यास्याम इत्युक्त्वा तैर्गात्राणीति-
वचनादिति स्वरूपतः समानतया च गोत्रज्ञाने प्रवराणां हेतुत्वोक्त्या प्रवरत्वं
मेव गोत्रलक्षणमुक्तं भवति । ततश्च यमेवैकमधिकृत्य प्रवरान्नानं सोऽधि-
कृतो गोत्रं । तस्यैव चाधिकृतस्य येषु स्वस्वगणान्तर्गतेषु अनुवृत्त्याख्यं साम्यं-
ते सगोत्रा इत्युक्तं भवति । तथाच, हरितादिषु गोत्रव्यवहारः समञ्जसो-
भवति । अतोऽन्यत्र शृग्वङ्गिरसां गणादिति पर्युदासोऽप्युपपन्न इत्याहुः ।

अपरञ्च,—

“अत्रेरेव परं वंशं तव वक्ष्यामि भारत ! ।

अत्रेः सोमः सुतः श्रीमान् तस्य वंशोद्भवो नृपः ॥

विश्वामित्रः सुतपसा ब्राह्मण्यं समवाप्तवान् ।

तस्य वंशमहं वक्ष्ये तन्मे निगदतः शृणु” ॥ इति ।

मत्स्यपुराणे विश्वामित्रस्यात्रिवंशत्वाभिधानात् विश्वामित्रप्रवरैष्वत्रे-
सत्तयानुवृत्तेर्विश्वामित्राणामत्रिभिरप्यविवाहः स्यात् ।

किञ्च, भरद्वाजस्य पुत्रो भवमन्युस्तस्य महावीर्यनरगर्भाद्याः पुत्राः ।
तत्र महावीर्यादुरुक्ष्यः, उरुक्षयात् कपिप्रभृतयः । तथा गर्भात्सिनिः सिनिः
सेन्यः सैन्यादुगर्गाद्याः । तत्र यथा,—

भरद्वाजस्य कपिप्रवरेषु सत्तयाऽनुवृत्तिस्तथा संकृतिप्रवरैष्वपि तस्य सत्ता-
सम्भवात् भारद्वाजानां संकृतिभिरपि विवाहो न स्यात् ।

अपिच, सत्तयाऽनुवृत्तेरविवाहनिमित्तत्वे प्रवरविकल्पव्यवस्था न स्यात् ।
सत्तयानुवृत्त्या प्रवराणां सर्वत्र साम्यात् विकल्पस्यैवाभावात् । यदि तु त्रिय-
माणतयाऽनुवृत्त्या विकल्पव्यवस्थोच्यते तर्हि तादृश्या-एवानुवृत्तेरविवाह-
निमित्तत्वं वक्तुमुचितम् । अन्यथाऽतिप्रसङ्गस्य दुर्वारतापत्तेः ।

अथच, भरद्वाजादीनामनुवृत्तिर्न सप्तर्षित्वेन प्रमाणाभावात् ; किन्तु-
प्रवरत्वेनैव वाच्या ।

तथा चोक्तम्,—

“एक एव ऋषिर्यावत्प्रवरैष्वनुवर्तते ।
तावत्समानगोत्रत्वमिति” ॥

तावत्समानगोत्रत्वमिति । तथाच त्रियमाणतयैव प्रवराणामविवाह-
निमित्तत्वं न सत्तया । अन्यथा त्रयार्षेयसन्निपाते पञ्चार्षेयाणामविवाह-
इति नियमो न स्यात् । सत्तयाऽनुवृत्त्या प्रवराणां सर्वत्र साम्यात् । तथाच-
सगोत्रत्वेऽपि त्रियमाणतयेवानुवृत्तिरङ्गीकार्येति । अथ यस्मिन् वंशे य-
उत्पन्नस्तस्य तेन सहाविवाह इति, तदुवंशोत्पन्नत्वमेवाविवाहप्रयोजकं ;
तर्हि भरद्वाजोत्पन्नत्वात् सङ्गतीनामपि भरद्वाजैर्विवाहो न स्यात् । तथाङ्गि-
रसो “वृहस्पतिस्तस्माद्भरद्वाजः”—इति । अङ्गिरोवंश्यैर्गौतमादिभिरपि भरद्वा-
जानां विवाहो न स्यात् । विश्वामित्राणामत्रिभिरपि विवाहो न स्यात् ।
किमपरमाङ्गिरसानां सर्वेषां भार्गवाणाञ्च सर्वेषां परस्परमविवाहः स्यात् ।
तस्मात् सत्तयाऽनुवृत्तिरविवाहे न निमित्तमिति ।

अत्र वदन्ति,—

“भरद्वाजाश्च कपयो गर्गा रौक्षायणा इति ।
चत्वारोऽपि भरद्वाजा गोत्रैक्यान्नान्वियुर्मिथः” ॥

तथा,—

“भरद्वाजर्क्षकपयो गर्गा रौक्षायणा द्विजाः ।
पञ्चैते हि भरद्वाजा गोत्रैक्यान्नान्वियुर्मिथः” ॥

तथा,—

“कपिगर्गभरद्वाजा मिथो रौक्षायणा द्विजाः ।
नोद्वहेयुः सगोत्रत्वात् प्रवरैक्याच्च न क्वचित्” ॥

एवमादीनि स्मृत्यर्थसारकारादीनामतिप्रामाणिकशिष्टपरिगृहीतानां-

वचनानि कपिभरद्वाजयोर्विवाहनिषेधबोधकानि सन्तीति तयोरेव परस्पर-
मविवाह इति निर्णयिते । सङ्ख्यादिभिस्तथा निषेधाभावाद-भवति ।

न चास्मादेव निषेधबलात्तयोरविवाहे सिद्धे सत्तयाऽनुवृत्तिकथनमभि-
युक्तानां व्यर्थं स्यात् । नानेन वाक्येन निषेधः कपिभरद्वाजत्वेनोच्यते ।
किन्तु सगोत्रत्वेन । तस्य च त्रियमाणतयाऽनुप्रवेशाभाविनासम्भवात्निषेधो-
ऽनर्थकः स्यात् । अतस्तदन्यथानुपपत्त्या तद्धेतुभूते सगोत्रत्वेऽपि परमशिष्टैर्यथा-
त्रियमाणतयाऽनुवृत्तिरनपञ्चस्मरणपरंपराभूलककल्पसूत्रनिवहैव सगोत्रत्व-
निमित्तमङ्गीक्रियते ।

तथा, सत्तयानुवृत्तिरपि तादृश्येव तथेति विज्ञायत इति नास्त्यतिप्रसङ्गः ।
अस्ति च भरद्वाजस्य कपिषु तादृशी सा । भरद्वाजानां सर्वेषामविवाह-
इति । बौधायनसूत्रमध्येतदभिप्रायमेव । अपिच प्रवरसञ्ज्ञादौ भृगु-
गणाङ्गिरोगणौ महागणाविति निरूपितम् । तत्र भृगवो द्विविधाः जाम-
दग्न्या अजामदग्न्याश्च । तत्र जामदग्नेषु वत्सविदो द्वौ गणौ । द्वितीये तु-
पञ्चगणाः । ते च आर्षिषेणा यक्षाः भित्तयुवो वैत्याः शुनका इति । एते
एव केवलभृगव इति व्यवह्रियन्ते । तत्रास्मिन् गणसप्तके पञ्चार्षेयं गणत्रयं,
ततस्त्यार्षेयं गणत्रयं, तत एक-एकार्षेयः । तत्र जामदग्न्यादि-श्रीवत्समण्ड-
कान्ता वत्साः । तत्र ये जामदग्न्या वत्सास्तेषां पञ्चार्षेयः प्रवरो भार्गव-
च्यावनाप्रवानौर्वजामदग्नेरिति होता, जमदग्निवदूर्वदप्रवानवत्चवनवदभृगुव-
दित्यधूर्युरिति । लौगाक्ष्यापस्तम्बाश्वलायनबौधायनानुसारिणां भृगुवत्चवन-
वदप्रवानवदूर्ववज्जमदग्निवदित्यधूर्युरिति । कात्यायनानुसारिणां भार्गवौ-
र्वजामदग्नेरिति त्रार्षेयोऽपि क्वचित् । अत्र जामदग्न्यस्य सप्तर्षेः प्रवरेष्वनु-
वृत्त्या परस्परं सगोत्रत्वाज्जामदग्नैस्तथोत्तरैः परस्परं स्वे स्वे गणि न विवाह-
समानर्षिबहुत्वात् । अजामदग्न्यानां वत्सानां त्रार्षेय एव भार्गवच्यावनाप्र-
वानेति ।

शैलावटादयो दिंशत्यो विदाः । तेषां भार्गवच्यावनाप्रवानौर्ववैदेति-
होतुः पञ्चप्रवरा भवन्तीति बौधायनाश्वलायनौ । विदवदूर्ववदप्रवान-
वच्चवनवदभृगुवदित्यधूर्युः । भार्गवौर्वजामदग्नेरिति त्रार्षेयोऽपि क्वचित् ।

द्विविधा अयेते विदाजामदग्नेरा एव । पञ्चार्धेष्वपि ओर्वशब्दसमन्वयाद-
जमदग्नेः सत्तयानुवृत्तिप्रतीतेस्तस्य जामदग्नेरश्वेव दृष्टत्वात् । तथा चोर्व-
जामदग्नेरशब्दौ जामदग्न्यत्वप्रयुक्तावित्याश्वलायनसूत्रवृत्तिकारिणोक्तम् ।

अथाजामदग्न्याः,—नैरथ्याद्यधिताप्यन्तप्रभृतयः आर्ष्टिषेणाः । तेषां-
पञ्चार्धेयः प्रवरः भार्गवच्यावनाप्रवानार्ष्टिषेणानूपेति होता ; अनूपवदृष्टिषेण-
वदप्रवानवच्चप्रवनवदभृगुवदित्यध्वर्युः । भार्गवार्ष्टिषेणानूपेति त्रार्षेयोऽपि-
क्त्वित् । वत्सविदार्ष्टिषेणानां परस्परमविवाहः । कुतः पञ्चार्धेयाणाम् ।
भार्गवच्यावनाप्रवानेति त्रार्षेयसाम्यात् । त्रार्षेयाणां द्वार्षेयसाम्यात् ।
वत्सविदयोर्जामदग्न्यत्वेन सगोत्रत्वात् पञ्चप्रवरे त्रिप्रवरसाम्येन च न विवाहः ।
तत्रागस्त्याष्टमसप्तर्षेर्जमदग्नेर्वत्सेषु त्रियमाणतयाऽनुवृत्तेर्जमदग्निमुपक्रम्य विदा-
नामप्युक्त्वात्सत्तया तस्यैवानुवृत्तेस्तेषां सगोत्रत्वम् । भौनादयो यस्कास्त्रि-
प्रवराः । भार्गववैतह्यसावेतसेति होता, सवेतिसवदुवीतह्यवदभृगुवदित्य-
ध्वर्युः । यस्कादिगणानामुत्तरैर्मित्रयुवादिभिः पूर्वैर्वत्सादिगणैश्च विवाहः-
असगोत्रत्वात् । त्रियमाणतया सत्तया वैकस्यानुप्रवेशाभावात् । न च भार्गवैक-
प्रवरसाम्यादविवाहः ।

“पञ्चानां त्रिषु सामान्यादविवाहस्त्रिषु द्वयाः” ।

भृग्वङ्गिरोगणेष्वेवमिति नियमाद्वितीयप्रवरसाम्याभावेन समानार्धत्वा-
भावात् । परं तु तेषां सर्वप्रवरसाम्यात्स्वगणे एव परस्परमविवाहः ।
स्वगणान्तःपातिनां हि यस्कस्मिन्मूकवाधूलादीनां गोत्राणां भार्गववैतह्य-
सावेतसेतिप्रवरैक्यमिति स्पष्टमेव ।

रौध्यायनादयो मित्रयुवाः । तेषां त्रार्षेयः प्रवरो भवति । भार्गव-
वाध्वर्युश्चैवोदासेति होता ; दिवोदासवदुवाध्वर्युश्चवदभृगुवदित्यध्वर्युः । दिवो-
दासा एते इत्यपि केचित् । एत एव प्रवराः । वाध्वर्युश्चैवोदासेति वा । एतेषां-
परस्परमविवाहः समानर्षिबहुत्वात् । पूर्वोत्तरैश्च विवाहः सगोत्रत्वाभावात् ।
एवमुत्तरत्र भृगुगणसमाप्तिपर्यन्तं ज्ञेयम् । वैत्याः पार्थाः वाष्कलाः श्यैता एते-
वैत्याः । ते त्रिप्रवराः । भार्गववैत्यपार्थेति होता, पृथुवद्देनवदभृगुवदित्यध्वर्युः ।

शुनकाः, गार्त्समदाः, यज्ञपयः, सौगन्धयः, खार्दमायनाः, गार्भायणा-
इति क्वचित् क्वचिदाङ्गायना इत्यपि सख्यगन्धाः प्रत्यूषाः कार्दमायना-
श्रीक्षाः श्रीष्ठाः शक्त्यायना राजवन्धव्या एते शुनकाः । तेषामेकः प्रवरः
शौनकेति होता, शुनकवदित्यध्वर्युः । गात्समदेति होता, गृत्समदवदित्य-
ध्वर्युरिति वा । द्विप्रवरो वा । भार्गवगार्त्समदेति होता, भृगुवद्-गृत्स-
मदवदित्यध्वर्युः । त्रिप्रवरो वा । भार्गवशौनकगात्समदेति होता, भृ-
वच्छुनकवद् गृत्समदवदित्यध्वर्युः । इत्यादि” । विशेषविवरणमेतस्य वीरमित्रो-
दयादौ द्रष्टव्यम् ।

अथ क्रमप्राप्तं सापिण्डं निरूप्यतेऽतः—

यथा, वीरमित्रोदये,—

तत्र एकपिण्डान्वयनिमित्तको विवाहादिप्रतिबन्धकः पूर्णांशोचप्रयोजको-
धर्मविशेषः सापिण्डं । पिण्डशब्दश्चायं नानार्थः । “पिण्डो देहे जपापुष्पे-
निर्वापे सिद्धकेऽपि च” इति विश्वकोषात् । तच्चान्नमयपिण्डविवक्षया केचित्
सापिण्डं वर्णयन्ति ।

“लेपभाजश्चतुर्ध्याद्याः पित्राद्याः पिण्डभागिनः ।

पिण्डदः सप्तमस्तेषां सापिण्डं साप्तपौरुषं” ॥ इति—

मत्स्यपुराणवचनात् :—

“पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः ।

पिण्डसम्बन्धिनो ह्येते विज्ञेयाः पुरुषास्त्रयः ॥

लेपसम्बन्धिनश्चान्ये ये वृद्धप्रपितामहात् ।

प्रभृत्युक्तास्त्रयस्तेषां यजमानश्च सप्तमः ॥

द्वत्येष मुनिभिः प्रोक्तः सम्बन्धः साप्तपौरुषः” ।

इति मार्कण्डेयपुराणवचनाच्च, अस्यार्थः :—

एकस्यां पिण्डदानक्रियायां दातृत्वेन यजमानस्य ; देवतात्वेन पि-
पितामहप्रपितामहानां चानुप्रवेशात्सप्तपुरुषं ध्याप्य सापिण्डं भवति । ए

भ्रातृणामपि सापिण्डं योजं देवदत्तकर्तृकपिण्डदानक्रियायां येषां-
 अनुप्रवेशस्तेषामिव यज्ञदत्तकर्तृकपिण्डदानक्रियायामनुप्रवेशात् । एव-
 मेषां षष्ठां मध्ये यद्यदकर्तृकपिण्डदानक्रियायामन्यतमस्याप्यनुप्रवेश-
 स्तेषां सर्वेषां सापिण्डं । तेन च मातुलमातामहादिभिरपि सापिण्डं-
 योज्यं समानोद्देश्यकपिण्डदानक्रियान्वयात् । भ्रातृभार्याणां तु स्वस्व-
 भ्रातृकर्तृकपिण्डदानक्रियायां सहकर्तृत्वेन । एवं यत्र यत्र सपिण्डशब्दप्रयोग-
 स्तत्र तत्र साक्षात् परम्परया वा एकपिण्डदानक्रियान्वयोऽवगन्तव्य इति ।
 नेदं चतुरस्रं विकल्पासहत्वात् । तथाहि किमत्र पितृशब्दो जनकमात्र-
 मभिधत्ते आहोस्वित्प्रभीतमात्रम् । न तावदाद्यः भ्रातृपितृव्यादी-
 नामजनकत्वेनासापिण्डप्रसङ्गात् । समानोद्देश्यकपिण्डदानक्रियायान्वयेन
 सापिण्डविवक्षायां प्रमाणाभावात् । नापि सापिण्डग्रान्थयानुपपत्तिरेव मानं ।
 तस्यावयवान्वयेनाप्युपपत्तेः । नापि द्वितीयः—गुरुशिष्यसहोद्धार्यायिमित्रा-
 दिभिरपि पिण्डदानक्रियान्वयेन सापिण्डप्रसङ्गात् । किञ्च मातामहप्रमाता-
 महादीनां देवदत्तकर्तृकपिण्डदानक्रियायां कथमप्यनन्वयेन सर्ववादिसंप्रति-
 पन्नमपि सापिण्डं न स्यात् दत्तकादिपुत्राणाम् ।

“गोचरिक्त्ये जनयितुर्न भवेद्विभक्तः सुतः ।

गोचरिक्त्यानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधा” । इति ।

मनुवचने जनकपिण्डदानक्रियानिबृत्त्या तत्सापिण्डग्राभावप्रसङ्गाच्च । न-
 चेष्टापत्तिः ।

“दत्तक्रीतादिपुत्राणां वीजवसुः सपिण्डता ।

पञ्चमी सप्तमी तद्वत् गोत्रं तत्पालकस्य च” ॥ इति ।

अहं सप्तमात् पितृबन्धुभ्यो वीजिनश्चेति बृहन्मनुगौतमादिवचनविरोधात् ।
 वसुतस्तु सापिण्डशब्दोऽत्र नोक्तलक्षणं सम्बन्धविशेषमभिधत्ते । किन्तु सपिण्डी-
 करणम् । तस्यैवोपक्रमात् ।

तथाहि मत्स्यपुराणेऽष्टादशेऽध्याये सपिण्डीकरणमुपक्रम्य,—

“त्रिभिः सपिण्डीकरणैराशोकहतयेति वा ।

यदा प्राप्स्यति कालेन तदा मुच्येत बन्धनात् ॥

युक्तोपलेपभागित्वं प्राप्नोति कुशमार्जनात् ।

लेपभाजश्चतुर्याद्याः पित्राद्याः पिण्डभागिनः ।

पिण्डदः सप्तमस्तेषां सापिण्डं सप्तपूरुषम्” ॥

इति पठितम् ।

तत्रोपक्रमस्यसपिण्डीकरणशब्दार्थपरतयैवोपसंहारस्यः सापिण्डशब्दो-
वर्णनीयो नाप्रस्तुतसम्बन्धविशेषतयेति न्यायविदां घण्टाघोषोऽपि बाधक एव
भवद्व्याख्याने । तस्मादन्यथा सापिण्डं वर्णनीयम् । तत्र प्रामाणिकाः-
पिण्डशब्दं शरीरपरतया व्याचक्षते । समानः एकः पिण्डो देहो देषां ते-
सपिण्डाः, तेषां भावः सापिण्डम् । “समानाः सत्समैके स्यु”रिति-
त्रिकाण्डीस्मरणात् । “पिण्डो देहे जपापुष्पे निर्वापे हस्तकेऽपि च” इति-
विश्वकोषाच्च ।

तच्चैकशरीरत्वं द्वयोर्वहुनां वा न सम्भवतीत्यारम्भकशरीरैक्यं विवक्षितम् ।
तच्चावयवद्वारैव सम्भवति ।

तथाच, श्रुतिः,— एतत् पाट्कौशिकं शरीरं त्रीणि पितृतस्त्रीणि मातृतः,
अस्थिस्नायुमज्जानः पितृतस्त्वङ्मांसरुधिराणि मातृत इति । अतएव स-
एवायं विरूढः प्रत्यक्षेणोपलभ्यत इत्यभेदोपचारः । नन्वेवमवयवान्वयसिद्धावपि-
तस्य सापिण्डप्रयोजकत्वं कुत इति चेत् ।

“यदेकजाता बहवः पृथक्क्षेत्राः पृथक्जनाः ।

एकपिण्डाः पृथक् शौचाः पिण्डस्त्वावर्तते त्रिषु ॥

दत्तक्रीतादिपुत्राणां वीजवधुः सपिण्डता ।

पञ्चमी सप्तमी तद्द्वत् गोत्रं तत्पालकस्य च” ॥ इति ।

जडं सप्तमात् पितृबन्धुभ्यो वीजिनयेति शङ्खवृहन्मनुगौतमादिवाक्येषु-

जन्यजनकभावस्य सापिण्डप्रयोजकत्वे प्रतिपादनादिति ब्रूमः । तच्चैक-
शरीरारम्भत्वं साक्षात् पुत्रशरीरे परम्परया पौत्रादिशरीरेष्विति पुत्रपौत्रा-
दीनां पितृपितामहादिभिः सह सापिण्डं सिध्यति । एवं पुत्रेऽपि पित्रा-
दीनां सापिण्डं सिध्यति । अवयवान्वयमात्रस्याभिप्रेतस्योभयनिरूप्यत्वात् ।
भ्रातृशरीरारम्भत्वेन, दम्पत्योस्त्वेकशरीरारम्भकत्वेन । एवं सुषा-
णशुरयोः श्वशुरशरीरारम्भेन सह पुत्रशरीरारम्भकत्वेन । एतेषाञ्च प्रकारा-
णामेकशरीरावयवान्वयेनानुगमः । यद्येवं तर्हि सहोदयोः सापिण्डं-
स्यात् । भ्रातृभार्ययोरिव एकशरीरारम्भाभ्यां भगिनीभ्यां सह स्वस्वपुत्र-
शरीरारम्भकत्वात् । स्यादेतत्, यदि यत्र यत्र शरीरावयवान्वयस्तत्र तत्र-
सापिण्डमिति व्याप्तिः स्यात् । नत्वेवं, किन्तु यत्र यत्र सापिण्डशब्दप्रयोग-
स्तत्र तत्र साक्षात् परम्परया वा एकशरीरावयवान्वयः । यत्रैकशरीरावय-
वान्वयो नास्ति तत्र सापिण्डशब्दप्रयोगोऽपि नास्तीत्यन्वयव्यतिरेकव्याप्तिसौका-
रेण व्यापकव्यभिचारस्यादोषत्वात् । यथा,—

पङ्कजपदे कुसुदसाधारणो योगो रूढ्या नियम्यते तथाऽत्रापीति नाति-
प्रसङ्गः । नत्वेवं दत्तकस्य प्रतिग्रहीत्रा पित्रा सह सापिण्डं न स्यात् ।
अवयवान्वयाभावात् । न चेष्टापत्तिः । लोके अनादिद्वन्द्वव्यवहारे च सापिण्ड-
शब्दप्रयोगसदृभावादिति चेन्नैवम् । त्रिविधो हि दत्तको भ्रातृपुत्रः-
सापिण्डोऽसापिण्डश्चेति । तत्राद्ययोः पितामहमूलपुरुषयोरवयवान्वयेनास्थेव-
पालकदत्तयोः सापिण्डमिति नास्थेव दोषः । अन्यत्र तु अवयवान्वयाभावा
दलक्ष्यतयैव न दोषः प्रतिग्रहीत्रवयवान्वयाभावात् ।

अतएव वृद्धगीतम्,—

“स्वगोत्रेषु कृता ये स्युर्दत्तक्रीतादयः सुताः ।

विधिना गोत्रतां यान्ति न सापिण्डं विधीयते” ॥

ये दत्तादयः सुताः स्वगोत्रेषु स्वगोत्रमध्ये कृता ह्येव विधिना गोत्रतां सन्त-
तित्वं यान्ति । परन्तु तैः सह विधिना सापिण्डं विधीयते नोत्पद्यत इत्यर्थः ।
स्वगोत्रेष्वपि सापिण्ड्यानुत्पत्तौ परगोत्रे सुतरां सापिण्ड्यानुत्पत्तिरुक्ता ।

अतएव देवलः,—

‘धर्मार्थं वर्द्धिताः पुत्रास्तत्तद्गोत्रेण पुत्रवत् ।

अंशपिण्डविभागित्वं तेषु केवलमीरितम्’ ॥

इति केवलशब्देन सापिण्डमेव निरस्तवान् । गोत्रांशपिण्डानां विधानात् । नन्वेतत् प्रकृतार्थानुपयोगि ; धर्मपुत्रविषयत्वात् । तथाहि, तत् तद्गोत्रेण तस्य तस्यैव गोत्रेण ये पुत्रवद्धर्मार्थं वर्द्धितास्तेषु पुत्रेषु केवलं अंशपिण्डभागित्वमेव न वर्द्धकसापिण्डमित्यर्थात् ।

तेनैतद्धर्मपुत्रस्यैव वर्द्धकसापिण्डाभावं बोधयति । न दत्तकस्येति चेत्-मैवं “पुत्रान् द्वादशजानाह नृणां स्वायन्ध्रवो मनुः ।” इति परिसंख्याविरोधेन-धर्मपुत्रानभ्युपगमात् । अश्वपुत्रमपि वा पत्न्यादिष्वगणनेनांशभागित्वासम्भात् । अपसक्त्या सापिण्डनिषेधासंगतेश्च । तस्माद्दत्तकादिपुत्रविषयमेवैतत् । अंशभागित्वप्रदर्शनात् । धर्मार्थं स्वस्थालोकापरिहारकधर्मसंपत्त्यर्थं तत्तद्गोत्रेण जनकापेक्षया भिन्नभिन्नगोत्रेणापि परिग्रहीत्वा पुत्रवत्-पुत्रप्रतिनिधितया परिगृह्य ये पुत्रा वर्द्धितास्तेषु केवलं परिग्रहीतृशपिण्डविभागित्वमेव न सापिण्डमिति । तस्मान्न दत्तके परिग्रहीतृसापिण्डं किन्तु-जनककुल एव साप्तपुरुषं सापिण्डमिति सिद्धं । नन्वत्र तच्छब्देन सन्निधानात् वीष्मापेक्षितश्रुतवहुत्वानां पुत्राणामेव परामर्शो गम्यते, न वर्द्धकानां पुत्रिणां व्यवहितत्वात् । सन्दिग्धवहुत्वानां वीष्मान्वयायोग्यत्वात् । आत्मनि-परोक्षवन्निर्देशकतच्छब्दान्वयानुपपत्तेरपरोक्षनिर्देशकशब्दस्यैवौचित्याच्चेति चेत् ; मैवं वादोः । सर्वेनाम्नां बुद्धिस्थे शक्तिरिति न्यायेन बुद्धिस्थतायाः प्राधान्यायत्तत्वात्प्राधान्यस्य च संस्कार्यत्वेन फलान्वयेन वा सम्भवात् । “पितुः पुत्रेण कर्त्तव्या पिण्डदानोदकक्रिया” इत्यादि वचनपर्यालोचनया-पुत्रकर्त्तृकपिण्डदानादिक्रियया पितुः संस्कार्यत्वावगमात् “पुत्रेण लोकान्-जयतीत्यादिवचनवलात् पितुरेव पुत्रकरणभावनाभाव्यलोकरूपफलयोगितया प्राधान्यात्तच्छब्देन परामर्शो युज्यते । यथा तप्ते पयसि दध्वाणयति-सा वैश्वदेव्यामिक्षेत्यत्राभिचायाः संसृष्टदधिपयोरूपत्वेन सन्नायविकारत्वे-

स्थिते, पूर्वपक्षिणा सप्तमीनिर्दिष्टस्य पयसो गुणत्वेन द्वितीयानिर्दिष्टस्य दध्नः-
प्रधानत्वात्तस्यैव तच्छब्देन परामर्श इति युक्तं । नन्वेवं दत्तकस्य प्रतियहीदकुले-
सापिण्ड्याभावे कथं विवाहो न स्यादिति चेत् । सगोत्रत्वादिति ब्रूमः ।
तर्हि तद्भगिन्यादिसन्ततौ विवाहोऽस्तु सगोत्रत्वसपिण्डत्वयोरभावात् ।
न चाहत्य निषेधकं वचनमुपलभामहे ।

प्रत्युत, —

“सावित्रीं यस्य यो दद्यात्तत्कन्यां न विवाहयेत् ।

तद्गोत्रे तत्कुले वापि विवाहो नैव दोषकृत” ॥

इत्याद्यनुकूलमेव मरीचिवचनमास्ते । न चेष्टापत्तिः । अविच्छिन्नाविगीत-
सकलदेशीयशिष्टाचारविरोधात् ।

तस्मात् किं तत्राविवाहे निमित्तमिति । अत्राहुः,—

त्रिविधा हि पर्युदसनीया सपिण्डा । तत्राद्या पितुः स्वस्य च सपिण्डा ।
द्वितीया पितुरसपिण्डा स्वस्य सपिण्डा । तृतीया पितुः सपिण्डा स्वस्या-
सपिण्डा । तत्राद्या यथा,—

जननीपरिणेतुर्जनकस्य या सपिण्डा सा स्वस्यापि सपिण्डा ।

द्वितीया यथा,—पालकस्य पितुरसपिण्डा जनकस्य पितुः सपिण्डा-
सा पितुरसपिण्डा सती स्वस्य सपिण्डा ।

तृतीया यथा,—पालकस्य पितुः सपिण्डा स्वस्यासपिण्डा । दत्तके
पालकावयवान्वयाभावात् ।

एवञ्च पितुरपि चातुर्विध्यं सिध्यति । जननीपरिणेता सन् जनकः,
चेत्री, वीजी, पालकश्चेति । दत्तकजनकस्त्वाद्य-एवान्तर्भूतः । तत्र-
जनकवीज्यां साक्षादवयवसम्बन्धादेवैरसत्त्वैत्रजयोः सापिण्ड्यं, चेत्रिणा-
तु चेत्रद्वारा चेत्रजस्य सापिण्ड्यम् । चेत्रचेत्रिणोरैकशरीरप्रतिपादनात् ।
तादृशीनां तिसृषामपि स्वसपिण्डानामसपिण्डां यवीयसीमित्यादिवचनेनैव-
पर्युदासः । पालकसपिण्डा तु दत्तकस्यासपिण्डेति न असपिण्डां यवीयसी-
मित्यनेन पर्युदसितुं शक्यते । तदर्थं पितुरसपिण्डेति वचनमन्वेष्टव्यम् ।

यदाह मनुः,—

“असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।

सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने” ॥ इति ।

अत्र वाक्ये गौणस्यापि पितुः सामपुरुषं सापिण्डं विवाहे वर्जनीयमिति-
गम्यते । अन्यथाऽसपिण्डामित्यनेनैव सिद्धौ मातृपितृपदोपादानवैयर्थ्यात् । न च
पितृद्वारा अष्टमस्य वरस्य मातृद्वारा षष्ठ्याः कन्यकाया विवाहत्वम् ।
तस्मात्प्रसङ्गीदित्येतदर्थं पितुरसपिण्डेति वक्तव्यमिति वाच्यम् ।

“पञ्चमात्मसप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा” ॥

इत्याद्यनेकवाक्यविरोधात्, तस्मात् पातीति पितेति व्युत्पत्त्या प्रतिग्रही-
तुरपि पितृत्वात् सापिण्ड्यनिवर्त्तनायैतद्वचनारम्भ इत्यवश्यं वक्तव्यम् । न च-
“तातस्तु जनकः पितेति” कोषात् सर्वेषां शब्दानां मुख्ये संप्रत्यय इति-
न्यायाच्च सर्वत्रापि पितृपदं जनकपरमेवेति वाच्यम् । उर्ध्वं सप्तमात्-
पितृबन्धुभ्यो वीजिनश्चेत्यत्र गौतमवाक्ये पितृपदेनैव वीजिनः प्राप्तत्वेन पृथक्-
वीजियहणानर्थक्यापत्त्या गोबलीवर्धन्यायेन पितृपदस्य जनकातिरिक्तपितृपर-
त्वावश्यम्भावात् ।

ततश्च मनुवाक्ये पालकपितृसपिण्डाया अपि वर्जनीयत्वान्नोक्तदोषा-
सर इति । तन्नयुक्तम्,—

असपिण्डादिवाक्यैरेकमूलत्वसम्भवे पृथङ्मूलकल्पनागौरवात् ।

तथाहि,—

मातुः पितुश्च द्वारा या स्वस्यासपिण्डा असगोत्रा चेत्यर्थपरत्वेन-

“पञ्चमात्मसप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा” ॥

इत्यादिवाक्यैकमूलत्वसम्भवात् । गौतमवाक्ये तु पितृपदस्य जननी-
परिणेतजनकपरतया परत्वेन वीजावापकवीजिप्रतिपादनाशक्त्या गोबलीवर्ध-
न्यायासम्भवाच्च । अन्ये तु चेत्रजादीनां पुत्रप्रतिनिधित्वाभिधानात् प्रति-
निधिस्तद्धर्मा स्यादिति न्यायेन सकलौरसधर्मप्राप्त्या चेत्रादि-पितृ-

सपिण्डवर्जनं सेव्यतीत्याहुः । तन्न, “न सापिण्ड्यं विधीयत” इति निषेधेन-
सापिण्ड्यस्यैवाप्राप्त्या तद्वर्जनासम्भवात् । एतेन पुत्रनान्ना औरसधर्मातिदेशात्-
प्रतिग्रहीत्रादिपितृसपिण्डवर्जनसिद्धिरित्यव्यपास्तम् । न तौ पशु करोतीति-
वदतिदिष्टस्य सापिण्ड्यस्य निषेधेन वर्जनासम्भवात् । तस्मादनन्यगत्या-
वचनादेव प्रतिग्रहीत्रादिपितृसपिण्डवर्जनमित्यकामेनाभ्युपगन्तव्यम् । तच्च-
हेमाद्रिः, पिण्डान्वयमेवोपादाय दत्तकादीनां प्रतिग्रहीतकुले त्रिपुरुषमेव-
सापिण्ड्यं व्यवतिष्ठिपत् ।

तथाच कार्णाजिनिः,—

“यावन्तः पितृवर्गाः स्युस्तावद्भिर्दत्तकादयः ।

प्रेतानां योजनं कुर्युः स्वकीयैः पितृभिः सह ॥

द्वाभ्यां सहाय तत्पुत्राः पौत्रास्त्वेकेन तत्समम् ।

चतुर्थपुरुषे क्तेदं तस्मात् एषा त्रिपौरुषी” ॥ इति ।

अस्यार्थः,—ये दत्तकादयः पुत्रास्तु प्रेतानां स्वप्रतिग्रहीतमाहपित्रा-
दीनां यावन्तः पितृवर्गाः पित्रादिसमूहाः पितृपितामहप्रपितामहादयस्ता-
वन्निः सह योजनं कुर्युः । यावत्तावच्छब्दोपादानादौरसानां केवलदत्तका-
नाञ्च एकैक एव पितृवर्गा भवति । द्वाभ्यामुपस्थायणानान्तु द्वौ जनकवर्गः-
प्रतिग्रहीतवर्गश्च । एवं त्र्यामुपस्थायणानां त्रयः पितृवर्गा भवन्ति । वीजि-
वर्गः जेन्निवर्गः पितृवर्गश्चेति । द्वाभ्यामुपस्थायणे द्वितीयं वर्गमाह । स्वकीयैः-
पितृभिः सहिति । स्वकीयैः द्वाभ्यामुपस्थायणीयैः न कर्त्तृपितृभिः । तेषां-
प्रेतानान्वयात् । पितृभिर्जनकैः । दत्तकादिपौत्रेषु विशेषमाह ; पौत्रा-
स्त्वेकेन तत्सममिति । दत्तकपौत्राः स्वपितुर्दत्तकतत्प्रतिग्रहीतभ्यां एकेन-
प्रतिग्रहीतपित्रा सह योजनं कुर्युः । चतुर्थपुरुषे दत्तकप्रपौत्रे कर्त्तरि क्तेदं ;
प्रतिग्रहीतपितुरिति शेषः ।

तस्मादेषा दत्तकसपिण्डता त्रिपौरुषीति सिद्धम् ।

एतदेवाभिप्रेत्याह संग्रहकारः,—

“दत्तकानां तु पुत्राणां सापिण्ड्यं स्यात्त्रिपुरुषम् ।

जनकस्य कुले तद्वदग्रहीतुरिति धारणा” । इति ।

इदं च दत्तकस्य जनककुले त्रिपुरुषं सापिण्ड्यं “पञ्चमी सममी तद्वदित्यादिद्वहन्मनूक्तसप्तपुरुषसापिण्ड्येन सह विकल्पते । तच्च कल्पद्वयं देशाचारादिभिर्बद्धवस्थापनीयम् । यद्यपि निर्वाण्यपिण्डान्वयेन सापिण्ड्यं प्राक्निरस्तं तथाप्यगत्या दत्तकस्य प्रतिग्रहीता सह तदेवाग्रयणीयं अविच्छिन्नशिष्टाचारानुरोधात् ।

अथ सपत्नमात्रा सह कथं सापिण्ड्यं तच्छ्रीरावयवान्वयाभावात्सपिण्ड्यशब्दप्रयोगाभावाच्चेति चेन्नैवं ; पितृपत्नयः सर्वा मातरस्तदभ्रातरोमातुलास्तदभगिन्यो मातृष्वसारस्तदुहितरो भगिन्यो भगिनीसपत्नयश्च भगिन्यस्तदपत्यानि भागिन्यानि, अन्यथा सङ्करकारकाणीति याज्याः पतिताश्च भवन्तीति सुमन्तुना सापिण्ड्यव्याप्यमातुलत्वादिव्यपदेशात् ।

नात्र पञ्चमादिवाक्यं प्रवर्तते तस्य साक्षात्-सापिण्ड्यनिषेधत्वात् । कुत एतदवसीयत इति चेत् ।

एतदुवाक्यान्यथानुपपत्तौ वेति ब्रूमः । ततश्च परिगणितातिरिक्तेषु येषु सापत्नमातामहसापत्नमातुलपुत्रसापत्नमातृष्वष्टपुत्रेष्वेतदुवाक्यं न प्रवृत्तं ; न च पञ्चमादि-वाक्यं ; तत्र विवाह्यतापत्तिरवशिष्यते । न चेष्टापत्तिः ; उक्तरीत्याऽवयवसम्बन्धसत्वेन सापिण्ड्यसत्वेन सपिण्ड्यानिषेधस्यात्राप्यक्षतत्वात् । तर्हि सपिण्ड्यानिषेधादेव नोक्तविषयेषु विवाह्यताप्रसङ्ग इति चेन्न ।

सापिण्ड्यस्यासहस्रपुरुषमप्यविच्छेदेन परिच्छेदकाभावे निषेधस्यातिप्रसङ्गात् । तस्मादनन्यगत्या तदभ्रात्रादिपदं तत्पित्रादीनामप्युपलक्षणवाच्यम् । ततश्च शब्दोपात्तानां प्रचयेन यावतां कथं चिदुपस्थितिः ।

तावद्दूरं सापिण्ड्यमनेन परिच्छिद्यत इति पर्यवसन्नम् ।

तद्यथा,—सापत्नमातामहो मूलपुरुषः प्रथमः ; तत्पुत्रः सापत्नमातुलो द्वितीयः । तत्पुत्रः सापत्नमातुलपुत्रस्तृतीयः । किमस्याश्रुतस्य ग्रहणे-

प्रमाणमिति चेत् ; तद्वृत्तिरथ भगिन्य इति मातुलमातृष्वद्विदुपादानमेवेति ब्रूमः । द्विदुत्तृणां इव पुत्राणां अपि सम्बन्धाविशेषात् । तत्पुत्रः-सापन्नमातुल्यपुत्रश्चतुर्थः ।

अत्रापि तदपत्यानि भागिन्यानीति मातुलमातृष्वद्विदुपत्यानामप्युपलक्षणं ; तुल्यसम्बन्धतया बाधकाभावात् । एवं सपन्नमातृकुले चतुष्टयरूपं सापिण्ड्यं सिध्यति । एवं सापन्नमातृष्वद्विसन्तानेऽपि ज्ञेयम् । मातुलमातृष्वस्रोमूलपुरुषस्यैकत्वात् । ततश्च सापन्नमातामहादेव मूलपुरुषात्तद्विदुसपत्नीसन्ताने तत्सन्ताने च यावच्चतुर्थं परस्परमविवाह्यताप्रदर्शनेन-चतुष्टयरूपं सापिण्ड्यमनेनोक्तमिति सिद्धम् । तदुभ्रातरो मातुला भगिनी-सपत्नश्च भगिन्य इत्यन्योऽन्यं तुल्यसम्बन्धप्रतिपादनलिङ्गादुभयतः सापिण्ड्यसिद्धेः ।

यत्तु मदनपारिजातेन,—

“पञ्चमीं सप्तमीञ्चैव मातृतः पितृतस्तथा” । इति—

वशिष्ठवाक्यं सपन्नमातामहकुलविषयमवयवानुवृत्तेरभावादिति व्याख्यातं, तदाकाशलेव मूलानपेक्षमेवोज्जृम्भते । उक्तरीत्यावयवानुवृत्तिसदभावात्-सापत्नादिपदाश्रवणात् सापन्नवाक्यैकवाक्यताभावात् सौमन्वविशेषवाक्यविरोधाच्चेति । न च वशिष्ठवाक्यान्यथानुपपत्तिरेव मूलमिति वाच्यम् । अन्यथोपपत्तेर्विच्यमाणत्वात् । तस्मादुक्तमेव साधीय,-इत्यलमतिविस्तरेण ।

अथ सापिण्ड्यपरिच्छेदकपुरुषसंख्याविशेषः ।

तत्र बुधस्मृतिः,—

“सवर्णां भार्यासुद्वहेत् अतीत्य मातृतः पितृतः पञ्चमीं दशमीमन्यत्र-गोत्रजामिति” । मातृतः पञ्चमीं पितृतः दशमीं अतीत्येत्यन्वयः । पञ्चमीं-दशमीं संख्यामिति शेषः । न कन्यामिति । तथात्वे पितृतः पितृद्वारके-सापिण्ड्ये दशम्या मातुरत्यये सापिण्ड्यस्य मातृद्वारकतापत्त्या पितृग्रहणमनर्थकं स्यात् । तस्मात् संख्येत्येव शेषो वाच्यः ।

स्वयम्भूस्वस्यैव सापिण्ड्यस्याविवाहाशौचयोर्द्वयोरप्यावश्यकत्वमाह ।

तत्र ब्राह्मणानामेकपिण्ड्यस्वधानामादशमाहर्मविच्छित्तिर्भवति । आसप्त-

माद्रिक्यविच्छित्तिर्भवति । आढतीयात्स्वधाविच्छित्तिर्भवति । अन्यथा-
सपिण्डाशौचक्रियाद्युच्छेदादुन्नहत्तुल्या भवन्तीति ।

अस्यार्थः,—पिण्डो जनकदेहः । स्वधा आहम् । तच्च न यत्किञ्चित् ।
किन्तु प्रौष्ठपद्यां विहितं प्रपितामहपितादीनां नान्दीमुखआहम् । तत्र-
प्रपितामहपितादयस्त्रयः पिण्डभाजस्तदूर्ध्वस्त्रयो लेपभाजः स्वपितादयस्तन्नि-
रूपकाः कर्त्ता चेत्येवं दशपुरुषसम्बन्धि ; तदुभयं येषां ते एकपिण्डस्वधास्ते-
सपिण्डाः वाक्यशेषात् ।

तेषामादशमाद्दशमं पुरुषं मर्यादीकृत्य आदशमं तस्मादादशमाद्दशमोर्द्ध-
मिति यावत् । अत्राहपूर्वी मर्यादावचनः । आजन्मशुद्धानामिति वत् ।
धर्मस्य विवाहे सपिण्डावर्जनस्य जननमरणयोः सन्ध्यास्नानादिवर्जनस्य च
विच्छित्तिर्निवृत्तिर्भवति । तथा आसप्तमात् सप्तमोर्द्धं रिक्त्यनिवृत्तिः । तथा
तृतीयोर्द्धं स्वधानिवृत्तिः ।

अन्यथा—“दशपुरुषादर्वागिवं अविवाह्यतापरिहारे जननमरणयोः-
सन्ध्यास्नानादिवर्जननिवृत्तौ च सपिण्डानामशौचस्य च तन्निमित्तायाः पिण्ड-
दानादिक्रियाया आदिशब्दादविवाह्यतायाद्योच्छेदादुन्नहत्तुल्या भवन्ति ।

नन्वेवमप्येकपिण्डस्वधानामित्यत्र विशेषणद्वयोपादानं व्यर्थम् । अन्यतर-
विशेषणेनैवावयवपिण्डान्वयरूपैकतरसापिण्डसिद्धेरिति चेन्न । दत्तकपुत्रे-
सत्यपि जनकावयवान्वये तत्कर्तृकआहसम्बन्धाभावान्न दशपुरुषं सापिण्डाम् ।
किन्तु दत्तक्रीतादिपुत्राणां वीजवसुः सपिण्डता ।

“पञ्चमौ सप्तमौ तद्वद्गोत्रं तत्पालकस्य च” । इति—

वृहन्मनुवचनात् सामपुरुषमेव ।

तथा—प्रतिगृहीते पुत्रे सत्यपि प्रतिगृहीतस्याहान्वयेऽवयवान्वयाभावान्न-
दशपुरुषं सापिण्डम् । किन्तु त्रिपुरुषमेव ।

“यावन्तः पितृवर्गाः स्युस्तावद्भिर्दत्तकादयः ।

प्रेतानां योजनं कुर्युः स्वकीयैः पितृभिः सह ॥

द्वाभ्यां सहाय तत्पुत्राः पौत्रास्त्वेकेन तत्समम् ।

चतुर्थपुरुषे छेदं तस्मादेषा त्रिपौरुषी” ॥

इति कार्ष्णाजनिवचनादिति तद्वारणार्थमुभयोपादानात् एषा सपिण्डता ।
शेषन्तु सापिण्ड्यावसर एव व्याख्यातं ।

दशपुरुषमेव सापिण्डं रिक्त्याशौचयोरपि प्रयोजकमित्याह,—

भगवान् बौधायनः,—

“प्रपितामहः पितामहः पिता स्वयं सोदर्या भ्रातरः सवर्णायाः पुत्रः-
पौत्रः प्रपौत्रः तत्पुत्रवर्गं तेषां च पुत्रपौत्रमविभक्तदायं सपिण्डानाचक्षते ।
विभक्तदायान् सकुल्यानाचक्षत इति” । तस्य प्रपौत्रस्य पुत्रवर्गः पुत्र-
समुदायः । तेषां समुदायिनां पुत्रपौत्रम् । अविभक्तदायं दायोऽत्र पिण्ड एक-
पिण्डान्वयीत्यर्थः ।

पिण्डान्वयश्च दशपुरुष एवेत्युक्तमेव प्राक् । विभक्तदायान् विच्छिन्न-
पिण्डान् दशपुरुषाद्दृष्टुं सकुल्यानाचक्षत इत्यर्थः ।

नचेदं केवलं रिक्त्यग्रहण एव दशपुरुषं सापिण्डं ; अशौचे सपिण्डे-
ष्वासप्तमादिति तेनैव पृथक् साप्तपुरुषाभिधानादिति मन्तव्यम् । सपिण्डे-
ष्वाद्दशाहमित्युपक्रम्य जननमरणयोः सन्निपात इत्युपसंहारान्मध्यपठितयोः
साप्तपुरुषदशपुरुषयोः सापिण्डयोः संदशपतितत्वेनोभयत्राप्युभयोरपि वैकल्पि-
काङ्गत्वसिद्धेः । तच्चासप्तमाद्रिक्त्यविच्छित्तिरिति स्वयम्भूवाक्ये साप्तपुरुषस्य-
बौधायनवाक्ये च दशपुरुषस्य रिक्त्यग्रहणे वैकल्पिकमङ्गत्वं स्पष्टमेव । तेन-
साप्तपुरुषसपिण्डसत्वेऽष्टमादिभिर्न रिक्त्यं ग्राह्यमिति सिध्यति ।

अशौचे तु तयोर्वैकल्पिकमङ्गत्वं स्पष्टमाह । पारस्करः,—

“सर्वे ज्ञातयोऽभ्यवयन्त्यासप्तमात्पुरुषाद्दशमाहेति ।

सप्तमाद्दशमाद्वापि ज्ञातयोऽभ्यवयन्त्यपः ।

याज्ञवल्क्योऽपि,—

यत्तु, सप्तमदशमशब्दयोर्दिनपरतया मिताक्षराव्याख्यानम् । तदसत् ।

पूर्वोदाहृतपारस्करवचनादर्शनात् ।

इदमेव सापिण्डं श्रुतिलिङ्गमप्युपोदलयति,—

“दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान्दशमे युगे ।

अपामर्थं यतीनां वा ब्रह्मा भवति सारथिः” ॥

ममतायाः अपत्यं पुमान् मामतेयः दीर्घतमा नाम ऋषिः कूटस्थाङ्गमे-
युगे हन्ते मातापितृलक्षणे अतीते जुजुर्वान् भार्यां सेवितवान् । जुषी प्रीति-
सेवयोरित्यस्यायं प्रयोगः । कुत इत्याह,—

अर्थं गर्भलक्षणं प्रयोजनं आसादयितुं यतीनां गच्छन्तीनां अपां शुक्र-
शोणितरूपाणां जलानां सारथिः नेता ब्रह्मा जीवो भवति ।

“स्त्रीपंसयोश्च संयोगे विद्धे हि शुक्रशोणिते ।

पञ्चधातून् स्वयं षष्ठ आदत्ते युगपत्प्रभुः” ॥ इति स्मृतेः ।

तस्मादवयवान्वयरूपं सापिण्डं दशपुरुषमनुवर्त्तत इति तात्पर्यम् ।
तथा मातृद्वारकं साप्तपुरुषं सापिण्डं स्मर्यते ।

यथाह सुमन्तुः,—

मातृपितृसखन्वा असप्तमादविवाह्याः कन्या भवन्ति आपञ्चमादन्वेषासिति ।

अत्र मातृपितृद्वारकयोरुभयोरपि सापिण्डयोः स्वमते साप्तपुरुषत्वमुक्तम् ।
परमते द्वयोरपि पञ्चपुरुषत्वमुक्तम् । याज्ञवल्करस्तु मातृतः पञ्चपुरुषं पितृतः
साप्तपुरुषं सापिण्डमाह,—

“पञ्चमात्सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा” ।

विष्णुरपि,—

“मातृतस्त्वापञ्चमात्पुरुषात् पितृतश्चासप्तमादिति” । अत्राह न सत्यां
दायां ; किन्तु अभिव्याप्तौ नोदहेदित्यनुषज्यते ।

गौतमोऽपि ;—

“ऊर्ध्वं सप्तमात्पितृभ्यो वीजिनश्च मातृबन्धुभ्यः पञ्चमादिति” ।

देवलोऽपि,—

“पञ्चमात्-सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतः क्रमात् ।

सपिण्डता निवर्त्तत सर्ववर्णेष्वयं विधिः” । इति ।

पैठीनसिरपि,—

“असमानार्षेयां कन्यां वरयेत् पञ्च माहृतः परिहरेत् सप्त पिहृतः” । इति ।

हारीतोऽपि,—

“तस्मात्तत्क्षणतयविज्ञानोपपन्नां कन्यां वरयेत् पञ्च माहृतवन्धुभ्यः सप्त पिहृतवन्धुभ्यः”—इति ।

परिहृत्येति शेषः ।

नारदोऽपि,—

“पञ्चमात्-सप्तमादर्वाक् बन्धुभ्यः पितृमातृतः ।

अविवाह्या सगोत्रा च समानप्रवरा तथा” ॥ इति ।

वशिष्ठसु,—

“माहृतश्चतुष्पुरुषं पिहृतः षट्पुरुषमाह गृहस्थः सट्शीं भार्यां विन्देत-
पञ्चमीम् माहृतवन्धुभ्यः सप्तमीं पिहृतवन्धुभ्यः”—इति ।

श्लोकवशिष्ठोऽपि,—

“पञ्चमीं सप्तमीञ्चैव मातृतः पितृतस्तथा” । इति ।

विष्णुपुराणेऽपि,—

“पञ्चमीं मातृपक्षे तु पितृपक्षे तु सप्तमीम् ।

गृहस्थ उवहेत्-कन्यां न्याय्येन विधिना नृप!” ॥ इति ।

शङ्खोऽपि,—

“विन्देत विधिवद्भार्याससमानार्षगोत्रजाम् ।

मातृतः पञ्चमीञ्चापि पितृतस्त्वय सप्तमीम्” ॥ इति ।

चतुर्विंशतिमतेऽपि,—

“ब्राह्मेण तु विवाहेन शीलरूपगुणान्विता ।

मातृतः पञ्चमीञ्चैव सप्तमीं पितृतस्तथा” ॥ इति ।

अशोचमधिकृत्य मनुविष्णू षाट्पुरुषमाहृतः,—

“सापिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते” । इति ।

विष्णुरपि अशीचे तथैव पठति ।

“सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्त्तते” । इति ।

गौतमोऽप्यशीचे,—

पिण्डनिवृत्तिः सप्तमे पञ्चमे वेति । वशिष्ठस्तु अशीचे साप्तपुरुषमाह ।

“सपिण्डता च साप्तपुरुषी विज्ञायत” इति ।

पैठीनसिस्तु,—

विवाह एव मातृतस्त्रिपुरुषं पित्रतः पञ्चपुरुषमाह,—

“त्रैतनीत्य मातृतः पञ्चातीत्य पित्रतो वेति” । वारयेदित्यनुसज्यते ।

चतुर्विंशतिमते तु पञ्चद्वयेऽपि त्रिपुरुषं द्विपुरुषञ्च सापिण्ड्यमुक्तम्,—

“दृतीयां वा चतुर्थीं वा पञ्चयोरुभयोरपि ।

विवाहयेन्मनुः प्राह पराशर्य्योऽङ्गिरा यमः ॥

आरभ्य कूटात्-पुरुषात्-पञ्चमो न तु पञ्चमीम् ।

चतुर्थीं पञ्चमौच्चैव चतुर्थः षष्ठ उद्वहेत्” ॥ इति ।

षट्त्रिंशन्मते तु विवाह एव मातृतः पित्रतश्च द्विपुरुषमेव सापिण्ड्य-
मुक्तम् ।

“दृतीयां सातृतः कन्यां तृतीयां पितृतस्तथा ।

विवाहयेन्मनुः प्राह पराशर्य्योऽङ्गिरा यमः” ॥ इति ।

एषां वचनानां विरोधे व्यवस्थामाह, विज्ञानेश्वराचार्य्यः,—

वशिष्ठवचनजातन्तु अर्वाङ्निषेधार्थं न पुनस्तत्प्राप्त्यर्थमिति सर्वस्मृतीनाम-
विरोध-इति ।

अत्रोपपत्तिमाह,—

मिताक्षराटीकायां सुबोधिन्यां भट्टवीरेश्वरः,—

“पञ्चमात् सप्तमाद्वा यः कन्यामुद्वहते द्विजः ।

गुरुतल्पी स विज्ञेयः सगोवाञ्चैवमुद्वहन् ॥

पञ्चमे सप्तमे चैव येषां वैवाहिकी क्रिया ।

क्रियापरा अपि हि ते सर्वे ते शूद्रतां गताः” ॥

इति विष्णुमरीचादिवाक्याभिहितनिन्दार्थवादानुगृहीतेन, —

“पञ्चमात् सप्तमादर्वाक् बन्धुभ्यः पितृमातृतः ।

अविवाह्या सगोत्रा च समानप्रवरा तथा” ॥

इति नारदीयादिष्वष्टनिषेधेनार्वाग्विवाहविधायकवाक्यानामविरोधाय-
निषेधस्य निषेधपेक्षिततया एकमूलकल्पनात्तावदेव च नोद्वेहेदित्येकवाक्यता-
करणात् सर्वस्मृतीनामविरोध इति भाव इति ।

नैतन्मीमांसकशिरोमणेर्विज्ञानेश्वरस्याशयविवरणं साधीयः । षोडश-
ग्रहणाग्रहणादिविधनिषेधयोर्विकल्पमात्रोच्छेदप्रसङ्गात् । तस्माद्विधनिषे-
धयोरेकवाक्यताकरणं तेजस्तिमिरयोः सङ्कलनमिवाशक्यमितुपेक्षणीयम् ।

विवाहमञ्जर्यां तु अस्मैवाशयोऽन्यथा वर्णितः ।

तथाहि,—

असपिण्डासुद्वेहेदित्यत्र तत्तद्वाक्योपात्तानां तृतीयाद्यष्टम्यन्तानामस-
पिण्डानां युगपत्प्राप्तौ पञ्चमात् सप्तमादूर्ध्वमिति वचनमर्वाचीनानामस-
पिण्डानां परिसंख्यार्थम् ।

सैव च तत्तन्निषेधवाक्यैः स्पष्टीक्रियते । तदभिप्रायेणार्वाङ्निषेधपर-
मिति । नैतदपि सारम् । तृतीयाद्यष्टम्यन्तासपिण्डोद्वाहविधीनां विनि-
गमनाविरहेण परस्परपरिसंख्यार्थतापत्तेः । वस्तुतस्तु ऐकान्तिको निषेधः-
परिसंख्या वा रागतः प्राप्त एव भवति । “न कलञ्जं भक्षयेत्; पञ्च पञ्चनखाः-
भक्ष्या” इत्यादिष्विव । न शास्त्रप्राप्ते । तयोस्तुल्यवलेन विकल्पापादक-
त्वात् । न चासावपि प्रकृते युक्तः । गत्यन्तरसम्भवाच्च । यद्यपि सप्तम्यादि-
विधीनां न तत्तद्विधायकत्वं; पञ्चमे सप्तमे चैवेत्यादिवचनविरोधात् ।
किन्तु पञ्चम-सप्तमार्वाचीननिषेधपरत्वम् । पञ्चमात्-सप्तमादर्वागित्यादि-
वचनैकवाक्यत्वादिति व्याख्यातम् । तदपि न, अपदार्थत्वेन लक्षणाप्रसङ्गात् ।
यदपि सप्तम्यादिविधायकवाक्येषु अतीतपदाध्याहारेण सप्तमादूर्ध्वं विधायक-

वाक्यैकवाक्यताकरणं तदपिन, विष्णुगीतमवशिष्टादिस्मृतिषु विवाहाशीच-
प्रकरणयोः षाट्पुरुषसामपुरुषसापिण्डविधायकवाक्यद्वयारम्भानर्थक्यापत्तेः ।
षट्पुरुषसापिण्डविधायक-एवातीतपदाध्याहारेण सामपुरुषसापिण्डसिद्धेः ।

तथाहि विष्णुस्मृतौ,—

“सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते” इत्यशीचप्रकरणे अभिधाय-
विवाहप्रकरणे मातृतत्त्वापञ्चमात्पुरुषात्पितृतत्त्वासप्तमान्नोद्वेहदिति पुनरभि-
हितं ।

तथा गीतसेनापि,—

पिण्डनिवृत्तिः सप्तमे पञ्चमे वेत्यशीचप्रकरणे अभिधाय पुनरुद्घोषं सप्तमात्-
पितृवन्धुभ्यो वीजिनश्च मातृवन्धुभ्यः पञ्चमादिति विवाहप्रकरणेऽभिहितं ।

तथा वशिष्ठेनापि,—

सपिण्डता तु सामपुरुषी विज्ञायत-इति अशीचप्रकरणे अभिधाय-
गृहस्थः सदृशीं भार्यां विन्देत् पञ्चमीं मातृवन्धुभ्यः सप्तमीं पितृवन्धुभ्य-इति-
विवाहप्रकरणे चाभिहितं । तस्माद्यथा विवाहाशीचयोः पृथक् पृथक्-
सापिण्डं अगत्या स्वीक्रियते, तथा विवाहेऽपि सापिण्डभेदः स्वीक्रियतां ।
अतएव सुमन्तुपैठीनस्यादिस्मृतिषु विवाह एव सामपुरुषपञ्चपुरुषसापिण्डे-
अभिहिते ।

तथाहि,—

मातृपितृसम्बन्धा असप्तमादविवाह्या कन्या भवन्त्यापञ्चमादन्येषामिति-
सुमन्तुः । पैठीनसिञ्च असमानार्पेयां कन्यां वरयेत् पञ्च मातृतः परिहरेत्-
सप्त पितृतः, त्रीनतीत्य मातृतः पञ्चातीत्य पितृतो वेति । न चात्राप्यतीत-
पदाध्याहारेणैकवाक्यता सम्भवति । साक्षादेवातीतपदवापदयोः श्रवणात् ।
तस्मान्न तदपि भाव्यं । तर्हि कथमेषां वाक्यानां विरोधपरिहार इति चेन्-
मुख्यानुकल्पताभेदेनेति ब्रूमः । तत्र पितृतो दशपुरुषं सापिण्डं मुख्यकल्पः ।
वृधस्वयम्भूवैधायनयाज्ञवल्करपारस्करादिस्मृत्यनुग्रहात् । प्रत्यक्षश्रौतनिष्ठा-
पष्टम्भाच्च । अस्मिन् पक्षे मातृतः सामपुरुषं सापिण्डं मुख्यः कल्पः ।
मातृपितृसम्बन्धा असप्तमादविवाह्याः कन्या भवन्तीति सुमन्तुस्मरणात् ।

तत्परिहाराशक्तौ पितृतः साप्तपुरुषादयः मातृतश्च पंचपुरुषादयः षट्पक्षास्व-
नुकल्याः । तत्रापि पितृतः साप्तपुरुषपक्षो मातृतः पञ्चपुरुषपक्षश्च बहुल्य-
नुग्रहादनिषेधात् प्राशस्त्यवचनात् सकलशिष्टपरिग्रहाच्च प्रशस्तः । अन्ये तु-
पूर्वपूर्वासम्भवे अनुकल्पतारतम्येन व्यवस्थाप्याः । अनुकल्पता च मुख्यानुष्ठाना-
सम्भवे परानुष्ठानं ।

तत्रानुकल्पता द्विविधा,—

नैयायिकी, वाचनिकी चेति । तत्र नैयायिकीमाह विष्णुपुराणं,—

“सप्तमीं पितृपक्षाच्च मातृपक्षाच्च पञ्चमीं ।

उद्वहेत द्विजो भार्यां न्याय्येन विधिना नृप ! ॥”

इति न्यायो न्यायप्राप्तः । न्यायश्च यथा न दोक्षितस्यान्नमश्रीयादिति-
निषेधे अग्नीषोमौघे संस्थिते दीक्षितस्यान्नमश्रीतीत्यस्य गुरुपक्षस्य प्रतिप्र-
सवस्यासम्भवे क्रीतराजको भोज्यान्न—इति लघुपक्षस्याभ्यनुष्ठाने ।

वाचनिकी यथा,—

विश्वरूपोदाहृते चतुर्विंशतिमते,—

“दशभिः पुरुषैः स्याताच्छ्रोत्रियाणां महाकुलात् ।

उद्वहेत्सप्तमादूर्ध्वं तदभावे तु सप्तमीं ॥

पञ्चमीं तदभावे तु पितृपक्षे त्वयं विधः ।

सप्तमीं च तथा षष्ठीं पञ्चमीं च तथैव च ॥

एवमुद्वाहयेत्-कन्यां न दोषः शाकटायनः ।

तृतीयां वा चतुर्थीं वा पक्षयोरुभयोरपि ॥

विवाहयेन्मनुः प्राह पाराशर्य्योऽङ्गिरा यमः ।

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ॥

सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ।

यस्तु देशानुरूपेण कुलमार्गेण चोद्वहेत् ॥

नित्यं स व्यवहार्यः स्याद्वेदाच्चेतत्प्रतीयते ।”

इति सप्तमादृङ् प्रशस्तः कल्पः । तदभावे सप्तमीं तदभावे पञ्चमीमिति-
 पक्षद्वयेऽप्ययं सर्वमतेन प्रशस्तोऽनुकल्पः । तु शब्देन पक्षान्तरं परि-
 गृह्णाति । पितृपक्षे त्वयं वक्ष्यमाणो विधिः । सप्तमीं षष्ठीं पञ्चमीं-
 तथा । मातृपक्षे चतुर्थ्यादिकां पूर्वपूर्वाभाव एव उद्बहेदेवमुदाहेन दोष-
 इति शाकटायनमतं । एवं स्वमतेन पक्षद्वये अनुकल्पमुक्त्वा इदानीं मतान्तरेण-
 पक्षद्वयेऽनुकल्पमाह,—पञ्चम्यभावे चतुर्थीं तदभावे तृतीयामर्थक्रम-
 प्रावल्यात् पक्षद्वयेऽप्युद्बहेदिति मनुपराशराङ्गिरीयमानां मतं । कन्या-
 गतमेव सप्तमत्वादिविशेषणं वरेऽपि ज्ञेयं । असपिण्डोऽसपिण्डाबुद्बहेदित्यसा-
 पिण्डस्योभयविशेषणत्वात् । तेन सप्तमः सप्तमीं षष्ठः षष्ठीमित्यादि सिध्यति ।
 पञ्चमयोस्तु विशेषोऽभिहितस्तैव,—

“आरभ्य कूटात्-पुरुषात्-पञ्चमो न तु पञ्चमी ।

चतुर्थीं पञ्चमीं चैव चतुर्थः षष्ठ उद्बहेत् ॥” इति ।

नन्वनुकल्पेऽपि यदि दोषाभावस्तुल्यः तर्हि को विशेषो मुख्यकल्पादित्यत-
 आह सा प्रशस्तेति । साऽतीतसप्तमादिका प्रकर्षेण शक्ता । दारकर्म गृह-
 कार्यं, मैथुनमाधानादि । अनेनानुकल्पस्य द्विजातीनां दोषजनकत्वेऽप्य-
 प्राशस्त्यमुक्तं भवति । लोकविद्वेषात् । अन्येषां तु नाप्राशस्त्यमपि ; प्रोक्तरीत्या-
 सामपुरुषस्य सापिण्डस्य विजातीयेष्विव शूद्रेष्वपि सङ्कोचावश्यभावेन-
 द्विजातिमात्रविषयत्वात् ।

अन्ये तु सामपुरुषं सापिण्डं चातुर्वर्ण्यविषयं, तद्विषयमेव चानुकल्प-
 विधानं ; तच्च द्विजेष्वप्युच्यते पञ्चमात् सप्तमादर्वागित्यनेन । ततश्च द्विजाना-
 मेवायमनुकल्पनिषेधो नान्येषामिति द्विजातिरिक्तविषयं सप्तम्यादिविधानमिति-
 मन्यन्ते । तन्न सुन्दरं,—अनुकल्पविधानस्य ओन्नियाणामित्युपक्रमेण-
 द्विजातीनामित्युपसंहारेण च द्विजातिमात्रविषयत्वेन चातुर्वर्ण्यविषयत्वा-
 सश्रवात् द्विजातिमात्रविषयत्वे च विधिनिषेधयोरष्टदोषदुष्टविकल्पापत्तेः । न-
 चास्मन्मते सा । विधेरनुकल्पविषयत्वेन निषेधस्य च मुख्यकल्पविषयत्वेनैक-
 विषयत्वाभावात् । तस्मादयथोक्तमेव साधीयः । नन्वनुकल्पोद्बहे दोषा-

भावान्नरको न स्यात् । लोकविद्वेषस्तु मधुपर्कगोबधवत्स्यादेवेत्यत आह,—
यस्तु देशेति । देशकुलाचाराभ्यामनुकल्पस्य व्यवस्थितत्वान्नलोकविद्वेषविषयता ।
तत्र प्रमाणमाह, वेदादिति,—तृतीये सङ्गच्छावहै, चतुर्थे सङ्गच्छावहै, इति-
वेदस्मृत्युत्तरीयचतुर्थयोरुद्वाहे प्रमाणं । तेन स्नाध्वन्तेऽवत तत्तनो अधिवोचत ।
मानः पथः पितृग्रान्मानवादधिदूरं नैष्ट पारावत—इति, वेदः कुलाचारे-
प्रमाणमिति । भो देवास्ते यूयं न स्नाध्वं पालयध्वं । ते यूयं नः अस्मान्-
अवत रक्षत ते यूयं नः अस्मान् अधिवोचत अधिकं हितं ब्रूत । मानवान्-
मनुष्यानुष्ठेयात् पारावतः परलोकसम्बन्धिनः पितृग्रात् पितृपरंपरागतात्पथो-
दूरं नः अस्मास्मा नैष्ट मा नयतेति देवान् प्रार्थ्यते । तस्मात्कुलपरंपरागतेन-
मार्गेण सप्तमादर्वागप्युद्वाहे न दोष इति भावः । उल्लालः पुनरिमान्येव-
वाक्यानि दिव्यसिंहमिश्रकृतसंस्कारतिलकोदाहृतोशनःस्मृतिवाक्यबलादन्यथैव-
व्यवस्थापयन्ति । तदुच्यते,—

“सप्तषट्पञ्चचत्वारो वर्ज्या वर्णैः क्रमान्नराः ।

सपिण्डतायामुद्वाहे शुद्धौ मरणजन्मनोः ।

तयोऽनुलोमजैस्त्याज्या द्वावेव प्रतिलोमजैः” । इति ।

नराः पुरुषाः शीर्षाणीति यावत् ।

गौडास्तु शूलपाणिमिश्रकृतसम्बन्धविवेकोदाहृत—वृहन्मनुवचनानुरोधे-
नान्यथैव व्यवस्थाप्याहः । तदुच्यते,—

“असंवद्धा भवेद्या तु पिण्डैर्नैवोदकीन वा ।

सा विवाद्या द्विजातीनां त्रिगोत्रान्तरिता च या” ॥

इति । त्रिगोत्रान्तरिता मूलपुरुषगोत्रात् चतुर्थेगोत्रोत्पन्नेति यावत् ।

तथा च स एव,—

“तत्सन्निकर्षे कर्त्तव्यं त्रिगोत्रात्परतो यदि” । इति ।

अथ विजातीयसापिण्डनिर्णयः,—

तत्र शङ्कः,—

“यद्येकजाता वहवः पृथक्क्षेत्राः पृथक्जनाः ।

एकपिण्डाः पृथक्शौचाः पिण्डस्त्वावर्त्तते त्रिषु” ॥

अस्यार्थः,—एकजाता एकस्मादुवाच्याणादिर्जाताः पृथक्जनाः भक्ष-
पेक्षया भिन्नजातीयास्तु परस्परं समानजातीयास्तु स्त्रीषु जातास्ते एकपिण्डाः-
सपिण्डाः । ते पृथक्शौचाः पितृजात्यपेक्षया विजातीयाशौचाः । पिण्ड-
स्त्वावर्त्तते त्रिषु । तेषां सापिण्डं त्रिपुरुषमेवेत्यर्थः ।

ब्रह्मपुराणेऽपि,—

“सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्त्तते ।

सजातीयेषु वर्णेषु चतुर्थे भिन्नजातिषु” ॥ इति ।

अथ मातुलकन्यापरिणयननिर्णयः ।

तत्र तदनुष्ठानतारः श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासशिष्टाचारान् प्रमाणानि
प्रदर्शयन्ति । तत्र ऋग्वेदश्रुतिः,—

“आयाहीन्द्र पथिभिरौद्धितेभिर्यज्ञमिमन्नोगभागधेयं जुषध्व ।

तृष्णां जहुर्मातुलस्येव योषा भागस्ते पैतृष्वस्यौ वषामिव” ।

इति ।

अस्यार्थः,— हे इन्द्र ईडितेभिः पथिभिः सुतेर्मागेर्नाऽस्माकमस्माभिरनुष्ठी-
यमानं इमं यज्ञं आयाहि आगच्छ आगत्य च स्त्रीयं भागधेयं जुषध्व “जुषी
प्रीतिसेवनयोः” प्रीतिपूर्वकं गृह्णीष्व । कोऽसौ भागधेय इत्यत आह,—

वषां तृप्तामान्यादिभिः संस्कृतां वषां यजमानाध्वर्युप्रभृतयो जहुस्त्वत्त-
वन्तः । तत्र दृष्टान्तद्वयमवतारयति । मातुलस्यैव योषेति पैतृष्वस्यैवेति च ।
अत्र मातुलशब्दस्य सम्बन्धिगन्धत्वात् सम्बन्धी भागिनिय उपतिष्ठते । ततश्च-
मातुलस्य योषा मातुलकन्या न पत्नी । पैतृष्वस्येया अनन्वयापत्तेः । यथा—
भागिनियस्य भागः भजनोया परिणेतुं योग्येति यावत् । यथा च पैतृष्वस्येयो-
पितृषुसुदुहिता अर्थान्मातुलपुत्रस्य भागस्तथेयं च वषा तव भागधेयः ।

तथा च स्मृत्यन्तरमपि,—

“गर्भे तु नौ जनिता दम्पती कर्द्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः ।
न किरस्य प्रमिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्वयौः” ॥ इति ।

अस्यार्थः,—

त्वष्टा रूपाणां कर्त्ता सविता सर्वेषां शुभाशुभस्य प्रेरकः विश्वरूपः-
सर्वात्मकः देवो दानादिगुणयुक्तः नौ आवयोर्भ्रातृभगिन्योः गर्भे जनिता
जनितारौ कन्यापुत्रौ दम्पती जायापती कः करिष्यतीर्थः ।

अत्र हेतुमाह,—

अस्य प्रजापतेः व्रतानि कर्माणि न किः प्रमिनन्ति न केचित् प्रहिंसन्ति-
न लोपयन्त्यर्थः । अपि च नौ आवयोः अस्य प्रजापतेः कर्त्तव्यं दम्पती-
जनकत्वं पृथिवी भूलोकः द्वयौः स्वर्गलोकश्च न वेद न जानातीत्यर्थः । एतेन
भ्रातृभगिन्यपत्ययोर्विवाहयोग्यता सिध्यति ।

वाजसनेयकेऽपि,—

“तस्मात् समानादेव पुरुषादत्ता चायश्च जायेते तृतीये सङ्ग-
च्छाव उत चतुर्थे सङ्गच्छावहे” । इति ।

अस्यार्थः,—तस्मादित्युक्तमर्थे दृष्टान्तेनोपसंहरति । तौ च मिथः-
सङ्गम्यतः कूटस्थमारभ्य तृतीयपुरुषे आवां सङ्गच्छावहे । इति ।

यद्यप्येते मन्त्रार्थवादाः पदार्थत्वान्न स्वार्थविधिपरास्तथाप्यप्राप्तस्वार्थस्य-
सिद्धवदनुवादान्वाथानुपपत्त्या स्वार्थविधिकल्पका गम्यन्ते ।

यथा, उपरि हि देवेभ्यो धारयति सव्यं हि मनुष्या अञ्जते इत्यादौ ।
न च प्रजापतिः स्वां दुहितरमभ्यध्यायत् योषा जारमिव ध्रियमितरादौ-
विधिकल्पनातिप्रसङ्गः । तेषां रागप्राप्तत्वात् । अतएव एतच्छ्रुतिमूलिका-
स्मृतिरपि षट्त्रिंशन्मते प्रत्यक्षमेव बाधं दर्शयति ।

“तृतीयाम्बा चतुर्थीम्बा पञ्चयोरुभयोरपि ।

विवाहयेन्मनुः प्राह पाराशर्य्योऽङ्गिरा यमः” ॥ इति ।

पुराणेऽपि, श्रीभागवते :—

“यद्यप्यनुस्मरन् वैरं रुक्मौ कृष्णावमानितः ।
व्यतरद्भागिनेयाय सुतां कुर्वन् स्वसुः प्रियाम् ॥
वृतः स्वयम्बरे साक्षादनङ्गोऽङ्गयुतस्तथा ।
राज्ञः समेतान्निर्जित्य जहारैकरथो युधि” ॥ इति ।

तथा तत्रैव—

“दौहित्रायानिरुद्धाय गौरी रुक्मप्रददाहरेः ।
रोचनां बह्वैरोऽपि स्वसुः प्रियचिकीर्षया ।
जानन्नधर्मं तं यौनं स्नेहपाशानुबन्धतः” ॥ इति ।

यत्त्वस्य अधर्मं जानन्नित्यन्वयप्रतिभानादधर्मत्वव्याख्यानं केषाञ्चित् ।
तदुभगवद्वादरायणाशयानभिज्ञाननिबन्धनमित्युपेक्षणीयम् ।

तथाहि,—

प्रतरन्नश्रीतलिङ्गानुमितश्रुतिस्मृत्याद्यनेकप्रमाणप्रमितं तं यौनं दौहित्राय-
पौत्रीदानलक्षणं सखन्धं धर्मं धर्मत्वेन जानन्नाददात् ; किन्तु स्वसुः प्रिय-
चिकीर्षया स्नेहपाशानुबन्धत एव । अतएव हरैर्बह्वैरोऽपीति विशेषणेन
तदेवाविष्कृतम् । दौहित्राय प्रव्युज्जपरिणीतस्वदुहितपुत्राय गौरीं गौराङ्गीं-
रोचनां रोचनामिवेति लुप्तोत्प्रेक्षेति शब्दार्थः ।

इतिहासेऽपि, महाभारते—

शूरकन्या कुन्तिभोजेन पुत्नीकृता पाण्डुतोऽर्जुनमजीजनत् । अर्जुनश्च
शूरात्मजस्वमातुलवसुदेवसुतां सुभद्रासुपयेमे इतरपरं लिङ्गम् ।

तथाहि,—

“अर्जुनस्तीर्ययात्रायां पर्य्यटन्नवनीं प्रभुः ।
गतः प्रभासमश्रुणोन्मातुलेयीं स आत्मनः ॥

तत्र चङ्क्रममाणौ तौ वसुदेवसुतां शुभाम् ।
 स्वलङ्घतां सखीमध्ये भद्रां ददृशतुस्तदा ॥
 ममैषा भगिनी पार्थ सारणस्य सहोदरा ।
 सुभद्रा नाम भद्रन्ते पितुर्मे दयिता शुभा ॥
 दुहिता वसुदेवस्य वामुदेवस्य च स्वसा ।
 रूपेण चैव सम्पन्ना कमेवैषा न मोहयेत् ॥
 कृतमेव तु कल्याणं सर्वं मम भवेद्भुवम् ।
 यदि स्यान्मम वार्ष्णेयी महिषीयं स्वसा तव ॥
 अतः प्रचिन्त्य कल्याणौ प्रसह्य भगिनौ मम ।
 हर स्वयम्बरे ह्यस्याः को वै वेद चिकीर्षितम् ॥
 ततः सुभद्रा सौभद्र' केशवस्य स्वसा प्रिया ।
 जयन्तमिव पौलोमी द्युतिमन्तमजीजनत्" ॥

इत्याद्याचारोऽप्यविच्छिन्नपारम्पर्येण दक्षिणातश्रिष्टानामविगीतो-
 विजृम्भते । तस्मात्सिद्धं मातृष्वस्तकन्यापरिणयनम् ।

प्राचोदीचप्रतीचाः प्रतप्रवतिष्ठन्ते । कथमविगानं, निषेधस्मृतीनां बहुल-
 सुपलब्धेः ।

तथाहि मनुः,—

“पैतृष्वसेयौ भगिनौ स्वस्त्रीयां मातुरेव च ।
 मातुश्च भ्रातुराप्तस्य गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥
 एतास्तिस्वस्तु भार्य्यार्थे नोपयच्छेत् बुद्धिमान् ।
 ज्ञातित्वेनानुपेयास्ताः पतति ह्युपयन् पुनः” ॥

इति मातृश्राप्तस्य माता भ्रातृत्वेन प्रतिपन्नस्य ।

तथा च लिङ्गपुराणे,—

“वाक्सम्बन्धकृतानान्तु स्नेहसम्बन्धभागिनाम् ।
विवाहोऽत्र न कर्त्तव्यो लोकगर्हा प्रसज्यते ।
अतो वंशा विनश्यन्ति लोके सङ्करकारकाः” ॥ इति ।

शातातपः,—

“मातुलस्य सुताभूढा मातृगोत्रां तथैव च ।
समानप्रवराच्चैव द्विजश्चान्द्रायणं चरेत्” ॥ इति ।

पुनरपि स एव,—

“उद्वहेत्तु सगोत्रां यस्तनयां मातुलस्य च ।
ऋषिभिश्चैव तुल्याच्च स तु चान्द्रायणं चरेत्” ॥

महाभारते ययाति-वाक्यमपि,—

“यो मे त्वं हृदयाज्जातो वयः स्वं न प्रयच्छति ।
पापा मातुलसम्बन्धात्मजा वै ते भविष्यति” ॥

कलिनिन्दोपक्रमे व्यासोऽपि,—

“तृतीयां मातृतः कन्यां तृतीयां पितृतस्तथा ।
श्रुत्वेन चोद्वहिष्यन्ति विप्राः पापविमोहिताः” ॥

सुमन्तः,—

पितृष्वसुतां मातृष्वसुतां मातृसगोत्रां समानप्रवरां विवाहं चान्द्रायणं-
चरेदिति ।

पैठीनसिः—

कुलोत्पन्नां साध्याचारां वरयेत्पितृष्वसुमातृष्वसुदुहितरो मातुलसुता च-
धर्मतस्ता भगिन्यो वर्जयेदिति । भगिन्य इत्यपरिणेत्यत्वे हेतुगर्भं विशेषणम् ।

अतएव भविष्योत्तरे,—

“प्रथमा श्रावणे मासि तथा भाद्रपदे परा ।

तृतीयाऽश्वयुजे मासि चतुर्थी कार्तिके भवेत्” ॥

इति चतस्रो यमद्वितीया उपक्रम्य तासु, —

“पितृव्यभगिनीहस्तात्-प्रथमायां युधिष्ठिर ! ।

मातुलस्य सुताहस्ताद्वितीयायां तथा नृप ! ॥

पितुर्मातुः स्वसुः कन्ये तृतीयायां तयोः करात् ।

भोक्तव्यं सहजायाश्च भगिन्या हस्ततः परम् ।

सर्वा भगिन्यः संपूज्या अभावे प्रतिपन्नकाः” ॥

इति चतसृणामपि भगिनीत्वं स्पष्टमेवाभिहितम् । तदेवं मातुलकन्या-
परिणयस्य निषेधवचनकदम्बे जाग्रति कथमिव तद्विधायकस्यत्वादेर्मूलभूत-
श्रुत्यनुमानमिति प्राप्ते, अभिधीयते दान्तिणाल्यैः । प्रतग्रन्थौतलिङ्गाद्यनुमित-
श्रुत्या शीघ्रोपस्थितिकतया स्मृत्यनुमितलिङ्गाद्यनुमीयमानश्रुतेर्विषयापहारेण-
बाधादनुमानासम्भवाद्देतासां स्मृतीनां स्वार्थप्रमापकत्वम् ।

तदुक्तम् बलाबलाधिकरणे वार्त्तिकाचार्यैः,—

“स्मृतिवैदिकलिङ्गयोर्विरोधे स्मृतेर्मूलान्तरसम्भवाद्देदलिङ्गानां चानन्यथा-
सिद्धत्वात् स्मृतेर्बाध” इति ।

तथा, बलीयो वैदिकं वैदिकनिवहायाः स्मृतेरपीति च । विवृतं-
चैतद्वाणकाचार्यैः प्रकृतमेवोदाहरणं प्रस्तुतम् । अथवा विषयविशेष-
व्यवस्थया विरोधाभावेन विधिनिषेधवाक्यैः स्वस्वमूलभूतश्रुतानुमाने बाधका-
भावः ।

तथाहि,—

ब्राह्मादिषु विवाहेषु दानेन कन्यायाः पितृगोत्रसापिण्डेन निवर्त्तते,—
यथा दत्तपुत्रस्य ।

तदाह मनुः,—

“गोत्ररिक्थे जनयितुर्न भवेद्द्वित्रिभः सुतः ।

गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधा” ॥

दत्तपुत्रो जनयितुर्गोत्ररिक्थे न भजेत् ।

तथा, पुत्रं ददतः पितुः पिण्डं सापिण्ड्यं स्वधायाहञ्च दत्तपुत्रादप्येति-
तत्र हेतुर्यतो गोत्ररिक्थानुगः पिण्डस्तन्निवृत्तौ निवर्त्तते इत्यर्थः । आसुरादि-
चतुर्षु पुनर्दानाभावेन गोत्रसापिण्ड्ययोर्न निवृत्तिरिति ।

अतएव मार्कण्डेयेन,—

“ब्राह्मादिषु विवाहेषु या तूढा कन्यका भवेत् ।

भर्तृगोत्रेण कर्त्तव्या तस्याः पिण्डोदकक्रिया ॥

आसुरादिविवाहेषु पितृगोत्रेण धर्मवित्” । इति ।

गोत्रनिवृत्त्यनिवृत्तौ प्रतिपाद्येते । अनेनैकाभिप्रायेण स्मृत्यन्तरेऽप्युक्तम् ।

“एकत्वं सा गता भर्तुः पिण्डे गोत्रे च सूतके” । इति ।

एवञ्च, यानि मातुलसुतादिनिषेधकानि मन्वादिवाक्यानि तान्यनिवृत्त-
गोत्रसापिण्ड्येष्वासुरादिविवाहेषु सावकाशानीति । एतेन पुत्रिकापुत्रोऽपि-
व्याख्यातः ।

“मातामहस्य गोत्रेण मातुः पिण्डोदकक्रियाम् ।

कुर्वीत पुत्रिकापुत्र एवमाह प्रजापतिः” ॥ इति ।

लोगाच्छिस्तरणात् । तन्न चतुरस्रं विकल्पासहत्वात् । तथाहि ब्राह्मादि-
विवाहेषु सापिण्ड्यनिवृत्तिः किं दानेन उत वचनेन आहोस्त्रित् सतापि-
सापिण्ड्ये वाचनिकोऽयं विवाह इति । न तावदाद्यः दानेन खनिवृत्तावपि-
सापिण्ड्यनिवृत्तेः, अवयवान्वयः पिण्डान्वयो वा सापिण्ड्यं, तत्रावयवान्वय-
निवृत्तिः, प्रतग्रन्थवाधिता । पिण्डान्वयनिवृत्तिसु,—

“पितरो यत्र पूज्यन्ते तत्र मातामहा अपि ।

अविशेषेण कर्त्तव्यं विशेषान्नरकं व्रजेत् ॥” इति ।

शास्त्रेण वाधिता । यदा तु कन्यादाने परस्वल्पादानमात्रं न स्वत्व-
निवृत्तिरिति दानत्वस्यैवाभावो विद्यादानादिविव, तदा सुतरां न सापिण्ड्य-
निवृत्तिः । नापि द्वितीयः, तादृशवचनस्य श्रीमद्भिरप्यनुपन्यासात् ।

यत्तु,—

“एकत्वं सा गता भर्तुः पिण्डे गोत्रे च सूतके” ।

तथा,—

“स्वगोत्राद्भूयते नारी विवाहात् सप्तमे पदे” ॥ इति, च-

वाक्यद्वयमुपन्यस्तं, तत्राद्ये दम्पत्योः पिण्डैक्यमात्रं बोध्यते न पितृ-
सापिण्ड्यनिवृत्तिः । अथ पिण्डद्वयेन सापिण्ड्यमेवोच्यते । तत्रापि तथैव-
निवृत्तिपदाश्रवणात् । द्वितीयेऽपि तथैव पितृगोत्रनिवृत्तिः । सापिण्ड्य-
पदाश्रवणात् । न च गोत्रनिवृत्त्यैव सापिण्ड्यनिवृत्तिः । परस्परव्यभिचारेण-
व्यास्यभावात् । यदपि चतुर्विंशतिमते,—

“द्वितीयां मातुलः कन्यां द्वितीयां पितृतस्तथा” ॥ इत्यादि वचनं-

तस्मात्तुलस्य सुताभूद्धेत्यादिना सत्यतिपक्षग्रस्तमेव । प्रतिलोमादि-
सापिण्ड्यविषयं वेति न प्रकृतोपयोगि ।

यदपि,—

“ब्राह्मादिषु विवाहेषु या तूढा कन्यका भवेत् ।

भर्तृगोत्रेण कर्त्तव्या तस्याः पिण्डोदकक्रिया ॥

“आसुरादिविवाहेषु पितृगोत्रेण धर्मवित् ॥”

इति मार्कण्डेयवाक्येन ब्राह्मासुरविवाहभेदेन गोत्रसापिण्ड्ययोर्निवृत्त्यनु-
वृत्ती प्रतिपाद्येते । इत्युक्तं,—

तदपि न सापिण्ड्यनिवृत्तकपदाश्रवणात् । गोत्रनिवृत्तिस्वासुरेऽपि-
भवतीत्यर्थः ; “पूर्वं परिग्रहस्तेषां पश्चाद्दोषो विधीयते” इति परिशब्देन होमादि
सप्तमपदप्रक्रमान्ते सकलभार्यात्वोत्पादकसंस्कारविधानात् । तत्र च सप्तमे पदे-
पितृगोत्रनिवृत्तेरावश्यकत्वात् ।

आसुरादिविवाहेषु मातुः पिण्डदानादौ पितृगोत्रप्राप्त्यर्थं । ब्राह्मादिवचनं तु दृष्टान्तार्थमनुवाद-इति सर्वं सुखं । यत्तु मातुलस्येव योषित्वादि श्रौत-
लिङ्गानुमितश्रुतिरत्र प्रमाणमिति तदपि ।

“आयाहीन्द्र पतिभिरीडितेभिर्यज्ञमिमं नो वाजसा तौ उपस्र ।

तस्मा जहुर्मातुलस्येव योऽयं भागः पैतृष्वस्येयमपामिवौघः ॥

इतः पराकीर्णादाहृतश्राद्धान्तरीयश्रौतलिङ्गानुमितश्रुतयोः सत्यतिपक्षग्रस्तम् ।
तस्याश्चार्थस्तेनैव व्याख्यातः । आयाहीन्द्र ! अस्मदीययज्ञमन्यैरपि सोमप-
तिभिः ईडितैः स्तोत्राहैः सह, आगत्य च वाजसा तौ सोमरूपान्नभोजन-
प्रस्तावे जुषस्व सोममिति सख्यध्यते । एवं प्रार्थ्येन्द्रमुत्पद्यं स्वरूपायैवादं-
करोति, ये सोमपतयो भवता सहायास्ते सकृत् सोमपानेन तस्माः मन्तः-
सोमं जहुस्त्यक्तवन्तः । के कामिव मातुलस्य सुताः पैतृष्वस्येयमिव भार्यात्वे-
नातन्तामिलषणीयां तत्रजन्ति स्वकीयमातुलस्य सख्यन्धायोग्यत्वात् ।
तद्वद्भवदुद्देशेन सोमं तत्रक्तवन्तो निशकाहृतया । तव पुनरयं सोमभागः-
अपामिवौघः साततेऽनाकर्मसमाप्तेरिति ।

यदपि, “गर्भे नु नौ जनिता दम्पतीकरिति” श्रुतेः नौ आवयोर्गर्भं जनि-
तारौ त्वष्टा देवः दम्पती करिष्यतीति व्याख्यानम् । तदपि नौ आवां जनिता-
जनयिता देवः गर्भे नु गर्भं एव दम्पती कन् कृतवानिति विद्यारण्यश्रीपाद-
कृतव्याख्याविरुद्धत्वादुपेक्षणीयम् । युक्तं चेतदेव, ओचिदिति चतुर्दशर्चस्व-
सूक्तस्य । ओचित् पलूना वैवस्वतयोर्यमयस्योः सखादः । षष्ठयुगमिधु-
नार्थं यमं प्रोवाच, स तां नवमीयुग्मिरनिच्छन् प्रतयाचष्टे इति सर्वानु-
क्रमेऽस्याः पञ्चम्या ऋचः यमं प्रति यस्या पूर्वपक्षत्वेनाभिधानात् । सिद्धान्ते-
‘न वा उ ते तन्वा तन्वां सम्पृच्यां पापमाहुयः स्वसारं निगच्छात् । अन्धेन-
मत्-प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्टेऽतदिति’ ।

अस्यार्थः,—हे सुभगे ते तव तन्वा शरीरेण तन्वां स्त्रीयां तनुं न वा उ
नैव सम्पृच्यां सम्पर्कयिष्यामि । तत्र हेतुमाह,—

यः स्वसारं निगच्छात् गच्छति तं लोका देवाश्च पापं पापिष्ठं आहुः ।
तर्हि मत्सन्तोषः कथं स्यादित्यत आह । मत्प्रमुदः मत्तः जायमानाः प्रमुदः-

त्वं अन्येन पुंसा कल्पयस्व अर्जयस्व । न ते भ्राता यमः एतत् कर्म वष्टि न-
काङ्क्षतीति यमेन तत्प्रत्याख्यानाच्च ।

अथ तृतीये सङ्गच्छामहे इति शातपथश्रुतया मातुलकन्यापरिणयः सेव्य-
तीति । तत्रोच्यते न तावद्विधित्वेनेदं गमकं । उत्तमपुरुषश्रवणात्, नापि-
विधिकल्पनया, स वै स्तुचो व्यूहतीति सुग्व्यूहनविधिशेषत्वात् । यद्यप्राप्तार्थ-
कत्वेनान्यशेषस्यापि विधिकल्पकत्वं । तर्हि नापुत्रस्य लोकोऽस्ति, तत्सर्व-
पगवो विदुः । तस्मात्तु पुत्रो मातरं स्वसारं चाधिरोहतीत्यस्यापि पुत्रोत्-
पादनविधिशेषस्य मात्रादिगमनविधिकल्पकत्वं केन वार्य्येत । अथास्य हन्द्गे-
श्रुतिविरोधान्न विधिकल्पकत्वम् । तर्हि प्रकृते अपराकोदाहृतश्रुतिविरोधान्न-
विधिकल्पकत्वमिति समः समाधिः ।

अथ तस्मादुसमानादेव पुरुषादन्ता चाव्यय जायेते । इत्यस्मात्तदर्थ-
सिद्धिः । तदपि न, एकस्मादुत्पन्नयोर्भ्रातृभगिन्योर्दाम्पत्यस्य पापमाहुर्त्यः-
स्वसारं निगच्छादिति प्रत्यक्षश्रुतिबाधितत्वेन मुख्यार्थासम्भवात् ।

अथैकान्तरविवक्षया विवक्षितार्थसिद्धिः । तर्हि मुख्यार्थतयागाविशेषा-
च्छास्त्रान्तराविरोधाय पञ्चम्यन्तरविवक्षया एकपुरुषसन्तानजात्यञ्चमात्मसमादूर्ध्व-
मित्येवार्थः कुतो न कल्प्यते ।

यथा, जातेऽष्टौ मुख्यकालबाधेन शास्त्रान्तरविरोधायाशीचानन्तरः-
पर्वकालः कल्प्यत इति । नहि पञ्चम्या अव्यवहितस्यैवापादनत्वमुच्यते ।
चिरनिर्गतेऽपि पुरुषे गौडादागत इत्यादिप्रयोगदर्शनात् । तेन वाजपेयस्य
यूप इति षष्ठीवद्भवहितसम्बन्धेऽपि पञ्चम्युपपत्तेः । यतो वंशभेदस्तमादाय-
गणयेदित्यादिस्मृतिभूलत्वमेवास्याः श्रुतेः कल्पयितुं युक्तम् । ननु कल्पयता-
मन्तरं तथापि पञ्चम्यन्तरकल्पने किं प्रमाणं वाक्यशेषश्रुततृतीयचतुर्थपुरुष-
संख्यैव निराकाङ्क्षत्वादस्य वाक्यस्य ।

उपसंहृतश्रुत्यमेवार्थश्चतुर्विंशतिमत्स्मरणेऽपि,—

“तृतीयास्वा चतुर्थीस्वापक्षयोरुभयोरपि ।

विवाहयेदिति प्राहुः पाराशर्याङ्गिरोयमाः ॥” इति ।

तस्मात्सिद्धमेतावत्येवान्तरे विवाहविधायकत्वमस्येति चेत् । सत्यं, तथापि मातुलकन्यापरिणयनासिद्धेः । मातृष्वस्त्रीयादिपरिणयनप्रसङ्गात् । न चाचाराभावेन तदपरिणयनसिद्धिः, प्रत्यक्षयुतिविहितेऽनाचारस्याप्रयोजकत्वात् । न चास्य सामान्यरूपस्यापि मातुलस्येव योषितयादिलिङ्गकल्पितविशेषयुत्युपसंहारेण नातिप्रसङ्ग इति वाच्यम् । अपराकोदाहृतयौततयागलिङ्गविरोधेन तदुदाहविधायकविशेषयुतग्रनुमानस्यैवासम्भवात् । किञ्च मातुलकन्यापरिणयनपरत्वे तयोः युतिस्मृतयोस्तृतीयपुरुषसंकीर्त्तनमिव कर्त्तव्यम्, न चतुर्थपुरुषसंकीर्त्तनं तस्य मातुलत्वाभावात् । तस्मान्नेदं मातुलकन्यापरिणयनपरत्वेन व्याख्येयम् । किं तर्हि, द्विपुरुषसापिण्ड्यकीर्त्तनं प्रतिलोमजविषयं व्याख्येयं त्रिपुरुषानुलोमजसापिण्ड्यसमभिव्याहारात् ।

“तयोऽनुलोमजैस्त्याज्या द्वावेव प्रतिलोमजैः”, इत्युपशान्तस्मरणात् तेषां तथाचारदर्शनाच्च । अथ विधिनिषेधयोः प्रत्यक्षयौतलिङ्गद्वयानुमितयुतिद्वयमूलकयोस्तुल्यवलतया विकल्प एव देशभेदेन व्यवस्थितो मन्तव्यः ।

तथाच बोधायनः,—

“पञ्चधा विप्रतिपत्तिर्दक्षिणतस्तथोत्तरतो यानि दक्षिणतस्तान्यनुव्याख्यास्यामी, यथैतदनुपनीतेन सह भोजनं स्त्रिया सह भोजनं पर्युपितभोजनं मातुलपितृष्वसृदुहितपरिणयनमिति ।

अथोत्तरत जर्णाविक्रयः सौधुपानमुभयतोदङ्घ्रिव्यवहारः आयुधीनकंसमुद्रयानमिति । तत्रेतरदितरस्मिन् कुर्वन् दुष्यति इतरदितरस्मिन् तत्र तत्र देशप्रामाण्यमेव स्यादिति” ।

अस्यार्थः—विप्रतिपत्तिर्विरुद्धार्थानुष्ठानम् । इतरदिति दक्षिणदेशीयं कर्म उत्तरदेशे उत्तरदेशीयञ्च कर्म दक्षिणदेशे कुर्वन् दुष्यति न स्वदेशे तत्र तत्र देशनिबन्धनप्रामाण्यादिति । विशेषविवरणमेतद्विषयकं वीरमित्रो दयादाबन्धेष्ठव्यम् ।

तथाच,—विषयेऽस्मिन्नुदाहृतत्वे यथाह रघुनन्दनः ।

यथा मत्स्यपुराणम्,—

“लेपभाजश्चतुर्थाद्याः पित्राद्याः पिण्डभागिनः ।

पिण्डदः सप्तमस्तेषां सापिण्ड्यं साम्नपौरुषम्” ॥

एतत्प्रपञ्चितं शुद्धितत्त्वे असपिण्डा च या मातुरिति चकारात् मातुर-
सगोत्रा च ।

“सगोत्रां मातुरप्ये के नेच्छन्त्युद्वाहकर्मणि”

इति व्यासोक्तेः,—असगोत्रा चेति चकारात् पितुरसपिण्डा च ।

विष्णुपुराणे,—

पितृपत्ने सप्तमीनिषेधात् ।

यथा,—

‘सप्तमीं पितृपक्षाच्च मातृपक्षाच्च पञ्चमीम् ।

उद्वहेत द्विजो भार्यां न्यायेन विधिना नृप !” ॥

सप्तमीं पञ्चमीं परिहृत्येति शेषः । अतएव एकपितृकस्यापि पितृ-
पक्षया सप्तमवर्जनाय मनुवचने पितुरिति सार्थकं न वरापेक्षयेति शूलपाणि-
महामहोपाध्यायैस्तु क्षेत्रमात्रगोत्रस्य द्विपितृकस्य क्षेत्रजादेर्वीजिसगोत्रा-
वर्जनाय पितुरित्युक्तम् ।

“उद्वहेत द्विजो भार्यामि”त्यादौ भाविनि भूतोपचारः विवाहानन्तरमेव-
भार्यात्वनिष्पत्तेः । “न सगोत्रां न समानप्रवरां भार्यां विन्देत मातृतस्त्वा-
पञ्चमात्, पितृतस्त्वासप्तमादि”ति विष्णुसूत्रे सप्तमीनिषेधाच्च अत्र मातृ-
पदेन मातामहो लक्षणीयः । अथात्मीयांस्त्रीन् पितृतस्त्रीन् मातृतस्त्व-
पत्नीयेति पितृतर्पणमिति गोभिलसूत्रे त्रीनिस्ति पुंलिङ्गनिर्देशेन तत्पत्नी-
येति पृथगुपादानेन च मातृत इति मातामहपरत्ववत् ।

अन्यथा,—

“अप्रत्तानां तथा स्त्रीणां सापिण्ड्यं साम्नपौरुषम् ।

प्रत्तानां भर्तृसापिण्ड्यं प्राह देवः पितामहः” ॥

इति रत्नाकरधृतकूर्मपुराणवचनान् मातुर्विवाहेन तत्पितृकुले
सापिण्डानिहत्तेः भर्तृसापिण्डेन सापिण्डसिद्धेः विवाहेन च तस्याः पितृ-
गोत्रत्वनिवृत्तेः पितृसपिण्डा पितृसगोत्रावर्जनादेव तत्सिद्धेरसपिण्डा च या
मातुरित्यत्र मातुरुपादानं व्यर्थं स्यात् ।

एवमेव विवेककृतः,—

मातामहपक्षे तु, “सापिण्डग्रं पाञ्चपौरुषम् ।

पञ्चमात्-सप्तमादूह्यं मातृतः पितृतः क्रमात् ।

सपिण्डता निवर्त्तेत सर्ववर्णेष्वयं विधिः” ॥

इति हरिनाथोपाध्यायोद्धृतनारदवचनात् ।

“पिण्डनिवृत्तिः सप्तमे पञ्चमे वा” इति हारलताधृतगोत्रमसूत्रे पञ्चम-
इतेप्रतस्यापि मातामहपक्षविषयत्वाच्च, पिण्डनिवृत्तिरित्यत्र सापिण्डानिहति-
रित्याचारमाधवीये पाठः । तदा व्यक्त एवार्थः । एवञ्चादत्त-कन्यानां-
पितृपक्षे सापिण्डग्रं सप्तपौरुषम् । मातामहपक्षे पाञ्चपौरुषं सापिण्डग्र-
विवाहमात्रे पूर्वाक्तविष्णुपुराणविष्णुसूत्राभ्याम् ।

“असमानार्पण्यां कन्यां वरयेत् पञ्च मातृतः परिहरेत् सप्त पितृतः त्रीन्-
मातृतः पञ्च पितृतो वा” ।

इति पैठीनसिवचनैकवाक्यत्वात् त्रीन् पञ्चेत्यासुरादिविवाहविषय-
क्षत्रियादिविवाहविषयश्चेति विवेककृतः ।

असमानजातीयाविवाहे त्रीनित्यादिव्यवस्थितविकल्पित—इति रत्ना-
करादयः । असमानजातीया च मूर्द्धाभिषिक्तादेः । वस्तुतस्तु त्रीनित्यादि-
अधिकदोषार्थम् ।

अन्यथा, मातृष्वसृ-पितृष्वसृ-दुहितरो मातुलसुताश्च धर्मतस्ता भगिनो-
भवन्ति तदा वर्जयेत् । इति पैठीनसिवचनान्तरस्य का गतिः । एवं त्रीन्-
मातृत इति प्रमातामहवृद्धप्रमातामहमातृबन्धुपेक्षया सन्ताने बोध्यम् ।
एवं मातामहापेक्षया मातृष्वसृदुहितमातुलदुहितोस्त्रितयान्तर्गतत्वे पृथङ्-
निषेधः प्रमातामहवृद्धप्रमातामहमातृबन्धुसन्तानत्रितयेभ्योऽप्यधिकदोषाय ।

एवं पितृपक्षेऽपि । यत्तु मातृपितृसम्बन्धा आसप्तमादिविवाह्याः कन्या भवन्ति ।

आपञ्चमादन्येषां मतमिति सुमन्तवचने मातृकुलेऽप्यासप्तमत्वमुक्तम् । तद्वचनान्तरैकवाक्यतया मातामहादिपञ्चानामिव पञ्चमी अन्यथा नानाश्रुति-कल्पना स्यात् । एवमापञ्चमादिति पैठीनस्युक्त्या त्रीन् मातृतः पञ्च पितृतः,- इत्यस्य समानम् । अत्रापि मातृपक्षे वरं तस्मात्तरं चादाय गणनया न-विरोधः । एतेनासप्तमादिति पितृपक्षपरम् । आपञ्चमादिति मातृपक्षपरम् ।

“सप्तमीं पितृपक्षाच्च मातृपक्षाच्च पञ्चमीम्” ।

इत्यनेकवचनैकवाक्यत्वादिति निरस्तम् । भवन्तीत्यनेन उभयपक्षे-समतमभिधायापञ्चमादन्येषामित्यस्य उभयपक्षे परमताभिधानेनैव युक्तत्वात् ।

एवञ्च, सुमन्तुवचने मातृकुले सप्तमवर्जनेनान्यवचनोक्तपञ्चमादिवर्जने-मातृपदे मातामहलक्षणा स्युः । एतेन जनन्यपेक्षया वा अप्रप्तानां त्रिपौरुष-मिति वशिष्ठोक्तानूढकन्या त्रिपुरुषसपिण्डापेक्षया वरापेक्षया वा पैठीनस्युक्त-मातृपक्षपञ्चमविवेचनं निरस्तम् ।

अतएव याज्ञवल्क्यटीकायां शूलपाणिमहामहोपाध्यायैर्मातामहस्यो-पव्यधः सपिण्डसन्ततिः पञ्चमी परिहरणीयेत्युक्तम् ।

एवं मनुवचने,—चकारादुक्तव्याख्यानेन मातृपितृसगोत्रावर्जनेनैव तत्-सपिण्डयोर्निषेधसिद्ध्यर्थदसपिण्डेति पृथगुक्तं, तत्सपिण्डकन्यापरम्पराजातीयाया-अपि पञ्चमीसप्तमीपर्यन्ताया निषेधार्थम् ।

अतएव वक्ष्यमाणत्रिगोत्रात्परतो यदीति प्रतिप्रसवः सार्थकः सपिण्डा-रूपकन्यावर्जने तु व्यर्थः स्यादिति । अत्र केवलपितृमातृशब्दाभ्यां पितृमातृ-सम्बन्धित्वेन पितृसपिण्डमातामहसपिण्डपितृबन्धुमातृबन्धुपरिग्रहात् तत्-सन्ततीनां निषेधः ।

बन्धुनिषेधे नारदः,—

“आसप्तमात्-पञ्चमाच्च बन्धुभ्यः पितृमातृतः ।

अविवाह्या सगोत्रा च समानप्रवरा तथा ॥

सप्तमे पञ्चमे वापि येषां वैवाहिकी क्रिया ।

ते च सन्तानिनः सर्वे पतिताः शूद्रतां गताः” ॥

मातृतः पितृतो बन्धुश्च इति पञ्चमीविभक्तिर्विनिगमकाभावात् पूर्वापरा-
वधिकार्या । बान्धवाश्च,—

“पितुः पितुः स्वसुः पुत्राः पितुर्मातुः स्वसुः सुताः ।

मातुर्मातुलपुत्राश्च विज्ञेया मातृवान्धवाः” ॥

तेन पितामहभगिनीपुत्रः पितामहीभगिनीपुत्रः पितामहीभ्रातृपुत्र-
श्चेति त्रयः पितृवान्धवाः । तथा, मातामहीभगिनीपुत्रो मातामहभगिनी-
पुत्रो मातामहीभ्रातृपुत्रश्चेति त्रयो मातृवान्धवा भवन्ति ।

अत्र च,—

“जमदग्निर्भरद्वाजो विश्वामित्रात्रिगोतमाः ।

वशिष्ठकश्यपागस्त्या मुनयो गोत्रकारिणः ।

एतेषां यान्यपत्यानि तानि गोत्राणि मन्यते” ॥

इति स्मृतेः,—

गोत्राणि च तन्नामकगोत्रताभागीनि ।

वंशपरंपराप्रसिद्धमादिपुरुषब्राह्मणरूपं गोत्रं । तेन काश्यपो गोत्रं यस्य-
काश्यपगोत्रः, प्रवरस्तु गोत्रप्रवर्त्तकस्य मुनेर्व्यावर्त्तको मुनिगण इति साधवाचार्यः ।

एवञ्च— राजन्यविशां प्रातिस्विकगोत्राभावात् प्रवराभावस्तथापि पुरो-
हितगोत्रप्रवरौ वेदितव्यौ ।

तथा—यजमानस्यार्धेयान् गोत्रप्रवरान् प्रवृणीतेत्युक्त्वा पौरोहित्यान्-
राजन्यविशां प्रवृणीतेत्याश्वलायन इति मिताक्षरा । अतएवासमानार्ध-
गोत्रजामिति ब्राह्मणादिवर्णत्रयविषयमिति सम्बन्धविवेकः । तर्हि शूद्रस्य-
आद्यादावधिकारश्रुतेः कथं गोत्रोच्चारणमिति चेत् ।

“गोत्रं स्वरान्तं सर्वत्र गोत्रस्याक्षय्यकर्मणि ।

गोत्रस्तु तर्पणे प्रोक्तः कर्त्ता एवं न मुच्यति” ॥ इति,—

गोमिलीयदर्शनादाकाङ्क्षितत्वेन,—

“शूद्राणां मासिकं कार्यं वपनं न्यायवर्त्तिनाम् ।

वैश्यवच्छौचकल्पश्च द्विजोच्छिष्टस्य भोजनम्” ॥

इति मनुवचने चकारसमुचितगोत्रेऽपि वैश्यधर्मातिदेशात् पूर्वपुरुष-
पुरोहितगोत्रभागित्वं प्रतीयते । तर्हि न समानगोत्रां समानप्रवरां भार्या-
विन्देत्यनेन शूद्रस्यापि सगोत्रा कथं न निषिध्यते इति चेदत्रोपदिष्टाति-
दिष्टगोत्रस्यैव निषेधो न त्वतिदिष्टशूद्रगोत्रादेः । अन्यथातिदेशे क्षत्रियवैश्य-
मात्रोपादानं व्यर्थं स्यादिति न्यायसूत्रम् । प्रागुक्तमनुशातातपवचने द्विजाति-
ग्रहणं सगोत्रावर्जने शूद्रव्यावृत्त्यर्थं सपिण्डसमानोदकता शूद्रेऽप्यविशिष्टा ।

अन्यथा,—

“पञ्चमात्सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतः क्रमात् ।

सपिण्डता निवर्त्तेत सर्ववर्णेष्वयं विधिः” ॥

इति हरिनाथोपाध्यायधृतनारदवचने चातुर्वर्ण्यसाधारणं वैवाहिक-
सापिण्डप्रविवेचनं व्यर्थं स्यात् । बोधायनः,—

“सगोत्रां चेदवमत्या उपयच्छेत् मातृवेदनां विभ्रयादि”ति । सुमन्तुः,—

“पितृष्वसृसुतां मातृष्वसृसुतां मातुलसुतां मातृसगोत्रां समानार्थेयी-
विवाह्य चान्द्रायणं चरेत् परित्यज्य चैनां विभ्रयात् । इति आचारमाधवीय-
मदनपारिजातयोः ।

आपस्तम्बः,—

“समानगोत्रप्रवरां समुदाह्योपगम्य च ।

तस्यामुत्पाद्य चाण्डालं ब्राह्मण्यादेव ह्रियते” ॥

समानप्रवरत्वं संज्ञासंख्ययोरन्यूनानतिरिक्तत्वेन भिन्नगोत्रेऽपि समान-
प्रवरत्वम् । यथा, वाक्यसार्वर्णिगोत्रयोरीर्ज्यचवनभार्गवजामदग्न्याभुवत्प्रवराः ।

एकगोत्रेऽपि प्रवरान्यत्वम् ।

यथा, घृतकौशिकगोत्रस्य कुशिककौशिकघृतकौशिकाः प्रवराः । कौशिक-
कुशिकबन्धुलाञ्चेति प्रवराः । अतो गोत्रप्रवरयोः पृथक्निषेध इति सगोत्रा-
समानप्रवराग्रहणमविवाहस्त्रीमात्रोपलक्षणमिति प्रायश्चित्तविवेकः । इति ।
तथाचात्र वाजपेयिविचारानुगतकालसरे यथाह गदाधरः,—

विशेषं मनुराह,—

“असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।

सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने” ॥

दारकर्मणि (दारत्वजनके विवाहे) मैथुने (मिथुनवाच्यस्त्रीपुंससाधे-
आधानकर्मणि) न केवलं स्त्रीसाध्यकपाकादिकर्मणि अपि तु उभयसाध्येऽपि-
सा प्रशस्तेत्यर्थः । “मिथुनसाध्यधर्मपुत्रोत्पत्तौ” इति कल्पतरुकाराः ।

व्यासो-विशेषान्तरमाह,—

“सगोत्रां मातुरप्येके नेच्छन्त्युद्वाहकर्मणि ।

जन्मनाम्नोरविज्ञानादुद्बहेदविशङ्कितः” ॥

तदसम्भवे याज्ञवल्करः,—

“पञ्चमात्-सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा” ।

मातृतो मातृतस्तानि मातामहादिपिण्डेन सपिण्डामपि सप्तमादूर्ध्वं उद्बहे-
दित्यर्थः ।

तत्राप्यसम्भवे वशिष्ठः,—

“पञ्चमीं सप्तमीं चैव मातृतः पितृतस्तथा” । इति ।

एतद्वर्वाङ्निषेधार्थं न पुनस्तत्प्राप्त्यर्थं ॥ इति — विज्ञानेश्वराः ।

कल्पतरौ तु “असमानजातीयकन्याविषयमेतदिति ।” समानवर्ण-
मातामहकुलविषयमेतदिति मदनपालः । विमातृसपिण्डेऽपि निषेधमाह-
सुमन्तुः । पितृपत्न्यः सर्वा मातरस्तद्भातरो मातुलाः तद्दुहितरश्च भगिन्यः-
तदपत्याः भागिन्याः स्युः । ताः संकरकारिण्यस्तत्सकुल्यां नोद्बहेदिति ।
सर्वमिदं सम्भवपरं । अत्यन्तासम्भवे तु सुमन्तुः “त्रौनतीत्य मातृतः पञ्चातीत-

पितृतः ।” पैठीनसिरपि “त्रीन् मातृतः पञ्च पितृत इति वा” अत्र समान-
जातीये पञ्च, असमानजातीये त्रीणिति व्यवस्थितो विकल्पः” इति कल्पतरौ-
यद्यप्युक्तं तथापि अस्मद्देशे वृहैरत्यन्तासम्भवपरमितिप्रव लिखितम् । वृद्धानां तु-
पितृवन्धुमातृवन्धुलक्षणं यथा—आदिपुरुषस्य सगोत्रजत्वेऽपि पितृसन्तानो-
भवति, अन्यगोत्रजत्वे मातृसन्तानो भवति इति । यत्तु “पितृवन्धुः स्वसुः पुत्राः”
इत्यादिकातरायनोक्तिमुदाहृत्य तिथितत्त्वकारैः पितृवन्धादिलक्षणमुक्तं,-
तदशौचे क्रियाकर्तुरधिकारे च अस्मद्देशनिवन्धकारैर्लिखितत्वात् न तल्लक्षण-
माद्रियते, तत्र आत्मवन्धोरपि उपात्तत्वात् ।

काचिदस्मद्देशविरुद्धाऽपि दाक्षिणात्यसंग्रहकारिका, —

“चतुर्थीमुद्वहेत्कन्यां चतुर्थः पञ्चमीमपि ।

पाराशर्य्यमते षष्ठौ पञ्चमो न तु पञ्चमी ॥

पञ्चमः पञ्चमीं कन्यां नोद्वहेदिति यद्वचः ।

पितृपक्षे निषेधोऽयं मातृपक्षे न दूषणम् ॥

कूटस्थगणनायान्तु यस्य पङ्क्तौ वरस्य तु ।

जनको विद्यमानश्चेत् स पक्षः पितृपक्षकः ॥

जननी विद्यमाना चेत् स पक्षो मातृपक्षकः” । इति ।

विवाहवेदित्यनुवृत्तौ याज्ञवल्क्यः,—“असमानार्थगोत्रजां “इति ऋषेरिदं-
आर्षं प्रवर इत्यर्थः । गोत्रं वंशपरंपराप्रसिद्धम् ।

आपस्तम्बः,—

“समानगोत्रप्रवरां कन्यामुद्ध्रोपगम्य च ।

तस्यामुत्पाद्य पिण्डादं ब्राह्मण्यादेव हीयते” ॥

एवं प्रवरैक्येऽपि,—

“परिणीय सगोत्रां च समानप्रवरां तथा ।

त्यागं कृत्वा द्विजस्तस्यास्ततश्चान्द्रायणं चरेत्” ॥

इति पार्थक्येन परिगणनात् त्यागश्चोपभोगस्य, न तस्याः ।

“समानप्रवरां कन्यां गोत्रजामथवापिवा ।
 विवाहयति यो मूढस्तस्य वक्ष्यामि निष्कृतिम् ॥
 उत्सृज्य तां ततो भार्यां माहवत्-परिपालयेत्” ।

इति ज्ञातातपोक्तेः ।

समानप्रवरस्वरूपमाह ।

“एक एव ऋषिर्यावत्प्रवरेष्वनिवर्त्तते ।
 तावत्-समानगोत्रत्वमृते भृग्वङ्गिरोगणात्” ॥

समानगोत्रत्वं समानप्रवरत्वमित्यर्थः ।

भृग्वङ्गिरोगणेषु विशेषमाह संग्रहकारः,—

“पञ्चानां त्रिषु सामान्यादविवाहस्त्रिषु द्वयोः ।
 भृग्वङ्गिरोगणेष्वेवं शेषेष्वेकोऽपि वारयेत्” ॥

तथाच पञ्चार्धेयाणां ऋषित्रयानुवृत्तौ मिथो न विवाहः । चार्षार्धेयाणां-
 ऋषिद्वयानुवृत्तौ न विवाहः । शेषेष्वेकानुवृत्तौ न विवाह इत्यर्थः ।

“जमदग्निर्भरद्वाजो विश्वामित्रोऽत्रिगौतमौ ।
 वशिष्ठः कश्यपोऽगस्त्य एषां येऽप्यनुयायिनः ॥
 येषां तुल्यर्षिभूयस्त्वं नोद्वहन्ति मिथस्तुते ॥

एषामष्टानामेकस्यापि येषु प्रवरेष्वनुवर्त्तनं तेषां मिथो न विवाहः स्मृत एव ।

कश्यपः,—

“अनेकेभ्योऽपि दत्तायामनूढायां च यत्र वै ।
 वरागमश्च सर्वेषां लभेतादिवरस्तु तां ॥
 पश्चाद्वरेण यद्वत्तं तस्याः प्रतिलभेत सः ।
 तथा गच्छेयुरूढायां दत्तं पूर्ववरो हरेत्” ॥

अनेकेभ्यो धनग्रहणपूर्वकं दातुं यत्र बहूनां वराणां आगमनं, तत्रादिवरः-
 तां कन्यां लभेत, अन्ये तु पूर्वदत्तमूल्यं लभेरन्नित्यर्थ—इति ।

विद्याकरवाजपेयिकृतनित्यचारपद्धतौ गदाधरापेक्षया लक्ष्यते यो विशेषः-
प्रकाशते सोऽधः ।

यथा नित्याचारपद्धतौ, विद्याकरः,—

यत्तु,—“पञ्चमीं सप्तमीं चैव मातृतः पितृतस्तथा” ॥ इति ।

यच्च, त्रीनतीत्य मातृतः पञ्चातीत्य पितृत इति,—तदत्यन्तासम्भवपरं ।

कल्पतरो असमानजातीयकन्याविषयमित्युक्तं ।

“मातुलस्य सुतामूढा मातृगोत्रां तथैव च ।

समानप्रवरां चैव गत्वा चान्द्रायणं चरेत्” ॥ इति ।

मातृगोत्रजापि निषिद्धा । तत्र,—

“सगोत्रां मातुरप्येके नेच्छन्तुद्वाहकर्मणि ।

जन्मनाम्नोरविज्ञानादुद्वहेदविशङ्कितः” ॥

तथा पितुरेवमेवं । गोत्रभेदेऽपि प्रवरैक्यं भवतीति पृथक् प्रवरैक्यनिषेधः ।

तत्र,—

“जमदग्निर्भरद्वाजोविश्वामित्रोऽत्रिगौतमौ ।

वशिष्ठः कश्यपोऽगस्त्य एषां येष्वनुवर्त्तनम् ॥

येषां तुल्यर्षिभूयस्त्वं नोद्वहन्ति मिथस्ततः” ।

एषामष्टानामेकस्यापि येषु प्रवरैश्चनुवर्त्तनं साम्यं, येषां प्रवराणां त्र्यार्षेयाणां-
द्वयोः पञ्चार्षेयाणामेक्यं तत्राविवाहः स्युः एव । इति ।

तथाच चतुर्विंशतिसंग्रहेऽस्मिन् विषये, तथाच नारदः,—

“मातृतः पञ्चमादूर्द्ध्वं पितृतः सप्तमात्तथा ।

गृहस्थ उद्वहेत्-कन्यामन्यथा गुरुतल्पगः” ॥ इति ।

यत्तु विष्णुपुराणे,—

“पञ्चमीं मातृपक्षात् पितृपक्षात् सप्तमीम् ।

गृहस्थ-उद्वहेत्-कन्यां न्यायेन विधिना नृपेति” ॥

तत्र सप्तमीं पञ्चमीमतीत्येवमाह्वय्य ।

अन्यथा, —

“पञ्चमात्सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा” ।

इति याज्ञवल्क्यवचनविरोधात् ।

“सप्तमे पञ्चमे चैव येषां वैवाहिका क्रिया ।

क्रियापरा अपि हि ते सर्वेवाशुद्धतां गताः” ॥

इति मरीचिवचनविरोधाच्च,—

यत्तु पैठीनसिनोक्तं,—“पञ्चमीं मातृतः परिहरेत् सप्तमीं पितृतः, त्रीन् मातृतः पञ्च पितृतो वेति” । तत्राद्यः पञ्चस्तावदविरुद्ध एव । त्रीन् मातृत-
इत्यादि द्वितीयपक्षस्तु अर्वाङ्गिषेधपर इति विज्ञानेश्वरः । साधवस्त्वाह-
अनुकलोऽयमिति । युक्तञ्चैतत्, चतुर्विंशतिमतस्वरसात् ।

तथा मूलं,—

“समावर्त्यं सवर्णां तु लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत् ।

कुले महति सम्भूतां लक्षणैश्च समन्विताम् ॥

ब्राह्मेण तु विवाहेन शीलरूपसमन्विताम् ।

पञ्चमीं सप्तमीं चैव मातृतः पितृतस्तथा ॥

दशभिः पुरुषैः ख्यातं श्रोत्रियाणां महाकुलात् ।

उद्वहेत्सप्तमादूर्ध्वं तदभावे तु सप्तमीं ॥

पञ्चमीं तदभावे तु पितृपक्षेऽप्ययम्विधिः ।

सप्तमीं च तथा षष्ठीं पञ्चमीं च तथैव च ॥

एवमुदाहयेत्-कन्यां न दोषः शाकटायनः ।

तृतीयाम्बा चतुर्थीम्बा पक्षयोरुभयोरपि ॥

विवाहयेन्मनुः प्राह पाराशर्य्योऽङ्गिरा यमः ।

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ॥

सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ।
यस्तु देशानुरूपेण कुलमार्गेण चोदहेत् ॥
नित्यं संव्यवहार्यः स्याद्वेदाच्चेतत्-प्रदृश्यते” ॥

इति स्मृतिचन्द्रिकायां प्रयोगपारिजाते च ।

षट्त्रिंशन्मते,—

“तृतीयां मातृतः कन्यां तृतीयां पितृतस्तथा ।

विवाहयेन्मनुः प्राह पाराशर्य्योऽङ्गिरा यमः” ॥ इति ।

अत्र हि तदभावेत्युक्ता अनुकल्पत्वं स्फुटीकृतम् । असपिण्डा चेति श्लोके-
पितुरसगोत्रा चेति चकारेणाऽसपिण्डेऽत्यनुक्त्यते । सा प्रशस्तेत्यनेन च पूर्वो-
क्तानामनुकल्पत्वमेव स्फुटीक्रियते । यस्त्वित्यादिश्लोकेन तु तृतीयादिविवाहो-
देशाचारकुलाचाराभ्यां व्यवस्थित इति प्रतिपाद्यते । वेदाच्चेतदिति वाक्यशेष-
स्यायमर्थः । उक्तव्यवस्था तृतीयादीनां परिणेतया च वेदे प्रसिद्धेति । तथाच,-
व्यवस्थापरा श्रुतिः,—“तेन स्नाध्वन्ते वत तरु नो अधिवोचत, मानः पथः-
पित्रग्राहानवादधिरूरे नेष्ट पारावत ! ।” इति पित्रग्रात् पितुरागता पथो दूरं-
नोऽस्मान् मा नैष्ट मा नयेति वेदान् प्रति प्रार्थना । वेदाच्चेति चकारेण-
स्मृतिस्थां व्यवस्थां समुच्चिनोति ।

तथाच मनुः,—

“द्वेनास्य पितरोयाता” इत्यादि ।

शातापोऽपि,—

“मातृष्वसृ-मुतां केचित्पितृष्वसृ-मुतां तथा ।

विवहन्ति क्वचिद्देशे सङ्कोच्यापि सपिण्डताम्” ॥ इति ।

बृहस्पतिश्च,—

“उदृह्यते दाक्षिात्यैर्मातुलस्य मुता द्विजैः ।

मत्स्यग्रादाश्च नराः पूर्वे व्यभिचारताः स्त्रियः ॥

उत्तरे मद्यपाश्चैव स्मृश्या नृणां रजस्वलाः ।

सजाताश्चापि गृह्णन्ति भ्रातृभार्यां सभर्तृकाम् ॥

सर्वदेशेष्वनाचारो रथ्याताम्बूलचर्वणम्” । इति ।

तस्मात्कलौ पितृतः सप्तमात् मातृतः पञ्चमाच्चोर्ध्वं विवाहः प्रशस्त इति-
सिद्धम् । इति ।

विषयेऽस्मिन् कमलाकरभट्टविवेचनं यथा निर्णयसिन्धौ—

यथा मनुः,—

“असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।

सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने” ॥

दत्तिसमातुर्गृहीता असपिण्डा सगोत्रा तत्कुलनिवृत्तये चकारान्मातुर-
सगोत्रा । दत्तस्य पितुर्जनककुले पितुरसगोत्रापि सपिण्डत्वान्निषिद्धेत्वन्य-
श्चकारः । असपिण्डां सापिण्ड्यरहिताम् । तच्चैकशरीरावयवान्वयेन-
भवति । एकस्य पितुर्मातुर्वा शरीरस्यावयवाः पुत्रपौत्रादिषु साक्षात्परम्परया-
वा शुक्रशोणितादिरूपेणानुस्यूताः । यद्यपि पत्न्याः पत्न्या सह भ्रातृपत्नीनां च-
परस्परं नैतत्सम्भवति । तथापि आधारत्वेनैकशरीरावयवान्वयोऽस्त्वैव ।
“अस्थिभिरस्थीनि” इति मन्त्रलिङ्गात् एकस्य हि पितृशरीरस्यावयवाः-
पुत्रद्वारा तास्वाहिता इति मदनरत्नपारिजातविज्ञानेश्वरादयः । वाचसति-
शुद्धिविवेकशूलपाण्यादिगौड़मैथिल्यादयोऽप्येवं । श्रुतावपि,—“एतत् षट्कौशिकं-
त्रीणि पितृतस्त्रीणि मातृतोऽस्थिसन्नायुमज्जानः पितृतस्त्वङ्मांसरुधिराणि-
मातृत इति । “प्रजामनुप्रजायसे” च । चन्द्रिकापरार्कमेधातिथिमाधवादयस्तु-
एकपिण्डदानक्रियान्वयित्वं सापिण्ड्यं ।—

“लेपभाजश्चतुर्याद्याः पित्राद्याः पिण्डभागिनः ।

पिण्डदः सप्तमस्तेषां सापिण्ड्यं सामपौरुषम्” ॥—इति—

माव्योक्तेः । न च पितृव्यादिष्वेतन्नास्तीति वाच्यम् ।

तत्कर्तृकयाहे देवतैक्येन तत्सत्त्वात् । देवदत्तकर्तृकयाहे सहाधिकारित्वेन तदन्वयात् ।

“एकत्वं सा गता भर्तुः पिण्डे गोत्रे च सूतके” । इति स्मृतेश्च ।

श्रुतीनाञ्च वैराग्यार्थत्वात्तस्य सापिण्डनिमित्तत्वे मानाभावात् । न च मातुलादिष्वेतन्नास्तीति वाच्यम् । मातामह रूपदेवतैक्यात् । ननु गुरुशिष्यादेरपि आह देवतात्वात्सापिण्डत्वं स्यात् । किं बहुना, “सर्वाभावे तु नृपतिः कारयेत्तस्य रिक्क्यतः” । इति मार्कण्डेयपुराणाद्राज्ञोऽपि आह कर्तृत्वात्सापिण्डप्रसङ्गः, सत्यं,

“पञ्चमात्मसप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा” । इति—

याज्ञवल्क्यवचनेन मातृपितृसम्बन्ध एव तत्सत्त्वात् । ऊर्ध्वं सापिण्डनिवृत्तत इति शेषः । ननु पञ्चमत्वाद्यत्र नियम्यते, न मातृत इत्यादिवाक्यभेदात् । मातृकुले पञ्चमत्वस्य पितृकुले सप्तमत्वस्य च बोधने तुल्यत्वात् । पौरुषेयत्वाददोष इति चेत् तुल्यमन्यत्रापि । अन्यकर्तृके राज्ञस्तत्पितृणां वा देवतात्वाभावाच्च ।

किञ्च अवयवान्वयपक्षे यथा योगरूढ्या परिहारस्तथेहापि । तेनैकस्य पित्रादायः षट् सपिण्डा भवन्ति । अत्र केचिदुभयतः सापिण्डनिवृत्तावेवोदाहो नान्यथेत्याहुः, शुद्धिचिन्तामणि-वाचस्पतिहरदत्तादयस्तु सगोत्रत्ववत्सापिण्डस्य सप्रतियोगिकत्वेन संयोगवदुभयनिरूप्यत्वात् । एकतो निवृत्तावन्यतो निवृत्तावावश्यकत्वाच्चूलपुरुषमारभ्याष्टमो वरो मूलपुरुषमारभ्य द्वितीया-तृतीयादिकां कन्यामुद्बहेदित्याहुः । शिष्टास्तु न वधूवरयोः स्वतः सापिण्ड्यम् । किन्तु कूटस्थसन्ततितात्सापिण्डेनैव, अतोऽष्टमवरं प्रति कन्याया असापिण्डेऽपि कन्यायाः कूटस्थेन सापिण्ड्यास्तत्सन्ततिस्थत्वाद्दरस्तां प्रति सपिण्ड एवेत्य-विवाहः । सापिण्ड्यासापिण्डयोः प्रतियोगिभेदेनाविरोधादित्याहुः, इदमेव च युक्तम् । अशौचेऽप्येवं सापिण्डं ज्ञेयम् । यत्र तु मध्ये विच्छिन्नमपि सापिण्डं मण्डूकमुत्तिष्ठत्युनरनुवर्तते । यथा कूटस्थात्पञ्चम्योः कन्ययोः पुत्रौ तत्र निवृत्तिः । तदपत्ययोस्वनुवृत्तिस्तत्रापि न सापिण्ड्यासापिण्डयो-

दोषः सम्बन्धिभेदात् । तेन तत्र न विवाहः । अत्र कूटस्थमारभ्य-
गणना कार्या ।

तदुक्तम्,—

“वध्वा वरस्य वा तातः कूटस्थाद्यदि सप्तमः ।

पञ्चमी चेत्तयोर्माता तत्मापिण्डं निवर्त्तते” ॥ इति ।

कूटस्थो मूलपुरुषः ।

विश्वरूपनिबन्धे,—

“एवमुक्तप्रकारेण पितृवन्धुषु सप्तमात् ।

ऊर्ध्वमेव विवाह्यत्वं पञ्चमान्मातृवन्धुतः ॥

सन्तानो भिद्यते यस्मात्-पूर्वजादुभयत्र च ।

तमादाय गणेद्वीमान् वरं यावच्च कन्यकाम्” ॥

स्मृतितत्त्वे नारदः,—

“आसप्तमात्पञ्चमाच्च बन्धुभ्यः पितृमातृतः ।

अविवाह्या सगोत्रा च समानप्रवरा तथा” ॥

अत्र बन्धुभ्यः—इति पञ्चमीनिर्देशात्पितुः पितृष्वसृपुत्रात् सप्तमीं, मातुः
पितृष्वसृपुत्राच्च पञ्चमीमपि त्यजेत्, एवमनयवन्धुषु ज्ञेयं । तत्रापि त्रिगोत्राख्ये-
ऽर्वागपि विवाहं कुर्यात् । वक्ष्यमाणवचनात् । त्रिगोत्रगणना च मातामहगोत्रा-
पेक्षया न तु स्वापेक्षया अन्यथा पितुः पितामहदुहितुः दौहित्रीपुत्री परिणेश-
स्यात् । वध्वाः मातामहापेक्षया तु गोत्रान्तर्गतं विवाहप्रसङ्ग—इति ।
सम्बन्धतत्त्वादयो गौडग्रन्थाः । सम्बन्धविवेके शूलपाणिरप्याह ।

पञ्चमात्सप्तमाच्चार्वागपि त्रिगोत्रान्तरिता विवाह्या ।

“असम्बन्धा भवेन्मातुः पिण्डेनैवोदकेन वा ।

सा विवाह्या द्विजातीनां त्रिगोत्रान्तरिता च या” ॥ इति ।

बृहन्मन्त्रोक्तैः ।

“सन्निकर्षेऽपि कर्त्तव्यं त्रिगोत्रात्परतो यदि”,

इति देवलोक्तेऽप्येति ।

एतच्च दाक्षिणात्या न मन्यन्ते ।

यत्तु वशिष्ठः,—

“पञ्चमीं सप्तमीं चैव मातृतः पितृतस्तथा” ।

इति च विष्णुपुराणं ।

“पञ्चमीं मातृपक्षाच्च पितृपक्षाच्च सप्तमीम् ।

गृहस्थ उद्वहेत्-कन्यां न्यायेन विधिना नृप !” ॥ इति ।

तत्पञ्चमीं सप्तमीमतीत्येति व्याख्येयं ।

“पञ्चमे सप्तमे चैव येषां वैवाहिकौ क्रिया ॥

क्रियापरा अपि हि ते पतिताः शूद्रतां गताः” ।

इत्यपराकं—भरीचिवचनात् ।

हारलतायां शङ्खलिखितौ,—

“सपिण्डता तु सर्वेषां गोवतः साम्नपौरुषौ ।

पिण्डश्चोदकदानञ्च अशौचं च तदानुगम्” ॥

गोत्रं सन्तानं अशौचं तानभिव्याप्य गच्छतीत्यर्थः ।

शुद्धिविवेके शुद्धिचिन्तामणौ च ब्राह्मे,—

“सर्वेषामेव वर्णानां विज्ञेया साम्नपौरुषौ ।

सपिण्डता ततः पश्चात्-समानोदकधर्मता ॥

ततः कालवशात्तत्र विस्मृतौ नामगोवतः

“समानोदकसंज्ञा तु तावन्मात्राणि नश्यति ।

अविभक्तधनास्त्वेते सपिण्डाः परिकीर्त्तिताः” ॥

तेन विवाहे अशौचे धनग्रहणे च तिधा सापिण्ड्यं सिद्धम् ।

यत्तु “पञ्चमीं मातृतः परिहरत् सप्तमीं पितृतस्त्रीमातृतः पञ्च पितृतो वा” ।

इति पैठीनसिस्मृतौ त्रीनित्यनुकल्पः । इति माधवोक्तेः ।

“पञ्चमीं सप्तमीं चैव मातृतः पितृतस्तथा ।

दशभिः पुरुषैः ख्याताच्छोक्षियाणां महाकुलात् ॥

उद्वहेत्-सप्तमादूर्ध्वं तदभावे तु सप्तमीं ।

पञ्चमीं तदभावेऽपि पितृपक्षेऽप्ययं विधिः ॥

सप्तमीं च तथा षष्ठीं पञ्चमीं च तथैव च ।

एवमुद्वाहयेत्-कन्यां न दोषः शाकटायनः ॥

तृतीयां वा चतुर्थीं वाप्यनयोरुभयोरपि ।

विवाहयेन्मनुः प्राहः पराशर्योऽङ्गिरा यमः ॥

यस्तु देशानुसारेण कुलमार्गेण चोद्वहेत् ।

नित्यं स व्यवहार्यः स्याद्वेदाच्चैतत्-प्रदृश्यते” ॥

इति चतुर्विंशतिमतात् ।

“चतुर्थीमुद्वहेत्-कन्यां चतुर्थः पञ्चमोऽपि वा” ।

इति पराशरोक्तेश्चानुकल्पत्वेनापदि पञ्चम्यादिपरिणयनं कार्यमिति प्रतीयते । अत्र हि तदभावे इति स्पष्टमेवानुकल्पत्वमुक्तम् । तत्र यथा श्रुतं ज्ञेयम् । पूर्वोक्तमरीचिवचनविरोधात् । वस्तुनि विकल्पासम्भवात् ।

“पञ्चमात् सप्तमाङ्गीमान् यः कन्यामुद्वहेद्-द्विजः ।

गुरुतल्पी स विज्ञेयः सगोचाच्चैवमुद्वहन्” ॥

इति विष्णोक्तेः । पराशरस्य मूलाभावाच्च । तस्मान्मदनपारिजाताद्युक्त-दिशा दत्तकसापन्नसम्बन्धाद्यनुप्रवेशे ब्राह्मणादीनां क्षत्रियादिसपिण्डविषये वा-पूर्वोक्तानि नेयानि न त्वनुकल्प इति भ्रमितव्यम् ।

बृहस्पतिरपि,—

“उदूह्यते दाक्षिणात्यैर्मातुलस्य मुता द्विजैः ।

मत्स्यादाश्च नराः पूर्वं व्यभिचाररताः स्त्रियः ।

उत्तरे मद्यपाश्चैव स्पृश्या नृणां रजस्वलाः” ॥

इत्यनाचारत्वमाह । अतएव हेमाद्रौ मात्स्ये,—

कर्णाटिकादीनां तत्कारिणां आह्वे निषेधः ।

वोपदेवेनापि लिखितं ब्राह्मं,—

“यत्र मातुलजोद्वाही यत्र वै वृषलीपतिः ।

श्राद्धं न गच्छेत्तद्विप्राः कृतं यच्च निरामिषम्” ।

इति तस्मान्मातुलः पञ्च पिढतः सप्त त्यक्तोदहेदिति सिद्धम् । इति,—

विज्ञायते विषयेऽस्मिन्नयमेवाभिप्रायो निवन्धकर्तृणां निरुक्तविचारतो यत्,—

विवाहनिषेधे सगोत्रायाः समानप्रवरायाश्चैतिषां न लक्ष्यते पार्थक्यम्-

केवलं परिदृश्यते वक्ष्यमाणविधया मतभेदश्चैषाम् । कन्यायाः सपिण्डत्व-

विवेचने यथा भारतीयदाक्षिणात्यप्रदेशे । “त्रीनतीत्य मातुल इत्यादि-

वचनजातस्य कतिपयस्याभिधेयार्थानुसारेण मातुलकन्योपयमव्यवहारस्य-

प्रदीयते परिचयस्तत्प्रदेशीयसंग्रहकारैः । किन्तु भारतीयप्राच्यादिप्रदेश-

त्रयाभ्यन्तरे सकलानामेतिषां वाक्यानां परिहृत्य परस्परविरोधं “त्रीनतीत्य-

मातुलः” इत्यादिकियत्परिमितवाक्यमनुलोमजातिविषयकमिति स्थिरीकृतं-

तत्तत्प्रदेशीयनिवन्धकर्तृभिः कैश्चित् । तयोऽनुलोमजैस्त्याज्या इति प्रमाणा-

श्रयणात् । अन्ये तु वचनव्रातस्यैतस्य प्रददत्यवकाशमत्यन्तासम्भवविषये,-

तादृशासम्भवस्य सत्यपि सर्वत्रासत्त्वे सम्भवपरत्वात् कुत्र कुत्रापि । तथाप्ये-

तन्मतद्वयान्तराले कैश्चिदनुलोमजातिमन्तरा द्विजातित्रये मातुलपक्षतः पञ्च-

पुरुषात्मकं तथा पिढपक्षतः सप्तपुरुषावधिकं सापिण्डम् । तथान्यैस्तु-

ब्राह्मणादिसकलजातिषु केवलमत्यन्तासम्भवपक्षमपहायोभयत्र पूर्ववत्सापिण्डं-

निर्णीयोपयमार्हत्वं कन्याया राहान्तितम् ।

अपरे च प्रामाणिकानां सर्वेषामार्षवाक्यानामेकवाक्यतास्थापनार्थं माह-
पक्षतः तन्मातामहाद्वारस्य गणनयैषां प्रतिपाद्यन्त्येकवाक्यतामेषाम् । सुखा-
र्यासम्भव-लक्षणाख्यवृत्तेः सर्वत्राश्रयणीयत्वात् कथमेकवाक्यतेत्याशङ्क्यां
स्वयं ; स्वमाता त्रीनतीत्येत्यादिवाक्यस्थितिशब्देन तन्मातामहादिपुरुषत्रय-
ग्रहणमेवं पञ्चपुरुषसंख्यकं सापिण्डं माहपक्षे, तथा स्वं, स्वपिता पञ्चातीत्य-
पिहितः इत्यादिवाक्यस्थपञ्चशब्दद्वारेण तत्पितामहादिपुरुषपञ्चकादानमेवं-
सप्तपुरुषावधिकं सापिण्डं च तैः सिद्धान्तितं पिहितपक्षे । तत्परं विवाह-
योग्यत्वञ्च कन्यायाः । किन्त्वत्र पराश्वस्यतेऽस्माभिरेतत् । यथा विभिन्न-
प्रादेशिकाचारव्यवहारजालमवलोक्यैव महर्षयो भिन्नभिन्नाचारव्यवहारमूल-
कानि उल्लिखितुः प्रमाणानि पार्थक्येनादितः । विभिन्नप्रादेशिकाचार-
व्यवहारावेदकानां भिन्नभिन्नप्रमाणानामेकार्थतामनुष्ठातुमेतादृक्क्षिप्रकथ-
नानुसरणं नो युक्तिसहमित्यवबुध्यतेऽस्माभिः । यद्यपि सर्वेषां प्रमाणा-
नामेतेषां सकलप्रदेशीयहिन्दुभाषस्य भवेन्महर्षिर्लोकतत्त्वान्वाननीयत्वं तथापि-
“त्रीनतीत्यमाहृतः” इत्यादिवचनस्य कतिपयस्यैकवाक्यतास्थापने विशेष-
ल्लेशमन्तराऽस्य वचनत्रातस्यात्यन्तासम्भवविषयत्वमवलम्बितव्यम् । क्वचित्-
क्वचित् सुलभत्वादत्यन्तासम्भवस्य न त्वनुलोमजातिविषयकत्वम् । तद्वि-
षये प्रमाणान्तरस्य विद्यमानत्वात् । सत्येव सिद्धान्ते न संघटेत-
कोऽप्यपराधः ।

अपिच—मातुलकन्योपयमनमतीव समीचीनं दाक्षिणात्यशिष्टव्यवहृत-
त्वादिति नोच्यतेऽस्माभिः । किन्तु भारतीयसकलनिबन्धकारैर्ननुमोदिततया-
माहपक्षतः पञ्चपुरुषात्मिकया तथा पिहितपक्षतः सप्तपुरुषावधिकया-
सापिण्ड्यव्यवस्थया तदधिकदशपुरुषं सत्योन्नितया भवेदुत्तमफलोपधायकः-
सापिण्ड्यनिर्णयः । न भवेत् कापि विप्रतिपत्तिः केषामप्यत्र-
सन्देहाभावात् ।

कैश्चिदपि धर्मशास्त्रकारैस्तथा प्रतिपादितत्वादस्येत्यस्माकं मतम् । तथा-
विज्ञानमूलकं सगोत्रादिविवाहनिषेधनमेवेति शारीरिकबिज्ञानबोधकचरक-
सुश्रुतादिवैद्यकग्रन्थैरुद्धोष्यते सततमुच्चैःस्वरेण ।

यथा, चरकसंहिताया द्वितीयाध्याये शरीरस्थानीयप्रमाणानि ।

अथातोऽतुल्यगोत्रीयं शरीरं व्याख्यास्यामः । इत्याह भगवानात्रेयः ।

“अतुल्यगोत्रस्य रजःक्षयान्ते रहो विसृष्टं मिथुनीकृतस्य ।

किं स्याच्चतुष्पात्प्रभवञ्च षड्भ्यो-यत्-स्त्रीषु गर्भत्वमुपैति पुंसः ॥

शुद्धं तदस्य प्रवदन्ति धीरा यद्धीयते गर्भसमुद्भवाय ।

वायुग्निभूस्यवगुणपादवत्तत्-षड्भ्यो रसेभ्यः प्रभवञ्च तस्य” ॥

यथाह चक्रपाणिदत्तनामैतस्य टीकाकारः । “पूर्वाध्याये शरीरस्थादि-
सर्ग” आध्यात्मिकनैष्ठिकमोक्षरूपचिकित्सायुक्त उक्तः । संप्रति गर्भादिसर्ग-
मभिधातुमतुल्यगोत्रीयोऽभिधीयते । अतुल्यगोत्रस्येति स्त्रिय-अतुल्यगोत्रस्य-
पुंसः तुल्यगोत्रीयके हि मैथुने दोषो भवति । विज्ञानशास्त्रेषु निषिद्धत्वात् ।
रजःक्षयान्ते इति रजःप्रवृत्त्यन्ते अन्ते-इति पदेन रजःप्रवृत्तित्वं निषेधयति ।
रहो विसृष्टमिति विजने विसृष्टम् । शुक्रविसृष्टिश्च विजने एव प्रतिबन्धक-
लज्जाभावात् सम्यग्भवतीति । रह इत्यनेन दर्शयति । विपरीतसुरता-
दींश्च निषेधयति । चतुष्पात् षट्प्रभवत्वे उत्तरग्रन्थे व्यक्तेः ; अयञ्च शिष्यप्रश्नतया-
निवेशितो ग्रन्थः । अज्ञशिष्यार्थाचार्यसम्प्रतिमात्रार्थी ज्ञेयः । तेन यः-
शिष्यश्चतुष्पादां विशेषं जानाति, स कथं शुक्रं शब्दाभिधेयं वेत्तीति न वाच्यम् ।
प्रश्नस्योत्तरं शुक्रमित्यादि, धीयत आरोप्यत इत्यर्थः । वाय्वादिपादवति-
वक्तव्ये यदगुणपदमधिकं करोति, तेन प्रशस्तगुणवतामेव वायादीनां विशुद्ध-
शुक्रारम्भकत्वमिति दर्शयति । वाय्वादिशुक्रारम्भकेषु पादव्यपदेशेन सर्वेषां-
तुल्यशुक्रारम्भकत्वं दर्शयति । आकाशन्तु यद्यपि शुक्रे पाञ्चभौतिकेऽस्ति-
तथापि न पुरुषशरीरान्निर्गत्य गर्भाशयं गच्छति । किन्तु भूतचतुष्टयमेव-
क्रियावत् याति, आकाशन्तु व्यापकमेव । तत्रागतेन शुक्रेण सम्बन्धं भवति ;
तेन आकाशस्य गमनाभावादिह गर्भाशयगमनाभिधानप्रस्तावे शुक्रगतत्वे-
नाभिधानं । अन्यत्रापि च भूतानां गमनप्रस्तावे आकाशं परित्यक्तमेव-
यथा ; “भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात्” । इति शुक्रं-
च पङ्गसाहारोत्पन्नमेव विशुद्धं भवतीति क्लृप्तं । षड्भ्यो रसेभ्य इत्यादि ।

यत्तु “मधुरस्य शुक्रजनकत्वमन्नादीनां च शुक्रविघातकत्वमुच्यते तदत्य-
र्थोपयोगादिति ज्ञेयम्” । नाभवेच्चैद्विज्ञानसम्भूतं सगोत्रादिविवेचनं तत्कथम-
गृह्णाच्छारीरिकविज्ञानशास्त्रमेतद्विषयं अतो नूनमेतद्विज्ञानमूलकमिति-
राहान्तः । गतमेतच्छारीरिकतद्विज्ञानशास्त्रीयप्रमाणविषयकविवरणम् ।
सम्प्रति लोके दृष्टफलकेन क्षपिबिज्ञानेन कथमेवोपलक्षणविधया समर्थितव्य-
मेतत् । तद्वृत्ततां तावत् । कस्मिन्नपि केदारे विनापि गोमयादिसारं निक्षिप्य-
ते वीजजालं चेत् प्रतिवर्षं, तदा तत्क्षेत्रस्य फलोत्पादिका शक्तिः परिचीयते-
क्रमशो दैनन्दिनम् । तत्केदारस्य सारादिमन्तरा सन्ततवीजवपनेन निः-
सारत्वात् । अतस्तत्केदारस्य सारवत्तासहकारेण वर्धयितुं तच्छक्तिं सवल-
भूयन्तरान्मूर्त्तिकां तथा गोमयादिसारं च संयोजयन्त्यत्र क्षपीवलाः । रीत्या-
नया सारहीनस्य केदारस्य प्रचुरफलोपधायिका शक्तिश्चक्षुर्गोचरा भवति सर्वथा-
सर्वत्र । तथा विनाशोन्मुखस्य चूतादितरुजातस्यातीवोत्कृष्टफलोत्पादकस्य-
बहुसम्बलस्य रावस्थायित्वाशया क्रियेत चेत्संयोजनं तत्तद्वृत्तान्तरीयसवलशाखाया-
तदा तदवलम्बनेन तत्तन्निःसारस्त्वन्धजातं वर्धितं सवलञ्चसत् पूर्वानुरूपं समुत्-
पादयति प्रचुरफलमनिशं प्रत्यक्षसिद्धम् । तथैव साकं निःसाररक्तेन ससार-
वीर्यस्य वलशून्यवीर्येण समं सवलशोणितस्य च सति संयोगे तद्रक्तमिश्रित-
वीर्यं तद्वीर्यसम्मीलितशोणितं च सवलं सुशीलं दंशवर्धकं सुबुद्धिमदपल-
जनयतीति वैज्ञानिकप्रसिद्धिः ।

तथा चैतत्समर्थयति चरकसंहितायां भगवानात्रेयः,—शारीरस्थानीय-
षष्ठाध्याये “बलवृद्धिकरास्त्वमे भावा भवन्ति” तद्व्यथा बलवत्पुरुषदेशे-
जन्म बलवत्पुरुषे काले च, सुखश्च कालयोगो वीजक्षेत्रगुणसंपञ्चाहारसंपञ्च-
शरीरसंपञ्च मात्स्यसम्पञ्च सत्त्वसम्पञ्च, स्वभावसंसिद्धिश्च यौवनञ्च कर्म हर्षश्चेति ।

तथा तट्टीकाकारः । “वृद्धिप्रस्तावाच्च बलवृद्धिकरान् भावान्नाह ।

वलेत्यादि—देशमहिम्ना बलवन्तः पुरुषा यस्मिन् हेमन्ते शिशिरे वा-
काले जायमानस्य वलं जनयति सुखश्च कालयोग इति साधारणकालयोग-
वीजस्य शुक्रस्य तथा क्षेत्रार्त्तवर्गभर्तृशयरूपस्य गुणानां प्रशस्तधर्माणां सम्पत्-
वीजक्षेत्रगुणसम्पत्, अत्र वीजक्षेत्रयोर्निदोषतापि सम्पत् स्यात् । तेन निदी-

पातिरिक्तस्य सारत्वादिवीजक्षेत्रगुणप्राप्त्यर्थम् गुणग्रहणं ज्ञेयं”, वचनं हि-
“शरीरं ह्यपि सत्त्वमनुविधीयते” ।

स्वभावसंसिद्धिर्वलजनककर्मसंसिद्धिः । कर्म व्यायामादिकर्मैत्यर्थः । व्याया-
मादिकर्माभ्यासान्निजं बलं भवति ।

अतएव सगोत्रायाः सपिण्डायाः सप्रवरायाश्च कन्याया निषेधितो यो-
विवाहो धर्मशास्त्रकारैः, सोऽतीव सुसङ्गतः ।

नात्र सन्देहो विरोधादर्शनात् । न च भारतेऽस्मिन्नाविर्भूतस्य भगवतः-
श्रीकृष्णदेवस्य तथा तदंशीयस्यार्जुनादेश्च मातुलादिकन्योपयमानुष्ठानस्य-
निरुक्तापत्यजनकत्वपरिदर्शनात् कथमेतदाचरणं दोषाधायकमिति प्रतिपादितं-
धर्मशास्त्रकारैरिति वाच्यम् । तेजोयस्त्वात्तेषामैश्वरिकशक्तिशालित्वाच्च कक्षी-
कुर्वन्ति धर्मशास्त्राणि । विवेचनमेतदयथा वीरमित्रोदये ।

तथाच गौतमः—

“दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः” “साहसं महतामिति” । न च तैः कृतं इत्यस्मदा-
दिभिरपि कर्त्तव्यम् । तत्रापि हेतुमाह स एव । अवरदौर्वल्यादिति अवरेषा-
मस्मदादीनां दुर्बलत्वात् ।

तथाच श्रूयते,—

“तेषां तेजोविशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते ।

तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानः सौदत्यवरको जनः” ॥ इति ।

“अनुष्ठितं तु यद्वैर्मुनिभिर्यदनुष्ठितं ।

नानुष्ठेयं मनुष्यैस्तदुक्तं कर्म समाचरेत्” ॥ इति ।

भागवतेऽपि,—

“तेजोयसां न दोषाय वक्त्रेः सर्वभुजो यथा” ।

इत्यलं बाहुल्येन । इति सगोत्रादिनिर्णयः ।

अथेदानीमावश्यकत्वं विविच्यते स्त्रीशिक्षायाः । असगोत्राद्यसपिण्डान्त-

विशेषणत्रयस्य कन्यायाः समाप्ते सतःपि विवेचने संप्रत्युत्कृष्टायाभिरूपाय-
वराय सदृशाय, चेति ।

तथा,—

“चीणि वर्षाण्युद्दौक्षेत् कुमार्यृतुमती सती ।

ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत् सदृशं पतिम्” ॥

इति मानवीयवचनद्वये “सदृशाय सदृशं इति वरीयविशेषणद्वितयस्याव-
लोकनेन तथा “गृहस्थसदृशीं भार्यां विन्देतानन्यपूर्विकाम्” ।

इति गौतमीयवचनस्थसदृशीमिति कन्याविशेषणपदस्य परिदर्शनेन च-
कस्यापि सादृश्यविशेषस्य पृथगुल्लेखादर्शनात् सूचितमुभयोः परस्परसादृश्यं-
सर्वांशतः । तथा सति वेदानधोल्यादिमानवीयवचनबलात् सतःपि वरस्य-
सिद्धे शास्त्राध्ययने सुतरां कन्याया विद्याध्येतृत्वं सुसिद्धमेव तत्सादृश्येन ।
तन्तु शास्त्रसम्मतमेव ।

प्रमाणं यथा महानिर्वाणतन्त्रे,—

“कन्याप्रेषवं पालनीया शिक्षणीया प्रयत्नतः ।

देया वराय विदुषे धनधान्यसमन्विता” ॥ इति ।

तथा प्रमाणानि यथा हेमाद्रावपि,—

“कुमारौ शिक्षयेद्विद्यां धर्मनीतौ निवेशयेत् ।

ययोः कल्याणदा प्रोक्ता या विद्यामधिगच्छति ॥

ततो वराय विदुषे देया कन्या मनीषिभिः ।

एष सनातनः पन्था ऋषिभिः परिगीयते ॥

अज्ञातपतिमर्थ्यादामज्ञातपतिसेवनाम् ।

नोद्वाहयेत्-पिता कन्यामज्ञातधर्मशासनाम्” ॥ इत्यादि—

प्रमाणव्रातपर्यवेक्षणात् स्त्रीणां विद्याध्ययनं पूर्वतः प्रचलितं भारते
निर्विवादम् । न च शास्त्रतः शिक्षिताङ्गनानां नामपरिदर्शनाभावात्-

कन्याप्येवं शिक्षणीयेत्यादिमहर्षिवचनजालस्य केवलमाज्ञापादकत्वमिति-
वाच्यम् । गार्ग्यात्रेयीविश्ववाराप्रभृतीनामधीतवेदान्तादिशास्त्राणां नारीणां-
शास्त्रेषु नामपरिदर्शनात् तथा ऋग्वेदसंहितायां विश्ववारादिसङ्कलितमन्त्र-
जातस्य चतुर्विषयत्वाच्च ।

ननु विद्याशिक्षामन्तरा समाजसंगठनवैषयिकाध्यात्मिकज्ञानोपार्जनचरित-
संशोधनपरिवारपोषणादिकार्याणामसम्भवात्तत्तदनुष्ठानस्य पुरुषाधीनतया-
पुरुषकर्तृकविद्याध्ययनस्यावश्यकत्वात् कथं स्त्रीणामापादितं विद्याध्ययनं-
पूज्यपादैर्महर्षिभिः साग्रहं निष्प्रयोजनत्वादिति चेन्न, साक्षाद्वा परम्परया-
तत्तदनुष्ठानस्योभयायत्तत्वेन शिक्षाकरणस्य स्त्रियोऽप्यावश्यकत्वात् । तयोः-
शिक्षितत्वे सद्भावस्थानस्य सुखोत्पादकत्वात् ।

तथाच,—

“सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्ता भार्या तथैव च ।

यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्” ॥

इति मानवीयवचनस्य जागरूकत्वाच्च । सम्प्रति निरुक्तोऽपि विषयोऽयं-
निगूढभावतया विव्रियतेऽधः साधारणावबोधाय ।

यथा समाजगठनस्य स्त्रीपुरुषोभयमूलकत्वेन समाजोन्नत्यवनत्योः सुतरां-
स्त्रीपुरुषोन्नत्यवनतिसापेक्षत्वं सुसङ्गतमेव । समाजगठनं चात्रादितः परिवारस्य-
तथानन्तरं क्रमशः स्वजातीयमानवादिलोकसमाजस्य च सुसंघटनबोधक-
मित्यवगन्तव्यम् ।

जातिद्वयस्यास्य विधातृकर्तृकसंस्पृष्टत्वं विभिन्नभावप्राधान्येन । न ताव-
देकस्यान्यापेक्षयाऽल्पप्रयोजनकत्वम् । एकस्याभाविनापरस्यावयवहीनतया-
ऽसंपूर्णत्वमेव । समाजस्यातः साधयितुमुन्नतिं सर्वाङ्गीनोऽस्ति चेदभिज्ञा-
स्तदोभयजातीयशिक्षाविधानं वर्धयितुं भवन्तु बद्धपरिकराः सर्वे । पुरा-
कालीनोन्नतजातेस्तथाधुनातनसभ्यजातेश्च सत्यां गतौ पर्यालोचितायां ज्ञायते-
स्फुटत एतदेव । यथा,—

यद्युज्जातप्रन्तराले स्त्रीजातेर्यादृगेधते सम्मानार्हत्वमधिकारित्वञ्च ।

तत्सज्जातेर्भवेत्साष्टशोन्नतेरुच्चसोपानाधिरोहणशालित्वम् । समर्थितमेतत्परम्
महर्षिणा मनुना ।

यथा,—

“पितृभिर्भातृभिश्चैताः पतिभिर्देवैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमौष्मिभिः ॥
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता बर्हते तद्धि सर्वदा ॥
तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च” ॥ इति ।

तथा,—

“स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम् ।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते” ॥ इत्यादि—

प्रमाणसन्दोहैर्विज्ञापितं स्त्रियाः सम्मानार्हत्वम् ।

तथा,—

“चक्रिणो दशमौस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः ।
स्नातकस्य च राज्ञश्च पत्न्या देवो वरस्य च” ॥

इत्येतत्प्रमाणेन प्रकटितं राजादीनामिव सम्मानास्पदत्वं स्त्रीसाधारणस्य ।
स्त्रीणामतः सम्माननेऽधिकारप्रदाने च विधेयः प्रयत्नो गृहस्थेः सर्वैरिति-
सिद्धान्तः । शिष्टाभावेन मानवस्यान्धपशुतुल्यतया शिष्टैव ज्ञानोन्नतेर-
मात्रोपायः ।

शिष्टा त्वावश्यकी सकलमानवजातेः । किन्तु तेषामवस्थाया विभिन्न-

लेन न सम्भवेत् सर्वेषां शिक्षासाध्यं येषामस्ति सङ्गतिः सुयोगश्च, ते सर्वेऽप्युच्च-
श्रेणीयाकाव्यदर्शनविज्ञानज्योतिःशास्त्रालोचनया सफलीकुर्वन्तु स्वस्वजीवन-
वृत्तार्थयन्तु स्त्रीयस्त्रीयसमाजञ्च । किन्तु भाग्येनैतत्सम्भवेज्जगति सर्वेषाम् ।
पृथिव्यां प्रायशोऽधिकांशा लोका दग्धोदरज्वालया परिवारप्रतिपालनचिन्तया-
चास्थिराः । कथमेतैः सदर्पणीयं निजनिजजीवनं ज्ञानविज्ञानचर्चायै ।
अत एकदैव शिक्षा तैरेव नानुष्ठेयेति कथ्यतेऽस्माभिः । मनुष्याणामवश्यज्ञातव्य-
विषयाः सन्ति कियत्परिमिताः । यद्येते मनुष्याणां सकलानां स्वस्वजातीय-
विद्यासु भवेयुः शिक्षणीयास्तदुपरि रक्षणीया दृष्टिः सर्वैः सर्वतोभावेन ।
प्रत्येकव्यक्तीनामावश्यकं साधारणज्ञानं भूगोलेतिहासगणितविज्ञानादिशास्त्रेषु ।
परन्तु धर्मनीतिविषयकशास्त्राध्ययनं सुरुचिसम्पन्नकाव्योपन्यासादिपुस्तक-
पठनञ्च नानुष्ठेयं चेत् ; हृदयं भवेन्नोन्नतम् । रुचिर्न भवेन्नार्जिता न स्या-
द्विकशितो भावः । सुतरामेतत् शास्त्रव्राताध्ययनमत्यावश्यकम् । असम्भव-
मेतद्भवेज्जनसाधारणस्येत्यस्माभिर्न क्रियते विश्वासः । यन्नाग्रहाभ्यां समयस्य-
नियमितविभागेन च भवेत् स्वायत्तमेतज्जनसाधारणस्य । तथाऽमरणान्त-
त्युन्नतिपथेऽग्रसराः सर्वे । अतः पुरास्मद्भारतवर्षे प्रचलितासीन्नारी-
शिक्षा । प्रमाणानि सन्ति भूरि भूर्यस्मिन् विषये धर्मशास्त्रेषु । यथा,
कानिचित् प्रदर्शितानि पूर्वतः प्रमाणान्यत्र, तदन्यानि प्रदर्शितव्यानि परतः ।
अतो नोद्धृतान्यत्र । तथापि भयानकप्रतिकूलताचरणेन स्त्रीशिक्षाया-
घोरानिष्टमापादयन्ति केचनैकदेशदर्शिनः । तदनिष्टपरिदर्शनं नोद्विक्तं-
ग्रन्थबाहुल्यभिया । स्थले कस्मिन् शिक्षाविमर्दो नाघटत नो घटिष्यतेऽविवेकता-
वशत इति नोच्यतेऽस्माभिः । संसारेऽस्मिन्नेतादृकोऽस्ति विषयः, यस्याप-
व्यवहारो नालुष्ठीयते मनुष्येण । ततः किं संसारस्य तावतीयपदार्था भवेयु-
र्निन्दनीयाः परित्याज्याश्च ।

मानवाः कतिपयभीषणकाण्डमभिनयन्ति धर्मनाम्ना । तदर्थं किं-
प्रकृतोऽवज्ञेयो धर्मः । लब्ध्वा शिक्षां कतिपये लोका धर्मनीत्योः कृत्वा-
शिरसि पदाघातं कलङ्कमानयन्ति शिक्षानाम्नि । ततः किं मूलमेतस्य-
समस्तस्य, कथनमेतत् किं युक्तिसङ्गतम् ?

सम्पत्तिं प्रचलितविद्यालयस्य शिक्षा स्वभावतोऽसम्पूर्णा । पुनरतीवासम्पूर्णा तत्र स्त्रीशिक्षा । अवस्थायामितादृश्यां दोषप्रवेशनमत्यन्तसम्भवपरम् । किन्तु पृच्छतेऽस्माभिरितम् ।

स्थलेऽधिकांशिनैतस्य किं कारणं पुत्रपाणामविवेकतौदासिन्यत्र ?—

यज्ञवतु, शिक्षितरमणीमात्रं निन्दनीयमित्येतन्न वक्तव्यं कदापि । पञ्चान्तरे शिक्षाविहीननारीवृन्दस्य किं दृश्यते गङ्गाश्रोवत्स्वच्छता पवित्रता च । सत्य-
वस्थाविरोधे संग्राममनुष्ठाय लब्धुं जयं शक्नुयाम्नुयः । कालस्य प्रतिकूलतामा-
चर्य भवेन्नूनं विडम्बितो मनुष्यः । निर्दिष्टपथमेतस्य परिहायाश्रया सीमासुन्नद्धा-
न भवेदस्माकं निस्तारः । एतद्वितयनिरूपणमतीवदुरुहव्यापारः । तदभावाद्द्वारं-
वारमधःपतितो लाञ्छितश्च मनुष्यसमाजः । कृपया परमेश्वरस्य बहुकाल-
व्यापिनोऽन्धकारावस्थानस्यानन्तरं नवीनलोकं प्रत्यानीता भारतवासिनः ।

काल—एवैतत्परिवर्त्तनसङ्घटनकारकः ।

अन्यच्च—बहुकालानन्तरमालोकसविधे समुपस्थिततया येऽतीवविघ्नला-
उच्छृङ्खलाश्च सन्त इतस्ततो धावन्ति ते भवेयुर्नूनं कष्टकविडचरणाः ।

तथाऽचिरेण विहाय शक्तिं परित्यज्योन्नत्याशां चोत्तिष्ठेयुः समाजतो वहि-
र्भागतः । स्वभावतः परिवर्त्तनमुन्नतिसोपानात्मकम् । किन्तु प्रत्येकपरि-
वर्त्तनावसरे सहसाऽतितर्कतया पदचेपमकुर्वतः प्रतिपदमापन्नवेदुपस्थिता ।
समाजोन्नतिपक्षे स्त्रीशिक्षैकान्तप्रयोजनीया । यतः पारिवारिकसुखस्वाच्छ-
न्यमपि तदुपरि न्यस्तं विशेषपरिमाणतः ।

स्त्रीशिक्षाभावात् प्रथमतः समाजस्याङ्घ्राङ्गं भवतप्रकर्मण्यम् । परन्तु-
शिक्षाभावेन रमणीवृन्दं मातृधर्ममुपयुक्ततया परिपालयितुमक्षमं न भवेत्तत्-
कापि जातिर्न शक्नुयाल्लब्धुं प्रकृतमहत्त्वम् । विख्यातेनैकेन पण्डितेनोक्त-
मेतत् । यज्जात्यभ्यन्तरे पालितो मातृधर्मः सुचारुरूपेण सा जातिः-
धीरा वीरा ज्ञानिनी सच्चरित्रा च । भुवनविख्यातेन फ्रान्सदेशवासिना नेपो-
लियनाभिधेयेनोक्तं महावीरेण ।

यथा—फ्रान्सदेशस्य प्रधानाभावो मातात्मकः । सत्यामपि तदभावस्या-
पूर्णतायां न सम्भवेदुन्नतिस्तज्जातेः ।

समावतो जननीतुल्यः शिक्षको न विद्यते कोऽपि जगति ?

परिवारसमं प्रेक्षः पवित्रतायाश्च नान्यत्कुत्रापि द्वितीयस्थानम् । सत्यामपि-
विद्यमानायां विद्यालये बहुविधशिक्षायां सदनमस्माकं चरित्रगठनस्य प्रकृत-
स्थानम् । शतसङ्घर्षणत्वमप्यवस्थायां मानवस्य पारिवारिकशिक्षां सम्पूर्ण-
भावतो न शक्नुयात्प्रोपयितुम् ।

सम्यतस्मदीयदेशे पारिवारिकशिक्षाया अख्येकान्ताभावः । तत्कारणं-
मातुरभाव एव, सत्यपि शिक्षिते जननीव्राते शिशोः प्राथमिकशिक्षा प्रति-
गृहं प्रचलिता भवेदनायासेन । कथं भवेत् सन्तानपरिपालनम् । कथं-
वा तच्छरीरमनोविकसनं चेत्यादिविषये नोत्पद्येत चेत्सम्यक्ज्ञानं, न कापि-
शक्नुयात् परं कर्तुं मनुष्यम् । तदनन्तरं परिवारान्तरालेऽस्ति बहुविधं-
दायित्वं गृहिण्याः ।

समुचितशिक्षाभावात् कथमुत्पद्येत तद्दायित्वज्ञानं कथं वा भवेदेतत्-
सुसम्पन्नम् । पुरुषनिवहस्य व्याप्य बहुसमयं वह्निर्विषये लिप्तयोभयविषय-
संरक्षणमतीव कष्टकरं, चिन्तायामेतस्यां व्यतिव्यस्ता वह्निवो गृहस्थाः ।
गृहिण्या भवेच्चेत्सुगृहिणीत्वं ; तदा सदेनात्मकसंसारस्य परिचालनमर्थादेः-
सदावहारो-दासीदासयोः सम्यक्चालनं, नानाविधपदार्थानां गुणदोषज्ञान-
मन्येन साकं न्यायानुगतव्यवहारश्चेत्यादि भवेत्तत्सर्वं सुसम्पन्नम् । गृहिण्या-
स्त्वस्मिन्नेव सर्वस्मिन् विषये सत्यां सुनिपुणतायां कुतो भवेद्भावना पुरुषस्य-
तद्विषये । सर्वमेतच्छिक्षासापेक्षमेवेति निश्चितोक्तिः ।

स्थलेऽस्मिन् शिक्षाशब्देनैव पुस्तकगतशिक्षेति नोच्यतेऽस्माभिः । पुस्तक-
पठनेनैव भवेत् ज्ञानविवर्धनमस्माकं सत्यम् । किन्तु स्वतन्त्रा व्यावहारिक-
शिक्षा । साहित्यशिक्षा स्वभाविकी जीवनस्य । पुस्तकपठनेनैव भवेत्-
केवलं साहाय्यं तत्शिक्षायाः ।

अन्यच्च, नारी पुरुषस्यार्द्धाङ्गमिति प्रसिद्धिः । परस्परं परस्परस्य-
जीवनपथसङ्गी सहायश्च । मिलित्वोभयं भोक्ष्यति सांसारिकसुखदुःख-
जालम् ।

अतो यद्यपि परस्परस्य हृद्भावस्य तथा चिन्तायाश्च कर्तुं विनिमयं न-

विद्येत पत्न्याः । जनोऽन्यजनस्यैको ग्रहीतुं भावं भवेदसमर्थश्च । तथाऽद्वाङ्-
पतेर्भूत्वाऽकर्मण्यम् ;

तदाऽस्मिन् संसारे कुत्रास्ते सुखशान्त्यभिलाषः । इत्यादि नानाविध-
कारणवशतः स्त्रीशिक्षा समाजीकृतेः पारिवारिकसुखशान्तिजालस्य-
चैकान्तप्रयोजनीया । किन्तु साधारणस्य तथा नानाजातीयवालिकानि-
चयस्य चैतादृक्शिक्षानुष्ठानं देशान्तरेषु प्रचलति प्रायशो विद्यालयनिकरे ।
भारते तु भारतीयहिन्दुरमणीकर्तृकवेदादिशास्त्राध्ययने सत्यप्यभ्यनुज्ञाते-
विद्यालयेऽध्ययनमेकस्मिन् तथा पुस्तकान्तरस्य शिक्षकतावलम्बनमेतासां-
नाभ्यनुज्ञातं पूर्वाचार्यैः । विवेचनमेतद्वृद्धीकृतं निम्नस्थवाचनिकप्रमाणेन ।
यथा चतुर्विंशतिसंग्रहे यस्तु हारीतेनोक्तम्,—

“द्विविधाः स्त्रियः ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च । तत्र ब्रह्मवादिनीनामुप-
नयनं, अग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे भैक्षचर्येति” । सद्योवधूनामुपस्थित-
विवाहे कथंचिदुपनयनमात्रं कृत्वा विवाहः कार्य इति ।

तदेतत्कल्यान्तरविषये ।

तथाच यमः,—

“पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीवन्धनमिष्यते ।

अध्यापनञ्च वेदानां सावित्रीवाचनं तथा ॥

पिता पितृभ्यो भ्राता वा नैनामध्यापयेत्-परः ।

स्वगृहे चैव कन्याया भैक्षचर्या विधीयते ।

वर्जयेद्भोजनं चीरं जटाधारणमेव च” ॥ इत्यादि—

प्रमाणव्रातवलादिष्टविषयस्यायौक्तिकत्वं नावबुध्यतेऽस्माभिः । कथमेत-
दितुप्रच्यते । स्त्रीणामुपरि न्यस्तसकलगृहपरिचालनभारतयाऽतः सुगु-
निकरस्योत्तमचरित्रस्य चाधारत्वमासां वाञ्छनीयं सर्वतो भावेन । तदयं-
शिक्षाकरणं विधेयमवश्यं तत्पक्षे, यतश्चरित्रोन्नतिः सकलोन्यपेक्षया-
श्रेष्ठतमा । तथा चरित्रसौन्दर्यं तु सर्वसौन्दर्यापेक्षया श्रेष्ठतमम् ।

अपरञ्च—चरित्रञ्च प्रकृतजीवनम् ; कृत्वापि सर्वविधसुखसमृद्धिं तथा-
विद्यालाभञ्च केवलं चरित्राभावेनासारं मनुष्यजीवनम् । चरित्रोत्कर्षसाधने-
प्रधानसहायोऽतुष्टादर्शः । समुखे संस्थाप्य तदादर्शं न भवेच्चेदु-यत्नवान्-
चरित्रं सङ्गठितं, न भविष्यति चरित्रोन्नतिस्तदा प्रकृतितः । वाल्यावस्थातो-
गुणः स्वभावश्च संसर्गतो लभतेऽवनतिमुन्नतिञ्च ।

प्रमाणयति तथा शास्त्रमपि । “संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति”, इति-
तदवस्थायां संसर्गतः समुद्भूतो गुणो-दोषश्च तथा चरित्रं न विपरिवर्तते-
कदापि ।

“यत्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्” । इति,—

प्रमाणसामर्थ्यात्, अतः स्वसदनाध्ययनस्य नारीणां न्यायानुगतत्वात् युक्ति-
युक्तत्वाच्च विधेयमेतत्सर्वात्मना, स्त्रीणामेतदाद्यर्थं दातुं स्वाधीनतां सततं-
विमुखाः सर्वे धर्मशास्त्रकर्तारः ।

तथा याज्ञवल्करः ।

“रक्षेत्कन्यां पिता विद्वां पतिः पुत्रास्तु वार्षके ।

अभावे ज्ञानयस्तेषां स्वातन्त्र्यं न क्वचित् स्त्रियाः” ॥

तथाच मनुः,—

“बालया वा युवत्या वा ब्रह्मया वापि योषिता ।

न स्वातन्त्र्येण कर्त्तव्यं किञ्चित्कर्म गुह्येष्वपि” ॥

अपिशब्दोपादानादत्र का कथाऽन्यत्रेति सिद्धान्तः ।

तथा स एव,—

“पित्वा भर्त्ता सुतैर्वापि नेच्छेद्विरहमात्मनः ।

एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्ये कुर्यादुभे कुले” ॥

रत्नवत् स्त्रीरत्नस्याप्यवनं सर्वतोऽनुष्ठेयमित्युक्तं धर्मशास्त्रकारैः ।

यथाह मनुः,—

“पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।

पुत्रो रक्षति वार्ष्णे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति” ॥

तथा,—स्वामिनमन्तरा स्त्रीकर्तृकवह्निःपर्यटनादिकस्य दोषाधायकत्वं प्रतिपादितं पूज्यपादैर्महर्षिभिः ।

यथाह स एव,—

“पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् ।

स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट्” ॥

तथाच,—तट्टीकाकारः कुल्लूकभट्टश्च “पानमिति मद्यपानं, असत्पुरुष-संसर्गः, भर्ता सह विरहः ।

इतस्ततश्च भ्रमणं, अकालस्वापः, परगृहनिवासः इत्येतानि षट् स्त्रिया-व्यभिचाराख्यदोषजनकानि तस्मादेतेभ्य एता रक्षणीयाः” ।

एतत्त्वसंगतमिति न भाव्यं । वीजस्य यत्र कुत्रापि सित्यपि निक्षिप्तत्वे-तज्जातीयचेत्त्रोत्पन्नत्वेन तज्जातीयो भवति तदुद्भूतः सन्तानः, तेन न भवेत्-पुरुषजातेर्विकृतिः चेन्नमतः सर्वतो रक्षणोयमिति धर्मशास्त्रकर्तृणामाकृतं, अन्यथा चेत् क्षेत्रं दूषितं तदा सांकर्यदूषित एव समाजः, तेन सुदूरपराहतैव-जगदुन्नतिः, द्रढयन्तेऽतद्युक्तिं गीतोक्तप्रमाणानि ।

तथा,—

“अधर्माभिभवात्कृष्ण ! प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।

स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय ! जायते वर्णसंकरः ॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।

पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।

उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ! ।

नरके नियतं वासो-भवतौत्यनुशुश्रुम” ॥ इत्यादि ।

अन्यच्च,—न तावदस्माभिरुच्यते क्षेत्रं कलुषितं सर्वं किन्तु विशेषत एव,—
अतो-मात्रादीनामपि रहसि पुत्रेण सहावस्थानं निषिद्धं मनुनापि ।

यथा,—

“मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।

वलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति” ॥

इत्यतः का कथान्येषामित्यपिशब्दार्थः ॥

पुनश्च यद्यपि विषयान्तरेषु साकं पुरुषविशेषैर्महर्ष्यभ्यनुज्ञातस्त्रीकर्तृक-
सम्भाषणस्याधस्तात्प्रकटितप्रमाणवृन्देनेवोद्भासिततया न तावदेतासां स्वातन्त्र्योत्-
पाटनं मूलतो परिदृश्यते भारतेऽस्मिन् ।

यथा प्रमाणान्याह मनुः—

“चतुर्णामपि वर्णानां दारा रक्ष्यतमाः सदा ।

भिक्षुका वन्दिनश्चैव दीक्षिताः कारवस्तथा ।

सम्भाषणं सह स्त्रीभिः कुर्युरप्रतिवारिताः” ॥ इति ।

तथाच कुम्भूकभट्टः,—“चतुर्णामपि ब्राह्मणादीनां वर्णानां धनपुत्रादीनां-
मध्यादतिशयेन सर्वदा रक्षणीयास्तेन प्रसङ्गनिवृत्त्यर्थं उत्कृष्टसंग्रहणादपि सर्व-
वर्णैर्भाष्या रक्षणीयाः । भिक्षुका इति भिक्षाजीविनः सुतिपाठकाः यज्ञार्थ-
हस्तदीक्षकाः सूपकारादयश्च भिक्षादिस्वकार्यार्थं गृह्णीस्त्रीभिः सह सम्भाष-
ननिवारिताः कुर्युः । एवं चैषां संग्रहणाभावः ताभिः सार्धं संलाप-
मन्तरेण तेषां कार्यसिद्धेरभावात्” । तथापि :—

“पुंश्चल्याच्चलचित्तत्वान्नैस्त्रेद्याच्च स्वभावतः ।

रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्तृष्वेता विकुर्वते ॥

एवं स्वभावं ज्ञात्वासां प्रजापतिनिसर्गजं ।

परमं यत्नमातिष्ठेत्-पुरुषो रक्षणं प्रति ' ॥

इति मानवीयवचनवलात् ।

तथा, “पुंश्चल्यादिति ; पुंसो दर्शने सम्भोगाद्यभिलाषशीलत्वाच्चित्तसैव्याभावात् स्वभावतः स्नेहरहितत्वाच्च एता यत्नेनापि लोके रक्षिताः सत्यो व्यभिचाराश्रयणेन भर्तृषु विक्रियां गच्छन्ति । तथा एवमिति ; एवं श्लोकोक्तमासां स्वभावं हिरण्यगर्भसृष्टिकालजनितं ज्ञात्वा रक्षणार्थं प्रकटं यत्नं-पुरुषः कुर्यात्” । इत्यादितत्त्वोक्तविवर्तितश्च परिदर्शनाच्च व्यभिचाराद्याशङ्कया स्वस्त्रिया साङ्गं सम्भाषितुं स्वस्वामिना निषिद्धा अपि भिक्षुकादयस्तथासह संलापमाचरन्तो भवेयुर्दण्ड्या इति निम्नलिखितवाचनिकप्रमाणेनोद्दिष्टः-स्वाभिप्रायः पूज्यपादैर्महर्षिभिः ।

प्रमाणमाह यथा मनुः ।

“न सम्भाषं परस्त्रीभिः प्रतिषिद्धः समाचरेत् ।

निषिद्धो भाषमाणस्तु सुवर्णं दण्डमर्हति” ॥ इति ।

“न सम्भाषमिति स्वामिना निषिद्धः स्त्रीभिः सम्भाषणं न कुर्यात् प्रतिषिद्धः सम्भाषणमाचरन् राज्ञः षोडशमाषात्मकसुवर्णं दण्डयोग्यो भवति” । इति कुल्लूकभट्टः । अतः पत्यादिविरहविशिष्टेषु वह्निरटनादिसकलकार्येषु न स्वातन्त्र्यमस्तीति धर्मशास्त्रीयाभिप्रायः । अतएव वयमत्र कतिपयसाधारणोपायं विनिर्दिश्यापहरिष्यामो भारतीयहिन्दुरमणीशिखाविषयनिरुक्तप्रमाणदृष्टितः ।

समयमनुल्लङ्घ्य न कथयिष्यामो विशेषम् । यवनीयराजत्वावसरे भारतीयस्त्रीपुरुषसाधारणेष्वैतिहासिकप्रमाणप्रमाणितोपद्रुत्यनुष्ठानस्य प्रावत्येन पूर्वतः स्त्रीशिक्षाविरहस्य तथावरोधप्रथायाश्चासां सत्यामपि प्रवृत्ताविदानीं सुराजशासनावसरे तदुभयप्रचलनपरिकर्तनं न भवेद्दोषाधायकम् । विशेषतो विपदि तद्विधानं भारतीयहिन्दुसमजाभ्यन्तरेऽतीवगुणोत्पादकम् । यतः संप्रति दुर्भिन्नादिबहुविधोपद्रवस्य सन्ततोपस्थितैरत्रत्यमानवानां क्रमशोऽर्थाद्य-

भावेनाभावनीयनानाविधक्लेशपरिदर्शनात् स्वस्वजातीयहितसाधकशिक्षादि-
शुभानुष्ठानेऽक्षमतया स्वस्वतनयादीन् कर्तुं सुशिक्षितानपारगा हिन्दवः-
वाल्यावस्थातः, शिक्षाविरहात्प्रायशो भवन्ति वालिशः स्वस्वसन्तानाः । अतः-
प्रचलिताया-मधुना स्त्रीशिक्षायां बाल्यकालान्मादृतः शिक्षावीजे प्रथमतः सति-
निक्षिप्ते सन्तानमनसि क्रमशो ज्ञानपिपासा वृद्धिमवाप्स्यति प्रायेण द्रव्या-
भावेऽपि । ततस्तेषां विशेषज्ञानोपार्जनमधिकक्लेशमन्तरा पित्रादिभिः सुसंपाद्य-
मेवानायेसेन । स्त्रीशिक्षा विधेयाऽतोऽवश्यमेव । तथापि पुराकालीनस्त्रीशिक्षानु-
ष्ठानस्य युगान्तरीयसमयोपयोगितयाधुनातन-नव्यशिक्षोपकारकत्वाभावात्तदनु-
ष्ठानं नानुकूलमिदानींतनसमयस्य । स्वजातीय-तादृशशिक्षयित्रभावेना-
ध्ययनं नोपपन्नं बालिकानां सदनम् । तदर्थं विद्यालयाध्ययनं प्रतीयते-
सुसमीचीनं तत्पक्षे । तादृशविद्यालयस्तु न साधारणः । किन्तु करणीयः-
पृथगेव स स्वजातीयबालिकाध्ययनाय शिक्षकास्तु नियोजितव्यास्तत्र पित्रादि-
समानाः परमोदारचरिता उदासीनाश्च । तदा स्वेतरजातीयबालिका-
संसर्गाभावाच्चित्तविकृतेरसम्भवतया चरित्रं सुसंघटनीयमेव । तेन भवेत्-
सुरक्षितमेव शास्त्राकृतं साकल्येन । न भवेद्विमतिः केषामप्यत्रेत्यस्माकं-
धीः । तद्विद्याशिक्षाग्रहणं तु द्वादशवर्षावध्येव, तदनन्तरं विशेषबुभुत्सु-
नामासां तत्शिक्षाभारो भवेन्नरस्तः पित्रादिष्वात्मीयेषु । स्वस्वगृहेऽत्र-
स्वस्वपारिवारिकबालिकायुवत्यो नियमिततया नानाविषयिणीं शिक्षां प्रदातुं-
भवेयुश्चेत्प्रयत्नवन्तः प्रत्येकगृहस्थास्तदा स्वस्य समाजस्य च भवेत् साधितः-
प्रभृतोपकारः । इत्यलमतिपक्वेन । इति समाप्तिः स्त्रीशिक्षाविवृतः ।
सदृशीमिति कन्याविशेषणस्य व्याख्यानावसरे स्त्रीशिक्षाया आवश्यकताप्रति-
पादनद्वारा प्रसङ्गतः सत्यपि बहुदूरागमने “फलमुखगौरवस्यादोषत्वादिति-
न्यायेन न दोषाधायकत्वं तस्येति विभाव्यम् ।

स्त्रीपुरुषसाधारणानां बाल्यकलक्षणानां सत्यपि पुरतः समुल्लेखने-
सम्प्रति प्रसङ्गसङ्गत्याभ्यन्तरिकलक्षणानि प्रकाशयन्तेऽनन्तरतः ।

तथाच मिताचरायां ज्ञानेश्वरः ;—

“आभ्यन्तराणि अष्टौ पिण्डान् कृत्वेत्याद्याश्वलायनोक्तविधिना ज्ञातव्यानि ।

पूर्वस्यां रात्रौ गोष्ठवल्लीककितवस्थानङ्गदेरिणक्षेत्रचतुष्पथश्मशानेभ्यो सत्तु
गृहीत्वा पिण्डाष्टकं कर्त्तव्यं । तत्रानुक्रमेण प्रथमे पिण्डे सृष्टे धान्यवती भवेत्
द्वितीये सृष्टे पशुमती भवेत् । तृतीयेऽग्निहोत्रशुश्रूषणपरा भवति । चतुर्थे
विवेकिनी चतुरा सर्वजनार्जनपरा भवति । पञ्चमे रोगिणी, षष्ठे वन्ध्या,
सप्तमे व्यभिचारिणी, अष्टमे विधवा भवेदित्याश्वलायनस्मरणात्, इति” ।

तथाच नित्याचारपद्धतौ विद्याकरः,—

“अष्टौ पिण्डान् कृत्वा ऋतमग्रे प्रथमं यज्ञे ऋतं सत्यं प्रतिष्ठितम् । यदियं
कुमार्यभिजाता तदिदमिह प्रतिपद्यताम् । यत् सत्यं तदृश्यतामिति
पिण्डानभिमन्त्र कुमारीं ब्रूयात् । एषामेकं गृहाण इति ।

उर्वरापिण्डे सृष्टे धान्यवती भवति । गोष्ठपिण्डे सृष्टे पशुमती, वेदि-
पिण्डे सृष्टे अग्निहोत्रशुश्रूषणपरा, लौकिकस्थानपिण्डे सृष्टे विवेकिनी,
सर्वजनार्जनपरा, उदकपिण्डे सृष्टे रोगिणी, क्षेत्रे वन्ध्या, चतुष्पथे व्यभि-
चारिणी, श्मशाने विधवेति । तथाच वीरमितोदये ;—

“आन्तराणि तु लक्षणानि आश्वलायनगृह्ये उक्तानि । दुर्विज्ञेयानि-
लक्षणान्यष्टौ पिण्डान् कृत्वा पिण्डानभिमन्त्रयते ऋतमग्रे प्रथमं यज्ञे ऋतं-
सत्यं प्रतिष्ठितं ; यदीयं कुमार्यभिजाता तदीयमिह प्रतिपद्यतां, यत्-
सत्यं तदृश्यतां । इति पिण्डानभिमन्त्र कुमारीं ब्रूयादेषामेकं गृहाणति,
क्षेत्राच्चेदुभयतः शस्यादुगृहीयादन्नवत्यस्याः प्रजा भविष्यति इति विद्याहोता-
च्चेत् पशुमती, वेदिपुरीषाद्ब्रह्मवर्चस्विन्यविदासिनो-ऋद्रात्सर्वलक्षणसम्भवा-
देवनाम्नितवी, चतुष्पथात् द्विप्रवाजिनी, ईरिणादधन्या, श्मशानात्-
पतिघ्नीति ।

अस्यार्थः ;—उभयतः शस्याद् यस्मिन् क्षेत्रे प्रतिसम्बत्सरं द्विवारं शस्त्रं-
निष्पद्यते तदुभयतः शस्यम् । तदुक्तम्,—

“शस्यं क्षेत्रे तु यत्र द्विनिष्पन्नं प्रतिवत्सरम् ।

तदिहोभयतः शस्यशब्देनेति प्रचक्षते” ॥ इति ।

तस्मात्तत्क्षेत्रात् गोष्ठं गोस्थानम् । वेदिगताः पांशवो वेदिपुरीषमिति-

हरदत्तः । अपवृत्ते कर्मणि या वेदिः तद्देदिपुरीषमिति नारायणः । अवि-
दासिनः दसु उपचये इति धातुः अविदासिनः अशोष्याद्भूदादित्यर्थः ।

कितवा यत्र दीव्यन्ति तद्देवं द्यूतस्थानम् । चतुर्णां पथां समाहारः चतुष्पथम् ।
ईरणमूषरप्रदेशः यत्र धान्यं न प्ररोहति । अधना धनरहिताः श्मशानं-
प्रसिद्धम् । एतेभ्यः स्थानेभ्यो मृदः पृथगानीय तत्तत्स्थाननामानि पृथक्-
पृथक्पत्रखण्डेषु लिखित्वा तानि खण्डानि यथाक्रमं मृत्तिकास्वन्तर्द्वायैक-
रूपतया पिण्डान् कृत्वा परिशुद्धे पात्रे विनिक्षिप्य गन्धपुष्पैरभ्यर्च्य ऋतमग्र-
इत्यनेन मन्त्रेणाभिमन्त्र्य वरः स्वाभिमतां देवतां ध्यात्वा एषामेकं गृहाणेति-
कुमारीं ब्रूयात् । सा च यदि क्षेत्रादाहृतं पिण्डं गृह्णीयादस्याः प्रजा-
अन्नवती भविष्यतीति विद्यात् इति सर्वत्र नियम् । वृत्तस्वाध्यायकृतं यशो-
ब्रह्मवर्चसस्तद्वती । तदुक्तं,—

“वृत्ताध्ययनसम्पत्तिः ब्रह्मवर्चसमुच्यते” । इति ।

द्वौ प्रव्रजतीति द्विप्रव्राजिनी । स्पष्टमवशिष्टम् ।

शौनकोऽपि,—

“अथाष्टपिण्डग्रहणविधानेन विचक्षणः ।

लक्षणानि परीक्षेत ततः कन्यां यथातथम् ॥

क्षेत्रादुभयतः शस्याद्गोष्ठादेदितलादपि ।

अशोष्याच्च ऋदाद्भूतस्थानादथ चतुष्पथात् ॥

ईरिणाच्च श्मशानाच्च गृहीत्वाष्टौ मृदः पृथक् ।

ताभिर्गृही विधायाष्टौ पिण्डानन्योन्यतः समान् ॥

तिलपत्रैकदेशेषु मृदां संज्ञाः पृथक् पृथक् ।

लिखित्वा ताश्च पिण्डानामन्तर्द्वाय यथाक्रमम् ॥

शुद्धपात्रे/विधायैतान् गन्धादैरर्चयेदथ ।

ऋतमग्रे प्रथमं यज्ञ इत्याद्यां वैदिकीमृचम् ॥

दृश्यतामिति पर्यन्तमुक्त्वा पिण्डाभिमन्त्रणम् ।
 कृत्वाग्रपाणिना ध्यायन् स्वाभीष्टां देवतां वरः ॥
 एषामेकं गृहाणेति कुमारीं प्रत्युदीरयेत् ।
 तं पिण्डमेकं गृह्णीयात्स्वामिना स्वभिमतं ततः ॥
 गृहीतपिण्डमध्यस्थलेखवाचनपूर्वकम् ।
 गृह्णीतं तत्फलं बुध्वा ततः कुर्याद्यथारुचि ॥
 पिण्डेष्वेषु प्रथमतश्चत्वारः शुभसूचकाः ।
 कन्यायाश्च ततोऽप्यन्ये चत्वारोऽशुभसूचकाः ॥
 जेतुमृद्गृहणे तस्या बह्वन्ना सन्ततिर्भवेत् ।
 इति विद्यात्तया गोष्ठमृद्गृहे तु गवादिभिः ॥
 पशुभिः सुसमृद्धा स्यात्-सन्ततिः स्वयमेव वा ।
 ब्रह्मवर्चससम्पन्ना वेदिमृद्गृहणं भवेत् ॥
 सर्वसम्पत्समृद्धा स्यादशोष्याद्वा ऋदाद्युद्गृहे ।
 द्विरूढा द्विरमण्येषा व्यभिचाररता भवेत् ॥
 दारिद्र्योत्पादिनी भर्तुर्भवेदौरिणमृद्गृहे ।
 श्मशानमृद्गृहे भर्तुर्मृतिहेतुर्भवेदियम्” ॥

तथाश्वलायनोऽपि,—

“पितृमातृभ्रातृमतीं सर्वलक्षणलक्षिताम् ।

उद्बहेदष्टपिण्डादौः कन्यां सम्यक्परीक्षिताम्” ॥

इति मन्वादिभिस्तथा सर्वदेशीयनिबन्धकारैश्च वरकन्ययोर्लक्षणपरीक्षण-
 स्यादृततया करणीयमेवावश्यमेतत् विज्ञानमूलकत्वात् । सति सुलक्षणे-
 परस्परचिन्ताद्वादनकत्वाच्च । न च सर्वांशतो निरुक्तप्रमाणव्रातोक्त-
 वाहिकाभ्यन्तरिकशुभलक्षणान्वितां कन्यामन्तरा न विवहेत् सामान्यदोष-
 विशिष्टां कन्यामितिवाचं कन्याया दोषशून्यत्वस्यैकान्ततो जगत्यसम्भवात् ।

यस्यां मनश्चक्षुषोर्निबन्धस्तस्यामृदिरित्यापस्तम्बीयवचनेन मनोनयनानन्द-
दायिन्याः कन्यायाः स्फुटमभ्यनुज्ञातोपयमत्वाच्च ।

पूर्वतोऽशुभलक्षणगर्भकशुभलक्षणस्य सत्यपि कथने विशेषतो यद्दोषाणां-
विद्यमानतया कन्याया विवाहानर्हत्वमापादितं मन्वादिभिस्तेऽधस्तात्-
प्रकाश्यन्तेऽत्र ।

एतल्लक्षणविलक्षणचिह्नसमुपेतकन्यकानां वर्ण्यत्वमाह मनुः,—

“नोद्वहेत्-कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम् ।

नालोमिकां नातिलोमां न वाचालां न पिङ्गलाम् ॥

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्यपर्वतनामिकाम्” । इति ।

तथाच कुल्लूकभट्टः—

कन्यास्वरूपाश्रयप्रतिषेधमाह । नोद्वहेदिति कपिलकेशां षडङ्गुल्यादिकां-
नित्यवाधितां अविद्यमानलोमां प्रचुरलोमां बहुपुरुषभाषिणीं कपिलाक्षीं-
कन्यां नोपयच्छेत् । नेति ऋक्षं नक्षत्रं तन्नामिकां आर्द्रारवितीत्यादिनामिकां-
तरुनदीस्त्रेच्छपर्वतपक्षिसर्पदासभयानकनामिकां कन्यां नोद्वहेदिति, तथा चतु-
र्विंशतिसंग्रहे—कपिला रक्ततण्डुलवर्णा पिङ्गला अग्निवर्णा अन्यनाम्नी-
स्त्रेच्छनाम्नीति साधवः । प्रेथनाम्नी दासीतयादिनाम्नी, भीषणनामिका-
चामुण्डेत्यादिरिति नारायणः ।

तथाच यमोऽपि,—

“ऋक्षां दीर्घां कृशां स्थूलां पिङ्गाक्षीं गौरपाण्डुराम् ।

न पूज्या न च सेव्यास्ता नाशमृत्युकराः स्त्रियः ॥

वेदनाम्नीं नदीनाम्नीं शैलगन्धर्वनामिकाम् ।

ऋक्षवृक्षलतानाम्नीं दारार्थं परिवर्जयेत्” ॥ इति ।

तथाच विष्णुपुराणेऽपि ।

“न श्मश्रुव्यञ्जनवतीं न चैव परुषाकृतिम् ।

नापि दीर्घस्वरां काकुवाक्यां काकस्वरां न च ॥

नानिमेषिचणां तद्वत्क्षौणाङ्गीं नोद्वहेद्बुधः ।

यस्याश्च रोमशे जङ्घे गुल्फौ यस्यास्तथोन्नतौ ॥

गण्डयोः कूपकौ यस्या भवतस्तां च नोद्वहेत् ।

नातिरुक्ष्णं पाण्डुं न रुजामरुणेक्षणां ॥

अपीनहस्तपादाच्च न कन्यामुद्वहेद्बुधः ।

न वामनां नातिदीर्घां नोद्वहेत्-संहतभ्रुवम् ॥

न चातिच्छिद्रदशनं न करालमुखीं तथा” । इति ।

आपस्तम्बोऽपि,—

“नक्षत्रनामा नदीनामा वृक्षनामा च गर्हिता ।

सर्वाश्च रेफलाकारोपान्यवर्णा विवर्जयेत्” ॥

कन्यानामधिकाङ्गीतप्रादिकतिपयविशेषणानाममानुषिकतया चित्तकालुष्याधायकत्वात् ।

तथा सन्ततरोगिसंसर्गेण रोगशून्यस्याऽपि लोकस्य रोगोत्पत्तेर्विज्ञान-
लभ्यतत्वेन रोगिण्यादि-कतिसंख्यकविशेषणान्वितानां सनातनसम्पर्कती-
ऽगदोत्पादकतया, तथासामपि पिङ्गलेत्यादिकियत्परिमितविशेषणानां नयना-
नन्दाजनकत्वेन तथैतासामपि चाशुण्डेत्यादिभयजनकविशेषणानां श्रुति-
कटुतोत्पादकत्वेन चैतादृग्विशेषणविशिष्टानां कन्यानां यद्वर्ज्यत्वमापादितं-
परिणये मन्वादिभिस्तदतीव सुसङ्गतमेवातोऽत्र न परिलक्षितं मतान्तर-
मितप्रनुमीयतेऽस्माभिः ।

अथोद्वाहस्य कुलपरीक्षापूर्वकत्वात् कुलपरीक्षा तावन्निरूप्यते ।

यथा वीरमित्रोदये आश्वलायनः,—

“कुलमये परीक्षेत ये माहृतः पितृतश्चेति यथोक्तं पुरस्ता”दिति । अत्राप-
इति वचनम्, समस्तेषु वधूवरगुणेषु कुलस्य प्राधान्यं बोधयितुम् ।

तथाच विष्णुः,—

“ब्राह्मणस्य कुलं ग्राह्यं न वेदाः सपदक्रमाः ।

कन्यादाने तथा श्राद्धे न विद्या तत्र कारणम्” ॥ इति ।

ये मातृतः पञ्चभिः पुरुषैः पितृतश्च पञ्चभिः पुरुषैः प्रसिद्धाः विद्या-
चारादि-सम्पन्नाः एके इत्यादिना । यद्यप्येतत्शुद्धिमते कन्यां प्रयच्छेदिति-
वाक्यशेषाद्वरकुलविषयमिति प्रतीयते, तथाप्यपेक्षातौल्येन सामर्थ्यात् कन्या-
कुलविषयमपीति गम्यते ।

तथाच याज्ञवल्क्यः,—

लक्षणां स्त्रियमुद्बहेदित्युपक्रम्य “दशपुरुषविख्यातात् श्रोत्रियाणां महा-
कुला”दित्याह ।

मनुरपि,—

“उत्तमैरुत्तमो नित्यसम्बन्धानाचरेत्सदा ।

निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्त्यजेत्” ॥ इति ।

उत्तमानाह स एव,—

“विशुद्धाः कर्मभिश्चैव श्रुतिस्मृतिनिदर्शितैः ।

अविमृतब्रह्मचर्या महाकुलसमन्विताः ॥

महाकुले ये सम्बद्धा महत्त्वे च व्यवस्थिताः ।

सन्तुष्टाः सज्जनहिताः साधवः समदर्शिनः ॥

लोभरागद्वेषामर्षमानमोहादिवर्जिताः ।

अक्रोधनाः सुप्रसादाः कार्याः सम्बन्धिनः सदा” ॥ इति ।

अधमानाह स एव,—

“ये स्तेनाः पिशुनाः क्लीवा ये च नास्तिकवृत्तयः ।

विकर्मणा च जीवन्तो विकृताकृतयस्तथा ॥

प्रवङ्गवैराः शूरैर्ये राजकिल्बिषिणस्तथा ।

पतिघ्नप्रश्च सुवासिन्यस्तांश्च यत्नेन वर्जयेत्” ॥ इति ।

याज्ञवल्क्यः—

स्त्रीतादपि न सञ्चारिरोगदोषसमन्वितात् ॥” इति ।

तथा मनुरपि,—

“महान्यपि समृद्धानि गोऽजाविधनधान्यतः ।

स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥

हीनक्रियं निष्पुरुषं निच्छन्दोरोमशार्शसम् ।

क्षयामयान्यपस्मारिष्वत्रिकुष्ठिकुलानि च ” ॥ इति ।

हीनक्रियं यागादिक्रियारहितं, निष्पुरुषं स्त्रीमात्रशेषम् । निच्छन्दो-
वेदाध्ययनवर्जितम् । शेषं प्रसिद्धम् ।

तथा यमोऽपि,—

“चतुर्दशकुलानीमान्यविवाद्यानि निर्दिशेत् ।

अनार्षेयं ब्राह्मणानामृत्विजां चैव वर्जयेत् ॥

अत्युच्चमतिऋत्स्वं च अतिवर्णं च वर्जयेत् ।

हीनाङ्गमतिरिक्ताङ्गमामयाविकुलानि च ॥

ष्वत्रिकुष्ठिकुलादीनां कुर्याद्वि परिवर्जनम् ।

सदा कामकुलं वर्ज्यमागमानां च यत्कुलम् ।

अपस्मारिकुलं यच्च यच्च पाण्डुकुलं भवेत् ॥” इति ।

अनार्षेयं अवरणीयार्षेयं चतुरार्षेयादि न चतुरो वृणीते नपञ्चातिवृणीते-
इति श्रुतेः ।

इदं चेत्यमेव व्याख्येयं अन्यथा गोत्राणां ऋष्यपत्यत्वेनानार्षेयत्वासम्भवात् ।
प्रवररहितगोत्रासम्भवाच्च । अनार्षेयमविज्ञातप्रवरमिति चन्द्रिकाकारः ।

ब्राह्मणोपादानं क्षत्रियादीनां स्वभावतोऽनार्षेयत्वेऽप्यपरिहारार्थम् । ऋत्विजां-
कुलपरम्परावृत्तानाम् । अत्युच्चमतिदीर्घपुरुषम् ।

अतिवर्णं वर्षमतिक्रान्तं अतिगौरातिक्लृष्टादि सदाकामाः कापप्रधाना-
स्तेषां कुलम् । आगमानां श्रौतस्मार्त्तकर्मपरित्यागेन केवलागमविहित-
कर्मानुष्ठातृणाम् ; वामागमवर्त्तिनां वा । हीनक्रियादिकुलपरिहारे प्रयो-
जनमाह हारीतः,—

“कुलानुरूपाः प्रजाः सञ्जयन्तीति” ।

तथा व्यासोऽपि,—

“मातुलान् भजते पुत्रः कन्यका भजते पितृन् ।

यथाशीला भवेन्माता तथाशीला भवेन्नृप !” ॥ इति ।

तथा मनुवरपि,—

“पितुर्वा भजते शीलं मातुर्वीभयमेव वा ।

न कथं च न दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति” ॥

तथा विष्णुरपि,—

“अश्वं पित्रा परीक्षेत मात्रा कन्यां परीक्षयेत् ।

दृणाद्भूमिं परीक्षेत आचारेण कुलं तथा” ॥ इति ।

कुलापकर्षणनिमित्तान्याह मनुः,—

“कुविवाहेः क्रियालोपैर्वेदानध्ययनेन च ।

कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च” ॥

शिल्पेन व्यवहारेण शूद्रापत्यैश्च केवलैः ।

गोभिरश्वैश्च यानैश्च कृष्या राजोपसेवया ॥

अयाजप्रयाजनैश्चैव नास्तिक्येन च कर्मणा ।

कुलान्यकुलतां यान्ति यानि हीनानि मन्वतः” ॥

तथा कुलोत्कर्षनिमित्तमाह स एव,—

“मन्त्रतस्तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि ।

कुलसंख्यां च गच्छन्ति वर्षन्ति च महद्दयशः” ॥ इति ।

“निरुक्तप्रमाणाभ्यन्तरोक्तकुलान्यकुलतां यान्तीत्यस्येयं विवृतिः ।

यथा, कुलानि वंशाः अकुलतां प्रकष्टश्रीत्रियादिकुलापेक्षयाऽतीव न्यूनत्व-
यान्ति प्राप्नुवन्ति, न तु क्षत्रियादिकुलान्तरत्वं, न त्वेतत्स्वकपोलकषितं,
मन्वादिभिः पूज्यचरणैरधस्तनप्रमाणसन्दोहेनाभिधेयस्यास्य प्रकटितत्वात् ।

यथा प्रमाणान्याह मनुः,—

“अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो देवतं महत् ।

प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्देवतं महत् ॥

श्मशानेष्वपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति ।

हयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्द्धते ॥

एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मषु ।

सर्वथा ब्राह्मणाः पूजयाः परमं देवतं हि तत्” ॥

तथाच कुल्लूकभट्टः,—

एवं तर्हि विद्वांसं ब्राह्मणं सेवेत्याह ।

अविद्वानिति—यथाऽहितोऽनाहितो वा अग्निर्महती देवता । एवं-
मूर्खो विद्वांश्च ब्राह्मणः प्रकष्टा देवतेति ।

श्मशानेष्वित्यादि—यथाग्निर्महातेजाः श्मशाने शवदाहकार्येऽपि नैव दूषो-
भवति । किन्तु पुनरपि यज्ञेषु हयमानोऽभिवर्द्धते । एवमिति । एवं-
कुलितकर्मस्वपि सर्वेषु यद्यपि ब्राह्मणाः प्रवर्तन्ते तथापि सर्वप्रकारेण पूज्याः-
यस्मात्प्रकष्टं देवतम् ।

तथा पुनः स एव,—

“न ब्राह्मणं परीक्षेत देवे कर्मणि धर्मवित् ।

पित्रे कर्मणि तु प्राप्ते परीक्षेत प्रयत्नतः” ॥ इति ।

तथाचाह व्यासः,—

“कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ।
ब्राह्मणातिक्रमो नास्ति विप्रे वेदविवर्जिते ।
ज्वलन्तमग्निमुत्सृज्य नहि भस्मानि ह्रयते” ॥ इति ।

तथाच विष्णुः,—

“दैवे कर्मणि ब्राह्मणं न परीक्षेत प्रयत्नात्पिते परीक्षेत” । इति ।

पूर्वतो वाक्यान्तरजाले ब्राह्मणानां विकर्मस्थत्वेन वेदविवर्जितत्वेन-
चाकुलीनत्वापादनावलोकनात् ।

तथास्मिन् वाक्यजाते पितृकर्मन्तरेण दैवकर्मणि विप्राणामपांक्तेयत्वादि-
दोषदूषितानामप्यपरीक्षणीयत्वस्य तथा विकर्मस्थत्वादिदोषविशिष्टानामपि-
ब्राह्मणानां पूजत्वस्य च परिदर्शनाच्च परस्परविरोधसम्भावनयाऽप्रमाण्यापत्त्या-
समाहितं पूर्वार्चाव्यैर्निश्चलिखितप्रकारेणेति प्रतीयते ।

यथा, स्तेनादिनिन्दितकर्मानुष्ठानेनापि ब्राह्मणं न ब्राह्मणत्वविहीनः ।
किन्तु परिशुद्धकर्मतत्परश्चोत्रियापेक्षयाऽतीव न्यूनत्वमवाप्ता इति राहान्तः इति ।

ननु मन्वादिभिः कूलस्य यद्यदनुष्ठानेन प्राधान्यम् ।

यद्यदन्वयाचरणेन तद्विपरीतत्वं चापादितम् । तत्तु कल्पनासम्भूत-
मिति चेन्न । कुष्ठादिदोषाक्रान्तकुलोत्पन्नस्यापत्यस्य तत्तद्दोषादिशालित्वरूप-
फलस्य तथा शुद्धिमत्कुलसम्भूतस्य सद्गुणाधारात्मकफलस्य च दृष्टिविषयत्वेन-
विज्ञानसम्भूतत्वात् । अतो विशेषणजातमेतन्न निष्प्रयोजनकम्, किन्तु कुलस्य-
यावतीयविशेषणस्य सत्यपि दृष्टफलकत्वे अन्यबाहुल्यभियाऽत्र नोपात्तं विवरणं-
प्रत्येकस्यास्य अतः फलमूह्यं सर्वेषां वैज्ञानिकम् ।

न च भारतीयविभिन्नप्रादेशिकब्राह्मणादिजातीयानां तत्तत्प्रादेशिक-
तत्तज्जातीयैः साकं विधेयः केवलं यौनादिसम्बन्ध इति वाच्यम् ।

प्रोक्तप्रमाणवृन्देषु साकं तत्तत्प्रादेशिकतत्तज्जातीयेस्तत्तत्प्रादेशिकतत्त-
ज्जातीयानामुपयमादिसम्बन्धस्योल्लेखादर्शनात् केवलं साहं भारतीयब्राह्मणादि-
जातिभिस्तद्देशीयब्राह्मणादिजातिजातस्यैव यौनादिसम्बन्धस्योल्लेखावलोकनाच्च ।

अतोऽकुलीनतापादकदोषदूषितेर्भांरतीयब्राह्मणादियावतीयतत्तज्जातीयैः सप्त-
तद्देशीयब्राह्मणादियावतीयतत्तज्जातीयानां प्रणिण्यादिसम्बन्धोऽनुष्ठेयो निर्वि-
वादमिति शास्त्रीयसिद्धान्तः ।

आपदि तु प्रोक्तदोषदूषितेष्वपि कुलेषु उपलक्षणविधया विवाहादि-
सम्बन्धस्य शास्त्राभ्यनुज्ञातत्वेनादोषत्वात् तथैव लोके व्यवहारदर्शनाच्च ।

ननु साहं दूरदेशीयैस्तथा निकटस्थैश्च नानुष्ठेयो यौनसम्बन्ध इत्युक्तशास्त्रीय-
निषेधस्य जागरूकत्वेन कथं विधातव्यः साकं दूरदेशीयैर्यौनसम्बन्ध इति-
चेन्न । पुरा मार्गस्यातिदुर्गमतया दूरगमनासम्भवेन सत्यपि दूरदेशीय-
यौनसम्बन्धनिषेधेऽधुनातनभारतीयचक्रवर्त्तिनः सुशासनप्रभावात् संप्रति सरणे-
सुगमत्वेन तदाचरणे दोषासम्भवादन्वया दूरबान्धवानुष्ठाने नान्दीमुख्याद-
विधायकोक्तकाले विवाहाङ्गं कुर्याद् नान्दीमुखं पिता देशान्तरे विवाहयेत्तत्र-
गत्वा भवेदिदमिति धर्मशास्त्रीयवचनस्य नैरर्थक्यापत्तेः ।

तथा निकटसम्बन्धाचरणनिषेधविषयके सत्यपि शास्त्रीयप्रमाणे तदनुष्ठानस्य
चक्षुर्दिष्यत्वाच्च । विषयस्यैतस्य पूर्वतो विवृतत्वाद्विरतिरत्रैवास्ति । किन्तु
देशान्तरस्य शास्त्रानुमोदितलक्षणं नोक्तं पूर्वतः । अतः साधारणावगतये-
तावत्प्रकाशन्तेऽथस्वात्तदुद्भावकानि प्रमाणानि ।

यथा रघुनन्दनोद्वाहतत्त्वे देशान्तरपरिभाषायाम् ।

वृहन्ननु,—

“वाचो यत्र विभिद्यन्ते गिरिर्वा व्यावधायकः ।

महानदग्रन्तरं यत्र तद्देशान्तरमुच्यते ॥

देशनामनदीभेदान्निकटोऽपि भवेद्यदि ।

तत्तु देशान्तरं प्रोक्तं स्वयमेव स्वयम्भुवा ।

दशरात्रेण या वार्त्ता यत्र न श्रूयतेऽथवा” ॥

तथाच वृहत्स्यतिः,—

“देशान्तरं वदन्तेऽत्रैषिष्ठियोजनमायतम् ।

चत्वारिंशद्वदन्तेऽत्रैषिष्ठियोजनमायतम् तथैव च” ॥

शुनिहयवचनोक्तवागादियोजनादिभेदानां सामञ्जस्यार्थमेवं व्याख्यायते-
त्रितयवैशिष्टेयं त्रिंशद्योजनाभ्यन्तरे द्वितयवैशिष्ट्ये तदुपरि चत्वारिंशद्योजना-
भ्यन्तरे एकवैशिष्टेयं चत्वारिंशद्योजनोपरि षष्टियोजनाभ्यन्तरे वाणीगिरिमहान-
यन्तरितत्वभेदाभावेऽपि वैदेश्यमिति शुद्धिचिन्तामणिः ।

निरुक्तवचनव्राततोऽवगन्तव्यं तल्लक्षणं नानाविधं अतएव सगोत्रसपिण्ड-
समानप्रवरवरकन्याविषयकशास्त्रीयनिषेधस्थलमपहाय भारतीयदूरप्रदेशस्य-
स्वस्वजातीयैः साकं यौनसम्बन्धानुष्ठानं न दोषावहमिति परामर्शः । ननु स्वस्व-
प्रदेशस्थितैर्भरतखण्डविभिन्नप्रदेशीयब्राह्मणादिभिः सह यौनसम्बन्धाचरणानव-
लोकनात् कथं दूरदेशीयतत्सज्जातीयैः समं तत्सम्बन्धानुष्ठानं विधेयमिति-
चेन्न । तदनुष्ठाने धर्मशास्त्रीयप्रमाणस्य सत्यपि नयनागोचरत्वे बहुदिना-
वधि परस्परं तत्सम्बन्धाभावेन तादृशसंस्कारमूलकतद्विधानाभावस्य प्रच-
लितत्वात् । तथा तत्प्रचलनातिक्रमणस्यादोषाधायकत्वात् अतस्तदनुष्ठानं-
विधेयमिति प्रेक्षावतां राजान्तः । न च निरुक्तशुद्धिमत्कुलमन्तरा साकं-
प्रोक्तदोषदूषितकुलेन बन्धुता कदापि न विधेया सम्भावितपातित्वेन ब्राह्मणादि-
वंशादिति वाच्यं शुद्धिमत्कुलापेक्षया न्यूनतां लभमानस्यापि प्रोक्तप्रमाणव्रात-
वलाब्राह्मणादिकुलतः पातित्वाभावात् ।

अतः क्षययक्ष्मादि सांक्रामिकरोगविशिष्टकुलं परित्यज्य सत्यपि बन्धुत्वे न-
जात्यन्तरपरिणामित्वम् ; किन्तु प्रसिद्धश्रोत्रियकुलापेक्षया न्यूनत्वमित्यवधेयम् ।
तद्येदानीं दृश्यते लोकव्यवहारः सर्वत्र भारतस्य । यत्तु सम्प्रति भारतस्यास्य-
सर्वत्र सन्ति ये कुलीनाः ते सर्वे प्रधानश्रोत्रियादिपरिचालककुलीनत्वलक्षण-
विहीना अपि दृष्ट्यादितः कुलीनत्वात्कतया शीजगदीशस्य सम्भूता इति-
यत्प्रकाशयन्ति तच्चान्दम् । तद्विषयकशास्त्रीयप्रमाणस्य नयनागोचरत्वात् ।

ननु कथमासीदिदानीन्तनकुलीनत्वसृष्टिरित्येति चेदुच्यते यथाधुनिक-
कुलक्षणं ; कुलसुत्कर्षविशेषोपलक्षितवंश इति सङ्केतितम् । तस्यापत्यार्थं कुल-
शब्दादौनप्रत्ययेन कुलीन इति पदसिद्धिरिति । अर्थात् कुलीनशब्देनोत्कर्ष-
विशेषवद्वंशजातव्यक्तिरिति । तथाच लक्षणं उत्कर्षविशेषधर्मावच्छिन्नवंश-
जातत्वे सति तद्धर्मवच्चं कुलीनत्वमिति । उत्कर्षविशेषस्तु नवधा गुणाः ।

तदुच्यते,—

“आचारो विनयो विद्या प्रतिष्ठा तीर्थदर्शनम् ॥

निष्ठा वृत्तिस्तपोदानं नवधा कुललक्षण”मिति ॥

जागरूकं शास्त्रीयप्रमाणम् । अतएवोत्कर्षविशेषात्मक-नवधागुणविशिष्टत्वं-
कुलीनत्वमिति निर्गलितार्थः । अनेनैकस्मिन् वंशे न रुद्धं कुलीनत्वं किन्तु-
तत्तज्जातीयानामन्तराले यदुच्यते कुलसुत्कर्षविशेषधर्मवत्त्वावच्छिन्नं तथा तत्तत्कुल-
—सम्भूता यदुच्यते तत्तत्तत्कर्षविशेषधर्मवत्त्वावच्छिन्ना, तत्तत्कुलं सर्वोत्कृष्टं-
तत्तद्वंशजातव्यक्तिश्च कुलीनेत्यवगन्तव्यम् । ततश्च साकं भारतीयप्रदेशान्तर-
वासिब्राह्मणादिजातीयैर्भरतखण्डविभिन्नप्रदेशस्थब्राह्मणादिजातीयानां सत्युप-
यमे सिद्धे सुतरामन्नाशनादिकरणं निजनिजजातीयेः साहं स्वस्वजातीयानां-
सुसिद्धं निर्विवादमेव ।

नच “ग्राह्यान्ना वाजपेयिनः” इति धर्मशास्त्रीयप्रमाणसामर्थ्याद्वाजपेयिना-
मेव ग्राह्यान्नतया स्वस्वदेशीयेस्तथा प्रदेशान्तरीयेषु ब्राह्मणैः सर्वैः सह सर्वेषां-
कथमन्नपानादिकं विधेयमित्युक्तमिति वाच्यं “जीविताख्य” मित्यादि मानवीय-
वचनबलात् । तथा “आपन्नत” इति याज्ञवल्करप्रमाणसामर्थ्यादपदि-
स्वस्वजात्यपेक्षया नीचजातीयान्नाशनस्यापि दोषाजनकतया कैमुतिस्वत्यादेन-
ब्राह्मणान्नभक्षणस्य दोषोत्पादकत्वाभावात् ; तथा षट्कर्मनिरतब्राह्मण-
वृन्दस्यापि ग्राह्यान्नतया प्रमाणस्यास्य तन्मध्यतो वाजपेययज्ञकर्तुः प्रशंसा-
परत्वाच्च । ननु जीविताख्यमापन्न इत्यादि प्रमाणव्रातस्य जागरूकतया कव-
मदानीं नीचजातीयान्नभक्षणं नानुष्ठेयमिति चेन्न ; पूर्वोक्तधर्मशास्त्रीयप्रमा-
जातेन कलियुगीयेदानीन्तनानेहसि ब्राह्मणादीनां ब्रह्मादितेजसः क्रामिक-
ज्ञासस्य प्रकाशिततया नीचजातीयान्नभक्षणस्यैतत्कालाभिषयत्वात् ।

अतो यत्र कुत्राप्यवस्थितानां सन्ध्यादिस्वस्वजातीयनित्यकर्मनुष्ठानपरा-
यणानां ब्राह्मणादिजातीयानां केवलं स्वस्वजातिकर्तृकान्नभक्षणमधुनातना-
पदि न दोषाधायकमिति धर्मशास्त्रीयसिद्धान्तः ।

इत्यन्तर्जातीयविवाहादिविचारः ।

अथ वरस्य क्रमप्राप्तकन्यागृहगमनविधिर्यथा वीरमित्रोदये,—

“पुण्ये मुहूर्ते कुर्वीत विवाहं विधिवद्विजः ।
 तवाभ्युदयिकं श्राद्धं कुर्यात् स्वस्ति च वाचयेत् ॥
 अपरेद्युः कृतस्नानो धृत्वा धौताम्बरद्वयम् ।
 भूषितो गन्धमाल्याद्यैर्वन्दिताभीष्टदेवतः ॥
 ब्राह्मणान् भोजयित्वा तैः कृतपुण्याहवाचनः ।
 कृतकौतूकबन्धश्च मित्रबान्धवसंयुतः ॥
 यानं यथार्थमारुह्य यातव्यञ्च बधूगृहम् ।
 तस्य द्वाराद्वहिः स्थित्वा प्राङ्मुखोऽभिमुखागतैः ॥
 प्रदीपपूर्णकुम्भादिपाणिभिः बनिताजनैः ।
 कृताभ्युद्गमनो गेहं प्रविशेत्-सह बन्धुभिः” ॥

तथा ब्रह्मपुराणेऽपि,—

“पूर्वेद्युः स्वस्तिवचननान्दीश्राद्धसमन्वितः ।
 अपरेद्युः कृतस्नानोऽहतवस्त्रधरो वरः ॥
 भुक्ता निश्चङ्गि पूर्वाह्ने उदहेन्निशि सर्वदा ।
 भूषणैः फलताम्बूलैर्गन्धपुष्पाक्षतादिभिः ॥
 शुक्ताम्बरधरैर्वाद्यैर्विप्राशीर्वचनैः सह ।
 गच्छेच्च कन्यकागेहं वरश्च स्त्रीपुरःसरः ॥”

भुक्ता निशीति, निशि पूर्वेद्युः रात्रौ भुक्ता परेद्युः अङ्गि दिवसे पूर्वाह्ने-
 अर्थात् दिवसस्य पूर्वभागे विवाहलग्ने तथा निशि रात्रौ सर्वदा रात्रेः यस्मिन्-
 कस्मिन्नपि विभागे विवाहलग्ने उदहेत् विवाहमनुतिष्ठेदित्यर्थः ।

तथा शौनकोऽपि,—

“यस्मिन् काले विवाहः स्याद्रजन्यां यदि वा दिवा ।

तत्र होममुपक्रम्य प्राग्विवाहसमापनात् ॥

वधूर्वाङ्घ्रियमं कृत्वा वर्त्तेतावहिता सती ।

निवृत्ते तु विवाहे तां वधूँ ध्रुवमरुन्धतौम् ॥

सप्तर्षीं श्रेययेत् पश्चादध्वा वक्तुमशक्तितः ।

बध्वर्थं जीव पत्न्यादिवाक्यञ्च व्याहरेद्वरः ॥”

निरुक्तवचनजाताभ्यन्तरोक्तदिवाविवाहारादुपयमयोरन्तराले दिवाविवाहस्य मुख्यत्वम् । पूर्वाङ्गविहितनान्दीमुखयावस्य तथा कन्यादानस्य च दिवानुष्ठितत्वात् । आह्वदानयोर्दिवानुष्ठानस्य शास्त्रप्रतिपादितप्राशस्त्याच्च । तथा-रात्रिविवाहस्य गौणत्वं, आह्वदानयोरात्रनुष्ठानस्य शास्त्रनिषिद्धत्वेऽपि प्रतिप्रसववाक्यव्रातेन रजन्यां विवाहादौ आह्वदानविधानस्य शास्त्राभ्यनुज्ञातत्वात् ।

यथात्र प्रतिप्रसववाक्यान्याह—शौनकः,—

“यस्मिन्नङ्घ्रि विवाहः स्यात्-सायमारभ्य तस्य तु ।

परिचर्यां विवाहाग्नेर्विदधौत खयं द्विजः ॥

यदि रात्रौ विवाहाग्निरुत्पन्नः स्यात्तथा सति ।

उपक्रम्योत्तरस्याङ्गः सायं परिचरेदमुम्” ॥ इति ।

तथा परिशिष्टान्तरेऽपि,—

“रात्रौ विवाह उत्पन्ने कथं कुर्वन्ति याज्ञिकाः ।

रात्रावतौतकालश्चेत् श्वः सायं तदुपक्रमः” ॥

तथा विवाहादौ रात्रौ दानादिकमाह,—

देवलः,—

“राहुदर्शनसंक्रान्तिविवाहात्ययवृद्धिषु ।

स्नानदानादिकं कुर्युर्निशि काम्यव्रतेषु च” ॥ इति ।

तथा भविष्येऽपि,—

“रात्रौ स्नानं न कुर्वीत दानं चैव विशेषतः ।
नैमित्तिकान्तु कुर्वीत स्नानं दानञ्च रात्रिषु ॥
यज्ञे विवाहे यात्रायां तथा पुस्तकवाचने ।
दानान्येतानि शस्तानि निशि देवालये तथा” ॥ इति ।

अतएव यत्तु,—

“विवाहे तु दिवा भागे कन्या स्यात्पुत्रवर्जिता ।
विवाहानलदग्धा सा नियतं स्वामिघातिनी” ॥ इत्यादि ।

विवाहनिषेधकज्योतिःसारसंग्रहवचनं, तत्तु युवतीविवाहपरमिति विज्ञे-
यम् । तद्विषये तत्समयस्य सुयोग्यत्वात् ! इत्यलं प्रपञ्चेन ।

इति समाप्तं विवाहव्रातप्रकरणम् ॥

अथ क्रमप्राप्तविधवापत्यन्तरग्रहणनिषेधविचारः ।

सा च द्विविधा । पुनर्भूः स्वेरणी च । पुनर्भूरपि द्विविधा ; क्षता-
अक्षता चेति ।

तत्र याज्ञवल्क्यः,—

“अक्षता च क्षता चैव पुनर्भूः संस्कृता पुनः ।
स्वेरिणी या पतिं हित्वा सवर्णं कामतः श्रयेत्” ॥

अस्यार्थः—पुनः संस्कृता पुनर्भूः । सा च संस्कारद्वैविध्यात् द्विविधा ।
तत्र विहितविवाहसंस्कारमात्रसंस्कृता अनुपभुक्ता अक्षतेतुप्रच्यते, क्षता पुन-
र्विवाहात् प्रागेव निषिद्धपुरुषसम्बन्धदूषिता । या तु कौमारं पतिमुत्सृज्य-
स्वेच्छया पुरुषान्तरं श्रयति सा स्वेरिणी ।

एतासां किञ्चिदवान्तरमेदेन सप्तविधत्वमाह कश्यपः,—

“सप्त पौनर्भवाः कन्याः वर्जनौयाः कुलाधमाः ।
 वाचा दत्ता मनोदत्ता कृतकौतुकमङ्गला ।
 उदकस्पर्शिता या च या च पाणिगृहीतिका ॥
 अग्निं परिगता या च पुनर्भूप्रसवा च या ।
 द्यूतेताः कश्यपेनोक्ता दहन्ति कुलमग्निवत्” ॥ इति ।

बौधायनोऽपि,—

“वाचा दत्ता मनोदत्ताऽग्निपरिगता सप्तमं पदं नीता भुक्ता गृहीतगर्भा-
 प्रसूता चेति सप्तविधा पुनर्भूः । तां गृह्णीत्वा न प्रजां न धर्मं विन्देदिति” ।

नारदस्तु पुनर्भूत्रैविध्यं स्वैरिणीचातुर्विध्यं चाह,—

“वरपूर्वास्त्रियस्त्वन्याः सप्त प्रोक्ता यथाक्रमम् ।
 पुनर्भूस्त्रिविधा तासां स्वैरिणी च चतुर्विधा ॥
 कन्यैवाक्षतयोनिर्या पाणिग्रहणादूषिता ।
 पुनर्भूः प्रथमा प्रोक्ता पुनः संस्कारकर्मणि ॥
 देशधर्मानवेक्ष्य स्त्री गुरुभिर्या प्रदोयते ।
 उत्पन्नसाहसाऽन्यस्मै सा द्वितीया प्रकीर्त्तिता” ॥

उत्पन्नसाहसा उत्पन्नव्यभिचारा ।

“असत्सु च देवरेषु बान्धवैर्या प्रदोयते ।
 सवर्णाय सपिण्डाय सा तृतीया प्रकीर्त्तिता ॥
 स्त्री प्रसूताऽप्रसूता वा पत्याविव तु जीवति ।
 कामात् समाश्रयेदन्यं प्रथमा स्वैरिणी तु सा ॥
 कौमारं पतिमुत्सृज्य या त्वन्यं पुरुषं श्रिता ।
 पुनः पत्युर्गृहं यायात्-सा द्वितीया प्रकीर्त्तिता ॥

मृते भर्त्तरि तु प्राप्तान् देवरादीनपास्य या ।
उपगच्छेत्-परं कामात्-सा तृतीया प्रकीर्त्तिता ॥
प्राप्ता देशाङ्गनक्रौता क्षुत्पिपासातुरा च या ।
तवाहमित्युपागमत्-सा चतुर्थी प्रकीर्त्तिता ॥”

एतासां सर्वासामविवाहत्वेऽप्यतिक्रान्तनिषेधेन परिग्रहीता ऋणं द्वयोरेव-
देयम् ।

तथाच स एव, —

“अन्तिमा स्वैरिणीनां या प्रथमा च पुनर्भुवाम् ।
ऋणं तयोः पतिकृतं दद्याद्यस्ते उपाश्रुतः” ॥ इति ।

निरुक्तप्रमाणोक्तानां पुनर्भूवां स्वैरिणीनां चाभ्यन्तरे विधिनिषेधौ-
कस्याः कीदृशावभ्यनुज्ञातौ महर्षिभिः पूज्यपादैरुल्लिखितेऽधस्तादुपयथाक्रमं-
तावेव । यथा,—

कन्याया— अनन्यपूर्विका इति विशेषणान्तरोपादानेन व्यावर्त्यन्ते-
निरुक्तवाग्दत्तादिसप्तपुनर्भुवः ।

विशेषणस्यास्य व्याख्यानं तु यथा “या दानेनोपभोगेन वा पुरुषान्तर-
पूर्विका न भवति तां । अनेन वाग्दत्तादीनां सप्तानां पुनर्भुवामनुष्ठितः-
पुनर्विवाहो भारते पूर्वतः पूर्वाचार्यैस्तत्कालोपयोगितयेति प्रतीयते-
स्पष्टतः । अन्यथा तद्विशेषणोपादानस्यानावश्यकत्वात्, प्रवृत्तिमन्तरा निवृत्तेर-
सम्भवाच्च । अतोऽत्र वाग्दत्तामनोदत्तयोर्निषेधः पूर्वस्य निर्द्दिष्टत्वे बोध्यमिति ।

अतएव नारदः,—

“दत्ता न्यायेन यः कन्यां वराय न ददाति ताम् ।
अदुष्टश्चेद्वरो राज्ञा स दण्डस्तत्र चौरवत्” ॥ इति ।

तत्रैव दण्डं विधत्ते, दुष्टे तु पूर्व्वरे वाग्दत्तापि वरान्तराय देया ।

तथाच पराशरः,—

“नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ ।

पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते” ॥

अस्यार्थः, वाग्दानानन्तरं पाणिग्रहणात् प्राक् पतौ सम्भावितोत्पत्तिक्र-
पतित्वे पूर्वस्मिन् वरे नष्टे सति लक्षणया दूरदेशगमनेनाऽपरिज्ञातवृत्तान्ते सति ।

यथा, वरणानन्तरं देशान्तरगमने विशेषमाह कात्यायनः,—

“वरयित्वा तु यः कश्चित् प्रणश्येत्-पुरुषो यदि ।

ऋत्वागमांस्त्रीनतीत्य कन्यानां वरयेद्वरम्” ॥

तथा नारदोऽपि,—

“परिगृह्य तु यः कन्यां नरो देशान्तरं व्रजेत् ।

लीनृतून् समतिक्रम्य कन्यानां वरयेद्वरम् ॥

स्त्रीपुंसयोस्तु सम्बन्धाद्वरणं प्राग्विधीयते ।

वरणाद्यग्रहणं प्राणेः संस्कारोऽपि विचक्षणैः ।

तयोरनियतं प्रोक्तं वरणं दोषदर्शनात्” ॥ इति ।

परिगृह्य वाचा दत्तां स्त्रीकृत्य लीनृतूनि ।

इदं च कन्याया अर्धार्थत्वे बोध्यम् ।

शुल्कदानानन्तरं सति देशान्तरगमने कन्याया धार्थ्यत्वे,—

“प्रदाय शुल्कं गच्छेद्यः कन्यायाः स्त्रीधनं तथा ।

धार्या सा वर्षमेकं तु देयानग्रस्मै विधानतः” ॥

इति नारदेनैव विशेषतो वर्षं प्रतीक्षाया अभिधानात् । स्त्रीपुंसयो-
रित्यादेरयमर्थः । स्त्रीपुंसयोः संसर्गात्प्राक् त्रितयं क्रियते । वरणं-
पाणिग्रहणं, सप्तपदीक्रमश्चेति । तत्र वरणं नाम वरस्य सम्यदानत्वाय-
दात्रा प्रार्थनम् । तदेव च वाग्दानम् । एवं स्थिते तयोः पाणिग्रहण-

सप्तपदोपक्रमणयोः पूर्वभावि यद्वरणं, तदनियतं अनियामकमित्यर्थः तयो-
रेकभार्यात्वोत्पादकत्वादिति भावः ।

तथाच मनुः,—

“पाणिग्रहणमन्वैस्तु नियतं दारलक्षणम् ।

तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वभिः सप्तमे पदे” ॥

दोषदर्शनादिति वाक्यशेषस्यायमर्थः । वरणस्यानियामकत्वमपि पूर्व-
वरस्य दोषे सत्येवेति । यदि त्वन्यस्मै दत्तायां पूर्ववरोऽप्यायाति तदाऽनूढां तां-
लभते । ऊढायां तु स्वदत्तं द्रव्यमेव लभते न तु कन्याम् ।

विशेषमाहानेकेभ्यो वाग्दत्तायां कात्यायन एव,—

“अनेकेभ्योऽपि दत्तायामनूढायां तु तत्र वै ।

प्रत्यागतश्च सर्वेषां लभेतादिवरः सुताम् ॥

अथागच्छेयुरूढायां दत्तं पूर्ववरो-हरेत् ॥” इति ।

तदेवं नष्टे इति व्याख्यातम् । एवं मृतेऽपि यथा । वाचा दत्तायामप्य-
संस्कृतायां वरमरणे न कन्यात्वहानिः ।

तथाच वसिष्ठः,—

“अङ्गिर्वाचा च दत्ताया म्रियेतादौ वरो यदि ।

न च मन्वोपनीता स्यात् कन्यका पितुरेव सा” ॥

मन्वोपनयनं पाणिग्रहणादिकं विना वाचा दानमिवाङ्गिरपि दानं न
भार्यात्वोत्पादकमित्यर्थः ।

अतएव यमः,—

“नोदकेन न वा वाचा कन्यायाः पतिरुच्यते ।

पाणिग्रहणसंस्कारात्-पतित्वं सप्तमे पदे” ॥ इति ।

तथा प्रव्रजिते कृतसन्यासे क्लीवे चेतिः । चकारादन्यजातीयादेर्ग्रहणम् ।

तथाच कात्यायनः, —

“स तु यदन्यजातीयः पतितः क्लीब एव वा ।

विकर्मस्थः सगोत्रो वा दासो दीर्घामयोऽपि वा ॥

ऊढापि देया सान्यस्मै सहावरणभूषणा” ॥ इति ।

अत्रोढापीत्यपिशब्दः कौमुतिकन्यायेन वाग्दत्ताया एवान्यस्मै दानमाचटे-
न तूढायाः । अन्यथा सगोत्रोढाया अपि पुनर्विवाहो विरुध्यते ।

तथाच, वाग्दत्तापि वरदोषे ज्ञाते गुणवतेऽन्यस्मै देयेत्यस्मिन् विषये ।

यथाहत्तुर्वसिष्ठवैधायनावपि,—

“वलादपहृता कन्या मन्त्रैर्यदि न संस्कृता ।

अन्यस्मै विधिवत्-देया यथा कन्या तथैव सा” ॥

तथाच याज्ञवल्करः—

“दत्तामपि हरेत्-पूर्वाच्छ्रेयांश्चेद्वर आब्रजेत्” ।

वाक्यद्वयमेतच्च वाग्दत्ताविषयम् ।

तथाच समर्थयत्येतद्गौतमः,—

“प्रतिश्रुत्याप्यधर्मसंयुक्ताय न दद्यादिति” ।

वरदोषास्तु प्रायुक्ताः ।

तथाच शातातपोऽपि,—

“वरश्चेत्-कुलशीलाभ्यां न युजेत कथञ्चन ।

न मन्त्राः कारणं तत्र न च कन्यानृतं भवेत् ॥

समाच्छिद्य तु तां कन्यां वलादक्षतयोनिकाम् ।

पुनर्गुणवते दद्यादिति शातातपोऽब्रवीत् ॥

हीनस्य कुलशीलाभ्यां हरन् कन्यां न दोषभाक्” ॥ इति ।

तथाच बोधायनः—

“निसृष्टो वा हतो वापि यस्या भर्ता म्रियेत वा ।

सा चेदक्षतयोनिः स्याद्-गतप्रत्यागतापि वा ॥

पौनर्भवेन विधिना पुनः संस्कारमर्हति” । इति ।

प्रमाणजातेनानेन वाग्दत्ता कन्या अक्षतयोनिका न युवती कन्येति-
प्रतीयते ग्रन्थकर्तुरभिप्रायः ।

तथाच शुल्कदानानन्तरं देशान्तरगमने विशेषमाह मनुः,—

“कन्याया दत्तशुल्काया म्रियेत यदि शुल्कदः ।

देवराय प्रदातव्या यदि कन्यानुमन्यते” ॥ इति ।

केषां केषामपि प्रमाणानामुपयुक्तप्रमाणाभ्यन्तरतः परस्परविप्रतिपत्त्या-
भासपरिदर्शनादयत्त्वादिमतोज्ञावनपूर्वकः कीदृक् तत्परिहारविवेकोऽनुष्ठीयते
निवन्धकर्तृभिस्तदधस्तादुद्भाव्यतेऽत्र । यथा—

यत्तु,—

“विकर्मस्थः सगोत्रो वा दासो दीर्घामयोऽपि वा” ।

इत्युपक्रम्य,—

“जढ़ापि देया सान्यस्मै सप्रावरणभूषणा”

इति कात्यायनीयं सगोत्रायाः पुनर्विवाहस्मरणं, तदयुगान्तरीयविषयम् ।

कलौ तु,—

“जढ़ायाः पुनरुद्वाहं ज्येष्ठांशं गोवधं तथा ।

कलौ पञ्च न कुर्वीत भाटजायां कमण्डलुम्” ॥

इति ब्रह्मपुराणेन साक्षात् पुनर्विवाहनिषेधात् ।

तस्मात् परिपालनं परिशेषेण कलिविषयमवतिष्ठते इत्याहुः ।

अत्रेदं प्रतिभाति, जढ़ायाः पुनरुद्वाहमित्ययं निषेधो न सगोत्रोद्वा-

पुनर्विवाहं विषयीकरोति । तस्या उद्वाहत्वाभावात् । विवाहो-नाम-
संस्कारजनिका क्रिया । न च सगोत्रायां संस्कारा उत्पद्यन्ते । असगोत्रा-
मित्यनेन तस्याः पर्युदस्तत्वात् । न च “जडापि देया सान्ध्यायै, “उत्सृज्य तां-
तयोर्भाय्यां” इत्यादि प्रयोगान्यथानुपपत्त्या तस्यामपि संस्कारसिद्धिः । तस्य
प्रवृत्तिनिमित्तत्वादिति वाच्यम् । गौणीतयापि प्रयोगोपपत्तेः । संस्कारवत्-
क्रियामात्रस्यापि प्रवृत्तिनिमित्तत्वे विवाहशब्दस्य नानार्थत्वापत्तेः ।

तस्मात् सगोत्रायां संस्कारानुत्पत्त्या जडात्वाभावात् न पुनर्विवाहनिषेधः-
प्रवर्तते ।

निषेधस्तु,—

“नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ ।

पञ्चास्त्रापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते” ॥

इत्याद्युत्पन्नसंस्कारस्त्रीविषयत्वेनाप्युपपद्यत इति । तथाच सगोत्रोदायां-
पालनविवाहयोर्विकल्प एव सिध्यति ।

ननु मासु जडायाः पुनरुद्वाहमित्यस्य निषेधस्यायं विषयः । “दत्ता-
क्षतायाः कन्यायाः पुनर्दानं वरस्य च” इत्यस्य तु निषेधस्य विषयो-
भविष्यत्येव । सगोत्रोदायां पर्युदस्तत्वेन संस्कारानुत्पत्त्या विवाहाप्रसक्तावपि-
दानपदार्थोत्पत्तौ बाधकाभावेनैतन्निषेधप्रवृत्तेरव्याहतत्वात् ।

दानपूर्वकत्वाद्विवाहस्य दाननिषेधे विवाहस्यापि निषेधसिद्धेः ।

न च दानेऽपि सगोत्रपर्युदासोऽस्ति । येन दानं न सिध्यति । यद्यपि-
न सगोत्राय दुहितरं प्रयच्छेदिति दानेऽपि सगोत्रपर्युदासोऽस्त्येव तथाप्यसाव-
दृष्टार्थो न दानपदार्थोत्पत्तौ बाधकः तस्य लौकिकत्वात् अतएव वैधा-
वैधदानभेदेन दत्तानपाकर्मदत्ताप्रदानिकमिति संज्ञाभेदोऽप्युपपन्नः । अष्ट-
गात्रसंस्कार एव । स च भार्यात्वरूपः, तदर्थक एव दानेऽयं पर्युदासो-
न दानमात्रे । अन्यथा दत्तपुत्रीकरणेऽपि सगोत्राय दुहितृदानं न स्यात् ।
तस्मात् सगोत्रेऽपि कन्यादाननिषेधत्वा तस्याः पुनर्दानं कलौ निषिध्यते ।
तन्निषेधेनैव विवाहनिषेधोऽप्यर्थसिद्ध एव । दानपूर्वकत्वात् विवाहस्य ।

यद्येवं तर्हि सगोत्रायां गन्धर्वादिविवाहः कुतो नेष्यते । तस्य दानपूर्वकत्वाभावादिति चेन्न । जड़याः पुनर्गान्धर्वादिविवाहनिषेधेऽपि ब्राह्मादिविवाहस्यैव मया निषेधोपगमादिति प्राप्तेऽभिधीयते । दत्ताशब्दो विवाहपर एवावश्यं वाच्यः । दानमात्रपरत्वे वाग्दत्तायां वरदोषदर्शने वरान्तरायाऽपि पुनर्दानं न स्यात् ।

न च तत्र शिष्टाः कलिदोषं मन्यन्ते । दानशब्दोऽप्येष लक्षणया-विवाहमेवाभिधत्ते जड़याः पुनरुद्वाहमित्यनेनैकवाक्यतालाभात् । अन्यथा-श्रुत्यन्तरकल्पना स्यात् । ततश्च सगोत्रायां दानपदार्थानिष्यत्तावपि संस्कारानिष्यत्वा जड़त्वाभावात् कलिनिषेधाप्रवृत्त्या पुनर्विवाहः केन वारणीय इति ।

यत्तु दत्ताक्षतेति वाक्यं ब्राह्मादिचतुष्टयविषयम् । ब्राह्मादिचतुर्णां दानपूर्वकत्वात् पुनर्दाननिषेधोपपत्तेः न गान्धर्वादिविषयं । तत्र दानाभावात् । जड़याः पुनरिति वाक्यं तु गान्धर्वादिचतुष्टयविषयं । सामान्यवाक्यत्वादिति व्यवस्थापनम् । तदप्येतेनैकमूलकल्पनालाघवेन निरस्तम् । एतेन—

“वालिकाक्षतयोन्याश्च वरेणानेन संस्क्रतिः ।

इत्यादीन्यपि वाक्यानि सगोत्रपरतया व्याख्यातानि ।

कन्यकानां योऽयं पुनरुद्वाहो विहितः सोऽक्षतयोऽन्या एव नतु युवत्या-इति ध्येयम् ।

“सा चेदक्षतयोनिः स्यादक्षतप्रत्यागतापि वा ।

पौनर्भवेन भर्ता सा पुनः संस्कारमर्हति” ॥ इति । मनुस्मरणात् ।

अत्र सेति तच्छब्देन पूर्वप्रक्रान्ता पुनर्भूयते ।

यद्यपि,—

“या प्रत्या वा परित्यक्ता विधवा स्वेच्छयाऽपि वा ।

उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते” । इति ।

पुनर्भूविशेष एव प्रक्रान्तो न पुनर्भू सामान्यम् ।

तथापि—

अक्षतायां क्षतायां वा जातः पौनर्भवः स्मृतः” । इति ।

स्मृत्यन्तरवाक्यैकवाक्यतया पुनर्भवमात्रजातस्य पौनर्भवत्वेन पुनर्भू-
सामान्यस्यैव प्रक्रमोऽभिप्रेत इति ध्येयम् । तस्याद्याक्षतयोनिवत्तत्त्वच-
गुणविशेषपुरस्कारेण पुनःसंस्कारो विधीयते ।

“सा चेदक्षतयोनिः स्यात्-पुनः संस्कारमर्हति” । इति ।
नारदोऽपि,—

“उद्वाहितापि या कन्या न चेत् संप्राप्तमैथुना ।
पुनः संस्कारमर्हति यथा कन्या तथैव सा” ॥ इति ।

अतएव मनुः,—

“प्राणिग्रहणिका मग्नाः कन्यारखेव प्रतिष्ठिताः ।
न त्वनग्रासु क्वचिन्नृणां लुप्तधर्मक्रिया हि ताः” ॥

इत्यक्षतयोनीनामेव कन्याशब्दाभिधेयानां मन्त्रसंस्कारमाह । “कन्या
अग्निमत्यक्षतेति” मन्त्रलिङ्गात् ।

एतेनापरार्कीयमपि गतप्रत्यागतायां क्षतात्वव्याख्यानं परास्तम् ।

यच्च पुनर्भूर्या कौमारं भर्तारं उत्सृज्य मानैः सह चरित्वा पुनस्तस्यैव
गृहमाविशति, सा पुनर्भूभवतीत्युपक्रम्य । नमस्कारबोधकं वशिष्ठवाक्यमतो-
दाहृतम् ।

तत्रापि चरित्वेत्यत्र नैकान्ततः सुरतमेव कर्मतयोपतिष्ठते । सप्तपदीनां-
चरित्वेत्यस्यापि सम्भवात्, बहूनां अनुग्रहो न्याय्य इति न्यायेनानेकावाक्यानु-
रोधाच्च ।

बस्तुतस्तु धात्वर्थमर्थ्यादयापि सप्तपदाचरणमेव सुख्यार्थी गम्यते न सुरत-
मिति धेयम् ।

पुनर्विवाहेऽक्षतयोन्याः सति निरुक्तवचनैः प्रतिपादितेऽपि सांप्रतिक-
कालानुकूलत्वमस्ति न वेत्यस्य प्रमाणयुक्तिनिर्देशपूर्वकविवेचनं क्षतयोनि-

स्त्रैरिणीपत्यन्तराश्रयणविचारगर्भकनियोगविधेः परामर्शाभ्यन्तरे प्रदर्शनीयं-
सुकरायेत्यत्र नोद्विग्नं पार्थक्येन ।

सम्प्रत्यतः प्रारभ्यते क्षतयोनिस्त्रैरिणीपत्यन्तरग्रहणविवेकगर्भकनियोग-
विधिविवेचनमादितः । तत्र प्रथमतोऽन्यार्थं अन्यदर्थपरिणयने प्रतिप्रसवः,
तत्र याज्ञवल्क्यः, —

“अपुत्रां गुर्वनुज्ञातो देवरः पुत्रकाम्यया ।

सपिण्डो वा सगोत्रो वा घृताभ्यक्त ऋतावियात्” ॥

इति, यद्यप्यत्र गमनमात्रमेव श्रूयते । तथापि परिणयनपूर्वकमेव-
तद्वृष्टव्यम् ।

“यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते सति ।

तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥

यथाविध्यवगम्येनां शुक्लवस्त्रां शुचिब्रताम् ।

मिथो भजेताप्रसवात् सकृत्-सकृद्वतावृतौ” ॥

इति मनुस्मरणादयञ्च विवाहो वाचनिको मृतस्यैव भार्यात्वोत्पादकः-
न वोदुः ।

“अनेन विधिना जातः क्षत्रजोऽस्य भवेत्-सुतः” ।

इति इदममृतस्यैव परामर्शात् । स च वाग्दत्ताविषयी-नोदाविषयः ।

“यस्या म्रियेत कन्याया” इति पूर्वोक्तमनुवचनात् ।

तथा, —

“देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यग्गुण्युक्तया ।

प्रजेप्सिताऽधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥

विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो-निशि ।

एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन” ॥

इतिप्रवं नियोगमुपन्यस्य मनुः स्वयमेव निषेधति ।

“नान्यस्मिन् विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः ।

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित् ॥

न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ।

अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मी-विगर्हितः ॥

मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेणे राज्यं प्रशासति ।

वर्णानां संकरं चक्रे कामोपहतचेतनः ॥

ततः प्रभृति यो मोहात्प्रसीतपतिकां स्त्रियम् ।

नियोजयत्यपत्यार्थं गर्हन्ते तं हि साधवः” ॥ इति ।

विधवायां नियुक्तस्त्रियत्र विधवाशब्दो वाग्दानानन्तरं विवाहात् प्राक्-
मृतपतिकाविषयः । नोद्वाहिकेषु मन्त्रेष्विति हेतूपन्यासात् । नन्वेवमन्त-
योन्या एव संस्कारार्थविधाने,—

“या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताऽज्ञाताऽपि वा सती ।

वोढुः स गर्भी भवति सहोढ इति चोच्यते” ॥

इति मनुवचनं विरुध्येत, गर्भिण्याः संस्काराविधानादिति चेत् मैवं,
सहोढस्य वोढुः पुत्रत्वान्यथानुपपत्त्या तादृशसंस्काराभ्युपगमात् ।

तस्मादक्षतयोनिश्चेद्-गतप्रत्यागता, तदा पूर्वभर्ता पुनः संस्त्रत्य परि-
ग्राह्येति । अत्राहुः न संवाह्येति । कुतः पुनःसंस्कारस्य कलौ निषेधात् ।

यथा,—

“ऊढायाः पुनरुद्वाहं जैष्ठ्याशं गोवधं तथा ।

कलौ पञ्च न कुर्वीत भ्रातृजायां कमण्डलुम्” ॥ इति ।

न च कलिनिषेधस्यापि युगान्तरीयधर्मस्यैव,—

“नष्टे मृते”—इत्यादि पराशरीयवाक्यमस्तु प्रतिपादकं कलाविति वाचं,
“कलौ धर्माननुष्ठेयान् वक्ष्यामी”ति प्रतिज्ञाय तद्व्युत्पन्नप्रणयनाद्वाक्यस्यास-

तद्वर्मानुगतव्याख्यानस्य पूर्वप्रदर्शितत्वाच्चेति दिक् । तदपरे न क्षमन्ते वरान्तर-
कर्तृकस्यैव पुनर्विवाहस्य कलौ निषेधो न स्वकर्तृकस्य ।

“दत्ताक्षतायाः कन्यायाः पुनर्दानं परस्य च” ॥

इति बृहन्नारदीयवाक्येनास्योपसंहारात् । अतएव, —

“बालिकाक्षतयोनाश्व वरेणान्येन संस्कृतिः” ॥

इति धर्मज्ञसमये स्पष्टमेवाभ्यधायि । अन्यथा चिरप्रोषितजीवदार्त्ता-
नाकर्णने कृतोर्द्धदेहिकस्य पुनः प्रत्यागमनेऽपि स्त्रियाः पुनः संस्कारो-
निषेधेत ।

तस्मान्नास्य निषेधस्यायं विषय इति न पूर्वेण भर्ता तस्याः परिग्रहे-
विरोध इति । तन्न साधु ।

स्वपरकर्तृकस्य द्विविधस्यापि पुनःसंस्कारस्य कलौ निषेधात् ।

यथा ब्रह्मपुराणे,—

“मृते भर्तारि या नारौ त्यक्तवतप्रथ तं स्वयं ।

यदि सा बालविधवा वलाच्यक्ताऽथ वा क्वचित् ॥

तथा भूयस्तु संस्कार्या गृहीता येन केनचित् ।

तत्रक्ता भर्तृगृहं गच्छेद्-यदि दोषं विना पुनः ॥

संस्कर्तव्या च भर्ता सा प्रायश्चित्तादिभिः क्रमात् ।

स्त्रीणां पुनर्विवाहस्तु देवराट्पुत्रसन्ततिः ।

स्वातन्त्र्यं वा कलियुगे न कर्तव्यम् कदाचन” ॥ इति ।

अत्र यत्तच्छब्दोपादानादेकवाक्यत्वं, तच्चैवम् । या मृतभर्तृका या च-
जीवन्तमेव भर्तारं स्वयं त्यक्ता सवर्णादन्यस्मात् पुरुषाद्भर्तुं जनयेज्जनयितुं-
प्रवर्त्तते, सा येन केनचित् गृहीता स्त्रीकृता भूयः संस्कार्या । तत्र मृत-
भर्तृकायास्त्यक्तभर्तृकायाश्च विशेषप्राप्तावाह, यदि सा बालविधवा अक्षत-

योनिस्तथा त्यक्तभर्तृका भर्त्तापि वल्लान्निर्भक्ष्य त्यक्ता भवति । तदैव संस्कार्या-
नान्यथा । अनेन वा,—

“या पतया वा परित्यक्ता विधवा स्वेच्छायामि वा” ॥

इति मनुवाक्येऽपि पत्या स्वेच्छया परित्यक्तेत्येवान्वयसिद्धिः । तेन च-
क्षतयोन्याः भर्तृपरित्यक्तायाश्च व्यावृत्तिः ।

तत्र गर्भस्य कुण्डगोलकत्वपरिहारायाह,—

“भर्तुः पौनर्भवं सुतमिति” ।

भर्तृर्हितीयस्य पत्युः पौनर्भवं पुनर्भासुत्पादितं सुतं पुनःसंस्क्रताया-
सुत्पन्नस्यैव पौनर्भवत्वात् । एवं पुनर्भूः संस्कारशुक्ता गतप्रत्यागता संस्कारमाह,
त्यक्तेति,—

यदि सैव पुनर्भूः पौनर्भवं भर्तारं त्यक्ता दोषं पुष्टसंबन्धं विना पुनः-
भर्तुः पूर्वस्य पतुः गृहं गच्छेत् ।

तदा सा भर्त्ता पूर्वेण प्रायश्चित्तादिभिः संस्कार्येतिः पुनर्विवाह उक्त-
विषयः । स्वातन्त्र्यं विधवायाः पित्रादिपरिहारेण स्थितिरिति । अत्र तदा
भूयस्तु संस्कार्येति परकर्तृकस्य भर्त्ता संस्कर्तृक्या चेति स्वकर्तृकस्य च पुनःसं-
स्कारस्य प्रक्रमात् स्त्रीणां पुनर्विवाहस्त्विति सामान्यनिषेधो द्वावपि विषयी-
करोति । विशेषविनिगमकाभावात् । यदि सन्निधिविनिगमकस्तदा-
सुतरामस्मादभीष्टसिद्धिः । स्वकर्तृकस्यैव सन्निहितत्वात् । न च सामान्यस्यास्य-
वरेणान्येन संस्क्रतिरिति विशेषेणोपसंहार इति वाच्यम् । सन्निधिलक्षण-
प्रकरणोपात्तविशेषद्वयान्वयेन विशेषरूपतयेवास्य नैराकाङ्क्षात् । ग्रन्था-
न्तरीयस्य विशेषस्य विलम्बोपस्थितिकतयाऽनन्वयात् । तस्मात् पुनर्भूः गत-
प्रत्यागता चेतुरमेऽस्य संयाह्ये । इति ।

यत्तु,—

“सा चेदक्षतयोनिः स्यादिति” । मनुवचनम्

तद्युगान्तरविषयम् उक्तवचननिचयात् । अतएव तादृश्यामनुक्तस्यागोऽपि
साम्यतविषये एव । यथा,—

“विधिवत्-प्रतिगृह्यापि त्यजित्कनयां विगर्हिताम् ।

व्याधितां विप्रदुष्टां वा ह्यद्वना चोपपादिताम्” ॥ इति ।

विगर्हितां पूर्वं प्रतिगृहीतामक्षतयोनिं वापीति मेधातिथिः । विप्र-
दुष्टामन्यगतभावामिति ।

नारदोऽपि,—

“नादुष्टां दूषयेत्-कनयां नादुष्टं दूषयेद्वरम् ।

दोषे सति न दोषः स्यादन्योनं त्यजतोर्द्वयोः” ॥ इति ।

अदुष्टकन्यापरित्यागे दण्डमाह,—

“अदुष्टाञ्च त्यजन्-दण्ड्यो दूषयंस्तु मृषाशतम्” । इति ।

प्रतिगृह्य तु यः कन्यामदुष्टामुत्सृजेद्वरः ।

विनेयः सोऽथ दण्डेन कनयां तामेव चोद्वहेत्” ॥

कात्यायनः,—

“वरदोषमनाख्याय पाणिं गृह्णाति यो नरः ।

याचनं च प्रकुर्वीत तद्वत्तं नापुयात्तु सः ।

कन्यादोषेऽप्येवमेव दाता दण्ड्यो वरस्तथा” ॥

याज्ञवल्क्योऽपि,—

“अनाख्याय वदद्दोषं दण्ड्य उत्तमसाहसम्” ॥ इति ।

व्यवस्थानमेतद्भारतीयानां निबन्धकाराणामाशयानुगतमिति प्रदर्शितमत्र-
सम्यक्तया ।—

किन्त्वस्य बहुसंशयसङ्कुलत्वात् सहजेनैवावगन्तव्यं साधारणेनैतदिति-
स्फुटतोऽत्र न प्रकाशितम् । अतोऽधस्तादत्र विव्रियते सन्देहनिरसनसहित-
मिदं वैशद्येन । यथा,—निरसनमेतज्जातिनिर्विशेषेण उत जातिभेदेनेत्या-
शङ्कायां द्विजातित्रयविषयकमेवेदमिति प्रतिभाति निरुक्तप्रमाणवृन्दपर्या-
लोचनतः ।

अतएव शास्त्रतोऽविगीतशिष्टाचारतश्च ब्राह्मणादिजातित्रयाभ्यन्तरे-

ऽवलोक्यते निषेधो विधवोपयमनस्य सनियोगस्येति प्रेक्षावतां परमार्थः । विवेचनमेतत्सर्वं करोति पूज्यचरणो मनुरेव प्राक्प्रदर्शितस्रोतप्रमाण-जातेनैव । तत्प्रमाणव्राताभ्यन्तरतः कतिचिद्व्यमाणानि प्रदर्श्यन्ते निम्नतः-प्रसङ्गसङ्गत्यर्थः । यथा,—

“नान्यस्मिन्-विधवानारीत्याश्रय कामोपहतचेतन” इत्यन्तप्रमाणानुक्तानि-पुरतः ।

तथाच, “एवं नियोगविधिसभिधाय दुषयितुमाह,—

नान्यस्मिन्निति—ब्राह्मणादिभिः विधवा-स्त्रीभर्तुरन्यस्मिन् देवरादौ न-नियोजनीया, यस्मात् स्त्रियमन्यस्मिन् नियुञ्जानास्ते स्त्रीणामेकपतित्वधर्म-मनादिसिद्धं नाशयेयुरिति तट्टीकाकारः ।

तथाह स एव,—

“नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित् ।”

तथाच कुल्लूकभट्टः,—

“नोद्वाहिकेष्विति, अर्थमाणं नु देवमित्येवमादिषु विवाहप्रयोजनकेषु मन्त्रेषु-क्वचिदपि शाखायां न नियोगः कथ्यते । न च विवाहविधायकशास्त्रेणैव पुरुषेण सह पुनर्विवाह उक्तः” । इति

द्विजातिभिरिति बहुवचननिर्देशेन क्षत्रियवैश्ययोः संग्रहः, अतस्त-ट्टीकाकारेण ब्राह्मणादिभिरित्यस्य व्याख्यातम् ।

न च प्रमाणैरेतैर्नियोगनिषेधस्योद्भाषिततया न पुनर्विवाहनिरसनं-विधवाया इति वाच्यं, तस्योपलक्षकत्वात् ।

“विधवावेदनं पुनः”

इत्यादि-मानवीयवाचनिकप्रमाणेनैव विधवोपयमननिषेधस्य स्पष्टतः-प्रकाशितत्वाच्च ।

विशदयति विषयमेतं स्पष्टतो मनुस्तद्व्याख्याकारश्च । यथा,—

“नानोत्पन्ना प्रजास्तीह न चाप्यनग्रपरिग्रहे ।

न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्तोपदिश्यते” ॥ इति ।

अत्राह कुल्लूकभट्टः—

“साध्वाचाराणां न कचित् शास्त्रे द्वितीयो-भर्तापदिश्यते एवं पुनर्भूत्व-
मपि प्रतिसिद्धं” इति ।

पुनश्च तां निषेधति स एव,—

“पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जौवतो वा मृतस्य वा ।

पतिलोकमभौष्मन्तौ नाचरेत्किञ्चिदप्रियं ॥

कामन्तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः ।

न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु” ॥ इति ।

अपिच—पुनर्भवनधर्मो हि पुरुषान्तराश्रयरूपः सधवानां विधवानां च-
सम्भवति । तत्र सधवानां स्त्रीधर्मप्रकरणपूर्वाक्तमन्वादि-वचनैर्वक्ष्यमाणै-
र्वचनेषु पतिमात्रपरायणोक्त्या, पतित्यागपूर्वकं पुरुषान्तराश्रयणे च,—

“क्लौवं वा दुरवस्थं वा व्याधितं वृद्धमेव वा ।

सुस्थितं दुःस्थितं वापि पतिमेव न लङ्घयेदिति ॥

कन्यां विवाहसमये वाचयेयुरिति द्विजाः ।

भर्ता सहचरोऽभूयार्जीविताऽजीवितापि वा ॥ इति ।

“या पतिं संपरित्यज्य पुरुषान्तरमाश्रयेत् ।

पशुधर्मवती सा हि त्याज्या वध्यापि वा भवेदिति” ॥

सत्याषाढोद्धृत-पारस्करौय-वचनव्रातिन,

तथा,—

“सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः ।

द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः ॥

इति मानवीयवचनेन,

तथा,—

“स्त्र्येभ्योऽपि दुःसङ्गेभ्यो दौःशील्यसंपादकेभ्यो विशेषेण स्त्रियो-
रक्षणीयाः—”

इति —कुलूकभट्ट-व्याख्यानेन प्रतिपादितपातित्यदेवपैत्रकर्मनिरूप-
त्याज्यत्व-वध्यत्व कुलाधमत्व-कुलनाशित्व-विवाहपर्युदस्तत्वोक्त्या च पुनर्भवन-
धर्मस्य स्त्रीधर्मप्रकरणानुपात्तस्य साधुगर्हितस्य शास्त्रप्रतिपादितवेद्यातत्कार-
धर्मवत्सदनुष्ठेयासद्धर्मत्वं प्रतीयते व्यक्तम् ।

विधवानामपि स्त्रीधर्मब्रह्मचर्यस्य नित्यानुष्ठेयत्वप्रतिपादनेन—इन्द्रिय-
निग्रह-कर्तव्यतोपदेशेन पतिभरणानन्तरं परपुरुषनाम्नोऽपि ग्रहणनिषेधेन च-
सधवानामिव विधवानामपि पुरुषान्तराश्रयणे पातित्यदेवपैत्रवर्ज्यत्वकुल-
विनाशित्व-सदनाचरणीयत्वाद्युक्तेः पुनर्भवनधर्मो वेद्याधर्म इव साधुभि-
र्निरिखनीय इति च प्रतीयते । न च पुनर्भवनकर्मणः शास्त्रप्रतिपादितत्वात्-
कथमसद्धर्मत्वं साधुभिरनुष्ठेयत्वं चेति वाच्यं, वेदवोधितेष्टसाधनताकोद्येव-
कर्मणो धर्मत्वात् । अतएव श्रेयःसाधनं धर्म इत्युक्तं मन्वादिभिः मीमांसकैश्च ।
यदि वेदवोधितत्वमात्रेणैव कर्मणो धर्मत्वमिष्टं तदाभिचारतत्कारवेद्याधर्माणा-
मपि वेदवोधितत्वादधर्मत्वं स्यात् । इष्टापत्तौ श्रेयःसाधनं धर्मः वेदवोधितेष्ट-
साधनताको धर्म इत्याद्यभियुक्त-मुन्याद्युक्त-धर्मलक्षणं व्याह्रयेत् । प्रकृते तु-
पुनर्भवनकर्मणो बहुतरानिष्टमात्रसाधकत्वान्नोक्तलक्षणधर्मत्वमित्यादरणीयं
विद्वद्भिः ।

न च पूर्वतरैः कैश्चित्साधुभिराचरितत्वेन सदाचारानुमितवेदमूलकत्व-
तस्य कथं व्याह्रयेतेति वाच्यं, नानावचनविरोधात् । सदाचरणस्यापि-
श्रुत्यनुमापकत्वाभावाच्च । अतएव मीमांसाकृता तदपुत्रेणैवेति श्रुतिविरोधात्-
विश्वामित्रादीनां स्वपचान्नभक्षणादिवत् न श्रूयमानुमापकत्वमिति ध्येय-
मित्युक्तम् । अतएव दत्तायाः सधवाया विधवायाश्च पुनरधिवेदनेन वर्ज्यत्वाभि-
धानात् पर्युदस्तत्वं, निन्दाश्रवणात् दुरदृष्टाभिगमनेन च प्रसज्यप्रतिषेधत्वम् ।
अपिच ।

“सप्त पौनर्भवाः कनया वर्जनीयाः कुलाधमाः ।

तथा,

“द्वत्येताः कश्यपेनोक्ता दहन्ति कुलमग्नित्वम् ।”

इति याज्ञवल्क्यकाश्यपोक्तप्रमाणजातं जागरूकं तत्र ।

“पौनर्भव-इति स्वार्थेऽण्प्रत्यय इतिटोकाकारः ।

पौनर्भवनधर्मस्यापि वर्ज्या इत्यनेन पर्युदस्तत्वलाभान्न भार्यात्व-
निष्पादकत्वं, तेन पुनरुद्वाहिताऽपि पुनर्भूः न पत्नी ; किन्तु अवद्वा स्त्री-
विशेषः । अतएव न सा दैवे नापि पैत्रे इत्युक्तं, कुलाधमत्वकुलदाहकत्व-
निन्दाश्रवणाच्च प्रसज्यप्रतिषेधत्वेन प्रत्युताधर्मप्रयोजकत्वमेव । इत्यव-
गन्तव्यम् । अतएव स्मृतिचन्द्रिकायामपि स्त्रैरिणीवदाचरणनिषेधार्थमाह,—

“पानाशनदिवास्त्रम् इत्याद्युक्तम्” ।

तेन चान्यपूर्वाद्याः पुनर्भवनादि-धर्माचरणं प्रतिषिद्धात्मतः प्रवेयम् । एवं-
सर्वप्रकारेण अन्यपूर्वापर्युदासे प्राप्ते विशेषमाहेति मिताचरोक्तेषु पुनर्भूस्त्रियाः-
पुरुषसम्बन्धदूषितत्व-संस्कारदूषितत्वलाभेन पुनर्भवनधर्मस्य दुष्टधर्मत्वमेव-
न तु साधुधर्मत्वमिति व्यक्तम्” ।

अतएव,—

“कुलटा स्त्रैरिणी चान्याः परपूर्व्याः स्त्रियस्तथा ।

पतितास्ता हि विज्ञेयास्तत्तदाचरणं तत्रेदिति” ॥

विवेकटोकाकारधृतपारस्करवचनेनापि पुनर्भूस्त्रीणां पातित्यमुक्त्वा-
तद्धर्माचरणं निषिद्धम् ।

किंच,—“सक्तदेव कर्त्तव्यं कन्यादानमित्याह मनुः ।

यथा,—

“सक्तदंशो निपतति सक्तत्कनया प्रदौयते ।

सक्तदाह ददानीति वीण्येतानि सक्तत् सक्तन्” ॥

तथाच सति लक्षिते वरदोषे वरान्तरग्रहणस्यापि महर्षिभिरभ्यनुज्ञात-
तया सत्यवतः स्वाभ्यात्मकत्वेन पूर्वतो मनसा व्रततया नारदवाक्यनस्तस्या-
भ्यायुस्त्वमवगत्य पित्रा बहुशो निवारितापि सावित्री न ततप्राज तमिति-
प्रकटयन्ति निजतो वनपर्वीयप्रमाणानि यथा,—

राजोवाच,—

“एहि सावित्रि ! गच्छ त्वमनं वरय शोभने ! ।

तस्य दोषो महानेको गुणानाक्रम्य च स्थितः” ॥

सावित्र्यवाच,—

“सकृदंशो निपतति सकृत्कनया प्रदीयते ।

सकृदाह ददानौति बोध्येतानि सकृत्-सकृत् ॥

दौर्घायुरथ वाल्पायुः सगुणो निर्गुणोऽपि वा ।

सकृद्भृतो मया भर्ता न द्वितीयो वृणोम्यहम् ॥

मनसा निश्चयं कृत्वा ततो वाचाभिधौयते ।

क्रियते कर्मणा पश्चात्प्रमाणं मे मनस्ततः” ॥ इति ।

तथा प्रमाणानि यथा शिवपुराणीय-ज्ञानकाण्डे—

मेना, —

“यदि दास्यसि पुत्रीं त्वं त्यक्त्याम्येतत्कलेवरम्” ।

पार्वत्युवाच,—

“मातस्ते विपरीतः वै बुद्धिस्त्वां समुपागता ।

देहि दानं शिवायैव ह्याश्रमं सार्थकं कुरु ॥

यदि न दास्यसि तथा न वृणोऽन्यं तथोत्तमम् ।

मनसा वचसा देवि ! कर्मणा वा हरः स्वयम् ॥

वृत्तो वृत्तो वृत्तश्चैव यदीच्छसि तथा कुरु इति” ।

तथाच देवीभागवते,—

पितोवाच,—

“यदि सुदर्शनं वत्से हठाच्च वै वरिष्यसि ।

क्षुधाजित्वाञ्च माञ्चैव हनिष्यति वलान्वितः ॥

सुदर्शनश्च तेजस्वी बलमत्तः प्रतापवान् ।

द्वितीयस्ते पतिः पश्चात्-भविता विकले सति” ॥

पुत्रवाच,—

“सत्यमुक्तं नृपश्रेष्ठ ! जानामि च ब्रतं मम ।

नानग्र वृणोमि भूपालं सुदर्शनमृते क्वचित् ॥

मया सुदर्शनः पूर्वं धृतश्चेतसि नानग्रथा ।

कारणं पुण्यप्राप्तानां मन एव महौपते ।

मनसा विधृतं त्यक्त्वा कथमनग्र वृणे पितः” ॥ इति ।

तथाच स्कन्दपुराणान्तर्गत-सनत्कुमारसंहितायां,—

यथा रत्नावली,—

“न चाहं वरयिष्यामि पतिमनग्रं कथञ्चन ।

दशाक्षाधिपतिः श्रुत्वा श्रूयतां तत्र कारणम् ॥

सकृज्जल्पन्ति राजानः सकृज्जल्पन्ति वै द्विजाः ।

सकृत्कन्या प्रदीयेत दौर्ग्ये तानि सकृत्-सकृत् ॥” इति ।

प्रमाणानि प्रचुराख्येतत्तुल्यानि बहुषु धर्मशास्त्रीयग्रन्थेषु विद्यमानान्यपि-
ग्रन्थबाहुल्यमभिया नोद्धृतान्यत्र ।

मन्वादिवचनैरपि कन्यायाः सकृद्दानाभिधानेन विवाहितायाः पुनरधि-
वेदननिषेधात् नर्भवन्धर्मां वेष्टाधर्म इव-साधुभिरपोषणीयः । अतएव-
स्मार्त्तभट्टाचार्यैरुक्तम् ।

कन्यायाः सकृद्दानन्तु पाणिग्रहणसंस्कारयुक्त-कन्याविषयकमिति तस्मान्नेदं-
वाग्दत्ताविषयम् । वाग्दानेन कन्यानिष्ठपितृसत्वानपगमाद्वाग्दानान्तरस्यापि-
सम्भवात् ।

“अनेकैभ्योऽपि दत्तायामूढायान्तु यत्र वै” । इति ।

कात्यायनवचनस्य तद्व्यतिपादकत्वाच्च ।

सति पर्यालोचिततनिरुक्तप्रमाणत्राते कौटुक्शास्त्रसङ्गतं विधवावेदनं
तदनायासेनैव बोध्यं बुद्धिमद्व्यक्तिमात्रेणैव । सम्प्रति मन्वाद्यनुमोदिता कौटुक्-
कन्या विवाहार्हा, तद्वोधकप्रमाणान्यादितः प्रोक्ततयात्र नोत्तोलितान्येव ।

अपिच, विषयेऽस्मिन् वेदीयप्रमाणमप्युद्ध्रियतेऽधस्तात् ।

“यदेकस्मिन्-यूपे द्वे रश्ने परिव्ययति । तस्मादेको द्वे जाये विन्देत ।
यन्नैकां रश्नां द्वयोर्यूपयोः परिव्ययति तस्मान्नैका द्वौ पती विन्देत” ।

तथा, पूर्वपतिलङ्घनमधर्माधायकमिति प्रकटीकृतमादिपर्वान्तभूत-
वकबधपर्वणि ।

यथा,—

“न चाप्यधर्मः कल्याण ! बहुपत्नीकता नृणां ।

स्त्रीणामधर्मः सुमहान् भर्तुः पूर्वस्य लङ्घने ॥”

तथा,—

“एकस्य बह्वो विहिताः पत्नयश्च कुरुनन्दन ! ।

नैकस्या बहवः पुंसः श्रूयन्ते पतयः क्वचित् ॥” इति ।

निरुक्तप्रमाणवृन्दवलान्निश्चीयते विधवाविवाहनिषेधो द्विजातिव्यभिच-
को नान्यजातिविषयक इति ।

तथा,—दृश्यतेऽस्मद्देशीयशिष्टाचारोऽपि ।

तथापि,—

“कन्यायां दत्तशुल्कायामित्यादिप्रोक्तमन्वादिधर्मशास्त्रीयवचनानां वाग्-
दत्तादिकन्याविषयकत्वेन सामान्यतः सति दत्तावकाशत्वेऽपि विशेषतो दत्ताव-
काशत्वाभावात् । परस्परं स्मृतिविरोधसंघटनसम्भावनयाऽत्रानुशीयते-
समालोचनं तत्सद्वाक्यानां स्फुटतोऽवकाशप्रदानपूर्वकम् । तथा,—

प्रथमतः “कन्यायां दत्तशुल्कायामित्यादिवाक्यानां सम्पूर्णतो लिखित-
तयाऽपि सूच्यन्तेऽधस्तात् संचेपतस्तत्तद्वचनान्यावश्यकतयात्र । यथा,

“कन्यायां दत्तशुल्कायामित्यादि” मनुः,—

तथाच “अङ्गिर्वाचे”त्यादि, तथा,—“यावच्चेति” वशिष्ठ, स्तथाच-
“यापत्या वा परित्यक्तेत्यादि” । तथा, सा चेदक्षतयोनिरित्यादि” । मनुः;

तथाच “स तु यद्यन्यजातीय” इत्यादि । कात्यायनः । तथाच,—
“वरश्चेत् कुलशीलाभ्यामित्यादि” । शातातपः,

तथाच, “उद्वाहितापि सा कन्ये”त्यादि । नारदः ।

तथाच “निसृष्टो वा हतो वापी”त्यादि”, वौधायनः । तथाच,-
“पाणिग्रहे सृते बाले”त्यादि” वशिष्ठः । एतद्भिन्नास्वन्यान्यस्मृतिषु तथाच-
स्मवेदेऽपि दृश्यन्ते प्रमाणान्यप्येतादृशानि ।

ननु “कन्यायां दत्तशुल्काया”मित्यारभ्य “पाणिग्रहे सृते बाल—इत्यन्त-
वचनजातानामितत् समयोपयोगितया वाग्दत्ताकन्याविषयकत्वेन प्रदत्ता-
वकाशत्वं कैश्चिन्निवन्धकर्तृभिर्यत्, तत्तु समीचीनमिति चेन्न, विविधदशापन्न-
कन्यकानामन्ततः कतिपयप्रमाणानां सति वाग्दत्ताविषयकत्वेऽपि “पाणिग्रहे-
सृते बाल” इत्यादि वाक्यान्तराणां संस्कृताऽक्षतयोनिकाविषयत्वात् । विभिन्न-
विषयावेदकप्रमाणानामेकविषयात्मकप्रतिपादकत्वेन क्लिष्टकल्पनाध्यवसायस्य-
स्युटतः समुद्भासितत्वाच्च ।

यदेतद्विषयकमन्यान्यविवेचनं, तत्तद्वत्प्रमाणान्यान्यविवेकावसरे विशदितव्यं-
स्थाने स्थाने । न च निरुक्तप्रमाणदृष्टितो विधवोपयमनं नाशास्त्रीयमितिवाच्यं,-
वेणुराजत्वावसरे तत्पूर्वतश्च तत्तत्समयानुकूलतया नियोगादिविधेः-
प्रचलितत्वेन सति प्रतिपादिते तद्विधानेऽपि तदाचरणस्य सम्भावित-
बहुदोषत्वेन तथा स्वरुचेरविषयतया च नियोगादेर्मनुना स्वयमेव निषिद्धत्वात्,
मनूक्तप्रमाणत्रातद्विहितस्तद्वाच्यकर्तृमेधातिथेर्भाष्यतश्चाभिप्रायस्यास्य स्युटतः-
प्रतीयमानत्वात्, तदनुष्ठानस्य स्वेनैवाध्यस्तपशुधर्मत्वाच्च ।

तथा समर्थयत्येतमभिप्रायं वेदोऽपि, अन्यथां विवाहस्यान्ते विवाहविधौ-
च द्वितीयोपयमस्याभविष्यन्नामोक्तेः ।

अपिच,—विधेः प्रतिपादनमेतस्यावश्यकमिति कुर्युश्चेन्नमसि संहिता-
कर्तारस्तदा नाकारिष्यन्निषेधविधेरवतारणमेव ।

यत्तु तत्र पुरुषस्य द्वितीयविवाहोक्तेखादर्शनान्नारी पुनर्विवाहोक्तेखाभावो-

न दोषाधायक इति यदुस्थापयन्त्यापत्तिं तन्नन्दं, पुरुषस्य दानग्रहीतया-
मन्त्रे तन्नामोक्तेखस्यानावश्यकत्वात्,—

कन्याया दानयोग्यद्रव्यत्वेन विवाहीयमन्त्रे देयद्रव्यनामोक्तेखस्य-
विधेयत्वाच्च ।

अन्यच्च—साधारणतो देयपदार्थजातस्य ग्रहीतधिकरणीयतया कन्या-
ग्रहीतुर्ग्रहीतपन्नग्रामधिकारस्य विद्यमानत्वेन । तथा,—

“स्वस्वत्वध्वंसपूर्वकपरस्वत्वोपादान”मित्यस्य दानपदार्थत्वेन ।

“सक्तदंशोनिपतत्यादिमानवोयवचनवलेन च प्रदत्तकन्यायाः पुनर्भवनस्य-
न भवेत् कदापि सम्भवपरत्वम् ।

अतो यः कुलसाङ्गव्यापादकः पुनर्विवाहः स तु धर्मपथमतिक्रामता वेष-
नृपतिना प्रचलितो,—न त्वस्य पशुधर्मात्मकत्वेन शिष्टादृत इति प्रतीयते-
शास्त्रतः ।

अपरंच,—पत्नीवियोगादिहेतुकद्वितीयपरिणयने हेतूनाहुर्व्याजवत्कारादयः ।

यथाह याज्ञवल्करः—

“सुरापी व्याधिता धूर्ता बन्ध्यार्थघ्नप्रियम्बदा ।

स्त्रीप्रसूश्चाधिवेत्तव्या पुरुषद्वेषिणी च या” ॥

अधिवेदनं भार्यान्तरपत्तिग्रहः ।

तथा चाह मनुरपि,—

“मद्यपाऽसत्यवृत्ता च प्रतिकूला च या भवेत् ।

व्याधिता वाऽधिवेत्तव्या हिंसार्थघ्नी च सर्व्वदा” ॥ इति ।

मद्यपाऽत्र द्विजातिस्त्री बोद्धव्येति प्राञ्चः ।

तथा स्मृतिभास्करेऽपि,—

“व्याधिता स्त्रीप्रजा बन्ध्या उन्मत्ता विगतात्तवा ।

अदुष्टा लभते त्रागं तीर्थतो न तु धर्मतः” ॥

तीर्थतो योनितः । “एतन्निमित्ताभावे नाधिवेत्तव्या ।” इत्यापस्तम्बः,—

तथाच गादाधरीयकालसारे, यथा स्वकृतकारिका,—

“नोद्वाहे दारसत्वे त्वधिष्ठतिरितरान्नादिभुङ्क्ते नो” इत्यादि ।

तथा,—

“अनाश्रमौ न तिष्ठेत्तु दिनमेकमपि द्विजः ।

आश्रमेण विना तिष्ठन् प्रायश्चित्तीयते त्वसौ ॥

जपे होमे तथा दाने स्वाध्याये वा रतः सदा ।

नासौ फलं समाप्नोति कुर्वाणोऽप्याश्रमच्युतः” ॥

इति दक्षवचनं ।

तथा,

“व्रतेषु लोपको यश्च आश्रमाद्विच्युतश्च यः ।

संदंशयातनामध्ये पततस्ता-बुभावपि” ॥ इति—

विष्णुपुराणीयवचनम् ।

तथा—विशेषयति भविष्यपुराणं,—

“चत्वारिंशद्वत्सराणां साष्टानाञ्च परे यदि ।

स्त्रिया वियुज्यते यश्च स तु रण्डाश्रमौ मतः ॥

अष्टचत्वारिंशदब्दं वयो यावन्न पूर्यते ।

पुत्रभार्यावियुक्तस्य नास्ति यज्ञाधिकारिता” इति ॥

तथाच मातृस्ये ;—

“सपिण्डीकरणादूर्ध्वं प्रेतः पार्वणभाक् भवेत् ।

वृत्तपूर्तेष्टियोग्यश्च गृहस्थश्च ततो भवेत्” ॥ इति ।

“वृत्त” प्रतिग्रहादि, इष्टं यागादि, गृहस्थो भवेदित्यनेन पुत्रः स्वविवाहं-
कुर्यात् । गृहस्थपदस्य संगृह्योतदारे मुख्यार्थत्वात् । तथाच वचनवला-
ङ्गार्यायां विवाहान्तरकरणाभावः” ।

इत्यादि-प्रमाणव्रातसामर्थ्यतः पुरुषस्य प्रकाशितमहर्षभ्युज्जातपुन-
र्विवाहत्वात् । तथाच, कात्यायनः—

“मृतायामपि भार्यायां वैदिकाग्निं न हि तज्जेत् ।
 उपाधिनाऽपि तत्कर्म यावज्जीवं समापयेत् ॥
 रामोऽपि कृत्वा सौवर्णां सीतां पत्नीं यशस्विनीम् ।
 द्वेजे यज्ञैर्वहुविधैः सह भ्रातृभिरच्युतः” ॥ इति ।

तथा,—

“अपत्नीकः प्रवासी च यस्य भार्या रजस्वला ।
 सिद्धान्तेन न कुर्वीत आमन्तस्य विधीयते” ॥

इत्युग्रनसो वाक्यं । तथा,—

“नैकयापि विना कार्य्यमाधानं भार्य्या द्विजैः ।
 अकृतं तद्विजानीयात् सर्वा नान्या रभन्ति चेत्” ॥ इति
 कातग्रायनीयवचनं । तथा,—

“सतग्रामन्यां सवर्णायां धर्मकार्य्यं न कारयेत् ।
 सवर्णासु विधौ धर्मे जगृह्या न विनेतरा” ॥

इति योगीश्वरवाक्यं । तथाच,—

“सदारोऽन्यान् पुनर्दरानुद्धोढुं कारणान्तरात् ।
 यदौच्छेदग्निमाकुर्वन् क्व होमस्य विधीयते ।
 स्वाग्नाविव भवेद्धोमो लौकिके न कदाचन” ॥

इति कातग्रायनीयवाक्यञ्च । —

इतरादिप्रमाणसन्दोहबलात्पत्नीमन्तरा स्वकर्तृकयज्ञाधानादि-कर्मानु-
 ष्ठानासम्भवाच्च पुरुषस्य द्वितीयोपयमो धर्मशास्त्रानुमोदित इति सुखिर-
 सिद्धान्तः ।

अपिच, स्त्रियः सपतिकत्वे ।

“नास्ति स्त्रीणां पृथक् यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम् ।
 पतिं शुश्रूषते यत्तु तेन स्वर्गे महीयते” ॥ इति ।

तथा, कामं भर्त्तनुज्ञया व्रतोपवासनियमेज्यादीनामभ्यासः स्त्रीधर्म इति-
मनुशङ्कीयवाक्यद्वयोक्त-कर्माणि भर्त्तनुज्ञामन्तरा अनुष्ठातुमक्षमतयाऽपि सति-
वैधव्ये स्वातन्त्र्येण ।

तथा, “मृते भर्त्तरि ब्रह्मचर्यं तदन्वारोहणं वेति” विष्णुः—

अत्र ब्रह्मचर्यं प्रधानमक्षयफलत्वात् । तथा “विधवानान्तु नारीणां-
ब्रह्मचर्यं सदैव हि” इति बृहद्दर्शपुराणं, तथा, भर्त्तुः पितुः स्वजनस्य वा-
गृहमाश्रित्य संयतजिह्वाहस्तपादेन्द्रिया स्वाचारवती दिवारात्रं भर्त्तारमनु-
शोचती व्रतोपवासैः कृशात्मा आयुषोऽन्ते पतिलोकं जयती” तत्रापस्तम्बीय-
वचनम् ।

तथाच,—

“कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः ।

न तु नामापि गृह्णीयात्-पत्यौ प्रेते परस्य तु” ॥

इति नारदीयवचनं ।

तथाच, ब्राह्मे—

“असगोत्रः सगोत्रो वा स्त्री दद्याद् यदि वा पुमान् ।

प्रथमेऽहनि यो दद्यात्-स दशाहं समापयेत् ॥” इति ।

तथाच मार्कण्डेये,—

“सर्वाभावे स्त्रियः कुर्युः स्वभर्त्तृणाम्” । इति—

निरुक्तप्रमाणपर्यालोचनतस्तदनुमतिमन्तरेण वरं प्रतीयते श्रौतस्मार्त्त-
कर्मानुष्ठानाहेतुं, न तु पत्नीविहीनपुरुषवत्तत्कर्मायोग्यत्वम् ।

तथा, मनूक्तनियोगनिषेधकपद्यव्याख्यानावसरे तन्नियोगादिनिषेधः कलि-
युगविषय इति—

यदुक्तं कुल्लूकभट्टेन तदुपरिष्ठात् प्रकाशयते मनुवचनसहितम् ।

“ततः प्रभृति यो मोहात् प्रमोतपतिकां स्त्रियम् ।

नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः” ॥ इति ।

तत इति,—वेणकालात्प्रभृति यो ऋतभर्तृकादिस्त्रियं शास्त्रार्थज्ञानाद-
पत्रनिमित्तं देवरादौ नियोजयति तं साधवो नियतं गर्हन्ते अयं च स्त्रोत्र-
नियोगनिषेधः कलियुगविषयः । तदाह ब्रह्मसूत्रिः—

“उक्तो नियोगो मुनिना निषिद्धः स्वयमेव तु ।

युगक्रमादशक्योऽयं कर्तुमन्यैर्विधानतः ॥

तपोज्ञानसमायुक्ताः कृते त्रेतायुगे नराः ।

द्वापरे च कलौ नृणां शक्तिहानिर्हि निर्मिता ॥

अनेकधा कृता पुत्रा ऋषिभिश्च पुरातनैः ।

न शक्यन्तेऽधुना कर्तुं शक्तिहीनैरिदंतनैः” ॥

अतो यद्देविन्द्रराजिन युगविषयव्यवस्थामज्ञात्वा सर्वदेव सन्तानाभावे-
नियोगादनियोगपक्षः श्रेयानिति स्वमनीषया कल्पितं तच्चुनिव्याख्या-
विरोधान्नाद्रियामहे ।

“नापराधेऽस्मि विदुषां क्वाहं सर्वविदः कुधीः ॥” इति ।

कुम्भकभट्टः ।

स्वकृतपाराशरीयसंज्ञिताभाष्यान्तरीये स्थाने स्थाने नियोगादिनिषेधोऽयं-
कलियुगीय इत्युद्दिष्टं साधवादीर्येणापि ।

दृष्टं चैतच्छास्त्रतो व्यवहारतश्च । अतः स्त्रियः पुनर्भवनमतीवगर्हणीय-
मेव । न च कालान्तरनिषिद्धानुष्ठानस्य कर्मणो विपत्तावाचरणस्य पूज्यपाद-
महर्ष्यभ्यनुज्ञाततया कलिनिषिद्धस्यापि निरुक्तनियोगादिकर्मव्रातविधानस्य-
तद्युगीयापदि दोषाजनकत्वमिति वाच्यं, इदानीन्तनतदीयापदि जनसंख्या-
वर्धनस्यातीवाधिक्येन तत्परिपोषणभारस्यातग्रन्तदुर्वहतयाऽत्र नियोगाद्यनु-
ष्ठानस्य तदधिकलोकसंख्यावृद्धिसम्भावनया समुपस्थितविपक्ष्यन्तरत्वात् ।

निषिद्धस्याप्यापदुद्धारोपयोगिकार्थजातस्य महर्ष्यभ्यनुज्ञातत्वाच्च । सम्प्रति-
पूज्यपादैर्महर्षिभिस्तथा व्याख्याकर्तृभिर्विधवाविवाहप्रतिपादकवचनानां साहं-
मनुवचनेन परिहर्तुं विरोधं प्रदत्तो यत्र यत्रावकाशस्तेषामुद्भाष्यतेऽत्र-

तत्तत्पर्यालोचनम् । यतो मनुमतविपरीतमतं भारतेऽस्मिन् न प्रशस्तमिति
वृद्धगौतमादिमहर्षिभिः प्रतिपादितं पूर्वतः—

यथाह वृद्धगौतमः,—

“भारतं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् ।

आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः” ॥ इति ।

तथाच वृद्धसूतिः—

“वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम् ।

मन्वर्थविपरौता या सा स्मृतिर्न प्रशस्यते” ॥ इति ।

तथा च्छान्दोग्यब्राह्मणेऽपि,—

“मनुर्वै यत्तु किञ्चिदवदत्तज्ञेषजं” इत्यादि ।

मन्वादिधर्मशास्त्राणां नाभविष्यच्चेदेतादृशाभिप्रायः ; तदा पुनर्भुवां तद-
पत्यानां परपूर्वापतीनाञ्च निन्दावेदकवचनानि कथमुदलेखिष्यन्महर्षयस्ते स्वस्व-
ग्रन्थेषु । लिख्यन्तेऽग्रे तद्वर्हावेदकवचनानि, यथा उशनाः,—

“श्रुतिविक्रायिणो यत्र परपूर्वाः समुद्रगाः ।

असमानान् याजयन्ति पतितास्ते प्रकीर्त्तिताः ॥

पौनर्भवः कुसीदौ च तथा नक्षत्रदोषकः ।

बहुनात्र किमुक्तेन विहितान् ये न कुर्वते ।

निन्दितान्याचरन्तेऽपि वर्ज्याः श्राद्धे प्रयत्नतः” ॥ इति ।

तथाऽङ्गिराः—

“अन्यदत्ता तु या कन्या पुनरन्यस्य दीयते ।

तस्याश्चाङ्गं न भोक्तव्यं पुनर्भूः सा प्रगीयते” ॥ इति ।

तथा वृद्धपराशरः,—

“अन्यदत्ता तु या कन्या पुनरन्याय दीयते ।

तस्या अपि न भोक्तव्यं पुनर्भूः सा प्रकीर्त्तिता” ॥

“यः स्वैरिणीनाञ्च पूनर्भुवाञ्च यः कामचारौ द्विजयोषिताञ्च ।
सुरेताधाः पाकमना यदद्याद्विप्रः स चन्द्रव्रतकृच्छ्रिः स्यात्” ॥

इति ।

तथाच, याज्ञवल्क्यः—

“रोगी हीनातिरिक्ताङ्गः काणः पौनर्भवस्तथा ।
अवकीर्णी कुण्डगोलौ कुनखी श्यावदन्तकः ॥
मातृपितृपरित्यागौ कुण्डाशी वृषलात्मजः ।
परपूर्वापतिस्तेन कर्मदुष्टाश्च निन्दिताः” ॥

तथाच मनुः—

“औरभिको माहिषिकः परपूर्वापतिस्तथा ।
प्रेतनिर्हारकश्चैव वर्जनैयाः प्रयत्नतः ॥
एतान् विगर्हिताचारानपाङ्क्त्यान् द्विजाधमान् ।
द्विजातिप्रवरो विद्वानुभयत्र विवर्जयेत्” ॥

इत्यादि बहूनि ग्रन्थान्तरीयवचनानि विद्यमानान्यपि अन्यविस्तरभियानोत्तोलितान्यत्र ।

मन्वादि-धर्मशास्त्रीयाशयानुसृत्येदानीं कलिवर्ज्यविधिं प्रतिपादयता-
मभ्यन्तरे कतिपयशास्त्राणामेकैकशास्त्रीयवचनत्रातस्यैतद्व्यवस्थान्तरतः संक्षेपे-
कृतं कुत्र सत्यपि सूचितत्वे “खले कपोतिकान्यायेन” तत्समस्तशास्त्रीय-
वचनान्युद्भास्यन्तेऽतैकत्रीकृत्य निम्नतः ।

यथाह क्रतुः—

“ऊढायाः पुनरुद्धाहो दत्ता कन्या प्रदीयते ।
न यज्ञे गोबधः कार्य्यः कलौ न च कामण्डलुः ।
विधवायां प्रजोत्पत्तिर्देवरस्य नियोजनम् ।
वालिकाक्षतयोन्याश्च वरेणान्येन संस्कृतिः ॥

दत्तौरसेतरेषां तु पुत्रत्वेन परिग्रहः ।
एतानि लोकगुप्तरथं कलिरादौ महात्मभिः ॥
निवर्त्तितानि सर्वाणि व्यवस्थापूर्वकं बुधैः” ॥ इति ।

तथा आदित्यपुराणे,—

“जडायाः पुनरद्वाहं जेष्ठं गोवधं तथा ।
कलौ पञ्च न कुर्वीत भ्रातृजायां कमण्डलुम्” ॥ इति ।

तथा बृहन्नारदीयपुराणे,—

“दत्ताक्षतायाः कन्यायाः पुनर्दानं परस्य तु” ।

तथा,—

“समयश्चापि साधूनां प्रमाणं वेदवद्भवेत्” । इत्यादि ।

तथा हेमाद्रौ देवलः,—

“समुद्रयातुः स्त्रौकारः कमण्डलुविधारणम् ।
दत्ताक्षतायाः कन्यायाः पुनर्दानं परस्य च” ॥
“दीर्घकालं ब्रह्मचर्यं वर्जयीत कलौ युगे ।
एतान् यस्तु त्यजेद्भर्मान् स द्विजे दोषभाक् भवेत् ।
तस्य वै निष्कृतिर्नास्ति तप्तकृच्छ्रेण तैरपि ॥” इति ।

तथाच स्मृत्यर्थसारे वायवीयसंहितायाश्चासीदुल्लिखितमेतन्निर्वचनम् ।

निरुक्तप्रमाणव्रातपरिशीलनतः प्रतिभाति विधवाविवाहानुष्ठानं कलीतर-
युगविषयकमिति । अतः कलौ विधवावेदननिषेधो व्यक्तमुक्तः क्रत्वादिभिः ।

यच्चात्र,—

“समयश्चापि साधूनामि”त्याद्युक्तेर्न तस्य वेदमूलकत्वमिति कैश्चिदुक्तं-
तदुक्तानशयमतिविलसितम् ।

यदयं वचनार्थः, महात्मभिर्वुधैर्वेदोक्तयुगधर्मस्य व्यवस्थापूर्वकं निवर्त्तितानि-

निवारितानि अर्थान्निषिद्धानीत्यर्थवशेन वेदमूलकत्वस्य स्युटं प्रतीय-
मानत्वात् ।

न च बुधैर्निवर्तितानीत्यभिधानात् वेदैर्निवर्तितानीत्युपलभ्यते इति-
वाच्यम् ।

“गौणकालत्वमिच्छन्ति केचित् प्राक्तनकर्मणि ॥” इति ।

“विवाहशुद्धिं प्रवदन्ति सर्वे” इत्यादि वचनप्रतिपादितस्यापि कर्मणो-
भवदुक्तियुक्त्या न वेदमूलकत्वं स्यात् ।

प्रमेयस्य वेदमूलकत्वाभावे प्रमाणस्यापि तदभावादुक्तपुराणवचनानाम-
प्रामाण्यं स्यात् । वेदमूलकत्वेनैव तेषां प्रामाण्यस्य कर्मब्रह्ममीमांसयो-
जैमिनिसूत्रेणाभिधानात् ।

तस्य हि वेदमूलकत्वाभावे पुराणस्मृते वेदानुमापकत्वाभावात् स्मृत्यधि-
करणविरुद्धसिद्धान्तप्रसङ्गो दुष्परिहरश्च स्यादिति लोकगुप्तार्थमित्यनेनाप्येत-
दभिहितं ; यदन्यस्मिन् युगे भूरिपुण्यवता तेजस्विना केनापि
किञ्चिदनिष्ठाचरणं कृतमपि न लोकक्षयकरं तेषां पुण्यवलादेव पापनिवृत्ति-
सम्भवति कलौ तु स्वल्पपुण्यवता कृतं किञ्चिदनिष्ठानुष्ठानमपि लोकक्षय-
करमतो लोकक्षयार्थं निवर्तितानीति ।

एवञ्च कलौ मुनिसंघट्टेऽपि दोक्तविधवावेदननिषेधे ।

“अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्ममप्याचरेन्नतु” ।

इति मिताक्षराष्टतवचनात्, सदाचारमपि प्रमाणयति समयश्चापीति ।
प्रवर्तित-निवर्तितकर्मसु साधूनां समयश्चापि वेदवत्प्रमाणं भवेत्त्यादित्यर्थः ।

तथाचात्र वेदसदाचारौ हावेव प्रमाणमित्यगन्तव्यं, अन्यथा चकारापि-
कारयो वैयर्थ्यमापद्यते ।

होलाधिकरणन्यायेनाप्यत्र सदाचारानुमितवेदमूलकत्वमित्यपि व्यक्तं
स्मार्त्तकर्मणां स्मृतिलिङ्गानुमितवेदमूलकत्ववदिति ।

तर्हि के शिष्टा इत्याकाङ्क्षायां तल्लक्षणमाह बौधायनः ;—

“शिष्टाः खलु विगतमत्सरा निरहङ्कारा न कुभोज्यान्ना अलोलुपाः साक्षाद-
वेदार्थज्ञा दम्भदर्पमोहक्रोधादिवर्जिता” इति ।

शिष्टानामाचरणं सदाचारः । तदाह हारीतः,—

“साधवः क्षीणदोषास्तु सच्छब्दः साधुवाचकः ।

तेषामाचरणं यत्तु स सदाचार उच्यते” ॥ इति ।

अतः प्रतीयते बहुदोषोत्पत्तिसम्भावनया कलौ शास्त्रतो महर्षिभिस्तथा-
तदीयापदि व्यवहारतोऽविगीताचारैः शिष्टैश्च निषिद्धं तदनुष्ठानं द्विजातित्रये
भारतेऽस्मिन्निति ।

ननु कलिधर्मप्रकाशकेन महर्षिणा पराशरेण सामान्यतो—

“नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लौवे च पतिते पतौ ।

पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते” ॥ इति ।

तदीयवचनेन कलावेव विधवावेदनानुष्ठानस्याभ्यनुज्ञाततया कथमत्र-
शास्त्रतो विधवोपयमनं निषिद्धं तज्जातित्रये महर्षिसन्दोहेनेत्याशङ्कितव्यं-
कैश्चिदिति चेन्नैवं, पूर्वपक्षस्यास्य दुर्बलतावेदकत्वात् सहसन्वादिधर्मशास्त्र-
निवहेन प्रतिपादयितुमेकवाक्यतामेतद्देशप्रचलितस्मृतिदर्पणादिनिबन्धकज्ञिर्विशे-
षतः शूद्रस्त्रीविषये वाक्यस्यास्य दत्तावकाशत्वादप्यथा मनुमतविरोधितया-
तत्संहिताया भारतोऽत्रालम्ब्यप्रतिष्ठत्वाच्च । अत्रापि मनुप्रतिपादितद्विजाति-
पदावलोकनेन ब्राह्मणादिजातित्रयस्य निषिद्धनियोगाद्यनुष्ठानतया शूद्रस्त्री-
विषयकत्वविवेचनमस्य नायौक्तिकमिति परमार्थः ।

अपिच,— न तावद्वाक्यमिदं पराशरीयसम्बलम् ।

हृदमनुहृदयाज्ञवल्का-नारदादिकृतग्रन्थेषु तथाग्निपुराणे च वाक्यस्यास्य-
दृष्टिगोचरत्वात् । अतस्तत्तद्-ग्रन्थीयप्रमाणानामतेषां प्रायशस्तुल्यतया ग्रन्थ-
बाहुल्यमिया च तत्तत्सम्बन्धतः प्रकाश्यन्तेऽधस्तादुग्रग्रन्थयोक्तवचनानि । यथा,—

नारदः—

“नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लौवे च पतिते पतौ ।

पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते” ॥

अष्टौ वर्षाण्यपेक्षत ब्राह्मणौ प्रोषितं पतिम् ।
 अप्रसूता च चत्वारि परतोऽन्यं समाश्रयेत् ॥
 “क्षत्रिया षट् समास्तिष्ठेदप्रसूता समावयम् ।
 वैश्या प्रसूता चत्वारि द्वे वर्षे त्वितरा वसेत् ॥
 न शूद्रायाः स्मृतः काल एष प्रोषितयोषिताम् ।
 जीवति श्रूयमाणे तु स्यादेव द्विगुणो विधिः” ॥ इत्यादि ।

तथाचाग्निपुराणे, —

“नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लौवे च पतिते पतौ ।
 पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते” ॥
 मृते तु देवरे देया तदभावे यथेच्छया । इत्यादि ।

निरुक्तवचनजालपर्यालोचनतोऽवबुध्यते सुस्पष्टमेतत्, स्वामिनि सति प्रोषिते द्विजातिस्त्रियः प्रोक्तप्रमाणनिर्दिष्टस्त्रीयस्त्रीयसमयापेक्षणानन्तरमाश्रयेयुः स्वाम्यन्तरं नतु विवहेयुरिति ।

केवलं शूद्रजातीयाः स्त्रियः नियमितकालापेक्षणस्य शास्त्रेऽनुक्ततया सति प्रोषिते स्वामिनि कालमनपेक्ष्य स्वाम्यन्तराश्रयणस्याभ्यनुज्ञातत्वात् ।

तथा, प्रदेशेऽस्मिन् मृते इति पत्न्यौ देवरावलम्बनस्य तदभावे पुरुषान्तराश्रयणस्य तथा पत्न्यौ सत्यपि जीवति परस्परमनोमालिन्यवशात् स्वाम्यन्तरग्रहणस्य च व्यवहारतस्तज्जातौ दृष्टिविषयत्वात्तथा ग्रन्थान्तरोक्तवचनान्यनुवृत्तिश्च केवलं वाक्यस्यैतस्य स्वसंहितायामुद्भावितत्वाच्च पाराशरीयवाक्यमिदम् शूद्रस्त्रीविषयकमेवेति निष्कर्षः । सत्येवमवकाशप्रदानेऽस्य न लक्ष्यते विरोधो मन्वादिधर्मशास्त्रनिकरेण ।

तथा साकं नारदादिवचनव्रातेनावलोक्यतेऽस्यैकवाक्यत्वम् ।

वाक्यमिदं तद्विद्वानामधस्तनजातीनामुपलक्षकं । शिष्टाचारतोऽस्मिन्नुक्तले-
 प्रधानशूद्रजातीयपादातिक-प्रवृत्ति-निष्कृतम-समस्तजातीनां विधवोपयमनं-
 भवति प्रचलितमिदानीं निर्विवादम् । आद्यादिपितृकर्मणि तु निरुक्त-

जातीयपुनर्भुवामयोग्यत्वमभिलक्ष्यते शास्त्रीयनिषेधतः । शास्त्रीयानुमति-
दृष्टिवलात् देवब्राह्मणादिसेवाकार्येषु भवन्त्यर्हाः स्त्रियस्ताः ।

न च स्त्रीपुरुषाणां पुनर्विवाहाचरणे पातित्यावेदकप्रमाणानां जागरूक-
तया कथमुभयेषां देवब्राह्मणादिसेवाहत्वमितिवाच्यम्, तत्प्रतिपादकप्रमाणाना-
मर्थवादात्मकत्वेन तदनुष्ठानस्य निन्दावेदकत्वात् ; द्वितीयपतिपन्नोर्यथायथ-
पतिपत्नीशब्दाच्चत्वाभावात्, सेनापति-नृपति-शब्दवदत्र द्वितीयपतिशब्दस्य-
पालकार्यपरत्वान्तथा द्वितीयपत्नीशब्दस्य सैरिन्धी-शब्दवत्सेवकौरूपार्थपरत्वाच्च ।

नैवार्योऽयं स्वकपोल-कल्पितः । मनुसंहिताभाष्यकर्त्तुर्विद्वत्प्रवरस्य मेधा-
तिथेरयमभिप्रायः । सतप्रतां प्रतिपादयितुमाशयस्यैतस्य तद्भाष्यतः कतिचित्-
पङ्क्तयः प्रकाश्यन्तेऽत्राधस्तात् । यथा—

पञ्चमाध्यायोक्तसप्तपञ्चाशदधिकशतपरिमितवचनीयभाष्ये मेधातिथिः ;—

“अतो मृतपतिकाया अनपत्याया असति भर्तृधनादौ दायिके च कर्त्तना-
दिना च केनचिदुपादेन जीवन्त्या जीवितस्यातिप्रियत्वात् तदुपेक्षणस्या-
शास्त्रीयत्वात् प्रतिषिद्धत्वादापदि सर्वाभिचाराणां विश्वामित्रजाघनीमित्यादि-
नानुज्ञातत्वाद्ग्रभिचारोपजीविताप्राप्ताविदमुच्यते । काममस्यावस्थायां शरीरं-
चपयेत् । जयं नयेत् पुष्पमूलफलैर्यथोपवादं वृत्तिं विदधीत । न तु नामापि-
सृष्टीयात् पतिर्मे त्वमद्येत्यन्यस्य ।

यत्तु,—

“नष्टे मृते प्रवर्जिते क्लीवे च पतिते पतौ ।

पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते” ॥ इति ।

तत्र पालनात् पतिमन्यमाश्रयेत् सैरिन्धीकर्मादिना आत्मवृत्त्यर्थं, नवमे
च निपुणं निरर्थक्यते ।

प्रोषितभर्तृकायाश्च स विधिः । कामशब्दप्रयोगोऽरुचिसंस्मृचनार्थम् ।
देहचपणमकार्यमिदं, त्वन्यदकार्यतरं, यदन्येन पुरुषेण सम्प्रयोगः” । अतो-
ब्राह्मणादि-वर्णचितये विधवावेदनं शास्त्रविरुद्धं, न तु शूद्राया इति प्रेक्षावतां
राहान्तः शास्त्रतो व्यवहारतश्च ।

उपसंहारे तु निरुक्तप्रमाणानां नैरपेक्षेण पर्यालोचनतो यदेतत् प्रतिभाति-
ब्राह्मणादिजातित्रितयाभ्यन्तरे विधवोपयमनानुष्ठानप्रचलने नासीत् केपामपि-
त्रिकालविदां पूज्यपादानां महर्षीणामभिप्राय इति । वरं तावत्सदुपरि-
प्रकटय्यारुचिं लोकप्रवृत्त्यभावदृष्टितः स्थाने स्थाने स्वस्वग्रन्थाभ्यन्तरीणे तन्निन्दा-
बोधकानि वचनानि तथा तन्निषेधावेदकप्रमाणानि च ललितवृत्ते ।

पराशरसंहिता कलिधर्मप्रकाशिकेत्युच्चैःस्वरिणोत्थापयन्ति यद्वाटं-
कतिपये विद्वांसः, किन्तु तत्संहितायाः कस्मिन्नपि स्थाने भ्रमतोऽपि तत्-
प्रशंसासूचकमेकमात्रमपि वचनं न भवति दृष्टिगोचरम् ।

युगान्तरीयधर्मांस्तेखावसरे विपदि पूर्वतो वक्ष्यमाणकार्यद्वयस्य प्रचलित-
त्वाभावात्तत्प्रचलने सत्यामपि अनिच्छायामगतिकत्वेन केचनानुमोदके-
व्यभिचारं तथान्ये विधवावेदनं चापहृत्यात्मकत्वेन मेधातिथिः तत्प्रकटीकृतं-
विशदतया नवमाध्यायोक्त-मानवीयवचनानां स्वकृतभाष्ये ।

“यदा प्रवसेत्तदा भार्याया वृत्तिं विधाय प्रवसेदिति कर्त्तव्यं विधि-
विधायित्वेवमर्थां द्रष्टव्यः । प्रवसन् भार्याया वृत्तिं विदधीतेति तथा कुर्याद्-
यथा स्याद् यावत्प्रवासं वृत्तिर्भवतीति शरीरस्थितिहेतु-भोजनाच्छादनगृहोप-
करणादि तां विधाय प्रवसेत् स्वदेशादेशान्तरं गच्छेत् ।

तथा, वक्ष्यति प्रोषितो धर्मकार्यार्थमित्यादिना ।

अन्तरैतानि निमित्तानि भार्यां हित्वा प्रवासो निषिध्यते अहस्तिकर्षिता-
हि दृष्टदोषप्रदर्शनमर्थवादः अहत्या दारिद्रेण कर्षिता पीडिता प्रदुषेत्-
पुरुषान्तरसम्पर्कादिना स्थितिमत्यपि स्थितिः कुलाचारस्तत्सम्पन्ना क्षुधावसरे-
दीना दोषमाप्नुयादन्यं भर्तारमाश्रित्य जीवतीति भाव्येत एतत् सन्भावनायां-
लिङ्गनियमो-यथा,—निहते भर्तारि परिग्रहप्रयाणादिनिषेध-एवं प्रोषितेऽपि-
आश्रिता आश्रिता गृहीतवती । अकृत्वा तु वृत्तिं प्रोषिते शिल्प-
जीवन्ती गर्हितैर्जीवेतेति कर्त्तनजालिकाकरणादिना । गर्हितानि वस्तुनि-
वीजनादीनि, एष एव विधवादीनां निजश्रमजन्यो वृत्त्युपायः ।

यदुक्तं, “कार्यवान् प्रवसेदिति, तानि कार्यणि दर्शयति तद्विशेष-
प्रतीक्षाकालभेदः, परतस्त्वर्दिततया कर्त्तव्यमिति चोक्तम् । तत्र केचिदाहुः-

प्रकरणादगर्हितैर्जीवेदिति । तद्युक्तं ; प्रागस्मात्कालादगर्हितैरितीयं किं-
स्त्रियतां न ह्यस्या आत्मत्याग इष्यते पुंस इव प्रतिषिद्धत्वात् । तस्मात्-
प्रागप्यस्मात् प्रतीक्षणीविधेरगर्हितैः शिल्पैरजीवन्ती गर्हितैर्जीवेत् । अन्ये-
व्यभिचारमिच्छन्ति । तथाच स्मृतान्तरे,—

“नष्टे स्मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ ।

पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते” ॥

अन्येऽप्याहुः,—

नास्याज्ञाने ब्रह्मचर्यमपनेतुं शक्यते । स्त्रीधर्मेण हि तदस्याविहितम् ।
“नतु नामापि गृह्णीयात्पतौ प्रेते परस्य त्वि”ति स्मृते भर्त्तरि नास्ति व्यभिचारः-
किमङ्ग प्रोषिते । पतिशब्दो हि पालनक्रियानिमित्तको ग्रामपतिः सेनायाः-
पतिरिति । अतश्चास्मादवाधनैषा भर्तृपरतन्त्रा स्यात् । अपित्वात्मनो जीव-
नार्थं सैरन्त्रीकरणादिकर्मवदन्यामाश्रयेत् । तच्च यदा षण्मासभृत्या-
मस्वत्तरभृत्या वा कस्मिंश्चिदाश्रिते भर्त्ता यद्यागच्छेत्, तदानीन्तां चेदृशीकर्तुं-
शक्नुयात् । त्यज त्वं भार्यामिति यावद्भवति कालो न पूर्वः प्राक् पत्युरेव सा ।
अन्येऽप्यर्थमसमाहुः । पूर्वं तु पुनर्भूवृत्तिमिच्छन्ति, या पत्या वा परित्यक्ता-
भवति यस्याः किल पतिरियन्तं कालं निहितवृत्तिको नागच्छति, सा तेन-
त्यक्तैव भवति । ततश्च यदि सा पुनर्भूधर्मेणान्येनोदा भवेत् तदा भर्त्ता-
ऽभ्यागतो न किञ्चिन्नूयात् । पुनर्भवस्येयं भार्येति । तद्युक्तं, न निष्कृत्य-
निसर्गाभ्यामिति तस्य श्लोकस्यार्थवत्त्वं दर्शयिष्यामः । धर्मश्चतत् कार्यञ्च-
धर्मकार्यं सोऽर्थः प्रयोजनं प्रवासस्येति धर्मकार्यार्थम् । कुतो न गृहस्थस्य-
धर्मार्था दीर्घकालः प्रवासः, अवश्यं ह्यग्नयस्तेन परिचरणीयाः, पाञ्चयान्निक-
मनुष्ठेयम्” । इत्येतद्वाच्यपर्यालोचनतोऽवगम्यते प्रोषिते सति भर्त्तरि-
स्वजीविकां निर्वाहयितुं येन केनापि गर्हितानुष्ठानेन यतिष्यन्ते प्रोषित-
भर्तृका इत्यभ्यनुज्ञां प्रददुः पूर्वतः कतिपये धर्मशास्त्रकाराः, नान्यस्यां-
विपदि । किन्त्वैतत्सर्वैरनादृततया निर्वासितं भारतीयहिजातित्रितयतः ।
वरं चैकपतिव्रतं प्रशंसितं मुक्तकण्ठेन वैदिकप्रमाणैर्धर्मशास्त्रकारैश्च ।

एकपतिव्रतं अर्थात् पातिव्रत्यं स्त्रियो विधिः, पालनीयोऽतः स एव-
ताभिरवश्यम् ।

ब्राह्मणादिजातित्रितयान्तर्भूतानां नारीणां सध्वाविधवात्मकानां पति-
परायणत्वरूपैकपरमधर्मा नित्यो मन्वादिभिर्विहितः । पतित्यागि च प्रति-
पादितमपि पातित्यं । विधवानान्तु तत्संस्कारोद्देशेन ब्रह्मचर्यमात्ररूपो-
द्विविधो नित्यानित्यफलकतया तारतम्येन व्यवस्थितः ।

प्रमाणान्युक्ततया पूर्वतोऽत्र नोद्धृतानि । अपिच हिन्दुधर्मावलम्बिभिः-
सर्वैरेवावगन्तव्यमेतदयदनायासेन मङ्गलकामनया संसारस्य सादरेकपतिव-
व्रतमावृतं वैदिकसमयतो नाभविष्यच्चेत्, तद्विषयकप्रमाणानामुल्लेखो ना-
भविष्यत्प्राचुर्येण, एवभावहमानकालतोऽपि शिष्टा नावलम्बिष्यन्ते नियम-
मिमञ्च । विषयस्यास्य सत्यताया न भवेद्दृष्टदूरगमनमन्वेष्टुमुदाहरणम् ।
यदा भारतीयादिमवासिनः पराम्भूय स्थापयामासुरावासमार्थां भारतं,
तदाऽत्यल्पसंख्यकतयाऽर्याणां संख्यायाः पुनस्त-एवाक्रमणसम्भावना-
सम्बर्द्धयितुं स्वसंख्यामारिभिरे विधवोपयमनमित्यनुमीयतेऽस्माभिः । अन्वया-
द्वादशपुत्रव्यवस्थानुष्ठानस्याशास्त्रीयत्वापत्तेर्जागरूकत्वात् । समयस्यास्य-
कस्मिन्नपि शास्त्रे नामतः सत्यप्यनुस्मिन्निहितत्वे विषयेऽस्मिन् वेणराजसमयोद्देशस्य-
शास्त्रे परिदृष्टतया तस्यैवं तदालोक्यमनुमेयम्, तदानीं पृथिव्याः शुभस्थापन-
चिकीर्षया तदनुष्ठानं पूर्वाचार्यैरभ्यनुज्ञातं जातिनिर्विशेषम् । किन्विदानी-
मपेक्षणीयलोकसंख्यापेक्षया तद्दृढेराधिक्यात्प्रतिदशमाब्दं लोकसंस्थाकरण-
प्रकाशकपुस्तकेषु साधारणतः पुरुषसंख्यापेक्षया नारीसंख्याप्राचुर्यं
परिदर्शनात् ।

तथा क्षेत्रदोषवशाज्जातेः साङ्कर्ष्यसम्भवाच्च मन्वादिभिः सनियोगस्त-
योनिविधवोपयमनस्य ब्राह्मणादिजातित्रितयतः सत्यपि निष्कासितत्वे-
तन्निषिधानन्तरमक्षतयोनिकादेः संस्कारार्हत्वं प्रतिपादितम् । सत्यपि-
तदनुष्ठाने पैतृकश्राद्धादिकार्यं पुनर्भूपुनर्भवयोस्तेनेव प्रतिपादिताऽनर्हत्वेऽपि-
[साङ्कर्ष्यदोषोत्पत्तेरसम्भवात् ।

ततः प्रचलिताक्षतयोनिकाविवाहावलोकनेन क्षतयोनिकाविधवोपय-

मनस्याग्रहशालिभिः कैश्चित् प्रदत्तप्रसारत्वेनानुभूतगुरुतरसाङ्गव्याच्च तत्पर-
वर्त्तिनो महर्षयस्तन्निवारयितुमासन् खड्गहस्ता इत्यनुमीयते स्फुट-
तस्तच्छास्त्रोक्तप्रमाणत्राततः । उक्तेऽस्मिन्नाख्येवैतदनुष्ठानमिति स्वीकर्त्तुं न-
केऽपि भवेयुर्विमुखाः ।

यद्यस्मिन् विद्येत चेद्गुणराशिस्तदा केऽप्येतद्गुणसन्दोहतो नाभविष्यन्-
पराङ्मुखाः । अवश्यमेव केऽपि तत्पश्यानुगामिनः सारग्राहिणोऽभविष्यन्-
दृष्टिगोचराः । किन्तु न तथा,—

सत्यां सारवत्तायामस्याऽसत्यस्मिन् देशे तदनुष्ठानेऽपि भारतीयान्य-
प्रदेशेष्वपि प्रचलितमवश्यमभविष्यत्तदाचरणम् । अतः सुस्पष्टतो यदवगम्यते,
नैतदनुष्ठानेन किमपि संसारीयहितमासीत्साधितम् । वरं वर्द्धितमासीत्-
साङ्गव्यम् ।

अतएव धर्मशास्त्रेषु लोकिषु च तन्निषेधविधिर्नादृतो भवति दृष्टिविषयः ।
शास्त्रीयनिषेधे सत्यपि विद्यमाने शिष्टपरिग्रहीतमभविष्यच्चेत्तदनुष्ठानम्,
तदा प्रमाणात्मकतयेतत्परिग्रहीतुमभविष्यन् बाध्याः सर्व्वे । विवेचनमेतन्नार-
दोयस्मृतेर्भाष्यकारोद्धृतवचनेन भवति प्रमाणितम् ।

यथा,—

“देशे देशे य आचारः पारम्पर्य्यक्रमागतः ॥

स शास्त्रार्थवलात्नैव लङ्घनीयः कदाचन” ॥

वचनवलादस्मात्सत्यपि शास्त्रीयनिषेधे यद्यभविष्यच्चेद्देशप्रचलितमेतत्,
तर्ह्यवश्यमेव तद्ग्रहीतुमभविष्यन् यत्नपराः सर्व्वे । किन्तु कलावस्थ-
शास्त्रनिषिद्धत्वात्तथा लोकेऽप्यप्रचलितत्वात्, शिष्टाचारविरुद्धत्वाच्च तदनुष्ठानं
कथं भवेदनुमोदनोयं सर्व्वैर्हिजातित्रयाभ्यन्तरे ।

शूद्रजातीयानां वेदाधिकाराभावादेतज्जातीयविषये शिथिलयामासुर्द्धर्म-
शास्त्रकर्त्तारो नियमानिति भवति परिदृष्टम् । जातिष्वेतासु विधवावेदनस्या-
निषिद्धत्वं प्रदर्शितं पूर्व्वतः ।

एतत्कारणजालवशतोऽवबुध्यते पराशरेण विपदि शूद्रादिजातिविषये-
विधवोपयमनपरिचायकं वचनं नियमितमिति । सत्येवं विवेचने कौरपि साकं-
धर्मशास्त्रैर्नावलोक्यते विरोधः ।

प्रचलितमासीदेतदस्मद्देशे । स्वमतसमर्थनार्थमुद्भाषितमेतद्विवेचनं काव्य-
निकं वा प्रकृतमिति भवेद्विवेचनीयं चेद्बहुदृशिपण्डितमण्डलीभिस्तद-
भवेत् सहजबोध्यमेतत् । न भवन्ति धर्मशास्त्राणि वेदान्तन्यायादिशास्त्र-
समानि ।

स्वस्वमतपरिपोषणार्थं न्यायवेदान्तादिशास्त्रोक्तपदव्रातानां वादिप्रति-
वादिभिः प्रतिपादिते सति भिन्नार्थत्वे न भवेत् कापि चित्तिः कस्मिन्नपि धर्मे-
विषये । किन्तु स्वस्वमतस्थापनार्थैव स्वीयस्वीयबुद्धिवलात् स्वकपोलकल्पित-
धर्मशास्त्रीयव्याख्यानं न लभते तद्व्याख्याख्याधारणं वरं तेन भवेद्धर्मज्ञानिरित्येत-
द्विषये भवन्ति भूरिभूरिप्रमाणानि चाक्षुषाणि ।

यथाह मनुः—

“योऽवमन्येत ते तूमे हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजाः ॥

स साधुभिर्वहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः” ॥ इति ।

अतएव पूर्वाचार्या धर्मशास्त्रव्याख्यानावसरे व्याख्येयधर्मशास्त्र-
गूढभाष्यं स्फुटं व्यञ्जयितुमन्येषां महर्षीणां स्वस्वज्ञतयन्यविसरतस्तदर्थ-
बोधकप्रमाणान्युदाहरणात्मकतया प्रदर्श्य स्वाभाविकमर्थं विशदयन्ति यत्र-
पूर्वकम् । एवमेव प्रदृश्यते बहुभाष्येषु तथा व्याख्यासु च पूर्वतः प्रदर्शित-
कुल्लूकभट्टव्याख्यानं प्रति कृते दृष्टिपातेऽवगन्तव्यं सत्यत्वमेतत् कथनस्य ।
वैदिककालादारभ्येदानीन्तनसमयपर्यन्तमन्ततो बहवो वीडादिमतप्रवर्त-
काचार्या मूलं प्रति धर्मस्यास्य कुर्वन्ति स्म कुठाराघातं साक्षात्सम्बन्धेन-
प्रच्छन्नभावेन वा क्रमशः । किन्त्वस्य मूलभित्तिरेतादृक्नियमनिवहे-
नासीन्नियमिता यत् । अस्तित्वमस्य कदापि नाभवल्लुप्तप्रायम् । न सन्निवेदा-
लोपोऽस्य ।

शास्त्रप्रदर्शितनियमनिचयं तथा पूर्वाचार्यनिवहप्रकाशिततदर्थञ्च दृढ-
संगृह्य चेतसा प्रचलितवन्तः संसारवर्त्मनि भारतीयाचार्याः । संप्रत्यात्म-
परिचयं प्रदातुं भारताग्रतो भवन्ति समर्थाः । नियमानामतेषां काठिन्यात्
सर्वांशतोऽनवलम्बितत्वे सत्यऽपि वयं युगेऽस्मिन् परिगृह्णीमस्तन्मध्यतो-
ऽनेकांशम् । इतिहासं प्रति निक्षिप्य दृष्टिमवलोकयिष्यति यद्भारतेऽस्मिन्-
सङ्घटे कतिपयधर्माणामाविर्भावतिरोभावौ । नियमशैथिल्यमेषां प्रधान-
कारणमेव ।

प्रतीयतेऽतः शास्त्रीयनियमलङ्घनं न शास्त्रसङ्गतम्, नापि युक्तिसङ्गतं-
चेति । संप्रत्यनुष्ठीयतां शास्त्रानुसृतं युक्त्यवतरणं । स्थलेऽस्मिन्नेवं भवेदुत्थापितः-
प्रश्नः । यथा विधवोपयमनं शास्त्रविरुद्धम्, तथा भ्रूणहननं किं न-
शास्त्रविरुद्धम् ? भूरिभूरिभ्रूणहत्याचरणेन भारतीयार्थधर्मस्य बहुपरिमाणं-
कलङ्किततया आर्यधर्मावलम्बिनोऽन्यान्यधर्मावलम्ब्यपेक्षया यत्परिमाणेन-
सुदूरपराहताः, हृदयवद्वाक्तिमात्रमनायासेनैव तत्पारयेत्कर्तुं हृदयङ्गमम् ।
भ्रूणहत्यापरिवर्त्तनेनातः शास्त्रीयमेतदितुप्रदुष्य सर्वत्र प्रचलिते सति विधवा-
वेदने भवेत् सुरक्षितो भारतीयार्थधर्मः । तर्हि कर्तुमेतदनुष्ठानं कथं-
भवेम वयं पश्चात्पदाः । युक्तिच्छलेन स्वीकृतमेतदस्माभिः । किन्तु-
श्रीमन्तो भ्रूणहत्यान्नासतो यत् विधवावेदनविधानं प्रतिपादयन्ति, तद्विधाने-
सत्यपि प्रचलिते, तदपेक्षया हृदयविदारकं गुणैरदृश्यमवलोकितव्यं समये-
समये । अनेकेषां तावदासीच्चतुर्विधयमेतद्वहुवारं परित्यज्य सद्व्योजातशिशु-
साकमुपपत्तिना पलायन्तेऽनायासेन काञ्चित् स्त्रियः स्थानान्तरम् ।

यद्यप्येतासां पक्षे भवेत् पुनर्भवनप्रथाप्रवर्त्तनं, तदा भवेदुच्छन्नो देशः-
समाजश्च ।

एवमनेकाः स्त्रियो दुग्धपोष्यं शिशुसन्तानं विहाय स्थानान्तरे गृहीतुं-
पत्यन्तरं न भवेयुः कुण्ठिताः । तदैव शिशुसन्तानानां तेषां प्रतिपालनार्थ-
मवलम्बितः को भवेदुपायः । मातुरभावे शिशोरवश्यं सम्भवेत् प्राणवियोगः ।
गर्भतो वह्निर्गमनावसरे भ्रूणस्य जीवने मरणे वा न तावद्भवेत् स्थिरीकरणम्
किन्तु विधवोपयमनेन जीवितशिशोस्तन्याभावेन भवेन्मानवलीलासम्भरणम् ।

किमेतदल्पतरदुःखविषयकम् ? एतदपेक्षया कोऽस्यधिकतरयातना-
विषयः । सति समाजे विधवापरिणयप्रचलनेऽनेके तादृशगुरुतमदोषा-
भवेयुरपस्थिताः ।

पत्यन्तरग्रहणरीतिरस्ति यस्मिन् देशे, सुसभ्ये देशे तस्मिन्नास्ति जारज-
भ्रूणहननयोरभावः ।

भूरिभूर्युदाहरणमेवं पश्यामो वयं सर्वदा । सति प्रचलिते विधवा-
वेदने देशतो जारजभ्रूणहत्यात्मको गर्हितदोषो भवेत्तिरोहित-इत्यागाद्यै-
दातुं स्थानं क्षणकालं सतिर्न विधेया ।

प्रदेशेऽस्मिन् जातौ यस्यां भवति प्रचलितोऽधुना विधवापरिणयः, तत्त-
ज्जातिं प्रत्यनुष्ठितायां पृच्छायां सत्यां विनायासेनावगम्यते यत् ; किमिव त-
सुखेन यापयन्ति कालं सार्धं तत्तजातीयस्त्रीभिः । शुभादृष्टवशतो द्वितीयो-
वैको विद्यते कुत्र स्त्रीजनः सुशीलसम्पन्नः । किन्तु विषयेऽस्मिन्ननकास्ताः-
कलुषितचरित्राः, नास्वत्र सन्देहोऽणुमात्रम् । गतोऽयं धर्मविप्लवः ।
संप्रति विधवाविवाहद्वारा कियत्परिमाणो भवेदुपस्थितः शास्त्रसमाजयो-
र्विप्लवः निरीक्ष्यतां याथार्थेन सः । पुरुषान्तरगतविधवायाः विवाहीय-
पिण्डदानादिविषयेन कापि व्यवस्था नावलोकिता शास्त्रेऽतो न शास्त्रमित्रो-
विधवापरिणयः । मनसि विभाव्यतामेतत्, यदा पूर्वपतिं मजातमन्तानं-
विस्मृत्य गृहीतपत्यन्तरायाः कस्या अपि विधवाया द्वितीयपतेर्वीजतः समुद्भूतः-
पुत्रोऽन्यस्तदा स्त्रियोऽस्याः सति मरणे किमात्मकं गोत्रमुन्निष्य महागुरु-
निपातनजन्यं श्राद्धादिकं कथं भवेदनुष्ठितमिति । समयेऽस्मिन् भवेत्तद्विदो-
भयानकः । पुत्रस्यावश्यकर्तव्यकर्मान्तर्भूतमशौचपालनं पिण्डोदकादिदानञ्च ।
न चेत्, पुत्रो भवेत्प्रत्यवायव्यागी । विषयेऽस्मिन् कस्या अपि व्यवस्थायाः शास्त्र-
क्षिण्णिरप्यननुष्ठिततया कामपि सरणिमवलम्ब्य सुक्तो भवेत्प्रत्यवायात् । न-
कापि दृश्यते गतिरस्य । इतः-समाप्तोऽयं शास्त्रविप्लवः । द्वितीयतः सति
प्रचलिते विधवावेदने—

“श्रुतौ तत्स्मरता स्थिते” तिवत्ब्रह्मचर्यकथनं कथामात्रे पर्य-
वसितमेव ।

कार्यतो न विचिन्मात्रं स्थास्यत्येव । स्वभावतो नीचगामिनी पानीय-
मनसो । विशेषतोऽतिशयचञ्चलानि नारीणां मनांसि । एतादृग्-
निष्काण्टके सत्युपलब्धे सुगममार्गे कष्टकरे ब्रह्मचर्यवर्त्मनि न भवेयुः का-
अप्यग्रसराः ।

एतत्परिणामफलं भवेद् यदि तद्रूपं, स्त्रियः क्रमशो भवेयुर्व्यभिचारिण्यः ।
भवेच्चतुतं भारतीयार्यग्रहशान्तिसुखम् । स्नेच्छादिजातीयस्त्रीणामिव सामान्य-
कारणतः स्त्रीकर्तृकपतित्यागः सङ्घट्टिष्यते प्रतिदिनम् । कर्तुं विलासिता-
चारितार्थं सत्यामिच्छायां पञ्चापत्कालाभ्यन्तरतः कमप्यापत्कालात्मकं-
प्रदर्श्य हेतुवादं विधातुं पतिपुत्रस्वजनविसर्जनं न कदापि पराङ्मुखो-
भवेद्विलासिनीगणः । किं वक्तव्यमत्र विशेषेण, प्रतिपदं विचारालयमाश्रये-
देतद्विषमयफलनिवारणार्थं । समाजविप्लवोऽयमेव ।

तृतीयतः—विधवाविवाहीयविषये के के साम्यवादिनो नव्यशिक्षाकुशला-
प्रदर्शयन्ति युक्तिजालं वक्ष्यमाणरीत्या ।

यथा,—पश्यति साम्येन सकलप्राणिनः श्रीजगदीश्वरः । तद्वृष्टिः-
स्त्रीपुरुषयोरुत्पत्तयः प्रदाय समक्षमतां ताभ्यामक्रियत सृष्टि-
स्तेषाम् । वैज्ञानिकपर्यालोचनया त्ववबुध्यते तुल्योपादानेन सङ्घटितो-
भयजातिरिति ।

सुखदुःखकामक्रोधेच्छाद्वेषहर्षादिचित्तवृत्तिजातं स्त्रीपुरुषसाधारण्येन-
परिलक्ष्यते समानम् । अतएव स्त्रीपुरुषात्मकोभयजातिः सकलविषये-
समानाधिकारिणीत्यवश्यं स्वीकरणीयम् । व्यवस्थायामिवं स्त्रियां सत्यां मृतायां-
वा जीवितायामपि यद्यपि कुर्यात्पन्नान्तरं यदृच्छया पुरुषः, तदा मृते सति-
पत्यौ स्त्रियो न कुर्युः पत्यन्तराश्रयणमिति न केनापि प्रकारेणेश्वराभिप्रेतम् ।
विधवाविवाहानुष्ठानस्यातो युक्तिसङ्गततयाऽवश्यं विधातव्यं तत्प्रचलनम् ।
आपत्तिरेतादृशी नासङ्गतेत्यवबुध्यते स्थूलदृष्टिः । किन्तु सूक्ष्मदृष्ट्याभ्यन्तरे
विहिते सति प्रवेशे यः परिलक्ष्यते प्रभेदोऽनेकांशतः,—

प्रदीयते तद्विवरणमधस्तात् । यथा,—द्वेषेच्छाप्रभृतिकतिपयसामान्य-
चित्तवृत्तीनां तथा रक्तमांसादिकतिपयसाधारणशारीरिकोपादानानाञ्च-

स्वसादृश्येन यद्यपि स्त्रीपुरुषद्वयं समानाधिकारीत्येवं रूपः क्रियते सिद्धा-
स्तदा तादृक्सादृश्यं न दृश्यते कुत्रापि ।

दृश्यतां तावत्, साहं कोटपतङ्गपशुपक्षिप्रभृतिभिर्मनुष्यस्य न परिलक्ष्य-
विशेषतोऽसङ्गावः । एतादृग्मिहान्तानुसारेण लब्धं तुल्याधिकारिवन्-
शक्नुयात् प्राणिमात्रम् । परस्परन्तु कस्यापि न भविष्यत्येव किमपीत-
विशेषविवेचनम् । स्त्रीपुंसां शारीरिकमानसिकवलावलस्य तरतमभाव-
विषये सूक्ष्मदर्शिनो महर्षयः कथयन्ति कीदृगायुर्वेदशास्त्रे,—

प्रदर्शयते तत् स्थानेऽस्मिन् ।

यथाह चरकः—शरीरस्थाननिरूपणावसरे,—

“स्नानाप्यभृति युग्मेषु—अहःसु सख्यसेतां पुत्रकामौ, तौ चायुग्मेषु—
दुहितृकामौ” ।

तथाच,—

“अयुग्मद्विवसे कन्या युग्मे पुत्रः प्रजायते ।

रक्ताधिक्ये भवेन्नारी शुक्राधिक्ये भवेत् पुमान् ।

शुक्रशोणितयोः साम्ये भवेदेव नपुंसकः” ॥ इति स्मृतिः ।

तथा चरके तु,—

“तत्र शुक्रबाहुल्यात् पुमान्, आर्त्तवबाहुल्यात् स्त्री साम्यादुभयोर्नपुंसक-
मिति” ।

निरुक्तप्रमाणव्रातेन स्त्रीपुरुषयोः शारीरिकसूत्रपातविषये समयनिदानयो-
प्रदर्शितः प्रभेद इत्यवधेयम् । प्रकृतिगतविभिन्नतां पश्यन्तु विद्वांसः सानुग्रह-
तन्त्रान्तरोक्तां विषयेऽस्मिन्,—

यथा,—

“पित्तात्मिकाः स्त्रियो ज्ञेयाः सौम्यास्तु पुरुषा मताः” ॥ इति ।

पूर्वतः कथितं रक्ताधिक्येन भवति नारीजातं ; तथा शुक्राधिक्येन-
पुरुषव्रातं चेति ।

तथाऽग्नेयप्रभृतयः कतिपये गुणाः रक्ते पित्ते च विद्यन्ते समभावेन ।
सुतरां पूर्वीकृतन्वसारवचनविवेचनानुसारतः स्त्रीसमूहः स्वभावतः पित्त-
प्रकृतिकः, पुरुषनिवहस्तु श्लेष्मप्रकृतिविशिष्टश्चेति प्रतिभाति सुस्पष्टतः ।
पित्तप्रकृतिश्लेष्मप्रकृत्योः कियती विभिन्नताऽस्ति प्रदर्शिता शास्त्रे, दृश्यता-
मिदानीमेषा ।

यथा,—

“पीतः शिथिलाङ्गस्ताम्बनखनयनतालुजिह्वौष्ठपाणिपादतलो दुर्भगो-
बली पलितखालित्ययुष्टो बहुभुक् उष्णदेपी क्षिप्रकोपप्रसादो मध्यमबलो-
मध्यमायुश्च भवति ।

“मुप्तः सन् कनकपलाशकर्णिकारान्,
संपश्येदपि च हुताशविद्युदुल्काः ।
भुजङ्गोलूकगन्धर्व्वयक्षमार्जारवानरैः ।
व्याघ्राक्षनकुलानूकैः पैत्तिकास्तु नराः स्मृताः” ॥

तथा,—

“सुभगः प्रियदर्शनो मधुरप्रियः कृतज्ञो धृतिमान् सहिष्णुरलोलुपो बल-
वाञ्छिरगाही हृतवैरश्च भवति ।

“शुक्लाक्षः स्थिरकुटिलातिनीलकेशो-
लक्ष्मीवान् जलदमृदङ्गगम्भीरघोषः ।

रक्तान्तनेत्रः सुविभक्तगात्रस्निग्धच्छविः सत्वगुणोपपन्नः ।
क्लेशक्षमो मानयिता गुरुणां ज्ञेयो विलासप्रकृतिर्मनुष्यः” ॥

“ब्रह्मरुद्रेन्द्रवरुणैः सिंहाश्वगजगोवृषैः ।

तार्क्ष्यहंससमानूकाः श्लेष्मप्रकृतयो नराः” ॥ इति सुश्रुतः ।

न तावत्सर्वपुरुषाः समानस्वभावाः । तेषामन्ततो नानाविधपार्थक्यं-
परिलक्ष्यते सर्वदा ।

यथा,—

को वा वातप्रकृतिकः, पित्तप्रकृतिको वा कः, को वा श्लेष्मप्रकृतिकः, मिश्रप्रकृतिको वा कः । तथैवं प्रकृतिभेदेन पुरुषजातेरकस्या नानारूपं शारीरिकमानसिकगुणवैषम्यं दृष्टं सततम् ।

तथा स्त्रीजात्यभ्यन्तरेऽपि तावत् प्रकृतिभेदेन बहुविधदैहिक-मानसिकगुणभिन्नता परिदृश्यते ह्यनिशम् ।

व्यक्तिगतगुणानुसारिणोभयजात्यन्तराले परिलक्षितं सत्यप्युत्तमानुत्तमत्वे-जातीयसम्बन्धाधीननारीजातिमध्ये पित्तप्रकृतिकच्छाया तथा पुरुषजात्यभ्यन्तरे सौम्यप्रकृतिकच्छाया च तिष्ठति स्थास्यति चावश्यम् । अतएव स्त्रीपुरुषयोरुत्पादकमूलनिदानस्य गुण एव । सुतरामेतदेवाव्यर्थमैशिकनियमफलमिति परमर्षीणां पूज्यपादानां मतेनासीत् सुनिश्चितम् । तथा, विमानस्थानीयचिकित्साप्रसङ्गे चरकेन यदुक्तं, प्रमाणात्मकतया-तदेवोद्भियतेऽत्र ।

“सहसा ह्यतिवलमौषधमपरीक्षकप्रयुक्तमल्पवलमातुरमभिधातयेत् । एतच्चैव कारणमवेक्षमाणो हीनवलमातुरमविषादकरैर्मृदुसुकुमारप्रायेकतरोत्तरगुरुभिरवभ्रमैरनात्ययिकैश्चोपक्रमेद्दोषधैः । विशेषतश्च नार्थस्वा ह्यनवस्थितमृदुविद्वतविक्षवहृदयाः प्रायः सुकुमारा नार्थोऽवलाः परसंरम्भाय” ।

भो विद्वांसः दृष्टमेतद्युष्माभिः स्त्रीपुरुषयोः शरीरतो मानसतद्व-प्रभेदः कियानस्तीति । अतो महतः प्रकृतिभेदस्य विद्यमानतया स्त्रीपुंसोः कार्यकलापतोऽतीवपार्थक्यमवलोक्यते सर्वैः, अतएव केवलयुक्तिमार्गानुसरणं कर्तुमनुष्ठितं सत्यप्यभिलाषे स्त्रीजातिः केनापि प्रकारेण न भवेत् पुरुषजाति-समधिकारिणी । अपि चैतद्विषये शास्त्रीयमनुसन्धानं कर्तुं विशेषभावेन नास्ति प्रयोजनं । स्त्रीपुरुषयोरन्तराले प्रकृत्याकृतिचरित्रगतातिशयप्रभेदो विद्यते सन्ततं, तत्केऽपि न त्वयचीकुर्वन्ति ? ।

निश्चलमेककृत्वो विभाव्य ब्रुवन्तु निर्भरं ।

स्त्री-पुरुषयोः शारीरिक मानसिक-कार्यकलाप-विषये सत्यप्येतादृशप्रभेदो जागरूके परस्परं संसारक्षेत्रे दातुं तुल्याधिकारित्वं कथमतीवव्यथा भवन्ति-

यीमन्तः । कथं वा केनापि युक्तिवलेन दक्षिणाङ्ग-वामावयवाभ्यां न-
 प्राददन् समानाधिकारं भवन्तः । कथं वा वामहस्तं चिरकाल
 मपवित्वं शौचादिकार्यनिवहे नियुज्य प्रकाशयन्ति दक्षिणहस्तस्यादर-
 मियन्तः । स्थलेऽस्मिन् भवन्तः कथं पराभवन्ति साम्यात्मकभावं । हस्तद्वयं-
 प्रति प्रदाय समानाधिकारं स्वाच्छन्द्येनाशनशौचादिक्रियां सम्पादयितुं-
 कथं वा न भवन्ति भवन्तोऽग्रसराः । स्त्रीयशरीराभ्यन्तर एतादृङ्मयम-
 संस्थापनं तथाऽङ्गोपार्थङ्गान्तरस्य क्षमतादिकं चोदाहरणात्मकतया भवति-
 चाक्षुषमनवरतम् । स्त्रीपुरुषाभ्यन्तरेऽतो नार्थ्येवावश्यं पुरुषाधीना स्त्री-
 समाजान्तराले पुरुषाः स्त्रीणां शासनकर्तारः । यद्यपि संसारे शान्तिः-
 सुशृङ्खलता च भवेदभिलषणीया, तदावश्यमेव स्त्रीकरणीयमेतत्, संसारक्षेत्रे-
 स्त्रियो विचरितुमवलम्बेरन्नवश्यं पुरुषसंस्थापितनियमं ।

यथा --

घटेत विशृङ्खलता नृपतिविरहिते राज्ये, नाविकविहीना नौका यथा-
 विपदापन्ना, तथा पुरुषपरिचालनविरहितः स्त्रीप्रधानसंसारो भवेद्विशृङ्खलो-
 विपत्सङ्कुलश्च, नाख्यत सन्देहविषयः । अन्यच्च ; के केऽपि कथयन्ति यदत्रतः-
 स्मृतिशास्त्रं भारतीयाधिकरणालये प्रचलितेदानीतनहुणीयनीतिशास्त्रं च ।
 तन्मध्यतो येषां सत्यप्यनुपयोगित्वे यथा तेषां समयानुक्रमेण भवति-
 परिवर्तनं परिवर्द्धनं च, तथा विधवाविवाहादयः कतिपये समाज-
 संस्कारकविषयाः साम्प्रतिककालोपयोगित्वात् प्राचीनधर्मशास्त्रेषु सामान्यतः-
 सत्यपि तदादरोक्षेखे सर्व्वादृततदुल्लेखाभावाच्चाधुनातननिबन्धग्रन्थेषु तद्विवर्द्ध-
 नायोचितं भवति स्थानदानम् । शास्त्रेष्वस्मदीयेष्वेतस्योदाहरणं न विरलम् ।
 दृश्यतां मनूक्तेखनम् । यथा वेणुराजत्वावसरे प्रचलितदेवनियोगादिकार्य-
 त्राते संसाराहितकारितया समयान्तरे सत्यपि परिहृते शास्त्रे तत्तत्कार्यजात-
 मलभत स्थानम् ।

एवमपि महाभारतोयादिपर्वपाठादवगम्यते भारतेऽस्मिन्नासीत् पूर्वतः-
 स्त्रीस्वाधीनतेति । यथा, यदा पितुरुद्दालकस्य तत्पुत्र-क्षेतकेतोस्तत्-
 पत्न्याश्चासीदेकत्रावस्थानम् । तदाऽगम्येको ब्राह्मणः पितापुत्रसमक्षतो-

ऽवज्ञम्ब मातुर्हस्तं जगामान्यत्र कर्तुं भ्रमणम् । भूत्वा रोषान्वितः पुत्रः-
पितरं पप्रच्छ बहुविधप्रश्नमस्मिन् विषये । स्वाधीनतासीत् स्त्रीणां पूर्वतः-
प्रचलिताऽतो न दोषाधायकमेतदनुष्ठानमित्युत्तरयति स्म जनकः ।

किन्त्वत्र पुत्रो भूत्वाऽसन्तुष्टः साधारणदृष्टितः कार्यमेतदतीव घृष्टं चतुः-
शूलं चेति विविचैकदैव भारततो विदूरितवान् स्त्रीस्वाधीनतात्मकनियमम् ।

एतादृशो बहुविधनियमा—अप्यासन् परिवर्त्तिता इत्यवलोक्यते शस्त्रे ।
ग्रन्थबाहुल्यमिमांसा तदुल्लेखनं न कृतमत्र । सत्येवं परिवर्त्तने कथमत्र तदुद्भावनं
भवेदुचितम् ।

“तुष्यतु दुर्जनन्यायेन” स्त्रीकृतं भवन्मत्तम् । तथापीदानीं नायमवसरो-
धर्मशास्त्रीयपरिवर्त्तनस्य । समयोऽयं धर्माविप्लवस्य । चक्रवर्त्तिनोऽधुना-
भिन्नधर्मावलम्बिनः । भारतीयार्याणामिदानीन्तनानां वैदेशिकशिक्षाप्रभावतः-
प्रायशो भवन्ति विज्ञातहृदया वैतर्किकशुक्तिपूर्णान्तःकरणाश्च ।

यज्ञवतु, यद्यपि संसारस्याभविष्यन्मङ्गलं साधितं, तदा स्त्रीकरणीयं-
तत्परिवर्त्तनमवश्यम् ।

किन्तु निरुक्तविषयफलमन्तरा नान्यो भवेत् कश्चिदुपकारः । यदार्थाः
स्वाधिकारभुक्तं कृतवन्तो भारतं, तदा लोकसंख्यां विवर्द्धयितुं विगर्हितपात्रव-
हृत्तिमवलम्बितवन्तस्ते ।

अवशिष्टे विषयफललाक्लोकनास्तदनुष्ठानं विहाय तद्विरमयितुं कठोर-
नियमावली कृतलिपिबन्धनेत्यनुमीयते वेदादिशास्त्रपर्यालोचनतः । पूर्वतो-
विशेषभावेन सत्यपि प्रदर्शितत्वेऽस्य विवेचनस्यैवसङ्गोपयोगितया दिक्षात्रं-
प्रदर्शितं तदत्र । सम्प्रति भारतेऽस्मिन् लोकसंख्यावृद्धेरपरिमिततया नाना-
विधभयङ्कररोगजातेन लोकनिवहे सत्यपि पतिते मृत्युमुखे प्रायशो भारतीय-
प्रत्येकस्थानेषु संलगति दुर्भिन्नं सर्वदा, तदा प्रचलिते सति विधवावेदने भवेत्-
कीदृक् श्रेयःसाधनं तदधिकलोकसंख्यावर्द्धनेन, तत्कर्तव्यं हृदयङ्गमं
सहृदयव्यक्तिमात्रेणैव ।

सर्वे भारतीयाः पुरा पृथिव्यभ्यन्तरे कृतवन्तो यत् प्रथमस्थानाधिकारं,
तत् किं विधवाविवाहप्रचलनद्वारेण ?” तन्न, केवलं नारीणां पातिव्रत्यम्-

तथा पुरुषाणां ब्रह्मचर्यं, कष्टसहिष्णुत्वम् तथा जितेन्द्रियत्वं गुरुभक्त्या-
दिकञ्च । प्रतिपाल्यैतत् सर्वं धर्मशास्त्रादेशानुसारेण सर्वोत्तमस्थानाधिकार-
मधिरुद्धास्ते । तथा स्त्रिया ब्रह्मचर्यञ्च । स्त्रीकरोत्येतद्विजयिजातिरप्युच्चैः-
स्वरेण । समाजोन्नतिं कर्तुं भवेयुश्चेदभिलाषिणः, तदा प्रथमतश्चरित्र-
संशोधनं पुंसां करणीयमेव । शास्त्रसम्मतमेतदेव । निजमसंशोध्य क्रियेत-
चेत्परं प्रति दृष्टिपातः, तदा न सम्भवेत्सुफलम् । संसारेऽस्मिन् यद्वाभि-
चारादिकं घटते प्रतिदिनम् तदस्माकं भवति चरित्रदोषतः । नान्य-
द्भवति किञ्चित् । वयं तर्हि प्रथमतो भवेमावश्यं स्वयं परिशुद्धस्वभावाः,
यद्यपि स्थापितव्यं स्त्रीभिः पातिव्रत्यं, तथा विधवाभिरवलम्बितव्यश्चेत्यति-
धर्मः । तदा निरुक्तदोषाः भवेयुर्दूरीभूताः संपूर्णतः । प्रचलिततयेतस्य-
पूर्वतो जातिरियमधिरुह्यातुग्नतिसोपानम् ।

नास्त्यत्र सन्देहो लेशमात्रम् ।

सम्प्रत्यस्माकं समाजो यथा भवति विशुद्धः, तद्वद्विधोपयमन-
सहजेनाधिकरिष्यति लोकमनांसि । यत—आपातमात्रसुखममिलस्य प्रधा-
वति जनमनः । तथासतीदानीं पुराकालीनब्रह्मचर्यनियमादिकम्-
यथा समाजान्तराले न सम्भवेत्कञ्चुं स्थानं, तथा विधवोपयमात्मकपाशव-
धर्मोऽपि सर्वसाधारणीयसम्प्रत्यया न सम्भवित् समाजं कर्तुं कलङ्कितम् ।
यद्भवति, तत्सम्प्रादयिष्यति कालोऽवश्यम् । तद्विषये कर्तुं करचेपं नास्ति-
कस्यापि सामर्थ्यम् । ततो व्यवस्थापकपण्डितानां कतिपयानां भारतीयानां-
शास्त्रशिष्टाचारविरुद्धस्य कार्यव्रतस्य प्रचलनेऽतीवाग्रहशालित्वं न भवतु-
चितम् । तस्मादतो निवृत्तिमाचरितुं यतन्तां श्रीमन्त इत्यनुरोधोऽस्माकम् ।

विषयेऽस्मिन् भारतीयप्रमाणानुद्भियन्तेऽत्र ।

यथा, —

“यः शास्त्राविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।

न ससिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यौ व्यवस्थितौ ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि” ॥ इति ।

निरुक्तप्रमाणद्वयतः स्युटं प्रतीयते यत्, स्वेच्छापूर्वकं सत्यनुष्ठिते कर्मणि-
न लभ्यते सुखं सिद्धिश्च । अतः शास्त्रप्रतिपादितकर्मणां लङ्घनं कदापि-
न विधेयमिति परमार्थः ।

अतएव पूर्वप्रचलिते विधवावेदनादिकर्मणि शास्त्रेषु सत्प्रवृत्तिरपि-
परिणामफलस्य विषमयत्वेन तन्निवारयितुं बभूवुर्वक्षपरिकरा सर्वशास्त्रकर्तारः,
न कर्तव्यमेतदनुष्ठानावलम्बनमिति राक्षान्तः । किन्तु पुंसां ब्रह्मचर्या-
वलम्बनस्य, तथा स्त्रीणां कठोरपातिव्रत्याश्रयणस्य च प्रचलनावसरे तत्कालो-
पयोगितन्निषेधस्य श्रेयःसाधकतया तदानीन्तनलोकमनस्यभवज्जागरूका तदनु-
रक्तिः । स्वाभाविकमेतदेव । यतः परिवर्त्तनशीलोऽयं संसारः क्षणभङ्गुरश्च-
दैर्नन्दिनम् । सकलदार्शनिकगणोऽपि स्वीकरोत्येतन्मुक्तकण्ठेन । तथा
वैज्ञानिकनिवहोऽपि प्रत्यक्षीकरोत्येतत् प्रतिदिनम् । सुतरां तदवस्थित-
प्राणिनामप्यवश्यं भावि स्यान्ननःपरिवर्त्तनम् ।

नास्ति संशयोऽत्र नूनम् । ततः पूर्वतो यस्यासीत् प्रचलनं, तत्परं तत्-
कालगतमूलकरुच्यनुसारेण भवेत् परिवर्त्तनं तस्य ।

तथा, पुनः पूर्वरीत्यागमनम् । रीतैर्गवमोतप्रोतभावेन लगति-
जागतिकपरिवर्त्तनं प्राणिस्वभावपरिवर्त्तनञ्च सततम् । धर्मशास्त्रीयव्याख्या-
ग्रन्थानां स्थाने स्थानेऽपि “कलियुगनिषिद्धमेतत्” तथा, “युगान्तरौ-
षिष्यमिदं” मित्यादिकस्योल्लेखदर्शनात् समर्थयन्ति शास्त्रे व्याख्यानकर्तारो-
विवेचनमिदमित्यनुमीयतेऽस्माभिः । समयेऽस्मिन् कतिपयव्यक्त्यभ्यन्तरे सत्प्रपि-
ब्रह्मचर्याद्यनुष्ठाने साधारण्येन ब्रह्मचर्यपातितग्राह्यनुष्ठानं नास्तीति शङ्कम-
नूनं वक्तुम् ।

तदा विधवोपयमनादिकर्मैतत्समयोपयोगि न वेति सतयां कृतायां-
जिज्ञासायां प्रदीयतेऽधस्तात् तदुत्तरम् ।

एतत्-प्रचलनस्य पूर्वप्रदर्शितसंसारार्हितसाधकतया पूर्वप्रदत्तविवेचनस-

वाक्यविवाहीयैतत्कालोपयोगिगौणकालावलम्बनात्मकपरिवर्त्तनस्य तथा समये-
ऽस्मिन् कन्यायाः सञ्जाते सतग्रात्तवे प्रायश्चित्ताचरणपूर्वकस्यैतत्कालोपकारक-
युवतीविवाहप्रचलनस्य च श्रेयस्करतन्निवारणोपाय-स्वरूपत्वमिति मन्यामहे-
वयम् ।

तदन्यथाकरणे सति वीर्यं दूषिते न कापि विप्रतिपत्तिः, सति क्षेत्रे-
कलुषिते सन्धवेदगुरुतरदोष इतयात्मकस्यादितः प्रदत्तस्य विवेचनस्यास्य-
प्रावल्यात्, तथा सांसारिकामङ्गलाधायकतया शास्त्रविरुद्धतया च क्षतविधवो-
पयमनपचाश्रयणं न विधेयं प्रथमतः ।

किन्तु विधवावेदनादिकार्यप्रचलनस्य गुरुतरदोषसङ्घसङ्कुलतया सति-
निषिद्धेऽपि तस्मिन् तथा पुनर्भूपुनर्भवनिन्दावेदकप्रमाणव्राते सतग्रपि सन्नि-
वेशिते च स्वग्रन्थे पुनः प्रदत्तोऽक्षतयोनिका विधवापुनर्भवनप्रसरः पूज्यचरणेन
महर्षिणा मनुना ।

अष्टाद्वात्मकवयस्कायाः कन्याया जागतिकविषयस्य मूलतो ज्ञानाभावादा-
पातमात्रसुखमयकार्यव्राततो निरपराधिनीनां वालिकानां कृते सति प्रवञ्चने-
पापस्य सन्भूतत्वात् । तथा अज्ञानपूर्वकविशेषकार्यानुष्ठाने शास्त्रीयप्राय-
श्चित्ताचरणादर्शनाच्चैतदनुष्ठानमङ्गीकृतम् तेनेति प्रतिभाति गूढं निदानं ।
कतिभिः संहिताकर्तृभिस्तत्तत्समायनुपयोगितया सर्वतोभावेनोभयविध-
विधवावेदने सतग्रपि निषिद्धे कतिपये संहिताकर्तारः स्वस्वसमयोपकारक-
तया मनुवद्दुः प्रसारमक्षतयोनिकाविधवोयमनादिकार्याणाम् ।

यथा, “निसृष्टो वा हतो वापो”ति बोधायनीयवाक्यम् ।

तथा “पाणिग्राहे” इति वशिष्ठवचनं तथोक्तान्यान्यवचनञ्च कक्षी-
करोति मनुवचनं स्फुटतः ।

अतएवाक्षतयोनिविधवोपयमने सत्यधर्मतमेऽपि यतिधर्मादिकमव-
लम्बितुमक्षमा या का सृतपतिका अक्षतयोनिकाः, शास्त्रनिषिद्धहृदयविदारक-
गुरुतमदोषोत्पादकनृशंसम्भूणहत्यापेक्षया तासां शास्त्रोक्तपुनःसंस्कारपूर्वक-
पत्यन्तराश्रयणं नापराधाधायकमिति परामर्शः ।

पार्थक्येन धर्मशास्त्रनिवहे द्वितीयोपयमविधेरुल्लेखादर्शनात् प्रथम-

विवाहोक्तविधिना कार्योऽस्याः संस्कार इति सिद्धम् । न च केन गोत्रेण-
विवाहोऽस्या विधेय इति वाच्यम् ।

“पितुरेव सा” इत्यादिवचनजातेनाक्षतयोन्यास्तादृश्याः प्रतिपादित-
पितृगोत्रवत्त्वात्साक्षात्सम्बन्धेन तथा कुचोपलक्षणविधया च । नक्षोप-
संहारोक्तदोषजालं प्रायशः सम्भवेदेतदनुष्ठाने । किन्त्वेतत्कार्यानुष्ठान-
जनानां पातित्यापादकवचननिवहस्यार्थवादात्मकतया त एव न पतिताः,
किन्तुन्नतश्रोत्रियादिकुलतो भ्रष्टा न तु ब्राह्मणादिजातितो वह्निभूता-
इति प्रेक्षावतां सुखिहान्तः । तथापि सकलदेशापेक्षयैकपतिव्रतत्वात्मक-
नारीणां भारतेऽस्मिन् विशेषत्व-मासीद्ब्राह्मणादिजातित्रये जागरूकं बहु-
समयपूर्वतः । यद्यप्यक्षतयोनिकापत्यन्तरग्रहणं, भवेदादृतं, तदा शास्त्र-
प्रतिपादितेति विशेषत्वं सुदूरपराहतमेव । अतएव तत्पत्यन्तरग्रहणापेक्षया-
बाल्यादिविवाहे सति निरुक्तगौणकालावलम्बने तद्विशेषत्वं स्यादन्वे-
वाक्ष्यमिति चूडान्तः ।

इति विधवापत्यन्तराश्रयणविवेचनसमाप्तिः ।

अथ क्रमप्राप्तव्ययसंकोचविचारः ।

पितृश्राद्धाद्यन्यान्यकार्यकलापेषु तथा विवाहोपनयनाद्युत्सवेषु च स्वशक्त्य-
पेक्षया अधिकव्ययमाचरतां भारतीयार्याणामनेकेषां प्राप्तदुरवस्थत्वावलोका-
नादिदानीं तनापदि तादृगवस्थापन्नस्यातीवक्लेशभागित्वदर्शनाच्चैतदापदुद्धरणो-
पायो व्ययसंकोच इति विभाव्योद्भाव्यते तद्विवेचनं तदुत्सवान्यतमोपय-
मनविवेचनानन्तरं प्रसङ्गसङ्गतये । यथा—व्ययसंकोचः—व्ययस्य धनादि-
क्षयस्य संकोचः संक्षेपः अर्थात् धनादिविषयकव्ययसंक्षेपीकरणम् ।

न चैतदनुष्ठानस्याशास्त्रीयत्वान्नोक्षेयं तदनुष्ठानविवेचनमिति वाच्यं,
स्वशक्त्यनुसारणानापद्यपि व्ययसंकोचाचरणस्य धर्मशास्त्रकारैरभ्यनुज्ञाततया-
तथापदि स्ववृत्त्युपार्जितद्रव्यजातेन स्वकुटुम्बपरिपालनाशक्तत्वे स्वापेक्षया-
निम्नतमजातीयवृत्त्यन्तरावलम्बनस्य शास्त्रकारानुमोदितत्वाच्च सुतरामापदि
तदनुष्ठानस्य तत्समयोपयोगित्वेनानुमितशास्त्रसिद्धत्वात् ।

प्रमाणयत्नेतद्विवेचनं निम्नलिखित शास्त्रीयप्रमाणजालम् । यथाह—

मनुः—

“द्वौ दैवे पितृकार्ये तौनैकैकमुभयत्र वा ।
भोजयेत्-सुसमृद्धोऽपि न प्रसज्येत विस्तरे ॥
सत्क्रियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसम्पदः ।
पञ्चैतान् विस्तरो हन्ति तस्मान्नेहेत विस्तरम्” ॥ इति ।

तथाचोशनः,—

“द्वौ देवौ प्राङ्मुखौ पित्रे तयश्चोदङ्मुखास्तथा ।
एकैकं वा भवेत्तत्र एवं मातामहेष्वपि ॥
सत्क्रियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसम्पदम् ।
पञ्चैतान् विस्तरो हन्ति तस्मान्नेहेत विस्तरम् ॥
अथवा भोजयेदेकं ब्राह्मणं वेदपारगम् ।
श्रुतिशीलादिसम्पन्नमलक्षणविवर्जितम्” ॥ इति ।

तथाच शङ्खः—

“द्वौ देवे प्राङ्मुखौ तौश्च पित्ये चोदङ्मुखास्तथा ।
भोजयेद्विधिवद्विप्रानैकैकमुत यत्र वा ॥
भोजयेद्यवाप्येकं ब्राह्मणं पंक्तिपावनम्” । इति ।

तथाच वशिष्ठः,—

“द्वौ दैवे पितृकृत्ये तौनैकैकमुभयत्र वा ।
भोजयेत्-सुसमृद्धोऽपि न प्रसज्येत विस्तरे ॥
सत्क्रियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसम्पदः ।
पञ्चैतान् विस्तरो हन्ति तस्मात्तं परिवर्जयेत् ॥

अपि वा भोजयेदेकं ब्राह्मणं वेदपारगम् ॥

श्रुतिशौलोपसम्पन्नं सर्वालक्षणवर्जितम्” । इति ।

ननु निरुक्तप्रमाणव्रातस्य पितृश्राद्धीयब्राह्मणभोजनसङ्कोचविषयकतया न तद्भिन्नोत्सवादिकार्यजातप्रतिपादकत्वमिति चेन्न, तद्वचनद्वयोपलक्षणविधया तदितरोत्सवादिकार्यसम्बन्धीयव्ययसङ्कोचप्रतिपादकत्वात् । तथैव सर्वत्र शास्त्रीयरीतिरेवं परिदृष्टत्वात् ।

तथा, निम्नलिखितकात्यायनवचनस्य पितृश्राद्धातिरिक्तोत्सवादिकार्यकलापीयव्ययसङ्कोचविषयकत्वात् । तथा यज्ञपार्श्वोद्धृतवचनजातेन कर्मविशेषे निर्दिष्टब्राह्मणसंख्याकत्वाच्च ।

यथाह कात्यायनः,—

“ब्राह्मणान् भोजयेत्-पश्चादभिरूपान् स्वशक्तितः ।

यजमानस्ततोऽग्नीयादिति कात्यायनोऽब्रवीत्” ॥ इति ।

तथाच यज्ञपार्श्वे,—

“गर्भाधानादिसंस्कारे ब्राह्मणान् भोजयेद्दश ।

आवसथ्ये त्रयोविंश अग्न्याधेये शतात्परम्” ॥ इत्यादि ।

न च केवलं ब्राह्मणभोजनव्ययसङ्कोचप्रतिपादकस्य निरुक्तवचनजातस्य न भवेत्तदभोजनव्ययसङ्कोचमन्तराऽन्येषामुत्सवादिकार्यनिवहानां व्ययसङ्कोचापादकत्वमिति वाच्यं, विषयान्तरोक्तनियमस्य—

“सूत्रान्तरादनुवर्त्तनीयं सर्वत्रेति न्यायेन”, तथा, “देहलीदीपकन्यायेन” चानुक्तनियमानां तदितरविषयाणामापादकत्वात् । सत्यप्येवं विभिन्नविषयकव्ययसङ्कोचप्रतिपादकवचनान्तरविसरस्य दृष्टिविषयत्वाच्च । प्रदर्श्यन्ते तद्वचनान्यधस्तान्निरुक्तविवेचनदृढीकरणाय ।

यथाह यमः,—

“देशं कालं तथात्मानं द्रव्यं द्रव्यप्रयोजनम् ।

उपपत्तिमवस्थां च ज्ञात्वा धर्मं समाचरेत्” ॥

इति धर्ममिति पदस्यात्र कार्यमित्यर्थात्मकत्वं बोध्यम् ।

न तु स्वकपोलकल्पितोयमर्थः । एतदर्थस्य मनुवाक्यव्याख्यातकुल्लूकभट्ट-
सम्मतत्वात् ।

समर्थतेऽयमर्थः सवचनव्याख्यानप्रदर्शनेन । यथाह मनुः,—

“कुरुते धर्मसिद्धयर्थमि”त्यादि ।

तथाच—“कुल्लूकभट्टः धर्मसिद्धयर्थं कार्यसिद्धयर्थमिति” ।

तथाच—स एव—

“कार्यं सोऽवेक्ष्य शक्तिञ्च देशकालौ च तत्त्वतः ।

कुरुते धर्मसिद्धयर्थं विश्वरूपं पुनः पुनः” ॥ इति ।

तथाच स एव—

“तं देशकालं शक्तिञ्च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः ।

यथार्हतः सम्प्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्त्तिषु” ॥ इति ।

ननु सत्यपि प्रचुरविभवे महोत्सवादिकार्येषु धनविहीनजनव्ययसङ्कोच-
तुलनया विधेयो व्ययसंकोच इति चेन्न, निम्नस्थप्रमाणप्रकाशितपञ्चधाविभाग-
विशिष्टस्य स्वस्वविभवस्य भागैकव्ययस्य निश्चिष्टतया तु योक्तसकलवाक्येषु प्रदत्तय-
वाशक्त्यादिपदस्य चक्षुर्विषयतया तथा वक्ष्यमाणवचनवलेन च स्वस्वविभवानु-
सारेणानुष्ठितव्ययस्य शास्त्रानुमोदितत्वात् ।

तथा—भागवते वसिं प्रति शुक्रवाक्यं,—

यथा,—

“न तद्दानं प्रशंसन्ति येन वृत्तिर्विपदयते ।

दानं यज्ञस्तपः कर्म लोके वृत्तिमतो यतः ॥

धर्माय यशश्चेष्टार्थाय कामाय स्वजनाय च ।

पञ्चधा विभजन् वित्तमिहामुत्र च मोदते” ॥ इति ।

तथाच याज्ञवल्करः,—

“स्वकुटुम्बाविरोधेन देयं दारसुतादृते ।

नान्वये सति सर्वस्व' यच्चान्यस्मै प्रतिश्रुतम्” ॥ इति ।

इतः पूर्वमुक्तप्रमाणान्येतद्विवेचनसमर्थकान्यपि ग्रन्थविस्तरमिमां नोक्तो-
लितानि पुनरच । तथाच—

मनुः—

“वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च ।

वेशवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरन् विचरेदिह” ॥ इति ।

तथा स एव,—

“न सीदेत्-स्नातको विप्रः क्षुधाशक्तः कथञ्चन ।

न जीर्णमलवद्वासा भवेच्च विभवे सति” ॥ इति ।

न च तर्हि निरुक्तोत्पत्तिकार्यजातेतरेषु कामजक्रोधजव्यसनेषु विधेयं-
किं व्ययबाहुल्यमिति वाच्यं, तदासक्तलोकाविवक्ष्य शास्त्रकारैर्विगर्हिततया-
सुतरां तदा तद्विषयकव्ययसंकोचानुष्ठानस्य युक्तिसिद्धत्वात्तथा शास्त्रसम्मत-
त्वाच्च ।

युक्तिमेतां क्रोड़ीकुर्वन्ति निम्नलिखित वचनानि ।

यथाह मनुः,—

“दश कामसमुत्थानि तथाऽष्टौ क्रोधजानि च ।

व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥

कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः ।

वियुजतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्व्वात्मनैव तु ॥

ब्राह्मणादौनामुपलक्षकम् ।

मृगयाक्षो दिवास्वप्नः — परिवादः स्त्रियो मदः ।

तोर्यत्रिकं वृथाभ्या च - कामजो दशको गणः ॥

“पैशून्यं साहसं द्वोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम् ।

वाग्दण्डजश्च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥

पानक्षमाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् ।

एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्के कामजे गणे ॥

दण्डस्य पातनञ्चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे ।

क्रोधजोऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा ॥

“व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते ।

व्यसन्यधोऽधो वृजति स्वर्यात्यवसनी मृतः” ॥ इति ।

निरुक्तप्रमाणवृन्दपर्यालोचनतोऽवबुध्यते विधेयः सकलविषयकव्ययसङ्कोचो-
विपदि तथा सञ्भाव्यविपच्छङ्कयाऽनापदि चेति विदुषां सुसिद्धान्तः ।

इति व्ययसंकोचविवेचनसमापनम् ।

अथ क्रमप्राप्तभक्ष्याभक्ष्यविचारः ।

पूर्वतो धर्मशास्त्रेषु भक्ष्याभक्ष्यद्रव्यजातस्य सत्यपि सम्यक्विवेचितत्वे-
सहेतुकतद्विवेचनस्य नावलोक्यते लेखः । तथा ; पुरा साकं देशान्तरै-
र्भारतस्य सम्यक्काभावात् तत्तत्स्थानीयकतिपयनूतनद्रव्याणां भक्ष्याभक्ष्यत्व-
निर्धारणस्य कस्मिन्नपि भारतीयधर्मशास्त्रे न दृश्यते समुल्लेखः साक्षात्-
स्वन्धेन । तथेदानीं भारतीय-हिन्दुचक्रवर्त्तिनोऽविद्यमानतया वैदिकधर्म-
भित्तिभङ्गभीतिश्चेतस्यजागरूकत्वात्तथा दुर्भिन्नादि-नानाविधविपत्सु निप-
तितत्वाच्च केचन भारतीया रसनेन्द्रियलालसया केचन दारिद्र्यदोषाभिभूत-
तया चाश्रित्य स्वाधीनतामविधाय भक्ष्याभक्ष्यद्रव्यविवेचनञ्च दुष्टमप्यापातमधुरं-
स्वदेशीयं वैदेशिकञ्च भक्षयन्ति द्रव्यजातं सर्वत्र सुलभम् । अतः सन्तो-
विविधरोगाक्रान्ताः पतन्ति मृत्युमुखे प्रायशो बहवः । तथाध्येतुं भारतेतर-

देशजालमुपगम्य, सत्यपि सुयोगी धर्मशास्त्रविनिन्दितमांसादीनामश्नेन-
प्रायशो गुरुतरव्याधिनिवहेनाभिभूताख्यजन्ति प्राणान् सततम् ।

ननु द्रव्याणां सर्वेषां प्राणिजातप्राणधारणसाधारणोपयोगित्वेऽप्येतेषा-
मभ्यन्तरे कस्याप्यभक्ष्यत्वं कस्य वा भक्ष्यत्वमिति विवेचनस्य निष्प्रयोजन-
कत्वमिति चेन्न । गदात्मकविपक्षेः शरीरस्यावनाय मन्वादिभिस्तादृक्-
विवेकस्य पूर्वतः प्रतिपादितत्वात् । कञ्चीकरोति विवेचनमेतद् यथा—मनुः,—

“एवं यथोक्तं विप्राणां स्वधर्ममनुतिष्ठताम् ।

कथं मृत्युः प्रभवति वेदशास्त्रविदां प्रभो ! ॥

स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन् मानवो भृगुः ।

श्रूयतां येन दोषेण मृत्युर्विप्राञ्चिघांसति” ॥ इति ।

द्विजातीनां सर्वेषामुपलक्षकमत्र विप्रानितिपदम् । मृत्युरताकालिन्न-
मृत्युर्विद्वयः ।

शास्त्रज्ञानराहित्येन हिताहितद्रव्याशनविवेचनपूर्वकप्रचलनासम्भवान् मृत्यु-
र्भवेदवश्यमित्यनभ्यासेन वेदानामिति निर्देशः ।

नियममन्तराऽयथाप्रचलनस्यास्वास्थ्यप्राधायकत्वादभवेत्याणाल्ययोऽवश्यमित्या-
चारस्य च वर्जनादित्युक्तेष्वः ।

विनाऽपि परिश्रममन्नादेः पाकासम्भवात् तथा जीवनयात्राप्रचलनोप-
योगिद्रव्योपार्जनाभावाच्च सम्भवेज्जीवनविसर्जनमित्यालस्यादितिपदोपादानम् ।

प्रकाशनीयाधस्तादन्नदोषादितिपदस्य विवृतिः ।

तथा स्वास्थ्यमन्तरा दीर्घायुस्त्वासम्भवाज्जगतो नानाविधहितजातानुष्ठानं
तथा स्वस्य पारलौकिकशुभसम्पदादकीर्णरोपासनादिमङ्गलाचरणञ्च न भवे-
ल्लोकानां ; अतः स्वास्थ्यप्रदारेण यथा सम्भवेद्दीर्घजीवनं ; तदर्थमनुष्ठितं नियम-
जातं पूज्यपादैर्महर्षिभिरिति निष्कर्षार्थः, स्थूलतः नातो निष्प्रयोजनक-
मेतदित्यभिप्रायः ।

अतएवैतत्समयोपयोगितया सम्यक्विवेचनमस्य ग्रन्थेऽस्मिन्, लेख्यमवश्य-
मिति विभाव्य प्रकाशयते तदत्रैव । यथा,—

भक्ष्याणि चाभक्ष्याणि च भक्ष्याभक्ष्याणि ; तेषां समाहारः भक्ष्याभक्ष्यं तस्य-
विचारः, द्रव्याणां खाद्याखाद्यविवेक इत्यर्थः । ननु—कानि भक्ष्यद्रव्याणि-
कानि च द्रव्याण्यखाद्यानीत्याशङ्क्यामुच्यतेऽधस्ताद्वर्मशास्त्रमते यथायथम् ।
किन्तु क्रममनुसृत्य भक्ष्यद्रव्यस्यादितः सत्यप्युचिते विवेचनानुष्ठाने धर्मशास्त्र-
कारैः प्रथमतोऽभक्ष्यद्रव्यजातस्य कृतविवेचनत्वात् तदनुक्रममपहाय विवि-
चन्तेऽत्राभक्ष्याणि शास्त्रीयमर्थ्यादयाऽऽदितो दिङ्मात्रेण ।

यथाह मनुरभक्ष्यसाधारणेन ;—

“लशुनं गुञ्जनञ्चैव पलाण्डुं कवकानि च ।
अभक्ष्याणि द्विजातीनामभेद्यप्रभवानि च ॥
लोहितान् वृक्षनिर्य्यासान् व्रश्चनप्रभवांस्तथा ।
शैलुं गव्यं च मेयूषं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥
अनुपाकृतमांसानि देवान्नानि हवींषि च ।
अनिर्द्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमेकशफं तथा ॥
आविकं सन्धिनोक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः ।
आरण्यानाञ्च सर्व्वेषां मृगाणां महिषं विना ॥
स्त्रीक्षीरञ्चैव वर्ज्याणि सर्व्वशुक्तानि चैव हि ।
दधिभक्ष्यञ्च शुक्तेषु सर्व्वञ्च दधिसम्भवम् ॥
यानि चैवाभिषूयन्ते पुष्पमूलफलैः शुभैः ।
क्रव्यादान् शकुनीन् सर्व्वान्स्तथा ग्रामनिवासिनः ॥
अनिर्द्दष्टांश्चैकशफांष्टिष्टिभञ्च विवर्जयेत् ।
कलविङ्गं भ्रवं हंसं चक्राङ्गग्रामकुक्कुटम् ॥
सारसं रज्जुवालञ्च दात्यूहं शुक्सारिके ।
प्रतुदान् जालपादांश्च कोयष्टिनखविष्किरान् ॥

शादीनि होमाग्राक्वर्जयेत् । अनुपाकृतमांसानि इत्येतत् विशेषनिषेध-
दर्शनात् अनर्चितं वृथामांसं इति सामान्यनिषेधो गोवलीवर्दन्यायेनानुपाकृत-
मांसेतराद्वाद्यनुद्देश्यमांसभक्षणे पर्यवस्यति । अनिर्देशाया इति प्रसूताया-
अनिर्देशाया गोर्दुग्धम् । गोरिति पेयक्षीरपशूपलक्षणार्थम् । तेनाजामहि-
व्योरपि दशाहमध्ये प्रतिषेधः ।

तथाच, यमः,—

“अनिर्द्देशाहं गोः क्षीरमाजं माहिषमेव च” । इति ।

तथोद्भवम् । अश्वामेकखुरसम्बन्धि मेषभवम् । सन्धीनी या ऋतुमती-
वृषमिच्छति तस्याः क्षीरम् । तथाच हारीतः,—

“सन्धीनी वृषस्यन्ती, तस्याः पयो न पिवेत् ऋतुमत् तदभवति” ।
विवत्साया ऋतवत्साया असन्निहितवत्सायाश्च क्षीरं वर्जयेत् । धेनुधिकरण-
न्यायेन वत्सग्रहणादेव गवि लक्षायां पुनर्गोग्रहणं गोरेव न तु अजामहिषीरिति
ज्ञापनार्थम् । आरण्यानां चेति मृगशब्दोऽत्र महिषपर्युदासात्पशुमात्रपरः ।
माहिषं क्षीरं वर्जयित्वा सर्जेषामरण्यप्रभवपशूनां हस्यादीनां क्षीरं स्त्रीक्षीरं-
च सर्वानि शुक्तानि वर्जनीयानि स्वभावतो मधुरादिरसानि यानि कालवशेन-
उदकादीनां चास्त्रीभवन्ति तानि शुक्तशब्दवाच्यानि शुक्तं पर्युषितं चैवेति-
चतुर्थं कृतेऽपि शुक्तप्रतिषेधे दध्यादिप्रतिप्रसवार्थं पुरिहोच्यते ।

दधिभक्ष्यं चेति शुक्तेषु । मध्ये दधिभक्ष्यं दधिसम्भवं च सर्वं तक्रादि-
यानि तु पुष्पमूलफलैरुदकेन सन्धीयन्ते तानि च भक्षणीयानि । शुभैरिति-
विशेषणोपादानात् मोहादिविकारकारिभिः कृतसन्धानस्य प्रतिषेधः । ।

तथाच ब्रह्मसूत्रः,—

“कन्दमूलफलैः पुष्पैः शस्तेर्युक्तं तु वस्तु यत् ।

अविकारि भवेद्भक्ष्यमभक्ष्यं तद्विकारकृतम्” ॥

क्रव्यादानिति आसं मांसं ये भक्षयन्ति ते क्रव्यादास्तान् सर्वान् गृध्रादीन्-
पक्षिणो वर्जयेत् । तथा ग्रामनिवासिनश्च पक्षिणः पारावतादीन् । तथा श्रुतौ-
केचिदेकशफा भक्ष्यत्वेन निर्दिष्टाः । तथाचोष्ट्रं वाङ्मालमेत तस्य च मांस-

मञ्जीयादिति । केचिच्च निर्दिष्टा रासभादयः तेषां मांसं वर्जयेत् । वेऽपि-
यज्ञाङ्गत्वेन विहितस्तेषामपि यज्ञ एव मांसभक्षणं न सर्वदा । टिट्ठिभाष्य-
पक्षिणं वर्जयेत् । कलविह्वलमिति । कलविह्वलं चटकं तस्य तस्य ग्रामारण्योभय-
वासित्वात् न ग्रामवासिन एव निषेधः, इत्यारण्यस्याप्यभक्ष्यतार्थं जातिगन्धेन
निषेधः भ्रूवाख्यं पक्षिणं तथा हंसचक्रवाकग्रामकुक्कुटसारसरज्जुवालदात्यूहशुक्र-
सारसाख्यान् पक्षिणो वर्जयेत् । वक्ष्यमाणजालपादनिषेधेणैव हंसचक्रवाक-
योरपि निषेधसिद्धौ पृथङ्निषेधोऽन्येषामापदि जालपादानां विकल्पार्थः ।
स च व्यवस्थितो विज्ञेयः,—आपदि भक्ष्या न त्वनापदि । इच्छाविकल्पस्य-
रागत एव प्राप्तेः । ग्रामकुक्कुटे तु ग्रामग्रहणमारण्यकुक्कुटाभ्यनुज्ञानार्थम् ।
न त्वेतदव्यतिरिक्तग्रामवासिविकल्पार्थं स्वपदानुगतप्रयोजनसम्भवे सति वाक्वा-
न्तरगत-विशेषावधारण-परत्वस्यान्याय्यत्वात् । प्रत्युदानिति,—प्रतुष्ट्य चक्षा-
ये भक्षयन्ति तान् दार्वाधाटादीन् जालपादानिति, जालाकारपादान्-
शरारिप्रभृतीन् कोयध्याख्यं पक्षिणं न च विष्किरान् नखैर्विकीर्य ये भक्षयन्ति-
तानभ्यनुज्ञातारण्यकुक्कुटादिव्यतिरिक्तान् श्वेनादीन् तथा निमज्ज्य ये-
मत्स्यान् खादन्ति तान् मदगुरप्रभृतीन् सूनामारण्यस्थानं तत्र स्थितं यन्मांसं-
भक्ष्यमपि वल्लूरं शुष्कं मांसं एतानि वर्जयेत् । वकं चैवेति वकवलाका द्रोण-
काकखञ्जनान् तथा मत्स्यादीन् पक्षिव्यतिरिक्तानपि नक्रादीन् विह्वलं वरहाञ्च-
विडिति विशेषणमारण्यशूकराभ्यनुज्ञानार्थं मत्स्याश्च सर्वान् वर्जयेत् ।
मत्स्यभक्षणनिन्दामाह ;—यो यस्येति यो यदीयं मांसं खादति स तस्यांसाद-
एव परं व्यपदिश्यते यथा माज्जारी भूषिकादः । मत्स्यादः सर्वमांस-
भक्षकत्वेन व्यपदेष्टुं योग्यः तस्मान्मत्स्यान् न खादेत् इत्यादि” ।

तथाच याज्ञवल्क्यः,—

“अनर्चितं वृथामांसं केशकौटसमन्वितम् ।

शुक्तं पर्युषितोच्छिष्टं श्वसृष्टं पतितेक्षितम् ॥

उदक्वा सृष्टसंघुष्टं पर्यायान्नं च वर्जयेत् ।

गोघ्रातं शकुनोच्छिष्टं पदा सृष्टं च कामतः ॥

सन्धिन्यनिर्दृशावत्सागोपयः परिवर्ज्येत् ।
 औष्ट्रमेकशफं स्त्रैणमारण्यकमथाविकम् ॥
 देवतार्थं हविः शिग्रुं लोहितान् ब्रश्चनांस्तथा ।
 अनुपाकृतमांसानि विड्जानि कवकानि च ॥
 क्रव्यादपक्षिदात्यूहशुकप्रतुदटिद्विभान् ।
 सारसैकशफान् हंसान् सर्व्वांश्च ग्रामवासिनः ॥
 कोयष्टिप्लवचक्राह्वलाकावकविष्किरान् ।
 वृथाकृसरसंयावपायसाऽपूपशष्कुलीः ॥
 कलविङ्गं सकाशोलं कुररं रज्जुदालकम् ।
 जालपादान् खञ्जरीटानज्जातांश्च मृगद्विजान् ॥
 चाषांश्च रक्तपादांश्च सौनं बल्लूरमेव च ।
 मत्स्यांश्च कामतो जग्ध्वा सोपवासस्त्रग्रहं वसेत् ॥
 पलाण्डुं विड्वराहञ्च कृत्वाकं ग्रामकुक्कुटम् ।
 लशुनं गृञ्जनञ्चैव जग्ध्वा चान्द्रायणं चरेत्” ॥ इत्यादि ।

तथाचाह संवर्तः,—

“गौडौ पैष्टौ तथा माध्वौ विज्ञेया त्रिविधा सुरा ।
 यथैवैका यथा सर्वा न पातव्या द्विजैः सदा” ॥

मत्वादिभिरभक्ष्यद्रव्यजाते सति स्थूलतः प्रदर्शितेऽपि गादाधरीयाचारसारे-
 द्रव्याणां एतेषां विभागशो विवेचिततया तद्विभागः प्रदर्श्यतेऽत्र यथाक्रमं सुख-
 बोधार्थम् । यथा गादाधरीयाचारसारे,—

विज्ञामिचः—

जातिक्रियास्वभावदुष्टताऽसत्संसर्गदुष्टं सुहृत्तेष्वं च न भक्षयेत् । एत-
 दुपलक्षणं अभक्ष्याणामष्टविधत्वात् ।

तथाच,—

“जातिदुष्टं क्रियादुष्टं कालाश्रयविदूषितम् ।

संसर्गैरसदुष्टं च सुहृत्स्वस्थं स्वभावतः” ॥

इति भविष्यपुराणे सुहृत्स्वस्थमिति भावदुष्टमुच्यते । चिकित्सा तु हृदये-
इतरादि वक्ष्यमाणनिरुक्तेः वाग्दुष्टमपि सुहृत्स्वस्थमिति वक्ष्यते । तत्रादौ-
जातिदुष्टानि भविष्ये,—

“लघुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च ।

वार्त्ताकुं नालिकालावमुपेयाञ्जतिदूषितम्” ॥

गृञ्जनं लघुनसदृशः कन्दविशेषः उत्तरापथे प्रसिद्ध इति लक्ष्मीधरः ;
गृञ्जने गजरस्त्येति निरुक्तपाठात् पश्चिमप्रसिद्धः पलाण्डुविशेष इत्येके न तु-
शक्राशनम् ।

तत्र पर्यायाभावात् ; तत्तु सादृकत्वादभक्ष्यमिति केचित् ; गृञ्जनपलाण्डु-
लघुनप्रभेदौ इति केचित् । कवकं चैतद्वृक्षस्थितं पिण्डोपमं कुमुदकलिका-
कृति कृत्राकसदृशं शुक्लं शिथिलावयवम् ।

तथाच ब्राह्मे,—

“मधुकैटभववार्त्तां त्रिशीर्षस्यासुरस्य च ।

विष्णुना हन्यमानानां यन्मेदः पतितं भुवि ॥

पिण्डोपमं तु खुख्खण्डं कवकं चैत्यसम्भवम् ।

कृत्राकं कृत्रसदृशं दैत्यदेहसमुद्भवम्” ॥

अत्र वार्त्ताकुपदेन श्वेतवार्त्ताकुः ।

“खुख्खण्डं श्वेतवार्त्ताकुं कुम्भाण्डं च न भक्षयेत्” ।

इति देवलवचनात् । तथा, वार्त्ताकुः कुम्भीतरादि यमवचनेऽपि बोध्यम् ।

यत्र वार्त्ताकुशब्दोऽस्ति तत्त्याज्यं हरिमिच्छतेतरादावपि बोध्यम् ।
समाचारोऽप्येवमेव । नालिका कलम्बिका ; कुम्भाण्डो दाडिमसदृशः फल-

विशेषः ; कुम्भाण्डनिषेधे चक्षणाफलं निषिद्धमिति स्मृतिरत्नमालायां-
व्याख्यातम् ।

अभक्ष्यप्रकरणे यच्चान्यत्परिचक्षते इतयापस्तम्बवचनात् । विशेषतो-
निषिद्धमपि शिष्टविगीतं न भक्ष्यं ; तथा चक्षणाफलमभक्ष्यमिति निबन्धकतः ।

यमः,—

“भूमिजं वृक्षजम्वापि कृत्वाकं भक्षयन्ति ये ।

ब्रह्मघ्नांस्तान् विजानीयाद्ब्रह्मवादिषु गर्हितान्” ॥

इति द्वयोरपि कृत्वाकयोर्निषेधः ।

ब्राह्मे,—

“राजमाषाः स्थूलमुद्गास्तथा वत्सकवासकौ ।

मसूराः शतपुष्पाश्च कुसुम्भं श्रीनिकेतनम् ॥

शस्यान्येतान्यभक्ष्याणि न च देयानि कस्यचित्” ।

तथा,—

“भुक्त्वा तु क्षारलवणं त्रिरात्रं तु व्रतं चरेत्” ।

राजमाषाः पश्चिमदेशप्रसिद्धाः स्थूलमुद्गाः, वासकः प्रसिद्धः । शतपुष्पाः-

मौप इति प्रसिद्धः । क्षारलवणमुपरमूर्त्तिकाप्रभवलवणम् ।

भविष्ये,—

“अङ्गुल्या दन्तकाष्ठं च प्रत्यक्षलवणं च यत् ।

मृत्तिकाभक्षणं चैव तुल्यं गोमांसभक्षणम्” ॥

प्रत्यक्षलवणं ; अन्नव्यञ्जनादिसंस्कारप्रवेशमन्तरेण साक्षादेव केवलभक्ष-
माणलवणं कोष्ठरोगजनकमिति सुयुतः । प्रचेताः,—मृत्तोद्ग्रादनेऽहोरात्र-
मभोजनाच्छुद्धिः । विज्ञानेश्वरधृता स्मृतिः ।

“कुम्भाण्डकेवुवृन्ताककोविदारांश्च वर्जयेत् ।

तथाऽकालप्ररूढानि पुष्पाणि च फलानि च ॥

विकारवच्च यत्-किञ्चित्-तन्प्रयत्नेन वर्जयेत्” ।

इति, वृन्ताको वार्त्ताकिसदृशः फलविशेषो हरितः । पाके रक्त इति,—
लक्ष्मीधरः । केवु केवुकम् ।

मनुः,—

“अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च ।

लोहितान् वृक्षनिर्व्यासान् ब्रश्चनप्रभवांस्तथा ।

शैलुं गव्यं च पेषूषं प्रयत्नेन विवर्जयेत्” ।

अमेध्यप्रभवाणि विष्टाजातानि तण्डूलीयकादीनि । यद्वा “वीजानि-
गुदमार्गनिर्गतानि विष्टामध्यगतानि यानि वृक्षं जनयन्ति तानि । तत्र-
चेन्नविष्टाक्रान्तभूमिजानामपि आस्त्रवृक्षादीनां फलपुष्पे ग्राह्ये ।

तथा बौधायनः,—

“अमेध्येषु च ये जाता वृक्षाः पुष्पफलोपगाः ।

तेषामपि न दुष्यन्ति पुष्पाणि च फलानि च” ॥

पुष्पफलोपगा इति विशेषणाद्बहुपुष्पफला आस्त्रादयो ग्राह्या न तु क्षुद्र-
वार्त्ताक्यादय इति मेधातिथिः । तथा,—तद्विधलतावृक्षादीनां पुष्पफले-
ग्राह्ये ; निर्व्यासा वृक्षनिर्गतकठिनरसास्ते चेन्नलोहितवर्णास्तदा न भक्ष्याः यथा-
नारिकेलवृक्षादिषु, तेन हिङ्गुकपूरादिषु न दोष इति लक्ष्मीधरः । ब्रश्चनं-
क्षेदनं तत्रप्रभवासु निर्व्यासा लोहिता अभक्ष्याः पुनर्निर्देशात् । “अथो खलु-
यो लोहितो यथा ब्रश्चनाद्विर्व्यसति तस्य नाशं काममन्नस्यति” तैत्तिरीय
श्रुतेश्च ।

शैलुः श्लेष्मातकः बहु आलु इति प्रसिद्धः । दुग्धप्रकरण, हारीतः,—
मासेन पेषूषं भवतीति । तथाच,—नवप्रसूताया गोः क्षीरं मासपर्यन्तं
अभक्ष्यं । अनिर्देशाया गोः क्षीरमिति मनुवचनं तु अतः प्रस्तापदविषयमिति-
बोध्यम् । तथा यदग्निसंयोगात् कठिनं भवति तच्चेद्गव्यं तदाऽभक्ष्यम् ।

आपस्तम्बः,—

“भक्षयेद्-यदि नीलं तु प्रमादाद्-ब्राह्मणः सकृत् ।
चान्द्रायणेन शुद्धिः स्यादापस्तम्बोऽब्रवीन्मुनिः” ॥

तथा,—क्रीलालोषधीनां च क्रीलालः सुरा । तदर्थस्थापिता भक्ष्या-
अयोषधयोऽभक्ष्याः ।

गौतमः,—उद्धृतस्नेहविलयपिण्याकमथितप्रकृतीनि नाद्यात् ; विलयो-
द्धृतम् । षट्तिंशन्मते ; —

“षण्णपुष्पं शाल्मलिं च करनिर्मथितं दधि ।
वहिर्वेदिपुरोडाशं जग्ध्वा नाद्यादहर्निशम्” ॥

उशनाः,—

“कुसुमं नालिकाशाकं वार्त्ताकुं पोतिकं तथा ।
भक्षयन् पतितस्तु स्यादपि वेदान्तगो द्विजः” ॥

पोतिकं पोद् इति प्रसिद्धम् । वार्त्ताकुः श्वेतवार्त्ताकुरक्त एव । आप-
स्तम्बेन नवपल्लवस्य, पैठीनसिना स्मार्त्तकनान्नो वृक्षस्य अभक्ष्यत्वमुक्तम् ।

यमः,—

“भूस्तृणं शिशुकं चैव खुखुण्डं ककुवं तथा ।
एतेषां भक्षणं कृत्वा प्राजापत्यं समाचरेत्” ॥

भूस्तृणं गन्धद्वयं ; अतएव शिशुभक्षणे सहद्विगानं ; शङ्खलिखिताभ्यां-
करञ्जकुक्षीभक्षणं घनछत्राकभक्षणं च निषिद्धम् । कुक्षी विल्वफलसदृशं-
फलमरण्ये प्रसिद्धम् । घनछत्राको मेघसमयोत्पन्नः कवकः ।

देवलः,—

“न बीजान्युपभुञ्जीत रोगोत्पत्तिमृते द्विजः ।
फलान्येषामनन्तानि बीजानां हि विनाशयेत्” ॥

बीजानि कुष्माण्डबीजानीति लक्ष्मीधरः । तस्यायमाशयः यद्यपि-

सुदगादीनि धान्यादीन्यप्यङ्कुरजननयोग्यानि तदा न भक्ष्याणि । कोमल-
तदयोग्यानि चेत् भक्ष्याणि ; सुदगधान्यादीन्यपि अङ्कुरजननयोग्यानि तदर्थं
पृथक्कृत्य रक्षितानि न भक्ष्याणीति श्रेयः ।

ब्राह्मे ;—

“पिप्पलीनिकरञ्जानि कुम्भीराणि वटानि च ।
मातुलाङ्गानि मूत्राणि पनसोदुम्बराणि च ॥
शिग्रुशोभाञ्जने चैव कोविदाराणि चैव हि ।
अथ तिक्तकपित्थानि शैलुश्लेष्मातकानि च ।
विभीतकानि च तथा न भक्ष्याणि फलानि तु ॥
अलक्ष्मीश्लेषु वृक्षेषु बद्धा दुर्वाससा यतः ।
वनवासव्रतं कुर्याद्दिनं तत्प्राशनाद्-द्विजः ॥
लताभिर्वेष्टिता ये च गुल्मरोगहताश्च ये ।
भूतप्रेतपिशाचैश्च पक्षिभिर्ये च संश्रिताः” ॥

शिग्रुशोभाञ्जनयोरेव भेदः । तत्र पनसस्य भक्षणसमाचारात् विष्णुदेय-
त्वाच्च पनसान्नहरीतकीति हविष्यप्रकरणोक्तत्वाच्च पनसनिषेधो भूयोतपलक-
दाक्षिणातप्रसिद्धपनसजातिषः एव इति निबन्धकतः ! मातुलङ्गोदुम्बर-
मूत्रफलानां विष्णुदेयत्वादभक्ष्यत्वेऽप्यलक्ष्मीकरत्वाद-वर्जनमुचितम् ।

यथा, दधि-सक्युफलादीनां भक्ष्याणामपि रात्रावलक्ष्मीकरत्वाद-वर्जन-
मुचितम् ।

तथाच विष्णुः,—न दिवाधानाः, न रात्रौ तिलसम्बन्धः न दधिसक्युको-
विदारवटपिप्पलशकम् ।

देवलः,—

“दिवापि दधिधानासु रात्रौ च दधि-सक्युषु ।
श्लेष्मातके तथाऽलक्ष्मीर्नित्यमेव कृतालया” ॥

ब्राह्मे,—

“अपि प्रयाणसमये रात्रौ न प्राशयेद्दधि ।

मधुपर्कप्रदानं तु वर्जयित्वा तु कामतः” ॥ इति ।

अथ दुग्धानि ; मनुः,—

“अनिर्दृशाया गोः क्षीरमौष्ठमेकशफन्तथा ।

आविकं सन्धिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः ॥

आरण्यानां च सर्व्वेषां मृगाणां महिषीं विना ।

स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्याणि सर्व्वशुक्तानि चैव हि” ॥

अनिर्दृशायाः प्रसवदिनादारभ्य दशदिनानपक्रान्तायाः । इदं चात्या-
पद—विषयमिति प्रागुक्तं । मासोत्तरं दोहनं सम्यगितरपुत्रकं । तत्रापि-
विशेषमाह—हारोतः—

“द्वौ मासौ पालयेद्-वत्सं तृतीये-द्विस्तनं दुहेत् ।

चतुर्थे त्रिस्तनं दुह्यात् यथान्यायं यथावलं” ॥

एकशफा अश्वादयः ; आविकं मेघक्षीरं ; सन्धिनी या ऋतुमती वृष-
मिच्छति । विवत्सा वत्सरहिता, आरण्यमृगाः कुरुपृषतादयः ; गोश्चक्षीर-
मनिर्दृशायाः सूतके अजामहिष्योश्च स्यन्दिनीयमसूतसन्धिनीनां च । स्यन्दिनी-
वत्सं विना प्रसूता ; यमसूर्य्यमलापतरा ; अजामहिष्योः सूतकं दशदिन-
पर्यन्तं । तथा च ;—

यमः,—

“अजा गावो महिष्यश्च ब्राह्मणौ च प्रसूतिका ।

दशरात्रेण शुद्धयन्ति भूमिष्ठं च नवोदकं ॥

क्षीरनिषेधं प्रकृत्य वौधायनः,—

विवत्सा अन्यवत्सेन दुग्धा ।

हारोतः,—न ऋतवत्सायाः शोकाभिभूतत्वात् । न निर्णिक्ताया असत्वात् ।

निर्णिक्ताया निःशेषदुग्धायाः, वत्सं प्रत्यवशेषस्य असत्वादित्यर्थः ।

आपस्तम्बः, अपेयं तथोदकं पयः ।

निषेधप्रकरणे विष्णुः,—अमेध्यभुजयेति । तथाच विष्ठाभुजी गो-
क्षीरमपेयम् ।

“क्षीराणि यान्यभक्ष्याणि तद्विकाराशने बुधः ।

सप्तरात्रं व्रतं कुर्याद्-यदेतत्परिकीर्तितम्” ॥

ब्राह्मे,—

“घृतान्मण्डं घृतात्-फेनं पेयूषमथवापि गोः ।

सगुडं सरिचाक्तं च तथा पर्युषितं पयः ॥

सगुडं सरिचाक्तं च पर्युषितं पयोऽप्यभक्ष्यमित्यर्थः ।

भविष्ये,—

“कपिलायाः पिवेच्छूद्रो नरके स विपच्यते ।

हुतशेषं पिवन् विप्रो विप्रः स्यादन्यथा पशुः” ॥

विज्ञानेश्वरीये,—

“क्षत्रियश्चापि वृत्तस्थो वैश्यः शूद्रोऽथवा पुनः ।

यः पिवेत्-कपिलाक्षीरं न ततोऽन्योऽस्य पुण्यभाक्” ।

अथ मांसानि ।

तत्र पक्षिप्रभृतयः,—

मनुः,—

“क्रव्यादः शकुनीन् सर्वान् तथा ग्रामनिवासिनः ।

अनिर्दृष्टांश्चैकशफान् टिट्ठिभञ्च विवर्जयेत् ॥

कलविद्धं परं हंसं चक्राङ्गं ग्रामकुक्कुटम् ।

सारसं रज्जुदालञ्च दाल्यूहं शुकसारिके ॥

प्रतुदान् जालपादांश्च कोयष्टिनखविष्किरान् ।

निमज्जतश्च मत्स्यादान् सौनं वल्गुरमेव च ॥

वकं चैव बलाकं च काकोलं खञ्जरीटकम् ।

मत्स्यादान् विड्भूराहंश्च मत्स्यानेव च सर्वशः” ॥

क्रव्यादो मांसाशिनो गृध्रादीन्, ग्रामवासिनः पारावतादीन् ; रज्जुदालं-
काष्ठकुडुकः ; दातूराहो डाहुक इति प्रसिद्धः । प्रतुदा ये चञ्चा प्रतुद्य प्रतुद्य
भक्षयन्ति । जालपादा अद्यादयः ; नखविष्किराः ; नखैर्विकीर्य्य ये भक्ष-
यन्ति ; निमज्ज्य मत्स्यादा मदगुरप्रभृतयः ; सौनं सूनास्थानभवं मांसं ;
वनूरं शुष्कमांसं, काकोलो द्रोणकाकः ; मत्स्यादा नक्रादयः ; सर्वशः-
सर्वप्रकारेण ।

देवलः,—

“बलाकहंसदातूरहभृङ्गराजकचित्रकाः ।

उलूककुररिश्येनगृध्रकुक्कुटवायसाः ॥

चकोरः कोकिलो रक्तकुल्लिसञ्चाषमुद्गकौ ।

कङ्कसारवशौभासः शतपत्रस्रवङ्गमाः ।

पारावतकपोतौ च अभक्ष्याः पक्षिणः स्मृताः” ।

भृङ्गराजो धूम्राटः, धनच्छाया इति प्रसिद्धः । चित्रकः चित्रकपोतः ;
कङ्को लोहितपत्रः । भक्ष्या इत्यनुवृत्तौ बोधायनः ;—

पक्षिणं स्थितिरिकपोतं कपिञ्जललावटं मयूरवारणवर्ज्जिणाः पञ्चविष्किराः ।

ग्रहः,—

“तित्तिरं च मयूरं च लावकं च कपिञ्जलम् ।

वार्ज्जिणं संवर्तकं चैव भक्ष्याणाह यमः सदा” ॥

एवमुक्तानामपि पक्षिणां ब्राह्मणा मांसं न भक्षयन्त्येव ।

अथ पशवः,—

वशिष्ठः ;—खड्गे तु विवदन्ते ; ग्राम्यशूकरे च ; खड्गेग्राम्यशूकरयो-
मुंनोनामपि विवादासत्वात् भक्षणसमाचारः ।

ब्राह्मे,—

“पशोश्च मार्गमाणस्य न मांसं ग्राहयेद्भिजः ।

पृष्ठमांसं गर्भशय्यां शुष्कमांसमथापि वा ॥

भूमेरन्तरितं कृत्वा मृद्धिश्चाद्यादितं च यत् ।

पक्वमांसमृज्जं षन्तु प्रयत्नात्तन्न भक्षयेत्” ॥

एतेन भौमोष्णपक्वद्रव्यमात्रमभक्ष्यमिति निबन्धकतः ।

मांसे तु विशेषः ;—

भूम्यामन्तर्गतमिति पठित्वा भूम्यां गर्भे पक्वमिति व्याख्यानात् । गतं-
धूमपक्वमपि ऋज्जपक्वमुक्तं, आहिताग्नेरस्य पृथक् निषेधः प्रायश्चित्तविगे-
षार्थ इति कर्काचार्यः ।

मनुः,—

“न भक्षयेदेकचरानज्जाताश्च मृगद्विजान् ।

भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टान् सर्वान् पञ्चनखांस्तथा” ॥

एकचरा एकाकिनः प्रायेण स्वभावतोये चरन्ति सर्पादयः । अम्र-
प्रकरणे आपस्तम्बः,—पञ्चनखानां गोधाकच्छपश्वाविच्छल्यखङ्गशशपूतिग-
वर्जम् । शल्यको भिङ्ग इति प्रसिद्धः । पूतिशो हिमवति प्रसिद्ध इति-
कपर्दिभाष्यम् ।

मनुः,—

“श्वविधं शल्यकं गोधां खङ्गकूर्मशशांस्तथा ।

भक्ष्यान् पञ्चनखेष्वहुरनुष्टांश्चैकतोदतः ॥

एकतोदत—एकदन्तान् ।

महाभारते,—

ग्रामं गव्यञ्च यन्मांसं मायूरञ्च विवर्जयेत् ।

हारीतः—ग्रामारण्यानां पशूनामंश्रन्ति ; यथाऽजमेघमहिषहरिणखङ्ग-
रुपृषतरुव्यन्धुमहारण्यनिवासिनश्च वराहांस्तथा शशकशल्यसेधगोधाकूर्म-

वर्तकतिसिरिमयूरवार्द्धीणसलावकुटुकपिञ्जलान् । सशल्कान् मत्स्यान्व-
योपपन्नान् भक्षयेत् । रुक्मवङ्कुशाखशृङ्गो मृगः । कथो मृदुमृङ्गः ; गोधा इति
प्रसिद्धः ; त्यङ्कुः सन्वरसदृशः शृङ्गरहितः ; सेधा सलिलवर्ती ।

पैठीनसि :—ग्रामारण्याश्चतुर्दशः ; गौरविरजोऽश्वोऽश्वतरोगर्हभोमनुष्य-
इति सप्त ग्राम्याः, पशवः महिषवानरपक्षिसरीसृपकृकृपतमृगाश्चेति-
सप्ताख्याः पशवः ।

अथ मत्स्याः ; मनु यमौ ;—

“यो यस्य मांसमश्नाति स तन्मांसाद् उच्यते ।

मत्स्यादः सर्वमांसादस्तस्मान्मत्स्यान् विवर्जयेत्” ॥

यमः,—अभक्ष्या मकरसर्पसरीसृपमद्गुमयूरकर्मिकनक्रकर्कटकशिशु-
माराः ; ये चान्ये हयकर्णकाः ; ये चान्येऽशल्कला मत्स्या उभयकास्याः ;—
सर्पोऽत्र दुग्धुभः ; सरीसृपोऽत्र जलोकाः ; मद्गुर्जलकाकः ; मधूरोऽत्र-
तत्सदृशो जलपक्षी ; कर्मिकः स्वल्पसर्पसदृशो मत्स्यः ; उभयतोमुखाः ।

पुनर्यमः ;—मत्स्यान् सकलान् वेदाध्यायी च वर्जयेत् । त्रैवर्णिकोऽत्र-
वेदाध्यायी ।

मनुः ;—

“पाठीनरोहितावाद्यौ नियुक्तौ ह्यप्यकव्ययोः ।

राजोवाः सिंहतुण्डाश्च सशल्काश्चैव सर्वशः” ॥

ह्यप्यकव्ययोर्नियुक्तौ आद्यौ आदनीयावित्यर्थः ।

भक्ष्या इत्यनुवृत्तौ वीधायनः,—

मत्स्याः सहस्रदंष्ट्रश्चिनिचिमोवर्मानि—वृहच्छिरसः सृतिचीमशफरी-
लोहितराजीवाः ।

अभक्ष्या इत्यनुवृत्तौ गौतमः,—

मत्स्याश्च विकृताः ; आकारविकृताः जन्मविकृताश्च अभक्ष्या इति ।

तथाच लवणजलप्रभवचिक्कटकानां अर्णजत्वाभावाज्जन्मवैकृत्यमिति न-
आक्षेप्यत्वम् ।

मतस्यानामण्डजत्वं मनुराह,—

“अण्डजाः पक्षिणः सर्पाः नक्राः सर्पाः सकच्छपाः ।

यानि चैवं प्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च” ॥ इति ।

अथ प्रसङ्गपतितमांसभक्षणवर्जनविधिर्विचार्यतेऽधस्तात् ।

मनुः,—

“एतदुक्तं द्विजातीनां भक्ष्याभक्ष्यविशेषतः ।

मांसस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणवर्जने ॥

प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया ।

यथाविधि नियुक्तश्च प्राणानामेव चात्यये ॥

प्राणस्यान्नमिदं सर्वं प्रजापतिरकल्पयत् ।

जङ्गमं श्यावरं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम् ॥

चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणां चाप्यदंष्ट्रिणः ।

अहस्ताश्च सहस्तानां शूराणाञ्चैव भीरवः ॥

नात्ता दुष्यत्यदन्नाद्यान् प्राणिनोऽहन्यहन्यपि ।

धातैव सृष्टा हृदयाश्च प्राणिनोऽत्तार एव च ॥

यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येत्येष दैवो विधिः स्मृतः ।

अतोऽन्यथाप्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुच्यते ॥

क्रौत्वा स्वयम्बाऽपुत्रत्याद्यः परोपहतमेव वा ।

देवान् पितृश्चार्चयित्वा खादन् मांसं न दुष्यति” ॥

एतदुक्तं द्विजातीनां इति पूर्वोक्तभक्ष्याभक्ष्ययोर्ब्राह्मणादितयाधिककथनं शूद्रव्युदासार्थम् ।

तेन लशुनादिभक्षणे न दोषः ; तन्मध्यपतितश्वकाकादिभक्षणं महाजमविगानाद्योषावहं ; अतो वक्ष्यमाणमांसवर्जनविधानं चातुर्वर्णसाधारणं ; वर्जनेऽत्र विधिः ; सूर्यानीक्षणवत्संकल्परूपः ।

प्रोक्षितं यन्नार्थं मन्त्रैः संस्त्रुतं ; संस्त्रुतान् पशून् मन्त्रैरित्यादि वाक्त्रशेषात्
ब्राह्मणानां काम्ययेति ; यदा ब्राह्मणाः किञ्चित्प्रत्येकं कामयन्ते त्वया मांसं-
भोक्तव्यमिति तदा तेषामिच्छया एकवारं भक्षयतो न दोषः ; सक्तब्राह्मण-
काम्ययेति यमोक्तेः ;—

प्राणानामेव चात्यय इति ; रोगिण अन्नाभावेन वा यदा मांसभक्षण-
व्यतिरेकेण वा प्राणान्त्ययः समारभ्यते तदा मांसं भक्ष्यमित्यर्थः । एषामेव-
पूर्वाक्तानामर्थवादाः प्राणस्यान्नमित्यादयः ; अहस्ता मत्स्यग्राहयः जग्धि-
र्भक्षणं ; स्वयमुत्पाद्येति क्षत्रियविषयः ।

तथाच महाभारते ;—

“क्षत्रियाणाञ्च यो दुष्टो विधिस्तमपि मे शृणु ।
वीर्यगोपार्जितं मांसं यथाखादं न दुष्यति ॥
आरण्याः सर्वदैवत्याः प्रोक्षिताः सर्व्वेऽपि मृगाः ।
अगस्त्येन पुरा राजन् मृगया येन युज्यते ॥
नात्मानमपरित्याज्या मृगया नाम विद्यते ।
समतामुपसंगम्य भूतं हन्येत वा न वा” ॥

क्षीत्वा स्वयम्बेत्यनेन च देवपितृर्जनपूर्वके मांसभक्षणे दोषाभावः-
प्रदर्शितः । यस्तु मांसवर्ज्जनात् फलश्रवणं तदप्येतत्प्रकारमांसवर्ज्जन-
भक्षणविषयं न नियुक्तादिविषयं तत्राकरणे दोषश्रुतेः ।

यसः,—

“भक्षयेत् प्रोक्षितं मांसं सक्तद्राह्मणकाम्यया ।

दैवे नियुक्तः श्राद्धे वा नियमे तु विवर्जयेत्” ॥

नियमे मांसवर्ज्जनव्रते कृते सति ; एतच्च प्रोक्षितातिरिक्तेः सर्व्वैरेव-
सम्बध्यते प्रोक्षिते तु न सम्बन्ध्यते, प्रत्यक्षश्रुतिविरोधात् ; एवमन्यत्रापि ।
मांसभक्षणाभ्यनुज्ञाति स्मृत्यन्तरोक्ते बलवत्प्रामाण्यविषयं विहाय नियमे तु-
विवर्ज्जयेदिति सम्बन्धनीयम् ।

पैठीनसिः—

“आङ्गे तु मांसमश्लीयात्तथा तिथिनिमित्तके ।

यो नाश्नाति—

यावन्ति पशुरोमाणि तावन्नरकमृच्छति” ॥

आङ्गे निमन्त्रिते इति शेषः ; अतिथिनिमित्तके अतिथ्यर्थं यदुपास-
तदतिथीनां भक्ष्यमित्यर्थः ।

इत्यादिविधिनिषेधप्रतिपादकप्रचुरप्रमाणानि विद्यमानान्यपि ग्रन्थबाहु-
भिया नोद्धृतान्येवात्र ।

अथ मद्यानि,—मनुहारीतयमाः,—

“सुरा वै मलमन्त्रानां पाप्मा च मलमुच्यते ।

तस्मात्-ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिवेत् ॥

गौडौ पैष्टौ च माध्वौ च विज्ञेया त्रिविधा सुरा ।

यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः ॥

यक्षरक्षःपिशाचानां मद्यं मांसं सुरासवम् ।

तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्रुताहविः ॥

अमेध्ये वा पतेन्मत्तो वैदिकं वापुःपादाहरेत् ।

अकार्यमन्यत्-कुयर्चाच्च ब्राह्मणो मद्यमोहितः ॥

यस्य कायगतं ब्रह्म मदेनाप्लाव्यते सकृत् ।

तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यं शूद्रत्वञ्च नियच्छति” ॥

एतेन जातीफलादेरप्यधिकभक्षणे मादकत्वान् मद्यप्रायश्चित्तम् । शक्नासन-
महिफेनञ्च मादकत्वाद्विगीतमेव । यथा,—एका सुरा सर्वेर्न पेया, तथा-
त्रिविधा ब्रह्मणेर्न पेया ; तथा पैष्टी सुख्यसुरा ; तत्पाने महापातकत्वादका-
मतो द्वादशवर्षाधिकं ; गौडौमद्यपाने कृच्छातिकृच्छ्रे धृतप्राशनं पुनः संस्कारश्च-

मद्यत्वेनैव निषेधात् । त्रिविधा सुरेति तयोरपि ब्राह्मणं प्रति सुरापान-
समानदोषत्वेन सुराशब्दस्य गौणत्वात् । गौणत्वञ्च गौडीमाध्वी—प्रभृत्येकादश-
मद्यगणनोत्तरं ; “द्वादशन्तु सुरामद्यं सर्व्वेषामधमं स्मृत”मिति पौलस्त्येन-
पैक्ष्यामिव सुराशब्दप्रयोगात् ।

वर्जप्रकरणे ; गौतमः, —

मद्यं नित्यं ब्राह्मणः ; तेनानुपनीतस्यापि अनूढायाः कन्याया अपि-
मद्यमाननिषेधः जातिपुरस्कारेण निषेधात् ।

तथा च स्मृत्यन्तरे,—

सुरापाननिषेधस्तु जात्याश्रय इति स्थितिरिति ।

वशिष्टो दशमद्यान्याहः,—

“माधूकमैक्षवं टाङ्गं कौलं खार्जूरपानसम् ।

मृद्दीकारसमाध्वीकमैरेयं नारिकेलजम् ॥

अमेध्यानि दशैतानि मद्यानि ब्राह्मणस्य तु ।

राजन्यश्चैव वैश्यश्च स्मृष्टा वै तैर्न दुष्यतः” ॥

माधूकं मधूकपुष्पोद्भवं ; इक्षुरसभवमैक्षवं ; टङ्गः कपित्थसदृशः ;
काशीरदेशप्रसिद्धस्तद्भवं टाङ्गं ; कौलं कोलफलजं ; खार्जूरं खार्जूरवृक्षजं-
तत्फलजञ्च एवं पानसं ; मृद्दीका द्राक्षा तद्रक्षजं मृद्दीकारसं ; माध्वीकं-
मधुसन्धानजं ; मैरेयं ; धातुकीपुष्पगुडधान्यसहितमिति शब्दार्णवे वाचस्पतिः ।

पौलस्त्यो द्वादशाहः,—

“पानसं द्राक्षमाधूकं खार्जूरं तालमैक्षवम् ।

मधूतं सौरमारिष्टं मैरेयं नारिकेलजम् ॥

समानानि विजानोयान्मद्यान्येकादशैव तु ।

द्वादशं तु सुरामद्यं सर्व्वेषामधमं स्मृतम्” ॥

एतेषां जाल्यैव मद्यत्वादल्पमप्यभक्ष्यम् । न मांसमक्षणे दोषो न मद्य-
इति चतुर्थवैश्यविषयम् ।

“कामादपि हि राजन्यो वैश्यो वापि समाहितः ।

पिवेतां मधु वा तत्र न दोषं किञ्चिद्विच्छतः” ॥

इति यमवचनात् । किन्तु तयोः शूद्रस्यापि पैशौ सुरा निषिद्धा एव ।
एवं “सौत्रामण्यां तथा मद्यं श्रुतौ भक्ष्यमुदाहृत”मिति बृहस्पतिवचनमपि
क्षत्रियवैश्यविषयम् ।

“मद्यमूलपुरीषाणां भक्षणं नास्ति कश्चन” ।

दोषश्चापञ्चमावर्षात् पूर्वं पिबोः सुहृद्गुरोरिति ।

कुमारवचनमपि न ब्राह्मणविषयम् ।

तद्विषयत्वे वा दोषाल्पत्वपरं ; इति जातिदुष्टान्यभक्ष्याणि ।

न च,—

“रसे पाके च कटुकस्तीक्ष्णो मधुरको मतः ।

भग्नसन्धानकृतकण्ठो गुरुः पित्तास्रवृद्धिदः” ॥

तथा,—

“पलाण्डुस्तद्गुणैर्ज्ञेयो रसो न सदृशो गुणैः ।

तथा,—

“गोमांसं सुगुरुस्त्रिगुणं पित्तश्लेष्मविवर्धनम् ।

वृंहणं वातहृद्बल्यमपथ्यं पीनसप्रणुतम्” ॥

इत्यायुर्वेदीयप्रमाणव्रातेन धर्मशास्त्रनिषिद्ध—सकलजातीय द्रव्याणामप्यव-
गतप्राणिहिताधायकगुणशालित्वात् निरुक्तद्रव्याणां शास्त्रप्रतिपादिताभक्ष-
मसङ्गतमितिवाच्यम् । रीगविशेषेष्वायुर्वेदोक्त—तत्तद्द्रव्याणां पथ्यात्मकतया-
तत्र तत्राशनेऽभ्यनुज्ञातत्वात्, तथा, सुमन्वादि—धर्मशास्त्रकारैर्व्याधितस्य-
भिषक्क्रियायां तथा प्राणाल्ययादावपि प्रतिपादित निर्द्दिष्टत्वाच्चैषाम् ।

अतः सर्वदाहारीयद्रव्यात्मकत्वेन निरुक्तद्रव्यजातं नादनीयमित्याशयः ।
ननु नित्याहारीयद्रव्यजातं कीदृशगतिं चेदुच्यते निम्नतः, त्रिविधमाहारीय-
द्रव्यं ; यथा,—सात्विकं राजसं तामसञ्च, एतदनुकूलं गीतावचनजालम् ।

यथा,—

“आयुः सर्वलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः ।

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः” ॥

प्रमाणमेतत्सात्विकाहारीयद्रव्यपरिचायकम् ।

तथा,—

“कटुस्त्वलवणात्युष्णतौक्ष्णरुक्षा विदाहिनः ।

आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥”

राजसिकाहारीयद्रव्यावेदकमिदम् ।

तथा,—

“यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।

उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्” ॥

इदमेव तामसाहारीयद्रव्यबोधकम् ।

अन्यच्च,—पार्थक्येनानिर्दिष्टे सत्यपि सात्विकद्रव्याणां नामोक्तेषु येषा-
मायुःसत्त्वादिगुणविवर्द्धकत्वं तथा विद्यते रस्यत्वादिगुणशालित्वञ्च ; सात्विक-
द्रव्याणीतून्महनीयं तान्येव । तथैवमन्यानि राजसिकतामसिकद्रव्याण्यनुमेयानि-
तत्तत्प्रमाणोक्तगुणविशिष्टत्वेन ।

तथा,—अन्नदोषोऽपि त्रिविधः ; यथा ;—

अदृष्टद्वारकः उभयात्मकः दृष्टद्वारकश्च, अदृष्टद्वारकः स्मृतुक्तः ; उभयोक्तसु-
बालवत्साविवत्सादुग्धादिदोषो दृष्टादृष्टद्वारकः दृष्टद्वारक आयुर्वेदोक्तः ।

यथा—भावप्रकाशे,—

“गोमांसं सुगुरु स्निग्धं पित्तश्लेष्मविवर्द्धनम् ।

वृंहणं वातहृत्-वल्ग्यमपथ्यं पौनसप्रणत्” ॥

इत्यादिप्रमाणप्रावल्यान गोमांसस्य सति वायुपीनसरोगविशेषनिवारक-
त्वेऽपि सुगुरुपाकत्वात् पित्तश्लेष्मविवर्द्धकत्वाच्च, गोमांसस्यैवापथ्यत्वमिति प्रति-
पादितो दृष्टद्वारकदोषो ह्यायुर्वेदेन ।

तथा,—

“लशुनं तु रसो न स्यादुग्रगन्धो महौषधम् ।
अरिष्टो म्लेच्छकन्दश्च यवनेष्टो रसोनकः ॥
पञ्चभिश्च रसैर्युक्तो रसेनाम्लेन वर्जितः ।
तस्माद्रसोन इत्युक्तो द्रव्याणां गुणवेदिभिः” ॥

इति लशुननामानि ।

“कटुकश्चापि मूलेषु तिक्तः पत्रेषु संस्थितः ।
नाले कषाय उद्दिष्टो नालाग्रे लवणः स्मृतः ॥
वीजे तु मधुरः प्रोक्तो रसस्तद्गुणवेदिभिः ।
रसे पाके च कटुकस्तौक्ष्ण्यो मधुरको मतः ॥
भग्नसन्धानकृत्कण्ठो गुरुः पित्तास्रवृद्धिदः ।
मदं मांसं तथा म्लञ्च हितं लशुनवेदिनाम्” ॥
व्यायाममातपं रोषमतिनीरं पयो गुडम् ।
रसोनमश्नन् पुरुषस्त्यजिदेतान् निरन्तरम्” ॥

तथा,—पलाण्डुलशुनाभिधेयद्रव्यद्वयस्य केवलं सत्यपि भग्नसन्धानकारित्वे-
गुरुपाकत्वस्य दुर्गन्धजनकत्वरक्तपित्तवर्धकत्वादिदोषबहुलत्वात्तथातत्वेविना-
मद्यमांसास्तप्रियत्वात्तथा व्यायामातपरोषातिनीरपयोगुडारुचित्वात्तथा-
ग्रीष्मकटिबन्धावस्थितभरतखण्डनिवासिनामार्याणां स्वतो व्यायामातपाद्य-
सहिष्णुतया सुतरां तत्सेवनेन कर्मानर्हत्वसम्भवात्तथा यवनेष्ट इति विगि-
षणविशिष्टत्वेन प्रकाशितयवनप्रियत्वाच्च तत्तद्विधायकधर्मशास्त्रनिषेध-
सुसङ्गत एव ।

तथा,—

“शोभाञ्जनः शिग्रुतीक्ष्णगन्धका क्षीरमोचकाः” ।

इतयादिनामचिह्नितः शोभाञ्जनः ।

“शिग्रुः कटुः कटुः पाके तीक्ष्णो मधुरो लघुः ।

दीपनो रचनो रुक्षः क्षारस्तीक्ष्णो विदाहकृत् ।

संग्राहो शुक्रलो हृद्यः पित्तरक्तप्रकोपनः” ॥ इत्यादि ।

रोगविशेषचिकित्सायां शोभाञ्जनस्य साधुर्यलघुपाकत्वरोचकत्वादिगुण-
गालित्वेनोपकारजनकत्वेऽपि सदैव तैक्ष्ण्यादिपित्तरक्तप्रकोपकबहुदोषयुक्ततया-
धर्मशास्त्रकारैस्तस्याभक्ष्यत्वं प्रतिपादितमेव ।

तथा,— भावप्रकाशे यथा,—

“पटोलं पाचनं हृदं वृष्यं लघ्वग्निदीपनम् ।

स्निग्धोष्णं हन्ति कासास्तज्ज्वरदोषत्रयक्रमीन्” ॥ इति ।

तथा च सुश्रुते ;—

“पटोलादिर्गणः पित्तकफारोचकनाशनः” । इति ।

पटोलस्य पाचकत्वादिगुणयुक्ततया कासादिक्लम्यन्तरोगनिवारकत्वे-
मतपि प्रायशो निम्नलिखितप्रमाणोक्तमव्ययगुणतुल्यतया पटोलं सामिष-
फलमिति प्रतिपादयन्ति धर्मशास्त्रकाराः । सामिषद्रव्यस्य सात्विकगुण-
विरोधितया तथा विष्णुनैवेद्यायोग्यत्वेन च ब्राह्मणैः फलमेतत्कार्तिकादि-
व्रतेषु नाद्यमिति निर्धारितं मन्वादिभिः ।

यथा—सत्स्यविषयकप्रमाणद्वयं भावप्रकाशे ;—

“वृद्धिशो मधुरस्निग्धो रोचको वज्जिबर्द्धनः ।

पित्तहृत् कफकृत् किञ्चिल्लघुर्वृष्योऽनिलापहः” ॥ इति ।

तथा,—

“महासफरसंज्ञस्तु तिक्तः पित्तकफापहः ।

शिशिरो मधुरो रुच्यो वातसाधारणः स्मृतः” ॥ इति ।

तथा,—मद्यस्य नामानि गुणाश्च यथा भावप्रकाशे,—

“मद्यं तु सौधुमैरेयमिरा च मदिरा सुरा ।
कादम्बरौ वारुणी च हालापि बलवत्तभा ॥
पेयं यन्मादकं लोकैस्तन्मद्यमभिधीयते ।
यथारिष्टं सुरासौधुरसवादग्रमनेकधा ॥
मद्यं सर्व्वं भवेद्दुष्टं पित्तकृद् वातनाशनम् ।
वातपित्तकरः सदग्रः स्नेहनो रोचनो हरेत् ॥

ज्ञानमित्यर्थः ।

“मद्यं नवमभिष्यन्दि त्रिदोषजनकं सरम् ।
अहृदं वृंहणं दाहि दुर्गन्धं विण्दं गुरु ॥
सात्विके गीतहासादि राजसे साहसादिकम् ।
तामसे निन्द्यकर्माणि निद्रां च मदिरा चरेत्” ॥

मुस्तैलबालुकगदशीरकधान्यकैलाश—

“यश्चर्षयन् सदसि वाचमभिव्यनक्ति ।
स्वाभाविकं मुखजमुज्झति पूतिगन्धम् ॥
गन्धं च मद्यलशुनादिभवं च नूनं” ।

इतरादि, सर्वविधमद्यस्य स्थूलतो दुष्टतया तथा सात्विकादिगुणविशिष्टस्य-
समस्तलोकस्य ज्ञानहारकतया तथाऽहृद्यादिदोषजातसंश्लिष्टतया च तत्पानं-
सर्व्वतोभावेन निवारितमायुर्व्वेदीयप्रमाणव्रातेन । अतएव एतत्पानेन नरक-
गामित्वमापादितं यद्धर्मशास्त्रकारैस्तत्तु सुसमीचीनमेवेति प्रतिभाति । एव-
मन्येषां जातीयाभक्ष्यद्रव्याणां सतप्रपि विज्ञानमूलकत्वे ग्रन्थबाहुल्यभिया तेषा-
मविधाय विवरणं वैज्ञानिकविवेचनं प्रदर्शितं दिङ्मात्रम् । किन्तु तद्विज्ञान-
मूलकत्वमूहनीयं बुद्धिमद्भिस्तत्र तत्रायुर्व्वेदीयप्रमाणपर्यालोचनेन ।

ननु भारतेतरसकलप्रदेशेषु द्रव्याणां सात्विकाद्याहारभेदेन व्यवस्था-

दर्शनाद्भारतेऽस्मिन् कथं निष्प्रयोजनकं सात्विकप्रभृत्याहारीयद्रव्याणां-
प्रदर्शितं पार्थक्यमिति चेन्न ; देशान्तरे तूत्तममध्यमाधमवंशजत्वेन तत्तद्देश-
वासिनां स्फुटतो जातिभेदस्य विद्यमानत्वेऽपि वर्णाश्रमभेदेन तत्र जातिभेद-
गठनस्याचक्षुर्दिष्यतया तथा विभिन्नजातुपरि पृथक् पृथक् कार्यानुष्ठानस्य-
व्यवस्थादर्शनेन सात्विकाद्याहारीयद्रव्याणां विभिन्नव्यवस्थाविधानाभावात् ।

तथा—भरतखण्डेऽस्मिन् वैज्ञानिकाध्यात्मिकव्यावहारिकशास्त्रनिचयनिर्मा-
णस्य तदवबोधनादिकार्यजातस्य च सात्विकगुणायत्तत्वेन तथा युद्धोत्साहादि-
कार्यनिवहस्य सत्वरजोगुणाधीनतया तथा वाणिज्यक्षपिप्रभृतिसकलकार्यस्य-
रजस्तमोगुणपरवशत्वेन तथा सेवादिनिखिलक्रियानुष्ठानस्य तमोगुणैकाधीन-
त्वेन च तत्तद्गुणोपयोगिसात्विकाद्याहारीयद्रव्याणां वर्णाश्रमभेदव्यवस्था-
तत्तद्गुणविशिष्टब्राह्मणादिजातीयव्रत्तीनां तत्तद्द्रव्यभक्षणस्य प्रसिद्धतया च-
तद्भिभागस्य सप्रयोजनकत्वात् ।

अतः सात्विकाद्याहारीय-द्रव्यविभागानुष्ठानं नासङ्गतमेव । प्रसङ्गप्राप्त-
सात्विकादिगुणजातस्य प्रकटनं यथा सुश्रुते, तत्प्रकाश्यतेऽधस्तात् ।

यथाह,—

सुश्रुतः ;—“सात्विकास्तु आनृशंस्य संविभागरुचिता—तितिक्षा सत्यं-
धर्म आस्तिक्यं ज्ञानं बुद्धिर्मेधा स्मृतिर्धृतिरनभिपङ्गश्च ।

राजसास्तु दुःखबहुलताटनशीलता धृतिरहकार आनृतिकत्वमकारुण्यं-
दम्भो मानो हर्षः कामः क्रोधश्च ।

तामसास्तु विषादित्वं नास्तिक्यमधर्मशीलता बुद्धेर्निरोधोऽज्ञानं दुर्मेधस्त्व-
मकर्मशीलता निद्रालुत्वञ्चेति ।

अपरञ्च,—न च भारतेतरदेशसम्भूताहारीयद्रव्यजाताशने भारतीय-
ब्राह्मणादिजातीयव्रत्तीनां दृश्यते यद्विमुखत्वं तत्तु नोचितमितिवाच्यम् ।
तत्तद्देशीयद्रव्याणां विङ्गस्थ्यादिसारसम्भूततयाऽऽयुर्वेदीयप्रमाणबलादनुमित-
दोषजनकत्वेन धर्मशास्त्रनिर्दिष्टाभक्ष्यत्वात् ।

अन्यच्च,—

“धर्मार्थकाममोक्षाणामागोच्यं मूलमुत्तमम्” ।

चरकीयप्रमाणसामर्थ्यात्तथा, “शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनमिति महा-
कविकालिदासकण्ठोक्तवचनावलोकनाच्च शरीरस्य सारोग्यबहुदिनावस्थायित्वं-
पारंपरिकसम्बन्धेन स्वस्य च चतुर्वर्गाधायकमिति विभावादिदतः समुद्रावितो-
योगमार्गस्त्रिकालज्ञैः पूज्यपादेर्महर्षिभिरित्यनुमितम् । यतो दृष्टदीर्घायु-
स्त्वात्मकफलकतया तन्मार्गावलम्बिनो बभूवुः सर्वे भारतवासिनः पूर्वतः ।

अतस्तन्मार्गस्य तथा सात्विकादिगुणविशिष्टलोकनिकरस्य चोपकारकाणां-
हारीयद्रव्याणि सात्विकाद्याहारीयद्रव्यभेदेन विभक्तानि ; तथाऽन्यानि-
दैवाहितोपधायकतया पापवन्धनसिकल्लेशाल्मकनिरयजनकत्वेन निरूपितानि-
पूर्वाचार्यैरिति परामर्शः ।

इति जातिदुष्टाभक्ष्यद्रव्यजातस्य वैज्ञानिकसमालोचनम् ।

अथ क्रियादुष्टानि ।

भविष्ये,—

“न भक्षयेत् क्रियादुष्टं यदुष्टं पतितैः पृथक्” ॥

वशिष्टः,—उच्छिष्टमगुरोरभोज्यं ; स्वमुच्छिष्टमुच्छिष्टोपहितं वसनकीटोप-
हतं चात्र गुरुपदं पितृज्येष्ठभ्रातृपरम् । अन्यथा रोगसंक्रमणसम्भवात् ।
अग्रेऽप्येवमेव बोध्यम् । पितृज्येष्ठस्य च भ्रातुरुच्छिष्टं भोज्यं, धर्मविप्रतिपत्ता-
वभोज्यमित्यापस्तम्बवचनात् ; पितृज्येष्ठभ्रातृभिन्नगुरोरप्युच्छिष्टमप्यभोज्यम् ;
तयोरपि धर्मविप्रतिपत्ताबधार्मिकत्वेन भोज्यं तथाऽधर्मसंक्रमणसम्भवापत्तेः ।
“मातापितरथोच्छिष्टं बालो भुञ्जन् सुखी भवेदि”ति ब्राह्मणवचनं अनुपनीत-
परं ; तथैवाचारदर्शनात् ।

स्वमुच्छिष्टं भुक्त्वा त्यक्तमन्नं तत्रैतत्पात्रस्थं ; उच्छिष्टोपहितं उच्छिष्टेन-
कालान्तरेण मिश्रितं ; वसनोपहतं परिहितवसनस्युष्टम् ।

शङ्खः,—

“शूद्रोच्छिष्टाशने मासं पक्षमेकं तथा विशः ।

क्षत्रियस्य तु सप्ताहं ब्राह्मणस्य तथाङ्गिकम्” ॥

खोच्छिष्टाशने चान्द्रायणम् ।

आपस्तम्बः,—

“अन्यानां भुक्तशेषं तु भक्षयित्वा द्विजातयः ।
चाण्डं कृच्छ्रं तद्वर्जं च ब्रह्मक्षत्रविशां विधिः” ॥

अङ्गिराः,—

“चाण्डालपतितादौनामुच्छिष्टान्नस्य भक्षणम् ।
चान्द्रायणं चरेद्विप्रः क्षत्रः सान्तपनं चरेत् ।
षड्रात्रं च त्रिरात्रं च वर्णयोरनुपूर्वशः” ।

पट्टतिशम्भते,—

“दोषोच्छिष्टं तु यत्तैलं रात्रौ रथ्याहृतं च यत् ।
अभ्यङ्गस्य तथोच्छिष्टं भुक्त्वा नत्तेन शुध्यति” ॥

वृद्धशातातपः,—

“पीतशेषं तु यत्तोयं भोजने मुखनिःसृतम् ।
अभोज्यं तद्विजातीनां भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्” ॥

सुमन्तुः,—

क्षुतवचोऽभिहितं श्वभिराघ्रातं प्रेक्षितं चान्नमभोज्यमन्यत्र हिरण्योदकैः-
सृष्टात्, यस्यान्नस्य निकटे क्षुतं कृतं यस्य वा निकटे वचनमुच्चारितं-
तत्क्षुतवचोऽभिहितं ; प्रेक्षितं श्वभिरिव ; एतेष्वभिघातेषु हिरण्यमिन्द्रजलसिकः-
शोधकः ; तत्क्षत्वा भोजने गायत्र्यष्टोत्तरशतजपः ।

मनुः,—

“मत्तक्रुद्धातुराणां च न भुञ्जीत कदाचन ।
केशकौटावपन्नं च पदा स्पृष्टं च कामतः ॥
पतत्रिश्वावलौढं च शुना संस्पृष्टमेव च” ।

याज्ञवल्करः,—

“उदक्या स्पृष्टसंघृष्टपर्यायान्नञ्च वर्जयेत्” ।

संघृष्टं क्षुधार्थिनः के सन्ति मदगृहे भुज्यतामिति घोषेण न दत्तम् ।
पर्यायान्नं ब्राह्मणानां ददच्छूद्रः शूद्रान्नं ब्राह्मणो दददित्यादिरूपम् ।

“अभोज्यं ब्राह्मणस्यान्नं वृषलेन निमन्वितम् ।

तथैव वृषलस्यान्नं ब्राह्मणेन निमन्वितम् ॥

विडालकाकाखूच्छिष्टं जग्ध्वाऽश्वनकुलस्य च ।

केशकीटावपन्नञ्च पिवेद्ब्राह्मीं सुवर्चलाम्” ॥

काश्यपः,—“गर्हभोद्राश्वोच्छिष्टभोजने विराजम् ।”

विष्णुः,—गोरुच्छिष्टप्राशने दिनमेकं उपोषितः पञ्चगव्यं पिवेत् ।

उशनाः,—“विड्वराहगृध्रश्वेनकुक्कुटभासकवकसृगाणासुच्छिष्टप्राशने सम-
कच्छम् ।”

यमः,—काककुक्कुटसंस्पृष्टमभोज्यम् ।

आपस्तम्बः,—अप्रयतोपहतमन्नस्य प्रयतं तत्त्वभोज्यम् ।

अग्नावधिश्रयणादिना शुद्धं कृत्वा भोज्यं भवति । एतच्चाप्रयतत्वाद-
ब्राह्मणादिस्पृष्टविषयम् । तथा,—प्रयतेन शूद्रेण स्पृष्टमभोज्यम् । सर्वथा-
ऽभोज्यमित्यर्थः । अनर्हङ्गिः समानपंक्त्यां ; अभोज्यमित्यर्थः । भुज्जानेषु-
यदि कश्चिदुत्थायान्नं प्रयच्छेत् । एकपंक्तौ कश्चित्स्नानं यदि भृत्यादिभ्यो-
दद्यादितरेषामन्नमभोज्यम् । तथा,—भुज्जानेष्वहं भुक्तेषु कश्चिदाचमति तद-
न्येषामन्नमभोज्यम् ।

तथा,—कुत्सयित्वा यदन्यदत्तं ; विषं भुञ्ज्येत्यादिना इत्यर्थः । तथा,—
मनुष्यैरवघ्रातं ; प्रयत्नादित्यर्थः ।

तथा,—मनुष्यैरवघ्रातं ; गर्हभादिभिरित्यर्थः ।

“न रजस्वलया दत्तं न पुंश्चलया न क्रुद्धया ।

न मलवाससा नापरयाद्वारा यदत्तम् ; न द्विपक्वं, मलवाससाऽमेध्य-

वस्त्रया परस्त्रामिकमप्यन्नं रजस्वलादिभिर्दत्तमन्नं न भोज्यमित्यर्थः, अपरद्वारं-
अतिथिभोजनमुख्यद्वारं विना द्वारान्तरं, द्विः पक्कं सिद्धमेवान्नं, धान्यं स्विन्नं-
तच्छोषणेन धान्यमेव जातं; तस्य स्विन्नता धान्ये गुणसम्पादनार्था ।
न त्वोदनार्था, तेन तण्डुलदशायामेवमन्नार्थं पाक-इति द्विःपक्वता ।

एवं मरीचहरिद्रादावपि; अतएवावर्तितदुग्धस्य पुनः कालान्तरेण पाके-
द्विःपक्वता । एवं तद्विकाराणां लड्डुकादिसाधकत्वाभावान्न लड्डुकादे-
र्द्विःपक्वता ।

गौतमः,—वृथान्नाचमनोत्थानव्यपेतानि उत्सृष्टमस्त्रामिकं; उत्थान-
व्यपेतं यत्रार्द्धभुक्ते उत्थानं एवं यत्राचमनं तदूर्द्धमन्नमभोज्यम् ।

आपस्तम्बः,— नापणीयमन्नमश्नीयात्तथाऽन्यरसानामांसमधुलवणानि-
परिहाय ।

शङ्खलिखितौ,—“भीतरुदितक्रन्दितचुतावधूतानानि वजर्जयेत् चुतश्छि-
कितवान् अवधूतः साधुत्यक्तः ।

पराशरः,—

“एकपन्त्युपविष्टानां विप्राणां सहभोजने ।

यदेरकोऽपि त्यजेत्पात्रं शेषमन्नं न भोजयेत्” ॥

क्रतुः,—

“यस्तु भुङ्क्ते द्विजः पन्त्यामुच्छिष्टायां कदाचन ।

अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुद्ध्यति” ॥

ब्राह्मे,—

शूद्रमुक्तावशिष्टं तु नाद्याद्भाग्डस्थितं त्वपि ।

भिन्नभाग्डगतं तद्वन्मुखवातोपशामितम् ।

उच्छ्वासपक्वमस्विष्टमवलीढमसंस्कृतम्” ॥

आपस्तम्बः,—ऋणिकः प्रत्युपविष्टाय चानश्नन् परिवेशयते तावन्तं कालं,
उत्तमर्णां धनग्रहणार्थमनश्नन्नुपविशति तावत्कालं द्वयोदन्नमभोज्यम् ।

भविष्ये,—

“उपक्षेपणधर्मेण शूद्रान्नं यः पचेन्नरः ।

अभोज्यं तद्भवेदन्नं स च शूद्रपुरोहितः” ॥

उपक्षेपणधर्मः शूद्रसम्बन्धे सत्येव ब्राह्मणसञ्जनि पाकः शूद्रस्य कार्यार्थम् ।

ब्राह्मे,—

“का क्रियाऽस्मिन्निदं कस्य दीयते किमनेन वा ।

इत्युक्त्वा दीयते यच्च तन्मदं विस्मयान्वितम् ।

भक्ष्यं तु भक्ष्यवाक्येन दत्तं नादं कथञ्चन” ।

न भुज्येत्यनुवृत्तौ मनुः,—

“उग्रान्नं सूतिकान्नं च पर्याचान्तमनिर्दृशम्” ।

पर्याचान्तं यस्यान्नस्य सन्निधावाचमनं कृतम् ।

यमः,—प्रेतानं प्रेतमुद्दिश्य शुचिनापि दत्तम् । सूतिकासुद्दिश्य पक्कं-
सूतिकान्नम् ।

धौम्यः,—

“ब्रह्मोदने च सोमे च सीमन्तोऽयने तथा ।

जातश्राद्धे नृवश्राद्धे भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्” ॥

ब्रह्मोदनमाधानाङ्गभूतं चातुःप्राश्यम् । अत्र चत्वार ऋत्विजः प्राश्नन्तीति-
विधिः, “सोमेऽग्निसोमीयपर्यन्तं अग्निसोमीयसंस्थायां यजमानस्य गृहे-
भोक्तव्यमिति श्रुतेः,” “क्रीतराजको भोज्यान्न” इत्याथर्वणश्रुतिरापद्विषया ।
क्रीतो राजा सोमो येनेति समासः ।

आपस्तम्बः,—यज्ञार्थं वा निर्दिष्टे भोक्तव्यम् । यज्ञार्थं वा यावद्द्रव्यं-
अपेक्षितं, तावद्द्रव्ये पृथक्कृतेऽवशिष्टदीक्षितान्नं भोज्यमित्यर्थः । एतदप्याप-
द्विषयमेव । कियतां तावत्क्रियादुष्टनामकोच्छिष्टाद्यभक्ष्याणां निरुक्ताना-
मायुर्वेदानुगतवैज्ञानिकविवेचनं प्रदर्शयतेऽधस्तात्संक्षेपतोऽत्र । यथा,—

मानवशरीरस्य सदैव रोगाकरतया तथोच्छिष्टादिभक्षणे,—

च क्षुरोगो ह्यपस्मारः क्षयकासो मसूरिका ।

दर्शनात्-स्पर्शनाङ्गानात्संक्रमन्ति नरान्नर” ॥

मिलाद्यायुर्वेदीयप्रमाणजातस्य चक्षुर्विषयत्वादुच्छिष्टाभक्ष्यभक्षणे रोग-
संक्रमणसम्भावनया च तदभक्षणं यच्छास्त्रकारैः प्रतिपादितं, तन्नासङ्गतमेव ।
तथा विवेकमिममनुसरत्यायुर्वेदीयप्रमाणत्रातमप्यन्यत् ।

यथाह सुश्रुतः ;—

“अचोक्षं दुष्टमुच्छिष्टं पाषाणलृणलोष्ट्रवत् ।

द्विष्टं व्युषितमस्वादु पूति चान्नं विवर्जयेत्” ॥ इति ।

निरुक्तदोषोक्त्याशङ्कया दुष्टमुच्छिष्टमित्यत्र दुष्टमिति विशेषणापादन-
मनुष्ठितं सुश्रुतेनैत्यनुमितम् ।

अन्यच्च,—सत्सक्रुडातुरादिव्यक्तिप्रदत्तान्नादिकवस्तूनामभक्ष्यत्वं प्रतिपादितं-
यद्दर्शनास्पर्शनाङ्गानात्संक्रमन्ति नरान्नर” सत्सक्रुडादीनां तमोऽभिभूतत्वेन तत्प्रदत्तान्नादेः-
सुश्रवस्याभावादजोर्णादिदोषसम्भावनया समोचीनमेव । द्रढयति विवेकमेत-
सुपलक्षणविधया सौश्रुतीयप्रमाणजालम् ।

यथा,—

“द्वैर्षाभयक्रोधपरिचतेन लुब्धेन रुग्दैन्यनिपौडितेन ।

प्रवेष्टयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक् परिणाममेति ॥

माधुर्यमन्नं गतमामसन्नं विदग्धसन्नं गतमन्नभावम् ।

किञ्चिद्विपक्वं भृशतोद्दूषितं विष्टब्धमाव्यङ्गविरुद्धवातम्” ॥

किञ्चिद्विपक्वं इति पदोपादानेन विपक्वस्यापि व्याधिजनकत्वं स्फुटतः-
प्रकाशितम् ।

अपरञ्च,—भूषिकश्चक्षुर्गालादिपशूनां तथा पिपीलिकादिकीटानां तथा-
मक्षिकाप्रभृतिपतङ्गानां चाघ्रातान्नादिवस्तुजातस्य भक्षणीयत्वे वैमत्यमापादितं-
यद्दर्शनास्पर्शनाङ्गानात्संक्रमन्ति नरान्नर” तत्तु नानुपपन्नम् । तत्तत्प्राणिनां दशनादिकतिपया-
वयवानां विषाक्ततया तद्दशनाद्यवयवस्युष्टान्नादिकं विषदूषितमेव । अतस्त-
दुपाघ्रातान्नादिकं नादनीयमेव ।

कचीकरोति विवेचनमेतत्तृतीयप्रमाणव्रातम् ।

“मूषिकाणां विषं प्रायः कुपत्यग्नेषु निर्वृतम् ।

तत्रापेयं विधिः कार्य्यो यश्च दूषी विषापहः ॥

स्थिराणां रुजतां वापि व्रणानां कर्णिकाभिषक् ।

पाटयित्वा यथादोषं व्रणवच्चापि शोधयेत् ।

शृगालश्वतरक्ष्वृक्षव्याघ्रादीनां यदानिलः” । इत्यादि ।

तथा स एव,—

“पिपीलिकाः स्थूलशीर्षा सखाहिका ब्राह्मणिकाङ्गुलिका कपिलिका-
चित्तवर्णेति षट् । ताभिर्दृष्टस्य दंशे श्वयथूरग्निस्पर्शवद्दाहशोफौ भवतः ।”

तथाच मक्षिकाः,—

तत्रैव,—कान्तारिका कृष्णा पिङ्गलिका मधूलिका काषायी स्थालिके-
त्येवं षट् । ताभिर्दृष्टस्य दाहशोफौ भवतः । स्थालिकाकाषायीभ्यामेत-
देव ; पीङ्गकाश्च सोपद्रवा भवन्ति ।

तथाच मशकास्तत्रैव,—

सामुद्रः परिमण्डली हस्तिमशकः कृष्णः पर्वतीय इति पञ्च । तैर्दृष्टस्य-
तीव्रकण्डुदंशशोफश्च । पर्वतीयस्तु कीटैः प्राणहरैस्तुल्यलक्षणः । नखाव-
कष्टोऽतथैव पीङ्गकाः सदृशपाका भवन्ति । इत्यादि—प्रमाणैर्निर्णयितुं पशुकीट-
पतङ्गानां दशनविषस्य दंशनेन स्फुटतः प्रकाशनात् सुतरां तदुपा-
व्रातानादिकं विषाक्तत्वेनैवाती न भक्ष्यमित्यर्थः । विषयेऽस्मिन्निरुक्तप्रमाण-
भिन्नायुर्वेदीयप्रमाणव्राते सतपि सुश्रुताख्यायुर्वेदशास्त्रे ग्रन्थकलेवरवृद्धि-
सम्भावनया नोक्तोलितं तद्वातम् । क्रियादुष्टाभ्याणां वैज्ञानिकसमालोचनायाः
सतनुष्ठेयत्वे ग्रन्थकायवृद्धिसम्भावान्तदविवेचनं परिहृतमेव । एतद्भिन्न-
द्रव्याणामेव ऊहनीयं विवेचनं प्रेक्षावद्भिः ।

नन्वेकजातीयपङ्क्तुपविष्टानां विप्रादिवैश्यान्तमानवानामभ्यन्तरे पूर्वतो-
ऽपचाय भोजनपात्रं समुत्थितं सतेप्रकस्मिन् जने तत्रोपविष्टैर्जनैरन्तेः स्वस-
भोजनभाजनस्थानादिकं न खादितव्यमिति यदुक्तं धर्मशास्त्रकारैस्तत्त्वदृष्ट-

फलकत्वान्न समीचीनमिति चेन्न । भोजनावसरे प्रथमतः परिसमाप्य-
भोजनं समुत्थिते तत्तन्मानवे तत्रोपविष्टतत्तन्मानवानां मनसि संजातल-
ज्जेर्षादिदोषजाततया तदनन्तरभुक्तान्नादेः पाकासम्भवात्तदनुष्ठाननिषेधस्य-
समुचितत्वात् ।

इति क्रियादुष्टाभक्ष्यवैज्ञानिकसमालोचनम् ।

अथ कालदुष्टानि ।

भविष्ये,—

“कालदुष्टं तु विज्ञेयं ह्यस्तनं चिरसंस्थितम् ।

दधिभक्ष्यविकारांश्च मधुवर्जं तदिष्यते” ॥

ह्यस्तनमेकरात्रान्तरितं अन्नादिकं तथा चिरसंस्थितं अनेकदिनान्तरितं-
तथा भक्ष्यविकारा विज्ञतभक्ष्याणीतरर्थः ; कालदुष्टानीतरर्थः ; एवं पर्युषित-
दोषरहितमपि दध्नादिकं विज्ञतरसगन्धं सन्न भक्ष्यमितरर्थः । मधु-
पुनर्न वर्जनीयमितरर्थः ।

शङ्कः ;—“पर्युषितं भुक्त्वा त्रिरात्रं व्रती भवेत् ॥”

तथा च याज्ञवल्करः ;—

“अन्नं पर्युषितं भोजनं स्नेहाक्तं चिरसंस्थितम् ।

अस्नेहा अपि गोधूमयवगोरसविक्रियाः” ॥

यसः,—

“अपूपश्च करम्भश्च धाना वटकसक्थवः ।

शाकं मांसं च पूपं च सूपं कृशरमेव च ॥

यवागुं पायसं चैव यच्चान्यत् स्नेहसंयुतम् ।

सर्वं पर्युषितं भोज्यं शुक्तं च परिवर्जयेत्” ॥

अपूपगोधूमपिष्टकविशेषाः करम्भो दधिमिश्रसक्थुः धाना मृष्टयवा-

व्रीहयो वा ; वटकं खनान्ना प्रसिद्धं ; सक्थवो भृष्टयवचूर्णानि धान्य-
चूर्णानि च, उभयत्र प्रसिद्धेः ; पूपाः पुलिका इति प्रसिद्धाः, कशरस्तिल-
मुद्गाभ्यां सह सिद्ध ओदनः, पायसं परमान्नं मन्यस्य सक्थुविकारात् सक्थु-
ग्रहणेन ग्रहणम् ।

चरके,—

“सक्थवो घृतसंमिश्राः शीतवारिपरिप्लुताः ।

नातिसान्द्रा न चाल्यच्छा मन्यमित्यभिधीयते” ॥

एतान्येव पर्युषितत्वेन रसान्तरमापद्यन्ते यदि तदा न भक्ष्याणीतुक्तं,
शुक्तं परिवर्जयेदिति दिनान्तरे प्रायेणान्यरसापत्तेः शुक्तग्रहणं रसान्तरमात्र-
त्वेऽप्यभक्ष्यत्वात् ।

शङ्खलिखितौ,—

“न पर्युषितमन्यत्र रागांशुक-आङ्गवदधिगुग्गुधूमयवपिष्टकविकारैभ्यः-
रागांशुका-मुद्गदाङ्गिमांसाढ्या अंशुकगालिताः प्रलेह्या-एव ।”

आङ्गवाः स्वाद्वल्लकटुप्रायवस्वाढ्याः प्रलेह्या-एव ।

आपस्तम्बः,—पर्युषितं वर्ज्यमुक्त्वा, फाणितपृथक्त्तण्डुलशाकोषधि-
वनस्पतिफलमूलवर्जं, फाणितं पाकजन्य द्रक्षुरसविकारः, पृथक्त्तण्डुला भृष्ट-
निष्पादिताश्चिपिटकाः चूडा इति प्रसिद्धाः ।

पर्युषितापवादे मनुः,—“हविः शेषं च सर्व्वतः”, एतच्च रात्रन्तरित-
हविःशेषादि ।

गौतमः,—पर्युषितं अभक्ष्यमांसमधुशाकादिवर्जं, पर्युषितमभक्ष्यमित्यर्थः ।

न भक्षयेदित्यनुवृत्तौ हारीतः,—

न पर्युषितमन्यत्र गुडपिष्टकगौरसर्षपनारिकेलज्जेहादिग्रहणम् ।

न भक्षयेदित्यनुवृत्तौ सुमन्तुः,—

“पर्युषितं पुनःसिद्धं भुक्त्वा तु त्विदमाचरेत्, यत्पक्वं पुनः पच्यते; यत्पुनः-
कदलीफलादि दिनान्तरे पुनः पच्यते ; तस्य द्वितीय एवदिने पाकनिर्वाहान्न-
हिःपक्वता ।

एवं यदामिच्छापिष्टकादिकं दिनान्तरे गुडादिना संस्क्रियते मांसादि-
वा प्रथमदिने ऽसिद्धावस्थपाकं दिनान्तरे पच्यते तस्य द्वितीय एव दिने पाकस्य-
संपूर्णत्वान्न द्विःपक्वता ; एतच्च यदुभक्ष्यत्वेनाभ्यनुज्ञातं पर्युषितं ; तदपि द्विः-
पक्वमभक्ष्यमितुक्तम् ।

चातुर्मास्ये निषिद्धानि शिष्टाः पठन्ति ;—

“कलिङ्गानि पटोलानि वृन्ताकं सन्धितानि च ।

निष्पावान् राजमाषांश्च सुप्ते देवे तु भक्षयन् ॥

सप्तजन्मार्जितं पुण्यं दह्यते नात्रसंशयः” ।

कलिङ्गानि चमूनाफलानि । पश्चिमे कलिङ्गपदेन प्रसिद्धे ; अस्याभक्ष्यत्वे-
ऽपि चातुर्मास्ये दोषभूयस्त्वम् ।

चातुर्मास्ये—

“पटोलं मूलकं चैव वार्त्ताकुं च न भक्षयेत् ।

यानि कानि च पापानि ब्रह्महत्यादिकानि च” ॥

पुनः स्नान्देः—

“अन्नमाश्रित्य तिष्ठन्ति संप्राप्ते हरिवासरे ।

नभःकृष्णाष्टमौ प्राप्य भुञ्जते ये द्विजाधमाः ॥

तथा

त्रैलोक्ये सम्भवं पापं भुञ्जन्त्येव न संशयः ।

अष्टम्यां च चतुर्दश्यां दिवा भुक्त्वा नन्दवं चरेत् ॥

एकादश्यां दिवा रात्रौ नक्तं चैवान्यपर्वसु” ।

अन्यपर्वाणि संक्रान्तिपौर्णमास्यमावास्याः । तत्र संक्रमे संक्रमोप-
लक्षिताहोरात्रे रात्रिभोजननिषेध इति संप्रदायविदः ; एवं तैलाभ्यङ्ग-
मांसवर्जनकामोपवासादेरपि संक्रान्त्युपलक्षिताहोरात्रं कालः ; अन्यत्र तु-
तिथ्यवच्छिन्नरात्रिदिवसग्रहणं ; एवं पर्वसु मांसमपि कालदुष्टम् ।

वामनपुराणे,—“जयासु मांसं” ; तृतीयाष्टमीतयोदश्यो जया । तथा ; कुजे मांसं भौमवासरे च ; तथा “मूले ऋगे भद्रपदे च मांसं” ; एवमादिषु मांसभोजने स्नातकव्रतलोपादुपवासः । एवं ग्रहणात् पूर्व-तत्काले ग्रस्तास्तमने च सूर्यचन्द्रदर्शनपर्यन्तं नाश्नीयात् ; एवममावास्यायां परान्नं नाश्नीयात्” ; इत्यादि सर्वं कालदुष्टम् । अन्यबाहुल्यभिया नोत्तो-लितम् तत्प्रमाणमतम् ।

विष्णुः,—“न रात्रौ तिलसखन्धः न दधिसक्थुकोविदारवटपिप्पलशाकम् ।
देवलः,—

“द्विवा दधित्यधानासु रात्रौ च दधिसक्थुषु ।
श्लेष्मातके तथाऽलक्ष्मीर्नित्यमेव कृतालया” ॥

ब्राह्मेः,—

“अपि प्रयाणसमये रात्रौ च दधिसक्थुषु ।
मधुपर्कप्रदानं तु वर्जयित्वा तु कामतः” ॥

आपस्तम्बः,—“दास्या वा नक्तमाहृतं ; अभोज्यमित्यर्थः ।

अत्र न च रात्रौ प्रेष्याहृतमिति गौतमवचनमपि दासीपरम् । तथा-
रात्रौ रथ्याहृतमपि न भोज्यम् । अनुक्तप्रायश्चित्तेषु प्राणायामशतम् ।
गायत्र्यष्टसहस्रम्वा” । इति कालदुष्टान्यभक्ष्याणि ।

प्रोक्षाण्यतेऽत्र विवेको वैज्ञानिकः कालदुष्टाभक्ष्याणां दिज्ञानम् ।

यथा,—कालदुष्टाभक्ष्यत्वेन धर्मशास्त्राभिमतवस्तूनामधःस्थायूर्वेदीय-
प्रमाणनिवहनिर्दिष्टापथद्रव्यजातसमकक्षतयावश्यमेव सन्धवेद्रोगोत्पत्तिरित्या-
शङ्कया धर्मशास्त्रकारैर्निषिद्धकालदुष्टाभक्ष्यद्रव्यजातमित्यनुमितमस्माभिः ।
द्रढयति विवेचनमेतदधःस्थायूर्वेदीयप्रमाणजालम् ।

यथा भावप्रकाशेः,—

“न रात्रौ दधि भुञ्जीत न च निर्लवणं दधि ।
नामुद्गसूपं नाक्षौद्रं न चाप्यघृतशर्करम्” ॥ इति ।

तथा,—

शुष्कमांसं स्त्रियो वृद्धवालार्कस्तरुणं दधि ।
प्रभाते मैथुनं निद्रा सद्यः प्राणहराणि षट् ।
तरुणं नूतनं वालो विवस्वान् दधि नूतनं च” ॥

तथा च सुयुतः,—

“अप्राप्तकाले भुञ्जानः शरीरे ह्यलघौ नरः ।
तांस्तान् व्याधौ नवाप्नोति शरणं वा नियच्छति ॥
अतौतकाले भुञ्जानो वायुनोपहतेऽनले ।
क्लृप्ताद्विपच्यते भुक्तं द्वितीयं च न काङ्क्षति ॥
द्विष्टं व्युषितमस्वादु पूति चान्नं विवर्जयेत् ।
हेमन्ते निचितः श्लेष्मा शैत्याच्छीतं शरीरिणाम् ॥
औष्णप्राद्वसन्ते कुपितः कुरुते च गदान् वह्मन् ।
ततोऽभ्रमधुरस्निग्धलवणानि गुरुणि च ॥
वर्जयेद्दमनादौनि कर्माण्यपि च कारयेत् ।
वर्जयेन्मधुरस्निग्धदिवास्वप्नगुरुद्रव्यान्” ॥

वसन्त इत्यूह्यम्,—

“व्यायाममुष्णमायासं मैथुनं चातिशोषि च ।
रसांश्चाग्निगुणोद्भूतान् निदाघे परिवर्जयेत्” ॥ इत्यादि ।

साकं निरुक्तकालदुष्टाभक्ष्यद्रव्यैरायुर्वेदीयप्रमाणोक्ताहितवस्तूनां संपूर्णतः-
सतपि समत्वाभावे बहुलांशेन दृष्टतुल्यतया न कापि विप्रतिपत्तिरिति-
बोध्यम् ।

अन्यच्च—चतुर्थेष्टम्येकादश्यादितिथिषु सूर्याचन्द्रमसोर्गतिवैलक्षण्याद्रस-
वृहेर्दृष्टिविषयतया तत्र तत्र लङ्घनस्यायुर्वेदसम्मतत्वादयदन्नादिभक्षणं निषिद्धं-

महर्षिभिः पूज्यपादैस्तु नासमीचीनमेव । अतो धर्मशास्त्रोक्तसकल-
विषयजातं प्रायशो, विज्ञानानुगतमेवेतद्वगन्तव्यम् ।

अपरञ्च—भक्षितधर्मशास्त्रनिषिद्धकालदुष्टाभक्ष्यद्रव्याणां निरुक्तप्रमाण-
जालादवगतरोगात्मकफलजनकतया कदापि न भक्ष्याणि तानीति प्रेक्षावतां-
राजान्तः ।

समूहनीयमन्त्रेषां वैज्ञानिकविवेचनं बुद्धिमद्भिरिति कालदुष्टाभक्ष्य-
वैज्ञानिकविवेकः ।

अथाश्रयदुष्टानि ; यथा—

तानि यद्यपि भविष्ये विशिष्य नोक्तानि, तथापि जातिक्रियारसामर्थ्य-
संसर्गभावस्वभावदोषरहितानि द्रव्यस्वामिदोषेण दुष्टानि तानि गृह्यन्ते ।

आपस्तम्बः—त्रयाणां वर्णानां क्षत्रियप्रभृतीनां समावृत्तेन भोक्तव्यम् ।
प्रकृतया ब्राह्मणस्य भोक्तव्यं ; कारणादभोज्यम् । यत्राप्रायश्चित्तं कर्म-
सेवते ; प्रकृतया भोज्यमित्यस्य व्याख्या यत्राप्रायश्चित्तं कर्म प्रायश्चित्तव्यतिरिक्तं-
नित्यनैमित्तिकं कर्म सेवते ।

ब्राह्मणेः—“राज्ञां पर्वणि वैश्यानामश्रौयान्मङ्गले गवामि”ति राजान-
भोजनानुज्ञा पर्वविषया वैश्यस्य गोमङ्गलविषया ।

पुनर्ब्राह्मणेः—“गोभूमिर्निजाभार्थं समुद्रस्य गृहे सदेति”-प्रीतिदायेन-
गवादिलाभकामनया शूद्रस्यान्नं ग्राह्यम् ।

अन्नमन्नामानम् ।

मनुः,—

“नाद्याच्छूद्रस्य पक्वान्नं विद्वानश्राद्धिनो द्विजः ।

आददीताममेवास्मादवृत्तावेकरात्रकम्” ॥

अश्राद्धिनो नित्यश्राद्धमकुर्वतः अश्राद्धिन इत्युद्देश्यविशेषणत्वादविव-
क्षितम् । श्राद्धिनोऽपि पक्वान्नमनापद्यश्राद्धमेव । अवृत्तावापदि ।

यमहारीतजमदग्निपैठीनसयः,—

“ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्यान् शौद्रमेव च ।

तां तां योनिमवाप्नोति भुक्तान् यस्य वै मृतः” ॥

शूद्रान् भुक्त्वा मरणे हारीतः,—

“स वै स्वरत्वमुष्ट्रत्वमवश्यत्वं चाधिगच्छति ” ।

वशिष्ठः,—

“शूद्रान्परिपुष्टाङ्गो ह्यधीयानोऽपि नित्यशः ।

जुह्वन् वापि जपन् वापि गतिं पूर्वां न गच्छति ॥

शूद्रान्नेन तु भुक्तेन मैथुनं योऽधिगच्छति ।

यस्यान् तस्य ते पुत्रा न च स्वर्गार्हको भवेत्” ॥

अङ्गिराः,—

“षण्मासान् यो द्विजो भुङ्क्ते शूद्रस्यान् विगर्हितम् ।

स च जीवन् भवेच्छूद्रो मृतः श्वा चाभिजायते” ॥

तस्मात् प्रशस्तशूद्रस्याप्यामान्नभोजनं मरणसन्निधाने वर्ज्यम् । एवं-
पक्षासपर्यन्तं भोजनमपि ।

हारीतः,—

“कन्दुपक्वं स्नेहपक्वं पायसं दधिसक्थवः ।

एतान्यशूद्रान्भुजो भोज्यानि मनुरब्रवीत्” ॥

कन्दुपदेनाग्निस्थानवाचिनाऽग्निर्लक्ष्यते । तेन बाह्यजलनिरपेक्षाग्नि-
मात्रेण पक्वं लाजादि कन्दुपक्कमुच्यते ; एवं बाह्यजलनैरपेक्षेण केवलघृतादि-
पक्वं स्नेहपक्कमुच्यते । पायसं पयोविकारो न परमान्नम् ।

तथाचाङ्गिराः,—

“गोरसञ्चैव सक्थंश्च तैलं पिण्याकमेव च ।

अपूपान् भक्षयेच्छूद्राद्यच्चान्यत् पयसा कृतम्” ।

अपूपा गोधूमविकाराः ; एवं शास्त्रसत्वेऽपि गोधूमविकारस्य जल-
निरपेक्षगोरसमात्रपक्वस्य कन्दुपक्वच्छूद्रगृहादुग्राह्यत्वोक्तावपि समाचार-
विरोधादुवर्जनं ; तद्गच्छणे विगानञ्च, एवं लवणवाह्यजलनिरपेक्षस्नेहपक्वमूल-
कन्दादेरपि भक्षणे अस्मद्देशे विगानं स्नेहपक्वफलमूलकन्दादौ वाह्यजला-
भावेऽपि पाककाले तत्तन्निःसृतजलस्य सत्वात्, अन्येषां गोरसादीनां भक्षणं
निर्विगानमेव ।

एवं च—

“गोरसे कन्दुशालायां तैलयन्त्रेषु यन्त्रेयाः ।

अमीमांसानि शौचानि स्त्रीषु राजकुलेषु च” ॥

इति शातातपवचनेऽशौचापवादेऽपि यथाचारं गृह्यते । मरीचादीनां-
स्त्रिन्नानां अपि शूद्रस्पर्शेऽपि परिग्रहस्य समाचारैकमूलपाकदोषरहितत्वे-
ऽप्यन्नत्वान् मरणकाले वर्जनम् । तस्मात् स्त्रिन्नतण्डुलादीनां मरणकाले-
वर्जनम् ।

यथाः,—

“यतस्ततोऽप्यापः शुद्धिं यान्ति नदीं गताः ।

शूद्राद्विप्रगृहेऽपान्नं प्रविष्टञ्च तथा शुचि” ॥

इतश्चिरोवचनं शूद्रात्प्रतिग्रहलब्धविषयम् ।

तथाच पराशरः,—

“तावद्भवति शूद्रान्नं यावन्न स्पृशति द्विजः ।

द्विजाति-कारसंलग्नं सर्वं तन्न बिरुध्यते” ॥

यमः — यथा,—

“यथा जलं निर्गमनेऽप्यपेयं नदीं गतं तत्पुनरेव पेयम् ।

तथान्नपानं विधिपूर्वमागतं द्विजातिहस्तान्तरितं विशुद्धम्” ॥

एतेन ब्राह्मणं भोजयामीति बुद्ध्या यदि शूद्र-आमान्नं ददाति, तद्-

यदि पक्ता ब्राह्मणो भुंक्ते तदा शूद्रान्नभोजनं, तदेव मरणकाले वर्ज्यं,
शामद्रव्यविधिना चेद्देदाति तद्यदि पक्ता भुंक्ते तदा प्रतिग्रहदोष एव न तु-
शूद्रान्नभोजित्वदोषः ।

प्रतिग्रहलब्धं भुक्त्वा मरणेऽपि न शूद्रजन्मलाभ इति लक्ष्मीधरस्वरसः ।

“यो गृहीत्वा विवाहाग्निं गृहस्थ इति मन्यते ।

अन्नं तस्य न भोक्तव्यं वृथापाको हि स स्मृतः” ॥

तदन्नाशने तु,—“प्राणायामं त्रिरभ्यस्य घृतं प्राश्य विशुध्यतीति” च ।
तथा सूतकाद्यशौचन्नादि नाश्नीयात् ।

अङ्गिराः—

“अन्यप्रावसायिनामन्नमश्नीयाद्यदि मानवः ।

यतिचान्द्रायणं कुर्याच्चान्द्रायणमथापि वा ॥

चण्डालस्तक्षवः क्षत्ता सूतवैदेहिकौ तथा ।

मागधीयोगवौ चैव सर्वेऽपान्थावसायिनः” ॥

विष्णुः,—

“चण्डालान्नं भुक्त्वा तिरात्रं सिंहं भुक्त्वा परान्नम्” ।

वशिष्ठे पुनरुपनयनमधिकम् ।

पैठीनसिः—परिवित्ति-परिविदानविद्वज्जनानां रुधिरमन्नं अभोज्य-
मित्यर्थः ।

बौधायनः—

“अवलिप्तस्य मूर्खस्य दुर्वृत्तस्य च दुर्मतेः ।

अन्नमश्वद्धानस्य यो भुंक्ते ब्रह्महा तु सः” ॥

शङ्खलिखितौ,—

“परपाकनिवृत्तस्य परपाकरतस्य च ।

अपरस्य च भुक्त्वाऽन्नं द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥

गृही चाग्निं समारोप्य पञ्चयज्ञान्न कारयेत् ।
 परपाकनिवृत्तोऽसौ मुनिभिः परिकीर्तितः ॥
 पञ्चयज्ञान् स्वयं कृत्वा परान्नमुपजीवति ।
 सततं प्रातरुत्थाय परपाकरतस्तु सः ॥
 गृहस्थधर्मवृत्तोऽसौ ददाति परिवर्जितः ।
 ऋषिभिर्द्धर्मतत्त्वज्ञैरपरः परिकीर्तितः” ॥

याज्ञवल्करः,—

“परपाकरुचिर्न स्यादनिन्द्या मन्त्रणादृते ।

तत्रापवादः,—

“गुर्वन्नं मातुलान्नञ्च श्वशुरान्नं तथैव च ।

पितुः पुत्रस्य चैकान्नं न परान्नमिति स्मृतम् ॥

यत्तु बोधायनः,—

“श्वशुरा 'तु यो भुंक्ते स भुंक्ते पृथिवीमलम्” ।

तद्गर्हितश्वशुरधनोपजीवनपरम् । “श्वशुरान्नस्य वृत्तिः स्यादविशस्तैर्न्य-
 करोति य” इति महाभारतवचनात् । एतेनासक्तिर्न कार्या ।

याज्ञवल्करः,—

“यतिश्च ब्रह्मचारी च पक्वान् स्वामिनावुभौ ।

तयोरन्नं न भोक्तव्यं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्” ॥

भरद्वाजः,—

“पक्षे वा यदि वा मासे यस्य नाश्रन्ति देवताः ।

भुक्त्वा दुरात्मनस्तस्य द्विजश्चान्द्रायणं चरेत्” ॥

आदित्यपुराणे ;—

“विष्णुं जामातरं मन्ये तस्य मन्युं न कारयेत् ।

अप्रजायां दुहितरि नाश्नीयात्तस्य वै गृहे ॥

ब्रह्मदेये विशेषेण दैवतोढे सदैव हि ।

गान्धर्वे राज्ञसे चैव कुर्याच्चैव समागमम्” ॥

अत्र दैवब्रह्मविधिना दत्तायाः सुतायाः श्वशुरसम्बन्धेन भर्तृसम्बन्धेन-
वा यदुगृहं तत्र तत्स्वामिकस्यान्नस्य भोजने महान् दोषः ; आर्षादिविवाहे-
ऽपीयान् दोषः ; गान्धर्वराक्षसयोर्न दोषः ; दुहितरि सृतायां तदुगृहे भोजने-
न दोषः ; प्रजापदस्यापत्यमात्रवाचकत्वेऽपि यजमानप्रजासंख्यत्रयम्बकहविः-
करभपात्रादौ पुत्रापत्यग्रहणादिहापि तदग्रहणं ; दुहितरि सत्यां जामातृ-
नाशेऽपि पितुर्गृहे न भोजनं, तदुगृहे परकीयान्नभोजने न दोषः ।

आपस्तम्बः,—

“बलाद्दासीकृता ये च स्नेच्छचण्डालदस्युभिः ।

अशुभं कारिताः कर्म गवादिप्राणिहिंसनम् ॥

उच्छिष्टमार्जनञ्चैव तथोच्छिष्टस्य भोजनम् ।

खरोष्ट्रविड्वराहाणां आमिषस्य च भोजनम् ॥

तत्-स्त्रीणाञ्च तथा सङ्गस्ताभिश्च सह भोजनम् ।

मासोषिते द्विजातौ तु प्राजापत्यं विशोधनम् ॥

चान्द्रायणं त्वाहिताग्नेः पराकस्त्वथवा भवेत् ।

चान्द्रायणं पराकञ्च चरेत्सम्बत्सरोषितः ॥

सम्बत्सरोषिते शूद्रे मासाह्वं यावकं पिवेत् ।

मासमात्रोषितः शूद्रः कृच्छ्रपादेन शुध्यति ॥

ऊर्ध्वं सम्बत्सरात्कल्पं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमैः ।

सम्बत्सरेस्त्रिभिश्चैव तद्भावं सोऽधिगच्छति” ॥

अनुक्तप्रायश्चित्तनिराचारनिषिद्धाचारिणोऽन्नभोजने,
षट्त्रिंशन्मते,—

निराचारस्य विप्रस्य निषिद्धाचरणस्य च ।

अन्नं भुक्त्वा द्विजः कुर्याद्विनयेकमभोजनम्” ॥

इत्याश्रयभूताख्यप्रतिग्रहीतदोषदुष्टानि ।

वैज्ञानिकविवेचनमत्राश्रयभूताख्यप्रतिग्रहीतदोषदुष्टानाम्—

यद्यत्स्वभावकानां यद्यज्जातीयानां यद्यदन्नादिकं ; तत्तदन्नादिभुजं-
तत्तत्स्वभावं तत्तज्जातीयतां च जनयति, तत्तदन्नाकमिति वैज्ञानिकदृष्ट्या-
धर्मशास्त्रकारैः शूद्रादीनामामानादेस्तथाविगर्हिताचारिणश्च शूरादेरन्नादिकस्य-
च द्विजातित्रयकर्तृकाशनं यन्निषिद्धं ; तत्तु सुसमीचीनमेव । निरुक्तान्ना-
देरशुच्यन्नान्तर्गततया दोषाधायकत्वमित्यायुर्वेदे प्रदर्शितं दिङ्मात्रम् ।

अन्यच्चः—निरुक्ताश्रयदुष्टाभक्ष्यद्रव्याणामन्तरे केषामात्मनिर्भरतावलम्ब-
नार्थं तथा केषां स्वस्त्रधनीनतापरिहारार्थं चाभक्ष्यत्वमापादितं पूर्वाचार्यैरित्य-
नुमेयं, ग्रन्थबाहुल्यमिमांसा स्थूलतः प्रदर्शितमिदं साधारण्येन, किन्तु समुच्चो-
वैज्ञानिकविवेकः पण्डितवर्यैः प्रत्येकस्य । इत्याश्रयदुष्टाभक्ष्यवैज्ञानिकविवेकः ।

● अथ संसर्गदुष्टानि ।

भविष्ये,—

“सुरालशुनसंसृष्टं पेयूषादिसमन्वितम् ।

संसर्गदुष्टमेतद्वि शूद्रोऽष्टिष्टवदाचरेत्” ॥

मद्यभाण्डस्थितश्वोपहतजलादि च संसर्गदुष्टं ।

पराशरः,—

“भाण्डस्थितमभोजनानामपः पीत्वा पयो दधि ।

ब्रह्मकूर्चोपवासश्च योज्यं कर्मास्य निष्कृतिः ।

शूद्रस्य नोपवासस्तु दिनेनैकेन शुध्यति” ॥

सृत्यन्तरे,—

“नारिकेलोदकं कांस्ये मधु ताम्रे च संस्थितम् ।

गोरसं ताम्रपात्रस्थं मद्यतुल्यं घृतं विना ॥

सम्बर्त्तः,—

“शूद्राणां भाजने मुक्ता मुक्ता वा भिन्नभाजने ।

अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुध्यति” ॥

विष्णुः,—

“मृद्वारिकुसुमादींश्च फलकन्देषुमूलकान् ।

विण्मूत्रदूषितान् मुक्ता कृच्छ्रपादं समाचरेत् ॥

सन्निकृष्टेऽर्द्धमेव स्यात् कृच्छ्रं स्यात्कुड्विशोधनम्” ।

अत्र सर्वत्र अमेध्यावयवस्य साक्षात् प्रत्यभिज्ञाने तदमेध्यभक्षणे प्रायश्चित्तं ।

अवयवप्रवेशशङ्कायामुक्तानि प्रायश्चित्तानि । इति संसर्गदुष्टान्नाभक्ष्याणि ।

अस्यच किमिदं वैज्ञानिकं विवेचनमित्याशङ्कायामुच्यते ; — निरुक्त-
संसर्गदुष्टाभक्ष्यद्रव्याणामभ्यन्तरे केषामपि परस्परसंसर्गेण निम्नस्थायुर्वेदीय-
प्रमाणानामुपलक्षणविधया दोषजनकताज्ञापकत्वादयदभक्ष्यत्वं निर्णीतमेषां ;—
तत्तु सुसङ्गतमेव ।

प्रमाणं यथायुर्वेदे—

“कांस्यस्य च हविर्दशाहमुषितं मृदुव्याधिगुल्मप्रद”मित्यादि ।

तथाच, सुच्यते—अतः कर्मविरुद्धान् वक्ष्यामः ;—

“कांस्यभाजने दशरात्रपर्युषितं सर्पिर्नाश्रीयादिति” ।

तथा—

स्वास्थ्यविधानाय किमात्मकेन पात्रेण द्रव्यं किमात्मकं देयं तदाह-
सुच्यते, —

“वक्ष्याम्यतः परं कृत्स्नमाहारस्यापि कल्पनाम् ।

घृतं कार्णायसे देयं पेया देया तु राजते ॥

फलानि सर्वभक्ष्यांश्च प्रदद्याद् वैदलेषु च ।
 परिशुष्कप्रदग्धानि सौवर्णेषु प्रकल्पयेत् ॥
 प्रद्ववाणि रसांश्चैव राजतेष्वपहारयेत् ।
 खट्वराणि खड्गंश्चैव सर्वं शैलेषु दापयेत् ॥
 दद्यात्ताम्रमये पात्रे सुशीतं सुशृतं पयः” । इति ।

दृतादिद्रव्यपरिवेशेन प्रोक्तपाचान्यथाचरणेन रोगोत्पत्तिश्चम्भावनया सुतरा-
 मुत्तिखितसंसर्गदुष्टाभक्ष्यवस्तूनामशनं दोषाधायकमिति निर्गलितार्थः ।

अन्यच्च,—प्रदर्शितं वैज्ञानिकविवरणं दिङ्भातं ; अतो विवेचितान्य-
 संसर्गदुष्टाभक्ष्यद्रव्याणां समूहं पण्डितप्रवरैर्विज्ञानमूलकत्वमिति संसर्गदुष्टा-
 भक्ष्यविवेको विज्ञानमूलकः ।

अथ रसदुष्टानि ।

भविष्ये,—

“रसदुष्टं विकाराद्भि रसस्येति प्रकौर्तितम् ।

पायसक्षीरपूपादि तस्मिन्नेव दिने यथा” ॥

दिनान्तरितस्य कालस्य दुष्टत्वात्तस्मिन् दिने यदि द्रव्यान्तरायोगिनाम्भ-
 भवति । तदा रसदुष्ट-मुच्यते । आदिपदेन गुडयुक्तदुग्धदध्यादिकं पर्युषित-
 प्रपानकादिकं च रसदुष्टं । इदं सर्वं दिनान्तरितमेव दुष्टमिति समाचारः,
 एवं शुक्तादिकं रसदुष्टं ।

इति रसदुष्टान्यभक्ष्याणि ।

किं तावदस्ति रसदुष्टाभक्ष्यद्रव्येषु विज्ञानवीजमित्याकाङ्क्षायां विव्रियते-
 ऽत्र तदेव संक्षेपतः ।

रसदुष्टाभक्ष्याणामायुर्वेदीयप्रमाणैः प्रदर्शितदोषजनकत्वेन तदभक्ष्य-
 भक्षणनिरसने विशेषतो-विज्ञानानुसन्धानस्य निष्प्रयोजनकतया विहितो-
 विरामोऽत्र ।

प्रमाणयति विवेचनमेतदायुर्वेदीयप्रमाणजातं । यथा,—

“व्याधिमिन्द्रियदौर्बल्यं मरणं चाधिगच्छति ।
 विरुद्धरसवीर्याणि भुञ्जानो नात्मवान् नरः ॥
 रसो विरुद्धौ स्वाद्वन्तौ कटुन्तौ रसपाकतः ।
 अम्लतित्तौ कषायात्मनौ रसवीर्यविपाकतः ॥
 रक्षेदन्नं विषान्नित्यं तत्परीक्षोच्यते यथा ।
 म्रियन्ते मक्षिकाः स्पर्शादन्नं पर्युषितोपमम्” ॥

इत्यादिवद्भूति विद्यन्ते प्रमाणानि, किन्तु ग्रन्थवाहुल्यभीत्या परित्यक्तानि-
 तान्येव ।

अतो निरुक्ताभक्ष्यद्रव्याणामायुर्वेदनिषिद्धतया कदापि न भक्ष्याणीतर्यः ।
 अन्वदूह्य । इति रसदुष्टाभक्ष्यद्रव्यविज्ञानविवेकः ।

अथ सुहृत्तेख्यापरनामकानि भावदुष्टानि ।

भविष्ये,—

“विचिकिरसा तु हृदये यस्मिन्नन्ने प्रजायते” ।

“सुहृत्तेख्यं तु विज्ञेयमिति” । विचिकित्सा संशयः । सा च त्रिविधा,—
 अभक्ष्यद्रव्यादृश्येन यत्राभक्ष्यभ्रान्तिर्भवति, आह्वार्यारोपो वा तत्र संशय-
 हेतुसादृश्यसत्वात्संशयो भवति ; अनाश्वसंशितं गृह्यते, यथा ;—भेकादि-
 सदृशफलमूलादि ; यथा पुरीषादिसदृशम् ।

द्वितीयप्रकारस्तु :—अभक्ष्यसंसर्गसंशयः ; काकाव्युपघातसंशयो वा अन्न-
 स्वासिदीपसंशयो वा ।

तृतीयप्रकारस्तु :—भक्षितेऽपि द्रव्ये भक्ष्यं वा भुक्तमभक्ष्यं वा भुक्तं इति-
 संशयः ।

पराशरः,—

“वाग्दुष्टं भावदुष्टञ्च भोजने भावदुषिते ।

भुक्ता तु ब्राह्मणः पश्चात्तिरात्रेणैव शुध्यति” ॥

वाग्दुष्टमिति वचसापि संशयजनकत्वात् सुहृत्स्नेह्यत्वेन संगृहीतं,—शुद्धमपि-
यद्द्रव्यं यदि कश्चिद्वदतीदमभक्ष्यमिति ; तदा वाग्दुष्टमुच्यते ; वाग्दुष्टपदेन-
सादृश्यातिरिक्तभक्ष्यसंशयहेतुमात्रं गृह्यते ।

वशिष्टः,—

“शङ्कास्थानि समुत्पन्ने अभोज्यं भक्ष्यशङ्किते ।
आहारशुद्धिं वक्ष्यामि तां मे निगदतः शृणु ॥
अक्षारलवणामृदां पिवेद्वाह्नीं सुवर्चलाम् ।
त्रिरात्रं शङ्खपुष्पीं वा ब्राह्मणः पयसा सह ॥
पलाशपद्मपत्राणि कुशान् पत्रमुदुम्बरम् ।
क्वाथयित्वा पिवेदम्बस्त्रिरात्रेणैव शुध्यति ॥
सहस्रपरमां देवीं शतमध्यां दशावराम् ।
गायत्रीं वा जपेन्नित्यं महापातकनाशिनीम् ॥
सम्बत्सरस्यैकमपि चरेत्-कृच्छ्रं समाहितः ।
अज्ञातभुक्तशुद्धार्थं ज्ञातस्य तु विशेषतः” ॥

इति भावदुष्टान्यभक्ष्याणि ।

विवेचनमत्र विशद्यते विज्ञानिकं साधारण्येन । निरुक्तभक्ष्यद्रव्यजातस्य-
मानसिकसन्देहादिव्यापारोपन्यस्तथा मनसि सतप्रपि विकारापन्ने यदन्नादि-
भक्षणं ; तदपि न पचति साध्विति वदति सुसृष्टतः सुश्रुताद्याशुर्वेदीयप्रमाण-
ज्ञातम् । अतः सुसङ्गतोऽयं भावदुष्टाभक्ष्यभक्षणनिषेधः ।

यथाह सुश्रुतोऽत्र,—

“शब्दरूपरसान् गन्धान् स्पर्शांश्च मनसः प्रियान् ।
उक्तवानुपसेवेत तेनान्नं साधु तिष्ठति ॥
शब्दरूपरसस्पर्शगन्धाश्चापि जुगुप्सिताः ।
अशुच्यन्नं तथा भुक्तमतिहास्यञ्च वामयेत्” ॥ इति ।

प्रमाणजातमेतत्कक्षीकरोति गीतवाक्यमपि, यथा,—

“यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।

तं तमेवेति कौन्तेय ! तदा तद्भावभावितः” ॥

इत्युपलक्षणमेतत् । जह्यमन्यत् । इति भावदुष्टाभक्ष्यवस्तुजातविज्ञान-
विवेकः ।

अथ स्वभावदुष्टानि ।

भविष्ये,—पूर्ववाक्यस्य शेषः ; पुरीषन्तु स्वभावतः ; पुरीषपदं शारीर-
मलोपलक्षणम् ।

मनुः—

“अज्ञानात्-प्राश्य विगमूत्रं सुरासंस्पृष्टमेव च ।

पुनः संस्कारमर्हन्ति तयो वर्णा द्विजातयः” ॥

विष्णुः—मद्यानां प्राशने चान्द्रायणं ;

“वसाशुक्रमसृङ्गज्जामूत्रविट्कर्णविन्नखाः ।

श्लेष्माशुद्रूषिका खेदो हृद्दशैते नृणां भलाः ॥

मानुषास्थि शवं विष्टां रेतो मूत्रार्त्तवं वसा ।

खेदाशुद्रूषिका श्लेष्मा मद्यं चामेध्यमुच्यते” ॥

इत्यादिषु चान्द्रायणं पुनः संस्कारश्च ; श्वविड्बृवराहगृध्रश्चेनकुक्कुटश्याम-
भासवक्त्राककङ्कशृगाणां मूत्रपुरीषप्राशने तप्तकच्छं ; स्वभावदुष्टेषु कर्द्वनं-
कर्वनासम्भवे च त्रिरात्रं सप्तरात्रं वा उपोष्य निःपुरीषाभावः कार्यः ।

इति स्वभावदुष्टान्यभक्ष्याणि ।

न तावदस्ति विशेषविवरणसापेक्षत्वमितेषां प्रत्यक्षतो दृष्टफलकत्वाद-
विज्ञानविषये ; अतः प्रमाणात्मकत्वेन सतप्रप्यायुर्वेदीयवचनजाते नोत्तोलितानि-
तान्येव ग्रन्थकलेवरद्विदृष्ट्या ।

इति विज्ञानविवेकः स्वभावदुष्टाभक्ष्याणाम् ।

अथाष्टविधाभक्ष्याणि ।

सुमन्तुः ;—लशुनपलाशकुक्षीनवश्राद्धसूतिकाभधुमांसमूत्ररेतोऽमेध्यभक्षणे-
मूद्धि सम्पातानवनयेदुपवासश्च ; एतान्येव व्याधितस्य भिषक्क्रियायामनिषि-
द्धानि भवन्ति ; यानि चान्यान्येवं प्रकाराणीति ।

अत्र यद्यपि सर्वत्र आत्मानं गोपायेदिति विधिनाऽनन्यौषधव्याधिनिवृत्त्यर्थ-
विहितस्याप्यभक्ष्यस्याप्यौषधस्याग्नीषोमीयहिंसवन्निषेधविषयत्वायोगात् पृथग्-
वचनमनर्थकं ।

तथापि,—

“कर्मणा येन केनापि मृदुना दारुणेन वा ।

उद्धरेद्द्वौनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत् ॥

धर्मश्च प्रथमं तावत्-प्रायश्चित्तात्मको भवेत् ।

ततस्तेन विशुद्धस्य फलार्थोऽन्यो भविष्यति” ॥

इति न्यायेन सर्वत्र आत्मानं गोपायेदित्यस्य न्यायप्राप्तानुवदात् ।

येषां व्याधिनाशप्राणाल्ययादौ विशेषानुज्ञा नास्ति तेषामल्पदोषत्वं ;
यत्र विशेषानुज्ञा तत्र दोषलेशस्याभावान्न प्रायश्चित्तं ; तत्रापि महापातक-
हेतुसुरापानादेः प्राणाल्ययादावपि त्याज्यतैव । न च यानि चान्यान्येवं-
प्रकाराणीति सुमन्तुवचनान्न सुरापानस्यापि व्याधितस्य भिषक्क्रियायां-
निर्द्दिष्टता किं न स्यादिति वाच्यं ; एवंप्रकारशब्देन महापातकहेतुव्यति-
रिक्ताभक्ष्याणामिवोक्तत्वात् , अन्यथा तदुवैयर्थ्यापत्तेः । इतः अष्टविधान्याभक्ष्याणि ।

अपिच :—निरुक्तविवेचनया सुरापानस्य भिषक्-क्रियायां निषिद्धत्वेऽपि-
धर्मशास्त्रीयवचनान्तरैस्तथायुर्वेदीयप्रमाणैश्चाभ्यनुज्ञातत्वेन प्राणाल्यसम्भवा-
दविगीतमेव, किञ्च द्रव्याणामभक्ष्याणां पार्थक्ये सतः अपि विवेचिते-
ऽत्र तेषां दोषतारतम्यविवेकाय पुनः स्थूलतः समावेशोऽनुष्ठितः सर्वेषामेक-
वेतप्राशयः ।

अन्यच्च :—स्वाकं स्वास्थ्यविज्ञानशास्त्रेणायुर्वेदीयप्रमाणत्रातस्य प्रदर्शित-
तुल्यतया वेदादितन्त्रान्तप्रमाणनिवृत्त्यापि स्थानीयुक्ताकन्यायेन सृष्ट्यादि-

सकलविषयकविज्ञानशास्त्रेणास्ति सादृश्यसमवश्यमेवेति धिया वेदादिशास्त्रोक्त-
सकलविषयजालं नूनमवलम्बनीयमस्माभिर्निर्विवादं ।

अपरं च :—सुसमये तु प्रोक्ताष्टविधाभक्ष्यद्रव्याशने सति निषेधेऽप्यापदि-
देशकालपात्रव्यवस्थया विलापितामन्तरा भारतीयार्यनिवहस्य विद्याध्यय-
नादिहितजातसाधनाय सतत्सुयोगे वारिधिपोतयात्रायां तथा विदेशावस्था-
नानिहसि च प्राणातत्रयसम्भावनामन्तरेण गोमांसादिप्रशस्ताभक्ष्यवस्तुजाल-
मन्वेषमपह्नायान्याभक्ष्यद्रव्याशनं न पातितरापादकमितरस्मिन्नवसरे भारतीय-
धर्मशास्त्रकारैरभिहितमैकमत्येन । किन्तु सति सम्पादिते स्वाभिलषित-
कार्यनिकरेऽनन्तरं स्वकर्तृकस्वदेशप्रतयावर्त्तनमनुष्ठितवति तस्मिन् बहुकाला-
वस्थायिविपत्तमयाभ्यन्तरे समुपस्थितसत्त्व समयव्याप्यापदतिवाहनार्थमनन्तर-
भाविप्रायश्चित्तविधिनाऽनुष्ठेयं तत्रायश्चित्तमेव । तत्रायश्चित्तविधिलिख्यः-
प्रायश्चित्तप्रकरणे । विपत्कालानुष्ठानविवेचनं पूर्वतोऽस्य समुक्तिखितं-
सप्रमाणम् । इति विवेचनमष्टविधाभक्ष्यद्रव्याणाम् ।

अथेदानीं प्रसङ्गतः प्राप्तभक्ष्यद्रव्यविवेचनमारभ्यतेऽधस्तात् ।

भक्षणीयद्रव्याणां सात्विकादिभेदेन त्रिविधत्वं प्रदर्शितमादितः ।
सम्पत्ति तेषामन्ततोऽप्यहरहः केषां भक्ष्यत्वं केषां वा समयविशेषभक्ष्यत्वं केषां-
वा हविष्यार्हभक्ष्यत्वं; केषां वाऽभिषभक्ष्यद्रव्यत्वं निरूपितं शास्त्रकारैः तान्येव-
यथाक्रमं प्रकाशयन्तेऽत्र ।

यथा—क्रमप्राप्तप्रत्यहभक्षणीयद्रव्याणि लिख्यन्ते भोजनविध्यादिसहितानि-
धर्मशास्त्रायुर्वेदप्रमाणत्रातप्रदर्शनद्वारेण ।

भक्ष्यद्रव्यजातस्य विवेचनपूर्वकाशने यथा प्रमाणन्याह चरकः ;—

“अजातानामनुत्पत्तौ जातानां विनिवृत्तये ।

रोगाणां यो विधिर्दृष्टः सुखार्थी तं समाचरेत् ॥

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः ।

हितमेवानुरुध्यन्ते प्रसमीक्ष्य परीक्षकाः ॥

रजोमोहावृतात्मानः प्रियमेव तु लौकिकाः ।
 श्रुतं बुद्धिः स्मृतिर्दाढ्यं धृतिर्हि तन्निषेवणम् ॥
 वाग्बुद्धिः शमो धैर्यमाश्रयन्ति परौक्षकम् ।
 लौकिकं नाश्रयन्त्येते गुणा मोहतमःश्रितम् ॥
 तन्मूला वहवश्चैव रोगाः शारीरमानसाः ।
 न रागान्नाप्यविज्ञानादाहारमुपयोजयेत् ॥
 परौक्ष्य हितमन्नीयाद्देहो ह्याहारसम्भवः ।
 परिहार्यार्ण्यपथ्यानि सदा परिहरेन्नूरः ॥
 भवत्यनृणां प्राप्ताः साधूनामिह पण्डितः ।
 आहारप्रभवं वस्तु रोगाश्चाहारसम्भवाः ।
 हिताहितविशेषाश्च विशेषः सुखदुःखयोः” ॥ इत्यादि

यद्यद्व्यं प्रत्यहभक्षणीयं ; तत्तद्विवृतं यथा भावप्रकाशे,—

“भुञ्जीत मधुरप्रायं स्निग्धं कामहितं मतम्” । इति ।

तथाचाह चरकः,—

“एवं वादिनं च भगवन्तमात्रेयमग्निवेश-उवाच ;—

भगवन्नन्वेतदेवमुपदिष्टं भूयिष्ठकल्पाः सर्वभिषजो विज्ञास्यन्ति ।

तमुवाच भगवानात्रेयः,—

येषां विदितमाहारतत्त्वमग्निवेश ! गुणतो द्रव्यतः कर्मतः सर्वावयवतो-
 मात्रादयो भावास्त एतदेवमुपदिष्टं विज्ञातुमुत्सहेरन् ; यथा तु खल्वेतदुपदिष्ट-
 भूयिष्ठकला सर्वभिषजो विज्ञास्यन्ति तथैतदुपदेक्ष्यामः । मात्रादीन् भावानु-
 दाहरन्तस्तेषां हि बहुविधविकल्पा भवन्ति । आहारविधिशेषांस्तु खलु लक्षण-
 तश्चावयवतश्चानुव्याख्यास्यामः । आहारत्वमाहारस्यैकविधमर्थाभेदात् । स-
 पुनर्द्वयोनिः स्थावरजङ्गमात्मकत्वात् ।

द्विविधः प्रभवो हिताहितोदकविशेषात् । चतुर्विधोपयोगः पानाशन-
मन्त्रलेह्योपयोगात् । षड्रास्वादो रसभेदतः षड्विधत्वात् ।

विंशतिगुणो-गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरुक्षमन्दतीक्ष्णस्थिरास्थिरमृदुकठिनविश-
दपिच्छिलश्लक्ष्णखरसृक्षस्थूलसान्द्रद्रवानुगमात् । अपरिसंख्येयविकल्पो द्रव्य-
संयोगे करणबाहुल्यात्तस्य ये ये विकारावयवा-भूयिष्ठमुपयुज्यन्ते ।

भूयिष्ठकल्पानाञ्च मनुष्याणां प्रकृत्यैवं हिततमांश्च तांस्तान् यथावदनु-
व्याख्यास्यामः ।

तद्यथा,—लोहितशालयः शूकधान्यानां पथ्यतमत्वे श्रेष्ठतमा भवन्ति ।
सुहाः शमीधान्यानां । आन्तरौक्षमुदकानां । सैन्धवं लवणानां, जीवन्ती-
शाकं शाकानां । मांसमत्स्याशिनां पक्षे ऐणियं, रोहितो मत्स्यानां, सर्पिः-
सर्पिषां, गोक्षीरं क्षीराणां ; तिलतैलं स्थावरस्नेहानां, शृङ्गवेरं कन्दानां,
मृदिका फलानां, शर्करैरक्षुविकाराणां, इति प्रकृत्यैव हिततमानामाहार-
विकाराणां प्राधान्यतो द्रव्याणि व्याख्यातानि भवन्ति । अतो भूयः कर्मौष-
धानां च प्राधान्यतः सानुबन्धानि द्रव्याण्यनुव्याख्यास्यामः । तद्यथा,—“अन्नं-
वृत्तिकराणां, श्रेष्ठमुदकमाश्वासकराणां, क्षीरं जीवनीयानां, लवणमन्नद्रव्य-
रुचिकराणां, अन्नं हृद्यानाम्” । इति ।

यथा,—रघुनन्दनोद्धृतछन्दोगपरिशिष्टादिप्रमाणजातं भोज्यविध्यादिसहित-
भोजनीयद्रव्यविषये,—“मुनिभिर्द्विरशनमुक्तं विप्राणां मर्त्यवासिनां नित्यम् ।
अहनि च तमस्त्रिन्यां सार्द्धप्रहरयामान्तः ।

अहनि अचिरोदितास्तमितसूर्येतरदिनमात्रे ।

तत्राप्यायुर्वेदीये विशेषः,—

“याममध्ये न भोक्तव्यं त्रियामं तु न लङ्घयेत् ।

याममध्ये रसस्तिष्ठेन्नियामे तु रसक्षयः ॥

प्रागुक्तदक्षवचनात्तत्रापि पञ्चमयामार्द्धं मुख्यकालः ।

तथाच विष्णुः,—

“प्रशस्तरत्नपाणिस्तु भुञ्जीत प्रयतो गृही ।

अन्नं प्रशस्तं पथ्यञ्च प्रोक्षितं प्रोक्षणीदकैः ॥

न कुत्सिताहृतं नैव जुगुप्सावदसंस्कृतम्” ।

तथा,—विभिन्नसुमध्मे भिन्नभिन्नद्रव्याशनशयनादिकं प्रतिपादयन्त्या-
युर्वेदीयप्रमाणानि रघुनन्दनोद्धृतानि,—

यथा,—

“मासैर्द्विसंख्यैर्मार्गाद्वैः क्रमात्-षडृतवः स्मृताः ।

हेमन्ते कुपिताद्वायोः स्वाद्वग्नलवणान्रसान् ॥

गोधूमपिष्टमांसेषुक्षीरोत्थविकृतिं भजेत् ।

नवमन्नं रसान् तैलं शौचं तप्तोदकं नरः ॥

शक्त्यार्ककिरणान् खेदं पादत्राणञ्च सर्वदा ।

उष्णस्वभावैर्लघुभिः प्राकृतः शयनं भजेत् ॥

अयमेव विधिः कार्य्यः शिशिरेऽपि विशेषतः ।

वसन्ते कुपितः श्लेष्मा ह्यग्निमान्द्यं करोत्यतः ॥

तीक्ष्णं वसननस्यादिकवलग्रहमञ्जनम् ।

व्यायामोद्वर्त्तनं धूमं शौचं तप्तोदकं भजेत् ॥

पुराणयवगोधूमक्षौद्रजाङ्गलमांसमुक् ।

गुरूष्णस्निग्धमधुरं दिवास्वप्नञ्च वर्जयेत् ॥

खादु शीतं द्रवं स्निग्धमनुपानं सशर्करम् ।

घृतं पयः सशाल्यन्नं भजन् ग्रीष्मे न सौदति ॥

मध्याह्ने शीतले स्वप्राप्तिशि वातहिमाश्रिते ।

लवणाम्लकटूष्णानि व्यायामं चात्र वर्जयेत् ॥

वर्षास्वग्निवले हौने कुपप्रन्ते पवनादयः ।

अग्नेः सम्बद्धकं द्रव्यं जीर्णधान्यं रसान् लघु ॥

जाङ्गलं पिशितं मुद्गान् दिव्यं कौप्यं जलं शुचि ।

वृक्षाम्ललवणं स्नेहं सशुष्कं द्यौद्रमेव च ॥

नदीजलौदनन्वल्नः स्वप्नायासातपांस्त्यजेत् ।

शरदि कुपिते पित्ते विरेकं रक्तमोक्षणम् ॥

स्वादुतिक्तकषायेक्षुशालिमुद्गसरोजलम् ।

तुषारक्षारसौहित्यदधितैलरसातपान् ॥

अम्लतीक्ष्णदिवास्वप्नप्राचीवातान् विवर्जयेत् ।

नित्यं सर्वरसास्वादः स्वस्वाधिक्यमृतावृतौ ॥

ऋतूनां शेषस्तृप्ताहे सेवितव्यः पराक्रमः ।

तच्च नित्यं प्रयुञ्जीत स्वास्थ्यं येन प्रवर्तते ॥

अज्ञातानां विकाराणामनुत्पत्तिकरं च यत्” ।

इत्यादि प्रचुरप्रमाणानि सन्त्यपि ग्रन्थबाहुल्यभिया नोत्तोलितानि ।

तथाच गादाधरीयाचारसारे भोज्यक्रमः ।

देवलः,—

“स्नात्वा प्रक्षाल्य पादौ च सगन्धालंकृतः शुचिः ।

पञ्चयज्ञावशिष्टं तु यो भुङ्क्ते सोऽमृताशनः” ॥

यथाह मनुः,—

“पूजयेद्दशनं नित्यमद्याच्चैनमकुत्सयन् ।

दृष्ट्वा हृष्येत्-प्रसीदेच्च अभिनन्देच्च सर्वशः ॥

पूजनं नमस्कारः ; अकुत्सनमनिन्दा ; हर्षः कायिकः ; प्रसादो मानसः ;

अभिनन्दनं वचसा ।

“अन्नं दृष्ट्वा प्रणम्यादौ प्राञ्जलिः कथयेत्ततः ।

अस्माकं नित्यमस्त्वेतदिति भक्त्याथ वन्दयेत्” ॥ इत्यादि ।

भवेत् सत्वरं जीर्णमन्नं मनःप्रसादजनकेन निरुक्ततत्तदनुष्ठानेनेत्याशयः ।

देवलः,—

“न भुञ्जीतामृतं नित्यं गृहस्थो भोजनं स्वकम् ।

पवित्रमथ हृद्यं च सर्षिराहुरघापहम्” ॥

“घृतहीनान्नभोजनं अरुचिकरं नायुष्करं चेत्यभिप्रायः ।

कामक्रोधलोभमोहानपहृत्य सर्षाङ्गुलिभिः—

शब्दमकुर्वन् प्राश्नीयान् पिण्डशेषं पात्रगामुत्सृजेत्” ।

तथा विष्णुपुराणे,—

“प्रशस्तरत्नपाणिस्तु भुञ्जीत प्रयतो गृही ।

प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीत पञ्चाद्रीं वाग्बतः शुचि” ॥

प्रशस्तरत्नानि गारुडादीनि ; पञ्चाद्रीः करचरणवदनार्द्रः ।

बौधायनः,—“संस्कृते शुचौ देशे ; संस्कृते वस्त्रादिना वेष्टिते इतरथः” ।

तथा देवलः,—

“प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीत शुचिः पीठाधिष्ठितः” ।

एतेन वस्त्रचर्म्यासनान्तरनिवृत्तिः ॥

तथा ब्राह्मे,—

“चतुरस्रं त्रिकोणं वा वर्तुलं चार्द्धचन्द्रकम् ।

कर्त्तव्यमानुपूर्व्येण ब्राह्मणादिषु मण्डलम्” ॥ इति ।

तथाच ब्राह्मे,—

“सर्षाङ्गुलिभिश्चाश्नीयान्नाबधूयेत्करं क्वचित् ।

कुर्यात्-क्षीरान्तमाहारं न तु पश्चात्-पिवेदधि ॥

जठरं पूरयेदर्द्धमन्नेर्भागं जलेन च ।

वायोः सञ्चरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत्” ॥

विष्णुपुराणे,—

“अग्नीयात्तन्मना भूत्वा पूर्वं तु मधुरं रसम् ।
लवणाग्नौ तथा मध्ये कटुतिक्तादिकं ततः ॥
प्राग्द्रव्यं पुरुषोऽग्नीयान्मध्ये च कठिनाशनः ।
अन्ते पुनर्द्रवाशी च वलारोग्ये न मुञ्चति ॥

तत्रैव द्रष्टव्यमेतद्विषयकविशेषविवरणम् ।

भोजननिषिद्ध—देशविषयकविवृतिस्तत्रैव ।

यथा—आपस्तम्बः—“न चार्वाग् भुञ्जीत तथा प्रासादे कृतभूमौ, प्रासादे-
प्रासादोपरि ; कृतभूमौ पाषाणमथ्यादौ ; मृत्क्षेपणकल्पितभूमौ वा” ।

तथा ब्राह्मे,—

“हस्त्यश्वरथयानोष्ठप्रासादस्थो न भक्षयेत् ।
श्मशानाभ्यन्तरगतो देवालयगतोऽपि वा ॥
शयनस्थो न भुञ्जीत न पाणिस्थं न चासने ।
नार्द्रवासा नार्द्रशिरा न वाऽयज्ञोपवीतवान् ॥
न प्रसारितपादस्तु पादारोपितपाणिमान् ।
न वा सक्थिकसंस्थश्च न च पर्यङ्किकास्थितः ॥
न वेष्टितशिराश्चापि नोत्सङ्गे कृतभोजनः ।
नैकवस्त्रो दुष्टमध्ये सोपानत्कः सपादुकः ॥
न चर्मोपरिसंस्थश्च चर्मवेष्टितपार्श्ववान्” ।

तथा विष्णुपुराणे,—

“न चासन्दीस्थिते पात्रे न चादेशे नगेश्वर !” ।

आसन्दी वेत्तादिनिर्मिता । आदेशे रथ्यादौ ।

विष्णुः—

“नाश्रीयाद्भार्यया साङ्गं नाकाशे न तथोत्थितः ।

बहूनां प्रेक्षमाणानां नैकस्मिन् बहवस्तथा ॥

शून्यागारे वल्लिगृहे देवागारे तथैव च” ।

आकाशे अनाहतदेशे, एकस्मिन् प्रेक्षमाणे इत्यर्थः ।

उशनाः,—

“खट्वारूढो न भुञ्जीत न चोत्तानः कथञ्चन” ।

तथा मनुः,—

“एकवस्त्रो न भुञ्जीत कवाटमपिधाय च ।

भूमौ चानन्तरौकृत्य भिन्नपात्रे च नाशनम्” ॥

भूमौ पात्राभावे केवलभूमौ आसनाभावे वा ।

तथा :—

“नाहारमुपयुञ्जीत तिष्ठन् गच्छन् हसनूपि ।

स्वग्रामे ग्रामतो वापि सन्निकृष्टे मृते सति ॥

न भुञ्जीताशनं धीमान्नाधस्यं शोककारणात्” ।

स्वग्रामे स्वग्रामीणं, ग्रामतः सन्निकृष्टे सन्निकृष्टग्रामीणे, शोककारणात्-
शोकेन मनसि क्लृप्तिते सति न भवति जीर्णमन्नादिकमिति शोककारणपद-
निर्देशस्य सार्थक्यम् ।

तथाच याज्ञवल्करः,—

“न भार्यादर्शनेऽश्रीयान्नैनां वीक्षेत चाश्रूतीम्” ।

तथाच श्रुतिः,—“तस्मादजायाया अन्ते नाश्रीयादवीर्यवान् ह्यस्य पुत्रो-
जायते ।

“वीर्यवन्तमुदसा वा (मुदयासा) जनयन्ति यस्या अन्ते नाश्रातीति ।
तेन विष्णुस्मृतौ भार्यया साङ्गं सन्निधावित्यर्थः । एवं “ब्राह्मण्या भार्यया साङ्गं-

क्वचिदभुञ्जीत चाध्वनीति” ब्राह्मणवचनमपि सन्निधिपरं न त्वेकत्र भोजनपरम् ।
केवलं तत्र विवाहकालविषयेऽपवादमाह अङ्गिराः,—

“ब्राह्मण्या सह योऽश्लीयादुच्छिष्टं वापि कर्हिचित् ।

न तत्र दोषं मन्यन्ते सर्व एव मनौषिणः” ॥

विष्णुः—

“न गोब्राह्मणोपरोधेऽश्लीयान्न राजव्यसने” ।

यमः—

“अश्नाति यो भृत्यजनस्य मध्ये मृष्टान्नमेको रसगृध्रबुद्धिः ।

दौनैः कटाक्षैरभिवीक्षमाणोऽव्यक्तं विषं हालहलं स भुङ्क्ते” ॥

न क्रुद्धो नान्यमना नाभिभाषमाणोऽश्लीयात् । न शिशूनभर्त्सयन्नातप्रदाय-
ग्रेक्षमाणेभ्योऽपीत्यर्थः ।

ब्राह्मे,—

“अप्येकपंक्त्या नाशीयात्-संवृत्तः स्वजनैरपि ।

भस्मस्तम्भजलद्वारमार्गैः पंक्तिञ्च भेदयेत्” ॥

एवं रीतया कृते सतप्रप्येवं शास्त्रादिष्टानुष्ठाने मनसो विकाराभावात्तदन्नं-
न दोषधायकमित्यर्थः ।

निषिद्धासनोपवेशनपूर्वकभोजनं तु दोषोत्पादकमिति प्रकटीकृतं तत्रैव ।

देवलः,—

“न भिन्नासनगतो न शयनगतः” ।

तथा च स्मृतिः,—

“लोहवद्भक्ष्यं दग्धञ्च वर्जयेदासनं बुधः” ।

तथा,—

“अध्यास्य शयनं यानमासनं पादुके तथा ।

पलाशस्य द्विजश्रेष्ठ ! विरावं तु व्रतो भवेद्” ॥ इत्यादि ।

निषिद्धपात्राधिकरणकान्नादिभोजनविषये कियत्परिमितप्रमाणजातस्याभक्ष्य-
प्रकरणे प्रकटीकृततया नान्यत्प्रमाणव्रातं प्रयोजनाभावात् अन्यातिप्राचुर्य-
भयाच्च नोत्तोलितमत्र । चेद्-विशेषापेक्षणं द्रष्टव्यं तदा तज्जातं तत्रैव ।

निरुक्तकतिपयप्रमाणोक्तविषयाणां स्फुटतो दृष्टविज्ञानालोकफलकतया-
तथा शरीरविज्ञानरूपायुर्वेदीयनिष्पन्नप्रमाणजातपर्यालोचनेन च विधातव्यं-
वैज्ञानिकालोचनमेषां कतिपयानां निगूढविज्ञानानां प्राज्ञैर्बुद्धिमद्भिः । अन्य-
बाहुल्यभीतेर्नानुष्ठितं तदत्रैव ।

यथायुर्वेदप्रमाणजातमपि सहायीभवति निरुक्तप्रमाणव्रातस्य, तदधस्तात्-
प्रकाशते । यथाह सुश्रुतः ; —

“अथाहारविधिं वत्स ! विस्तरेणाखिलं शृणु ।

आप्तान्वितमसङ्कीर्णं शुचिकार्यं महानसम् ॥

तत्राप्तैर्गुणसम्पन्नमन्नं भक्ष्यं सुसंस्कृतम् ।

शुचौ देशे सुसंगुप्तं समुपस्थापयेद् भिषक् ॥

विषमैरगदैः स्पृष्टं प्रोक्षितं व्यजनोदकैः ।

सिद्धैर्मलैर्हृतविषं सिद्धमन्नं निवेदयेत् ॥

वक्ष्याम्यतः परं कृत्स्नामाहारस्योपकल्पनाम् ।

घृतं कार्णायसे देयं पेयां देया तु राजते ॥

फलानि सर्वभक्ष्यांश्च प्रदद्याद्वैदलेषु च ।

परिशुष्कप्रदग्धानि सौवर्णेषु प्रकल्पयेत् ॥

प्रद्ववाणि रसांश्चैव राजतेषूपहारयेत् ।

खट्वाराणि खड्गंश्चैव सर्वान् शैलेषु दापयेत् ॥

दद्यात्ताम्रमये पात्रे सुशीतं सुशृतं पयः ।

काचस्फटिकपात्रेषु शीतलेषु शुभेषु च ॥

दद्याद्-वैदुर्यपात्रेषु रागषाड्वसट्टकान् ।
 पुरस्ताद्विमले पात्रे सुविस्तीर्णे मनोरमे ॥
 सूपः सूपोदनं दद्यात्प्रदेहांश्च सुसंस्कृतान् ।
 फलानि सर्वभक्ष्यांश्च परिशुष्काणि यानि च ॥
 तानि दक्षिणपार्श्वे तु भुञ्जानस्योपकल्पयेत् ।
 प्रद्ववाणि रसांश्चैव पानीयं पानकं पयः ॥
 खड्गान् यूषांश्च पेयांश्च सव्ये पार्श्वे प्रदापयेत् ।
 सर्वान् गुडविकारांश्च रागषाड्वसट्टकान् ॥
 पुरस्तात्पापयेत्प्राज्ञो द्वयोरपि च मध्यतः ।
 एवं विज्ञाय मतिमान् भोजनस्योपकल्पनाम् ॥
 भोक्तारं विजने रम्ये निःसम्बाधे शुभे शुचौ ।
 सुगन्धिपुष्परचिते समे देशेऽथ भोजयेत् ॥
 विशिष्टमिष्टसंस्कारैः पथ्यैरिष्टैरसादिभिः ।
 मनोज्ञं शुचि नात्युष्णं प्रत्यग्रमशनं हितम् ॥
 पूर्वं मधुरमशूयान्मध्येऽम्ललवणौ रसौ ।
 पश्चाच्छेषान्-रसान्-वैदो-भोजनेष्ववचारयेत् ॥
 आदौ फलानि भुञ्जीत दाडिमादीनि बुद्धिमान् ।
 ततः पेयांस्ततो भोज्यान् भक्ष्यांश्चिवांस्ततः परम् ॥
 घनं पूर्वं समन्नीयात्-केचिदाहुर्विपर्ययम् ।
 आदावन्ते च मध्ये च भोजनस्य तु शस्यते ॥
 निरत्ययं दोषहरं फलेष्वामलकं नृणाम् ।
 मृणालविसशालूककन्देक्षुप्रभृतीनि च ॥

पूर्वं योजगानि भिषजो न तु भुंक्ते कथञ्चन ।
 सुखमुच्चैः समासीनः समदेहोऽन्नतत्परः ॥
 काले सात्त्व्यं लघु स्निग्धं क्षिप्रमुष्णं द्रवोत्तरम् ।
 बुभुक्षितोऽन्नमशीयान्मात्रावद्विदितागमः ॥
 काले भुक्तं प्रीणयति सात्त्व्यमन्नं न बाधते ।
 लघु शीघ्रं व्रजेत्-पाकं स्निग्धोष्णं बलवद्भिदम् ॥
 क्षिप्रं भुक्तं समं पाकं यातद्दोषं द्रवोत्तरम् ।
 सुखं जीर्यति मात्रावद्वातुसाम्यं करोति च ॥
 अतीवायतयामास्तु क्षपा येष्वृतुषु स्मृताः ।
 तेषु तत्प्रत्यनीकादय भुञ्जीत प्रातरेव तु ॥
 येषु चापि भवेयुश्च दिवसा भृशमायताः ।
 तेषु तत्कालविहित-मपराह्णे प्रशस्यते ॥
 रजन्यो दिवसाश्चैव येषु चापि समाः स्मृताः ।
 कृत्वा सममहारात्रं तेषु भुञ्जीत भोजनम् ॥
 नाप्राप्तातीतकालं वा हीनाधिकमथापि वा ।
 अप्राप्तकाले भुञ्जानः शरीरे ह्यलघौ नरः ॥
 तांस्तान् व्याधीनवाप्नोति मरणं वा नियच्छति ।
 अतीतकाले भुञ्जानो वायुनोपहतोऽनले ॥
 कृच्छाद्विपच्यते भुक्तं द्वितीयञ्च न काङ्क्षति ।
 हीनमाममसन्तोषं करोति च बलक्षयम् ॥
 आलस्यगौरवाटोपसादांश्च कुरुतेऽधिकम् ।
 तस्मात्सुसंस्कृतं युक्त्या दोषैरेतैर्विवर्जितम् ॥

यथोक्तगुणसम्पन्नमुपसेवेत भोजनम् ।
 विभज्य कालदोषादीन् कालयोरुभयोरपि ॥
 अचोक्षं दुष्टमुच्छिष्टं पाषाणदण्डलोष्टवत् ।
 द्विष्टं व्युषितमस्वादु पूति चान्नं विवर्जयेत् ॥
 चिरसिद्धं स्थिरं शीतमन्नमुष्णीकृतं पुनः ।
 अशान्तमुपदग्धञ्च तथा स्वादु न लब्धते ॥
 यदयत्-स्वादुतरं तत्र विदध्यादुत्तरोत्तरम् ।
 प्रक्षालयेदङ्गिरास्यं भुञ्जानस्य मुहुर्मुहुः ॥
 विशुद्धे रसने तस्मै रोचतेऽन्नमपूर्ववत् ।
 स्वादुना तस्य रसनं प्रथमेनापि तर्पितः ॥
 न तथा स्वादयेदन्यत्तस्मात्प्रक्षाल्यमन्तरा ।
 सौमनस्यं बलं पुष्टि-मुत्साहं हर्षणं सुखम् ॥
 स्वादु संजनयतन्नमस्वादु च विपर्ययम् ।
 भुक्त्वा च यत्प्रार्थयते भूयस्तं स्वादुभोजनम् ॥
 अशितं चोदनं युक्त्या भुञ्जानश्चान्तरा पिवेत् ।
 दन्तान्तरगतं चान्नं शोधनेनाहरेच्छनैः ॥
 कुर्यादनाहतं तद्धि मुखस्यानिष्टगन्धताम् ।
 जीर्णेऽन्ने वर्धते वायुर्विदग्धे पित्तमेव तु ॥
 भुक्तमात्रे कफश्चापि तस्माद्भुक्ते हरेत् कफम् ।
 धूमेनापोह्य हृद्यैर्वा कषायकटुतिक्तकैः ॥
 पूगकक्कोलकर्पूरलवङ्गसुमनःफलैः ।
 कटुतिक्तकषायैर्वा मुखवैशद्यकारकैः ॥

ताम्बूलपत्रसहितैः सुगन्धैर्वा विचक्षणः ।
 भुक्त्वा राजवदासीत यावदन्नक्तमोगतः ॥
 ततः पदशतं गत्वा वामपाश्वरे तु संविशेत् ।
 शब्दरूपरसान् गन्धान् स्पर्शांश्च मनसः प्रियान् ॥
 भुक्त्वा वानुपसेवेत तेनान्नं साधु तिष्ठति ।
 शब्दरूपरसस्पर्शगन्धाश्चापि जुगुप्सिताः ॥
 अशुच्यन्नं तथा भुक्तमतिहास्य च वामयेत् ।
 शयनं चासनं वापि नेच्छेत् वापि द्रवोत्तरम् ॥
 नाग्न्यातपौ न प्लवनं न यानं नापि वाहनम् ।
 न चैकरससेवायां प्रसज्येत कदाचन ॥
 शाकाविरान्नभूयिष्ठमस्त्यञ्च न समाचरेत् ।
 एकैकशः समस्तान् वा नाप्यश्नीयाद्रसान् सदा ॥
 प्राग्भुक्ते त्वविविक्तेऽग्नौ द्विरन्नं न समाचरेत् ।
 पूर्वभुक्ते विदग्धेऽन्ने भुञ्जनो हन्ति पावकम् ॥
 मात्रागुरुं परिहरेदाहारं द्रव्यतश्च यः ।
 पिष्टान्नं नैव भुञ्जीत मात्रया वा बुभुक्षितः ॥
 द्विगुणञ्च पिवेत्तोयं सुखं सम्यक् प्रजीर्यति ।
 पेयलेह्यादभक्ष्याणां गुरु विदग्द्यथोत्तरम् ॥
 गुरूणामर्द्धसौहित्यं लघूनां दृप्तिरिष्यते ।
 द्रवोत्तरो द्रवश्चापि न मात्रागुरुरिष्यते ॥
 द्रवादग्नमपि शुष्कं तु सम्यगेवोपपद्यते ।
 विशुष्कमन्नमभ्यस्तं न पाकं साधु गच्छति ॥

पिण्डीकृत-मसंस्तिन्नं विदाहमुपगच्छति ।
 स्रोतस्यन्नवहे पित्तं पक्तौ वा यस्य तिष्ठति ॥
 विदाहि मुक्तमन्यद्वा तस्याप्यन्नं विदह्यते ।
 शुष्कं विरुद्धं विष्टम्भि वज्जिव्यापदमावहेत् ॥
 आमं विदग्धं विष्टञ्च कफपित्तानिलैस्त्रिभिः ।
 अजीर्णं केचिदिच्छन्ति चतुर्थं रसशेषतः” ॥ इत्यादि ।

तथा—साकमेतैरायुर्वेदीयप्रमाणैः पूर्वोक्तधर्मशास्त्रीयप्रमाणानां प्रायशः-
 प्रकाशितसादृश्याद्धर्मशास्त्रीयप्रमाणजातं न वैज्ञानिकभित्त्यवस्थितमित्यत्र न
 भ्रमितव्यमल्पज्ञैरिति विदुषां परामर्शः ।

अन्यच्च—प्रचुरायुर्वेदीयप्रमाणानां सत्यप्युत्तोलनेन ग्रन्थबाहुल्ये धर्म-
 शास्त्रीयप्रमाणजालेन सार्द्धमायुर्वेदीयप्रमाणनिकरस्य लोकनिवहसन्देहनिर-
 सनार्थमेकाधारे सन्निवेशितत्वाभावात् स्वीकृतग्रन्थकलेवरवर्द्धनं सुसङ्गतमेव ।

अपरं च—निरापद्यापदि च शारीरिकस्वास्थ्यसंरक्षणार्थं सति सुयोगे-
 निरुक्तनियमपरिपालनमनुष्ठेयमेव सर्वतोभावेन । अन्यथाऽगत्याजीवनरक्षणे-
 तदतिक्रमणं न दोषोत्पादकमित्याशयः ।

इति प्रत्यहाशनीयद्रव्यादिवित्तरः ।

अथ हविष्यद्रव्याणि ।

हविष्यान्नं :—त्रतादौ भक्षणीयद्रव्यविशेषः ।

यथा स्मृतिः,—

“हैमन्तिकं सितास्त्रिन्नं धान्यं मुद्गास्तिला यवाः ।
 कलायकङ्गुनीवारा वास्तूकं हिलमोचिका ॥
 षष्टिका कालशाकञ्च मूलकं केवुकेतरत् ।
 लवणे सैन्धवसामुद्रे गव्ये च दधिसर्पिषी ॥
 पयोऽनुद्धृतसारञ्च पनसाम्रहरीतकी ।

तिन्निङ्गी लवली धात्री फलान्यगुडमैत्रवम् ॥
 अतैलपक्कं मुनयो हविष्यान्नं प्रचक्षते” । इति ।

तथाऽगस्त्यसंहितायां,—

“नारिकेलफलञ्चैव कदलीं लवलीं तथा ।
 आम्रमामलकञ्चैव पनसञ्च हरीतकीम् ॥
 व्रतान्तरप्रशस्तञ्च हविष्यं मन्यते बुधाः” । इति ।

अन्यान्ये सत्स्वपि बहुषु प्रमाणेषु अन्यकलेवराधिकात् प्रदर्शितं प्रमाणं-
 कियदत्र दिङ्मात्रेण ।

दिवसाभ्यन्तरे वारैकभोजनोपयोगिद्रव्याणां गुरुपाकत्वेऽपीन्द्रियदोषा-
 जनकत्वेन तथाऽस्वास्थ्यानुत्पादकत्वेन च हविष्यार्हत्वमापादितं धर्मशास्त्र-
 कारैरवधेयम् ।

इति हविष्यान्नविचारः ।

अथामिषद्रव्याणि ।

यथा,—पञ्चपुराणीयकार्तिकमाहात्म्ये,—

“प्राण्यङ्गमामिषं चूर्णं फले जम्बीरमामिषम् ।
 धान्ये मसूरिका प्रोक्ता त्वन्नं पर्युषितं तथा ॥
 अजाविमहिषीदुग्धदधिसर्पिंषि चामिषम् ।
 द्विजक्रीता रसाः सर्वे लवणं भूमिजं तथा ॥
 ताम्रपात्रस्थितं गव्यं जलं पल्लवसंस्थितम्” । इति दिक् ।

प्रायशो मत्स्यगुणशालित्वात्तेषां तन्नामकत्वम् । निरुक्तदोषद्वयोत्पादक-
 त्वान्नापि हविष्यार्हत्वमेषामित्यतो निषेधितं तद्व्यजातं मुनिभिरिति-
 विवेचनीयम् ।

इतमामिषद्रव्यविचारः ।

इति भक्ष्याभक्ष्यविवेकसमाप्तिः ।

अथ क्रमप्राप्तसृष्ट्यासृष्ट्यविचारः ।

स्पर्शनार्थकसृष्टधातोः क्वप्प्रत्ययान्तत्वेन सृष्ट्य इतिपदं सिद्धं । सृष्ट्यश्चा-
सृष्ट्यश्चसृष्ट्यासृष्ट्यौ तयोर्विचारः परस्परसृष्ट्यासृष्ट्यविवेकः ।

ननु सृष्ट्यासृष्ट्यविवेचनादितः केषां जातीयाणां तावत्स्पर्शनयोग्यत्वं-
केषां वा अस्पर्शनार्हत्वमित्याकांक्षायामुच्यतेऽधस्तात्पण्डितसर्वस्वविवेकधिया ।

यथा,—

“सवर्णैभ्यः सवर्णांसु जायन्ते हि सजातयः ।

अनिन्देषु विवाहेषु पुत्राः सन्तानवर्द्धकाः” ॥

अनित्यविवाहविषये,—

“विप्रस्य त्रिषु वर्णेषु नृपतेर्वर्णयोर्द्वयोः ।

वैश्यस्य वर्णं एकस्मिन् षडेतेऽपसदाः स्मृताः” ॥

अथ ततोत्पन्नाननुत्तोमजान् विलोमजांश्च पुत्रान् सवृत्तीनाह,—

“मूर्द्धावसिक्तो राजन्यविप्रयोः क्षत्रलक्षणः ।

पुत्रस्तद्व्रत्यये जातः सुतः सारथ्यवृत्तिकः ॥

वैश्याब्राह्मणयोः पुत्रो निषादो मत्स्यघातकृत् ।

ब्राह्मणीशूद्रयोर्जातश्चाण्डालो विड्विशीधकः ॥

वैश्याक्षत्रिययोः पुत्रो माहिष्यो वैश्यधर्मकृत् ।

वैपरीत्ये तयोः पुत्रो भागधस्तुतिपाठकः ॥

शूद्राक्षत्रियोरुग्रः क्षत्रा तद्व्रत्यये सुतः ।

तयोर्वृत्तिश्च विज्ञेयो विलौकोबधबन्धनम् ॥

शूद्राविशोस्तु करणो वित्तायव्ययलेखकः” ।

करणोऽयं शूद्रकरण इति प्रसिद्धिः, ब्राह्मचित्रगुप्तकरणयोरन्यान्तरेषु पृथक्-
प्रमाणपरिदर्शनात् ।

“आयोगवश्वेदकर्मा तयोर्व्यत्ययसम्भवः” ।

मूर्ध्नावसित्ताम्बुनिषादमाहिष्योश्रकरणा अनुलोमजाः । सूतवेदेह-
चाण्डालमागधक्षत्तायोगवाश्च विलोमजाः । एषां विनासु क्षत्रियादिस्त्रीषु-
उत्पत्तिविधिः । आसु पुनर्व्यभिचारजनां न सृष्ट्वावसित्तादिसंज्ञा, विवाहा-
भावात् । किन्तु “मातृतो जातिकल्पनेति” मातृजातीयत्वं भवति ।

सृष्ट्याद्ये शास्त्रोपशास्त्रन्यायेनोत्पन्नाः संकराः परिमातुमशक्वाः । तथापि-
व्यवहारार्थं प्रसिद्धाः केचनोच्यन्ते । गुड़कारमालाकाररथकारप्रास्तरिक-
कर्माः शिष्टाः शूद्रतुल्या सृष्ट्यजलाश्च । नात्र कर्मारः सृष्ट्यजलो-
विप्राणां लोहस्तेयादिसम्भवात् । किन्तु आचारतो व्यवहारतश्च परिशूद्र-
तयैषां सृष्ट्यजलत्वमभ्यनुज्ञातं महर्षिभिः पूज्यपादैरित्यवधेयं । कर्मारं तद-
सम्भवादसृष्ट्यजलत्वं ।

अथासृष्ट्यजलाः—

वर्षकिप्रभेदौ रूपकारचित्रकारौ । स्वर्णकाररत्नकारपट्टकाराः । कांस्य-
कारताम्रकारपैतलिकाः । लोहकारघण्टाकारशंखकाराः । तैलकारकुम्भ-
कारौ, तन्तुवायतूलकारौ, ज्योतिषकुसुष्टिकौ, गोलककैवर्त्तकौ चेति । केवलमेते-
शूद्रवद्विवाहादिसंस्कारशौचादिविध्यधिकारिणः ।

“शौचाशौचं प्रकुर्वीरन् शूद्रवद्वर्णसङ्कराः” । इति वचनात् ।

एषां जलप्राशनाप्राशित्वं तत्तद्व्यवहारे बोध्यम् । एषां वृत्तयस्तु कर्मारस्य-
लोहविकारघटना, कुमुदेष्वर्णज्यं गोलकस्य वलीवर्दवाहनं, कैवर्त्तस्य मल्ल्या-
घातचिपीटकादिकरणं, अन्येषां गुड़कारादीनां स्वस्वपदव्युत्पत्त्या बोध्याः ।

आचरव्यवहाराभ्यां लोकतः समीचिताश्चित्वादेतेऽसृष्ट्यजलार्हित्वेन-
परिगणिताः । किन्तु सृष्ट्यजला असृष्ट्यजलाश्चापि व्रतपुजनभोजनादिकाल-
मन्तरान्यस्मिन् समये सेवाद्यनुष्ठाने सर्वे स्पर्शनार्हा इति शास्त्रीयाशयः ।

अथ विध्यनधिकारिण्यो स्नेच्छजातयो निरूप्यन्ते—रजकशौण्डिकचर्मर-
केरलकाण्डिकवण्डव्याधकिरातवैतसवैण्णपुल्लसचाण्डाला-यवनाश्च स्नेच्छाः, तत्र-
यवनास्तु विरुद्धधर्माणः अविद्वकर्णा नीचाश्च । तत्र वचनं, “न नीचो-
यवनात्पर” —इति । यत्संसर्गाद्वाङ्मणादिचाण्डालान्ताः सर्वजातीया भ्रंश्यन्ते ।

एषां वृत्तयस्तु रजकस्य तप्तचारवारिभिर्वस्त्रशोधनम् । शौण्डिकस्य मद्यकरणं । चम्पारस्य तालपत्रविकारविक्रयः । केरलस्य कुहकविद्या । काण्डिकस्य ग्राम-
केदाररक्षणं । वण्डस्य वृत्तारोहणमारामसेवा च । व्याधस्य पक्षिसृगादिहिंसा । किरातस्य चौथ्यं वनमार्गनिवासश्च । वैतस्य वेतपात्रघटना । वैणस्य-
वंशविकारः । पुक्कसस्य चर्मपादुकाखड्गपिधानपर्यासादिकरणम् । चाण्डालस्य-
वाद्यवादनं मृतोत्सारणञ्च । एते सर्वेऽसृष्ट्यजलाः । असृष्ट्याश्च—साकमेतैः-
स्पर्शने सम्भाषणे च, “अधमैः सह संस्पर्शे प्रायश्चित्तं यथाविधि” । इति मत्स्यसूक्त-
प्रमाणात् । तथा—“असृष्ट्यं संसृष्टेद्यस्तु स्नानं तेन विधीयते”, इति संवर्त्त-
संहिताद्युक्तप्रमाणजलपरिदर्शनाच्च । संहितास्वन्यासु तथा ब्रह्मवैवर्त्तवृहद्भर्म-
पुराणादिषु विशेषेण सतग्रामेतद्विहृतौ दिङ्मात्रेण प्रदर्शितं सङ्करजातीयविवरणं-
ग्रन्थीयकलेवरवृद्धिभयेन । न चेत्यादिप्रमाणजातबलात् स्पर्शास्पर्शदोषपरिहरणं-
सदैवालम्बनीयमितिवाच्यम् । स्थलविशेषेषु धर्मशास्त्रकारैः प्रतिप्रसवस्याभ्यनु-
ज्ञातत्वात् । अथवा सतग्रामप्यनापद्येवमेव व्यवस्थायां कार्यान्तरेषु तद्व्य-
वस्थावलम्बनात्तत्त्वसम्भावनाया प्रमाणानामेषां धर्मशास्त्रकारप्रदर्शितप्रति-
प्रसवत्वात् ।

विवेचनस्यास्य याथार्थ्यप्रतिपादनाय प्रदर्श्यन्तेऽधस्तात्प्रतिप्रसवावेदक-
प्रमाणानि । यथा गादाधरीयाचारसारे शिष्टाः,—

“विष्णुालयसमीपस्थान् विष्णुसेवार्थमागतान् ।

चण्डालपुक्कशान् वापि स्पृष्ट्वा न स्नानमाचरेत् ॥

तथाचाहात्रिः—

“देवयात्राविवाहेषु यज्ञप्रकरणेषु च ।

उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टास्पृष्टिर्न विद्यते” ॥

तथा—

“तीर्थे विवाहे यात्रायां संग्रामे देशविप्लवे ।

नगरे ग्रामदाहे च स्पृष्टास्पृष्टं न विद्यते” ॥

सृष्टमसृष्टमिति सृष्टासृष्टम् ।

तथाचारपक्षवे,—

“कुण्डे मञ्चे शिलापृष्ठे नौकायां गजवृक्षयोः ।

संग्रामे संक्रमे चैव स्पर्शदोषा न विद्यते” ॥

इदं चोक्तवादौ बहुजनसङ्गुले । प्रमाणान्वेतान्यापदोऽप्युपलक्षकाणीतर-
वगन्तव्यं । प्रमाणान्तरे ह्यापत्पदस्य दृष्टिविषयत्वात् ।

तथाच रघुनन्दनीयप्रायश्चित्ततत्त्वे रत्नाकरे ब्रह्मसूतिः—

“तौर्थे विवाहे यात्रायां संग्रामे देशविप्लवे ।

नगरग्रामदाहे च स्मृष्टास्मृष्टि न दुष्यति ॥

आपद्यपि च कष्टायां रुग्भये पीडिते तथा ।

मातापितृर्गुरोश्चैव निदेशे वर्त्तनात्तथा” ॥

सृष्टासृष्टि इत्यव्ययं क्रियाव्यतिहारे; तथेति न दुष्यति । तथा-
मव्यसृक्तेऽष्टविंशत्तमपटलेऽपि द्रष्टव्यमन्यदिति शब्दकल्पद्वयः । इह च-
कष्टापदीति पदं स्वहृत्यपरिचलनाद्यात्मकबहुदिनस्थायिविपदर्थबोधकमित्य-
वधेयम् । रुग्पीडाग्रामदाहाद्यल्पकालावस्थायिविपज्जातस्य पृथक्निर्देश-
परिदर्शनात् ।

यस्तु कलिवर्ज्यप्रकरणे “संसर्गदोषः पापेषु सधुपर्के पशोर्बधः” । इत्यादि-
रघुनन्दनीजृतादित्यपुराणीयवाक्यस्थसंसर्गदोषः पापेष्वित्यस्य पापेषु ब्रह्म-
हत्यादिपञ्चपातकिषु कलियुगे परिहर्त्तव्य इत्यर्थापयन्ति, तस्तु न सङ्गतमेव ।
कलौ व्यवहारतस्तत्संसर्गिणः प्रायश्चित्तदर्शनात्, तथात्र महापातकादिपरि-
चायकपदाभावाच्च । यत्र तु तत्पापावेदकपदोपदानेनावलोक्यते निरुक्तार्थ-
सङ्गतिः, तद्वचनमधः समुल्लिख्यते पराशरीयसाधवभाष्यतः ।

यथा पुराणे,—

“प्रायश्चित्तविधानञ्च विप्राणां मरणान्तिकम् ।

संसर्गदोषस्तेनादैर्महापातकनिष्कृतिः” ॥

इत्यत्र स्तेनाद्यैरिति पदस्योपात्तत्वेन पञ्चपातकिषु संसर्गदोषपरिहरणं-
कलावित्यर्थकरणं सूक्ष्मम् । तथापि लोके तद्दोषपरिहरणाभावसमीक्षणा-
त्मकमलाकरभट्टेन संसर्गदोषस्तेयान्यमहापातकनिष्कृतिरिति निर्णयसिन्धुनामक-
खक्ततनिबन्धग्रन्थे पठितं व्याख्यातञ्च । संसर्गदोषस्तेयेतरमहापातकत्रये-
ब्रह्महत्यासुरापानगुरुतत्पगमनरूपे ज्ञानकृते या निष्कृतिर्मरणरूपेति ।

अतः पापेषु यावत्पापेषु स्पर्शास्पर्शदोषात्मकपातकमेकं युगान्तरादृतमेव ।
कलौतु—परिहातव्यं तन्नामकवृजिनमित्यर्थः सुसमीचीन एव । कलावङ्गी-
कृते तत्परिहरणे सुतरां कलियुगान्तर्गतापदि परिवर्जनीयस्तद्दोष इति परा-
मर्शः । अतएवेतयादिप्रमाणजालसामर्थ्यात्बहुसमयव्यापित्यां विपत्तावस्थां-
विज्ञानप्रसिद्धभक्त्याभक्ष्यप्रकरणोक्तप्रमाणपर्यालोचनया ब्रतावलम्बनाशनजल-
पानदैवपैतृककार्यानुष्ठानसमयमन्तरेण समये अन्यत्र परिशुद्धचरितकेशपरि-
च्छदैः प्रतिलोमसङ्करजातीयैः सहैकासनोपवेशनादिकार्यानुष्ठानावसरे नाव-
गण्यः सृष्ट्यासृष्टिविचारः, अन्यथैषां धर्मान्तरग्रहणेन स्वधर्मदौर्बल्यप्रसङ्गात् ।
तथा स्वधर्ममपहाय व्यवहारतो धर्मान्तरावलम्बिभिः परिरुक्तपरिच्छदादिभिः-
शिक्षाश्रमिभिः साकं स्वजातीयैः स्वधर्मावलम्बिनामेकासनोपवेशनाद्यनुष्ठानस्य-
शास्त्रनिषिद्धस्याप्यवलोकनाच्च ।

अन्यच्च,—

यद्यपि वाष्पीयपोतशकटाद्यारोहणावसरे शूद्रादिभिर्निम्नतमजातीयैः-
समं सतत्रपि स्पर्शं प्रकामान्नादिभक्षणं विधेयमापद्यस्यामिति यद्वदन्ति,-
तदपि न आयुर्वेदीयादिविज्ञानशास्त्रासम्मतत्वात् तदनुसृतधर्मशास्त्रविरुद्धत्वा-
च्च । अतः स्वस्वजातीयानां स्वाधस्तनजातीयानां च स्पर्शमन्तरा फलाद्य-
भान्नं तथा लवणविहीनं घृतपक्वगोधूमपिष्टकादिपक्वान्नं च भक्षयेद्वाङ्मणः ।
तथा स्वभिन्ननिम्नतमजातीयस्पर्शं विशेषतो स्नेच्छजातीयस्पर्शं चापहाय-
स्वजातीयैः स्नेच्छतमजातीयैश्चानुष्ठिते सत्यपि स्पर्शं तण्डुलपक्वान्नमन्तरेण घृत-
पक्वाद्यशनमापदि शास्त्राभ्यनुज्ञाततयाचरणीयमेव क्षत्रियाद्यनुलोमान्त-
जातिनिवहेन । अतएव विपत्समये निरुक्तप्रमाणविवेचनदृष्ट्या,—

यथा,—

“आपत्काले तु सम्प्राप्ते शौचाचारं न चिन्तयेत् ।
स्वयं समुद्धरेत्यश्वात्-स्वस्थो धर्मं समाचरेत्” ॥

इति पाराशरीयवचनेन चानुष्ठेयं महापातक्यादिसंसर्गमन्तरा स्मृश्यास्मृश्य-
विवेचनम् । अन्यथा महापातकाद्यनुष्ठाने दुरात्मनां निर्वाधप्रवृत्तिसम्भाव-
नयाऽपद्युपस्थितापदन्तरत्वात्सोकानाम् ।

तथाच;—

यथैव साम्प्रतिकभारतीयार्यजातिसमुन्नतिकल्पे सोपानमुच्चतमसुत्या-
पयेदापदि तावदधस्तनजातिजातं विप्रादिद्विजातित्रयमिति प्रदर्शितं धर्म-
शास्त्राभ्यनुज्ञानमादितः । तथैव तन्निम्नतमजातित्रयातमपि निरुक्ततदुन्नत-
जातिनिवहमभिलक्ष्य प्रदर्शयेत्तावत्स्वकर्तृकसम्मानमेवेत्यनुष्ठीयते सुकराय-
विवेचनमत्रेदानीमेतत्प्रकरणोपयोगतः प्रस्मरसौहार्दसम्पादनार्थम् । ननु-
तावत्कथमासीत्सम्मानस्तेषां द्विजातीनां रीत्या कया शास्त्रत—इत्यशङ्कायां-
निरस्यते सोऽधस्ताच्छास्त्रीयप्रमाणदर्शनेनैव ।

रीत्या कया प्रदर्शनीयः सम्मान इत्यस्मिन् विषये मानवीयसमीचीन-
विवेचनमत्रोद्गास्यते निम्नतो जातिसाधारण्येन ।

“ब्राह्मणं दशवर्षन्तु शतवर्षञ्च भूमिपम् ।

पितापुत्रौ विजानीयाद्ब्राह्मणस्तु तयोः पिता ॥

वित्तं वन्धुर्वयः कर्म विद्वां भवति पञ्चमी ।

एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥

चक्रिणो दशमीस्थस्य रागिणो भारिणः स्त्रियाः ।

स्नातकस्य च राज्ञश्च पत्न्या देयो वरस्य च ॥

तेषां तु समवेतानां मान्यो स्नातकपार्थिवौ ।

राजस्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक्” ॥ इति ।

तथा स एव,—

“भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥
ब्राह्मणेषु तु विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः ।
कृतबुद्धिषु कर्त्तारः कर्त्तृषु ब्रह्मवेदिनः” ॥ इति ।

तथाच पञ्चोत्तरखण्डे व्यासः,—

“सर्वेषामेव वर्णानां ब्राह्मणः परमो गुरुः ।
सर्वदेवाग्रजा विप्रः प्रत्यक्षविदशो भुवि ॥
सर्वेऽपि ब्राह्मणाः श्रेष्ठाः पूजनीयाः सदैव हि ।
अविद्या वा सविद्या वा नात्र कार्य्या विचारणा ॥
क्षत्रियाणाञ्च वैश्यानां शूद्राणां गुरवो द्विजाः ।
अन्येषां गुरवो ज्ञेयाः पूजनीयाश्च भूसुराः” ॥ इति ।

ब्राह्मणस्याग्रसम्मानविषये हेतुमापादयति यथैव मनु :—

“उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती ।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते ।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोषस्य गुप्तये” ॥ इति ।

तथाच स एव,—

“यानुपाश्रित्य तिष्ठन्ति लोका वेदाश्च सर्वदा ।
ब्रह्म चैव धनं येषां को हिंस्यात्तान् जिजीविषुः ॥
अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत् ।
श्मशानेष्वपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति ॥

ह्यमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्द्धते ।

क्षत्रस्यातिप्रवृद्धस्य ब्राह्मणान् प्रति सर्वशः ॥

ब्रह्मैव सन्निर्यन्तु स्यात् क्षत्रं हि ब्रह्मसम्भवम् ।

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ॥

तेषां सर्वत्रयं तेजः स्वासु योनिषु शास्यति ।

नावृक्ष क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं वृक्ष वर्द्धते ।

वृक्ष क्षत्रञ्च सम्पृक्तमिह चामुत्र वर्द्धते” ॥ इति ।

तथैव क्षत्रियस्य ब्राह्मणसम्मानानन्तरसम्मानार्हत्वे प्रदर्शितं कारणजातं-
तेनैव,—

“ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि ।

सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्त्तव्यं परिरक्षणम् ॥

अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात् ।

रक्षायामस्य सर्वस्य राजानमसृजत्-प्रभुः ॥

इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।

चन्द्रवित्तेशयोश्चैव माता निर्हृत्य शाश्वतीः ॥

यस्मादेषां सुरेन्द्राणां माताभ्यो निर्मितो नृपः ।

तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥

अपत्यादित्ववच्चैष चक्षूषि च मनांसि च ।

न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥

सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् ।

स कुवेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।

महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति” ॥ इति ।

भूमिप इति पदं क्षत्रियजातेरुपलक्षकं, अतो-राजनि सम्मानप्रदर्शन-पूर्विका विधेया भक्तिः प्रजाभिरिति निष्कर्षः । न चेदानीन्तननृपतीनां-विदेशीयानां विजातीयतया ब्रह्मसंस्काराभावान्न तेषु कर्तव्या भक्तिरिति-वाच्यम् । कलौ मूलतः क्षत्रियवैश्यजातयोरभावस्य शास्त्रप्रतिपादितत्वात् । युगेऽस्मिन्नपि भारते वैदेशिकनृपतेराधिपतयस्य शास्त्रसूचितत्वाच्च । अतः-सदैव राजभक्तिर्विधेया सकलजातीयनृपतिषु पापात्मकदुःखसम्भवात्प्रजा-वर्गेणेतराशयः । किन्तु “स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः” इति शास्त्र-प्रमाणसामर्थ्याद्विभिन्नधर्मावलम्बिनो विदेशीयनृपतेः स्वदेशीयनृपस्य च-धर्मावलम्बनं न करणीयमेव । विवेचनमेतद्दृढयति निम्नलिखितप्रमाण-व्रातम् ।

यथा पण्डितसर्वसे—क्षत्रिया इति । “नन्दान्ताः क्षत्रिया गता” इति-कलौ क्षत्रियलोपः । यद्यपि क्षताक्षायत इति व्युत्पत्त्या क्षत्रियशब्दो योग-रूढस्तथापि प्रजापालनार्थं शस्त्रधारिणो भूपतयः क्षत्रियत्वेन व्यवहार्याः । केवलं धर्माचरणे शूद्रा एव । एषां वृत्तिमाह,—

“क्षत्रियो हि प्रजा रक्षन् शस्त्रपाणिः प्रतापवान् ।

निर्जित्य परसैन्यानि क्षितिं धर्मेण पालयेत्” ॥ इति ।

वैश्या इति—कलौ वैश्याः शूद्रतुल्याः । गर्भाधीनादिसंस्कारहीनत्वात् । तच्च वचनं “जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद्विज उच्यते” इति । तेऽपि विप्रवत्-कूटस्थऋषिभेदेन भिन्नगोत्रप्रवराः । अतएव विप्रशूद्रावधिकृत्य द्विवर्णा-पृथिवी कलाविति वचनम् । एतेन सम्प्रत्यपि दशसंस्कारा न विधीयन्ते । तथापि जलादिग्रहणार्थं धनिनः पारम्पर्येणागताः केचन वैश्यत्वेन व्यव-हार्याः । तथा मिताक्षरायां विज्ञानेश्वरः,—

यद्यपि राजन्यविशं प्रातिस्विकगोत्राभावस्तथापि पुरोहितगोत्रप्रवरौ-वेदितव्यौ । तथाच यजमानस्यार्पेयान् प्रवृणीत इत्युक्ता पौरोहित्यान् राज-विशं प्रवृणीते इत्याहः श्रुत्यायनः । इत्यनेन कलावापादयति राजन्यवैश्या-भावः स्फुटतः ।

तथाच पूर्वोक्तेन “इरेजा नव षट् पञ्च लण्डजाश्चापि भाविनः” इति-
मेरुतन्त्राद्युक्तप्रमाणव्रातेन वैदेशिकचक्रवर्तिनां सूचितराजत्वादत्र नोत्तोलि-
तानि तानि । तथा वैश्यजातेरपि क्षत्रियजातिसम्मानोत्तरभाविसम्मानास्यदत्वे-
वाचनिकप्रमाणजालमपि प्रतिपाद्यतेऽत्र मनुस्मृतितः—

यथाह मनुः,—

“वैश्यस्तु कृतसंस्कारः कृत्वा दारपरिग्रहम् ।
वार्त्ताय नित्ययुक्तः स्यात्-पशूनाञ्चैव रक्षणे ॥
प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददे पशून् ।
ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वाः परिददे प्रजाः ॥
भृत्यानाञ्च भृतिं दद्याद्भाषाश्च विविधा नृणाम् ।
द्रव्याणां स्थानयोगांश्च क्रयविक्रयमेव च ॥
धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद्-यत्नमुत्तमम् ।
दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः” ॥ इति ।

तथा ब्रह्मपुराणीयोत्तरखण्डे यथा,—

“रक्षया स हि तेषां वै महत्-सुखमवाप्नुयात् ।
प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददे प्रजाः ॥
ब्राह्मणेभ्यश्च राज्ञे च सर्वाः परिददे प्रजाः” । इति ।

निरुक्तप्रमाणव्रातसमकक्षाणां प्रमाणान्तराणां ग्रन्थान्तरेषु सतप्रपि विद्य-
मानत्वे ग्रन्थावयवविस्तृतप्राशङ्क्या न तावदत्र सन्निवेशितमन्यग्रन्थीयं वचन-
जालमित्यवधेयम् ।

अन्यच्च—द्विजातिव्रितयस्य यथाक्रमं सम्मानप्रदाने प्रोक्तवाचनिकप्रमाण-
निकरतः सतप्रपि प्रकाशिते संचिपेण प्रमाणनिवहे साधारणावबोधनार्थ-
प्रकथ्यते प्रत्येकशः वैज्ञानिकनिदानं निम्नतः स्थौल्येन ब्राह्मणादिजातेः-
सम्मानने । यथा,—

जीजगदीशितुः सविधे सदैव “स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्वि”त्वादि-
प्रमाणव्रातद्वारेण प्रार्थितसकललोकमङ्गलत्वेन स्वार्थसिद्धिमन्तरा जाति-
निर्विशेषेण सर्वप्राणिशुभकामित्वेन च तथा सर्वलोकेभ्यो ज्ञानालोकप्रदानाय-
निर्मितविविधशास्त्रतया तथा सर्वलोकप्रदत्तहितोपदेशकतया तथा धर्मनीति-
राजनीतयादिसकलनीतिग्रन्थरचकत्वेन तथा तत्परिचालकत्वेन च समाज-
शीर्षस्थानोपस्थासीनतया तथा कामादिषड्विप्रविहीनत्वात् निःस्वार्थपरहित-
साधनतया सकललोकाध्यापकत्वेन गुरुपदवीमधिरूढत्वात् तथा सकल-
लोकमनोराज्याधिपतित्वाच्च सत्वगुणप्रधानानां ब्राह्मणानां सर्वाग्रसम्माना-
स्पदत्वं सुस्थिरमेव ।

अपरञ्च—यद्यप्यधुना ब्राह्मणवंशीयपूज्यपादमहर्षिबृहन्निर्मिताध्यात्म-
विज्ञानादिसकलविज्ञानशास्त्रं नाभरिष्यद्विद्यमानमत्र, तदा भारतस्यास्येदानीं-
क्षत्रियबाहुवीर्यशून्यतया वैश्यसम्पद्बिहीनतया च भारतीया आसन् सुशि-
क्षिताः सकला धनशालिनः पूर्वत इति प्राचीनगौरवप्रचारो नाभविष्य-
द्राज्यान्तरे । अतस्त एवापि सम्मानार्हाः । अन्यथा सुगुरोरसम्मानं प्रदर्श-
यन्तो दुर्दान्ता अन्तेवासिनो यथैव सांसारिकमानसिकसकलसुखराजिभ्रष्टा-
स्तथैव जगति भवेयुरवश्यं भारतीयार्याः ब्राह्मणासम्मानप्रदर्शनेनैवेति-
राज्ञान्तः ।

पुनश्च—वह्निर्जगति क्षत्रियजातिमन्तरा लोकाणां सर्वेषां शत्रुचौरादि-
भयनिवारणप्रभृतिभारनिवहस्य जातग्रन्तरेण निर्वाहयितुं अशक्यत्वाच्च ।
जागतिकसमस्तप्राणिनां परिपालने स्वपरिवाराणामिव सन्ततभावनान्वित-
त्वात्, ब्राह्मणप्राड्विवाकसाचिव्येन स्वप्रजावर्गस्य सदैवानन्दमापादयितुं-
घूर्णायमानमस्तिष्कत्वाच्च, तथा स्वबाहुक्याश्रितप्रजानिवहस्य सुखनिद्रा-
निमज्जनसम्पादनतत्परत्वेन लोककर्तृकधर्मानुष्ठाननिवारकत्वेन विलासिता-
विहीनत्वेन च सत्वरजोगुणाश्रयाणां क्षत्रियाणां ब्राह्मणानन्तरसम्मानास्पदत्वं-
सुसङ्गतमेव । अन्यथा तज्जातेः सम्भवतःप्रसन्तोषे जागतिकमङ्गलं सुदूरपरा-
हतमेव ।

तथाच—क्षत्रिवाणिज्याद्यन्तरेण सांसारिकनिखिलजन्तूनां प्राणधारणा-

सम्भावनाया तदभावपूरणे ससुत्सृष्टजीवनत्वात् स्थानान्तरतो नानाविधद्रव्य-
जातादानेनान्यस्थानीपस्थितदुर्भिच्छाद्यापदं निवारयितुं क्षतसन्ततप्रयत्नत्वात्-
धर्मतो लोकहितसम्पादनतत्परत्वाच्च रजस्तमोगुणशलिनां वैश्यानां क्षत्रिय-
जात्यनन्तरसम्मानार्हत्वं युक्तियुक्तमेव ।

अन्यथा दुरवस्थोपस्थितेरवश्यम्भाविताल्लोकनिवहानाम् । अतएवाना-
पदि विशेषतो विपदि च भारतीयविविधार्थजातीयानां परस्परसौहार्द-
सम्पादनार्थं स्वस्वजातीयोन्नतिसाधनार्थं चान्योन्येन सम्मानप्रदर्शनानुष्ठानं
न नीतग्रनर्हमिति राद्धान्तः । इति स्पृष्टास्पृश्यविचारः ।

अथ सदाचारविचारः, —

सदुपपदस्याङ्गुपसर्गस्य गतरर्थकचरधातोर्भावे घञ्प्रत्ययनिष्पन्नं सदाचार-
इति पदं सुखिदम् । तस्य तु व्यासवाक्यं यथा—सतां आचारः शिष्टकर्तृक-
परम्परागतक्रियाद्यनुष्ठानं सदाचारः, न त्विदानींतनायातक्रियाद्यनुष्ठानं-
सदाचारः । स एव नियमविधिः । तन्नियमविधिप्रतिपादितक्रियाजातस्य-
लोककर्तृकाचरणं व्यवहारनान्नाभिहितं भारतेऽत्रेतन्नयोः पार्थक्यम् ।
तथापि प्रसमीक्ष्यन्तेऽन्ये बहुविधा अर्था आचारणशब्दस्य । यथा, प्रकृति-
वादाभिधाने—अनुष्ठानं व्यवहारः नियमः रीतिः । तथाच शब्दकल्पद्रुमे,—
आचारशब्दस्यार्थाः—यथा व्यवहारः तत्पर्यायः, पवितं, चारितं, चरणं,
वृत्तं, शीलमिति हेमचन्द्रः । ज्ञानाचमनादिरिति स्नानवीयद्वितीयाध्यायोक्तो-
नसमतिश्लोकव्याख्यायां,—कुल्लूकभट्टः, यथा—

“उपनीय गुरुः शिष्यं शिष्येच्छौचमादितः ।

आचारमग्निकार्यञ्च सन्ध्योपासनमेव च” ॥

तद्विवरणं तु,—

उपनीय गुरुरिति गुरुः शिष्यं उपनीय प्रथमं एकालिङ्गे गुदे तिस्र-
इतरादि वक्ष्यमाणशौचं ज्ञानाचमनाद्याचारमग्नौ सायंप्रातः समिद्धोमानुष्ठानं-
समन्त्रकसन्ध्योपासनविधिं च शिष्येदिति ।

तथा व्यवहारापरनामकस्याचारशब्दस्यान्योऽर्थो यथा व्यवहृतो व्यवहार-
तत्त्वे—यथाह बृहस्पतिः,—

“आचारेणावसन्नो हि पुनर्लेखयते यदि ।

सोऽभिधेयो जितः पूर्वं प्राङ्न्यायस्तु स उच्यते” ॥

आचारेण व्यवहारेण अवसन्नः भङ्गीं लेखयते भाषामित्यर्थः ।

व्यवहारस्य पारिभाषिकार्थमाह कातयायनः,—

“वि नानार्थेऽवसन्देहे हरणं हार उच्यते ।

नानासन्देहहरणात्-व्यवहार इति स्थितम्” ॥

नानाविवादविषयः संशयो ह्रियेतेऽनेनेति व्यवहारः भाषोत्तरक्रिया-
निर्णायकत्वं व्यवहारत्वं । इति ।

इत्येतेषामभ्यन्तरे के तावत् शिष्टास्तेषामाचारस्तु कीदृशितस्मिन् प्रकरणे-
इतयाशङ्कायां शास्त्रीयसम्प्रतिरत्न प्रदर्श्यते अधस्तात् । यथाह पराशरभाष्ये-
सायनमाधवः । आचारो निरूप्यते,—यत्पृष्टं चातुर्वर्ण्यसमाचारं किञ्चित्-
साधारणं वदेति,—

पराशरः,—

“चतुर्णामपि वर्णानामाचारो धर्मपालकः ।

आचारभ्रष्टदेहानां भवेद्धर्मः पराङ्मुखः” ॥ इति ।

आचारस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यामैहिकामुषिकश्रेयोहेतुत्वम् । आचारलक्षणञ्च-
आनुशासनिकपर्वण्यभिहितम्,—

“आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम् ।

आचारात्-कीर्तिमाप्नोति पुरुषः प्रेत्य चेह च ॥

दुराचारो हि पुरुषो नेहायुर्विन्दते महत् ।

यसन्ति चास्य भूतानि तथा परिभवन्ति च ॥

तस्मात्-कुर्यादिहाचारं यदीच्छेद्भूतिमात्मनः ।

अपि पापशरीरस्य आचारो हन्यलक्षणम् ॥

आचारलक्षणो धर्मः सन्तश्चाचारलक्षणाः ।

साधूनाञ्च यथा वृत्तमेतदाचारलक्षणम्” ॥

हारीतोऽपि स्मरति,—

“साधवः क्षीणदोषाः स्थुः सङ्ख्यः साधुवाचकः ।

तेषामाचारणं यत्तु सदाचारः स उच्यते” ॥

मनुरपि,—

“यस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यसमागतः ।

वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते” ॥ इति ।

सन्तः शिष्टाः । तेषां स्वरूपमाह भगवान् वीधायनः,—

“शिष्टाः विगतमत्सराः निरहङ्काराः कुक्षीधान्याः अलोलुपाः दम्भदर्प-
लोभमोहक्रोधविवर्जिताः” । इति —

आरण्यकपर्वणि,—

“अक्रुध्यन्तोऽनसूयन्तो निरहङ्कारमत्सराः ।

ऋजवः शमसम्पन्नाः सिष्टाचारा भवन्ति ते” ॥ इति ।

अत्र शिष्टानामभिमतो दयादाक्षिण्यविनयाद्यन्वितो वृत्तविशेष-आचार-
इत्युक्तं भवति । स आचारः श्रौतं स्मार्त्तं च धर्मं पालयति । धर्मविघातिनां-
नैर्धृण्यक्रोधादीनां अभावात् । असति त्वाचारे विरोधिसङ्गावात् धर्म एव-
न प्रवर्त्तते, कथञ्चित् प्रवृत्तोऽपि परावर्त्तते, सोऽयं धर्मपालक आचारश्चतुर्णां-
वर्णानां साधारणः । ननु किञ्चित् साधारणं वद इति न सङ्गच्छते इति-
चेन्न । निमित्तनैमित्तिकयोः आचारधर्मयोरभेदस्य विवक्षितत्वात् ।

अनेन तावत्प्रदर्शितः सदाचारः स्थूलतो साधवाचार्येण । किन्त्वेतत्-
प्रकरणीयविवेकबीजं शौचस्नानाचमनादिक्रियाजातमिति सुस्थिरम् । भार-

तीयार्थ्याणां तदात्मकसदाचारस्य शास्त्राभिप्रेतत्वे प्रमाणानि समुपस्थाप्यन्तेऽध-
स्तात् संचेपतः ।

यथा वामनपुराणीयचतुर्दशाध्याये राज्ञसं प्रति ऋषिवर्गवचनम् ।

ऋषय उचुः,—

“सदाचारो निगदितस्तव योऽस्माभिरादरात् ।
लक्षणं तस्य वक्ष्यामस्तच्छृणुष्व निशाचर ! ॥
गृहस्थेन सदा कार्य्यमाचारपरिपालनम् ।
न ह्याचारविहीनस्य भद्रमत्र परत्र च ॥
यज्ञदानतपांसीह पुरुषस्य न भूतये ।
भवन्ति यः समुल्लङ्घ्य सदाचारं प्रवर्त्तते ॥
दुराचारो हि पुरुषो नेह नामुत्र नन्दति ।
कार्य्यो यत्रः सदाचारे आचारो हन्त्यलक्षणम् ॥
तस्य स्वरूपं वक्ष्यामः सदाचारस्य राज्ञस ! ।
शृणुष्वैकमनास्त्वच्च यदि श्रेयो हि वाञ्छसि” ॥

“धर्मोऽस्य मूलं धनमस्य शाखाः पुण्याणि कामः फलमस्य मोक्षः ।
असौ सदाचारतरुः सुकेशिन् ! संसेवितो येन स पुण्यभोक्ता ॥
ब्राह्मे मुहूर्त्ते प्रथमे विबुध्येदनुस्मरेद्देववरं महर्षीन् ।
प्राभातिकं मङ्गलमेव वाक्यं यदुक्तवान् देवपतिस्त्रिनेत्रः ॥
द्वयं प्रभाते परमं पवित्रं यः संस्मरेद्वा शृणुयाच्च भक्त्या ।
दुःखप्रनाशो ननु सुप्रभाते भवेच्च सत्यं भगवत्प्रसादात् ।
ततः समुत्थाय विचिन्तयेच्च धर्मं तथार्थञ्च विहाय शय्याम् ॥
उत्थाय पश्चाद्भरिमित्युदीर्य्य गच्छेत्तदोत्सर्गविधिं हि कर्तुम् ।
न देवगोब्राह्मणवर्जिमार्गे न राजमार्गेन चतुष्पथे च ॥

कुर्याद्यथोत्सर्गमपीह गोष्ठे प्रच्छाद्य शीर्षं मुखनासिकञ्च ।
 ततश्च शौचार्थमुपाहारेन्मृदं गुदे त्रयं पाणितले च सप्त ॥
 तथोभयोः पञ्च चतुस्तथैकां लिङ्गे तथैकां मृदमाहरेच्च ।
 नान्तर्जलाद्राक्षसमूषिकस्थलान्नचावशिष्टा सद्नादिभग्ना-
 वल्मीकमृच्चैव हि शोचनाय ग्राह्या सदारविदा नरेण ॥
 “उदङ्मुखः क्षाल्य एदौ भुविस्थः समाचमेदङ्गिरफेनिलाभिः ।
 आचम्य च त्रिः परिमृज्य च द्विस्ततः स्पृशेच्चात्मशिरः करेण ॥
 सन्ध्यां स निर्वर्त्य ततः क्रमेण केशांश्च संशोध्य च दन्तधावनम् ।
 कृत्वा तथा दर्पणदर्शनञ्च कृत्वा शिरःस्नानमथाङ्गिकञ्च ॥
 संपूज्य तोयेन पितॄन् सदेवान् होमञ्च कृत्वा लभनं शुभानाम् ।
 कृत्वा वह्निर्निर्गमनं प्रशस्तं दुर्वां दधि सर्पिरथोदकुम्भम् ॥
 धेनुं सवत्सां वृषभं सुवर्णं मृङ्गोमयं खस्तिकमक्षतानि ।
 लाजा मधुब्राह्मणकन्यकाश्च श्वेतानि पुष्पाण्यथ शोभनानि ॥
 हुताशनं चन्दनमर्कविश्वमश्वत्थवृक्षञ्च समालभेत ।
 ततस्तु कुर्यान्नृजजातिधर्मदेशानुशिष्टं कुलधर्ममग्न्यम् ॥
 स्वगोत्रधर्मं न हि सन्त्यजेत तेनापि सिद्धिमनुपाचरेत् ।
 नासत्पूलापं न च सत्यहीनं न निष्ठुरं नागमशास्त्रहीनम् ।
 वाक्यं वदेत्-साधुजनेन येन निन्द्यो भवेन्नैव च धर्मभेदी ॥
 सङ्गं न चासत्सु जनेषु कुर्यात्सन्ध्यां सुभक्षं सुरतं दिवा च ।
 सर्वासु योनीषु परावलासु रजस्वलास्तेव जलेषु चौरः” ॥

“वृथाटनं वृथादानं वृथा च पशुमारणम् ।

न कर्त्तव्यं गृहस्थेन वृथादारपरिग्रहम् ॥

वृथाटनान्नित्यहानिर्वृथादानाद्वनक्षयः ।
 वृथापशुघ्नः प्राप्नोति यातनान्नरकं महत् ॥
 सन्तत्या हानिरश्लाघ्या वर्णसङ्करतो भयम् ।
 भेतव्यञ्च भवेन्नोके वृथादारपरिग्रहात् ॥
 परस्वे परदारे च न कार्य्या बुद्धिरुत्तमैः ।
 परस्त्वं नरकायैव परदाराश्च मृत्यवे ॥
 नेचेत्-परस्त्रियं नग्नां न सम्भाषेच्च तत्स्करान् ।
 उदक्या दर्शनं स्पृशं सम्भाषञ्च विवर्जयेत्” ॥ इति ।

एतादृक्सदाचारज्ञापकेषु सत्स्वपि बहुषु वाक्येष्वन्येषु निवन्धशरीरवृद्ध्या-
 शङ्कया नानुष्ठितमेतेषामुत्तोलनम् । किन्तु द्रष्टव्यतद्विधतिः पञ्चपुराणीयस्वर्ग-
 खण्डे विष्णुपुराणीयतृतीयांशे मार्कण्डेयपुराणीयसदाचारनामकाध्याये च ।

अन्यच्च—प्रमाणजातेनानेन तावदवगम्यते शौचादिक्रियाजातमारभ्य यथा-
 देशकालपात्रं समयाचारादिपरिवर्त्तनं यावत् सकलं क्रियाजातं सदाचारा-
 त्मकत्वेन परिगणितमिति ।

अपरञ्च—ये त्विदानीन्तनशिष्टेषु प्रायेण निरुक्तप्रमाणोक्तशिष्टगुणक्रिया-
 विशिष्टत्वानवलोकनान्न विद्यन्तेऽधुना भारतेऽस्मिन् शिष्टा इति चेन्न साम्प्रति-
 कानामभ्यन्तरे सर्वलोकापेक्षया ये प्रायशः शिष्टगुणान्विताः त एव सन्त-
 इति शास्त्राभ्यनुज्ञातत्वात् । अनुमोदते विवरणमेतत् पराशरः,—

“युगे युगेषु ये धर्मास्तेषु धर्मेषु ये द्विजाः ।
 तेषां निन्दा न कर्त्तव्या युगरूपा हि ब्राह्मणाः ॥
 हुङ्कारं ब्राह्मणस्योक्ता त्वंकारञ्च गरीयसः ।
 ज्ञात्वा तिष्ठन्नहःशेषमभिवाद्य प्रसादयेत्” ॥

इत्येतद्वचनद्वयं युगानुरूपशिष्टानामुपलक्षकम् । न च—

“यस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमगतः”—इति ।

मानवीयवचनोक्तपारम्पर्यपदसामर्थ्यात्तद्देशीयपुरातनाचारः शिष्टाचारः,—

नचेदानीन्तनः शिष्टाचारः शिष्टाचारात्मकत्वेन परिगणनीय इति वाच्यं,-
मनूक्ताचारजातमन्तरा पूर्वप्रदर्शितवशिष्टसंहितावचनेऽप्याचाराधिक्यपरिदर्श-
नात् । अतएवेदानीन्तनशिष्टाचारोऽपि ग्रहणीयः शिष्टाचारात्मकत्वेन ।
न च निरुक्तबहुविधाचारानुष्ठाने निष्प्रयोजनकः सतामायासो लोकहिताना-
पादकत्वादिति वाच्यम् । नियमात्मकाचाराणामवलम्बनमन्तरोच्छृङ्खलाचरणेन-
शरीराशुपतनस्य शारीरिकविज्ञानायुर्वेदादिशास्त्रसम्मततया सदाचारानुष्ठा-
नस्य लोकहितापादकत्वेन सप्रयोजनकत्वात्, अतएवैतदाचरणं मङ्गलाधायकं-
लोकानामिति सिद्धान्तः । प्रमाणयन्ति युक्तिमेतामायुर्वेदीयभावप्रकाश-
शुश्रुतवचनानि । यथा,—

भावप्रकाशे प्रथमभागे,—

“मानवो येन विधिना स्वस्थस्तिष्ठति सर्वदा ।
तमेव कारयेद्वैद्यो यतः स्वास्थ्यं सदैव्युत्तमम् ॥
दिनचर्यां रात्रिचर्यामृतुचर्यां यथोदिताम् ।
आचरन् पुरुषः स्वस्थः सदा तिष्ठति नान्यथा ॥
ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत स्वस्थो रक्षार्थमायुषः ।
तव दुःखप्रशान्त्यर्थं स्मरेद्भि मधुसूदनम् ॥
आयुष्यमुषसि प्रोक्तं मलादीनां विसर्जनम् ।
गुदादिमलमार्गाणां शौचं कान्तिवलप्रदम् ॥
पवित्रकरमायुष्यमलक्ष्मीकलिपापहृत् ।
प्रक्षालनमतः पाण्योः पादयोः शुद्धिकारणम् ॥
मलश्रमहरं वृष्यं चक्षुष्यं राजसापहम् ।
भक्षयेदन्तवपनं द्वादशाङ्गुलमायतम् ॥
कनिष्ठकाग्रवत्-स्थूलमृज्वग्रन्थि तथावृणम् ।
एकैकं घर्षयेदन्तमृजुना कृच्छ्रकेण तु ॥

दन्तशोधनचूर्णेन दन्तमांसान्यबाधयन् ।
 क्षौद्रविकटुकाक्तेन तैलत्वक्षुभवेन वा ॥
 चूर्णेन तेजोवत्याश्च दन्तान्नित्यं विशोधयेत् ।
 मधुको मधुरे श्रेष्ठः करञ्जः कटुके तथा ॥
 निम्बः स्यात्तित्तके श्रेष्ठः काषाये खदिरस्तथा ।
 समयं तु समालोक्य दोषञ्च प्रकृतिं तथा” ॥
 यथोचितै-रसैर्वीर्यैरुक्तं द्रव्यं प्रयोजयेत् ।

“तेनास्य मुखवैरस्यदन्तजिह्वास्यजा गदाः” ।

रुचिवैशद्यलघुता न भवतीत्यादि तथा तत्रैव ।

“दीपनं दृष्यमायुष्यं ज्ञानमोजोवलप्रदम् ।
 कण्डूमलश्रमस्नेहतन्द्राट्टिदाहपापनुत् ॥
 भुञ्जीत मधुरप्रायं स्निग्धं काले हितं मतम् ।
 न रात्रौ दधि भुञ्जीत न च निर्लवणं तथा ॥
 नामुद्गस्त्रफलाक्षौद्रं न चाप्यघृतशर्करम्” । इति ।

तथा च सुश्रुतः,—

“बुभुक्षितोऽन्नमश्नीयान्मात्रावद्विदितागमः ।
 काले भुक्तं प्रीणयति सात्मप्रमन्नं न बाधते ॥
 पूर्वं मधुरमश्नीयान्मध्येऽम्ललवणौ रसौ ।
 नाप्राप्तातीतकालं वा हीनाधिकमथापि वा ॥
 अप्राप्तकाले भुञ्जानः शरीरे ह्यलघौ नरः ।
 तांस्तान् व्याधौ नवाप्नोति मरणं वा नियच्छति ।
 अतीतकाले भुञ्जानो वायुनोपहतेऽनले ।
 कृच्छ्राद्वि-पच्यते भुक्तं द्वितीयञ्च न काङ्क्षति” ॥ इति ।

तदेवमनुमनुते मनुरपि,—

“नोच्छिष्टं कस्यचित्-दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा ।

न चैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिन्नजेत् ॥

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यञ्चातिभोजनम् ।

अपुण्यं लोकविद्धिष्टं तस्मात्तं परिवर्जयेत्’ ॥ इत्यादि ।

एवमन्येष्वयुर्वेदीयग्रन्थेषु तथा संहितान्तरेषु चैतत्समान्येतदधिकाचार-
बोधकानि प्रमाणानि सन्त्यपि निबन्धबाहुल्यभयान्न संगृहीतानि । निरुक्ता-
चारव्रातानुष्ठानस्य यथाक्रमं शारीरिकस्वास्थ्यपादकतया तथा परमायुर्विव-
र्द्धकतया परमेश्वरोपासनानुरागाधायकतया च स्वदेशीयार्थनृपतिसाहाय्येना-
नापदि स्वपरिवारपोषणे तथा स्त्रोदरपरिपूरणे च भावनाविहीनत्वात्-
प्रातरारभ्य प्रदोषं यावत् समयाभ्यन्तरे स्वस्वजात्युक्तसकलाचारजातमनुष्ठितं-
पूर्वतो ब्राह्मणादिभिः । किन्त्वधुना परिजनपरिपालने स्वजठरानलोपशमने-
च तादृक्साचिव्याभावात्सदैव चिन्तानिमग्नतयाऽचारात्मकशौचादिकर्म्मनि-
वहस्य प्रचुरतया चापद्यस्यां तत्कर्महन्दानुष्ठाने हतोत्साहित्वात्तदभावे दैहि-
कारोग्यस्य दीर्घजीवनस्य तथा परमेश्वरोपासनानुरक्तेश्च क्षीणबलत्वाच्च सत्यपि-
सङ्कोचेन तदनुष्ठाने तत्तितयरक्षणसम्भावनया संक्षेपतो विधेयमन्ततस्तदा-
चरणं विप्रादिभिरिति सुपरामर्शः । स त्वाचारः किमात्मकः इत्यपेक्षाया-
मुच्यतेऽधस्तात् । यथा,—

स आचारो नित्यनैमित्तिककाम्यकर्मात्मकत्वेन त्रिविधः । ततः कर्म-
नान्नाभिहितः सः । तत्त्रिविधकर्ममध्यतो नैमित्तिककाम्यकर्मणोः कालान्त-
रोपस्थिततया तथा ग्रन्थान्तरेषु तद्विधेषु विवृतेर्विद्यमानतया च नित्यकर्म-
पद्धत्यनुसारतः केवलमत्र समुल्लिख्यन्ते नित्यकर्माणि सामान्येन प्रकृतोप-
योगतः । यथा नित्यकर्मपद्धतौ प्रातःस्मरणम्,—

“प्रभाते यः स्मरेन्नित्यं दुर्गा दुर्गाक्षरद्वयम् ।

आपदस्तस्य नश्यन्ति तमः सूर्योदये यथा ॥

अमरौ-कवरौ-पुष्प-अमरौमुखरीकृतम् ।
 दूरीकरोति दुरितं दुर्गाचरणपङ्कजम् ॥
 हरं हरिं हरिश्चन्द्रं हनूमन्तं हुताशनम् ।
 हकारादीन् स्मरेन्नित्यं हानिस्तस्य न विद्यते ॥
 कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च ।
 ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्तनं कलिनाशनम् ॥
 अहल्या दौपदी तारा शची मन्दोदरी तथा ।
 पञ्च कन्याः स्मरेन्नित्यं महापातकनाशनम् ॥
 पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः ।
 पुण्यश्लोका च वैदेही पुण्यश्लोको जनार्दनः ॥

“जय जय राम ! जयामरसूदन ! जय माधव ! जय विष्णो ! ।
 हर नरकं नरकरिपो ! केशव ! कल्मषभारम् ॥
 सामनुकम्पय दीनमनाथं नृहरे ! कुरु भवसागरपारम् ।
 अपराधं मे हरे ! हर परिहर कुरु ते चरणे शरणम् ॥
 संसारार्णवतरणे करुणावरुणालय ! भवतरणं हर ! ।
 पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि गर्भनिवासम् ॥
 सोढुमहं न प्रभुरच्युत ! माधव ! मामुद्धर निजदासं हर ! ।
 त्वं जननी जनिमतां मद्धृदसि मे कलत्रमितम् ॥
 त्वं शरणं शरणागत ! हृदत्सल ! त्वं भवजलधिनिमग्नमित्रम् हर ! ।
 हे नारायण ! हे पुरुषोत्तम ! हे वामन ! हे कंसारे ! ॥
 उद्धर मामशुभादघनाशन ! पतितं भवसंसारे हर ! ।
 औषधे चिन्तयेद्विष्णुं भोजने च जनार्दनम् ।
 शयने पद्मनाभञ्च विवाहे च प्रजापतिम् ॥

संग्रामे चक्रिणं देवं प्रवासे च त्रिविक्रमम् ।
 नारायणं प्राणत्यागि श्रीधरं प्रियसङ्गमे ॥
 दुःखप्रे स्मर गोविन्दं विपत्तौ मधुसूदनम् ।
 कानने नरसिंहञ्च पर्वते रधुनन्दनम् ॥
 जलमध्ये च वाराहं पावके जलशायिनम् ।
 मायासु वामनं देवं सर्वकार्येषु माधवम् ॥
 इति षोडशनामानि प्रातरुत्थाय यः पठेत् ।
 अचलां श्रियमाप्नोति विष्णुलोकं स गच्छति” ॥

इति प्रभातस्मरणम् ।

अथ पुरीषोत्सर्गः । ततः शौचं । अथ दन्तधावनं, तत्र दन्तकाष्ठ-
 विवेचनम् । यथा,—

“खदिरश्च करञ्जश्च कदम्बश्च कटस्तथा ।
 तिन्तिडो वेणुपृष्ठश्च आम्रनिम्बौ तथैव च ॥
 अपामार्गश्च विल्वश्च अर्कश्चोदुम्बरस्तथा ।
 एताः प्रशस्ताः कथिता दन्तधावनकर्मणि” ॥ इति ।

परिमाणमेतेषां काठानां वर्णभेदक्रमेण । यथा,—

“द्वादशाङ्गुलं तु विप्राणां क्षत्रियाणां दशाङ्गुलम् ।
 अष्टाङ्गुलं तु वैश्यानां शूद्राणाञ्च षडङ्गुलम्” ॥

अथ स्नानम् । तत्र मन्त्रः,—

“शिवगङ्गे नमस्तुभ्यं सर्वपापव्यपोहिनि ! ।
 स्नानं करोमि त्वत्तोये शिवलोकं प्रयच्छ मे” ॥

अथ गङ्गाष्टकं यथा,—

“मातः शैलमुतासपत्नि ! वसुधाशृङ्गारहारावलि ! ।
 स्वर्गारोहणवैजयन्ति ! भवतीं भागीरथीं प्रार्थये ॥

त्वत्तीरे वसतस्त्वदम्बुपिवतस्त्वद्वीचिमुत्प्रेङ्गत,—
 स्त्वन्नाम स्मरतस्त्वदर्पितदृशः स्यान्मे शरीरव्ययः ॥
 त्वत्तीरे तरुकोटरान्तरगतो गङ्गे ! विहङ्गा वरम् ।
 त्वन्तीरे नरकान्तकारिणि ! वरं मत्स्योऽथवा कच्छपः ॥
 नैवान्यत्र मदान्धसिन्दुरघटासङ्घट्टघण्टारणत्,
 कारवस्तसमस्तवैरिवनितालव्यस्तुतिभूषतिः ।
 काकैर्निष्कुषितं श्वभिः कवलितं गोमायुभिर्लुण्ठितम् ।
 स्त्रोतोभिश्चलितं तटान्तमिलितं वौचिभिरान्योलितम् ॥
 दिव्यस्वीकरचारुचामरमरुत्सस्वीज्यमानः कदा ।
 द्रक्ष्येऽहम् परमेश्वरि ! त्रिपथगे ! भागीरथि ! स्वं वपुः ।
 अभिनवविषवल्लीपादपद्मस्य विष्णो-
 र्मदनमथनमौलिर्मालतीपुष्पमाला ।
 जयतु जयपताका काप्यसौ मोक्षलक्ष्याः-
 क्षयितकलिकलङ्गा जाङ्गवी नः पुनातु ॥
 यत्तत्तालतमालतालसरलव्यालोलबल्लीचयच्छन्नं,
 सूर्य्यकरप्रतापरहितं गङ्गेन्दुकुन्दोज्ज्वलं ।
 गन्धर्वामरसिद्धकिन्नरबधूतुङ्गस्तनास्फालितम्,
 स्नानाय प्रतिवासरं भवतु मे गाङ्गं जलं निर्मलम् ॥
 गाङ्गं वारि मनोहारि मुरारिचरणचुप्रतम् ।
 त्रिपुरारिशिरश्चारि ! पापहारि ! पुनातु मां ॥
 पापापहारि ! दूरितारि ! तरङ्गधारि ! ।
 दूरप्रसारि ! गिरिराजगुहाविहारि ॥

धत्कारकारि ! हरिपादरजोपहारि ! ।

गाङ्ग पुनातु जगतः शुभकारि-वारि ॥

वरमिह गङ्गातीरे सरटः करटः कृशशूनीतनयः ।

न पुनर्दूरतरस्यः करिवरक्काटीश्वरो नृपतिः ॥

गङ्गाष्टकं पठति यः प्रयतः प्रभाते,

वाल्मीकिना विरचितं सुखदं मनुष्यः ।

प्रक्षाल्य गात्रकलिकिल्बिषपङ्कमाशु,

मोक्षं लभेत्-पतति नैव पुनर्भवाव्यो” ॥ इति ।

श्रीवाल्मीकिना विरचितं गङ्गाष्टकं सम्पूर्णं । सत्स्वपि बहुषु गङ्गास्तवेष्टु-
विशेषतः समादृततया समुत्तीलितमत्र गङ्गाष्टकमिदम् ।

अथ तिलकप्रकारः । यथा,—

“ललाटे दण्डवत्-कुर्याद्भृदये कमलाकृतिम् ।

वाहौ च वेणुपत्रं स्यात्तदन्यत्र तु दीपवत्” ॥

रीत्यानया तिलकधारणम् ।

अथ सन्ध्या,—

ततः पवित्रमुद्रां दक्षकरे, वामकरे कुशान् धृत्वा प्रथमतो द्विराचमनं-
त्रिर्गण्डमार्जनम् । इन्द्रियस्पर्शनम् । “ॐ अपवित्रः पवित्रो वा सर्वाववस्थां-
गतोऽपि वा । यः स्मरेत्-पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरशुचिः” । ॐ विष्णवे
नमः । इति नारायणं स्मरेत् । “ॐ शं न आपो धन्वन्त्याः शं नः सन्ध्याः ।
शन्नः समुद्रापः शमुनः सन्तु कूप्याः”, इति शिरसि मार्जनम् । “द्रुपदादिव-
सुमृचानः स्विन्नः स्नातो मलादिव । पूतं पवित्रेण वाज्यमापः शुभन्तु-
मैनसः” । पूर्ववत् ।

“ॐ आपो हिष्ठा मयोभुवस्तान ऊर्जे दधातन । महेरणाय चक्षणे यो वः-
शिवतमोरसस्तस्य भाजयते हनः । तस्मा अरङ्गमामवो यस्य क्षयाय जिव्यथ ।

आपो जनयथाचनः “इति नवधा मार्जनम् । ॐ ऋतं च सत्यञ्चाभीज्ञान्तप-
सोऽध्यजायत । ततो रात्रजायत । ततः समुद्रोऽर्णवः समुद्रादर्णवादधिसम्ब-
त्सरोऽ जायत । अहीरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी सूर्याचन्द्रमसौ-
धाता यथा पूर्वमकल्पयद्विचित्रं पृथिवीं चान्तरीक्षमथो स्वः” । इति शिरसि-
मार्जनं । “अघमर्षणसूक्तस्य । अघमर्षण-ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । भाववृत्तं
देवतम् । अश्वमेधावभृथे विनियोगः”, ऋतं चेति जलाभिमन्त्रणम् ।

द्विराचमनम्—

सप्रणवत्रिव्याहृतियुक्तगायत्र्या मार्जनं, आपोहिष्टेति मार्जनम् । ऋतं-
चेति मार्जनं, “दर्भेषु दर्भपाणिः स्यादिति वचनात्, कुशाद्यासने । “आसन-
मन्त्रस्य । मेरुपृष्ठ-ऋषिः । सुतलीछन्दः । श्रीकूर्मा देवता । आसने-
विनियोगः । स्वासने कमलासनाय नमः, “ॐ पृथिवि ! त्वया धृता लोका-
देवि ! त्वं विष्णुना धृता । त्वञ्च धारय मां देवि पवित्रमासनं कुरु” इति ।
पृथ्वीं प्रार्थ्य ब्रह्मणे नम इत्यभितो जलं निक्षिपेत् । “ॐ कारस्य ब्रह्मा-ऋषिः ।
गायत्री छन्दः । अग्निदेवता । सर्वकर्मारम्भे विनियोगः” “ॐ स्वं ब्रह्मणेत्यादि-
ब्राह्मणम् । सप्तव्याहृतीनां प्रजापतिः ऋषिः, गायत्र्युष्णिगनुष्टुप्-वृहती-पंक्ति-
त्रिष्टुब्जगत्यः छन्दांसि । अग्निवायुसूर्यवृहस्पतिवरुणेन्द्रविश्वेदेवाः देवताः ।
प्राणायामे विनियोगः । “ॐ भूरिति ऋग्वेदादित्यादि ब्राह्मणम् । गायत्र्या-
विश्वामित्र-ऋषिः । गायत्री छन्दः । अग्निमुखोपनयने विनियोगः” । “ॐ-
भूमिरन्तरीक्षं द्यौरित्यादि ब्राह्मणम् । शिरसः प्रजापतिः ऋषिः । छन्दोऽभावः ।
यजुः । ब्रह्माग्निवायुसूर्या देवताः । प्राणायामे विनियोगः” । सशिरस्कां-
त्रिः पठेदित्यादि-ब्राह्मणं । ततः प्राणायामः । “निरोधाज्जायते वायुरग्निश्च-
जायते ततः । अग्नेरापः प्रजायन्ते ततोऽन्तः शुध्यते द्विजः” । फलं । “सप्त-
व्याहृतिभिः सार्धं दशोंकारसमन्विताम् । शिरसा संहितां देवीं प्राणायामे-
प्रयोजयेत्” । तत्तथा । ॐ भूः, ॐ भुवः, ॐ स्वः, ॐ महः, ॐ जनः-
ॐ तपः, ॐ सत्यं, ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः-
प्रचोदयात् । ॐ आपो-ज्योति-रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरो” । इति
मन्त्रेण पूरककुम्भकरचक्रक्रमेण मध्यमातर्जन्यौ विहाय । “दक्षिणे रेचयेद्वायुं-

पूरकं वामतः स्मृतं । निरुद्धपवनश्चैव कुम्भकः परिकीर्तितः” इति विधिना । पूरणे श्यामं विष्णुं हृदम्बुजे । कुम्भके रुद्रं शिरःपद्मे । रचके रक्तं ब्रह्माणं नाभिपद्मे । ध्यायन् प्राणायामत्रयं कार्यम् । सन्यासु च तिसृष्वपीति वचनात् प्राणायामत्रयं कुर्यात् ।

“ॐ अन्तश्चरति भूतेषु गुहायां विश्वतो मुखः । त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कार-
आपोज्योतिरसोऽमृतम्” । इति सङ्गदाचमनम् । आपोहिष्टेति मार्जनम् ।
द्रुपदादिवैद्यञ्जलिरैकः । जलाञ्जलिं धृत्वा ऋतं चेति पठित्वा नासाग्रेण-
दक्षिणहस्ते समर्पयेत् । ततः कराभ्यां तोयमादाय गायत्र्याऽभिमन्त्रितम् ।
आदित्याभिमुखं तिष्ठन्मूर्ध्नि सन्ध्ययोः क्षिपेत्, इति वचनात् प्रणवव्याहृति-
गायत्र्या त्रीनञ्जलीन् क्षिपेत् । मध्याह्ने तु सङ्गदेव क्षेपणीयं द्विजातिभिः ।
इति वचनान्मध्याह्ने एकाञ्जलिं वा क्षिपेत् । ततः उपस्थानं कुर्यात् ।
सायं प्रातरानताञ्जलिना । मध्याह्ने ऊर्ध्वं बाहुः । प्रातर्मध्याह्ने उपस्थानम् ।
असावादित्यो ब्रह्मा इति प्रावृत्य तिष्ठेत्, “उदुत्यं जातवेदसं । देवं वहन्ति-
केतवः । दृष्टे विश्वाय सूर्यं । १ । चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्तस्य-
वरुणस्याग्नेः । आप्राद्यावा पृथिवी अन्तरीक्षं सूर्यं आत्मा जगत्स्तस्यपथः । २ ।
ॐ उदयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरं । देवं देवता सूर्यमग्नयः ज्योतिरुत्तमं ।
तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्तात् शुक्रमुच्चरत् । जीवेमः शरदः शतं पश्येमः शरदः-
शतं । शृणुयामः शरदः शतं । ३ । गायत्र्या विश्वामित्र ऋषिः । गायत्री-
छन्दः । सविता देवता । णीं वीजं । यं शक्तिः । गायत्रीजपे विनियोगः ।
ॐ भूः अङ्गुष्ठाभ्यां नमः । ॐ भुवस्तर्जनीभ्यां स्वाहा । ॐ स्वः मध्यमाभ्यां-
वषट् । ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं अनामिकाभ्यां हुं । ॐ भर्गोदेवस्य धीमहि-
कनिष्ठाभ्यां वौषट् । धियो यो नः प्रचोदयात्-करतलकरपृष्ठाभ्यां फट् ।
एवमङ्गन्यासः । अस्त्रायफट् इति विशेषः ।

ध्यानं यथा,—

“ॐ ध्येयः सदा सवितुर्मण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः ।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटिहारी हिरण्यवपुर्द्वैतशङ्खचक्रः” ।

पित्रादौ पुत्रादियज्ञाद्यनुष्ठानाधिकारस्यानुरोधात् । वस्तुतस्तु लौकिकमेव स्वत्वं लोके च जातमात्राणामेव पुत्रादीनां पित्रादिधने स्वाभ्यव्यवहारेऽन्येषामपीति साधयिष्यामः ।

“यच्च पित्रादीनामनुमत्ययोग्यपुत्रादिसाधारणस्वत्वे कथमनुमतिमन्तरेणाधानादिकं स्यादित्युक्तं—तदनुमतियोग्येष्वपि पुत्रादिषु स्वातन्त्र्यात्-पित्रादीनां न तदनुमत्यपेक्षा किमुतानुमत्ययोग्येष्विति परिहृतप्रायमेव तथा-तद्विधिवत्त्वादेवाधिकारोऽवगम्यते ;—तस्मात् पैतृके पैतामहे च द्रव्ये-जन्मनैव स्वत्वं, तथापि पितुरावश्यकेषु धर्मकृत्येषु वाचनिकेषु प्रसाददान-कुटुम्बभरणपद्मिसोच्चादिषु च स्थावरव्यतिरिक्तद्रव्यविनियोगे स्वातन्त्र्यमिति स्थितं । स्थावरे तु स्वार्जिते पित्रादिप्राप्ते च पुत्रादिपारतन्त्र्यमेव ।

“स्थावरं द्विपदं चैव यद्यपि स्वयमर्जितं ।

असम्भूय सुतान् सर्वान्न दानं न च विक्रयः ॥

ये जाता येऽप्यजाताश्च ये च गर्भे व्यवस्थिताः ।

वृत्तिं च तेऽभिकाङ्क्षन्ति न दानं न च विक्रयः” ॥

इत्यादि स्मरणात् ।

अस्यापवादः,—

“एकोऽपि स्थावरे कुर्याद्दानाधमनविक्रयं ।

आपत्काले कुटुम्बार्थे धर्मार्थे च विशेषतः” ॥ इति ।

अस्यार्थः—अप्राप्तव्यवहारेषु पुत्रेषु पौत्रेषु वा अनुज्ञादानादावसमर्थेषु-भ्रातृषु वा तथाविधेष्वभिक्तेष्वपि सकलकुटुम्बव्यापिन्यामापदि तत्पोषणे-वावश्यं कर्त्तव्येषु पितृश्रद्धादिषु स्थावरस्य दानाधमनविक्रयमेकोऽपि समर्थः-कुर्यादिति तु विज्ञानेश्वराचार्याः ।

अतश्चोत्पत्त्यैवार्थस्वामित्वमिति गौतमवचनस्य यज्जीमूतवाहनरघुनन्दनाभ्यां पारस्परिकोत्पत्तिस्वत्वहेतुत्वेन व्याख्यानं कृतं, तदपि व्यर्थमेव ।

यत्तु शङ्खवचनं तस्यापि स्मृतिचन्द्रिकोक्तव्याख्येव साधीयसी । कल्पतरुक्त-

व्याख्यायान्तु विद्याद्युपात्ताध्याहारेऽनुपस्थितभूयःपदाध्याहारः प्रसज्येत ।
जन्मपदाध्याहारस्तु पुत्रत्वाद्यान्नेपीपस्थितेरत्याध्याहाराच्च नायुक्तः ।

तेन श्रुत्युपष्टब्धस्मृत्यनुरोधान्ननुनारददेवतादिवचनानामेवास्वातन्त्र्यपरत्व-
वर्णनमुचिततरं । यदप्युक्तं प्रीतिदत्तस्याविभाज्यत्ववचनानि जन्मना स्वत्वाभ्युप-
गमेऽनुपन्नानीति, तदपि न, अनुसत्यभिप्रायेण स्थावरप्रीतिदानाभाव-
स्थिरीकरणार्थतयोपपत्तेः ।

स्वातन्त्र्याद्वा पितुरनुमतिमन्तरिणापि तेन दत्ते स्थावरव्यतिरिक्ते पुत्राणा-
मविभाज्यत्वमुच्यते ।

अतएव स्थावरे विशेषवचनं—

“स्थावरं द्विपदं चैव यद्यपि स्वयमर्जितं ।

असम्भूय सुतान् सर्वान् न दानं न च विक्रयः” ॥ इति ।

मणिसुक्ताप्रवालानामित्यादिवचनन्तु जन्मना स्वत्वपक्ष एवोपपन्नतरं,
नच पितामहोपात्तस्थावरमात्रविषयकत्वमिति युक्तं, न पिता न पितामह-
इति द्वयग्रहणात् । पितामहस्य स्वार्जितमपि पुत्रे पीत्रे च सत्यपि न देय-
मिति वचनं जन्मना स्वत्वं गमयति । यथा परमते मणिसुक्ताप्रवालादीनां-
पैतामहानामपि पितुरेव स्वत्वं स्मरणात्, तथास्मिन् सर्वेऽपि पुत्रादीनां तत्र-
जन्मना स्वत्वे साधारणेऽपि पितुर्दानाधिकार इत्यविशेषः । तस्मात् पैत्रके-
पैतामहे च द्रव्ये पुत्रादीनां यद्यपि जन्मनैव स्वत्वं, तथापि पितुरावश्यकेषु-
धर्मैकतयेषु वाचनिकेषु च प्रसाददानकुटुम्बभरणापह्निसौचादिषु च स्थावर-
व्यतिरिक्तद्रव्यविनियोगे स्वातन्त्र्यं तुल्यमेव ।

“स्थावरं द्विपदं चैव यद्यपि स्वयमर्जितम् ।

असम्भूय सुतान् सर्वान् न दानं न च विक्रयः ॥

ये जाता येऽप्यजाताश्च ये च गर्भे व्यवस्थिताः ।

वृत्तिं च तेऽभिकाङ्क्षन्ति न दानं न च विक्रयः” ।

इत्यादि वचनात् ।

यच्च स्वत्वस्य शास्त्रैकसमधिगम्यत्वाच्छास्त्रे च जन्मनः कापि स्वत्वहेतुता-
नभिधानात् कथं जन्मना पुत्रादिधने स्वत्वस्वीकार इत्युक्तम् । तत्तु शास्त्रैक-
समधिगम्यत्वमभ्युपेत्यापि गौतमादिवचन—उत्पत्तेरपि स्वलोपायत्वोक्तेः-
परिहृतमेव प्राक् । वस्तुतस्तु न स्वत्वस्य शास्त्रैकसमधिगम्यत्वं युक्तियुक्तं ।
सर्वथा शास्त्रज्ञानरहितानां प्रत्यन्तवासिनां स्नेच्छादीनामपि समस्तमिदमन्यस्य-
स्वमिति व्यपदेशस्तत्कृतञ्च क्रयविक्रयादिव्यवहारो दृश्यते । तेनान्वय
व्यतिरेकाभ्यां क्रयाद्युपायकं स्वामित्वनिरूपितस्वत्वमपि तैर्यथेष्टविनि-
योगार्हत्वरूपं पदार्थान्तररूपं वा प्रत्यक्षादिप्रमाणादेवावगतमित्यवश्यं वाच्यम् ।

एतत्तर्कोपपन्नोऽनुमानवाक्यप्रयोगोऽपि विज्ञानयोगिनोक्तः स्वत्वं लौकिकं-
लौकिकार्थक्रियासाधनत्वात् ब्रौह्मादिवदित्यन्वयदृष्टान्तः । आहवनीयादीनां-
हि शास्त्रैकसमधिगम्यानां न लौकिकार्थक्रियासाधनत्वमस्तीति व्यतिरेक-
दृष्टान्तः ।

तेनान्वयव्यतिरेको हेतुः, यद्यप्याहवनीयादीनामपि यागादिलौकिक-
क्रियासाधनत्वमप्यस्ति, तथापि तन्नोक्तप्रमाणकाग्न्यादिरूपेण नालौकिकाह-
वनीयादिरूपेणेति न व्यभिचारः ।

इह तु सुवर्णादिरूपेण न क्रयादिसाधनत्वं अपितु स्वत्वेनैवेति ।
सुवर्णत्वादिनाभरणाद्यर्थक्रियासाधनत्वात्, तद्वयया लौकिकं रूपमेवं स्वत्व-
मपि सर्वानुगतं लौकिकमेव न ह्यस्वेन क्रयादिक्रियानिर्वाहो लोके ।

स्वामी रिक्येत्यादिवचनन्तु प्रागेव व्याख्यातम् । रिक्यशब्दस्तु निष्प्रति-
बन्धदायपरः, सखिभागशब्दश्च सप्रतिबन्धदायपर—इति मितान्तरायां-
विज्ञानेश्वरेण व्याख्यातम् । स्मृतिचन्द्रिकाकृता तु रिक्यं पित्रादिधने विशेष-
निष्ठस्वामित्वसम्प्रादको विभाग इति सखिभागशब्दो व्याख्यातः । तन्न स्वस्य-
सतो विभागात् स्वत्वहेतुत्वेन तत्प्रतिपादनानौचित्यात् एकदेशव्यवस्थापनमात्रं-
हि स्वत्वस्य विभागेन क्रियते । मुख्यामुख्यसेतुत्वग्रहणे स्वामिपदे वैरूप्यापत्तेः ।
अतएवाह-मितान्तरायां विज्ञानेश्वराचार्यः । विभागशब्दश्चानेकस्वामिकधन-
विषयः प्रसिद्धो नान्यदीयविषयो न प्रह्नीणविषय इति । लोके पुत्रादीनां-
जन्मनैव स्वत्वं प्रसिद्धतरमिति च । यदपि पत्नी दुहितरश्चेत्यादिवचनं-

तथापि स्वामिसम्बन्धनिबन्धनानेकदायहरप्राप्तौ लोकप्रसिद्धेऽपि स्वत्व-
व्यामोहनिरासार्थम् । प्रायेण व्यवहारस्मृतीनां लोकसिद्धान्तानुवादकत्व-
मिति सकलनिबन्धभिरभिधानात् । नियतौपायिकं स्वत्वं लोकसिद्ध-
मेवेति भगवतो गुरोरपि सम्मतम् । लिप्सानये हि तृतीये वर्णके द्रव्यार्जन-
नियमानां क्रत्वर्थत्वे स्वत्वमेव न स्यात् स्वत्वस्यालौकिकत्वादिति पूर्वपक्षा-
सम्भवमाशङ्क्य द्रव्यार्जनप्रतिग्रहादीनां स्वत्वसाधनत्वं लोकसिद्धमेवेति
पूर्वपक्षः समर्थितस्तेन, नच द्रव्यार्जनस्य क्रत्वर्थत्वे स्वमेव न भवतीति
याग एव न वर्त्तेत । प्रलपितमिदं केनापि । अर्जनं स्वत्वं नापादयतीति-
विप्रतिषिद्धमिति ग्रन्थेन ।

अस्यार्थः टीकाकृता विवृत एवं, यदा द्रव्यार्जननियमानां क्रत्वर्थत्वं,
तदा नियमानां स्वलोपायतामिदं शास्त्रं न बोधयति । क्रत्वर्थताबोधने-
व्यावृत्तत्वात् । तथा सति प्रतिग्रहादिप्राप्तस्य स्वत्वमित्यत्र प्रमाणाभावाद-
स्तेन च स्वत्यागलकयागासम्भवात् कस्येदं द्रव्यार्जननियमा भवेयुरिति-
पूर्वपक्षासम्भव इति शङ्कार्थः । प्रलपितमित्यादुरन्तरस्तस्यार्थः । अर्जन-
प्रतिग्रहादेः स्वत्वहेतुताया—लोकसिद्धत्वेन शास्त्रस्य तत्राव्यापारान्नियमानां-
क्रत्वर्थतैव तेन गम्यत इति न यागासम्भवो—नियमानर्थक्यं चेति ।

सिद्धान्तेऽपि तेन स्वत्वस्य लौकिकत्वाभ्युपगमनैव विचारप्रयोजनमुक्तम् ।
अतो नियमातिक्रमः पुरुषस्य न क्रतोरिति । अस्याप्यर्थ एवं विवृतः । यदा-
द्रव्यार्जननियमानां क्रत्वर्थत्वं, तदा नियमार्जितेनैव क्रतुर्न नियमाति-
क्रमार्जितेन द्रव्येण, नतु पुरुषस्य नियमातिक्रमदोषः पूर्वपक्षे । सिद्धान्ते-
त्वर्जननियमस्य क्रत्वर्थत्वाभावात् केवलपुरुषार्थत्वादतिक्रमार्जितेनापि-
द्रव्येण क्रतुसिद्धिरप्रत्यूहा । अनेन नियमातिक्रमार्जितस्य स्वत्वमभ्युपगत-
मन्यथा क्रतुसिद्धरभिधानविरोधात्, तत्रैवाधिकरणे कुमारिलस्वमिनाऽप्यत्र-
भवतः स्वत्वं लौकिकमित्येवाभिमतमिति । तत्रत्यवार्त्तिकं तन्वरत्नाभियोग-
भाजां सुलभमेव ।

ततश्च स्वामीरिक्त्येत्यादिवचसां लौकिकमेव रिक्त्यादीनां स्वलोपायत्व-
मनुद्य तदतिरिक्तोपायनिवृत्तौ तात्पर्यं नियमविधयेति नानार्थक्यशङ्कापि,-

हृत्तिसाधनभोजनाश्रितदिङ्नियमवत् । द्रव्यार्जनमेव क्रत्वर्थपुरुषार्थत्वविचारोदाहरणं, नियमस्तु पूर्वपक्षयुक्तितयोपन्यस्तः । स एव तत्रोदाहरणमित्येव भट्टगुरुमतयोर्भेदः । स्वत्वस्य लौकिकत्वं तूभयसम्मतमिति निष्कर्षः । तत्तद्दूषणभूषणादि तु तन्त्राभियोगवतामाकरे एव व्यक्तं प्रस्तुतानुपयोगादिह-
नोच्यते । एतेन चौर्यादिप्राप्तस्यापि स्वत्वं स्यादिति यत् संग्रहकारधारे-
श्वराभ्यां स्वत्वस्य लौकिकत्वे दूषणमभिहितं तदपि परास्तं । चौर्यादिषु-
स्वत्वोपायत्वस्य लोक एवाप्रसिद्धेरन्यस्य स्वमिदं नास्तीत्येवं व्यवहारात् ।
क्रयाद्युपायसन्देहादेव स्वत्वसन्देहोऽपीदमस्य वास्य वेत्याकारको नानुपपन्नः ।
सम स्वमनेनापहतमिति न ब्रूयादपहर्तुरेव स्वत्वादिति च यत् स्वत्वस्य-
लौकिकत्वे दूषणमभिहितं, तदप्येतेनालूनविशीर्णम् ।

अत्र मिताचरायां स्वत्वलौकिकालौकिकविचारप्रयोजनमुक्तम् ।

शास्त्रैकसमधिगम्ये स्वत्वे,—

मनुः,—

“यदुर्गर्हितेनार्जयन्ति कर्मणा ब्राह्मणा धनम् ।

तस्योत्सर्गेण शुद्ध्यन्ति जपेन तपसैव च ॥” इत्यादि—

स्मरणादसत्यप्रतिग्रहादि यस्य यदर्जनोपायत्वेन निषिद्धं तदर्जितं तस्य-
स्वत्वाभावाच्चौर्याद्यर्जितवत् तत्पुत्राणामपि तदविभाज्यमेव । लौकिकत्वे-
तु स्वत्वस्य तदर्जितेऽपि पितुः स्वत्वात् तत्पुत्राणां पितृधनत्वेन तद्विभाज्यम् ।
अर्जयितुरेव प्रतिषेधातिक्रमनिमित्तप्रत्यवायात् प्रायश्चित्तम् । तत्पुत्रादीनां-
तु दायरूपधर्मापायतस्तत्स्वमिति न प्रायश्चित्तमपि ।

“सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः ।

प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्यप्रतिग्रह एव वा” ॥

इति मनुस्मरणात् ।

प्रयोगो वृद्धार्थं द्रव्यप्रयोगः, कर्मयोग आर्त्तिज्यादिकरणम् । तत्र दाय-
दीनां त्रयाणां वर्णचतुष्टयसाधारण्येन, जयस्य क्षत्रियं प्रति प्रयोगस्य स्वयं-
कृतस्य वैश्यं शूद्रश्च प्रति धर्म्यत्वं । अस्वयंकृतस्यापि च स्वयंकृतस्यापि सर्वान्-

प्रति, कर्मयोगस्य तु विप्रं प्रत्येवेति विशेष इति, लौकिके तु तस्मिन् लोके-
तेषामपि तदुपायत्वात् सिद्धं तद्विभाज्यत्वमिति मितान्तरोक्तं साध्वेव प्रयोजनम् ।
इदञ्चोपलक्षणं, पूर्वपक्षे चौर्ध्वाद्यर्जितपितृधनस्वीकारे यथा पुत्रादीनामपि-
दण्डप्रायश्चित्तं भवत्येव, तथाऽसत्यप्रतिग्रहादर्जिततदग्रहणेऽपीत्यपि प्रयोजन-
मवश्यं अर्जयितुरेव प्रायश्चित्तमित्यवधानेनोचितत्वात् ।

अपरञ्च, पैत्रादिधने जन्मना स्वत्वं न केवलं शास्त्रानुमोदिनं; किन्तु-
सुयुक्तिसुसिद्धमेव । तदन्यथास्वीकारे शास्त्रज्ञानविरहितस्य विलासपरतन्त्रस्य-
स्वकार्यपरिचालनाद्यकुशलस्य जनकस्य स्वीयसम्पत्परिचालनाशक्ततया-
विलयमुपगतायां सम्पदि द्विविधायां भवेत्तनयव्रातं दारिद्र्याभिभूतमेव ।
अतएव जन्मना स्वत्वसम्पादनं युक्ततरम् । सति तत्र तेषां जन्मनैव स्वत्वे-
पितुरेव स्वातन्त्र्येण विलोपयितुमक्षमत्वात् । अतो जन्मना स्वत्वस्वीकारे तु-
सर्वमनाकुलमित्यादि सुधीभिरुच्येयम् । अतएव मितान्तरोक्तौ पूर्वस्वामि-
सम्बन्धाधीनं यद्धनं तत्र स्वत्वमन्यस्य तदेव दायशब्दवाच्यमित्युक्तं, न तु पूर्व-
स्वाम्युपरमोऽपि तत्र प्रवेशितः । तत्सिद्धं द्विविधो दाय इति ।

मितान्तरोक्तविभागकालत्रयसमर्थनन्तु तत्प्रस्तावे प्रपञ्चयिष्यामः ।

इत्यलं प्रसक्तानुप्रसक्तविचारेणेति ।

इति दायभागादिस्वत्वान्तनिरूपणम् ।

अथ विभागकालकर्त्तृनिरूपणम् ।

तत्र मनुः,—

“ऊर्द्धं पितुश्च मातुश्च समेऽत्र भातरः समम् ।

भजेरन् पैत्रकं रिक्त्यमनीशास्ते हि जीवतोः” ॥

पैत्रकं पित्रोः सम्बन्धि प्रागुभयोपादानात् । अतएव पितरुर्द्धमिति-
पितृधनविभागकालः । मातरुर्द्धमिति मातृधनविभागकालोऽभिहितः ।

चक्षुस्त्वु कालान्तरसमुच्चयार्थः, न तु द्वयोरुर्ध्वमिति नियमार्थः, पितृधन-
विभागे मातृजीवनस्याप्रतिबन्धकत्वात् । मातृधनविभागे पितृजीवनस्य ।

तथाचाह संग्रहकारः—

“पितृद्रव्यविभागः स्याज्जीवन्यामपि मातरि ।

न स्वतन्त्रतया स्वाभ्यं यस्मान्मातुः पतिं विना ॥

मातृद्रव्यविभागोऽपि तथा पितरि जीवति ।

सत्स्वपत्येषु यस्मान्न स्त्रीधनस्य पतिः पतिः” ॥ इति ।

पत्नुरभावेऽपि पुत्रेषु सत्सु यतो मातुस्तदने स्वातन्त्र्येण स्वाभ्यं नास्त्यतस्तस्यां-
जीवन्यामपि पितृधनविभागो युक्तः, यतश्चापत्येषु सत्सु भार्याधने पत्युः स्वाभ्या-
भावस्ततस्तस्मिन् जीवत्यपि पुत्राणां मातृधनविभागाधिकार इति भावः ।

अतश्चानीशास्ते हि जीवतोरित्यपि तत्तदने व्यवस्थया अस्वातन्त्र्यप्रति-
पादकं जन्मना स्वत्वस्य पुत्राणां पितृधने व्यवस्थापनात् ।

याज्ञवल्करः, —

“विभागश्चेत् पिता कुर्यात् स्वेच्छया विभजेत् सुतान् ।

ज्यं हं वा श्रेष्ठभागेन सर्वं वा स्युः समांशिनः” ॥

अत्रेच्छया पिता सुतान् विभजेदिति वदन् जीवत्यपि पितरि पितुरिच्छा-
यदा सोऽपि विभागकालः—इति सूचयति । तदा च पितैव विभागकर्त्ता ।

“अस्वाभ्यं हि भवेदेषां निर्दोषे पितरि स्थिते” ।

इत्यनेन पुत्राणां अस्वातन्त्र्यप्रतिपादनात् । निर्दोषे इति विशेषणात्-
पातित्वादिदोषवति सत्यपि पितरि पुत्राणां तत्पारतन्त्र्याभावादिच्छा यदा-
सोऽपि विभागकालः पुत्राणाञ्च तदा विभागकर्तृत्वमित्युक्तं भवति ।

अन्योऽपि पुत्रेच्छया विभागकालः पितरि द्रव्यनिष्ठे निवृत्तमरणे-
मातरि च निवृत्तरजस्कायाम् ।

यथाह नारदः,—

“अत ऊर्ध्वं पितुः पुत्रा विभजेयुर्जनं समं” । इति ।

पितोरुद्धं विभागमुक्त्या,—

“मातुर्निवृत्ते रजसि प्रत्तासु भगिनौषु च ।

निवृत्ते वापि मरणात् पितर्युपरतस्पृहे” ॥ इति ।

जीमूतवाहनेन तु “विनष्टे वाप्यशरण” इति पाठो लिखितः । विनष्टे-
पतिते अशरणे गृहस्थाश्रमरहित—इति व्याख्यातञ्च निवृत्ते वापि मरणा-
दिति पाठान्तरमनाकरमित्यप्युक्तं, तदुक्तं मिताक्षरादिवहुनिबन्धलिखितत्वात् ।

पुत्रा धनं विभजेयुरित्यनुषङ्गः ।

गौतमोऽप्युद्धं पितुः पुत्रा रिक्त्यं विभजेरन्नित्युक्त्वा निवृत्ते चापि रजसि-
मातु जीवति चेच्छतीत्याह ।

वृहस्पतिरपि,—

“पित्रोरभावे भ्रातृणां विभागः सम्प्रदर्शितः ।

मातुर्निवृत्ते रजसि जीवतोरपि दास्यत” —इति ।

तथा सरजस्त्रायामपि मातर्यनिच्छत्यपि पितरि दीर्घरोगग्रस्तेऽधर्म-
वर्तिनि पुत्रेच्छया विभागः । यथाह शंखः “अकामे पितरि रिक्त्यविभागो-
वृद्धे विपरीतचेतसि रोगिणि चेति ।

नारदोऽपि,—

“व्याधितः कुपितश्चैव विषयासक्तमानसः ।

अयथाशास्त्रकारी च न विभागे पिता प्रभुः” ॥ इति ।

अत्र पितुपरम एकः कालो निवृत्ते रजसीति द्वितीयो जीवति चेच्छ-
तीति तृतीय-इति—

मिताक्षरायां जीभूतवाहनोक्तं दूषणं, मातरजोनिवृत्तेः पितुपरतस्पृहत्वं
विशेषणत्वे ।

“त्रिंशवर्षो वहेत्-कन्यां हृद्यां द्वादशवर्षिकीं ।

व्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मं सौदति सत्वरः” ॥ इति ।

मनुना विवाहकालविधानात्, वनं पञ्चाशतो ब्रजेदित्याश्रमान्तरगमन-
कालविधानाच्च । तदा रजोनिवृत्तेर्मातुरसम्भवे पितरि वोपरतस्यहे-
वानप्रस्थे तत्पुत्राणामिच्छया विभागाभावप्रसङ्गात् । निर्विशेषणमुपरत-
स्यहत्वमेव पितृधनविभागकाल इति तूच्यमाने अनुपरतस्यहे पितरि पतिते-
ऽप्यविभागप्रसङ्गात् अयमप्यपरः कालः, काल इत्यभिधाने कालचतुष्टयापत्तिः-
पितरुपरमः पतितत्वं ; निष्पृहत्वमिच्छा चेति, तस्मात् पतितत्वनिष्पृहत्वे-
च्छोपरमैः पितुः स्वत्वापगम—एकः कालोऽपरश्च सति तत्सत्वे तदिच्छात-
इति कालद्वयमेव युक्तम् ।

तस्मिन्नाक्षराक्षदाशया परिज्ञानात् । नहि तेन कालत्रयनियमो-
ऽभिहितः । तथेत्यादिग्रन्थेन कालान्तरस्यानुपदमेव प्रतिपादनात् । नियमस्य-
निर्जीवत्वात् पितृस्वत्वापगम एकः कालोऽपरश्चानपगत एव पितृस्वाम्ये-
तदिच्छात इति कालद्वयमित्यप्युक्तं । निवृत्तरजस्कायां मातरि त्वनन्वयापत्तेः-
न हि मातृनिवृत्तरजस्कतामात्रेण पितृस्वत्वापगमः । जन्मना स्वत्वाव-
स्थापनात् पितृस्वत्वापगमस्य कालोपलक्षणत्वासभावाच्च, एवं दीर्घरोगग्रस्त-
त्वेऽपि न स्वत्वापगम इति कालद्वयनियमस्तथापि दुःसमाधः । इष्टापत्तौ-
तद्वचनविरोधः ।

यद्योक्तं तेनैव । मातुर्निवृत्ते रजसीति पितामहादिधनाभिप्रायः । निवृत्ते-
रजसि पुत्रान्तरसम्भवाभावात्तदानीमपि पितुरिच्छयैव पुत्राणां विभागः ।
अनिवृत्ते रजसि क्रमागतधनविभागे पञ्चाज्जातानां वृत्तिलोपापत्तेः । न-
चासौ युक्तः ।

“ये जाता येऽप्यजाताश्च ये च गर्भे व्यवस्थिताः ।

वृत्तिं च तेऽभिकाङ्क्षन्ति वृत्तिलोपो न विद्यते” ॥

इति वचनात् ।

यत एव पितृधने कालद्वयमतएव मनुगौतमादिभिर्मृतपदम् परित्यज्योर्ह-
मित्युक्तं, ऊर्द्धं पितुः स्वत्वापगम इत्यर्थः । यदि चास्य पितृधनविषयता स्यात्-
तर्ह्यूर्द्धं विभागाज्जातसु पैत्र्यमेव हरेद्वनमित्यस्य निर्विषयता भवेत् । निवृत्ते-

रजसि पुत्रोत्पत्त्यसम्भवात्, मातृधनगोचरत्वं चास्य नाशङ्कनीयमेव । मातुरेव-
निर्हन्तृत्वापत्तेः । अतो निवृत्ते रजसीति पेटामहधनविषयं, न चेच्छा-
मनपेक्ष्य रजोनिवृत्तिमात्रं विभागनिमित्तं सम्भवत्यनिच्छया विभागाभावात् ।
कस्येच्छयेत्यपेक्षयामूढं पितुः पुत्रा रिक्त्यं विभजेयुर्निवृत्ते रजसि मातुर्जीवति-
चेच्छतीति गौतमवचनात् पितुरेवेच्छात इति निर्णीयत इति पितामहादिधन-
विभागस्यापि पित्रोरभाव इत्येकः कालः, मातुर्निवृत्ते रजसि पितुरिच्छात-
इति कालद्वयम् ।

तदप्यनभियुक्तप्रमोदनं, वृत्तिलोपापत्तेः पितृधनेऽपि तुल्यत्वात् । जहं-
विभागादित्यस्य निर्विषयत्वापत्तेरपि पितामहादिधनेऽपि तुल्यत्वात् ।
ससृहे पितरि पातित्यादिदुष्टे पितामहधनेऽपि पुत्रेच्छया विभागस्य सकल-
सम्पत्तत्वादवश्यवाच्यत्वाच्च । वस्तुतस्तु पितामहादिधने भूर्यापितामहो-
पात्तेत्यादिना सदृशस्य पितापुत्रस्वाम्यस्य वक्ष्यमाणत्वात् पुत्रेच्छयापि तस्य-
विभाग उचित एव । यत्त्वत्र व्याख्यानान्तरभनीशत्वस्य तदनगोचरत्वादि-
कल्पनं तत्सर्वं तद्वचनविवेचने निराकरिष्यामः ।

वयं तु स्वातन्त्र्यार्हे पितरि जीवति तदिच्छेव विभागनिमित्तं पारिव्रज्या-
दिभिस्तदनर्हे पुत्रेच्छापि, तदुपरमे तु स्वेच्छया निमित्तत्वमर्थसिद्धिमिति-
कालत्रयमेवानेन प्रकारेण ; अन्यथा बहूनामुपरतसृष्टत्वादीनां विकल्प-
समुच्चयादिकल्पनानुपपत्तौ विशेषणविशेष्यभावाद्यव्यवस्थापत्तौ बहुव्याकुली-
भावः । अतएव क्वचिद्वचने केषांचिदेवोपादानमनुपादानञ्च केषाञ्चित्-
संगच्छते । एकमूलकल्पनालाघवेनोपरतसृष्टत्वादिभिः पितुः स्वातन्त्र्य-
भावस्यैकस्य सर्वरूपलक्षणात्, अनीशास्तेहि जीवतोः, निर्दोषे पितरि स्थिते ।
जीवतोरपि शस्यते—इत्यादि वचनस्वरसोऽप्येवमेव ।

अतएव पित्रोर्जीवतोभ्रातृणां सहवासो मुख्यस्तदनुसत्यादिना ज्येष्ठस्य-
कार्यक्षमस्य वा पुत्रस्य स्वातन्त्र्यमन्येषां तदनुरोधवृत्तित्वमिति च पक्षद्वय-
मुक्तवन्तो व्यासादयः । भ्रातृणां जीवतोः पित्रोः सहवासो विधीयते इति-
व्यासः । जीवति पितरि पुत्राणामर्थादानविसर्गाच्चेपेभु न स्वातन्त्र्यं । कामं-
दीने प्रोषिते आर्त्तिं गते ज्येष्ठो वार्थाञ्छिन्त्येदिति हारीतः । शङ्कन्निखितौ तु-

सष्टतममाहतुः । पितर्यशक्ते कुटुम्बव्यवहारान् ज्येष्ठः प्रतिकुर्यादनन्तरो वा-
कार्यज्ञस्तदनुमतो न त्वकामे पितरि रिक्त्यविभागी ब्रूवे विपरीतचेतसि-
दीर्घरोगिणि वा ज्येष्ठ एव पितृवदर्थान् पालयेदितरेषाम्निव्यमूलं हि कुटुम्बम-
स्तन्नाः पितृमन्वी मातुरप्येवमवस्थिताया इति ।

तस्माद् यथोक्तरीत्या विभागस्य कालत्रयमेवेति ब्रूमः ।

तथापि, यथा च पितृजीवितोभ्रातृणां सहवासो मुख्यस्तथा तदूर्ध्वमपि ।
तथाच शङ्कलक्षितो । “कामं सहवसेयुरेकतः संहता वृद्धिमापद्येरन्निति” ।
संहताः सहवसन्तो द्रव्योपचयसाहाय्यादिना परस्परकृतेन वृद्धिमाप्नुयुरित्यर्थः ।

नारदोऽपि,—

“विभृयाद्वैकतः सर्वान् ज्येष्ठो भ्राता यथा पिता ।

भ्राता शक्तः कनिष्ठो वा शक्त्यपेक्षा कुलस्थितिः” ॥

शक्तः सन् कनिष्ठोऽपि सर्वान् विभृयात् मध्यमो दण्डापूपन्यायात्सिद्धः ।
इति जीसुतवाहनः ।

मनुरपि,—

“ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात् पितरं धनमशेषतः ।

शेषास्तमुपजीवियुयैव पितरं तथा ॥

जेष्टेन जातमात्रेण पुत्री भवति मीनवः ।

पितृणामनृणञ्चैव स तस्मात्-सर्वमर्हति ॥

यस्मिन्नृणं सन्नयति येन चानन्यमश्नुते ।

स एव धर्मजः पुत्रः कामजानतरान् विदुः ॥

पितेव पालयेत्-पुत्रान् जेष्टो भ्रातृन् यवीयसः ।

पुत्रवच्चापि वर्त्तेरन् जेष्टे भ्रातरि धर्मतः ।

जेष्टः कुलं वर्द्धयति विनाशयति वा पुनः ।

जेष्टः पूज्यतमो लोके जेष्टः सद्भिरिहार्हितः ॥

यो जेष्ठो जेष्ठवृत्तिः स्यान्मातेव स पितेव सः ।

अजेष्ठवृत्तिर्यस्तु स्यात् सम्यक्पूज्यस्तु बन्धुवत् ॥

यो लोभाद्धि न कुर्वीत जेष्ठो भातृन् यवौयसः ।

सोऽजेष्ठः स्यादभागश्च नियन्तव्यश्च राजभिः” ॥ इत्यादि—

वचननिचयाहुणज्येष्ठवशवर्त्तितया सर्वेषां सहवासः प्रशस्तः । पञ्च-
अयणस्यास्यानापदि अयस्करत्वेऽपि विशेषतो विपद्यानुकूल्यधायकतया समये-
ऽस्मिन् तदाश्रयणं प्रशस्ततरमिति निर्गलितार्थः, तादृशानुष्ठाने सम्यदो बहु-
व्यक्तिकरगतत्वाभावेन विपत्त्यसम्भवात् ।

ननु स्वस्वप्राधान्यस्थापनाभिलाषितया स्नेहत्वेन वा साकं गुणवज्येष्ठेन-
संवसितुमनिच्छन्तस्तदन्ये भ्रातरो भवेयुर्विभागार्हा इति—

चेन्न, प्राधान्याभिलाषस्य वा स्नेहत्वस्याधार्मिकविषयत्वात् धर्मवृद्धि-
कामनया मन्वादिधर्मशास्त्रप्रतिपादितविभागार्हत्वाच्च । अतः पृथक् सदानाव-
स्थानेऽपि केवलं यथास्व स्तुर्ग्रासाच्छादनभागिनः ।

अनुमोदते मनुरप्येतत्,—

“एवं सहवसेयुर्वा पृथग्-वा धर्मकाम्यया” । इति ।

“एवमविभक्ता भ्रातरः सह संवसेयुः यदि वा धर्मकामनया कृतविभागाः-
पृथक् पृथक् पञ्चमहायज्ञाद्यनुष्ठानधर्मस्तेषां वर्तते तस्माद्विभागक्रिया धर्मार्था-
इति कुल्लूकभट्टव्याख्यानम् ।

तथाह स एव,—

“शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा” । इति ।

तथाच कुल्लूकभट्टः,—कनिष्ठाः पुनर्ज्येष्ठं भक्ताच्छादनाद्यर्थं पितरमिवोप-
जीवेयुः । तथैव परिदृश्यते भारतीयराजपरिवारवर्गे व्यवहारः ।

यच्चाप्राप्तव्यवहारानामविदितगुणवज्येष्ठत्वानां बालानामाव्यवहारप्राप्ते-
स्तथाऽऽगुणवज्येष्ठत्वपरिचयाच्च व्यवहारकुशलबन्धुमित्रादिषु विन्यस्यं सम्यक्-
जातमेव । अतएव विभागं प्रकम्याह कात्यायनः,—

“अप्राप्तव्यवहाराणां धनं व्ययविवर्जितं ।

न्यसेयुर्वन्धुमित्रेषु प्रोषितानां तथैव च” ॥

तथा रक्ष्यं बालधनमाव्यवहारप्राप्तेरति वचनं” ।

विभागानुष्ठानं तु द्वितीयः पक्षः, स तु धर्मकामनामूलकः न लब्धयात्मकः, यथा,—धर्मवृद्धिकामनया तु विभागः कार्य इत्याह तुर्मनुप्रजापती, एवं-पृथग्-वा धर्मकाम्यया, पृथक्-विवर्तते धर्मस्तस्माद्धर्म्या पृथक्-क्रिया । धर्मश्च-देवाद्यर्चनरूपस्तस्यैव सहवासे पृथक्-श्रवणात् ।

तथाच वृक्षस्थितिः,—

“एकपाकेन वसतां पितृदेवद्विजार्चनं ।

एकं भवेद्विभक्तानां तदेव स्यात् गृहे गृहे” ॥ इति ।

यत्तु संग्रहकारेणाग्निहोत्रादिधर्मवृद्धिरपि धर्मवृद्धिशब्देन गृह्यत इत्युक्तं ।

यदाह,—

“क्रियते स्वं विभागेन पुत्राणां पैतृकं धनं ।

स्वत्वे सति प्रवर्तन्ते तस्माद्धर्म्याः पृथक् क्रियाः ॥” इति ।

प्रवर्तन्ते साध्यन्ते अग्निहोत्रादिक्रिया—इति विशेष इति । तत्तु जन्मनैव पुत्राणां-पितृधनस्वत्वाद्विभागात् प्रागपि श्रौतस्मार्त्तकर्मणाधिकारं प्रतिपादयद्भिरस्माभिः-प्रागेव प्रत्यासि । तस्मात् पञ्चमहायज्ञादिधर्म एव धर्मशब्देनात्र ग्राह्यः ।

दत्तास्तु भगिनीषु चेति तु न कालार्थं किन्तु तासामवश्यं दानार्थं ।

यथा—

“यच्छिष्टं पितृदायेभ्यो दत्तं पैतृकं ततः ।

भ्रातृभिस्तद्विभक्तव्यमृणी न स्याद्-यथा पिता ॥” इति ॥

नारदवचनमृणादानावश्यकत्वार्थं न विभागकालार्थं ।

पिता च यदि स्वेच्छया पुत्रान् विभजति तदापि निरङ्कुशेच्छा-नोपादेया । किन्तु ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन सर्वे वा स्युः समांशिन इति । पक्षयोर्मध्ये यः पक्ष इष्टः स ग्राह्य इति योगीश्वरवचनार्थः ।

ज्येष्ठं श्रेष्ठभागेन, मध्यमं मध्यमभागेन, कनिष्ठं कनिष्ठभागेन, सर्वे वा-
ज्येष्ठादयः समांशभाजः कार्य्या इति विज्ञानेश्वराचार्याः ।

यत्तु,—

“न्यूनाधिकविभक्तानां धर्म्याः पितृकृतः स्मृतः” । इति ।

योगीश्वरवचनं, तदपि धर्म्यां धर्मादनपेतयेत् पित्रा कृतः कृत— एव-
स्मृतो न निवर्तते । अधर्मस्त्वयथाशास्त्रकृतो निवर्तते एवेत्यभिप्राय इति-
विज्ञानयोगिभिरेव व्याख्यातं । व्याधितः कुपितश्चैवेत्यादिवचनानुरोधात् ।

एवं,—

“समन्यूनाधिका भागाः पित्रा येषां प्रकल्पिताः ।

तथैव ते पालनीया विनेयास्ते स्युरन्यथा ॥

पितैव तु विभक्ता ये समन्यूनाधिकैर्धनैः ।

तेषां सएव धर्म्यः स्यात् सर्वस्य हि पिता प्रभुः” ॥ इति ।

ब्रह्मसूत्रि—नारदवचने अपि व्याख्येयश्रेष्ठादिविभागेऽपि पित्रा-
ज्येष्ठादिभ्यो दत्तेऽन्यैरनुशयो न कार्य्यः । समांशविभागे वा ज्येष्ठादिभि-
रिति तात्पर्य्यार्थः । अतएव नारदस्तेषां स एव धर्म्यः स्यादित्याह । श्रेष्ठादि-
भागश्च मनुनोक्तः ।

“जेष्ठस्य विंश उद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद्वरम् ।

ततोऽर्द्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयन्तु बनीयसः” ॥ इति ।

समांशपक्षं बोधायन आह । मनुः पुत्रेभ्यो दावं व्यभजदिति श्रुतौ-
विशेषाश्रयनात् सर्वेषां पुत्राणां समोऽंश इत्यर्थः ।

यदि पिता स्वेच्छया समांशेन पुत्रान् विभजते तदा स्वपत्नीभ्यः पुत्र-
सममंशं दद्यादित्याह याज्ञवल्क्यः,

“यदि कुर्यात् समानंशान् पत्न्यः कार्य्याः समांशिकाः ।

न दत्तं स्त्रीधनं यासां भर्त्रा वा प्रवशुरेण वा” ॥

यासां भर्त्ता स्वशुरेण वा स्त्रीधनं प्रीत्यादिना न दत्तं । भर्त्तादिग्रहण-
मुपलक्षणञ्च वक्ष्यमाणस्त्रीधनशून्या इत्यर्थः । तासां पत्नीनां पुत्रसमांशभाग-
मात्रं नियम्यते । तथाच यदा श्रेष्ठभागादिनापि पिता पुत्रान् विभजति-
तदापि श्रेष्ठभागादुद्धृतोद्धृतोद्धारात् द्रव्यसमुदायात् पुत्रसमानेवांशान् पत्न्यो-
लभन्ते, न स्वज्येष्ठभागादिकमित्यर्थः पर्यवस्यति ।

यस्तु पत्न्याः स्त्रीद्वारः परीभाण्डादिस्तमपि पत्नी लभते । तथा-
चापस्तब्धः “परीभाण्डं च गृहेऽलङ्कारो भार्याया इति” परीभाण्डं भोजन-
पात्रादि यदसाधारणं यस्या अलङ्कारोऽप्यसाधारणस्तद्विवेचयिष्यते । न च-
पक्षद्वयेऽप्येतावता पुत्रसमांशित्वं पत्नीनां विज्ञानिष्वरेणोक्तं तर्हि यदि कुर्यात्-
समानंशानिति समांशानुवादो व्यर्थः पत्न्यो ज्येष्ठांशादि न लभन्ते इत्येताव-
न्मात्रमेव वाच्यमिति युक्तं । यत एव समुद्धृतोद्धारे समानंशान् प्रकल्पयेत् ।

“उद्धारेऽनुवृत्ते त्वेषामियं स्यादंशकल्पना ।

एकाधिकं हरेज्ज्येष्ठः पुत्रोऽध्यर्हं ततोऽनुजः ॥

अंशमंश यवोयांस इति धर्मो व्यवस्थितः” । इति ।

मनुना हंग्रौ वा पूर्वजः स्यादेकैकमितरेषामिति । गौतमेन, अथ-
भ्रातृणांदायभागो हंग्रौ हरेज्ज्येष्ठो गवाश्वस्य चात्र दशममजावः यो गृहञ्च-
कनिष्ठस्य कर्णायसं गृहीपकरणानि च मध्यमस्येति ।

वशिष्टेन,—

“जेष्ठस्यांशोऽधिको देयः कनिष्ठस्य वरः स्मृतः ।

समांशभाजः श्रेष्ठाः स्युरप्रप्ता भगिनौ तथेति” ॥

नारदेन चोद्धारवृत्ते विषमभागमात्रमुक्तं ; तद्-यदा क्रियते तदा-
पत्नीनामंशाभावप्रतिपादनार्थं यदि कुर्यात् समानंशानित्युक्तमिति न दोषः ।

अतएव,—

“भ्रातृणामविभक्तानां यद्युत्थानं भवेत् सह ।

न तत्र विषमं भागं पिता दद्यात् कथञ्चनेति” ॥

मनुना नर्वेषां भ्रातृणां द्रव्यार्जने यदि सह समानमेवोत्थान—सुद्योगो-
भवेत्तदा पितुर्विषमविभागदानप्रतिषेधकमनुवचनव्याख्याने जीभूतवाहने-
नोक्तमुद्धारस्तु पित्रा दातव्य एव । तस्य विभागरूपत्वाभावात्, न्यूनाधिक-
विभागस्यैव निषेधादिति, तस्माज्जगृहं वा श्रेष्ठभागिनेति याज्ञवल्क्याद्युक्त—
उद्धारोऽपि समांशभागिता पुत्राणामस्यैवेति तत्रापीदं वचनं प्रवर्त्तत एव-
हंशदिपक्षे परं न प्रवर्त्तत—इति विज्ञानयोगिनामाशयः, दत्ते तु-
स्त्रीधने दत्ते त्वर्द्धं प्रकल्पयेदित्यत्रार्द्धदानं वक्ष्यते । यद्यपि तदाधि-
वेदनिके भर्त्ता दीयमाने वक्ष्यते तथाप्याकाङ्क्षायां समानन्यायत्वादत्रापि-
योज्यं ।

बोधायनः,—

वह्णनामेकधर्माणामेकस्यापि यदुच्यते ।

सर्वेषामेव तत्कुर्व्यादेकरूपा हि ते स्मृताः” ॥ इति ।

भ्रातृणामविभक्तानामित्यादि मनुवाक्ये,—

सर्वेषां विभागप्रार्थना यदि भवतीति जीभूतवाहनेन तदनुयायिना-
दायतत्त्वज्ञता च व्याख्यातं । यदि पुनः पितरि जीवति पुत्रा—एव विभाग-
मर्थयन्ते तदा विषमविभागः पित्रा न दातव्य इति वदता, तत्र संहशब्द-
वैयर्थ्यं उत्थानशब्दस्य चोद्योगवाचिनोऽपि भागप्रार्थनापरत्वमन्यायमित्यस्म-
द्वाख्यानमेवादर्शयं । तथाच सामान्यार्थसमुत्थाने विभागस्तु समः स्मृतः । इति-
योगीश्वरवचःसम्बादोऽपि लभ्यते । तस्यास्मदभिमतार्थतयैवोपपत्तेः ।

दत्ते-त्वर्द्धमित्यत्राप्यर्द्धशब्दः समपरिभागवचनो न भवति, अतश्च यावता पूर्व-
दत्तमिदानीं दीयमानञ्च समं भवति तावदेयमिति मिताक्षरायामुक्तं ।

तत्रायमाशयः,—यद्यपि नपुंसकस्यार्द्धशब्दस्य पुंस्त्वोऽर्द्धसमेऽंशक इति-
कोषात् समांशवाचित्वमस्ति, तथापि कदाचित् तासां पुत्राधिकधनत्वं कदा-
चित् तदून-धनत्वमव्यवस्थितमर्द्धनियमस्य चादृष्टार्थत्वं सा प्रसंक्षीदिति पुत्र-
समांशितायामेव तात्पर्यमिति ।

अत्र मदनरत्नाकर आह,—

पत्न्य-इति-बहुवचनात् प्रतिपत्ति समानंशान् पिता गृह्णीयान्न तु ताभ्यः-
पृथक्कृत्यांशो दातव्यः । जायापत्योर्विभागो न विद्यत इति हारीतवचन-
विरोधापत्तेरिति ।

तत्र, नात्र जायापत्योर्विभाग उच्यते, येन हारीतवचनविरोधः स्यात् ।
किन्तु पत्यैव पुत्रविभागसमये ताभ्यस्तत्समांशदानं प्रीतिदानवत् । अतएव-
स्त्रीधने दत्ते त्वर्द्धमित्युक्तमिति न कोऽपि दोषः ।

यस्तु पितरि जीवति पुत्रेच्छया विभागः स वैषम्याश्रवणान्मातुर्निवृत्ते-
रजसीति मनुवचने समशब्दानुपङ्गाच्च सम एव ।

योऽपि पितुरुर्द्धं विभागः सोऽपि सम एव पूर्वादाहृतमनुवचने सम-
मित्यभिधानात् ।

हारीतोऽपि,—

“समानो ऋते पितरि रिक्त्यविभागः । पैठीनसिरपि,—“पैतृके-
विभज्यमाने दायाद्ये भ्रातृणां समो विभागः ।

याज्ञवल्क्योऽपि,—

विभजेरन् सुताः पित्रोरुर्द्धमृक्यमृणं समं । पितोरुर्द्धमितिकालः, सुता-
इति कर्तारः सममिति प्रकारनियम इति मितान्तरा ।

ननु मनुनैव पितुरुर्द्धं विभागमुपक्रम्य ।

“ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात् पितरं धनमशेषतः ।

शेषास्तमुपजीवियुर्यथैव पितरं तथा” ॥ इति ।

सहवासपत्नं मुख्यमुक्त्वा ज्येष्ठस्य वंश उद्धार इत्यादिना विषमविभागो-
ऽप्युक्तस्तत् कथं समनियम इति चेत् उच्यते । यद्यप्ययं विषमविभागो-
जीवत्यजीवति च पितरि शास्त्रदृष्टस्तथापि वचनान्तरानुरोधात्कलौ सम-
एवेति नियमः । अस्वर्ग्यं लोकविहितं धर्ममप्याचरेन्न त्विति योगीश्वर-
वचनात् । अत्र लोकपदेन युगमुच्यते, युगान्तरे धर्ममपि युगान्तरे यद्विहितं-
प्रतिषिद्धं तन्नाचरेदित्यर्थः, अन्यथाधर्म्यत्वास्वर्ग्यत्वयोर्व्याघातः । शास्त्रविहिते

तदभिज्ञविद्वेषो वाधित एव । तदनभिज्ञया मरजनविद्वेषस्तु नास्त्वर्ग्यत्वा-
पादकोऽग्नीसोमादिहिंसादावतिप्रसङ्गादित्यादि दूषणं स्यात् । अतएव-
मिताक्षरायां मधुपर्कपञ्चबधगवालम्भादिकलिवर्ज्यमेव लोकविद्विष्टत्वेनोदा-
हृतम् ।

कलिवर्ज्येषु च पुनरुदाहादिकमक्षतादीनां यत्नोक्तं, तत्र ज्येष्ठांशा-
द्युद्धारादिकमपि ।

यथा चादित्यपुराणे,—

“ऊढायाः पुनरुदाहो ज्येष्ठांशो गोवधस्तथा ।

कलौ पञ्च न कुर्वीत भ्रातृजाया कमण्डलुः” ॥

स्मृतिसंग्रहेऽपि,—

“यथानियोगधर्मी नो नानुवन्ध्यावधोऽपि वा ।

तथोद्धारविभागोऽपि नैव सम्प्रति वर्त्तते” ॥

नियोगधर्मी भ्रातृभार्यायां वाग्दत्तायां भृतपत्निकायां शुर्व्यादिनियोगेन-
विधिना गमनं, मैत्रावरुणीं गामनुबन्ध्यां वसामालभेतेति विहितो गोवधः,—
सम्प्रति कलौ, अत एवापस्तम्बो,—जीवन् पुत्रेभ्यो दायं विभजेत् सममिति स्वमत-
सुक्ता ज्येष्ठो दायाद इति कृतस्त्रधनग्रहणं ज्येष्ठस्येत्येकीयमतमुपन्यस्य-
देशविशेषे सुवर्णं गावः क्षीणाः भौसं ज्येष्ठस्य रथः परीमाण्डं पितुर्गृहेऽलङ्कारो-
भार्यायां ज्ञातिधनञ्ज्येत्येकमतत्वेनैवोद्धारविभागं दर्शयित्वा तस्मात्स्वविप्रतिषिद्ध-
मिति निराकृतवान् । शास्त्रविप्रतिषेधश्च स्वयमेव विवृतवान् ।

मनुः,—

“पुत्रेभ्यो दायं व्यभजदित्यविशेषेण श्रूयते” । इति ।

तस्मान्न विषमविभागः शास्त्रदृष्टोऽपि कलावनुष्ठेयः, तथापि दृश्यतेऽधुनो-
क्तादिकतिपयप्रदेशेषु ज्येष्ठस्य विषमविभागित्वं । तथा पितरि प्रेते यदि-
केऽपि भ्रातरोऽसंस्कृताः सन्ति तदा तत्संस्कारं समुदायद्रव्येण विधायावशिष्टं-
यथांशेन विभजनीयमित्याह—

याज्ञवल्करः,—

“असंस्कृतास्तु संस्कार्या भ्रातृभिः पूर्वसंस्कृतैः ।”

भ्रातृभिरित्यभिधानादसंस्कृता भ्रातर— इति प्रतीयते ।

संस्कार्यत्वमात्रविधानस्य दायभागप्रस्तावासम्बद्धत्वात् समुदायद्रव्यादिति-
विवक्षितं । तथा च, व्यासः,—

“असंस्कृतास्तु ये तत्र पैतृकादेव तद्धनात् ।

संस्कार्या भ्रातृभि ज्येष्ठैः कन्यकाश्च यथाविधि” ॥

अविद्यमाने पितृधने असंस्कृतसंस्कारावश्यकतामाह नारदः,—

“अविद्यमाने पितर्ये स्वांशादुद्धृत्य वा पुनः ॥

अवश्यकार्याः संस्कारा भ्रातृभिः पूर्वसंस्कृतैः ॥”

असंस्कृतभगिनीसंस्कारोऽप्यावश्यकः । सति पितृद्रव्ये ताभ्योऽंशदान-
मपीत्याह याज्ञवल्करः,—

“भगिन्यश्च निजादंशादृत्त्वांशं तु तुरीयकमिति” ।

असंस्कृता संस्कार्या इत्यनुषङ्गः

मनुः,—

“स्वेभ्योऽंशेभ्यस्तु कन्यायाः प्रदद्युर्भातरः पृथक् ।

स्वात्-स्वादं-शाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः ॥”

अत्रोभयत्र प्रत्येकपरिकल्पिता निजादंशादुद्धृत्य सर्व्वेभ्रातृभिर्भगिनीभ्यः-
प्रत्येकं चतुर्थांशो देय इत्यर्थो न भवति । तथा सति बहुभ्रातृकाया बहुधनत्वं-
बहुभगिनीकस्य भ्रातृनिर्द्दिनतापत्तेः, तस्मात् संस्कारोपयुक्तद्रव्यदानमात्रं-
विवक्षितमिति रत्नाकरचिन्तामण्यादौ व्याख्यातं । “अनूदानान्तु कन्यानां-
वित्तानुरूपेण संस्कारं कुर्यादिति विष्णुवचनञ्च तत्रोपोद्बलकमुपन्यस्तं ।

अनूदानां त्वित्यादि-विष्णुवचनमपि मेधातिथ्यादीनां न प्रतिकूलं ।
वित्तानुसारेण संस्कारमनूदानां पितुः कन्यानां स्वभगिनीनां कुर्यादित्यनेन-
संस्कारावश्यकतामात्रमत्रोच्यते नतु भागदानादाने ।

स्मृतिचन्द्रिकाकारस्तु—“कन्याभ्यश्च पितृद्रव्यं देयं वैवाहिकं वस्त्रिति-
देवत्ववचनानुसारेण संस्कारोपयोगिद्रव्यदानमेव सयते । वैवाहिकं-
वस्तु देयमिति वैवाहिकविशेषणस्यान्यथा वैयर्थ्यापत्तेरिति तदाशयः । अत्र-
वदामः—कन्याभ्यः पितृद्रव्यं देयमिति पृथग्विधिः । तच्च मन्वाद्यनु-
रोधाच्चतुर्थीशरूपमेव । वैवाहिकं वस्तु देयमित्यपि पृथगेव विधिः, विभज्यमाने-
कन्यालङ्कारं वैवाहिकं च—स्त्रीधनं लभेतेति शङ्खवचनसमानार्थतया-
व्याख्यातञ्चेदं शङ्खवचनं विद्यारण्यश्रीचरणैः पराशरस्मृतिटीकायां, पैतृक-
द्रव्यविभागकाले स्वधृतालङ्कारादिकमपि कन्या प्राप्नोतीत्याह शङ्ख इति ।
यदि तु वैवाहिकं विवाहोपयोगि पितृद्रव्यं कन्याभ्यो देयमित्यर्थः स्याद्वस्तुपदं-
पुनरुक्तं स्यादिति पृथग्विधिद्वयमेवात्र युक्तं ।

जीवद्विभागेऽजीवद्विभागे वा कस्याञ्चित् पितृपत्न्यां भ्रातृपत्न्यां वा-
स्पृष्टगर्भायामाप्रसवं प्रतीच्य विभागः कार्यः । अथ भ्रातृणां दायविभागो-
याश्चानपत्याः स्त्रियस्तासामापुत्रलाभादिति वशिष्ठस्मरणात् । आपुत्रलाभादिति-
वचनात् स्पृष्टगर्भासु प्रतीचाऽस्पृष्टगर्भासु तु नैववगम्यते, अतएव तत्र
पश्चादुत्पन्नस्य विभागप्रकारमाह-योगीश्वरः,—

“विभक्तेषु सुतो जातः सवर्णायां विभागभाक्” ।

पित्रिच्छया पुत्रेच्छया वा जीवतोः पित्रोर्विभक्तेषु पश्चात् सवर्णायां-
भार्यायामुत्पन्नो विभागभाक् । विभज्यत इति विभागः पित्रोर्भागस्तं भजत-
इति विभागभाग-भवति । पित्रोरुद्धं स एव तनयोऽंशं लभत इत्यर्थः-
असत्यां दुहितरि मातृभागमिति विशेषः । एतदेवाभिप्रेत्य—

मनुः,—

“ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पितृमेव हरेद्धनं” । इति ।

पित्रोरिदं पितरं धनं यथोक्तव्यवस्थया हरेत् । एवकारेण भ्रातृभिः-
स्वांशादाकृत्य स्वभागसमभाक् स न कार्यः ।

गौतमोऽपि,—

“विभक्तजः पितृमेवेति जीवति तु पितरि मातरि तत् सपत्न्याश्च स्पृष्ट-

गर्भायां विभक्तेर्विभागानन्तरोत्पन्नोऽयं स्वभागादाक्त्य स्वभागसमभागभाक् स-
कार्यः । तथाच विष्णुः,—“पितृविभक्ता विभागानन्तरोत्पन्नाय विभागं
दद्युरिति”, तच्च भ्रातृदत्तं तद्विभागं पितैव गृहीत्वा तं परिपालयेत्, तस्यैव-
तत्राधिकारात् अप्राप्तव्यवहाराणामित्यादि-प्रागुक्तवचनाच्च ।

यच्च वचनं—“अनीशः पूर्वजः पित्रोभ्रातुर्भागे विभक्तज इति,” तस्याप्यय-
मेव विषयः । पूर्वजो विभागात् पूर्वं उत्पन्नः प्राप्तपितृधनविभागः पित्रोर्विभागे-
ऽनीशो न स्वामी ! विभक्तजश्च पूर्वविभक्तस्य भ्रातुर्भागेऽनीश इत्यर्थः ।

विभागोत्तरञ्च ;—यत् पितृर्जितं तदपि विभक्तजस्यैव ।

“पुत्रैः सह विभक्तेन पिता यत् स्वयमर्जितं ।

विभक्तजस्य तत् सर्वमनीशास्तत्र पूर्वजाः ॥

यथा धने तथार्णे च दानाधानक्रयेषु च ।

परस्परमनीशास्ते मुक्ता शौचोदकक्रियां” ॥ इति—

वृहस्पतिस्मरणात् । स एव ;—

“पिता सह विभक्ता ये सापत्ना वा सहोदराः ।

जघन्यजास्तु ये तेषां पितृभागहरास्तु ते” ॥

अत्र हेतुरनीशः पूर्वजः इत्यादितद्वचनोक्त एव ।

ये तु विभक्ताः पिता संसृष्टाः पुत्रास्तैः सह तु तस्य विभागो न सकल-
पित्रधनग्रहणमित्याह—मनुः ।

“संसृष्टास्ते न वा ये स्युर्विभजेत स तैः सह” ।

तेन पित्रा पितुरुद्धं पितृधने भ्रातृभिर्विभज्य गृहीते विभागसमयेऽस्यष्ट-
गर्भायाः पितृपत्न्याः पश्चात् पुत्रे जाते स्वस्वभागादायव्ययविशोधितात् तैः-
स्वस्वभागसमभागभाक् करणीय इत्याह— याज्ञवल्करः,—

“दृष्ट्याद्वा तद्विभागः स्यादायव्ययविशोधितात्” ।

दृष्ट्याद्भातृभिर्गृहीतात् आयः प्रतिमासं प्रतिदिनं प्रतय्यं यत्तदुपरि
वृद्धं, व्ययः पितृकृतर्णापाकरणं भ्रातृभगिनीसंस्कारकरणञ्च । तस्य सर्वं

साधारण्येन कर्त्तव्यत्वात् । न तु भ्रातृकर्त्तव्यव्यस्तस्यैतत्सम्बन्धाभावात् ।
ताभ्यामायव्ययाभ्यां विशोधितात् पित्रधनात्तस्य विभागोत्तरोत्पन्नस्य विभागः-
पूर्वविभक्तसमः स्यादित्यर्थः । एतदुक्तं भवति । प्रातिखिकेषु स्वस्वभागेषु-
तदुत्थमायं प्रवेश्यावश्यकञ्च साधारणं व्ययं निष्काश्यावशिष्टस्वस्वभागेभ्यः-
किञ्चित् किञ्चिदुद्धृत्य विभक्तजः स्वभागसमभाक् कार्य्य इति, वा शब्दस्तु-
विभक्तेषु सुतो जात इति पूर्वार्द्धेन सह व्यवस्थितविकल्पार्थः, व्यवस्था चोक्तैव ।

इति साधारण्येन विभागनिरूपणं ।

पुत्रपदोपादानेनात्र मन्वादिधर्मशास्त्रानुमोदितौरसादिद्वादशपुत्राणां-
युगसाधारण्येन सत्रपि सिद्धे विभागार्हत्वे कलौ शक्तिविहीनत्वान्ननुष्णाणां शास्त्रे-
सन्तानसङ्कोचस्याभ्यनुज्ञाततया द्वादशपुत्रविवेकमपह्नयानुष्ठीयते यथाशास्त्रं-
कलियुगानुकूलपुत्रविभागयोग्यत्वविवेचनमनुपपदमेव ।

व्यवस्थारत्नमालायां यथाच स्मृतिः,—

“आहुर्मन्वादयो यांश्च चेतजादीन् सुतान् पुनः ।

न शक्यन्ते कलौ कर्त्तुं तान् विना दत्तकं जनैः” ॥

तथाच बृहस्पतिः,—

मीमांसादिग्रन्थविदां विदां निगदितं मतं” । इति ।

“अनेकधाः कृताः पुत्रा ऋषिभिश्च पुरातनैः ।

न शक्यन्तेऽधुना कर्त्तुं शक्तिहीनैरिदन्तनैः ॥

दत्तौरसेतरेषां तु पुत्रत्वेन परिग्रहः ।

इत्यन्यः शौनकेनापि कलौ पुत्रो निषिध्यते” ॥ इति ।

औरसपदं पुत्रिकापुत्रोपलक्षकमौरसतुल्यत्वात्, दत्तकशब्दस्तु क्रीतकृत्रि-
मोपलक्षकः समानन्यायात् ।

अतस्तेषां मुख्यामुख्यपुत्राणां व्यवस्थां वक्तुं तत्स्वरूपं निरूप्यते यथाक्रमं,
—यथा सवर्णा धर्मविवाहोद्गा धर्मपत्नी तस्यां जात औरसपुत्र इति-
मिताचरा ।

अथवा पुत्रिकाचासौ सुतश्च पुत्रिकासुत इति पुत्रिकैव पुत्रस्थानीयेत्यर्थः । तस्याश्चोरसौ जातत्वेऽपि कन्यात्वात्पुत्रसमत्वमिति वयं । पित्रवयवानामप्यत्वात्मात्रवयवानां बाहुल्याच्चौरससमत्वमिति मिताचरा ।

यथाह वशिष्ठः ;—

“द्वितीयः पुत्रः पुत्रिकैवेति” माता भर्तृन्नया पिता वा यमन्यस्मै दद्यात्-
स तस्य दत्तकः पुत्रः ।

तथाच मनुः ;—

“माता पिता वा दद्यातां यमद्विः पुत्रमापदि ।

सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्तमः सुतः ॥”

आपदीत्युक्तेरनापदि दातुः प्रत्यवायः, मातापितरौ प्रत्येकं मिलितौ-
वा अङ्गिरिति दानप्रतिग्रहप्रकारोपलक्षणं, सदृशं सवर्णं प्रीतिसंयुक्तमिति-
क्रियाविशेषणम् ।

एकः पुत्रश्च न देयो न प्रतिग्राह्यः । तथाच वशिष्ठः,—

“शुक्रशीणितसम्भवपुरुषो मातापितृनिमित्तकस्तस्य प्रदानविक्रयपरि-
त्यागेषु मातापितरौ प्रभवतः, न त्वेकं पुत्रं दद्यात् प्रतिगृह्णीयाद्वा, स हि सन्ता-
नाय पूर्वेषां न तु स्त्री पुत्रं दद्यात् प्रतिगृह्णीयाद्वा न्यत्रानुज्ञानाङ्गत्वरिति” अत्र-
भर्त्तृनुज्ञां विना स्त्रियाः पुत्रप्रतिग्रहनिषेधाददत्तानुज्ञे भर्त्तरि सृते विधवया-
क्ततः पुत्रो दत्तको न भवतीत्याहुस्तत्र, अपुत्रस्य गत्यभावात् पुत्रकरणस्या-
वश्यकत्वश्रवणाच्छास्त्रमूलकतदनुज्ञायास्तत्राप्यक्षतेः । न चैवमनुज्ञानादन्य-
त्वेति व्यर्थं व्यावर्त्याभावाच्छास्त्रीयानुमतेः सर्वत्रावश्यकत्वादिति वाच्यं,-
मुमुक्षोः पत्न्यन्तरे पुत्रवतोवानुज्ञाया असम्भवाद्भार्या यदि स्वपुत्रार्थमेव तं प्रति-
ग्रहीतुमिच्छति तदा तां प्रतिषेधति ।

“सर्व्वासामेकपत्नीनामेका चेत् पुत्रिणी भवेत् ।

सर्वास्तास्तेन पुत्रेण प्राह पुत्रवती मनुरिति ॥”

पुत्रकार्यश्राद्धादेः सपत्नीपुत्रेण सिद्धेर्भर्त्तृनुज्ञां विना तादृश्या पुत्रो न-

कार्यः, उभयोरपि तत्र कार्यस्य तेन निष्पत्तेः भर्तृर्हि स औरस एव मुख्यः-
तस्या अपि दत्तवद्-गौण इति तादृश्या भक्षनुमतिमन्तरेणेतरो न प्रतिग्राह्य-
इति तात्पर्यार्थः वस्तुतस्तु, “भ्रातृणामेकजातानामेकश्वेत् पुत्रवान् भवेत् ।
सर्वे ते तेन पुत्रेण पुत्रिणो मनुरब्रवीदिति”,—वचनवदेतस्यापि भ्रातृपुत्रस्य-
गौणदत्तकपुत्रादिसम्भवेऽन्यः पुत्रप्रतिनिधिर्न कार्य इत्यर्थकतया मिताचरा-
स्मृतिचन्द्रिकादौ व्याख्यातत्वाद्-भर्तृरि जीवति भार्यया स्वातन्त्र्येण तदननुमती
न पुत्रीकरणीय इति भर्तृरनुज्ञानादन्यत्रेत्यस्यार्थः ।

ननु सृते तु तस्मिन् यत् पारतन्त्र्यं तदननुमतिरेवापेक्षिता । एवं सति-
दृष्टार्थता भवति प्रतिषेधस्य, तस्माददत्तानुज्ञे सृतेऽपि भर्तृरि भार्यया दत्त-
कादिकरणमविरुद्धमिति चेन्न । भर्तृपदस्योपलक्षणतापत्तेः, प्रयोजनासिद्धेश्च ।
प्रयोजनन्तु भर्तृनुज्ञानस्य स्त्रीकृतपरिग्रहेणापि भर्तृपुत्रत्वसिद्धिः ।

अपरञ्च, शास्त्रीयप्रमाणस्यान्यथार्थकरणेन देशविशेषेषु प्रचलितप्येवं-
व्यवहारे सर्वत्र तद्व्यवहारादराभावात् न समीचीनमेतदाचरणं सदयुक्ति-
विहीनत्वाच्च, का युक्तिरित्याकाङ्क्षायामेवं सा यथा,—

स्वामिनि सृते सति पुत्रीकरणे स्त्रीणां स्वातन्त्र्यप्रदर्शनैव पैतामहादि-
स्यावराख्यावरसम्पत्तिजातस्य हस्तान्तरकरणसम्भवात् शास्त्रप्रतिपादितभर्तृनु-
मतिर्व्यर्थेति सुबोध्यमेव, तथा नारीस्वातन्त्र्यं सकलाहितसाधनमिति शास्त्रा-
कृतञ्च ।

केन कस्मात् किमर्थं तदग्रहणं शास्त्रोक्तं तदहस्ताक्षरेण यथाक्रमम् ।

यथा तत्राहतिः,—

“अपुत्रेणैव कर्तव्यः पुत्रप्रतिनिधिः सदा ।

पिण्डोदकक्रियाहेतोर्यस्मात्तस्मात्-प्रयत्नतः ॥”

अपुत्रः अजातपुत्रः सृतपुत्री वा । “अपुत्रो सृतपुत्रो वा पुत्रार्थ-
समुपोष्य चेति शौनकीयात्” । यद्यपि अपुत्रेणैवेत्येवकारेण पुत्रवतो नाधिकार-
इत्येतावन्मात्रं दीधितिकारेण लिखितं, तथाप्यत्र पुत्रपदं पौत्रप्रपौत्रयोरप्युप-
लक्षकमित्यवश्यं वाच्यं, अन्यथा पौत्रप्रपौत्रसत्वे निर्निमित्तपुत्रग्रहणमापद्येत-

इति त्रैवर्णकः सञ्ज्ञातोपनयनसंस्कारः, शूद्रश्चाकृतदारः कृतदारो वा षोडश-
वर्षात् परं पुत्तग्रहणाधिकारी वाच्यः । एतदेव समर्थितं दत्तककौमुदीकारेण ;
यथा स च सपत्नीकापत्नीकभावान्यतरवत् पुत्तग्रहणेच्छावत्पुरुषो मृतभर्त्तरि-
तदनुमता वा तत्पत्नी अधिकारिणीति । न हि किञ्चिद्वचनं पत्न्यभावे-
दत्तकग्रहणनिषेधं बोधयति ; एतज्जातीयमात्रमेवोक्ता भङ्गार्णवकृता तथैव-
सिद्धान्तितम् । प्रत्युत शङ्कर-सुतयोः पत्नीरहितयोः परमशिवभक्तयोरपि-
पुत्ताभावतया स्वर्ग्यां गतिमनवाप्तयोर्वेतालभैरवयो-निन्दितवाक्येन तदीहया-
भैरवेणोर्वश्यामुत्पादितसन्तानं वेतालेन स्वसुतं कृतवानितिहासगर्मकालिका-
पुराणान्नातवचनानि पत्नीरहितस्यापि पुत्रीकरणं बोधयन्ति । वचनान्येतानि-
तत्रैव द्रष्टव्यानि अनेनेदानोन्तनमठाधोश्चराणां सकलसाम्प्रदायिकनैष्ठिक-
ब्रह्मचारिणां गृहीतदत्तकस्यैवोपनयनपूर्वकशिष्यकरणं नाशास्त्रीयमिति-
सूचितमेव । एतत्समर्थकसम्बादोऽपि लभ्यते दत्तकतिलके । यथा “ब्रह्म-
चारिणो नैष्ठिकस्य पित्रादिपरित्यागेषु गुरुकुलवास एव कृतनियमस्य गृहो-
दासीन्ये नाधिकारः” । इति—

पिण्डोदकक्रियाहेतोः-इत्यनेन यैः पिण्डोदकाद्यनिष्पत्तिः तेषु सत्स्वपि-
पुत्रीकरणमभ्यनुज्ञायते ; तेन जन्मान्यपङ्क्ततप्रायश्चित्तपतितद्वादशवर्षानुद्दिष्ट-
प्रभृतिषु दत्तकादिग्रहणं निरुपद्रवमिति सुधीभिर्विभावनीयं । तथा ;—

अपुत्तयेति अपुत्रताया निमित्तताश्रवणात् पुत्राकरणे प्रत्यवायोऽवगम्यते,-
पुत्रोत्पादनविधेर्नित्यतया तल्लोपस्य प्रत्यवायनिमित्ततापर्यवसानात् ।

“नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान्
जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यां यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एष वा अनृणो यः-
पुत्री यज्वा ब्रह्मचारी चे”त्यत्रापि पुत्रसामान्यस्यानृणहेतुताश्रवणाच्च ।
पुत्ताभावे पिण्डादिलोपप्रसङ्गात् ।

अतएव मनुः,—

“पुत्रप्रतिनिधौनाहुः क्रियालोपान्मनौषिण” —इति ।

क्रियालोपादिति व्यतिरेके हेतुः पुत्रप्रतिनिध्यभावे क्रियालोपादित्वर्थः ।

तथाच तत्राह मनुः,—

“अपुत्रेण सुतः कार्य्यो यादृक् तादृक् प्रयत्नतः ।

पिण्डोदकक्रियाहेतोर्नामसंकोर्त्तनाय च” ॥ इति ।

तथैव ब्रह्महस्यतिः,—

“पुत्राभावे क्रियालोपाद्वंशसंरक्षणात्तथा ।

पुत्रप्रतिनिधिर्दत्तः कलौ कर्त्तव्य उच्यते” ॥ इति ।

नन्वैरसाभावे कथं दत्तकादिः प्रतिनिधिः क्रियते पिण्डोदकादि-
क्रियायाः पत्न्यापि निर्व्वाहादित्याह । “पुत्राभावे तु पत्नी स्यादित्यादिना-
पुत्राभावे पत्न्यादीनामपि क्रियाधिकारः श्रूयते । इत्यत्र क्रियाधिकार-
इति प्रेतक्रियाधिकार इत्यर्थः । पत्न्याः पार्व्वणपिण्डदानानधिकारित्वेन-
पुत्राभावे तत्सत्त्वेऽपि पार्व्वणपिण्डलोपापत्तिरित्यपि बोध्यम् ।

कुतस्तदग्रहणम् ? तथाच नारदोऽपि,—

“सपिण्डानां सुतो मुख्यस्तदभावेऽपि गोत्रजः ।

तदभावेऽन्यगोत्रोऽपि दत्तकः परिगृह्यते” ॥

इत्यत्र फलाश्रुते र्निव्यतया पुत्रीकरणस्यावश्यकत्वं बोधितम् ।

तथात्र शौनकः,—

“ब्राह्मणानां सपिण्डेषु कर्त्तव्यः पुत्रसंग्रहः ।

तदभावेऽसपिण्डेषु अन्यत्र तु न कारयेत्” ॥ इति ।

अत्र च सपिण्डेष्वपि भ्रातृपुत्रो मुख्यः, तदभावे सगोत्रः सपिण्डोऽपि यः
कश्चित् तदभावेऽसगोत्रः सपिण्डः, तदभावेऽसपिण्डोऽसगोत्रोऽपि ।

तथा—

“क्षत्रियाणां स्वजातौ वा गुरुगोत्रसमेऽपि वा ।

वैश्यानां वैश्यजातेषु शूद्राणां शूद्रजातिषु ।

सर्वेषाञ्चैव वर्णानां जातिष्वेव न चान्यतः” ॥

इति शौनकवचनात् ।

विशेषवचनेनैव समानवर्णत्वे सिद्धे पुनर्जातिष्वेव न चान्यतः इत्युक्तिः-
क्षत्रियेण स्त्रीकर्त्तव्यस्य दत्तकस्य समानगोत्रत्वमिति ज्ञापनार्थं । वैश्यजातेषु-
वैश्यजातिष्वित्यर्थः, गुरुगोत्रेति पौरहित्यान् राजन्यविशमित्याश्वलायनोक्तेः,-
सभ्राटक एव ग्राह्य इति सूचितं शौनकेन ।

यत्तु,—

“दौहितो भागिनेयश्च शूद्रैस्तु क्रियते सुतः ।

ब्राह्मणादित्रये नास्ति भागिनेयः सुतः क्वचित्” ॥

अत्र “दौहितो भागिनेयो वा शूद्राणां विहितः सुतः”—इति पाठान्तरं-
दत्तकमीमांसाकृतम् । अत्र चतुर्थचरणस्थितं भागिनेयपदं दौहितमाहस्व-
स्त्रीययोरुपलक्षणम् ।

तथाच शाकलः,—

सपिण्डापत्यकं चैव सगोत्रज-मथापि वा ।

अपत्यको द्विजो यस्मात् पुत्रत्वे परिकल्पयेत् ॥

समानगोत्रजाभावे पालयेदन्यगोत्रजं ।

दौहितं भागिनेयं च माहस्वसुतं विना ॥ इति ।

युक्तं चैतद्विरुद्धसम्बन्धस्य त्रिष्वपि समानत्वादितुक्तं पुत्रीकरण
मीमांसायामिति” इति दत्तककौमुदीकृतविवेचनस्य तथा, “तदभावेऽ-
सपिण्डोऽसगोत्रोऽपि, तत्रापि भागिनेयदौहितवर्जं विरुद्धसम्बन्धापत्त्या पुत्रत्वबुद्ध-
नर्हन्नाहपितृव्यमातुलवर्जं च, त्रयाणां वर्णानां स्वसमानवर्ण एव, तत्रापि-
देशभेदप्रयुक्तगुर्जरत्वादि-जात्या समानजातीय एव सर्वोऽपि सभ्राट्को-
ज्येष्ठभिन्नः । शूद्रस्य तु भागिनेय-दौहित्रावपि ग्राह्यौ, प्रमाणं तूक्तं पूर्वतः-
इति दीधितिकारानुष्ठितविवेकस्य च साचिव्येन विरुद्धसम्बन्धापत्त्याशङ्क्या-
दौहित्रभागिनेयभ्राट्पितृव्यमातुलस्वस्त्रेयवर्जं समानवर्णं समानजातौ चानुष्ठेयं-
दत्तकग्रहणं द्विजातित्रयेणेति यदर्थोपयन्ति ; तन्मन्दं मन्वाद्यूनविंशसंहितासु-
तथा निरुक्तोपसंहितात्रयभिन्नोपसंहितासु मिताक्षरादिव्याख्यासु च-
तादृङ्निषेधविधेरचक्षुर्विषयत्वात्, शास्त्रनिषिद्धतादृग्विरुद्धसम्बन्धस्य सर्वत्र-

समानतया शूद्रजातिष्वप्यस्य तथाऽदृष्टत्वात्, प्रायेण बहुप्रदेशेषु भागिन्यादि-
पुत्रीकरणस्य शिष्टादृतत्वाच्च ।

“अथ प्रतिग्रहीते पुत्रे दत्तकसिद्धिः, कः संस्कारो जातिभेदं पुरस्कृत्य-
कं कालं प्राप्य साधयतीति तत्र पञ्चवर्षानधिककालमुपलभ्य जनकगोत्रीक्षे-
पूर्वकचूडाख्यसंस्काराभाव एव दत्तकत्वं साधयति ।

पञ्चवर्षनियमस्तु यथा,—

“पञ्चसम्बत्सरादर्वाक् गृहीत्वा तु कृतं शिशुं ।

स्वगोत्रेणैव संस्कारान् चूडान्तान् परिकल्पयेत् ॥

अथ चेज्जातमात्रं तु वालं दद्यादनुग्रहात् ।

जातकर्मादिकं सर्वं ग्रहीता तस्य कारयेत् ॥”

इति दत्तकतिलकीकृतवचनं, पञ्चसम्बत्सरात् पञ्चसम्बत्सराणां पूरणं-
यस्मिन् दिने इति तद्धितप्रत्ययात् साधुः । अतः सुतरां तदभावे तदभावः ।
अतएव पञ्चवर्षाभ्यन्तरे पुत्रं गृहीत्वा यदि पिता मृतः, चूडादिकं न-
कृतं तत्र तस्य पुत्रत्वं सिध्यति । अतो निजगोत्रेण चूडादेः सहकारित्वं न-
युज्यते, परन्तु जनकगोत्रेण चूडाद्यभावस्येति, एवं च पुत्राणां चूडाख्यसंस्कारस्य-
काम्यत्वेऽपि न क्षतिरिति विवादाण्येवकृतप्रभृतीनां सिद्धान्तितमनादेयं ।

“अन्यशाखोद्भवो दत्तः पुत्रश्चैवोपनायितः ।

स्वगोत्रोक्तस्व-शाखोक्तविधिना स स्वशाखभागिति ॥”

कुवेरभट्टदत्तकदीधितिदत्तकमीमांसाष्टतवशिष्ठवचनात् वक्ष्यमाण-युतेष्व ।
अन्यशाखोद्भवः पुत्रोऽस्मै दत्तः सन् यदि प्रतिग्रहीत्वा स्वगोत्रोक्तपूर्वक-
स्वगोत्रोक्तविधिना कृतोपनयनः स्यात् तदा जनकशाखाभागित्वमपहाय-
प्रतिग्रहीतृशाखाभागित्वं भवति । जनकशाखाभागित्वनिवृत्तौ तदीय-
गोत्रपिण्डधनादिभागित्वं च सुतरां भवतीत्यर्थः, अतएव चन्द्रिकाकारेण-
एवं चोपनयनमात्रकरणेऽपि प्रतिग्रहीतुर्दत्तकपुत्रसिद्धिरित्युक्तं । नैतावतो-
पनीतस्य ग्रहीतुः पुत्रत्वं सिध्यति । यतो दीधितिकारेण बहुविमृश्योपक्रमे-
चूडादिसंस्कारेषु कृतेष्वकृतेषु च पञ्चवर्षात् प्रागूढं च दत्तको ग्राह्य इत्युक्त-

उपसंहारेऽपि अतः कृतसंस्कारोऽपि पञ्चवर्षाधिककालोऽपि दत्तको भवतीति-
सिद्धमित्युक्तं । वक्ष्यमाणवहचब्राह्मणानुरोधाच्च ब्राह्मणस्योपनयनमुख्यकालो-
ऽष्टमाब्दरूपः । ब्रह्मवर्चसफलार्थिनस्तु तस्य पञ्चाब्दरूपः क्षत्रियस्य-
एकादशाब्दः विशो द्वादशाब्दः ।

“गर्भाष्टमेऽष्टमे वाब्दे ब्राह्मणस्योपनायनं ।

राज्ञामेकादशे चैके विशमेके यथाकुलमिति” ॥

याज्ञवल्क्योक्तेः—“चैके एकादशे इत्यनुषङ्गाद्द्वादश इत्यर्थ इतिस्मार्त्ताः ।
“ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे”—इति स्मार्त्तादिधृतवचनात् ।
शूद्रस्य तूपनयनाभावात् तत्स्थानीयत्वेन विवाहस्य विवाहमुख्यकाल एव-
ग्राह्यः । स च षोडशाब्दरूपः ।

“शूद्राणां मासिकं कार्यं वपनं न्यायवर्त्तिनां” ।

वैश्यवच्छौचकल्पश्चेत्यत्र चकाराद्वैश्यधर्मान्तरातिदेशेनोपनयनप्रसक्तौ-
तत्स्थाने ब्रह्मपुराणेन विवाहो विधीयते, “विवाहमात्रं संस्कारं शूद्रोऽपि-
लभतां सदेति” । तत्रोपनयनकालस्तु “गर्भाष्टमेऽष्टमे वाब्दे” इत्यादि पूर्वोक्त-
याज्ञवल्क्यवचनमुपन्यस्यात्र चोत्तरोत्तरवर्णानामुत्तरोत्तरकालप्रदर्शनात् शूद्र-
स्याप्युपनयनस्थलाभिषिक्तविवाहस्य तथैव युक्तत्वादिति स्मार्त्ताङ्गिः एवमत्र-
वैश्योपनयनकालात्—द्वादशवर्षादुत्तरे षोडशवर्षे उपनयनस्थलाभिषिक्तस्य-
शूद्रविवाहस्य युक्तत्वादिति टीकाकृतद्वयाख्यानाच्च” ।

“पुनश्च ते दत्तादयो जनिमारभ्य विवाहप्राक्कालिका एव ग्रहीतुं योग्याः
नतु विवाहोत्तरमपि ।

“दत्ताद्या अपि तनया निजगोत्रेण संस्कृताः ।

आयान्ति पुत्रतां सम्यगन्यवीजसमुद्भवाः” ॥ इति—

कालिकापुराणेन स्त्रीकारपूर्वकस्वकर्तृकसंस्कार्यत्वरूप पुत्रत्वस्यैव दत्ता-
दीनां विधानात् । सयुक्तिकं चैतत्, जातः पुत्रः षोडशसंस्कारार्हो भवतीति
निर्विवादं । तत्र जातकर्म्मारभ्य विवाहान्ताः संस्काराः स्वपितृकर्तृकाः,
चरमश्च स्वपुत्रकर्तृक इत्यपि निर्वाधं । तत्रौरसानां स्वजातत्वादिना पुत्रत्वेपि-

दत्तादीनां तथात्वाभावादुक्तपुराणवाक्यैर्नोपदर्शितं, स्वकर्तृकसंस्कार्यत्वरूप-
स्यैव पुत्रत्वस्य वाच्यतया विवाहात् पूर्वं दत्तकस्त्रीकारे यथाकथंचिन्निरुक्त-
पुत्रत्वस्य सम्भवेऽपि विवाहोत्तरं तत्स्त्रीकारे तु तस्मिन् कथञ्चिदपि तस्या-
सम्भवेन तत्कालस्यायोग्यत्वेन तदधिकरणतत्स्त्रीकारस्य विहितकालानधि-
करणत्वेन रात्रिकृतश्राद्धस्यैव निरुक्तस्त्रीकारस्याप्यशास्त्रीयत्वेन हथाचेष्टत्वात् ।
किञ्च सर्वथा कालनियमाभावेऽशीतिवर्षिकेण पुरुषेण सप्ततिवर्षिकस्य
सपुत्रस्यापि ग्रहणप्रसङ्गात् । न चेष्टापत्तिः । सर्वानुभवसर्वव्यवहारविरोध-
स्यातिस्फुटत्वात् । नचान्यत्र कालनियमेऽपि भ्रातृसुतस्य पुत्रीकरणेनैवं नियम-
इति वाचे भ्रातृसुतस्यापि मुख्यपुत्रत्वासम्भवेन तस्मिन्नपि स्त्रीकारपूर्वक-
सकर्तृकसंस्कार्यत्वरूपपुत्रत्वस्यैव वाच्यतया तत्रापि तन्नियमस्यावश्यकत्वे-
नोक्तवाक्यस्य भ्रान्तप्रणीततुल्यत्वात् । अतएवैरसपुत्रस्य प्रतिवन्धादिनोक्त-
कालसामान्यातिक्रमे यथोक्तरीत्या क्रियमाणमप्युपनयनं तस्य द्विजत्व-
सम्पादकं न भवतीति सिद्धान्तोऽपि संगच्छते । तस्मादकाले क्रियमाणं-
पुत्रीकरणं दर्शितोपनयनवत् निष्फलमेव भवतीति न तदुपजीव्यत्वेन तेषां-
पितृवीधनविभागित्वमिति दायभागे प्रकटीकृतमिति दिक् । तत्रापि-
चूडोत्तरमुपनयनात्—प्राक्कालिका उपदर्शितकालिकापेक्षया स्वशास्त्रीयत्वा-
दिनोत्कृष्टा भवन्ति, उक्तञ्च वशिष्ठेन,—

“अन्यशाखोद्भवो दत्तपुत्रश्चैवोपनायितः ।

स्वगोत्रेण स्वशाखोक्तविधिना स स्वशाखभाक् ॥

एतदभिप्रत्येव पुनःकालिकापुराणेऽपि पठ्यते ;—

“पितुर्गोत्रेण यः पुत्रः संस्कृतः पृथिवीपते ! ।

आचूडान्तं न पुत्रः स पुत्रतां याति चान्यतः” ॥ इति

न चैवं ।

“ऊर्ध्वं तु पञ्चमावर्षान्न दत्ताः स्युः सुता नृप ! ।

गृहीत्वा पञ्चवर्षीयं पुत्रेष्टिं प्रथमं चरेत्” ॥

इत्यनेन पञ्चमवर्षोत्तरं गृहीतानामपुत्रत्वप्रतिपादनात्तदविरोध इति-
वाचं, दत्तादीनां क्वचिमस्वयंदत्ताद्युपलक्षकत्वेन शास्त्रसिद्धतया-
स्वयंदत्तस्य देवरातस्योपनीतस्यैव शुनःशेफाख्यानप्रतिपादकवाक्येन प्रवल्-
भूतप्रमाणेन ग्राह्यत्वप्रतिपादनात् । एवमन्यशास्त्रोद्भवोदत्त इत्यादिना-
वशिष्टेनापि दत्तादीनां स्वगृह्योक्तेन विधिनोपनायितपुत्रत्वप्रतिपादनाच्च-
तथा चाविरुद्धयोः प्रवल्दुर्वलयोरैकस्मिन् प्रवृत्तौ दुर्वलानां प्रवल्बाल्भ्यत्वमिति-
न्यायादुक्तस्थले प्रवल्भूतवेदवाक्यस्मृतिवाक्याभ्यां दुर्वल्भूतपुराणवाक्यस्य-
वाध्यत्वेनोक्तपुराणवाक्ये जडं तु पञ्चमाद्वर्षादित्यस्य विवाहकालादूर्ध्वमित्यर्थं
स्वोक्तत्वं तदैव गृहीत्वा पञ्चवर्षीयमित्यस्यापि विवाहात् पूर्वकालिकं
गृहीत्वेत्यर्थं चादृत्योक्तवेदवाक्यस्मृतिवाक्याविरुद्धार्थकत्वं यथा कथंचिदुपजीव्य
प्रामाण्योपपादने न्याय्यत्वादुचितमेतत् । तदानीमेव निरुक्तसंस्कार्यत्वरूप-
पुत्रत्वस्यासम्भवेनोक्तवाक्याया न स्युरिति निषेधसङ्गतिरिति, यदि चास्य-
यथाश्रुतस्यैव प्रामाण्यमनुमन्यसे तथाप्युक्तप्रवल्-प्रमाणविरोधभङ्गनान्यथानुप-
पत्त्या न स्युरित्यस्योत्कृष्टतरा न स्युरित्यर्थकतया तदघटितत्वेनास्याप्यु-
त्कृष्टतरा भवन्तीत्यग्रिमग्रन्थपुष्टिकरणद्वारा तत्रैव प्रामाण्यं निरावाधमिति-
नोक्तप्रवल्प्रमाणवाक्यार्थविरोधकत्वमिति ध्येयम् ।

तथापि क्लिष्टार्थकल्पनया विहितस्य सिद्धान्तस्यास्य यथार्थार्थाचरणेन-
प्रकटितप्रचुरप्रमाणविरुद्धत्वात् प्रायशोऽवलोकितसर्वानादृतव्यवहारत्वाच्च-
तदनु रूपदत्तकग्रहणं नोचितमिति परामर्शः ।

अपिच—शुनःशेफाख्यानस्य तदानीं प्रचलितस्यापि युगान्तरे दृष्टदोषा-
धायकत्वेन तत्परवर्तिधर्म्यशास्त्रकर्तृभिस्तदनुसरणं परिहृतमित्यनुमितं-
तत्तत्कर्तृकतद्विरुद्धप्रमाणपरिदर्शनात् पुराणे चोभयविधप्रमाणावलोकनात्तादृग्-
व्यवहारः प्रचलति क्वचिदिति प्रतीयते ।

तदेवं तत्रापि पितुर्गोत्रेणेत्यस्मिन् वाक्ये सार्वविभक्तिकस्तसिरित्यनेन-
विहितस्य तस्यान्यत—इत्यस्य षष्ठग्रन्थार्थकतया चकारस्यावधारणार्थकत्वाच्चै-
तदुवाक्यस्याचूडान्तं । जनकगोत्रेण संस्क्रान्तदुत्तरं त्वर्थात् प्रतिग्रहीद्वगीत्रेण-
संस्क्रान्तो यः पुत्रः स पुत्रोऽन्यस्यैव प्रतिग्रहीतुरेव पुत्रतां न याति । किन्तु-

जनकप्रतिग्रहीतोरुभयोरपीति द्वायमुपधायणपुत्रत्वप्रतिपादनेन, ततोऽप्येकमात्र-
पुत्रत्वेन जनिमारभ्य चूडाप्राक्षास्तिकाः संस्कृता उत्तृप्ततरा भवन्तीति बोध्यम् ।

तदेव तदभिसम्वाय शौनकः पुनः पपाठ ;—

“चूडाया यदि संस्कारा निजगोत्रेण संस्कृताः ।

दत्ताद्यास्तनयास्तेस्युरन्यथादास उच्यते” ॥

अत्र च अदाम इति पदच्छेदः । एवञ्च अन्यथा दत्तादीनां निजगोत्रेण-
चूडादिसंस्काराव्यकरणे तेषां अदासता औरसादिपूर्वसमवाये दासवच्चतुर्थ्यंश-
भागराहित्ये न दासतुल्यता, यच्च निरुक्तद्वायुमुपधायणत्वं किमात्मकमित्या-
काङ्क्षायामुच्यते । यथा,—

“द्विविधा दत्तकादयो नित्यवत् द्वायमुपधायणा अनित्यवत् द्वायमुपधायणाच्चेति,
तत्र नित्यवत् द्वायमुपधायणानां ये जनकप्रतिग्रहीतृभ्यामावयोरयं पुत्र इति-
सम्प्रतिपन्नाः । अनित्यवद्वायुमुपधायणास्तु ये चूडान्तैः संस्कारैर्जननेन संस्कृताः-
उपनयनादिभिश्च प्रतिग्रहीता तेषां गोत्रद्वयेनापि संस्कृतत्वात् द्वायमुपधायणत्वं ;
परन्त्वनित्यं ; जातमात्रस्यैव परिग्रहे गोत्रद्वयेन संस्काराभावात्तस्य प्रतिग्रहीतृ-
गोत्रत्वमेव । तदिदं सर्वमभिप्रेत्याह,—सत्याषाढः,—“नित्यानां द्वायमुपधाय-
णानां गोत्रद्वयप्रवरसम्बन्धमुक्त्वा तमेवानित्येष्वप्यतिदिशति दत्तकहीनानान्तु-
द्वायमुपधायणवदिति सूत्रेण व्याख्यातञ्चेतत् शवरस्वामिभिः” द्वायमुपधायणप्रसङ्गे-
नानित्यानाह दत्तकेति ; तावदेव नोत्तरसन्तती प्रथमेनैव संस्काराः प्रति-
ग्रहीता चेत्तदा उत्तरस्य पूर्वत्वात्तेनैव उत्तरत्वं । तथा पितृव्येण-
भ्रातृव्येण चैकार्षेण ये जातास्ते प्रतिग्रहीतुरेवेति तस्य भाव्यस्यायमर्थः यो-
गोत्रद्वये संस्कृतस्तस्यैव गोत्रद्वयसम्बन्धो नोत्तरसन्ततः जनकगोत्रसम्बन्धे किं-
कारणमित्यत आह, प्रथमेनेति प्रथमो जनकस्तेनैव संस्कृतत्वात् संस्काराः-
चूडान्ताः ।

“पितुर्गोत्रेण यः पुत्रः संस्कृतः पृथिवीपते ! ।

आचूडान्तं न पुत्रः स पुत्रतां याति चान्यतः” ॥ इति ।

व्याख्यातं चेत्तत् प्रागेव असाधारणीं पुत्रतां न याति किन्तु द्वायमुपधायणो-

भवतीति । प्रथमेनासंस्कारे कथमित्याह,—परिग्रहीता चेति परिग्रहीतैव-
जातकर्मादिसर्वसंस्कारकरणे चौड़ादिसंस्कारकरणेऽपि वा उत्तरस्य प्रति-
ग्रहीतुरेव गोत्रं ; तत्र हेतुः पूर्वत्वात् संस्कारकरणे प्रथमत्वात् इयमुपधायण-
सन्ततौ दत्तकसन्ततौ चापेक्षितं गोत्रमाह,—तेनैवेति परिग्रहीतगोत्रेणैव-
उत्तरसन्ततगोत्रसुभयत्रापि सगोत्रपरिग्रहमाह, तथेति जनकपरिग्रहीतो-
रेकगोत्रत्वेऽपि परिग्रहीतैव व्यपदेशः परिग्रहसंस्कारकरणादिति” ।

यत्तु,—

“गोत्ररिक्थे जनयितुर्न भवेद्वत्तिमः सुतः” ॥ इति ।

तत्परिग्रहीतैव जातकर्मादिसर्वसंस्कारकरणपक्षे वेदितव्यम् ।

ननु चेन्नजस्यैव द्विपितृकत्वं दृश्यते । तथा हारोतः,—

“जीवति चैत्रजमाहुरस्मात्तन्मृते इयमुपधायणं अगुप्तवीजत्वात्-
जीवतापि क्रियाभ्युपगमाद्-द्विपितृको भवतीत्याह—

मनुः,—

“क्रियाभ्युपगमात्त्वेनं वौजायं यत् प्रदीयते ।

तस्येह भागिनौ द्विष्टौ वीजै चैत्रिक एव च” ॥ इति ।

अपुत्रवीजचैत्रिकयोर्मम चैत्रं तव वीजं यदपत्यं तदावयोरित्ययं क्रिया-
भ्युपगमः ।

तथा,—

“अपुत्रेण परक्षेत्रे नियोगोत्पादितः सुतः ।

उभयोरप्यसावृक्थौ पिण्डदाता च धर्मतः” ॥—इति ।

दत्तकस्य तु तददृष्टचरं, प्रत्युत गोत्ररिक्थे जनयितुर्न भवेद्वत्तिमः सुत-
इति प्रागुक्तमनुवचनं तद्विपरीतार्थग्राहकमेवास्तीति—

नेन दत्तकादिष्वपि,—

“सर्वेषामेव धर्माणामेकस्यापि यदुच्यते ।

सर्वेषामेव तत्कुर्यादेकरूपा हि ते सुताः” ॥—इति ।

बौधायनदर्शनेन चैत्रजघन्यलाभात् । “इं आह्वे कुर्यात् एकआह्वे पृथग-
नूद्दिश्य एकपिण्डे वा दानुकीर्त्तयेत् । प्रतिग्रहीतारं चोत्पादयितारं आह्वती-
यात् पुरुषादिति” सांख्यायनप्रवराध्याये सामान्यतो दर्शनाच्च दत्तकस्यापि-
द्विपितृकत्वसिद्धिः ।

सम्यक्तुज्ञाव्यते दत्तकपुत्रप्रतिग्रहप्रकारः सन्निपतः, यथा पुत्रं प्रतिग्रही-
यन् बन्धुनाह्वय राजनि चावेद्य निवेशनस्य मध्ये व्याहृतिभिर्हुत्वाऽदूरवान्धवं-
बन्धुसन्निष्कृष्टमेव प्रतिगृह्णीयादिति विशिष्टोक्तः । अदूरवान्धवमित्यत्र देश-
भाषा-विप्रकृष्टस्य प्रतिषेधः । एवं क्रीतादिविषयं समानन्यायत्वात् । कल्पतरौ-
त्वदूरवान्धवमसन्निष्कृष्टमेवेति पाठं लिखित्वाऽदूरवान्धवं सन्निहितमातुलादिकं-
असन्निष्कृष्टमेव अविज्ञातगुणदोषमपि अप्यर्थ एवकार इति व्याख्यातं । सन्देह-
चोत्पन्ने दूरवान्धवं शूद्रमिव स्थापयेत् विज्ञायते ह्येकेन च वद्भूस्त्रायता-
मितीति च वशिष्ठवचनमधिकं लिखित्वेवं विवृतं । सन्देहे बान्धवानां असन्नि-
धानात् ज्ञातिसन्देह-उत्पन्ने शूद्रमिव संस्कारहीनमेव स्थापयेत् । शूद्रोऽपि-
हि कृतपुत्रो भवतीत्यभिप्राय-इति ।

क्रीतसु पुत्रस्ताभ्यां विक्रीत इति ताभ्यां मातापितृभ्यां माता भर्त्तृनुज्ञया-
पित्रा वा मूल्यग्रहणेनापरस्य दत्तः । एकपुत्रं ज्येष्ठपुत्रं वर्जयित्वा आपदी-
त्येव सजातीयेष्वित्युपसंहारात् सवर्ण एव ।

यत्तु मनुनोक्तं,—

“क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थं मातापित्रोर्यमन्तिकात् ।

स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा” ॥ इति ।

तद्गुणैः सदृशोऽसदृशो वेति व्याख्येयं नतु जात्याऽसदृश इति स जातीये-
ष्वित्यनेन विरोधापत्तेः । बौधायनोऽपि,—“मातापित्रोर्हस्तात् क्रीतोऽन्य-
तरस्य वा योऽपत्यार्थं गृह्यते स क्रीतक इति” ।

कृत्स्नमसु पुत्रार्थिना स्वयं धनचेत्रादिप्रदर्शनादिना प्रलोभ्य त्वं मे पुत्रो-
भवेति यः सवर्णः पुत्रीकृतः स उच्यते । मातापितृविहीनश्चेत् । तत्सङ्गावे-
तत्परतन्त्रतया तेन पुत्री भवितुमशक्यत्वात् ।

मनुविष्णु अपि,—

“सदृशं यं प्रकुर्यातां गुणदोषविचक्षणम् ।

पुत्रं पुत्रगुणैर्युक्तं स विज्ञेयस्तु कृत्विमः” ॥ इति ।

सदृशं सर्वणं प्रकुर्यातां मातापितरौ मिलितौ प्रत्येकं वा ।

“दत्तात्मा तु स्वयं दत्तः स्वयमेव स्वात्मानमन्यस्मै दत्तवांस्तवाहं पुत्रो-
भवासौति स्वयमुपगतो मातृपितृविहीनस्ताभ्यां त्यक्तो वा सर्वर्णोऽप्रतितः-
स उच्यते ।

तथाच मनुः,—

“मातापितृविहीनो यस्त्यक्तो वा स्यादकारणात् ।

आत्मानं स्पर्शयेद्यस्मै स्वयंदत्तस्तु स स्मृतः”—इति ।

अकारणात् पातित्यादिकारणमन्तरेणैव दुर्भिन्नादौ पोषणाद्यसामर्थ्या-
दिना मातापितृभ्यां त्यक्तः स्वतन्त्र इत्यर्थः ।

पुत्रवत्कन्याया अपि भवति प्रतिनिधिः,—यथा “श्रीरसपुत्राभावे यथा-
आज्ञाद्यौर्द्विदेहिकक्रियासम्पत्त्यै यथायुगं दत्तकादयः पुत्राः पुत्रप्रतिनिधयो-
आज्ञाद्यौर्द्विदेहिकक्रियासम्पत्त्यै यथायुगं दत्तकादयः पुत्राः पुत्रप्रतिनिधयो-
भवन्ति ; एवमश्रीरसकन्याभावे दौहित्रजलोकावाप्तौ बहु विचार्य रामायणादि-
पौराणिकलिङ्गप्रदर्शनेन च दत्तकादिदुहितरोऽपि आद्यतया व्यवस्थापिताः ;—
इति दत्तकमीमांसामतं । एवमेव दत्तकदीधितिदत्तसिद्धान्तमञ्जर्यौ-
मुक्तकण्ठमाहतुः । दत्तकचन्द्रिका-दत्तकनिर्णय-दत्तकतिलक-दत्तकदर्शन-
दत्तककौमुद्यो—यद्यपि स्पष्टतयात्र न किञ्चिद्बुद्धस्तथापि पुत्रिकाकरण-
लिङ्गदर्शनेन तेषां मतेऽपि दत्तकादिदुहितकरणमविरुद्धं प्रतिभाति । दत्तक-
दीधितिस्तु पुत्रभावे दत्तकादिदुहितृणां धनाधिकारश्चाहेति दत्तकशिरोमणिः ।
दत्तकादीनां सापिण्ड्यविवेचनं तु मिताक्षरादौ द्रष्टव्यं अन्यबाहुल्यभिया-
नोद्धृतमेतदत्र ।

एवमेतेषां निरूप्य स्वरूपमिदानीं भागार्हानर्हत्वं निरूप्यते तत्त
अध्यतः ;—यथा-तत्र योगीश्वरः ;—

क्लौवोऽथ पतितस्तज्जः पङ्कुरुन्मत्तको जडः ।

अन्धोऽचिकित्स्यरोगाद्या भर्त्तव्याः स्थनिरंशकाः ॥

तज्जः पतितजः । क्लौवान्धौ यदि जन्मत आरभ्य तदा विभागानर्हविव । यदि त्वन्तरा तदा तदपगमश्चेदौषधादिना तर्हि “दृष्ट्वाहा तद्विभागः-स्यादायव्ययविशोधितादि”ति रौत्या विभागार्हविवेति ध्येयं । आद्यशब्देना-अमान्तरगतपितृद्वेष्युपपातकवधिरमूकनिरिन्द्रियाणां ग्रहणं ।

यथाह वशिष्ठः ;—

“अनंशास्त्वाश्रमान्तरगता”—इति ।

नारदोऽपि,—

“पितृद्विट् पतितः षण्णो यश्च स्यादौपपातिकः ।

औरसा अपि नैतेऽशं लभेरन् चेत्रजाः कुतः” ॥ इति ।

मनुरपि,—

“अनंशौ क्लौवपतितौ जातान्धवधिरौ तथा ।

उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः”—इति ।

व्याधिना निर्गतमिन्द्रियं यस्य स इति निरिन्द्रियः, तेन क्लौवाद्भेदः । कश्चित्तु—“निरिन्द्रियाः पाणिपादादिहीना” इत्याह । एते क्लौवादयोऽंशभाजो न भवन्ति किन्तु ग्रामाच्छादनादिना भर्त्तव्याः पोषणोपायाः । अभरणे तु-महान् दोषः । यथाह मनुः ;—

“सर्व्वेषामेव चैतेषां हातुं न्याय्यं मनीषिणा ।

ग्रासाच्छादनमत्यन्तं पतितो ह्यददद्भवेदिति” ॥

अत्यन्तं यावज्जीवं, तत्रापि पतितोपपातकिनोर्यावत्प्रायश्चित्ताचरण-मनंशित्वं । औदत्यादिना प्रायश्चित्तमकुर्व्वतोऽसु निपतनमेव ।

एतेषां च विभागात् प्रागेव दोषभाक्तेऽनंशित्वं, न पुनर्विभागोत्तरमपि-दत्तविभागापहरणं प्रमाणाभावात् । पश्चादप्यौषधादिना दोषनिर्हरणेऽस्थेवांश-भागितेति विज्ञानेश्वराचार्याः । युक्तं चैतत् । दोषप्रयुक्तत्वाद्द्विभागानर्हतायाः ।

“विभक्त्येषु सुतो जातः सवर्णायां विभागभागिति न्यायसाम्यात्” । पति-
तादिषु लिङ्गमविवक्षितमनुपादेयत्वात् । “ब्राह्मणो न सुरां पिबे”दित्या-
दिवत् । तेन यथासम्भवे पत्नीदुहितर इत्यादेरप्ययमपवादः ।

पतिततत्सुतयोर्न भरणं ।

“मृते पितरि न क्लीवकुष्ठप्रसूतजङ्गाम्भकाः ।

पतितः पतितापत्यं लिङ्गौ दयांशभागिनः ॥

तेषां पतितवर्जभ्यो भक्तं वस्त्रं च दौयते ।

तत्सुताः पित्रदायांशं लभेरन् दोषवर्जिताः” ॥—इति ।

लिङ्गौ प्रव्रजितादिः । पतितपदेनात्र पतितसुतस्यापि ग्रहणं पतितोत्पन्नत्वे-
न तस्यापि पतितत्वात् । पतितापत्यं पतितमेवान्यत्र स्त्रियाः सा हि
परगामिनी भवतीति स्मृतेः । मृत-इति विभागकालोपलक्षणं जीवद्विभागेऽप्य-
नर्हत्वात् । कालायनोऽपि,—

अक्रमोढा सुतश्चैव सगोत्राद्यश्च जायते ।

प्रव्रज्यावसितश्चैव न रिक्तं तेषु चार्हति ॥”

हीनस्त्रीपरिणयानन्तरसुतमस्त्रीपरिणयने द्वयोरप्यक्रमोढात्वं तयोः ।
सगोत्रादनियोगोत्पन्नः चैत्रजः पुत्रो नार्हति धनं । क्लीवादीनामनंशत्वेऽपि-
तत्पुत्राणामंशोऽस्तीत्याह योगीश्वरः,—

“औरसाः चैत्रजास्त्रेषां निर्दोषा भागहारिणः” ।

निर्दोषाः पूर्वोक्तानंशत्वप्रयोजकदोषशून्याः । तत्र क्लीवस्य चैत्रज-
पुत्रः सम्भवत्यन्येषामौरसोऽपि पुत्रद्वयग्रहणमितरपुत्रव्युदासार्थं ।

न च क्लीवादेरुपनयनाभावेन पतितत्वात् कथं दारसम्बन्ध इति वाच्यं ।
उपनयनानर्हतयाऽनुपनीयत्वे शूद्रवदपतितत्वात्, एतेषां क्लीवादीनां-
दुहितरो विवाहपर्यन्तं भर्त्सव्याः संस्कर्त्तव्याश्च । तत्स्त्रियसु पुत्ररहिताः-
साध्वो भरणीयाः अप्रतिकुलाश्चेत्, अन्यथा वहिष्करणीयाः ।

तदाह योगीश्वरः,—

“सुताश्चैषां प्रभर्त्तव्या यावन्तो भर्त्तृसात्कृताः ।

अपुत्रा योषितश्चैषां भर्त्तव्याः साधुवृत्तयः ॥

निर्वास्या व्यभिचारिण्यः प्रतिकूलास्तथैव च” ।

हीनस्त्रीपरिणयानन्तरमित्यारभ्य प्रतिकूलास्तथैवचेत्यन्तगद्यांशस्य युगान्त-
रीयविषयत्वमित्यनुमेयं, सम्यति तादृग्व्यवहारानवलोकनात् । आप-
स्तम्बः,—अपपान्नितस्य रिक्थपिण्डोक्तदानानि निवर्त्तन्ते । अपपान्नितो ।
भिन्नोदकीकृतः ।

तथा वृहस्पतिः,—

“सवर्णाजोऽप्यगुणवान्नाहं स्यात्-पैतृके धने ।

तत्पिण्डदाः श्रोत्रिया ये तेषां तदभिधीयते ॥

उत्तमर्णाधर्मणेभ्यः पितरं दायते सुतः ।

अतस्तद्विपरीतेन नास्ति तेन प्रयोजनं ॥

तथा गवा किं क्रियते या न धेनुर्न गर्भिणी ।

कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान् न धार्मिकः ॥

शास्त्रशौर्यार्थरहितस्तपोज्ञानविवर्जितः ।

आचारहीनः पुत्रस्तु मूढोश्चारसमः सुतः” ॥

अयमर्थः । पित्रादेरौर्द्धदेहिककर्म्मणः । कर्त्ता सुतोऽसंस्कृतोऽपि वरः-
श्रेष्ठः । ज्येष्ठो वेदपारगोऽप्यपरो न वर इति ।

“पुत्रान्नो नरकाद्-यस्मात् पितरं दायते सुतः ।

तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवेति” ॥ स्मृतेः ।

पुत्रकर्म्मकर्त्तुः पितृधनस्वाम्यमेव वेतनमतस्तदकुर्वतः कुतो वेतनाधिकार
इति भावः ।

मनुरपि,—

“सर्व्व एव विकर्मस्था नार्हन्ति धातरो धनं” । इति ।

श्रीतस्मार्त्तकस्मानधिकारिणो गुणहीना विकर्मासक्ताश्च भागानर्हा-
इति भावः ।

एवमेतेषामन्तराले निर्णयि दायानधिकारिजातमिदानीं निरूप्यते-
तदन्वेषां दायग्रहणं मिताचरादावन्यत्र विशेषतः सत्यपि विवरणे संचेपतोऽङ्ग-
विच्छेदनिराकरणाय । यथा,—

तत्र योगीश्वरः,—

“पिण्डदोऽंशहरश्चैषां पूर्वाभावे परः परः” । इति ।

वीक्षादर्शनात् पूर्वपूर्वाभाव इत्यपि वीक्षावसेया ।

औरसपौत्रिकेयसमवायेऽप्येवमौरसे सति पुत्रिकासुतस्य दायग्रहणा-
भावे प्रसक्ते मनुरपवदति,—

“पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजायते ।

समस्तत्र विभागः स्यात्-ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रिया” — इति ॥

बृहस्पतिरपि,—

“एक एवौरसः पित्रे धने स्वामी प्रकीर्तितः ।

तत्तुल्या पुत्रिका प्रोक्ता भर्त्तव्यास्त्वपरे सूताः” ॥

न च पुत्रिकाया एव प्रथमं पुत्रे जाते पश्चादौरसोत्पत्तौ पुत्रिकापुत्रस्य-
ज्येष्ठत्वादस्त्रीत्वाच्च ज्येष्ठांशभागिता भवेदिति युक्तं, तस्य पौत्रत्वात् ।

तदाह मनुः,—

“अकृता वा कृता वापि यं विन्देत् सदृशात् सुतं ।

पौत्रौ मातामहस्तेन दद्यात् पिण्डं हरेद्वनमिति” ॥

पुत्रिका हि पुत्रस्तपुत्रो दौहित्रोऽपि पौत्रस्तद्वान् पौत्रि भवति ।
पौत्रस्य च ज्येष्ठत्वेनांशातिरेको नैव श्रुतः । न च “अस्यां यो जायते पुत्रः-
स मे पुत्रो भवेदिति” पुत्रिकापुत्रस्यापि पुत्रत्वाभिधानात्तद्विरोध इति वाच्यं ।

मनुविरोधेन तस्य गौणपिण्डदाहत्वनिमित्तपुत्रत्वाभिप्रायकत्वात् । पुत्रिकायाः-
पुमपत्यत्वाभावात् यथा गौणं पुत्रपदप्रतिपाद्यत्वं तथा स्वजन्यपुत्रिकाजन्य-
पुत्रस्यापि पुंस्त्वे सत्यपि जन्यत्वाभावात् । जन्यपुंस्त्वस्यैव पुत्रपदशक्यत्वात् ।

तथान्येषामपि पुत्राणां पूर्वपूर्वसत्वे सर्वभागा—नईत्वमनेन प्रसक्तमपव-
दति वशिष्ठः ;—तस्मिंश्चेत् प्रतिष्ठहीत औरस उत्पद्येत चतुर्थभागभागी-
स्याहत्वक इति दत्तकग्रहणं क्रीतादीनामुपलक्षणं पुत्रीकरणाविशेषात् ।

“उत्पन्ने त्वौरसे पुत्रे चतुर्थांशहराः सुताः ।

सवर्णा असवर्णास्तु ग्राशाच्छादनभाजनाः” ॥ इति—

कात्यायनवचनाच्च । सवर्णाः क्षेत्रजदत्तकादयस्ते सत्वौरसे चतुर्थांशहराः,-
असवर्णा कानीनगूढोत्पन्नसहोदूपौनर्भवास्ते तु सत्वौरसे न चतुर्थांशहरा-
अपि किन्तु ग्राशाच्छादनमात्रभागिन इत्यर्थः कात्यायनवचनस्य ।

अतएव विष्णुः ;—

“अप्रशस्तास्तु कानीनगूढोत्पन्नसहोदजाः ।

पौनर्भवाश्च नैवैते पिण्डरिक्त्वांशभागिनः” ॥ इति ।

यच्च मनुवचनं—

“एक एवौरसः पुत्रः पित्रस्य बसुनः प्रभुः ।

शेषाणामानृशंस्यार्थं प्रदद्यात्तु प्रजीवनं” ॥ इति ।

तदपि दत्तकादीनामौरसप्रतिकूलत्वेऽत्यन्तनिर्गुणत्वे च चतुर्थांशादिनिषेध-
परं कानीनादिपरं च । तेषां सत्वौरसे ग्राशाच्छादनमात्रभागित्वस्योक्तत्वात्-
तदेकमूलकत्वकल्पनात् । औरसाभावे दत्तकस्याखिलधनग्रहणार्थं पृथगारब्ध-
मनुना,—

“उपपन्नैर्गुणैः सर्वैः पुत्रो यस्य तु दलितः ।

स हरेतैव तद्विक्थं सम्प्राप्तोऽप्यन्यगोत्रतः” ॥

स्वगोत्रसंप्राप्तः किमुत्-पत्त्यर्थोऽपिशब्दः । जनकधनग्रहणस्य तस्य प्रदि-
पिष्टं तेनेव ।

“गोत्ररिक्थे जनयितुर्न भजेद्दत्तमः सुतः ।

गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधेति” ॥

ददतः सम्बन्धी पिण्डस्ततो व्यपैति । स्वधा पिण्डदत्तिहेतुरिति पिण्ड-
विशेषणं, गोत्ररिक्थानुग इति हेतुगर्भं ।

दत्तकमात्रविषयकमपि सत्पौरुषे चतुर्थ्यांशहरप्रतिपादकं पृथगारब्ध-
वशिष्टेन । “तस्मिंश्चेत् प्रतिगृहीत औरस उत्पद्येत चतुर्थभागभागी-
स्यादत्तक इति । क्रीतादिसाधारणं तु कात्यायनीयं प्रागेव पठितं । तत्र-
द्वतीयांशहरा इति कल्पतरुलिखितपाठे यदि साकरस्त्वर्हि दत्तकादीना-
मौरसापेक्षया सगुणत्वे द्वतीयांशहरत्वमिति व्याख्येयं ।

अथ मुख्यगौणपुत्राभावे मृतपतितपरिव्राजकादिधनग्रहणाधिकारिण-
उच्यन्त । तत्र योगीश्वरः,—

“पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ-भ्रातरस्तथा ।

तन्मुता गौत्रजा वन्धुः शिष्यः सब्रह्मचारिणः॥

एषामभावे पूर्वस्य धनभागुत्तरोत्तरः ।

स्वर्थातस्य ह्यपुत्रस्य सर्ववर्णेष्वयं विधिः ॥” इति ।

अपुत्रस्य औरसादिपुत्ररहितस्य स्वर्थातस्य मृतस्य पत्न्यादयः पूर्वपूर्वा-
भावे पाठक्रमेणोत्तरोत्तरं धनं गृह्णीयुरित्यर्थः ।

अयं विधिः सर्वेषु भूदाभिपिक्तावसिक्ताद्यनुलोमजप्रतिलोमजादिषु वर्णेषु-
च ब्राह्मणेषु वेदितव्यमित्यर्थः । तत्र प्रथमं पत्नी धनहारिणी, पत्नीशब्देनैव-
विवाहसंस्कृता । सा तु सती संयता प्रपौत्रपर्यन्ताभावे विभक्ता संसृष्टपति-
रिक्थहारिणीति बोध्यं । तत्रेदं पर्यालोचनीयं यथा “गृहीतधनायाः-
पत्न्यास्तद्धनेन जीवनमात्रं दानाधीकरणविक्रयेषु तु नाधिकारः” इति ।

“मृते भत्तरि भत्तृशं लभेत कुलपालिका ।

यावज्जीवं न हि स्वाम्यं दानाधमनविक्रयः”—इति,—

कात्यायनवचनात् प्रतीयते । तदपि दृष्टार्थनटनर्त्तकादिदानास्मात्—

न्त्रात् । अदृष्टार्थदाने तदुपयोगिनोराधोकरणविक्रययोश्च तेनैवाधिकारा-
भिधानात् ।

“व्रतोपवासनिरता ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता ।

दमदानरता नित्यमपुत्रापि दिवं व्रजेदिति ॥

दिवं व्रजेदित्यनेन काम्येऽपि दानादौ तस्या अधिकारः प्रतीयते । प्रतीति-
मेतां समर्थयति प्रजापतिरपि यथा,—

“जङ्गमं स्थावरं हेम कुप्यं धान्यं रसाम्बरं ।

आदाय दापयेच्छाङ्गं मासषाण्मासिकादिकं ।

पितृव्यगुरुदौहित्रान् भर्तुः स्वसौयमातुलान् ।

पूजयेत्-कव्यपुर्त्ताभ्यां वृद्धांश्चाप्यतिथौन्स्त्रियः ॥”

कुप्यं त्रपुसीसादि, कव्यं पित्रर्थं संकल्पितमन्त्रादि, पूर्यं खातादि,
कर्मज्ञाङ्गदक्षिणादि । एतदुक्तं भवति, स्थावरेणापि सहितं सर्वं भर्तृधनमधि-
गत्य धनसाध्यं स्त्र्यधिकारिकं पत्युरात्मनश्चः श्रेयःसाधनकर्म पतिपञ्च-
पुरस्कारेण पत्न्या कार्यमित्यादिना । विवेच्यमेवात्र यथा,—पत्न्यादिगणा-
भ्यन्तरे यो विशेषगुणशालो स एव तद्धनभागी तत्तत्पूर्वतो ये तद्धनाधि-
कारिणस्त एव तेनैव यथाखं पोषणीयाः, सप्रमाणपर्यालोचनं च पूर्वमुक्तं ।
ग्रन्थबाहुल्यभिया प्रादेशिकदायभागादिनिबन्धग्रन्थापेक्षया प्रायशो भारत-
प्रचलितमिताक्षरानामकयाज्ञवल्करटीकायां दायभागविषयकविशेषविवृति-
परिदर्शनेन तद्विषयकविवरणाधिक्यमपह्रायेतत्समयोपयोगिकतिपयदाय-
भागविषयकविवरणमुद्दिष्टं दिङ्मात्रेण । एतएवावलोकितव्या मिताक्ष-
रायां विशेषविवृतिरन्यान्यविषयेषु ।

इति दायभागनिरूपणं ।

अथ क्रमप्राप्तप्रायश्चित्तनिरूपणमारभ्यते सामान्यतः । ननु कथमुद्भावितं-
पूज्यपादैर्महर्षिभिः प्रायश्चित्तव्रतं । तथा ग्रन्थस्याख्यापत्कालधर्मविषयकतया-
कथमत्र निवेशितोऽयं निरुक्तविभागश्चेति चेद्विव्रियतेऽनुपदमेव यथाक्रमं ।

यथा ; संसारेऽस्मिन् मानवाः सकलजातीयाः सत्पथेऽवस्थाय स्वस्वकार्य-
सम्प्राप्त्यै चैहिकं पारलौकिकं च श्रेयोजातं साधयितुं भवन्ति सुचमाः । किन्तु-
सर्वे ते स्वाधीनतया सन्त उत्पृष्टह्लास्तन्मार्गमाश्रयितुं न भवन्तुऽन्यथा ।
अतः शासनमन्तरा न केऽपि तन्मार्गेऽवस्थाय भवेयुरग्रसराः । अतएवैषां-
निरुक्तदोषनिरसनपुरःसरहितसम्पादनार्थं शासनद्वितयमुद्गाढितं त्रिकाल-
विद्विर्म्महर्षिभिः । तच्छासनद्वयमध्यतो राजदण्डात्मकमेकं, धर्मशास्त्रीयप्राय-
श्चित्तस्वरूपं चान्यत् । द्विविधशासनस्यास्य सति दृष्टादृष्टफलकत्वेऽपि प्रथमोक्त-
शासनस्य साक्षादिनानाविधावश्यक्रीयोपायापेक्षिततया तथा साधारणसम-
क्षतो लज्जाधायकतया च बहवो लोकाः स्वस्वापराधं निज्ज्ञोतुं प्रयतन्ते सततं ।
अतो द्वितीयशासनमाविर्भूतमित्यनुमीयते शिष्टैः । कथमिति पृच्छायां-
निदानमत्रेदं । यथा ;—

राजशासनानूज्ञानभीत्यपेक्षया धर्मशास्त्रीयादेशान्वयाकरणस्येहामुत्र च-
क्षेत्रापादकत्वेन धर्मशास्त्रीयभयं मनसि मानवानां जागरूकं, विशेषतः-
कञ्चीकरोति विवेचनमेतन्मानवीयधर्मशास्त्रीयप्रमाणमपि । यथा ;—

“गुरुरात्मवतां शास्ता शास्ता राजा दुरात्मनां ।

द्वह प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः” ॥ इति ।

तथा तेनैव भवेन्निरयगामित्वं । धर्मशास्त्रीयप्रमाणव्रातमप्यत्रानुकूलं-
साकल्येन । आस्तां तावददृष्टफलकत्वं दृष्टफलकत्वमप्यस्यावलोक्यते ह्यनिशं-
धर्महानिशङ्कया सन्मार्गावस्थानेन । किं वक्तव्यमत्र विशेषेण धर्मक्षतित्रासेन-
केनापि जनेनाविदितस्य रहस्यपापस्यापि प्रायश्चित्तमनुतिष्ठन्ति मनुजा भार-
तीयाः स्वेच्छया । अतएव सुपथे लोकानवस्थापयितुं यत् प्रायश्चित्तव्रातोद्भावनं-
तत् समीचीनमिति राद्धान्तः । न च राजदण्डप्रायश्चित्तयोः न साम्यं प्रतिपाद-
नीयमिति वाच्यं “दण्डवत् प्रायश्चित्तानि भवन्ति” इति प्रमाणप्रावल्यात् । यत्तु-
केचन पुरोभागिनः केवलं निर्वाहयितुं स्वजीविकामुत्तिष्ठितमेतत् प्रायश्चित्ता-
दिकं ब्राह्मणेर्नान्यार्थमिति यद् विप्रतिपत्तिमुत्थापयन्ति, तत्तुच्छं, श्रोत्रियाणां-
शास्त्रे लोके च सदैव सकलद्वितसम्पादनतत्परत्वस्य तथा स्वार्थपराङ्मुखत्वस्य-

तथा विलासपरायणतादिरहितत्वस्य च ज्ञानलोचनविषयत्वात् । तथाच प्रायश्चित्तप्रकरणे धर्मशास्त्रीये ; यथा ; — दोषिणां श्रोत्रियाणां साकल्यतः प्रायश्चित्तानुष्ठानस्थाने जातीयानामन्येषां पापिनामंशतस्तदाचरणं, तथा राजशासने-च तद्विजजातीयानामपराधिनां सत्यप्यनुष्ठिते शारीरिकार्थिकदण्डजाते-स्वभावतो ज्ञानतश्चैतेषां श्रोत्रियाणां सर्वाग्रगण्यतयातीवलज्जाविधायककेशमुण्ड-नपूर्वकनिष्कासनं च देशतोऽभ्यनुज्ञानं शास्त्रकारैः । तथैतद्भारतीयार्यचक्रवर्त्य-वसरे प्रचलितमासीत् पूर्वतोऽक्षुषं लोके । अतो महर्षयः शीलोच्छ्रित्या स्वजी-विकां निर्वाह्यन्तोऽपि नानाविधशास्त्रनिर्माणेन तथाऽतदीयोपदेशप्रदानेन तथा-सन्ततपरमेश्वरप्रार्थनया च जगतः शुभसम्पदादकतया न स्वार्थपरा इत्यवधेयम् ।

साध्यं प्रददात्यत्र मन्वादिधर्मशास्त्रव्रातं निर्विवादं । अपिच साकल्येना-चरितप्रायश्चित्तसन्दोहानामन्तराले कतिपयानामपराधानामापदि मूलतः-प्रायश्चित्तमननुष्ठातुं धर्मशास्त्रकारैरभ्यनुज्ञातत्वात् तथा कियत्संख्यकाना-मेनसां,—

“देशे काले च पात्रे चे”त्यादि-धर्मशास्त्रीयप्रमाणप्रावल्यात् कालोऽस्मिन्-भ्यनुज्ञातव्यवस्थालाधवात्तथा शास्त्रे स्फुटतः प्राकाश्यरहितकतिपयप्रायश्चित्तानां-प्रकटनाभिलाषेण च तत्तत्प्रदर्शनार्थमेव सन्निवेशितोऽस्मिन् ग्रन्थे तद्विभागः ।

न चापत्कालीनशास्त्रीयप्रायश्चित्तजातोऽस्तेखनस्यावश्यकीयत्वे साकल्येन-प्रायश्चित्तपरिदर्शनं नानुचितमिति वाच्यं । साकल्यतः प्रायश्चित्तविभागाप-रिदर्शनेन संक्षेपीकरणासम्भवात् । अतस्तदनुष्ठानं सुसङ्गतमेव ।

पुत्रादिजनन-पित्रादिमरण-जन्य बाह्याशौचेन प्रायश्चित्तापनोद्याभ्यन्तरा-शौचेनेव स्वस्याशुद्धेः समुद्भूतत्वात् शुद्धेरशुद्धिसापेक्षत्वात्—चाभ्यन्तराशौचादितो-निरूप्यते तद्बाह्याशौचं सामान्येन, न तावदेतन्नवीनं, परमयोगिना याज्ञवल्के-नापि स्वकृतसंहितायाः प्रायश्चित्ताध्यायमूलतः प्रदर्शितत्वात् । एतदुभयस्या-शौचात्मकत्वं क्रोड़ीकरोति कारिका गादाधरो ससाक्षिवचना,—

“वाह्यं चाभ्यन्तरञ्च द्विविधमिति मतं कर्तव्यं तु वाह्यं,
देहे स्यात्तद्दिनेऽपीत्युभयविधमिदं ज्ञातिजन्मादिजन्यम् ।

कालस्नानापनोद्यं यदवधिविदितौ जन्ममृत्यू तथाद्यं,
शेषाहैः सर्ववर्णेष्वपि लगति सतां यत्र कुत्राप्यशौचं” ॥

कर्तृशौचं द्विविधं बाह्याभ्यन्तरमिदात् ।

तथाच देवलः,—

“अशौचं द्विविधं प्रोक्तं बाह्यं चाभ्यन्तरं तथा” ॥ इति ।

आभ्यन्तरं प्रायश्चित्तापनोद्यमघलक्षणं तत्तु लेख्यं बाह्याशौचविवेचना-
नन्तरमेव । विचार्यतेऽत्र बाह्याशौचमिदानीं, यथा, बाह्यमपि द्विविधं-
शरीरस्य कस्मानर्हत्वरूपमेकं तथाऽशौचिस्त्वत्वाश्रयद्रव्यस्यापि कस्मानर्हत्वरूपं-
द्वितीयं । इदं च बाह्याशौचं जन्ममरणादिना स्त्रीणामृतुप्रसवादिना च । तद-
शौचस्य खण्डाखण्डालकत्वेन बहुविधत्वेऽपि तद्विवेचनस्य भारतीयसकलप्रादे-
शिकनिबन्धग्रन्थेषु विशेषतो विवृततयोपेक्षितं तद्विवेचनमत्र । तथापि काले-
ऽस्मिन् सम्पूर्णकालीनजनने तथोपनीतमरणे च कीदृगखण्डाशौचस्य प्रचलनेन-
सकलजातीयानां भरतखण्डनिवासिनां भवेदुपकारकमिति समुझाव्योक्तेखन-
पूर्वतोऽद्यावधि प्रचलिताखण्डाशौचव्यवस्थानं प्रदर्शयतेऽधस्तात् समालोचनार्थं-
मानवीयप्रमाणोक्तेखेनैव ।

यथाह मनुः,—

“शुध्येद् विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः ।

वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुध्यति” ॥

एतदेवानुमनुते याज्ञवल्क्यः—

“क्षत्रस्य द्वादशाहानि विशः पञ्चदशैव तु ।

त्रिंशद्दिनानि शूद्रस्य तद्वर्षं न्यायवर्त्तिनः ॥ इति ।

विप्रादिजातिमभिलक्ष्य निरुक्तप्रमाणव्रातोक्तविभिन्नाखण्डाशौचव्यवस्थित्या-
प्रायशः सत्यपि प्रचलितेऽखण्डाशौचे भारतीयसकलप्रदेशेषु संप्रति मानवाना-
मेतत्प्रदेशीयानां कष्टासहिष्णुतया प्रायेण दारिद्र्याभिभूततया सदैव पराधीन-

त्वेन च न प्रतिपाद्यते तदशौचं यथाशास्त्रं मानवैरेतद्देशीयैः । एतदेवानुभव-
सिद्धं शास्त्रानुमतञ्च,—

“आपद्यपि च कष्टायां सद्यः शौचं विधौयते” । इति,—

यान्नवल्कलीयवचनेन प्रकारान्तरेण समर्थितमेतदप्रतिपालनं । इदं सद्यः-
शौचपदं उपलक्षणविधया आपदीयाशौचसङ्कोचविधायकञ्च । आपद्यस्यां-
भारतीयसकलार्याणामखण्डाशौचभेदमपहाय विधातव्यमेकाशौचं चेद्भक्षितं-
शास्त्रं सर्वतोभावेन तथा भवेयुर्लोकस्तत्कष्टमुक्ताः ।

कचीकरोति धर्मशास्त्रीयप्रमाणमेतत् ।

यथाहाङ्गिराः,—

“सर्वेषामेव वर्णानां सूतके स्मृतके तथा ।

दशाहात्-शुद्धिरेतेषामिति शातातपोऽब्रवीत्” ॥ इति ।

यत्त्वञ्च,—“सर्वेषामित्यादिप्रमाणानुसरणेनाशौचव्यवस्थाऽनुपयोगितया-
नानुष्ठेया लोके समाचाराभावादिति यद्वदन्ति, तत्तुच्छं, प्रदेशेषूत्कलीयेषु-
तादृशाशौचव्यवहारस्य बहुवर्षावधि तद्देशीयशिष्टादृतत्वात् । अतः पद्यमिदं-
मापत्कालविषयकमिति बोध्यं ।

तथाच, योगिविज्ञानेश्वरेण मिताक्षरायाः स्थानान्तरे लिखितया-
“अनयोश्च पक्षयोरापदनापक्षिष्यत्वेन व्यवस्थेति” चूर्णिकयोपलक्षणात्मकतया-
क्रोडीकृतमेतदेव । अपिचाद्यदिनवर्धनं क्लेशापादकमिति “न वर्धयेदघाहा-
नीति” । मानवीयप्रमाणेनाप्युद्भाविता, न च यद्यद्वर्णस्य यद्य-यत्परिमितदि-
नानि नियमितास्त्यशौचे तत्तद्दिनातिरिक्तदिवसपालनमतीव क्लेशाधायकमिति-
तद्वचनस्याकृतं न त्वेवापत्कालविषयकमिति वाच्यं । सति तत्प्रकरणपठितत्वेन
तथात्वेऽप्युपलक्षणविधया साधारणतोऽद्यदिनस्य दुःखापादकत्वसूचकत्वाद-
वचनस्यास्य । अतो विपक्षमयेऽधुनातनेऽखण्डाशौचस्य दशदिनात्मकस्य वर्णानां-
सर्वेषां साम्यं शास्त्रसिद्धं दुःखसङ्कोचकञ्च, खण्डाशौचे तु भवति सर्वेषां भेदा-
भावः, तथाचात्र मिताक्षरायां विज्ञानेश्वरः,—

यथाह व्याघ्रपादः,—

“तुल्यं वयसि सर्वेषामतिक्रान्ते तथैव च ।

उपनीते तु विषमं तस्मिन्नेवातिकालजमिति” ॥

“अयमर्थः—वयसि त्रिवर्षादिरूपे यदुशीचमादन्तजन्मनः सद्य इति—
वाक्यविहितं तत्सर्वेषां ब्राह्मणादिवर्णानां तुल्यमविशिष्टं अतिक्रान्ते दशाहादिके-
त्रहादि यदुशीचं तदपि सर्वेषामवशिष्टं । उपनीते पुनरुपरमे दशद्वादश-
पञ्चदशत्रिंशद्दिनानीत्येवं विषमाशीचं ब्राह्मणादीनां । तस्मिन्नेवोपनीतोपरम-
एव अतिकालजमतिक्रान्ताशीचं भवति, न वयोऽवस्थाशीचातिक्रम” इति ।
अनेन सर्वेषां वर्णानां सूचितः खण्डाशीचवैषाभ्याभावः । अन्येऽस्मिन् यदा
वश्यं तदेवोद्धृतं, तदन्त्यत् सर्वं मृत्युं स्वस्वप्रादेशिकनिवन्धेषु । पुनश्चाभ्यन्तरा-
शीचस्य प्रदर्शितं दृष्टफलकत्वमुपरितः । इदानीन्तु बाह्याशीचस्य प्रदर्श्यते-
दृष्टफलकत्वमत्रेदं । यथा,—

सूक्तिकशीचे, गर्भविमोचनावधि गर्भवत्याः सदैवात्मीयानां गुरुतमोद्देगाभि-
भूततया प्रसवात् परं शान्तिलाभार्थं मनसो क्रियत्कालमपेक्षन्ते मानवाः-
लोके । तथा प्रसवावसरे सदनस्य पूयशोणितदूषितत्वेन तथा प्रसवागारीया-
नलस्यातीवदुर्गन्धालकतया भवन्ति चिसानि विस्तृतानि सगोत्राणां विशेष-
संसर्गतः ।

अपिच—शावाशीचे पूज्यपादानां पित्रादिगुरुचरणानां तथात्मीयानां-
सगोत्रादीनां चोपरमे मनसोऽत्यन्तशोकाकुलतया शारीरिकशीचं प्रति-
दृष्टेरभावात् तेषामन्येष्टिक्रियाया नानाविधद्रव्यसाध्यत्वेन तदायोजनार्थ-
धनिकानामपि क्रियद्विसापेक्षितत्वात् तथान्येष्टिक्रियाकरणस्य शोकापनोदनो-
पायत्वाच्चैतदनुष्ठानत्रातनिर्वाहाय नियमितकतिपयदिनानि निश्चितानि-
महर्षिभिस्त्रिकालज्ञैः । तद्दिनान्येवाशीचदिनात्मकत्वेनोच्यन्ते भारतीयेः सर्वैः ।
मनसो विस्तृतत्वेन किमप्यनुष्ठानं प्रति न भवति प्रवृत्तिर्लोकस्येति वैज्ञानिक-
सिद्धान्तः । सिद्धान्तमेतमनुमोदते भारविकविः । यथा, “दुःखिते मनसि-
सर्वमसह्यमिति” ।

अतोऽनेन निरुक्तविवरणेन दृष्टफलकत्वं सुस्पष्टमेव ।

नचात्रापक्वालीनशास्त्रीयप्रायश्चित्तजातोत्प्रेक्षनस्यावश्यकीयत्वे साकल्यतः-
प्रायश्चित्तपरिदर्शनमनुचितमिति वाचं, साकल्येन प्रायश्चित्तविभागापरि-
दर्शनेन संक्षेपीकरणासम्भवात् । अतस्तदनुष्ठानं सुसंगतमेव ।

सम्प्रति किमात्मकं प्रायश्चित्तमित्याशङ्कायां प्रकाशयते स्थूलतस्तदधस्तात्-
धर्मशास्त्रीयव्यवस्थानुगत्या । यथा प्रायश्चित्तं नाम पापक्षयसाधनं कर्म, अथवा-
भविष्यदुःखापादकाधर्मनाशकारी कार्यविशेषः ।

यथा हारीतः ;—

“प्रयतत्वाद्योपचितमशुभं नाशयतीति” प्रायश्चित्तं ।

तस्य व्युत्पत्तिर्यथा ।

अङ्गिराः,—

“प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते ।

तपो निश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्” ॥

निश्चयसंयुक्तं पापक्षयसाधनत्वेन निश्चितमित्यर्थः ; पापं तु वैदिकप्रति-
पाद्योऽनर्थः अनर्थश्चानिष्टसाधनं ।

कपापकारणमुक्तम् याज्ञवल्क्येन, यथा,—

“विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात् ।

अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति” ॥

पापविशेषेणावस्थाविशेषमाह मनुः,—

“शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः ।

वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्यजातितां ॥

दूह दुश्चरितैः केचित् केचित्-पूर्वकृतैस्तथा ।

प्राप्नुवन्ति दुरात्मानो नरा रूपविपर्ययम्” ॥

यमः,—

“सुरापो ब्रह्महा गोघ्नः सुवर्णस्तेयकृन्नरः ।
पतितैः संप्रयुक्तश्च कृतघ्नो गुरुतल्पगः ॥
एते पतन्ति सर्वेषु नरकीष्णनुपूर्वशः” ।

प्रायश्चित्तमाहात्म्यं यथाह अङ्गिराः,—

“उद्व्यच्छन् यद्वदादित्यस्तमः सर्वं व्यपोहति ।
तद्वत्-कल्याणमातिष्ठन् सर्वं पापं व्यपोहति ॥
पापं चेत्-पुरुषः कृत्वा कल्याणमभिपद्यते ।
मुच्यते पातकैः सर्वैर्महाभैरिव चन्द्रमाः” ॥

कल्याणं प्रायश्चित्तं । तस्यावश्यकर्तव्यत्वमाह यमः,—

“तपसोऽन्ते विशुद्ध्यन्ति कर्मणां वा परिक्षयात् ।
तस्मात् कर्तव्यमेतैस्तु प्रायश्चित्तं विशुद्ध्ये” ॥

कर्मणां भोगेन परिक्षयादित्यर्थः ।

प्रायश्चित्ताहंत्वमाह मनुः,—

“अकुर्वन् विहितं कर्म निषिद्धञ्च समाचरन् ।
प्रसजंश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तौयते नरः ॥
अज्ञानात् यदि वा ज्ञानात्-कृत्वा कर्म विगर्हितम् ।
तस्माद्-विमुक्तिमन्विच्छन् द्वितीयं न समाचरेत्” ॥

प्रायश्चित्तस्य काम्यत्वं नैमित्तिकत्वं नित्यत्वञ्च यथाह जावालः,—

“काम्यानां सफलार्थञ्च दोषघातार्थमेव च ।
काम्यं नैमित्तिकञ्चातः प्रायश्चित्तमिति स्थितिः ॥
चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्ध्ये ।
निन्दैश्च लक्षणेयुक्ता जायन्ते निष्कृतैनसः” ॥

ज्ञानाज्ञानाकृतपापयोः प्रायश्चित्तभेदो यथा,—अङ्गिराः—

“अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं न कामतः ।

स्यात्त्वकामकृते यत्तु द्विगुणं बुद्धिपूर्वक” —इति ॥

तथा कामकृतस्य पापस्य सत्यनुष्ठिते प्रायश्चित्ते केवलं व्यवहार्यत्वं न-
साकल्येन पापमुक्तत्वमपराधिन इत्याह ।

याज्ञवल्करः,—

“प्रायश्चित्तैरपैत्येनो यदज्ञानकृतं भवेत् ।

कामतो व्यवहार्यस्तु वचनादिह जायते” इति ।

तथाचात्र विज्ञानेश्वरः ; उपात्तदुरितनाशार्थं प्रायश्चित्तमित्युक्तं । तत्र-
विशेषमाह प्रायश्चित्तैर्विच्यमाणैरज्ञानाद् यदेनः पापं कृतं तदपैति गच्छति न-
कामतः कृतं, किन्तु तत्र प्रायश्चित्तविधायकवचनवलादिह लोके व्यवहार्यो-
जायते । अत्र च प्रायश्चित्तैरपैत्येनो यदज्ञानकृतमित्युपक्रमात्तत्प्रतियोगि-
तया ज्ञानत इति वक्तव्ये यत्कामत इत्युक्तं, तत् ज्ञानकामयोस्तुल्यप्रदर्शनार्थं ।

तथाहि,—

“विहितं यदकामानां कामात्तद्विगुणं भवेत्” ।

तथा, अबुद्धिपूर्वक्रियायामर्हं प्रायश्चित्तं ।

तथा,—

“भेच्छेनाधिगता शूद्रा त्वज्ञानात्तु कथञ्चन ।

कृच्छ्रवयं प्रकुर्वीत ज्ञानात्तु द्विगुणं भवेत् ॥”

इत्यादिभिर्वचनैर्ज्ञानकामयोस्तुल्यप्रायश्चित्तदर्शनात्तुल्यफलतैव ।

किञ्च—स्वतन्त्रप्रवृत्तिर्विषयकामनाभ्यां नियता तयोरन्यतरापायेऽपि-
तस्या असम्भवात् । अतः कामत इत्युक्तेऽपि ज्ञानाज्ञानत इत्युक्तेऽपि कामः-
प्राप्तोत्पत्तिविनाभावात् ।

ननु कामकृते प्रायश्चित्ताभावात् कथं व्यवहार्यत्वं, तदभावश्चानभिसन्धि-
कृतेऽपराधे प्रायश्चित्तमिति,—

वशिष्टवचनात्,—

“द्वयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याकामतो द्विजम् ।

कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते” इति ॥

मनुवचनाच्चावगम्यते,—नैतत् ।

“यः कामतो महापापं नरः कुर्यात् कथञ्चन ।

न तस्य निष्कृतिर्दृष्टा भृग्वग्निपतनादृते” इति ॥

तथा,—

“विहितं यदकामानां कामात्तद्विगुणं भवेत्” ।

इति च कामकृतेऽपि प्रायश्चित्तदर्शनात् ।

यत्तु वशिष्टवचनं, तस्याप्यकामकृतेऽपराधे प्रायश्चित्तं शुद्धिकारं इत्यभि-
प्रायो न कामकृतेऽपि प्रायश्चित्ताभाव इति ।

यत्तु मनुवचनं,—द्वयं विशुद्धिरुदितेत्यादि तदपीयमिति सर्वनामपरा-
मृष्टद्वादशवार्षिकव्रतचर्याया एव ।

“कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते” ।

इत्यनेन प्रतिषेधो न पुनः प्रायश्चित्तमात्रस्य, मरणान्तिकादेः प्रायश्चित्तस्य-
दर्शितत्वात् । ननु यदि कामकृतेऽपि प्रायश्चित्तमस्ति तर्हि पापक्षयोऽपि-
कस्मान्नस्यादविशेषाद्, यदि पापक्षयो नास्ति तर्हि व्यवहार्यताऽपि कथं-
भवति । उच्यते उभयप्रायश्चित्ताविशेषेऽपि फलविशेषः शास्त्रतोऽवगम्यते,
अज्ञानकृते तु सर्वत्र पापक्षयः । यत्र तु ब्रह्महा सुरापो पुरुतल्पगो मातृ-
पितृयोनिष्वेद्याङ्गस्तेन नास्तिकनिन्दितकर्मभ्यासि—पतितात्याग्यपतित-
त्यागिनः पतिताः पातकसंयोजकाश्चेति गौतमोक्तमहापातकादौ व्यवहार्यत्वं
निषिद्धं, तस्मिन् पतनीये कर्मणि कामतः कृते व्यवहार्यत्वमात्रं न पापक्षय-
इति । नच पापक्षयाभावे व्यवहार्यत्वमनुपपन्नं, हे हि पापस्य शक्ती, नरकोत्-
पादिका व्यवहारनिरोधिका चेति । सत्तेतरशक्त्यविनाशेऽपि व्यवहार-
निरोधिकायाः शक्तेर्विनाशो नानुपपन्नः । तस्मात्पापानगमेऽपि व्यवहार्यत्वं
नानुपपन्नं । यत्तु मनुवचनं,—

अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधा ।

कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात्—इति ॥

तदपि कामकृतेऽपि प्रायश्चित्तप्राप्त्यर्थं । न पुनः पापक्षयप्रतिपादनपरं ।
अपतनीये पुनः कामकृतेऽपि प्रायश्चित्तेन पापक्षयो भवत्येव ।

अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुध्यति ।

कामतस्तु कृतं मोहात्-प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः ॥

इति मनुस्मरणात् ।

पतनीयेऽपि कर्मणि कामकृते मरणान्तिकप्रायश्चित्तेषु कल्मषक्षयो-
भवत्येव फलान्तराभावात् ।

“नास्यान्यस्मिन्नोके प्रत्यापत्तिर्विद्यते कल्मषन्तु निहन्त्यत इत्यापस्तम्ब-
स्मरणात्” । निरुक्तविवरणे विज्ञानिस्वरणोद्धृते सत्यपि मानवीयवचनव्रतादेव-
साधारणसन्देहनिरसनायोक्तोच्यते तदेव मानवीयवचनजातं कुल्लूकभट्टकृत-
तत्तद्विहितसहितं निजतः, यथाह मनुः ;—

अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः ।

कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥

अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुध्यति ।

कामतस्तु कृतं मोहात्-प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः ॥”

तथाह कुल्लूकभट्टः,—अकामत इति अवुद्धिपूर्वकृते पापे प्रायश्चित्तं-
भवतीत्याहुः पण्डिताः, एके पुनराचार्याः कामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं-
भवतीत्याहुः ।

एतच्च—पृथक्कल्याभिधानं प्रायश्चित्तगौरवार्थं श्रुतिनिदर्शनादिति ।

इन्द्रो यतीन् शालावृकीभ्यः प्रायश्चित् तमस्मीला वागित्यवदत् स प्रजाप्रति-
मुपधावत्, तस्मात् तमुपह्वयं प्रायश्च्छदिति ।

अस्यार्थः—इन्द्रो यतीन् बुद्धिपूर्वकं श्रुत्यः खादितुं दत्तवान् । स-
प्रायश्चित्तार्थं प्रजापतिसमीपमगमत्; तस्मै प्रजापतिरुपह्वयाख्यं कर्म प्रायश्चित्तं-

दत्तवान् । अतः कामकारकतेऽप्यस्ति प्रायश्चित्तं । तथा अकामत इति-
अनिच्छातः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुध्यति नश्यति, वेदाभ्यासेनेति काम-
कृतविषयप्रायश्चित्तापेक्षया लघुप्रायश्चित्तोपलक्षणार्थं प्रायश्चित्तान्तराणामपि-
विधानात् । रागद्वेषादिव्यामूढतया पुनरिच्छातः कृतं नानाप्रकारैः-
प्रायश्चित्तैर्विद्याधनतपोभिः शुध्यतीति गुरुप्रायश्चित्तपरं । अतः पूर्वोक्तस्यै-
वायं व्याकारः । यद्यपि अधिकारिनिरूपणं प्रकृतं, प्रायश्चित्तं त्वनन्तरं-
वक्ष्यति, तथाप्यज्ञानाल्लघुप्रायश्चित्ताधिकारी ज्ञानाद् गुरुणि प्रायश्चित्तेऽधि-
क्रियत इति । अधिकारिनिरूपणमेवेदं । तथाह स एव,—

“द्वयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्या कामतो द्विजं ।

कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते” ॥ इति ।

तथाच कुल्लूकभट्टः,—

“इयमिति एतत्तु प्रायश्चित्तं विशेषोपदेशमन्तरेण अकामतो ब्राह्मणवधे-
ऽभिहितं, कामतस्तु ब्राह्मणवधे नेयं निष्कृतिः ; नेतत् प्रायश्चित्तं, किन्त्वतो-
द्विगुणादिकरणात्मकमिति प्रायश्चित्तगौरवार्थं, न तु प्रायश्चित्ताभावार्थं ।

“कामतस्तु कृतं मोहात् प्रायश्चित्तैः पृथक्विधैः” ।

इति पूर्वोक्तविरोधात् । अतएव कामकृतपापे प्रायश्चित्तं विधेयमवश्य-
मिति निर्गलितार्थः । प्रायश्चित्तानुष्ठानेनैवमनपगते सत्यप्येनसि साकले-
न व्यवहारनिरोधकशक्तेरपगमात् व्यवहार्यत्वमपराधिन इति सुसिद्धमेव ।
यस्तु कामत इत्यज्ञानकृतेन प्रायश्चित्तेन ज्ञानकृतपापगमो न भवति-
किन्तु व्यवहार्यतामात्रं, ननु सति पापे कथं व्यवहार्यता ; अत्राह-
वचनादिति अयमभिप्रायः । अर्द्धप्रायश्चित्तानुष्ठानेनार्द्धपापक्षयात् सन्भाषण-
स्पर्शनदर्शनादिलघुव्यवहारो न दुष्टः । न तु भोजनपरिण्यादिव्यवहारोऽपि-
वचनादेव । यथा कुनखित्वादिव्याधिसूचितमहापापसद्भावे व्यवहार्यते-
त्यर्थमुत्थापयन्ति, तन्मन्दं, अकृतप्रायश्चित्तेन पापिना दासीघटोत्सर्गानन्तरं-
कृतप्रायश्चित्तेन सता साकं भोजनादिद्वितीयदलमन्तरा सन्भाषणादि-
प्रथमदलस्य याज्ञवल्क्येनात्मनैवाभ्यनुज्ञातत्वात् मिताचरोक्तविवरणस्य पूर्वा-

परासङ्गतेश्चात्रेदृशार्थकरणं न याज्ञवल्क्यानुमोदितमेव, कथमिति चेत् प्रदर्शयते-
समिताचरं याज्ञवल्क्यवचनं । यथाह—याज्ञवल्क्यः—सविज्ञानेश्वरः—“एवं-
महापातकादिभिः पतितस्य प्रायश्चित्तमुक्तं, यस्मै ह्यत्यादेतन्न चिकीर्षति तस्य-
किं कार्यमित्यत आह—

“दासीकुम्भं वह्निर्ग्रामान्निनयेरन् स्ववान्धवाः ।

पतितस्य वह्निः कुर्युः सर्वकार्येषु चैव तं ॥

जीवत एव पतितस्य ये ज्ञातयो बान्धवाः पितृमातृपक्षास्ते सर्वे-
सन्निपत्य दासीं प्रेष्या तथा सपिण्डादिप्रेषितया आनीतमपां पूर्णं कुम्भं घटं-
ग्रामात् वह्निर्निनयेयुः ।

एतच्चतुर्थ्यादिरिक्तातिथिष्वङ्गः पञ्चमे भागे गुर्वादिसन्निधौ कार्यं ।
अयं त्यागो यदा बन्धुभिः प्रेर्यमाणोऽपि प्रायश्चित्तं न करोति तदा द्रष्टव्यः ।
“यदा तु बन्धुत्यागादन्यथा वा जातवैराग्यः, प्रायश्चित्तं च कृतं, तदा किं-
कार्यमित आह—

“चरितव्रत आयाते निनयेरन् नवं घटम् ।

जुगुप्सेरन्न चाप्येनं संवसेयुश्च सर्व्वशः” ॥

कृतप्रायश्चित्ते बन्धुसमीपं पुनरायाते तत्सपिण्डाद्यास्तेन सहिता नवं-
अनुपहतं घटं उदकपूर्णं निनयेयुः । एतच्च निनयनं पुण्यक्रदादिज्ञानोत्तरं-
द्रष्टव्यं ।

“प्रायश्चित्ते तु चरिते पूर्णकुम्भमपां नवं ।

तेनैव साङ्गं प्रायेयुः स्नात्वा पुण्ये जलाशये” ॥

इति मनुस्मरणात् ।

तत एनं कृतप्रायश्चित्तं ते नैव कुत्सयेयुः । तथा सर्व्वकार्येषु क्रयविक्रया-
दिषु तेन सह संव्यवहरेयुः । पूर्वोक्तस्य पतितत्यागविधेरतिदेशमाह,—

“पतितानामेष एव विधिः स्त्रीणां प्रकीर्तितः ।

वासो गृहान्तिके देय अन्नं वासः सरक्षणं” ॥

य एव पुरुषाणां परित्यागे पिण्डोदकदानविधिः कृतप्रायश्चित्तानां-
परिग्रहविधिश्च । स एव पतितानां स्त्रीणामपि वेदितव्यः । इयांस्तु-
विशेषः पतिताभ्योऽपि ताभ्यः स्त्रीभ्यः कृतोदकादिकर्मभ्यो वासस्तृणपर्णमयं-
कुटीरगृहकं प्रधानगृहसमीपे देयं । तथा प्राणधारणसातमन्नं मलिनञ्च-
वस्त्रं पुनः पुरुषान्तरोपभोगनिवारणसहितं देयं ।

सनुरपि निरुक्तयाज्ञवल्क्यविज्ञानेश्वराभिप्रायं कच्चीकरोत्यनुपदमेव ।

यथा,—

“पतितस्योदकं कार्थ्यं सपिण्डैर्बान्धवैर्वहिः ।
निन्दितेऽहनि सायाह्ने ज्ञात्यृत्विग्गुरुसन्निधौ ॥
दासौ-घटमपां पूर्णं पर्य्यस्येत्-प्रेतवत्-यदा ।
अहोरात्रमुपासौरन्नशौचं बान्धवैः सह ॥
निवर्तेरंश्च तस्मात्तु सम्भाषणसहासने ।
प्रायश्चित्ते तु चरिते पूर्णकुम्भमपां नवं ॥
तेनैव साङ्गं प्रास्येयुः स्नात्वा पुण्ये जलाशये ।
स त्वप्सु तं घटं प्रास्य प्रविश्य भवनं स्वकं ॥
सर्वाणि ज्ञातिकाय्याणि यथापूर्वं समाचरेत् ।
एतमेव विधिं कुर्यात् योषित्सु पतितास्वपि ॥
वस्त्रान्नपानं देयं तु वसेयुश्च गृहान्तिके ।
एनस्त्रिभिरनिर्णितैर्नार्थं किञ्चित् सहाचरेत् ।
कृतनिर्णयकांश्चैव न जुगुप्सेत कर्हिचित् ॥” इति ।

तथा “पापकारिभिरकृतप्रायश्चित्तैः सह दानप्रतिग्रहादिकमर्थं किञ्चि-
न्नानुतिष्ठेत् । कृतप्रायश्चित्तान्नैव कदापि पूर्वकृतपापत्वेन निन्देत् । किन्तु-
पूर्ववदुच्यवहरेदिति कुल्लूकभट्टः, अर्थात् क्रयविक्रयादिषु व्यवहरेत् न तु भोजन-
परिण्यादिषु । अन्यथा विज्ञानेश्वरकुल्लूकभट्टविवृतेः परस्परविरोधापत्तेः ।

अतएव निरुक्तपापिनमन्तरेण कामतः पूर्वं कृतपापै-र्मानवैः पश्चादनुष्ठित-
प्रायश्चित्तैः सार्धं भोजनादिसकलकार्येषु व्यवहारोऽनुष्ठेय इति शास्त्रौय-
सिद्धान्तः ।

तथैव कुनखत्वादिसांक्रामिकरोगाभिभूतैः सह भोजनपरिणयनाद्यनुष्ठाने-
सति रोगसंक्रमणमिया शास्त्रनिषिद्धेऽपि लोकतो व्यावहारदर्शनात्तद्वृष्टान्तो-
निष्प्रयोजनक इति सुसमीचीनं । यदपि, अथवा अकारप्रश्लेषाद्-यथोक्त-
प्रायश्चित्तेन कामतोऽपि पापक्षयो भवत्येव । किन्तु अव्यवहार्यः पापाभावे-
ऽपि वचनात् ।

अतएव मनुः—

“बालघ्नांश्च कृतघ्नांश्च विशुद्धानपि धर्म्मतः ।

शरणागतहन्तृंश्च स्त्रौहन्तृंश्च न संवसेत्” ॥

यान्नवल्काः,—

“शरणागतबालस्त्रौहिसकान् संवसेन्नतु ।

चीर्णव्रतानपि सदा कृतघ्नसहितानिमान्” ॥

सहायीकृत्येत्यादिप्रमाणजालं यत्तु प्रतिपादितार्थवैपरीत्येन यत्कामकृता-
पराधिनोऽव्यवहार्यत्वं साकल्येन प्रतिपादयन्ति तदपि न धर्म्मशास्त्रसम्मतं ।
धर्म्माचार्यैर्विज्ञानेश्वरादिभिः पूर्वापरासङ्गत्याशङ्कया तादृगर्थस्यानङ्गीकृतत्वात्,
तथा ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि प्रोक्तप्रमाणव्रातप्रकाशितपापजातकारिणो मानवस्य-
स्वकर्तृकप्रायश्चित्तानुष्ठानेन नरकोत्पादिकायाः शक्तेः सत्यप्यगमे व्यवहार-
निरोधैकशक्तेरनपगमस्य “न जुगुप्सेतीत्यादि”वाक्यवृन्दापवादात्मकैः प्रमाणैरेतैः-
प्रकाशितत्वाच्च ।

हेतुद्वयसत्यत्वप्रदर्शनार्थं पुनः सूच्यते निरुक्तप्रमाणजातं सव्याख्यान-
मधस्तात् ।

यथाह मनुः—

“बालघ्नांश्चेत्यारभ्य-न संवसेदित्यन्तं” ।—

तथाच कुल्लूकभट्टः,—

“अस्यापवादमाह बालघ्नानिति—बालं यो हतवान् कृतोपकारं अप-
काराचरणेन यो विनाशितवान् प्राणरक्षार्थमागतं यो हतवान् स्त्रियं च यो-
व्यापादितवान् एतान् यथावत्कृतप्रायश्चित्तानपि संसर्गितया न परिवसेत् ।

तथाच याज्ञवल्क्यः,—

“शरणागतेत्यारभ्य-इमानित्यन्तं” ।—

तथाच विज्ञानेश्वरः,—

“जुगुप्सेरन्नवाप्येनं सम्बिश्रियुश्च सर्वशः” ।

“इत्यस्यापवादमाह—शरणागतादिव्यापादनकारिणः कृतघ्नसहितान्-
प्रायश्चित्तेन क्षीणदोषानपि न संव्यवहरेदिति वाचनिकोऽयं प्रतिषेधः, किमिदं-
वचनं न कुर्यान्नहि वचनस्यातिभारोऽस्ति, अतश्च यद्यपि व्यभिचारिणी-
स्त्रीबधेऽल्पीयमेव प्रायश्चित्तं, तथापि वाचनिकोऽयं संव्यवहारप्रतिषेधः” ।
प्रोक्तमतद्वयं न शास्त्रानुगतं केवलं स्वस्वपाण्डित्योत्कर्षापादकमतएव-
परिहृतमेव ।

अथ प्रायश्चित्तिनस्यर्षदुपस्थानं, तत्राङ्गिराः,—

“कृते निःशंसये पापे न भुञ्जीतानुपस्थितः ।

भुञ्जानो बर्हयेत्-पापमसत्यं पर्षदि ब्रुवन् ॥

सचेलं प्रयतः स्नात्वा क्लिन्नवासाः समाहितः ।

उपस्थाय ततः शौघमार्त्तिमान् धरणीं गतः ॥

गात्रैश्च शिरसा चैव न च किञ्चिदुदाहरेत्” ॥

उपस्थानञ्च ब्राह्मणान् वस्त्रादिना तोषयित्वा कार्यं ।

महत्सु पापेषु राज्ञोऽप्युपस्थितिः कार्येत्याह देवलः,—

“स्वयं वा ब्राह्मणैः कृच्छ्रमल्पदोषे विधीयते ।

राज्ञा च ब्राह्मणैश्चैव महत्सु परिचक्षते ॥”

परिषदमाहाङ्गिराः,—

“एकविंशतिसंख्याकैर्मिमांसावेदपारगैः ।
वेदाङ्गकुशलैश्चैव परिषत्संप्रकल्पयेत् ॥
चतुर्विद्यो विकल्पो च अङ्गविद्वर्त्मपाठकः ।
तयश्चाश्रमिणो वृद्धाः पर्षत्स्यात्तु दशावहा ॥”

मनुः,—

“तैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः ।
तयश्चाश्रमिणः पूर्वं पर्षत्स्यात्तु दशावरा” ॥

अङ्गिराः,—

“एषा तु लघुकार्येषु मध्यमेषु तु मध्यमा ।
महापातकिशोध्येषु शतशो भूय एव वा” ॥

प्रदर्शनार्थमिदं । यावद्भिरेव निरूपणं तावद्भिरेव परिषत् । दृष्टार्थत्वादिव
तस्याः । तथाच यमः,—

“एको द्वौ वा तयो वापि यद्ब्रूयुर्धर्मपाठकाः ।
स धर्म इति विज्ञेयो नेतरेषां सहस्रशः” ॥

प्रायश्चित्ताकथने दोषो यथा,—

“आर्त्तानां मार्गमाणानां प्रायश्चित्तानि ये द्विजाः ।
जानन्तो न प्रयच्छन्ति तेऽपि तद्दोषभागिनः ॥
अनर्चितैरनाहूतैरपृष्टैश्चैव संसदि ।
प्रायश्चित्तं न वक्तव्यं जानद्भिरपि जल्पतः ॥
न्यायतो मार्गमाणस्य क्षत्रियादेः प्रणामिनः ।
अन्तरा ब्राह्मणं कृत्वा व्रतमेतत् समादिशेत् ॥

हारीतः,—

“यथा वयो यथा कालं यथा प्राणञ्च ब्राह्मणे ।
प्रायश्चित्तं प्रदातव्यं ब्राह्मणैर्द्धर्मपाठकैः ॥
तस्मात् कृच्छ्रमथाप्यर्द्धं पादं वापि विधानतः ।
ज्ञात्वा बलाबलं कालं प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत्” ॥

अशक्तावनुग्रहमाह—पराशरः,—

“दुर्वलेऽनुग्रहः कार्यस्तथा वै शिशुवृद्धयोः ।
अतोऽन्यथा भवेद्दोषस्तस्मान्नानुग्रही भवेत्” ॥

स्नेहादिनानुग्रहे दोषो यथा,—

“स्नेहाद्वा यदि वा लोभात्-मोहादज्ञानतोऽपि वा ।
कुर्वन्त्यनुग्रहं ये तु तत्पापं तेषु गच्छति ॥

शास्त्रीयप्रायश्चित्तमुदाहृत्य पञ्चादनुग्रहः कार्य इत्याहङ्गिराः,—

“कृत्वा पूर्वमुदाहारं यथोक्तं धर्मवत्तृभिः ।
पश्चात्-कार्यानुसारेण शक्त्या कुर्वन्त्यनुग्रहं” ॥

वृद्धत्वादिभेदात् प्रायश्चित्तं यथा,—

“अशीतिर्यस्य वर्षाणि बालो वापूः प्रषोडशः ।
प्रायश्चित्तार्द्धमर्हन्ति स्त्रियो रोगिण एव च” ॥

अथ पापनिष्क्रमणादिः । तत्र मनुः,—

“व्यापनेनानुतापेन तपसाध्ययनेन च ।
पापकृन्मुच्यते पापात्तथा दानेन चापदि” ॥

आपदीत्यनेन अध्ययनतपसोर्दानमनुकल्प इत्युक्तं । एतद्विंसाव्यतिरिक्त-
विषयं । हिंसायां तु दानं मुख्यं ।

यथा भविष्ये,—

“हिंसात्मकानां सर्वेषां कीर्तितानां मनीषिभिः ।

प्रायश्चित्तकदम्बानां दानं प्रथम उच्यते ॥”

तथा मनुः,—

“दानेन वधनिर्णेकं सर्पादीनामशक्नुवन् ।

एकैकशस्त्ररेतुक्छ्छं द्विजः पापापनुत्तये ॥”

सामान्यप्रायश्चित्तानि यथा सम्बर्त्तः,—

“हिरण्यदानं गोदानं भूमिदानं तथैव च ।

नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि” ॥

तथाच यमः,—

“शोषणेन शरीरस्य तपसाध्ययनेन च ।

पापकृन्मुच्यते पापाद्दानेन च दमेन च” ॥

तथाच मनुः,—

“कृत्वा पापं हि सन्तप्य तस्मात्पापात्-प्रमुच्यते ।

नैतत् कुर्यां पुनरिति-निवृत्त्या पूयते नरः” ॥

तथा विष्णुपुराणं ;—

“प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तपःकर्मात्मकानि वै ।

यानि तेषामशेषाणां कृष्णानुस्मरणं परं” ॥

यमोऽपि,—

“गवाङ्गिका देवपूजा वेदाभ्यासः सरित्प्लवः ।

नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि” ॥

गौतमोऽपि—

“गौर्वासोऽश्वा भूमिस्तिला वृत्तमन्नमिति देयानि । एतान्येवानादेशे
विकल्पेन क्रियेरन् एनसि लघुनि लघूनि गुरुणि गुरुणीति” ।

तथा विष्णुपुराणे,—

“एवं विषयभेदाच्च व्यवस्थाप्यानि पुत्रक ! ।
प्रायश्चित्तानि सर्वाणि गुरुणि च लघूनि च ॥”
अन्यथा हि महाबाहो ! लघूनामुपदेशतः ।
गुरुणामुपदेशो हि निष्प्रयोजनतां ब्रजेत्” ॥

महाभारतेऽपि,—

“यद्यकार्यशतं कृत्वा कृतं गङ्गाभिषेचनं ।
सर्वं दहति गङ्गाभस्तूलराशिमिवानलः” ॥

व्रतानि शुद्धिकारणान्याह विश्वामित्रः—

“कृच्छ्रं चान्द्रायणादीनि शुद्धयभ्युदयकारणं ।
प्रकाशे वा रहस्ये वा संशयेऽनुक्तकेऽस्पृष्टे ॥
प्राजापत्यः शान्तपनः शिशुकृच्छ्रः पराककः ।
अतिकृच्छ्रः पर्णकृच्छ्रः सौम्यः कृच्छ्रातिकृच्छ्रकः ॥
महाशान्तपनः शुद्धैः तप्तकृच्छ्रस्तु पावनः ।
जलोपवासकृच्छ्रश्च ब्रह्मकूर्चस्तु शोधकः ॥
एते समस्ता व्यस्ता वा प्रत्येकमेकशोऽपि वा ।
पातकादिषु सर्वेषु पापकेषु प्रयत्नतः ॥
कार्याश्चान्द्रायणैर्युक्ता केवला वा विशुद्ध्यै ।
शिशुचान्द्रायणं प्रोक्तं यतिचान्द्रायणं तथा ॥
यवमध्यं तथा प्रोक्तं तथा पिपीलिकाकृति ।
उपवासस्त्रिरात्रं वा मासपक्षस्तदर्द्धकं ॥
षड्वह्वादशाहादि कार्यं शुद्धिफलार्थिना ।
उपपातकयुक्तानामनादिष्टेषु चैव हि ॥

प्रकाशे च रहस्ये च अभिसन्ध्याद्यपेक्षया ।

जातिशक्तिगुणान् दृष्ट्वा सकृद्-बुद्धिकृतं तथा ॥

अनुबन्धादिकं दृष्ट्वा सर्वं कार्यं यथाक्रमम्” ।

प्रकाशकृते पापे व्रतानि मुख्यानि । रहस्यकृते जपादीनि ।

यथा प्राजापत्यान्यभिधाय मनुः,—

“एतैर्द्विजातयः शोध्या व्रतैराविष्कृतैर्नसः ।

अनाविष्कृतपापांस्तु मन्त्रैर्हीमैस्तु शोधयेत्” ॥

देवलः,—

“प्रकाश उक्तं यत्किञ्चित्-विंशभागो रहस्यके ।

त्रिंशभागः षष्टिभागः कल्पो जात्याद्यपेक्षया” ॥ इति ।

अथ प्रायश्चित्तपूर्वाहकृत्यं—शङ्खलिखितौ ।

“व्याप्य केशनखान् पूर्वं घृतं प्राश्य वह्निर्निशि ।

प्रत्येकं नियतं कालमात्मनो व्रतमादिशेत् ॥

प्रायश्चित्तमुपासौनो वाग्यतस्त्रिसवनं स्पृशेत् । इति ।

केशधारणेच्छायां द्विगुणव्रतादिकमाह हारीतः,—

“राजा वा राजपुत्रो वा ब्राह्मणो वा बहुश्रुतः ।

केशानां वपनं कृत्वा प्रायश्चित्तं समाचरेत् ॥

केशानां धारणार्थं च द्विगुणं व्रतमाचरेत् ।

द्विगुणे तु व्रते चीर्णं द्विगुणा दक्षिणा भवेत् ॥

विद्वद्विप्रनृपस्त्रीणां नेष्यते केशवापनं ।

ऋते महापातकिनो गोहन्तुश्चावकीर्णिनः” ॥

सधवास्त्रीणां विशेषमाह भवदेवभट्टकृतं वचनं ।

“वपनं नैव नारीणां नानुब्रज्याजपादिकं ।
न गोष्ठे शयनं तासां न च दद्यात्-गवाजिनम् ॥
सर्वान् केशान् समुद्धृत्य क्तिदयेदङ्गुलिद्वयम् ।
सर्वत्रैवं हि नारीणां शिरसो मुण्डनं स्मृतम्” ॥

अथ धेनुमूल्यवस्था । तत्र सम्बन्धः,—

“प्राजापत्यव्रताशक्तौ धेनुं दद्यात्पयस्विनीम् ।
धेनोरभावे दातव्यं तुल्यं मूल्यं न संशयः” ॥

पयस्विनीमिति विशेषणं दुग्धोपयोगाय । स च वत्सं विना न सम्भवति ।
अतः सवत्साया एव दानं मुख्यं, तदभावे यथोचितं मूल्यं । तदसम्भवे
पौराणिकतयं ।

“द्वात्रिंशत्पणिका गावो वत्सः पौराणिको भवेदिति” ।

कात्यायनवचनात् ।

षट्त्रिंशत्तमिति कृत्वा पठन्ति,—

“धेनुः पञ्चभिराढ्यानां मध्यानां त्रिपुराणिकी ।
कार्षापणैकमूल्या हि दरिद्राणां प्रकीर्तिता” ॥

प्रायश्चित्तोत्तरकर्त्तव्यानि यथाह भविष्ये,—

“क्रियते शुद्धये यत्तु ब्राह्मणानां तु भोजनम् ।
शुद्ध्यर्थमिति तत्-प्रोक्तं दैनतेय ! मनीषिभिः ॥”

जाबालः,—

“आरम्भे सर्व्वकृच्छ्राणां समाप्तौ च विशेषतः ।
आज्येनैव हि शालाग्नौ जुहुयादाहुतीः पृथक् ॥
श्राद्धं कुर्यात्-व्रतस्यान्ते गोहिरण्यान्नदक्षिणम्” । इति ।

प्रायश्चित्तानन्तरं गोभ्यो यवसं दद्यात् । यदि गावस्तद्वत्तदणं न गृह्णीयु-
स्तदा पुनस्तत्प्रायश्चित्तमनुतिष्ठेत् । यथाह हारीतः,—

“स्वशिरसा यवसमादाय गोम्यो दद्यात् यदि ताः प्रमुदिता गृह्णीयुरथैनं-
प्रवर्त्तयेयुः” । एनं कृतप्रायश्चित्तं विद्यादितरथा न इति । जातिशक्ति-
गुणापेक्षेत्यादि निरुक्तप्रमाणतो जातिशक्त्याद्यनुसारेण स्थूलतः प्रायश्चित्तस्य-
सत्यपि कथिते गुरुलाघवे जातेः कस्याः कौटुक प्रायश्चित्तं विधेयमित्याशङ्क्य-
तन्निर्णयिमाह ।

मिताचरायां वृहद्विष्णुः,—

“विप्रे तु सकलं देयं पादोनं क्षत्रिये मतम् ।

वैश्ये ऽर्धं पादशेषं तु शूद्रजातिषु शस्यते” ॥ इति ।

सान्तपनादिव्रतव्रातमुपरितः प्रोच्यापि तत्तत्स्वरूपानिर्णयात् प्रकाशयन्ते-
तत्तत्स्वरूपाणि निम्नतः ;—

यथोक्तलदेशप्रचलितपण्डितसर्वस्वे,—

तथा तप्तकच्छस्वरूपं,—

“ब्राह्ममुष्णं जलं पीत्वा त्यहमुष्णं पयः पिबेत् ।

ब्राह्ममुष्णं घृतं पीत्वा वायुभक्ष्यो दिनत्रयम्” ॥

तथा सान्तपनकच्छस्वरूपं,—

“गोमुत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् ।

जग्ध्वा परेऽङ्गुपवसेत्-कच्छं सान्तपनं चरन्” ॥

पूर्वेद्युराहारान्तरपरित्यागेन गोभृत्तादीनि पीत्वा परेऽङ्गुपवसेदिति-
हैरात्रिकसान्तपनकच्छं । गोभृत्तादीनां परिमाणमुपरि वाच्यं ।

तथा ब्रह्मकूर्चस्वरूपं,—

“पूर्वेद्युरुपवासी सन्नपरेद्युः समन्त्रकम् ।

पञ्चगव्यं यदश्नाति ब्रह्मकूर्चः स उच्चते” ॥

यदाह पराशरः,—

“गोमुत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् ।

निर्दिष्टं पञ्चगव्यं च पवित्रं कायशोधनम् ॥

गोमूत्रं ताम्रवर्णायाः श्वेतायाश्चैव गोमयम् ।
 पयः काञ्चनवर्णायाः नीलायाश्च तथा दधि ॥
 घृतं च कृष्णवर्णायाः सर्वं कापिलमेव वा ।
 अलाभे सर्ववर्णानां पञ्चगव्येष्वयं विधिः ॥
 गोमूत्रं मासकास्त्वष्टौ गोमयस्य तु षोडश ।
 क्षीरस्य द्वादश प्रोक्ता दध्नस्तु दश कीर्तिताः ॥
 गोमूत्रवद्घृतस्याष्टौ तदर्द्धं तु कुशोदकम् ।
 गायत्रेति च गोमूत्रं गन्धद्वारेति गोमयम् ॥
 आप्यायस्वेति च क्षीरं दधिक्रावणेति वै दधि ।
 तेजोऽसि शुक्रमत्याजं देवस्य त्वा कुशोदकम् ॥
 पञ्चगव्यमृचा पूतं होमयेदग्निसन्निधौ ।
 सप्तपर्णाश्च ये दर्भा अच्छिन्नाग्राः शुक्लविषः ॥
 एतैरुद्धृत्य होतव्यं पञ्चगव्यं यथाविधि ।
 ईरावती द्वादं विष्णुर्मानस्तोकेन संवती ॥
 एताभिश्चैव होतव्यं हुतशेषं पिवेद्द्विजः ।
 प्रणवेन समालोड्य प्रणवेनाभिमन्त्र्य च ॥
 प्रणवेन समुद्धृत्य पिवेत्तत्-प्रणवेन तु ।
 मध्यमेन पलाशस्य पद्मपत्रेण तत्पिवेत् ॥
 स्वर्णपात्रेण ताम्रेण ब्रह्मतीर्थेन वा पुनः ।
 यत्त्वगस्थिस्थितं पापं देहे तिष्ठति मानवे ॥
 ब्रह्मकूर्चीपवासस्तु दहत्यग्निरिवेन्मन"मिति ।

तथा पादकृच्छ्रस्वरूपं,—

“एकभक्तेन नक्तेन तथैवायाचितेन च ।

उपवासेन चैवायं पादकृच्छ्रः प्रकीर्तितः” ॥

अयाचितेन स्वप्नेरणाविरहपूर्वकसयाञ्जारहितेन ।

एकभक्तादीनां ग्राससंख्यातु—

“सायं तु द्वादश ग्रासाः प्रातः पञ्चदश स्मृताः ।

चतुर्विंशत्याद्याश्च परं निरशनं स्मृतम्” ॥

सायंनक्ते,—प्रातरेकभक्ते—ग्रासस्थूलं तु,—

“कुक्कुटाण्डप्रमाणं तु यथास्यं सस्विशेत्-सुखम्” ।

तथा प्राजापत्यकृच्छ्रस्वरूपं,—

“ब्रह्मं प्रातः ब्रह्मं सायं ब्रह्ममद्यादयाचितम् ।

ब्रह्मं परं च नाश्नीयात्प्राजापत्यं चरन् द्विजः” ॥

ग्रासपरिमाणं तु पूर्ववत् ।

तथाऽर्चककृच्छ्रस्वरूपं,—

“सायं प्रातस्तथैवैकं दिनद्वयमयाचितम् ।

दिनद्वयं तु नाश्नीयात् कृच्छ्राद्धं तत् विधीयते” ॥

तथातिक्कृच्छ्रस्वरूपं,—

“अयमेवातिकृच्छ्रः स्यात् पाणिपूरान्नभोजनः” ।

अयमेव प्राजापत्यकृच्छ्र एव । पाणिपूरान्नभोजनः—द्वाविंशत्यादि-
ग्रासस्थाने त्रिदिनेष्वेकैकं स्वप्रसूतिमात्रभोजनं ।

तथा कृच्छ्रातिकृच्छ्रस्वरूपं,—

“कृच्छ्रातिकृच्छ्रः पयसा दिवसानेकविंशति” ॥

पयसा वर्त्तनमिति विशेषः जलेन ।

तथा पराकस्वरूपं,—

“द्वादशाहोपवासेन पराकः परिकीर्तितः” ।

तथा सौम्यकृच्छ्रस्वरूपं,—

“पिण्याकाचमतक्राम्बुसकथूनां प्रतिवासरम् ।

एकरात्रोपवासश्च सौम्यकृच्छ्रोऽयमुच्यते” ॥

पिण्याकाचमनादिवर्त्तनेन षड्दिनसाध्यो बोध्यः ।

तथा तुलापुरुषाख्यकृच्छ्रस्वरूपं,—

“एषां त्रिरात्रमभ्यासादेकैकस्य यथाक्रमम् ।

तुलापुरुष इत्येष ज्ञेयः पञ्चदशाहिकः” ॥

एषां पिण्याकादीनां क्रमेणैकैकस्य त्रिरभ्यासात्पञ्चदशाहसाध्योऽयं कृच्छ्रः ।

पञ्चदशाहविधानादुपवासरहितः” ।

तथा चान्द्रायणस्वरूपं,—

“तिथिवृद्ध्या चरेत्-पिण्डान् शुक्ले शिख्यण्डसम्मितान् ।

एकैकं वर्द्धयेत्-पिण्डं शुक्ले कृष्णे च ज्ञासयेत् ॥

ब्रह्मद्वये न भुञ्जीत एष चान्द्रायणो विधिः” ।

चन्द्रस्य ज्ञासद्वित्रिभ्यामयनमिवाचरणं यस्मिन् कर्मणि तच्चान्द्रायणं-
सज्ञायां दीर्घः” । इदं यववत् प्रान्तयोरल्पत्वेन मध्ये स्थूलत्वेन च यवमध्य-
मित्युच्यते ।

“अनादिष्टेषु पापेषु शुद्धिश्चान्द्रायणेन तु ।

धर्मार्थं यश्चरेदेतच्चन्द्रस्येति सलोकताम् ॥

यच्चोक्तं यत्र वा नोक्तमिह पातकनाशनम् ।

प्राजापत्येन कृच्छ्रेण शोधयेन्नात्र संशयः” ॥

कृच्छ्रचान्द्रायणादीनामितिकर्तव्यतासाधारण्यमिदानीं प्रदर्श्यते निश्चितः ।

यथा तत्रैव,—

“कृत्वा त्रिसवणस्नानं कृच्छ्रे चान्द्रायणे तथा ।
पवित्राणि जपेत्-पिण्डान् गायत्र्या परिसन्वयेत्” ॥

कृच्छ्रे प्राजापत्यादिके—

“सावित्रीञ्च जपेन्नित्यं पवित्राणि च सर्वशः ।
महाव्याहृतिभिर्होमः कर्त्तव्यः स्वयमन्वहम् ॥
अङ्गुलप्रये स्थितं पिण्डं गायत्र्या चाभिमन्त्रितम् ।
प्राश्याचम्य पुनः कुर्यादपरस्याभिमन्त्रणम् ॥
पूर्वं व्रतं गृहीत्वा तु नाचरेत्-काममोहितः ।
जीवन् भवति चण्डालो मृतस्तत्रैव जायते” ॥

चरेत् भक्षयेत् ।

अथ यथा व्रतग्रहणविधिस्तत्रैव,—एतानि कृच्छ्रचान्द्रायणादीनि पाप-
प्रायश्चित्तार्थमनुष्ठेयन्ते । तदा केशवपनपूर्वकं व्रतात् पूर्व्वद्युः सायं काले-
ग्रहीतव्यानि, अभ्युदयार्थे तु नैव वपनम् ।

“सर्वपापेषु सर्वेषां व्रतानां विधिपूर्वकम् ।
ग्रहणं संप्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्ते चिकीर्षिते ॥
दीयते नखरोमादीन् प्रवाप्य स्नानमाचरेत् ।
भस्मगोमयमृद्वारि पञ्चगव्यानि कल्पयते ॥
मलापकर्षणं कार्य्यं वाह्याशौचोपशुद्धये ।
दन्तधावनपूर्वेण पञ्चगव्येन संस्कृतम् ।
व्रतं निशामुखे ग्राह्यं वहिस्तारकदर्शने ॥
आचक्षाणः परं मौनी ध्यायन् दुष्कृतमात्मनः ।
मनःसन्तापनं तीव्रमुद्वेच्छोकामन्ततः” ॥

दिनान्ते व्रतस्य दिनस्य पूर्वद्युः सायं वह्निः ग्रामाद्वह्निः ।

“आराम्ने सर्वकृच्छ्राणां समाप्तौ च विशेषतः ।

आज्येनैव हि शालाग्नौ जुहुयाद्व्याहृतीः पृथक् ॥

गात्राभ्यङ्गं शिरोभ्यङ्गं ताम्बूलमनुलेपनम् ।

व्रतस्थो वर्जयेत्-सर्वं यच्चान्यद्-वलकारकम्” ॥

स्त्रियाप्येवं व्रतपरिग्रहः कार्यः केशनखरोमवपनवर्जं ।

“विद्वद्विप्रनृपस्त्रीणां नेष्यते केशवापनं ।

ऋते महापातकिनीं गोहन्तुश्चावकौर्गिनः” ॥

इति वचनात् ।

कृच्छ्राणामेतेषां कर्त्तव्यत्वाशक्तावुक्तो धेनुदानविधिस्तत्रैव । यथा,—

“प्राजापत्ये भवेद्धेनुः तिस्रः सान्तापने तथा ।

पञ्च चान्द्राणे प्रोक्ताः चतस्रो-वाय धेनवः ॥

पराके द्वे तु निर्दिष्टे तप्तकृच्छ्रे तथैव च ।

द्वेऽतिकृच्छ्रे समाख्याते धेनुः पञ्चपुराणिका ॥

कृच्छ्रे पञ्चातिकृच्छ्रे द्विगुणमहरहस्त्रिंशदेव तृतीये ।

चत्वारिंशच्च तप्ते तदनु च रचयेत्-सार्द्धमासं पराके ॥

कृच्छ्रे सान्तापनाख्ये भवति षडधिका विंशतिः सैव हीना ।

द्वाभ्यां चान्द्रायणे स्यात्तपसि कृशवलो भोजयेद्विप्रमुख्यान् ॥

पञ्चाहे तु चरेत्-कृच्छ्रं दशाहे तप्तकृच्छ्रकम् ।

पराकस्त्वर्द्धमासे स्यान्मासे चान्द्रायणं चरेत् ॥

मासत्रये तु कुर्वीत कृच्छ्रं चान्द्रायणद्वयम् ।

षाण्मासिकव्रते तावत्-कृच्छ्रार्द्धमभिधीयते” ॥

वाक्यमिदं न साधारणं किन्तु शक्त्यपेक्षया प्रयोज्यं । कृच्छ्रार्द्धमतिकृच्छ्रं ।

अथ वार्षिकव्रतविधिस्तत्रैव । “वर्षेण साध्यं कर्म वार्षिकं ।

तत्र सुमन्तः,—

“यद्यप्यसक्तदभ्यस्तं बुद्धिपूर्वमघञ्च यत् ।
तच्छुद्धात्यवक्त्रच्छ्रेण महतः पातकादृते” ॥

अवक्त्रच्छाशक्तौ,—

“प्राजापत्यक्रियाशक्तौ धेनुं दद्यात् विचक्षणः ।
धेनोरभावे दातव्यं तुल्यं मूल्यं न संशयः ॥
गवामभावे निष्कं स्यात्तद्वर्द्धं पाद एव वै”ति । पराशरः ।

तदभावे गायत्रीजप उदवासो वा कार्यः ।

“क्वच्छ्रेऽयुतं हि गायत्र्या उदवासस्तथैव च ।
धेनुप्रदानं विप्राय सममेतच्चतुष्टयम्” ॥ इति पराशरः ।

उदवास उदकसमीपे वासः । तथा वाक्यं,—देशकालवाक्यानन्तरं ममे-
तज्जन्मप्रभृतिबुद्धिपूर्वसक्तदत्यन्ताभ्यासक्तमहापातकव्यतिरिक्तोपपातकादिच-
यार्थं सुमन्तूक्तानां त्रिंशत्क्वच्छ्रेणां कर्तव्यत्वेन प्राप्तानां साक्षादनुष्ठानाशक्तौ-
तत्प्रतिनिधित्वेन प्रतिप्राजापत्यमेकैकधेनुव्यवस्थया त्रिंशद्देनूनां दातव्यत्वेन-
प्राप्तानां साक्षाद्दानासम्भवे प्रतिधेनु निष्कनिष्कार्दनिष्कपादव्यवस्थया यावद्-
भवति तावत्-परिमितमग्निपुराणोक्तमग्निदैवतं काञ्चनं तुभ्यमहं संप्रददे ।
तेभ्यो-दातुमहमुत्सृज इति वा ।

अथ द्वैवार्षिकव्रतविधिर्यथा,—

“जन्मप्रभृति यत्किञ्चित्-पातकं तूपपातकम् ।
तावदावर्त्तयेत्क्वच्छ्रेण यावत् षष्टिगुणं भवेत्” ॥

वाक्यं,—समैतज्जन्मप्रभृति-ज्ञानाज्ञानसक्तदत्यन्ताभ्यासक्तमहापातकाति-
पातकव्यतिरिक्तपापचयार्थं षष्टिक्वच्छ्रेणां कर्तव्यत्वेन प्राप्तानामित्यादि सर्व-
पूर्ववत् । त्रिंशद्देनूनामित्यत्र षष्टिधेनूनामिति विशेषः ।

अथ त्रैवार्षिकव्रतविधिः ।

यथा,

“त्रैवार्षिकं भूणहत्यायामुहक्वागमे तथा ।

गोवधे च तथा कुर्यात्-परस्त्रीगमनेऽपि च” ॥

वाक्यं,—एतज्जन्मप्रभृतिभूणहत्यादिजनितपापक्षयार्थं शङ्कोक्तानां नवति-
कच्छ्राणामिति । सर्वं पूर्ववत् । षष्टिधेनूनामित्यत्र नवतिधेनूनामिति विशेषः ।

अथ षाड्वार्षिकव्रतविधिः ।

यथा,—

जन्मप्रभृति पापानि विविधानि वह्नि च ।

कृत्वावाक् ब्रह्महत्यायाः षडब्दं कृच्छ्रमाचरेत्” ॥

वाक्यं,—एतज्जन्मप्रभृतिब्रह्महत्यादिमहापातकव्यतिरिक्तबहुविधपापक्षयार्थं
अशीत्यधिकशतकच्छ्राणां कर्तव्यत्वेनेत्यादि । सर्वं पूर्ववत् । अशीत्यधिकशत-
धेनूनामिति विशेषः ।

अथ द्वादशवार्षिकव्रतविधिः ।

यथा एकामकृतविषये,—

“ककस्तेयौ सुरापश्च ब्रह्महा गुरुतल्पगः ।

व्रतेनानेन शुध्यन्ति महापातकिनस्त्रिमे” ॥

अनेन द्वादशवार्षिकेण । वाक्यं,—एतज्जन्मप्रभृत्येकामकृतसकृदत्यन्ता-
भ्यासजनितब्रह्मवधादिमहापातकक्षयार्थं शङ्कोक्तानां षष्ट्यधिकशतत्रयाणां-
कच्छ्राणां कर्तव्यत्वेनेत्यादि । सर्वं पूर्ववत् । षष्ट्यधिकशतधेनूनामिति विशेषः ।
धेनुदानासम्भवेऽयुतजपस्य एककच्छ्रप्रतिनिधित्वोक्तोर्यावत्कच्छ्रानुरूपं कार्यं ।
अथवा सप्तधेनुदानमिति गौतमः, वाक्यं,— समैतज्जन्मप्रभृतिज्ञानाज्ञानतः-
सकृदत्यन्ताभ्यासकृतमहापातकातिपातकव्यतिरिक्तसर्वपापक्षयार्थं कच्छ्राति-
कच्छ्रचान्द्रायणाचरणं प्राप्तं, तदशक्तौ कच्छ्रे धेनुरतिकच्छ्रे धेनुद्वयं चान्द्रायणे-
धेनुचतुष्टयमिति तत्प्रतिनिधित्वेन सप्तधेनवो दातव्यत्वेन प्राप्ताः सम्पत्ति-

तासामसम्भवे प्रतिधेनु निष्कपादव्यवस्थया यावद्भवति तावत्परिमितं काञ्चन-
तुभ्यमित्यादि” ।

अथ पापोद्देशोक्तेष्वपूर्वकं पापस्वरूपपापभेदनिरूपणं ।

पापोद्देशे विष्णुर्यथा प्रायश्चित्तविवेके,—

“अथ पुरुषस्य कामक्रोधलोभाख्यरिपुत्रयं सुधोरं भवति परिग्रहप्रसङ्गा-
दर्थात् विषयप्रसङ्गात् विशेषेण गृहाश्रमिणस्तेन रिपुत्रयेणायमाक्रान्तोऽति-
पातकमहापातकानुपातकोपपातकेषु वर्त्तते जातिभ्रंशकरेषु संकरीकरणेषु-
अपात्रीकरणेषु मलावहेषु प्रकीर्णकेषु” । अनेन नवविधत्वं पापस्योक्तं । किं
तावत्पातकं ? तत्र महापातकाधिकारे मनुः—

“असम्भाष्या असंयोज्य । अविवाह्या ह्यपाठिनः ।

चरेयुः पृथिवीं दौनाः सर्वधर्मवहिष्कृताः ॥

अतो महापातकेषु द्विजातिकर्मानधिकारः, एतद्विहितद्वादशवार्षिक-
प्रायश्चित्तापनेयत्वादतिपातकानुपातकयोरपि । अतो द्वादशवार्षिकप्रायश्चित्ता-
पनेयार्हं पापं पतनं । द्विजातिग्रहणं प्राधान्यार्थं शूद्रस्यापि वाक्यान्तरेण
पातित्याभिधानात् ।

अथवा द्विजातिकर्मानधिकारापादकं पातकं पतनं । अनधिकारस्य-
महापातके श्रुत-एव, अनुपातकेऽपि तत्समत्वादुपपातकादौ क्वचित्पततीति-
श्रुतेः, अतिपातके च ततो गुरुत्वान्नभ्यते । यद्वा महापातकानपकृष्टं-
पातकं पतनं अनुपातकस्य तत्समत्वादुपपातकादेश्च क्वचित् पततीत्यभिधा-
नात् अपकर्ष एव । अतः सद्यः पतति मांसेनेति, शूद्रावेदी पतत्यत्नेरित्यादि-
मनुवचनं निन्दार्थं । तथापि पतितशब्दोऽयं पापकारिवचनः ।

यथाह मनुः,—

“यो येन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः ।

स तस्यैव व्रतं कुर्यात्तत्संसर्गविशुद्ध्यै” ॥

तथाच कुल्लूकभट्टः,—यो येनेति, पतितशब्दोऽयं पापकारिवचनः सकल-
पापानामविशेषपाठात् । एषां पतितानां मध्ये यो येन पापकारिणा सह-

पूर्वोक्तं संसर्गं करोति स तस्यैव व्रतरूपं प्रायश्चित्तं कुर्यात्, न तु मरणान्तिक-
मित्यभिहितं । तदपि व्रतं संसर्गिणा क्रियमाणं ब्रह्महा द्वादश समा-
इत्यादिकं पादहीनं कर्त्तव्यं ।

तथाच व्यासः,—

“यो येन संसृजेद्वर्षं सोऽपि तत्समतामियात् ।

पादन्यूनं चरेत् सोऽपि तस्य तस्य व्रतं द्विजः” ॥

तथाच विज्ञानेश्वरः,—“ननूपपातकादीनां कथं पातकत्वं पतनहेतुत्वा-
भावात् । यदि तेषामपि पतनहेतुत्वं तर्हि मादृषिद्वसम्बन्धाङ्ग-इत्यादि-
परिगणनमनर्थकं । अथैवमुच्यते—यद्यपि महापातकतत्त्वमेष्विव सद्यः—

पातित्यहेतुत्वं नास्ति तथाप्यभ्यासापेक्षया पातित्यहेतुत्वमविरुद्धं ।
निन्दितकन्ध्याभ्यासी गौतमवचनादिति । अभ्यासस्तु तस्मिन्निन्दितकन्ध्याणि-
यावत्प्रत्यक्षमाने महापातकतुल्यत्वं भवति तावानभ्यासः पातित्यहेतुः ।

युक्तमतोऽभ्यासापेक्षयोपपातकादेः पतनहेतुत्वमिति ।”

प्रकृतमभिधीयते । मनुना अष्टविधं पापं महापातकादिप्रकीर्णकान्त-
मुक्तं—नाति पातकं ज्ञानादज्ञनाद्वा सकृदभ्यासादुवा तत्र मरणान्तिकाभि-
धानात्, तस्य चानिर्देशत्वात् तस्य चानिर्देशत्वमिति प्रायश्चित्तविशेष-
निरूपणार्थं एवहि पापविशेषनिर्देशः । अतिपातकप्रायश्चित्तस्य तु मरणस्य
ज्ञानाज्ञानसकृदभ्यासादिभिर्विशेषतो निरूपणाभावात् तत्पापस्य चानिर्देशत्व-
मिति भावः ।

किमतिपातकं तदाह विष्णुः,—

“मादृगमनं दुहितृगमनं क्षुषागमनमित्यतिपातकानि” ।

सम्यग्मति महापातकादिनवविधपातकानां प्रत्येकं सप्रमाणतद्विवेचनोक्तेष्वपूर्वक-
मुद्भाव्यते प्रायश्चित्तव्यवस्थाधस्तादयथाक्रमं । तत्र नवविधानामेतेषां
पापानामन्तराले महापातकव्रातस्य प्रायश्चित्तातिशयेन गुरुत्वादादितो-
निरूप्यते महापातकव्रातं यथा,—

प्रायश्चित्तमनोहरः—

“ब्राह्मणो न च हन्तव्यः सुरा पेया न च द्विजेः ।

ब्राह्मणस्वर्णहरणं न कर्त्तव्यं कथञ्चन ॥

गुरुपत्नीं न गच्छेत् न च तैः सङ्गमं चरेत् ।

महापातकसङ्गा तु निर्दिष्टैषा मनोषिभिः” ॥ इति ।

तत्र महापातकसामान्यप्रायश्चित्तानि । यथाह शङ्खः,—

“नित्यं त्रिषवणस्नायी कृत्वा पर्णकुटीं वने ।

अधःशायी जटाधारी पर्णमूलफलाशनः ॥

ग्रामं विशेत् भिक्षार्थी स्वकर्म परिकीर्त्तयन् ।

एककालं समश्नानो वर्षं तु द्वादशे गते ॥

रुक्मस्तेयो सुरापश्च ब्रह्महा गुरुतल्पगः ।

व्रतेनैतेन शुध्यन्ति महापातकिनस्त्वमे” ॥ इति ।

विष्णुः,—

“अश्वमेधेन शुद्धेयुर्महापातकिनस्त्वमे ।

पृथिव्यां सर्वतीर्थानां तथाऽनुसरणेन वा ॥”

यथा देवलः,—

“तीर्थे पुण्यतमे यथावद्देहसन्नासात् ब्राह्मणो महापातकात् प्रमुच्यते ।

धर्मयुद्धे गोयुद्धे ग्रामघातादिषु प्राणत्यागात् पूयते क्षत्रियः शस्त्रोपजीविनश्च ।”

महापातकानुवृत्तौ चवनः,—“आसेतुदर्शनात् पूतो भवति अश्वमेधावभृथ-
स्नानात् पूतो भवत्युभयशिरसं वा प्रदाय ब्राह्मणेभ्यः पूतो भवति । उभयतो-
मुखी” ।

पराशरः,—

“चातुर्विद्योपसम्पत्तौ ब्रह्महा गुरुतल्पगः ।

सेतुं पश्यत्-समुद्रस्य प्रायश्चित्तं विनिर्दिशेत् ॥

सैतुबन्धं तथा पश्येत्तद्वङ्गामार्गं महोदधेः ।
 दशयोजनविस्तौर्णं शतयोजनमायतम् ।
 रामभद्रसमादेशान्नलसञ्चयसञ्चितम्” ॥
 प्रायश्चित्तमकृत्वा सैतुबन्धं पश्येदित्यर्थः ।

तथा ब्रह्मपुराणे,—

“एवं वै स्तूयमानस्तु देवदेवो महेश्वरः ।
 उवाच राघवं वाक्यं भक्तिनम्रं पुरस्थितम् ॥
 त्वया चेह कृते स्थाने मदीये रघुनन्दन ! ।
 आराध्यमानं मां राम पश्येयुरिह सागरे ।
 संहृपातकयुक्ता वै तेषां पापं विनङ्गति” ॥

अथ क्रमप्राप्तब्रह्मवधप्रायश्चित्तविवेचनं । तत्र ब्रह्मवधप्रायश्चित्तार्थं प्रथमं वध-
 एव निरूप्यते । वधो नाम प्राणोत्क्रान्तिकारको व्यापारविशेषः । तत्राहाग्नेय-
 पूराणे,—“स्यात् प्राणवियोगफलो व्यापारे हननं स्मृतमिति” स च द्विविधः,—
 कामकृतोऽकामकृतश्च । कामकृतोऽपि द्विविधः । सगुणब्राह्मणवधो निर्गुण-
 ब्राह्मणवधश्च ।

यथाहास्ये भविष्यपुराणे,—

“सगुणैर्विहते कामान्निष्कृतिर्न विधीयते” ।
 सगुणं ब्राह्मणं बालं मातरं पितरं गुरुम् ।
 यो हन्यात्-बुद्धिपूर्वन्तु भवेत्तस्य प्रवासनम्” ॥

मनुरपि,—

“कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते ।”

व्यासोऽपि,—

“कामतो ब्राह्मणवधे जीवतो नास्ति निष्कृतिः” ।

अङ्गिराः,—कामकारानुवृत्तौ,—

“शरीरं न दहेद्यावत् ब्रह्महा पापकृतमः ।
तावत्तस्य न शुद्धिः स्यात्-भगवान्मनुरब्रवीत् ॥
प्राणान्तिकं तु यत्-प्रोक्तं प्रायश्चित्तं मनौषिभिः ।
तत्तु कामकृतं प्राप्य विज्ञेयं नात्र संशयः” ॥

आदित्यपुराणे,—“कामतो मरणान्तिकीति ।”

कामकृतलक्षणमाह हारीतः,—

“मनसा संकल्पयति वाचा वदति कर्मणा करोतीति कामकृतं ।

द्वितीयपक्षे कामकृतनिर्गुणब्राह्मणवधे चाह,—

भविष्यपुराणे,—

“जातिमात्रे हते विप्रे कामतो यज्ञवेत् शृणु ।
चरेद्द्वादशवर्षाणि कृत्वा शवशिरोध्वजम्” ॥ इति ।

अकामकृतब्राह्मणवधोऽपि द्विविधः । सगुणब्राह्मणवधो निर्गुणब्राह्मण-
वधश्च ।

आद्ये आह भविष्यपुराणे,—

“हनने गुणयुक्तस्य एतदेव प्रकीर्तितम् ।
अकामतः सुरश्रेष्ठ ! ऋषिभिर्गौतमादिभिः” ॥

एतदेव द्वादशवर्षिकमेव ।

“ब्रह्मणो ब्राह्मणे हन्याज्जातिमात्रो गुणान्वितम् ।
प्रायश्चित्तमिदं कुर्व्यादिकं पापविशुद्धये ॥

ब्रह्महा द्वादशाब्दानि कुटीं कृत्वा वने वसेत् ।
अबुद्धिपूर्वं भिक्षाशौ कृत्वा शवशिरोध्वजमिति” ॥

शवशिरोध्वजमिति—शवशिरोऽन्वितं ध्वजं चिह्नं कृत्वेत्यर्थः । शवशिरश्च-
हतब्राह्मणस्यैव । “ब्राह्मणं हत्वा तस्य शिरः कपालमादायेति” शातातपव-
चनात् । तदन्नामे तज्जातीयं कार्यमित्येके ।

द्वितीयमाह भविष्यपुराणे,—

“कपाली देवशार्दूल ! भिक्षाशी पापशुद्धये
हन्ता चेद्गुणवान् धीर अकामान्निर्गुणो हतः ।
ब्रह्महा द्वादशाब्दानि कुटीं कृत्वा वने वसेदिति” ॥

तथाच मनुः,—

“ब्रह्महा द्वादशाब्दानि कुटीं कृत्वा वने वसेत् ।
भैक्ष्याण्यात्मविशुद्ध्यर्थं कृत्वा श्वशिरोऽञ्जः ॥
भिक्षाशी विचरेदग्रामं वन्यैर्यदि न जीवति” ।

एतेन द्वादशवर्षैः षष्ट्यधिकशतत्रयप्राजापत्यानि भवन्ति । कायेन तत्-
करणाशक्तौ षष्ट्यधिकशतत्रयधेनवो दातव्यत्वेन भवन्तीति । इदं द्वादश-
वार्षिकप्रायश्चित्तं साक्षादन्तरेवाकामकृतस्य” । “तथात्र जिकनोक्तं यथा,—
यस्मिन् दिने गृहीतयावज्जीवन्नतसंकल्पस्तस्मिन्नेव दिने म्रियते तथापि शुद्धो
भवति । तथा द्वादशवार्षिकव्रतारम्भेऽपि । न त्वासमाप्तत्वादशुद्धिशङ्का कार्या ।
द्वादशवार्षिकादिविधिभिरेवास्यार्थस्य स्वहस्तितत्वात् । अन्यथा आसमाप्ति-
शङ्कया प्रवृत्त्यभावे विधिरनर्थकः स्यात्” ।

यथाह बृहन्ननुः,—

“प्रायश्चित्ते व्यवसिते कर्त्ता यदि बिपद्यते ।
शुद्धस्तदहरेवासाविह लोके परत्र च” ॥ इति ।

धर्मार्थव्रतेश्वमेव अङ्गिराः,—

“यो यदर्थं चरेद्धर्ममप्राप्य म्रियते तु तत् ।
स तत्पुण्यफलं प्रेत्य प्राप्नुयान्मनुरब्रवीत्” ॥ इति ।

निरुक्तप्रमाणव्रातानुगत्या लिख्यते प्रायश्चित्तव्यवस्था संक्षेपतोऽधस्तात् !
अकामतो ब्राह्मणकर्तृकब्रह्मवधे प्रायश्चित्तानि ।

यथा—द्वादशवार्षिकव्रतं तदशक्तौ धेनुदानं ।

तत्परिमाणं षष्ट्याधिकशतत्रयधेनवात्मकं ॥

तदशक्तौ चूर्णीदानं धेनोरिकस्याः त्रिकार्षापणात्मकनिजतममूल्यानु-
सारिणाशीत्यधिकसहस्रकार्षापणपरिमितं । तल्लभ्यहिरण्यादिकं वा । दक्षिणा-
शतधेन्वत्मिका । तदशक्तौ त्रिशतकार्षापणाः । कामोतो ब्राह्मणकर्तृकब्रह्मवधे
प्रायश्चित्तानि,—

याज्ञवल्क्योक्तप्रकारेण मरणं तथा ।

“लोमभ्यः स्नाहीति ऋचा लोम प्रभृति वै तनुं ।

मज्जन्तां जुहुयाद्वापि मन्त्रैरेभिर्यथाक्रमं ॥

एतत्तु कलौ ब्राह्मणेतरपरम् ।

तदशक्तौ द्विगुणद्वादशवार्षिकव्रतं । तदशक्तौ धेनुदानं विंशत्यधिक-
सप्तशतधेन्वात्मकं, तदशक्तौ चूर्णीदानं षष्ट्यधिकैकविंशतिशतकार्षापणात्मकं
तल्लभ्यस्वर्णादि वा । दक्षिणा द्विशतधेन्वात्मिका । तदशक्तौ षट्शतकार्षापणाः ।

अथ तद्वधेऽनुग्राहकादीनां प्रायश्चित्तविवेचनं, संक्षेपार्थं साक्षाद्वधका-
त्प्रयुक्त्यनुग्राहको निमित्तिरूपकारणभेदात् पञ्चप्रकारो वधः ।

ननु हन्तुमनुग्राहकादीनां वधकारणत्वं तत्र काश्चित्स्थेऽधः ।

वधस्य पलायनादिनिरोधकोऽनुग्राहकः ।

उद्देश्यत्वे सति हन्तुर्मनुग्राहको निमित्ती । अत्र प्रयोजकस्य कर्तृ-
प्रयुक्तिद्वारेण वधकारणत्वं, अनुमन्तुश्च हन्तुर्निर्भयत्वेन दृढतरप्रहारोत्पत्तिद्वारेण-
अनुग्राहकस्य पलायनाद्यसम्भवेन हननीयस्यैव कुर्वतः प्रहारस्वरूपोत्प-
त्तिद्वारेण कारणत्वं, निमित्तिनो हन्तुर्मन्यत्पादनद्वारेणेति । प्रयोजकादीनां-
चतुर्णां व्यवहितहननकारणानां अवान्तरव्यापारप्रकारभेदाद्भेदः । अतः-
पञ्चविधं वधित्वं । ननु यदि व्यवहितस्यापि कापणत्वं तर्हि मातृपित्रोरपि-
हन्तृपुरुषोत्पत्तिद्वारेण हननकर्तृत्वप्रसङ्गः । उच्यते । न हि पूर्वभावित्वमात्रेण-
कारणत्वं । कारणतया अपि तथा भावित्वोपपत्तेः ।

यत् खलु स्वरूपातिरिक्तकार्योत्पत्त्यनुगुणव्यापारयोगि भवति तद्विकारणं

यदि रथान्तरसामा सोमः स्यादैन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णीयात् इति ।

रथान्तरसामतैव क्रतोरैन्द्रवायवाग्रतायां कारणं नहि तत्र सोमयागः-

अथ त्रैवार्षिकव्रतविधिः ।

यथा,

“त्रैवार्षिकं भूणहत्यायामुदक्यागमे तथा ।

गोवधे च तथा कुर्यात्-परस्त्रौगमनेऽपि च” ॥

वाक्यं,—एतज्जन्मप्रभृतिभूणहत्यादिजनितपापक्षयार्थं शङ्कोक्तानां नवति-
कच्छ्राणामिति । सर्वं पूर्ववत् । षष्ठिधेनूनामित्यत्र नवतिधेनूनामिति विशेषः ।

अथ षाड्वार्षिकव्रतविधिः ।

यथा,—

जन्मप्रभृति पापानि विविधानि वह्नि च ।

कृत्वावाक् ब्रह्महत्यायाः षड्बन्धं कृच्छ्रमाचरेत्” ॥

वाक्यं,—एतज्जन्मप्रभृतिब्रह्महत्यादिमहापातकव्यतिरिक्तबहुविधपापक्षयार्थं
अशीत्यधिकशतकच्छ्राणां कर्त्तव्यत्वेनेत्यादि । सर्वं पूर्ववत् । अशीत्यधिकशत-
धेनूनामिति विशेषः ।

अथ द्वादशवार्षिकव्रतविधिः ।

यथा अकामकृतविषये,—

“रुक्तेयौ सुरापञ्च ब्रह्महा गुरुतल्पगः ।

व्रतेनानेन शुध्यन्ति महापातकिनस्त्रिमे” ॥

अनेन द्वादशवार्षिकेण । वाक्यं,—एतज्जन्मप्रभृत्यकामकृतसकृदत्यन्ता-
भ्यासजनितब्रह्मवधादिमहापातकक्षयार्थं शङ्कोक्तानां षष्ट्यधिकशतत्रयाणां-
कच्छ्राणां कर्त्तव्यत्वेनेत्यादि । सर्वं पूर्ववत् । षष्ट्यधिकशतधेनूनामिति विशेषः ।
धेनुदानासम्भवेऽयुतजपस्य एककच्छ्रप्रतिनिधित्वोक्तोर्यावत्कच्छ्रानुरूपं कार्यं ।
अथवा सप्तधेनुदानमिति गौतमः, वाक्यं,—समेतज्जन्मप्रभृतिज्ञानाज्ञानतः-
सकृदत्यन्ताभ्यासकृतमहापातकातिपातकव्यतिरिक्तसर्वपापक्षयार्थं कच्छ्राति-
कच्छ्रचान्द्रायणाचरणं प्राप्तं, तदशक्तौ कच्छ्रे धेनुरतिकच्छ्रे धेनुद्वयं चान्द्रायणे-
धेनुचतुष्टयमिति तत्प्रतिनिधित्वेन सप्तधेनवो दातव्यत्वेन प्राप्ताः सम्प्रति-

तासामसम्भवे प्रतिधेनु निष्कपादव्यवस्थया यावद्भवति तावत्परिमितं काञ्चनं-
तुभ्यमित्यादि” ।

अथ पापोद्देशोक्तेष्वपूर्वकं पापस्वरूपपापभेदनिरूपणं ।

पापोद्देशे विष्णुर्यथा प्रायश्चित्तविवेके,—

“अथ पुरुषस्य कामक्रोधलोभाख्यरिपुत्रयं सुघोरं भवति परिग्रहप्रसङ्गा-
दर्थान् विषयप्रसङ्गात् विशेषेण गृहाश्रमिणस्तेन रिपुत्रयेणायमाक्रान्तोऽति-
पातकमहापातकानुपातकोपपातकेषु वर्तते जातिभ्रंशकरेषु संकरीकरणेषु-
अपात्रीकरणेषु मलावहेषु प्रकीर्णकेषु” । अनेन नवविधत्वं पापस्योक्तं । किं
तावत्पातकं ? तत्र महापातकाधिकारि मनुः—

“असम्भाष्या असंयोज्य। अविवाद्या ह्यपाठिनः ।

चरेयुः पृथिवीं दौनाः सर्वधर्मवह्निष्कृताः ॥

अतो महापातकेषु द्विजातिकर्मानधिकारः, एतद्विहितद्वादशवार्षिक-
प्रायश्चित्तापनेयत्वादतिपातकानुपातकयोरपि । अतो द्वादशवार्षिकप्रायश्चित्ता-
पनेयाहं पापं पतनं । द्विजातिग्रहणं प्राधान्यार्थं शूद्रस्यापि वाक्यान्तरेण
पातित्याभिधानात् ।

अथवा द्विजातिकर्मानधिकारापादकं पातकं पतनं । अनधिकारश्च-
महापातके श्रुत-एव, अनुपातकेऽपि तत्समत्वादुपपातकादौ क्वचित्पततीति-
श्रुतेः, अतिपातके च ततो गुरुत्वान्नश्यते । यद्वा महापातकानपक्वष्ट-
पातकं पतनं अनुपातकस्य तत्समत्वादुपपातकादेश्च क्वचित् पततीत्यभिधा-
नात् अपकर्ष एव । अतः सद्यः पतति मांसेनेति, शूद्रावेदी पतत्यत्रेतित्यादि-
मनुवचनं निन्दार्थं । तथापि पतितशब्दोऽयं पापकारिवचनः ।

यथाह मनुः,—

“यो येन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः ।

स तस्यैव व्रतं कुर्यात्तत्संसर्गविशुद्ध्यै” ॥

तथाच कुल्लूकभट्टः,—यो येनेति, पतितशब्दोऽयं पापकारिवचनः सकल-
पापानामविशेषपाठात् । एषां पतितानां मध्ये यो येन पापकारिणा सह-

पूर्वोक्तं संसर्गं करोति स तस्यैव व्रतरूपं प्रायश्चित्तं कुर्यात्, न तु मरणान्तिक-
मित्यभिहितं । तदपि व्रतं संसर्गिणा क्रियमाणं ब्रह्महा द्वादश समा-
इत्यादिकं पादहीनं कर्त्तव्यं ।

तथाच व्यासः,—

“थो येन संसृजेद्वर्षं सोऽपि तत्समतामियात् ।

पादहूनं चरेत् सोऽपि तस्य तस्य व्रतं द्विजः” ॥

तथाच विज्ञानेश्वरः,—“ननूपपातकादीनां कथं पातकत्वं पतनहेतुत्वा-
भावात् । यदि तेषामपि पतनहेतुत्वं तर्हि मातृपितृसम्बन्धाङ्ग-इत्यादि-
परिगणनमनर्थकं । अथैवमुच्यते—यद्यपि महापातकतत्त्वमेवैव सद्यः—

पातित्यहेतुत्वं नास्ति तथाप्यभ्यासापेक्षया पातित्यहेतुत्वमविरुद्धं ।
निन्दितकर्मभ्यासी गौतमवचनादिति । अभ्यासस्तु तस्मिन्निन्दितकर्मणि-
यावत्प्रत्यक्षमाने महापातकतुल्यत्वं भवति तावानभ्यासः पातित्यहेतुः ।

युक्तमतोऽभ्यासापेक्षयोपपातकादेः पतनहेतुत्वमिति ।”

प्रकृतमभिधीयते । मनुना अष्टविधं पापं महापातकादिप्रकीर्णकान्त-
मुक्तं—नाति पातकं ज्ञानादज्ञनाद्वा सकृदभ्यासाद्वा तत्र मरणान्तिकाभि-
धानात्, तस्य चानिर्देशत्वात् तस्य चानिर्देशत्वमिति प्रायश्चित्तविशेष-
निरूपणार्थं एवहि पापविशेषनिर्देशः । अतिपातकप्रायश्चित्तस्य तु मरणस्य
ज्ञानाज्ञानसकृदभ्यासादिभिर्विशेषतो निरूपणाभावात् तत्पापस्य चानिर्देशत्व-
मिति भावः ।

किमतिपातकं तदाह विष्णुः,—

“मातृगमनं दुहितृगमनं स्तृषागमनमित्यतिपातकानि” ।

सम्प्रति महापातकादिनवविधपातकानां प्रत्येकं सप्रमाणतद्विवेचनोत्प्रेषपूर्वक-
मुद्भाव्यते प्रायश्चित्तव्यवस्थाधस्तादुपक्रामं । तत्र नवविधानामेतेषां
पापानामन्तराले महापातकव्रातस्य प्रायश्चित्तातिशयेन गुरुत्वादादितो-
निरूप्यते महापातकव्रातं यथा,—

प्रायश्चित्तमनोहरः—

“ब्राह्मणो न च हन्तव्यः सुरा पेया न च द्विजेः ।
ब्राह्मणस्वर्णहरणं न कर्त्तव्यं कथञ्चन ॥
गुरुपत्नीं न गच्छेत् न च तैः सङ्गमं चरेत् ।
महापातकसत्ता तु निर्विद्वेषा मनोषिभिः” ॥ इति ।

तत्र महापातकसामान्यप्रायश्चित्तानि । यथाह शङ्खः,—

“नित्यं त्रिषवणस्नायी कृत्वा पर्णकुटीं वने ।
अधःशायी जटाधारी पर्णमूलफलाशनः ॥
ग्रामं विशेत् भिक्षार्थी स्वकर्म परिकीर्त्तयन् ।
एककालं समञ्जानो वर्षं तु द्वादशे गते ॥
रुक्मस्तेयो सुरापञ्च ब्रह्महा गुरुतल्पगः ।
व्रतेनैतेन शुद्ध्यन्ति महापातकिनस्त्वमे” ॥ इति ।

विष्णुः,—

“अश्वमेधेन शुद्धेयुर्महापातकिनस्त्वमे ।
पृथिव्यां सर्वतीर्थानां तथाऽनुसरणेन वा ॥”

यथा देवलः,—

“तीर्थे पुण्यतमे यथावद्देहसञ्चयासात् ब्राह्मणो महापातकात् प्रमुच्यते ।
धर्मयुद्धे गोग्रहे ग्रामघातादिषु प्राणत्यागात् पूयते क्षत्रियः शस्त्रोपजीविनश्च ।”
महापातकानुवृत्तौ चवनः,—“आसेतुदर्शनात् पूतो भवति अश्वमेधावभृश-
स्नानात् पूतो भवत्युभयशिरसं वा प्रदाय ब्राह्मणेभ्यः पूतो भवति । उभयतो-
मुखी” ।

पराशरः,—

“चातुर्विद्योपसम्पत्तौ ब्रह्महा गुरुतल्पगः ।
सेतुं पश्यत्-समुद्रस्य प्रायश्चित्तं विनिर्दिशेत् ॥

सेतुबन्धं तथा पश्येन्नङ्गामार्गं महोदधेः ।
दशयोजनविस्तीर्णं शतयोजनमायतम् ।
रामभद्रसमादेशान्नलसञ्चयसञ्चितम्” ॥

प्रायश्चित्तमकृत्वा सेतुबन्धं पश्येदित्यर्थः ।

तथा ब्रह्मपुराणे,—

“एवं वै स्मृतमानस्तु देवदेवो महेश्वरः ।
उवाच राघवं वाक्यं भक्तिनम्रं पुरस्थितम् ॥
त्वया चेह कृते स्थाने मदीये रघुनन्दन ! ।
आराध्यमानं मां राम पश्येयुरिह सागरे ।
महापातकयुक्ता वै तेषां पापं विनङ्कयति” ॥

अथ क्रमप्राप्तब्रह्मवधप्रायश्चित्तविवेचनं । तत्र ब्रह्मवधप्रायश्चित्तार्थं प्रथमं वध-
एव निरूप्यते । वधो नाम प्राणोत्क्रान्तिकारको व्यापारविशेषः । तत्राह्वाग्नेय-
पुराणे,—“स्वात् प्राणवियोगफलो व्यापारे हननं स्मृतमिति” स च द्विविधः,—
कामकृतोऽकामकृतश्च । कामकृतोऽपि द्विविधः । सगुणब्राह्मणवधो निर्गुण-
ब्राह्मणवधश्च ।

यथाहाद्ये भविष्यपुराणे,—

“सगुणैर्विहते कामान्निष्कृतिर्न विधीयते” ।
सगुणं ब्राह्मणं वालं मातरं पितरं गुरुम् ।
यो हन्यात्-बुद्धिपूर्वन्तु भवेत्तस्य प्रवासनम्” ॥

मनुरपि,—

“कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते ।”

व्यासोऽपि,—

“कामतो ब्राह्मणवधे जीवतो नास्ति निष्कृतिः” ।

अङ्गिराः,—कामकारानुवृत्तौ,—

“शरीरं न दहेद्यावत् ब्रह्महा पापकृतमः ।

तावत्तस्य न शुद्धिः स्यात्-भगवान्मनुरब्रवीत् ॥

प्राणान्तिकं तु यत्-प्रोक्तं प्रायश्चित्तं मनौषिभिः ।

तत्तु कामकृतं प्राप्य विज्ञेयं नात्र संशयः” ॥

आदित्यपुराणे,—“कामतो मरणान्तिकीति ।”

कामकृतलक्षणमाह हारीतः,—

“भनसा संकल्पयति वाचा वदति कर्मणा करोतीति कामकृतं ।

द्वितीयपक्षे कामकृतनिर्गुणब्राह्मणवधे चाह,—

भविष्यपुराणे,—

“जातिमात्रे हते विप्रे कामतो यज्ञवेत् शृणु ।

चरेद्द्वादशवर्षाणि कृत्वा श्वशिरोध्वजम्” ॥ इति ।

अकामकृतब्राह्मणवधोऽपि द्विविधः । सगुणब्राह्मणवधो निर्गुणब्राह्मण-
वधश्च ।

आद्ये आह भविष्यपुराणे,—

“हनने गुणयुक्तस्य एतदेव प्रकीर्तितम् ।

अकामतः सुरश्रेष्ठ ! ऋषिभिर्गौतमादिभिः” ॥

एतदेव द्वादशवर्षिकमेव ।

“ब्रह्मणो ब्राह्मणे हन्याज्जातिमात्रो गुणान्वितम् ।

प्रायश्चित्तमिदं कुर्व्यादिकं पापविशुद्धये ॥

ब्रह्महा द्वादशाब्दानि कुटीं कृत्वा वने वसेत् ।

अबुद्धिपूर्वं भिक्षाशो कृत्वा श्वशिरोध्वजमिति” ॥

श्वशिरोध्वजमिति—श्वशिरोऽन्वितं ध्वजं चिह्नं कृत्वेत्यर्थः । श्वशिरश्च-
हनब्राह्मणस्यैव । “ब्राह्मणं हत्वा तस्य शिरः कपालमादायेति” शातातपव-
चनात् । तदन्ताभि तज्जातीयं कार्यमित्येके ।

द्वितीयमाह भविष्यपुराणे,—

“कपाली देवशार्दूल ! भिक्षाशी पापशुद्धये
हन्ता चेद्गुणवान् धीर अकामान्निर्गुणो हतः ।
ब्रह्महा द्वादशाब्दानि कुटौ कृत्वा बने वसेदिति” ॥

तथाच मनुः,—

“ब्रह्महा द्वादशाब्दानि कुटौ कृत्वा बने वसेत् ।
भैक्ष्याण्यात्मविशुद्धयर्थं कृत्वा श्वशिरोव्रजः ॥
भिक्षाशी विचरेदग्रामं वन्यैर्यदि न जीवति” ।

एतेन द्वादशवर्षैः षष्ट्यधिकशतत्रयप्राजापत्यानि भवन्ति । कायेन तत्-
करणाशक्तौ षष्ट्यधिकशतत्रयधेनवो दातव्यत्वेन भवन्तीति । इदं द्वादश-
वार्षिकप्रायश्चित्तं साक्षादन्तुरेवाकामकृतस्य” । “तथात्र जिकनोक्तं यथा,—
यस्मिन् दिने गृहीतयावज्जीवव्रतसंकल्पस्तस्मिन्नेव दिने म्रियते तथापि शुद्धो
भवति । तथा द्वादशवार्षिकव्रतारम्भेऽपि । न त्वासमाप्तत्वादशुद्धिशङ्का कार्या ।
द्वादशवार्षिकादिविधिभिरेवास्वार्थस्य स्वहस्तितत्वात् । अन्यथा आसमाप्ति-
शङ्कया प्रवृत्त्यभावे विधिरनर्थकः स्यात्” ।

यथाह बृहन्मनुः,—

“प्रायश्चित्ते व्यवसिते कर्त्ता यदि बिपद्यते ।
शुद्धस्तदहरेवासाविह लोके परत्र च” ॥ इति ।

धर्मार्थव्रतेष्वेवमेव अङ्गिराः,—

“यो यदर्थं चरेद्धर्ममप्राप्य म्रियते तु तत् ।
स तत्पुण्यफलं प्रेत्य प्राप्नुयान्मनुरब्रवीत्” ॥ इति ।

निरुक्तप्रमाणव्रातानुगत्या लिख्यते प्रायश्चित्तव्यवस्था संक्षेपतोऽधस्तात् ।
अकामतो ब्राह्मणकर्तृकब्रह्मवधे प्रायश्चित्तानि ।

यथा—द्वादशवार्षिकव्रतं तदशक्तो धेनुदानं ।

तत्परिमाणं षष्ट्याधिकशतत्रयधेनवात्मकं ॥

तदशक्तौ चूर्णीदानं धेनोरिकस्याः त्रिकार्षापणात्मकनिष्कतममूल्यानु-
सारेणाशीत्यधिकसहस्रकार्षापणपरिमितं । तल्लभ्यहिरण्यादिकं वा । दक्षिणा-
शतधेन्वात्मिका । तदशक्तौ त्रिशतकार्षापणाः । कामोतो ब्राह्मणकर्तृकब्रह्मवधे
प्रायश्चित्तानि,—

याज्ञदल्कोक्तप्रकारेण मरणं तथा ।

“लोमभ्यः स्नाहीति ऋचा लोम प्रभृति वै तनुं ।

मज्जन्ता जुहुयाद्वापि मन्त्रैरेभिर्भयथाक्रमं ॥

एतत्तु कलौ ब्राह्मणितरपरम् ।

तदशक्तौ द्विगुणाद्दशवार्षिकव्रतं । तदशक्तौ धेनुदानं विंशत्यधिक-
सप्तशतधेन्वात्मकं, तदशक्तौ चूर्णीदानं षष्ट्यधिकैकविंशतिशतकार्षापणात्मकं
तल्लभ्यस्वर्णादि वा । दक्षिणा द्विशतधेन्वात्मिका । तदशक्तौ षट्शतकार्षापणाः ।

अथ तदधेऽनुग्राहकादीनां प्रायश्चित्तविवेचनं, संक्षेपार्थं साक्षाद्वधक-
तृप्रयुक्त्यनुग्राहकानुमतिनिमित्तरूपकारणभेदात् पञ्चप्रकारो वधः ।

ननु कया रीत्यानुग्राहकादीनां वधकारणत्वं तत्र काश्यतेऽधः ।

वधस्य पलायनादिनिरोधकोऽनुग्राहकः ।

उद्देश्यत्वे सति हन्तुर्मनुष्यादको निमित्ती । अत्र प्रयोजकस्य कर्तृ-
प्रयुक्तिद्वारेण वधकारणत्वं, अनुमन्तुश्च हन्तुर्निर्भयत्वेन दृढतरप्रहारोत्पत्तिद्वारेण-
अनुग्राहकस्य पलायनाद्यसम्भवेन हननीयस्थैर्यं कुर्वतः प्रहारस्वरूपोत्प-
त्तिद्वारेण कारणत्वं, निमित्तिनो हन्तुर्मन्यत्पादनद्वारेणेति । प्रयोजकादीनां-
चतुर्णां व्यवहितहननकारणानां अवान्तरव्यापारप्रकारभेदाद्भेदः । अतः-
पञ्चविधं वधित्वं । ननु यदि व्यवहृतिरपि कापणत्वं तर्हि मातृपितृरपि-
हन्तृपुरुषोत्पत्तिद्वारेण हननकर्तृत्वप्रसङ्गः । उच्यते । न हि पूर्वभावित्वमादेण-
कारणत्वं । कारणतया अपि तथा भावित्वोपपत्तेः ।

यत् खलु स्वरूपातिरिक्तकार्यान्त्यनुगुणव्यापारयोगि भवति तद्विकारणं

यदि रथान्तरसामा सोमः स्यादेन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णीयात् इति ।

रथान्तरसामतैव क्रतुरेन्द्रवायवाग्रतायां कारणं नहि तत्र सोमयागः-

समानानि । प्रायश्चित्तानि, द्वादशवार्षिकव्रतं, एतच्च ज्ञानात्यन्ताभ्यासतः, तदशक्तौ धेनुदानं पूर्ववत् । तदशक्तौ वराटकदानं तथा । दक्षिणा तु शतगावः, तदशक्तौ त्रिशतकार्षापणाः । एतन्मध्यात् यदुपपातके दृश्यते तदज्ञानादिना-
लघुविषयश्चेत्यादिव्यवस्थेयं, यच्च वशिष्ठवचनं ब्रह्मोक्तं कच्छं द्वादशरात्रं-
चरित्वा पुनरुपयुञ्जीत वेदमाचार्यात् ।

विष्णुः,—समुत्कर्षानृते गुरोश्चालीकनिर्वन्धे तदाक्षारणे च मासं पयसा-
वर्त्तेत । आक्षारणं परदारगमनाभिशापः । वशिष्ठः गुरोश्चालीकनिर्वन्धे
सचेलज्ज्ञानतो गुरुं प्रसादयेत् । प्रसादात् पूतो भवति, एतानि प्रमादादि-
कृते बोध्यानि ।

ब्रह्मोक्तता । सा च असच्छास्त्राभियोगेन अधीतवेदस्मरणं । वेदनिन्दा-
अर्थतो अन्यतश्च । कौटसाध्यं । सुहृद्वधः, स च ब्राह्मणव्यतिरिक्तमित्वधः ।
गर्हितान्नजग्धिः । सा च ज्ञानतोऽत्यन्ताभ्यासेन अन्यजान्नभोजनं गर्हितान्न-
जग्धिः । ज्ञानतोऽत्यन्ताभ्यासेन छत्राकलशुनादिभोजनं एतानि षट् ।

अज्ञानकृतसुरापानसमानि । तथा रण्डागमनप्रायश्चित्ते पण्डितसर्वस्वो-
द्धृतवचनम् ।

यथा,—

“रण्डाया गमने चैव चरेत् सान्तपनं व्रतं ।

सम्बत्सरेण भवति गुरूतल्पसमो हिंसः” ॥

“इदं सार्वत्रिकं” ।

प्रायश्चित्तानि—द्वादशवार्षिकव्रतं । तदशक्तौ धेनुदानं पूर्ववत् । तदशक्तौ-
वराटकदानं तथा । तत्तभ्यस्ववर्णादि वा । दक्षिणा तु शतधेनवः तदशक्तौ-
शतकार्षापणाः । ब्राह्मणसम्बन्धिनिःक्षेपहरणं । नराश्वरजतभूमिवज्रमणी-
नाञ्चाभ्यासेन हरणं । एतानि सप्तब्राह्मणस्वामिकाशीतिरक्तिकापरिमित-
सुवर्णस्तेयसमानि ।

प्रायश्चित्तानि—ज्ञानतो द्वादशवार्षिकव्रतं । अज्ञानतस्तदर्थं । तदशक्तौ-
धेनुदानं पूर्ववत् । तदशक्तौ वराटकदानं तथा । तत्तभ्यस्ववर्णादि वा ।
दक्षिणा तु तथा, तदशक्तौ तत्परिमितकार्षापणाः । सपण्डस्त्रीगमनं ।

ब्राह्मणकुमारीगमनं । चाण्डालादिस्त्रीगमनं । सवर्षमित्तस्त्रीगमनं ।
 पुत्रस्यासवर्षस्त्रीगमनं । औरसेतरपुत्रभार्यागमनं । पितृस्वभ्रूगमनं । मातृ-
 स्वभ्रूगमनं । गन्तारमपेक्ष्य हीनवर्णपितृपत्नीगमनं । पितृव्यपत्नीगमनं ।
 मातामहपत्नीगमनं । मातुलपत्नीगमनं । श्वश्रूगमनं । स्वभ्रूगमनं । ज्येष्ठ-
 भ्रातृपत्नीगमनं । राजपत्नीगमनं । श्रोत्रियपत्नीगमनं । ऋत्विक्पत्नीगमनं-
 उपाध्यायपत्नीगमनं । शिष्यपत्नीगमनं । स्वभ्रूसखीगमनं । असवर्णजात-
 दुहितृगमनं । आचार्यपत्नीगमनं । शरणागतगमनं । प्रव्रजितागमनं ।
 धात्रीगमनं । साध्वीगमनं । निःक्षिप्तस्त्रीगमनं । वर्णाश्रमागमनं ।
 एतानि गुरुतल्पगमनसमानि । इति चतुःप्रकाराण्यनुपातकानि मिलित्वा एक-
 पञ्चाशत्संख्येयानि । प्रायश्चित्तानि—ज्ञातो महापातकोक्तप्रकारेण मरण-
 कलो मरणान्तिकप्रायश्चित्ताभावात् तद्वैकल्पिकं चतुर्विंशतिवार्षिकव्रतं । तद-
 शक्तौ धेनुदानं पूर्ववत् । तदशक्तौ वराटकदानं तथा । तल्लभ्यस्वर्णादि वा ।
 दक्षिणा तु द्विशतधेनवः । तदशक्तौ षट्-शतकार्षापणाः । अज्ञानतो द्वादश-
 वार्षिकव्रतं तदशक्तौ धेनुदानं पूर्ववत् । तदशक्तौ वराटकदानं तथा ।
 तल्लभ्यस्वर्णादि वा । दक्षिणा तु शतगावः । तदशक्तौ कार्षापणास्तथा ।
 पञ्चपुरुषाधिकगामिनीनामासां गमने चान्द्रायणं । तदशक्तौ धेनुदानं—
 अष्ट धेनवः, पञ्च धेनवो वा धेनुचतुष्टयं । तदशक्तौ वराटकदानं । चतु-
 र्विंशतिकार्षापणाः वा पञ्चदश, द्वादश वा कार्षापणाः । दक्षिणा तु यथा-
 शक्ति । अभ्यासव्यभिचारिण्याः सकृद्गमने अर्थात् सप्तमपुरुषगामिन्या गमने-
 पराकः । तदशक्तौ धेनुदानं पञ्चधेनवो वा धेनुद्वयं तदशक्तौ वराटकदानं-
 पञ्चदश वा षट्कार्षापणाः । दक्षिणा तु यथाशक्ति । अष्टमादिपुरुष-
 गामिन्या गमने तप्तकृच्छ्रं । तदशक्तौ धेनुदानं धेनुचतुष्टयं वा धेनुद्वयं ।
 तदशक्तौ वराटकदानं—द्वादश वा षट् कार्षापणाः । दक्षिणा तु यथाशक्ति ।
 अज्ञानादारोहणमात्रे सम्बन्धविप्रकर्षे वा पराकस्तप्तकृच्छ्रो वा । ज्ञानतो-
 महापातकोक्तप्रकारेण मरणं । कलो मरणान्तिकप्रायश्चित्ताभावात् तद्वैकल्पिकं
 चतुर्विंशतिवार्षिकव्रतं । तदशक्तौ धेनुदानं पूर्ववत् । तदशक्तौ वराटकदानं-
 पूर्ववत् तल्लभ्यस्वर्णादि वा । दक्षिणा तु द्विशतगावः । तदशक्तौ षट्शत-

कार्षापणाः । अज्ञानतो द्वादशवार्षिकव्रतं । तदशक्तौ धेनुदानं पूर्ववत् ।
तदशक्तौ वराटकदानं तथा । तत्तभ्य स्पर्णादि वा । दक्षिणा तु तथा ।
तदशक्तौ कार्षापणास्तथा । रण्डायाः वेश्यायाश्च सकृद्गमने यथाक्रमं सान्तपनं-
प्राजापत्यं च । संवत्सरावधि अत्यन्ताभ्यासे गुरुतल्पव्रतसमं प्रायश्चित्तमनु-
ष्ठेयं इत्यनुपातकव्यवस्था समाप्ता ।

महापातकाद्यनुपातकान्तप्रायश्चित्तेषु दक्षिणाविषयकप्रत्येकधेनुमूल्यस्थ-
त्रिकार्षापणात्मकत्वं प्रदर्शितं धनिकविषये, तदन्यथा प्रत्येकधेनुमूल्यस्यैककार्षा-
पणसंख्याकत्वं कविधेयं, दक्षिणाविषये दक्षिणायां केवलमेकधेनुमूल्यस्यैक-
कार्षापणात्मकत्वं प्रदर्शनीयं परतः ।

अथ क्रमप्राप्तोपपातकविवेचनं । तदर्थमुपपातकं निरूप्यते ।

तत्र मनुः प्रायश्चित्तविवेके यथा,—

“गोवधोऽयाज्यसंयाज्यं पारदाय्यात्मविक्रिया ।

पितृमातृगुरुत्यागः स्वाध्यायान्योः सुतस्य च ॥

परिवित्तितानुजेन परिवेदनमेव च ।

तयोर्दानं च कन्यायास्तयोरिव च याजनं ॥

कन्याया दूषणञ्चैव वार्हुषित्वं व्रताच्चुरतिः ।

तडागारामदाराणामपत्यस्य च विक्रयः ॥

ब्राह्मता वाग्व्यवत्यागो भृतकाध्यापनं तथा ।

भृतादध्ययनादानमपण्यानाञ्च विक्रयः ॥

सर्वाकरेष्वधीकारौ महायन्त्रप्रवर्त्तनं ।

हिंस्रौषधीनां स्वराजीवोऽभिचारो मूलकर्म च ॥

इन्धनार्यमशुष्काणां दुमाणामपपातनं ।

आत्मार्यञ्च क्रियारम्भो निन्दितान्नादनं तथा ॥

अनाहिताग्निता स्तेयमृणानाञ्चानपक्रिया ।

असच्छास्त्राभिगमनं कौशौल्यस्य च क्रिया ॥

धान्यकूप्यापशुस्तेयं मद्यपस्त्रोनिषेवनं ।

स्त्रीशूद्रविट्-चतवधो नास्तिक्यं चोपपातकं ॥”

अस्यार्थ—अयाज्यसंयाज्यमिति प्रतिग्रहाध्यापनमप्युपलक्षति, त्यागो-
योगच्चेमाकरणमनिमित्तं, स्वाध्यायत्यागोऽधीतवेदविस्मरणं, अग्नित्यागः
आलस्यादिना । सुतत्यागः पोषणविनयाधानाद्यकरणेन, चकाराज्ञार्थात्या-
गोऽपि । परिवर्त्तिता कनिष्ठस्य भ्रातुर्हाराग्निहोत्रसंयोगे सति ज्येष्ठस्य
भ्रातुर्हाराग्निहोत्रसंयोगप्रागभावः । कनिष्ठस्य परिवेदनं । चकारात् कन्याया
अपि तथाभूतायाः परिवेदनीयत्वं । परिवर्त्तिपरिवेदकयोर्वरत्वेन कन्यादानं ।
तयोरेव विवाहादो ऋत्विक्कार्यमिति । कन्याया दूषणमकन्या इत्युक्तिः ।
अङ्गुल्या योनिविदारणं वा । वार्ष्णेयं ब्राह्मणक्षत्रिययोर्भ्रातृभ्योऽपि प्रतिवकीर्षित्वं ।
दाराणामपरिणीतानामपि विक्रयः” ।

विवृतिमस्य यथानुतिष्ठति गोविन्दानन्दः ।

अयाज्यसंयाज्यमिति, अयाज्या विलोमजाताः न पातकिनः तदुयाजनादौ-
तत्संसर्गप्रायश्चित्तस्योक्तत्वात् । विलोमजाता अपि चाण्डालाद्यन्यावसायि-
व्यतिरिक्ताश्चण्डालान्यस्त्रियो गत्वा इत्यादिष्वचनैरन्यावसायिनां प्रायश्चित्त-
भेदकथनात् । तेषां याज्यं याजनं भावे ध्यन् उपलक्षयति प्रतिग्रहाध्याप-
नयोर्याजनतुल्यतया संसर्गे निरूपितत्वात्पारदार्यं अतिपातकमहापातकानु-
पातकेतरत्र परदारगमनं, आत्मविक्रय इति आत्मदेहः, अधीतवेदविस्मरणं-
आलस्यादिनेति प्राशुक्तं, सर्वदा ब्रह्मयज्ञत्याग इति कुलूकभट्टः, अग्निराहि-
ताग्निः आदिशब्दात् राजसेवादीनां ग्रहणं, तथाभूताया इति । आदौ-
परिणीतायाः कनिष्ठाया ज्येष्ठायाश्च परिणेतारावुपपातकिनावित्यर्थः ।

यथा वशिष्ठः,—

अग्रे दिधिषुपतिः कच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा निर्विशेत् । दिधिषुपतिः-
कच्छ्रातिकच्छ्रौ चरित्वा पुनर्निर्विशेत् ।

ततोर्लक्षमाह देवलः,—

“ज्येष्ठायां विद्यमानायां कन्यायामुह्यतेऽनुजा ।

सा चाग्रे द्विधिषुर्ज्ञेया पूर्वा तु द्विधिषुः स्मृता” ॥

वरत्वेनेति नतु पोष्टत्वेनेत्यर्थः ।

तथा मनुः,—

“परिवेत्ता परिवित्तिश्च यया च परिविद्यते ।

सर्वे ते नरकं यान्ति द्वाहयाजकपञ्चमाः” ॥

कन्याया इति नतु कन्यागमनं तस्यानुपातकत्वात् । ब्राह्मणक्षत्रिययो-
रिति वैश्यादीनां विहितत्वात् । दाराणामित्यपरिणीतानां वाग्दत्तानां-
परिणीतानाञ्चेत्यर्थः ।

अपत्यस्थानेकविधस्य ब्राह्म्यता यथाकालमनुपनयनमसोमयाजित्वञ्च-
वान्धवत्यागो वान्धवस्य सपिण्डादेरनिमित्तं त्यागः । भृतकाध्यापनं मूल्येन-
वेतनादिना विद्यापणं । भृताच्च वेतनग्रहीताद्देदादिविद्याग्रहणं । अपण्यानां-
लाक्षादीनां सकृत्, गोरसादीनामसकृत् ब्राह्मणेन विक्रयः, सर्वाकरेषु रक्षा-
द्युत्पत्तिस्थानेषु विनियोगः । तैलादियन्त्रस्य शस्त्रतेजनायन्त्रस्य च प्रवर्त्तनं-
इति शूलपाणिः ।

“अनेकविधस्येति कन्याया पुत्रस्य च द्वादशविधस्येत्यर्थः ।

न पतति वंशो येन तदपत्यमिति व्युत्पत्तेः । असोमेति एतच्च साग्नीना-
मेव । भृतकाध्यापनमिति वेतनं प्रतिदिनं नियतद्रव्यग्रहणं आदि-
पदादेतावदुग्रन्थस्य एतावदनियमस्य संग्रहः । एतेन वेतनादिना मूल्येन-
वेदादि वेदाध्यापनमित्यर्थः । अपण्यानामिति “सद्यः पततिलौहेन लाक्षया-
लवणेन च । त्रग्रहेन शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयादिति” वचनात् ।
सर्वाकरेष्विति अत्र आकरोत्पन्नद्रव्याणां स्तेयस्यावश्यभावात्, यत्र तु स्तेयं-
नास्ति तत्र दोषो नास्तीति भावः” । इति गोविन्दानन्दः । धान्यादीनां यथा-
कथञ्चिन्नाशनं । स्त्रजित्तधनात् जीवनं । परहिंसार्थं जपहीमादिकर्ममूलकर्म

वशीकरणादिक्रिया । इन्धनार्थमार्द्रमाणां वह्निनां छेदनं । आत्मार्थं पाक-
क्रिया न वैश्वदेवार्थं । गणादेरन्नं तस्कराद्यन्नभक्षणं, सामर्थ्येऽपि श्रौत-
स्मार्त्ताग्न्यपरिग्रहः । स्तेयं हेमनराश्वरजतभूमिनिक्षेपेतरद्रव्यहरणं । देवर्षि-
पितृसम्बन्धि-ऋणापरिशोधनं । असच्छास्त्राभिगमनं पाषण्डशास्त्राभ्यासः ।
कुशीलवस्य कर्म तीर्थ्यत्रिकं तस्य सततानुष्ठानं । कूप्यस्य परद्रव्यस्य तास्त्र-
कांस्यादेः स्तेयं । मद्यपस्य स्त्रिया मद्यपायाश्च स्त्रिया निषेवनं ब्राह्मणेन ।
इति प्रायश्चित्ततत्वे ।

तथा—तत्र स्त्रियाश्च शूद्रवैश्यक्षत्रियव्राह्मणजातीयाया अदुष्टायाः शूद्र-
वैश्यक्षत्रियाणाञ्च वधः । नास्तिक्यं नास्तिपरलोक इति व्यवस्थितः ।

“उपपातकमेकैकं एकैकमुपपातक”मिति याज्ञवल्क्यवचनात् ।

एवञ्च—गोवधादिनास्तिक्यान्तान्यूनपञ्चाशत् उपपातकानि । विष्णुनाऽ-
नृतवचनमुत्कर्षे राजगामि च पैशुनं । गुरोश्चालीकर्नवन्धो वेदनिन्दाधीत्य-
चाग्रहोऽन्यानि च मनुक्तानि इत्युक्त्वा उपपातकिनस्त्वेते कुर्युश्चान्द्रायणं नरा,
इत्युपपातके दर्शितं । अत्र नृपादिसभास्तु परापकारव्यतिरेकेण आत्मन—
उत्कर्षस्वरापनम् ।

तथा राज्ञः पुरतः परापकारव्यतिरेकेण दोषकीर्त्तनं । तथा श्रुत-
मात्रोपकारकगुरोर्मिथ्याभिज्ञंसनं । तथा परिहासादिना वेदनिन्दा तथा-
असच्छास्त्राद्यभियोगेनाधीतवेदविस्मरणं च यज्ञस्तु तदुपपातकं गुरुणां पुनरे-
तेषां मनुनानुपातके दर्शितत्वात् । अन्यानि चोपपातकानि स्मृत्यन्तरेऽनु-
सन्धेयानि । धान्यादीनामिति फलपाकान्तानां धान्यादीनां अपक्वदशायां-
नाश इत्यर्थः । स्त्र्यर्जितेति भार्यादीनां वैश्यात्वं कृत्वा तद्वनात्जीवनमिति-
कुल्लूकभट्टः । अभिचार इति अपराधाभावे सतीति बोद्धव्यं । मूलकर्म्मति-
वशीकरणसाधनकर्मादिपदादुच्चाटनादिसाधनकर्म्मग्रहणं । गणेति यद्वह-
भिर्मिलित्वा परिष्क्रियते परिवेश्यते वा तद्गणान्नं । हेमेति हेमहरणस्य-
महापातकत्वात् नारदादिहरणस्यानुपातकत्वादित्यर्थः । देवर्षीति यज्ञा-
करणं देवर्षेण । पुत्रानुत्पादनं पितृण्यं, वेदवेदाङ्गानामनध्ययनं ऋष्युणं ।

यथा भवुः,—

“ऋणानि लीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ।

अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रांश्चोत्पादय धर्मतः ॥

द्वष्टा च शक्तितो यच्चैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ।”

धान्यकूप्यपशूनामित्यधिकमूल्यद्रव्योपलक्षणं तेषां स्तेयं सकृच्चौर्य-
मित्यर्थः । प्रागुक्तस्तेयमत्यन्ताभ्युसेऽल्पद्रव्यविषयं मद्यपायाद्येति चकारोऽत्र-
विकल्पार्थः । स्त्रिया इति चातुर्वर्ण्यस्त्रिया—मात्रादिव्यतिरिक्ताया इत्यर्थः ।
न चात्र शूद्रविद्वत्त्रितयग्रहणेन तदीयस्त्रीप्राप्ती स्त्रीशब्दोपादानं ब्राह्मणीमात्र-
परिग्रहार्थमिति वाच्यं क्षत्रियवत् ब्राह्मणीषु वैश्यवत् क्षत्रियासु शूद्रवत्
वैश्यास्त्रिति हारीतवचनैकवाक्यतयाऽल्पप्रायश्चित्तार्थं पृथगुपादानात्,
प्रायश्चित्ताल्पत्वेऽपि पृथगुपन्यासस्य लोके निन्दिताशयार्थतयोपपत्तेरिति,
अदुष्टया इति व्यभिचरितावाधेनोपपातकं । अतएव तद्वधेऽल्पप्रायश्चित्तं-
वक्ष्यते । समुत्कर्षावृतादीनामनुपातकत्वं प्रागुक्तं तेषां च उपपातकत्वं विष्णूक्तं
विरुद्धमाशङ्क्य व्यवस्थापयति विष्णुनेति, अत्रेति अत्र वचने इदं व्याख्यानं
ज्ञेयमिति शेषः, श्रुतमात्रं यत् किञ्चित् अल्पाध्ययनं तदुपकारकस्य जन्मदातु-
राचार्यादिभ्योऽनुपातकमित्यर्थः । इति तद्व्याख्यारकारः ।

तथा तद्विषये याज्ञवल्करः—

“गोवधो ब्राह्मता स्तेयमृणानां चानपक्रिया ।

अनाहिताग्नितापण्यविक्रयः परिवेदनं ॥

भृतादध्ययनादानं भृतकाध्यापनं तथा ।

पारदार्यं पारिवित्त्यं वार्द्धुष्यं लवणक्रिया ॥

स्त्रोशूद्रविट्-क्षत्रवधो निन्दितार्थोपजीवनं ।

नास्तिक्यं व्रतलोपश्च सुतानां चैव विक्रयः ॥

धान्यकूप्यपशुस्तेयमयाज्यानां च याजनं ।

पितृमातृसुतत्यागस्तडागारामविक्रयः ॥

कन्यासंदूषणं चैव परिविन्दकयाजनं ।
 कन्याप्रदानं तस्यैव कौटिल्यं व्रतलोपनं ।
 आत्मनोऽर्थे क्रियारम्भे मद्यपस्त्रीनिषेवणम् ।
 स्वाध्यायाग्निमुतत्यागो बान्धवत्याग एव च ।
 दम्भनार्यं द्रुमच्छेदः स्त्रीहिंसोपध जीवनं ॥
 हिंसयन्त्वविधानं च व्यसनान्यात्मविक्रयः ।
 शूद्रप्रेष्यं हीनसख्यं हीनयोनिनिषेवणं ॥
 तथैवानाश्रमे वासः पराङ्मपरिपुष्टता ।
 असच्छास्त्राधिगमनमाकरेखधिकारिता ॥
 भार्याया विक्रयश्चैषामेकैकमुपपातकं ।” इति ।

तथा विज्ञानेश्वरः—गोवधे गोपिण्डव्यापादनं । कालेऽनुपनीतत्वं-
 ब्राह्म्यता । ब्राह्मणसुवर्णतत्समव्यतिरिक्तपरद्रव्यापहरणं स्तेयं । गृहीतस्य-
 सुवर्णादेवप्रदानं ऋणानामनपाकरणं । तथा देवर्षिपितृणां सम्बन्धार्थं-
 स्थानपाकरणं च । सत्यधिकारेऽनाहिताग्नित्वं । तथा अपण्यस्य लवणादे-
 विक्रयः । सहोदरस्य ज्येष्ठस्य तिष्ठतः कनीयसो भ्रातुर्दारान्निसंयोगः-
 परिवेदनं । पणपूर्वाध्यापकादध्ययनग्रहणं पणपूर्वाध्यापनं । परदारसेवनं
 गुरुतत्समव्यतिरेकेण । परिवित्त्यं कनीयसि कृतविवाहे ज्येष्ठस्य विवाह-
 राहित्यं । वार्हुष्यं प्रतिषिद्धवृद्धपजीवनं । लवणस्योत्पादनं । स्त्रिया वधः-
 ब्राह्मण्या अप्यालेयीव्यतिरेकेण ।

शूद्रवधः अदीक्षितवित्क्षत्रियवधः । निन्दितार्थोपजीवनमराजस्थापिता-
 र्थोपजीवनं । नास्तिक्यं नास्तिपरलोक इत्याद्यभिनिवेशः । व्रतलोपो ब्रह्म-
 चारिणः स्त्रीप्रसङ्गः । सुतानामपत्यानां विक्रयः । धान्यं ब्रीह्यादि, कुप्यमसार-
 द्रव्यं तपुसीसादि ।

पशवो गवादयस्तेषामपहरणं । गोवधोब्राह्म्यता स्तेयमित्यनेन स्तेयग्रहणे-
 नैव सिद्धे पृथगर्थान्यकुप्यादिस्तेयग्रहणं नित्यार्थं । अतो धान्यादिव्यतिरिक्तद्रव्य

स्तेयेनावश्यमेतदेव प्रायश्चित्तमपि तु ततोऽन्यूनमपि भवत्येव । एतेन वाञ्छित-
त्यागग्रहणेनैव सिद्धे पुनः पित्रादित्यागग्रहणं व्याख्यातं । अयान्या-
जातिकर्मदुष्टानां शूद्रब्राह्मणादीनां याजनं । पितृमातृसुतानामपतितानां-
त्यागो गृहान्निष्कासनं । तङ्गागारामस्य चोद्यानोपवनादेर्विक्रयः । कन्याया-
द्रूपणमङ्गुल्यादिना योनिविदारणं न तु भोगः । तस्य सखीभार्याकुमारी-
श्वितिं गुरुतत्त्वसमत्वस्योक्तत्वात् । परिविन्दकयाजनं तस्य च कन्याप्रदानं-
कौटिल्यं गोरोरन्यत्र । गुरुविषयस्य तु कौटिल्यस्य सुरापानसमत्वमुक्तं ।
पुनर्व्रतलोपग्रहणमणिष्ठाप्रतिषिद्धेष्वपि श्रीहरिचरणकमलप्रेक्षणात् प्राक्-
ताम्बूलादिकं न भक्षयामीत्येवंरूपेषु प्राप्तार्थं न तु स्नातकव्रतप्राप्तार्थं । तत्र-
“स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनमिति मनुना लघुप्रायश्चित्तस्य प्रति-
पादितत्वात् । तथात्मार्थं च पाकलक्षणक्रियारम्भः । “अघं स केवलं भुङ्क्ते यः-
पचत्वात्मकारणादि”ति तस्यैव प्रतिषिद्धत्वात् । मद्यपायाः स्त्रियाः जायाया-
अपि निषेवणमुपभोगः । स्वाध्यायत्यागो व्याख्यातः, अग्नीनां श्रौतस्मार्त्तानां-
त्यागः सति विभवे अपरिरक्षणं । पाकादिदृष्टप्रयोजनसिद्धयर्थमाद्रुमच्छेदो-
न त्वाहवनीयपरीरक्षणार्थमपि ।

स्त्रिया—हिंसया औषधेन च वर्त्तनं जीवनं स्त्रीहिंसौषधजीवनं तत्र-
स्त्रीजीवनं नाम भार्यां पण्यभावेन प्रयोज्य तत्त्वोपजीवनं स्त्रीधनेनोप-
जीवनं हिंसया जीवनं प्राणिबधेन जीवनं । औषधजीवनं वशीकरणादिना ।
हिंस्रयन्त्रस्य तिले क्षुपीङ्गाकरस्य प्रवर्त्तनं । व्यसनानि मृगयादीन्याष्टादश ।
आत्मविक्रयो द्रव्यग्रहणेन परदास्य करणं, शूद्रसेवनं हीनेषु मैत्रीकरणं अनूद-
सवर्णदारस्य केवलहीनवर्णदारोपयमनं साधारणस्त्रीसंभोगश्च । अगृहीता-
अमिलं सत्यधिकारे परान्नपरिपुष्टतापरपाकरतित्वं । असच्छात्रं चार्वाकादि-
ग्रन्थस्याधिगमः । सर्वाकरेषु । सुवर्णाद्युत्पत्तिस्थानेषु राजाज्ञयाधिकारित्वं ।
भार्याया विक्रयः ।

च शब्दान्मन्वाद्युक्ताभिचरामतिपूर्वलशुनादिभक्षणादेर्ग्रहणं । एषां गोबधा-
दीनां प्रत्येकमुपपातकसज्ञा वेदितव्या । तथा बृहद्दिष्णुः,—“अनृतवचनं समुत्-
कर्षं राजगामि च पैशून्यं गुरोश्चालीकनिर्वन्धो वेदनिन्दा अधीतस्य त्यागोऽग्नि-

तदमाहसुतदाराणां च । अभोज्यान्नभक्षणं परस्वापहरणं परदारानुगमन-
 गज्यानां च याजनं । ब्राह्म्यता भृतकाध्यापनं भृतकाध्ययनादानं सर्वाकरे-
 ष्वधिकारो महायन्त्रप्रवर्त्तनं द्रुमगुल्मवल्लीलतौषधीनां हिंसया जीवनमभि-
 चारमूलकर्मसु च प्रवृत्तिरात्मार्यक्रियारम्भः अनाहिताग्नितादेवर्षिपितृणा-
 मृणस्यानपाक्रिया असच्छास्त्राधिगमनं नास्तिकता कुशीलता मद्यपस्त्री-
 निषेवणमित्युपपातकानि । एवमुपपातके सति निर्णीते प्रारभ्यते क्रमप्राप्त-
 विप्रादिस्वामिकसाक्षाद्भोवधप्रायश्चित्तमधस्तात् । यथा—तत्र मनुना “गोषु-
 ब्राह्मणसंस्थासु” इत्यनेन दण्डप्रकरणे ब्राह्मणस्वामिकत्वेन गोर्युक्तत्वमभिहितं-
 नारदेन च—“देवब्राह्मणराज्ञां च द्रव्यं विज्ञेयमुत्तमं” इत्युक्तं अतस्तद्वधे-
 गुरुप्रायश्चित्तं युक्तं ।

तदाह मनु,—

“उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो मासं यधान् पिवेत् ।
 कृतवापो वसेद्गोष्ठे चर्मणा तेन संवृतः ॥
 चतुर्थकालमश्नीयादक्षारलवणं मितं ।
 गोमूत्रेण चरेत् स्नानं द्वौ मासौ निहतेन्द्रियः ॥
 दिवानुगच्छेत्ता गास्तु तिष्ठन्नृद्धं रजः पिवेत् ।
 शुश्रूषित्वा नमस्कृत्य रात्रौ वीरासनं वसेत् ॥
 तिष्ठन्तोष्वनुतिष्ठेत्तु व्रजन्तोष्वप्यनुव्रजेत् ।
 आसीनासु तथासीनो नियतो वीतमत्सरः ॥
 आतुरामभिगृह्णां वा चौरव्याघ्रादिभिर्भयैः ।
 पतितां पङ्कलग्नां वा सर्वप्राणैर्विमोचयेत् ॥
 उष्णे वर्षति शीते वा मारुते वाति वा भृशं ।
 न कुर्वीतात्मनस्त्राणं गोरकृत्वा तु शक्तितः ॥
 आत्मनो यदि वाऽन्येषां गृहे चेत्रे तथा खले ।

भक्षयन्तौ न कथयेत् पिवन्तं चैव वत्सकं ॥
अनेन विधिना यस्तु गोघ्नो गामनुगच्छति ।
स गोहत्याकृतं पापं त्रिभिर्मासैर्व्यपोहति ॥
वृषभैका दशागाश्च दद्यात् सुचरितव्रतः ।
अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भ्यो निवेदयेत्” ॥

उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो न तु यागादिविहितगोबधकर्त्ता । अतएव-
सामान्यत उक्तं हारीतेन,—

“वृथा पशुघाते प्राजापत्यं” इति यागाद्यर्थोऽपि गोबधः कलौ निषिद्धः ।
विवाहो गोबधस्तथेत्यादिब्रह्मपुराणवचनात् ।

कृतवापः कृतसशिखमुण्डनो हतगवीचर्मणा कृतपरिधानोत्तरावगुण्ठनो-
मासमेकं गोमूत्रेण अर्थात् प्रथममासं यवान् यवागूकृतान् पिवेत् । तच्च-
र्माभावेऽन्यगवीचर्मणापीत्यर्थः । “गोमूत्रेण यवागूकृता” नीतिव्यासवचनात् ।
एवं सन् गोष्ठे वसेत् । अपरमासद्वये पूर्वदिने उपोष्य अपरदिने सायं स्वल्पं-
भुञ्जीत । “सुनिभिर्हिरणं प्रोक्त”मिति श्रवणात् अक्षारलवणं अक्षत्रिमलवणं-
मितं स्वल्पं । मासत्रयधर्मानाह ।

दिवानुगच्छेदिति, अनुः सहार्थः । रजो गोधूलिमित्यर्थः वीरासनं-
भिक्षाद्यनाश्रितोपवेशनं ।

तथा विष्णुधर्मोत्तरे,—

“उत्थितस्तु दिवा तिष्ठेदुपविष्टस्तथा निशि ।

एतद्वीरासनं नाम महापातकनाशनं” ॥

यद्यपि दिवोत्थाननिशोपवेशनयोर्मिलितयोरेव वीरासनत्वं । तथाप्यत्र-
रात्रावित्युपादानान्निशोपवेशनस्यैव ग्रहणं आसीनासु तथासीन इत्युपादानाच्च ।
अभिशस्तामतिक्रान्तां भयैर्भयनिमित्तैः । सर्वप्राणैः सर्वसामर्थ्यैरर्थाद्यथा-
शक्ति । विमोचयेत्तदपसारयेत् ।

अतएव विष्णुपुराणं,—

“शमं नयति यः क्रुद्धान् सर्वबन्धुरमत्सरः ।

भीताश्वासनकृत् साधुः स्वर्गस्तस्याल्पकं फलं” ॥

उष्णे रौद्रातिशये, वर्षति मेघे सतीत्यर्थः । भक्षयन्तीमिति शस्यादिक-
मिति शेषः । गां न कथयेत् निवारणाभिप्रायेण पिवन्तं स्तन्यमिति शेषः-
यद्यप्येतद्व्युत्पन्नं सर्वसाधारणं तथापि गोघ्नस्यातिशयेन मन्तव्यं । सुचरितव्रतः-
सम्यक् चीर्णव्रतः दक्षिणार्थं वृषभसहितदश गा दद्यात् ।

वृषभ-एकादशो यासां दशगवीनामित्यर्थः । तदभावे स्तन्यमपि सर्वस्वं-
दक्षिणार्थं दद्याद् । तदभाव इति पूर्वोक्तदक्षिणाशक्तावित्यर्थः ।

“गवामभावे दातव्यं गोमूलमञ्च न संशयः” । इति ।

संवर्त्तवचनात्,—

तत्र धेनुसंकलनं,—

यथा—त्रैमासिकव्रते मासयवपानं प्रजापत्यद्वयतुल्यं यतो यमेनाख्यादि-
भङ्गे मासार्द्धयवपानमुक्तं । तत्रैव गोभिलेन प्राजापत्यमुक्तं ।

यथा भवदेवभट्टवृत्त—यमवचनं,—

“अस्थिभङ्गं गवां कृत्वा लाङ्गूलच्छेदनं तथा ।

पाटने कर्म्मशृङ्गाणां मासार्द्धं तु यवान् पिवेत्” ॥

स्मृतिसागरे गोभिलः,—

“कर्म्मलाङ्गूलयोः छेदमस्थिभङ्गं विधाय च ।

प्राजापत्यव्रतं कुर्यात्तत्प्राप्तौ ब्राह्मणादयः” ॥

अत्र यत् शूद्रस्य द्विजतुल्यं प्रायश्चित्तमुक्तं तदस्थिभङ्गादिगात्रपरं वैश्य-
तुल्यशूद्रमात्रपरं वा । इति शूलपाणि-रघुनन्दन-गोविन्दानन्दाः ।

अपिच—तदत्र त्रैमासिकव्रते मासैकवीरासनगवानुगमनेतिकर्त्तव्यता-
युक्तयावक्यवागूपानेन प्राजापत्यद्वयं मासद्वयचतुर्थकालभोजने त्रिंशदुपवासा-
स्त्रिंशच्च नक्तभोजनानि भवन्ति ।

त्रिंशता च निरन्तरोपवासैः पञ्चदशप्राजापत्यान्युक्तानि, मासोपवासधेः संकलने । अत्रैकान्तरितत्वादर्शकेशेनाष्टौ प्राजापत्यानि संपद्यन्ते ।

उपवासस्य नक्तत्रयेण संकलितत्वात्त्रिंशता नक्तैर्दशोपवासा भवन्ति । तैश्च वीरासनादिवहुल्लेखयुक्तैः प्राजापत्यद्वयं । तेन मिलित्वा द्वादशप्राजापत्यानि भवन्ति । तदशक्तौ पयस्विधेनुद्वादशकं देयं । तत्राप्यशक्तौ तन्मूल्यं षट्-त्रिंशत्पुराणलभ्यं काञ्चनादि देयं । दक्षिणा च वृषसमेतगोदशकं । तन्मूल्यं-पुराणपञ्चदशलभ्यं काञ्चनादि देयं । पञ्चदशकेति गोदशमूल्यं पुराणदशकं-वृषभमूल्यं पुराणपञ्चकं मिलित्वा पञ्चदशेत्यर्थः । अयं तु द्वादशप्राजापत्य-संकलनपक्षः । अथवा क्लेशातिशययुक्तत्रिंशदुपवासैः कृच्छ्रदशकं संकलय्य-त्रिंशता नक्ताशनैरपि तथाभूतैः कृच्छ्रपञ्चकं संकलय्य सप्तदशधेनवो भवन्ति-एषा व्यवस्था बहुसम्मतयेति । एतच्च ब्राह्मणसम्बन्धिन्या बुद्धिपूर्वके शस्त्रघाता-दिना बधे वेदितव्यं । क्षत्रियादिसम्बन्धिगोबधे लघुप्रायश्चित्तान्तरश्रवणात्, तथा ब्राह्मणसम्बन्धे गोरुत्वस्य च पूर्वमुक्तत्वात् ।

तथाचात्र ब्रह्मसतिः,—

“शस्त्रादिना तु हत्वा गां मानवं व्रतमाचरेत् ।

रोधादिना त्वाङ्गिरसमापस्तम्बोक्तमेव वा ॥”

आदिशब्दात् सुष्टिलोद्गलगुडविषाग्नीनां प्रायिकमृत्युफलकानां ग्रहणं । रोधादिनेति यथाकथंचिन्निमित्तमात्रस्य बन्धनादेः । यस्तु यमेनाङ्गिरसा च-एतदेव त्रैमासिकव्रतं षष्ठकालभोजनयुक्तमभिहितं तद्गुरुत्वादगुणवद्ब्राह्मण-सम्बन्धि-गोबधविषयं । अज्ञानकृततथाविधब्राह्मणमात्रसम्बन्धिगोबधे तु-सम्बर्त्तः,—

“गोघ्नस्याथ प्रवक्ष्यामि निष्कृतिं तत्त्वतः शुभं ।

गोघ्नः कुर्वीत संस्थानं गोष्ठे गोरुपसन्निधौ ॥

तत्रैव शयनं चास्य मासाङ्गं क्षितिशायिनः ।

शक्त्यावकमेच्छ्याशी पयो दधिसरः शक्नोत् ॥

एतानि क्रमशोऽश्रौयान्नरस्तत्पापमोक्षकः ।
 शुध्येत सार्द्धमासेन नखरोमविवर्जितः ॥
 स्नानं त्रिसवनं तस्य स भवेत् संयतेन्द्रियः ।
 एतत्समाहितः कुर्व्यात् स नरो वीतमत्सरः ॥
 गायत्रीञ्च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः ।
 पूर्णं च सार्द्धमासे तु स विप्रान् भोजयेत् द्विजः ॥
 भुक्तवत्सु च विप्रेषु गां वै दद्याद्विचक्षणः ।
 गवामभावे दातव्यं गोमूल्यं तु न संशयः ।
 अनेनैव विधानेन गोघ्नो मुच्येत किल्बिषात् ॥

सरो दध्न उपरिभागः । अत्र च सार्द्धमासैकव्रते द्वादशधेनुसंकलित-
 त्रैमासिकव्रतार्द्धानुसारेण षड्धेनवो भवन्ति । एकवचनस्य श्रुतत्वात् गौरिका-
 तन्मूल्यं वा दक्षिणा । सार्द्धाष्टौ धेनवो वा एतद्व्रतं गोखामिनि गोमूल्यं दत्त्वा-
 कर्त्तव्यं ।

यथा ब्रह्मपुराणे,—

“आदौ गोपतये दत्त्वा गोमूलं साधुकल्पितं ।

यथोत्पन्नेन तस्यास्तु चर्मणाऋन्नविग्रहः ॥”

यथोत्पन्नेनाकृतसंस्कारेण इति शूलपाणिः ।

तथाऽत्र रघुनन्दनः,—

एवं च यत्प्रायश्चित्तविवेके मासयावकपानं क्वचिच्च द्वादशप्राजापत्यतुल्य-
 मुक्तं, तन्नोमूत्रमात्रसिद्धयावकपरं क्वचिच्च प्राजापत्यद्वयतुल्यं तत्सिद्धानन्तर-
 प्रक्षिप्तगोमूत्रपरमित्यविरोधः । मासद्वयचतुर्थकालभोजने त्रिंशदुपवासा-
 स्त्रिंशता नक्तैर्दशोपवासाः । तथाच शूलपाणिमहामहोपाध्यायैस्त्रिंशच्च निर-
 न्तरोपवासाः पञ्चदशप्राजापत्यतुल्याः मासोपवासधेनुसंकलने उक्ताः । अत्रे-
 कान्तरितत्वादिति कर्त्तव्यतायोगाच्च एकादशप्राजापत्यतुल्याः, तत्र त्रिंशत्-

नक्तभोजनं चतुःप्राजापत्यतुल्यं मिलित्वा त्रैमासिकव्रतं समदशप्राजापत्यतुल्यं
तदभावे समदशधेनवो देयाः । इति बहुसम्पत्ता व्यवस्था ।

भवदेवभट्टसम्पत्ता तु द्वादशधेनव इति । पूर्वोक्ता च दक्षिणा देया ।
तदशक्ताविकपञ्चाशत् षट्त्रिंशद् वा कार्षापणा देयाः । दक्षिणायान्तु वृषभमूल्यं
कार्षापणपञ्चकं गोदशकमूल्यं कार्षापणदशकमिति पञ्चदशकार्षापणाः,-
एतच्च ज्ञानत इति । अज्ञानतोऽहं । ततो ब्राह्मणान् भोजयित्वा गौरिका
दक्षिणा देया ।

“भुक्तवत्सु च विप्रेषु गां वै दद्याद्विचक्षणः ।

गवामभावे दातव्यं गोमूलाञ्च न संशयः” ॥

इति सम्बर्त्तवचनात् मूल्यं कार्षापणमेकं वा दद्यात् । एतच्च शस्त्रमुष्टि-
लोद्गलगुडविषाग्नादिभिः प्रायिकमृत्युकलकैर्हर्नने बोध्यं ।

तथा बृहस्पतिः,—

“शस्त्रादिना तु गां हत्वा मानवं व्रतमाचरेत्” ।

स्त्रीशूद्रबालहृद्वानामहं । एकस्योभयपरत्वे पादः । एवञ्च ब्राह्मणादीनां-
सगुणत्वनिर्गुणत्वादिना कालदेशादितारतम्येन च लघुगुरुप्रायश्चित्तान्तरं-
बोध्यम् ।

“सद्विगुणसाहस्रमानन्तरमञ्च यथाक्रमम् ।

दाने फलविशेषः स्याद्विंसायां तद्वदेव हि” ॥

इति दक्षवचनात्,—

“सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे ।

अधौते शतसाहस्रमनन्तं वेदपारगे” ॥

ब्राह्मणब्रुवश्चाङ्गिरसोक्तो यथा,

“गर्भाधानादिसंस्कारेयुक्तश्च नियमव्रतैः ।

नाध्यापयति नाधौते स ज्ञेयो ब्राह्मणब्रुवः ॥ इति ।

क्षत्रियसम्बन्धिन्या गोर्वधे तु देवलः,—

“गोध्नः षण्मासान् तच्चर्मणा परिहृती—गोग्रासाहारो गोव्रतो यवाशी-
नरव सच्चरन् विप्रो मुच्यते” । गोग्रासाहारो गोग्रासाहर्ता कर्मखण्ड, इति-
साधुः । अत्र षण्मासयवाहारेण द्वादशप्राजापत्यानि, तदशक्तौ द्वादशधेनवः ।
तदशक्तौ षट्त्रिंशत्कार्पापणा देया इति चत्वारः कल्याः । सवृषगोदशदक्षिणा-
विशेषानुपदेशादेया पूर्वीक्ता । एतदज्ञानतोऽज्ञानतोऽहं । स्त्रीशूद्रादीनां-
प्रायश्चित्तं पूर्ववत् । वैश्यसम्बन्धिन्या गोर्वधे तु याज्ञवल्करः,—

“पञ्चगव्यं पिवेद्गोघ्नो मासमासीत् संयतः ।

गोष्ठे वसेद्गोनुगामी गो प्रदानेन शुध्यति ॥”

शातातपः,—

“पञ्चगव्येन गोघातो मासैकेन विशुध्यति ।

गोमतीञ्जजपेद्विद्यां गवां गोष्ठे च संवसेत् ॥”

पञ्चगव्यमाह शातातपः,—

“गोशकृत्तद्विगुणं मूत्रं सर्पिर्विदग्नाच्चतुर्गुणं ।

क्षीरमष्टगुणं चैव पञ्चगव्ये तथादधि ॥”

तथाऽष्टगुणं यमः,—

“आहृत्य प्रणवेनैव उत्थाप्य प्रणवेन च ।

प्रणवेन समालोड्य प्रणवेनैव तत् पिवेत् ॥”

उत्थाप्य मिश्रीकृत्य एतद्वैकल्पिकं द्रव्यपरिमाणानन्तरं ।

मन्वान्तरं च ग्रन्थगौरवभयान्नोक्तं ।

गोमतीविद्यामाह प्रायश्चित्तकाण्डकल्पतरौ यमः,—

“गोमतीं कीर्त्तयिष्यामि सर्वपापप्रणाशिनौ ।

तां तु मे गदतो विप्राः शृणुध्वं सुसमाहिताः ॥

गावः सुरभयो नित्यं गावो गुग्गुलुगन्धिकाः ।
 गावः प्रतिष्ठा भूतानां गावः स्वस्त्ययनं महत् ॥
 अन्नमेव परं गावो देवानां हविरुत्तमं ।
 पावने सर्वभूतानां क्षरन्ति च हवींषि च ॥
 हविषा मन्त्रपूतेन तर्पयन्त्यमरान् द्विवि ।
 ऋषिणामग्निहोत्रेषु गावो होमप्रयोजिकाः ॥
 पावनं सर्वभूतानां गावः शरणमुत्तमं ।
 गावः पवित्वं परमं गावो मङ्गलमुत्तमं ॥
 गावः स्वर्गस्य सोपानं गावो धन्याः सनातनाः ।
 नमो गोभ्यः श्रीमतीभ्यः सौरभेयीभ्य एव च ॥
 नमो ब्रह्मसुताभ्यश्च पवित्राभ्यो नमो नमः ।
 ब्राह्मणाश्चैव गावश्च कुलमेकं द्विधाकृतं ॥
 एकत्र मन्त्रस्तिष्ठन्ति हविरन्यत्र तिष्ठति” ।

मन्त्राज्ञाने मिताचरायां षट्त्रिंशन्मतम् ।

“जपहोमादियत्किञ्चित् कृच्छोक्तं सम्भवेन्न चेत् ।

सर्वं व्याहृतिभिः कुर्याद् गायत्र्या प्रणवेन च” ॥

गवां गोष्ट इति श्रवणकुण्डलवत् तात्कालिकगोसत्त्वावबोधाय, गोमती-
 जपसहितमासपञ्चगव्यपानं प्राजापत्यपञ्चकतुल्यं । तदशक्नौ धेनुचतुष्टयं,
 दक्षिणा गोदानेन पञ्चधेनवः । एतदवुद्धिक्ते, बुद्धिक्ते त्वेतदेव द्विगुणं ।
 स्त्रीशूद्रबालवृद्धानामर्द्धं एकस्योभयधर्मपरत्वे पादः ।

शूद्रसम्बन्धिना गोवधे तु विश्वामितः,—

“कृच्छांस्तु चतुरः कुर्याद् गोवधे बुद्धिपूर्वके ।

अमत्या तु द्वयं कार्यं तदर्द्धं बालवृद्धयोः ।

स्त्रीशूद्रयोरेवमेतद्वधे चैव न संशयः” ॥

अत्र ज्ञाने चत्वारि प्राजापत्यानि तदशक्तौ धेनुचतुष्टयं । तन्मूल्यं-
 क्षत्रि- दशकार्षावणा वा । अज्ञानकृते प्राजापत्यद्वयं, तदशक्तौ धेनुद्वयं षट्कार्षा-
 “गोक्ष- वा देयाः । स्त्रीशूद्रबालवृद्धानामर्धं । एकस्त्रीभयधर्मपरत्वे पादः ।
 नरद- एवंस्था तु तदुपदेशकं वस्त्रादिना परितोष्य ग्राह्या । पत्रदाने तु शूद्रेणा-
 साध- ज्ञानकृतशूद्रस्वामिकगवीवधजन्यपापक्षयाय प्रजापत्यव्रतं प्रायश्चित्तं करणीयं ।
 तदशक्ताविकधेनुदानं तदशक्तौ कार्षापणं । दक्षिणा च यथाशक्ति दातव्या ।
 एतत् सर्वं पूर्वदिने सशिखवपनं कारयित्वा घृतं प्राश्य उपोष्य करणीयं
 प्रायश्चित्तानन्तरं पार्वणविधिना शुद्धयर्थं आहं कर्त्तव्यं । दशान्यूनब्राह्मणेभ्यो-
 भोज्यादिकं देयं । एतत् सर्वं गोस्वामिनां मूल्यादिना परितोष्य करणीयं ।
 अमुकस्य मतमेतदेवमन्यत्राप्युहेन लेख्यं । विशेषदक्षिणीकौ तु सैव लेख्या ।
 केशरक्षणे तु प्रायश्चित्तद्वैगुण्यं, दक्षिणा च द्विगुणा । योषितां मुण्डने तु-
 अङ्गुलिद्वयपरिमितसर्वकेशाग्रच्छेदनं करणीयमिति लेख्यं । प्रायश्चित्तकरणे तु-
 अमुकपापक्षयकाम इदंकाञ्चनमिति वाक्ये विशेषो बोध्यः । नारायणश्च स्मर्त्तव्यः

“प्रातर्निशि तथा सन्ध्यामध्याह्नादिषु संस्मरन् ।

नारायणमवाप्नोति सदाः पापक्षयं नरः” ॥

इति विष्णुपुराणे पापक्षयश्रुतिः ।

अत्र स्त्रीणामर्धं प्रदातव्यमित्यादि लघुहारीतविष्ण्वादिवचनैः प्राप्तं स्त्रीणा-
 मर्धं प्रायश्चित्तं पुनरुच्यमानं बालवृद्धस्त्रीशूद्रव्यतिरिक्तानां ब्राह्मणक्षत्रियविशां-
 प्रायश्चित्ततुल्यत्वं । अर्थात् तुल्यमेव प्रायश्चित्तं गोवधे ज्ञापयति । वस्तुतस्तु-
 न हि विष्ण्वादिवचनैः परिभाषितमिति कृत्वा विश्वामित्रवचनं पुनरुक्तं भवति-
 मुनीनां परस्परनिरपेक्षत्वात् अन्यथाऽतिप्रसङ्गः स्यात् । किन्तु हीनवर्णस्य-
 उत्कृष्टवधे गुरुत्वात् पापाधिक्यं यौक्तिकमिति भविष्यपुराणादौ विवृतं ।
 तेन गोवधे ब्राह्मणक्षत्रियविशां तुल्यप्रायश्चित्तं । शूद्रबालवृद्धस्त्रीणामर्धमिति ।

गर्भिणीवधे विशेषमाह । वृहस्पतिः,—

“गर्भिणीं कपिलां दोग्ध्रीं होमधेनुञ्च सुव्रतां ।

रोधादिना घातयित्वा द्विगुणं गोव्रतञ्चरेत् ॥

अतिवृद्धामतिक्रशामतिवालाञ्च रोगिणीं ।

हत्वा पूर्वविधानेन चरेद्ब्रतं द्विजः” ॥

पूर्वविधानेन मन्वाद्युक्तविधिना एतेन यत् सम्पूर्णव्रतमुक्तं तत्पुष्टि-
ख्यादियुक्तायां गवि बोद्धव्यं । गर्भिणीत्वादिगुणेन गोर्गुरुत्वाद्वैगुण्यं दर्शितम् ।

तथा प्रचेताः—

“स्त्रीगर्भिणी-गोगर्भिणी बालवधौ च भ्रूणहा भवति” ।

यत्तु,— गौतमेन, वैश्यं, हत्वा, त्रैवार्षिकं व्रतं चरेत्, वृषभैकशतानि च गा-
दद्यात् इत्यभिधाय । गाञ्च वैश्यवदिति गोवधे त्रैवार्षिकं प्रायश्चित्तमुक्तं-
तदग्निहोत्रिणो वेदपारगस्य होमधेनोः कपिलाया गर्भिण्याश्च पूखे देशे काले-
च बुद्धिपूर्वकवधे वेदितव्यं ।

“समद्विगुणसाहस्रमानन्त्यञ्च यथाक्रमं ।

दाने फलविशेषः स्याद्विंशत्यां तद्वदेव हि” ॥ इति—

दत्तवचनात् । यथा द्रव्यदेशकालाश्रमपात्रगुणेन दाने फलविशेषः,
तथा हिंसायामपीत्यर्थः । एवं मुन्यन्तरोक्तानि लघूनि यानि प्रायश्चित्तानि,
तानि गोरेवात्यन्ततिर्गुणतया व्याख्येयानि । प्रयोजकानुग्राहकानुमन्तृनिमित्त-
विषयाणि वा ।

अतिवृद्धा लृणच्छेदनासमर्था, अतिक्रशा कृशत्वेन दोहन-वाहनायोग्या,
अतिवाला वर्षपर्यन्तं बाला तदतिक्रान्ता द्विवर्षीया ।

तथाच बृहधक्किराः,—

“वर्षमात्रा तु बाला स्यादतिवाला दिवार्षिकी ।

अतःपरं तु सा गौः स्यात्तुरुणी दन्तवन्धने” ॥

रोधनेऽपि वा,—

“भिषङ्गिष्ठोपचारे च द्विगुणं गोव्रतञ्चरेत्” ।

अतएव वक्ष्यते “द्विपादस्तु द्विहायने” इति संवर्त्तः । गर्भिणीवधे तु-
विशेषमाह ।

चत्वि यमः,—

“गोवां निपतने चैव गर्भनाशो यदा भवेत् ।

एकैकं तु चरेत् कृच्छ्रं यथापूर्वं तथा परं” ॥

कृच्छ्र पदं व्रतपरं, द्विगुणं गोव्रतमित्येकवाक्यत्वात् ।

“पादमुत्पन्नमात्रे तु द्वौ पादौ गालसन्निभौ ।

“पादोने व्रतमाचष्टे हत्वा गर्भमचेतनम् ।

अङ्गप्रत्यङ्गसम्पन्ने गर्भे चेतःसमन्विते ॥

द्विगुणं गोव्रतं कुर्यात् प्रायश्चित्तं विप्रुद्वये” ।

वचनद्वयमिदं भवदेवव्याख्यातं । यथा खगुडाद्यभिघातेन गौर्जीवति-
गर्भमात्रपातो भवति । तदोत्पन्नगर्भमात्रपाते यथोक्तप्रायश्चित्तपादावरणं ।
गात्रावयवोत्पत्तौ प्रायश्चित्तपादद्वयं । सकलगात्रसमुत्पत्तौ चैतन्याभावे-
प्रायश्चित्तपादत्रयं । अर्थाच्चैतन्ययुक्तगर्भघाते कृत्स्नमेव प्रायश्चित्तमूहनीयं ।
मिताचारायां तु । गर्भिणीबधे यदा गर्भोऽपि निहतो भवति तदा प्रति-
निमित्तं नैमित्तिकमावर्त्तत इति न्यायादविशेषेण द्विगुणव्रतप्राप्तौ षट्-
त्रिंशन्वते विशेष उक्तः ।

“पद-उत्पन्नमात्रे तु द्वौ पादौ दृढतां गते ।

पादोने व्रतमुद्दिष्टं हत्वा गर्भमचेतनं ॥

अङ्गप्रत्यङ्गसम्पन्ने गर्भे चेतःसंसन्विते ।

द्विगुणं गोव्रतं कुर्याद्विषा गोघ्नस्य निष्कृतिः” ॥

विशेषमाह संवर्त्तः,—

“व्यापन्नानां बहूनाञ्च बन्धने रोधनेऽपि वा ।

भिषद्भिष्योपचारैश्च द्विगुणं गोव्रतञ्चरेत्” ॥

एकप्रयत्ननिष्पन्ने बहूनां गवां बधे ब्रह्मबध इव प्रायश्चित्तगौरवमुक्तं ।
न तन्त्रता पापभेदाभावात् । एकप्रयत्नजन्यत्वेनैकमेव गुरुतरपापमिति-
प्रायश्चित्तमपि तथा । बहूनामित्येकाधिकपरं । तदविवक्षायांमपि गोद्वयबधे-

प्रयत्नाभेदेऽपि विशेषवचनाभावात् प्रायश्चित्तद्वैगुण्यं युक्तं । अपि शब्दः
गृहदाहादिना । क्रमकृते तु प्रायश्चित्तावृत्तिः स्यादेव ।

यथा यमः,—

“गोघ्नवत् विहितः कल्पः चान्द्रायणमयापि वा ।

अभ्यासे तु तथोर्भूयस्ततः शुद्धिमवाप्नुयात्” ॥

तथोर्गोवधतदन्योपपातकयोः प्रकृतिविकृतिरूपयोः ।

संवर्त्तापस्तम्बौ,—

“एका चेद्वहुभिः क्वापि द्वैवाव्यापादिता भवेत् ।

पादं पादं च हत्यायाश्चरेयुस्ते पृथक् पृथक्” ॥

हत्यायास्त्रैमासिकव्रतस्थेत्यर्थः । यत्र यद्विहितं व्रतं तत्र तस्यै पादं-
प्रत्येकं कुर्युः । एका चेदित्युपलक्षणं, अतो बहुभिर्दयोर्वहनाच्च हनने
प्रतिपुरुषं पादद्वयं त्रयं वा कल्पनीयमिति मितान्तरा । वस्तुतस्तु एकाधिका-
नामेकैकपुरुषस्यैकप्रयत्नजन्यवधे व्यापन्नानां बह्वनामिति पूर्वोक्तवचनात् ।
एकैकपुरुषस्य द्विपादं कृत्वा प्रायश्चित्तं प्रयत्नभेदे तु गोघ्नवदित्यनेन तन्त्रताया-
अभावात् प्रत्येकं प्रतिपुरुषं द्विपादावृत्तिरिति । एतच्चाकामतो बधे द्रष्टव्यं,
देवादिति विशेषोपादानात्, कामकृते तु बह्वनामपि प्रत्येकं कृत्वा व्यापार-
सम्बन्धात् पूर्णप्रायश्चित्तं युक्तं सत्रिणां फलमिव प्रतिपुरुषं कृत्वा व्यापार-
समवायात् ।

“एकं घ्नतां बहूनां च यथोक्तात् द्विगुणो दमः ।”

इति प्रत्येकं दण्डद्वैगुण्यदर्शनाच्चेति मितान्तरा, वस्तुतस्तु सर्वत्र पापे ।

“स्यात्त्वकामकृते यस्तु द्विगुणं बुद्धिपूर्वके” ।

इत्यङ्गिरोवचनेनाज्ञानात् ज्ञाने द्वैगुण्यदर्शनादत्रापि ज्ञाने द्विपाद एव
दुक्तः सत्रे तु समदशावरा ऋद्धिकामाः सत्रमुपासीरन्निति श्रवणात्तथेति ।

एकं घ्नतमिति परवचनन्तु गोबध्नातिरिक्तविषयं । गोबधे एका चेदित्युप-
देशेन दण्डवत्प्रायश्चित्तमात्रं, अतएव प्रायश्चित्तविवेके एकं घ्नतां बह्वनामिति

तृणवधे उक्तं, बहुभिरित्युपादानात् द्वाभ्यां जनने तु प्रत्येकं सम्पूर्णप्रायश्चित्तं-
रुहायनद्विहायनत्रिहायणगोवधप्रायश्चित्तं ।

नग्नप्रचेताः—

एकवर्षे गवि हते कृच्छ्रपादो विधीयते ।

अबुद्धिपूर्वं पुंसः स्याद्विपादस्तु द्विहायने ।

त्रिहायणे त्रिपादः स्यात् प्राजापत्यमतः परं ॥

इदमपि प्रायश्चित्तलाघवेन बुद्धिपूर्वकाधमशूद्रस्वामिकगोवधविषयं, अतः-
परं चतुर्हायणे इत्यर्थः, बुद्धिपूर्वके एतदेव द्विगुणमित्यर्थः ।

अथ रोधादिनिमित्तगोवधप्रायश्चित्तं अङ्गिराः,—

“रोधने बन्धने चापि योजने च गवां रुजः ।

उत्पाद्य मरणं वापि निमित्ती यच्च लिप्यते ॥

पादं चरेद्रोधवधे द्वौ पादौ बन्धने चरेत् ।

योजने पादहीनं स्याच्चरेत् सर्वं निपातने” ॥

निमित्ती लिप्यते,—इति यथाकथंचिन्मरणनिमित्ततारतम्येन ।

“यो भूय आरभते तस्मिन् फले विशेषः” इत्यापस्तम्बवचनात् पाप-
विशेषेण लिप्यते । तद्विशेषात् प्रायश्चित्तविशेषमाह, पादं चरेदित्यादि ।

रोधः क्षीणाया गवाह्वारप्रचारनिर्गमविरोधः । अर्थात् क्षीणा गौः
वाटादिनिरुद्धत्वात्पलायनाद्यसमर्था आह्वाराद्यभावेन म्रियते तदा रोधस्व-
व्यवहितस्य मरणनिमित्तत्वात् प्रायश्चित्तपादः ।

बन्धनमयथाबन्धनमकामबन्धनञ्च । बन्धनस्य चासन्नत्वात्—द्वौ पादौ,
योजनं हलशकटादौ योजनं तत्रातिवाहादिना पादोनं ।

अत्रैव विषये चवनः ।—“प्राजापत्यद्वयं गोहत्याप्रायश्चित्तं रोधनबन्धन-
योक्तृवधे पादद्वयं नखानि लोमानि शिखावर्जं सशिखं वपनं त्रिसवनं गवानु-
गमनं सहशयनं सुमहत्तृणानि रथ्यासु चारये व्रतान्ते ब्राह्मणभोजनमिति ।”

रोधनबन्धनयोक्तृबधे—इत्यादेरयमर्थः, रोधनिमित्तकबधे प्राजापत्यस्य पातः प्रायश्चित्तं नखच्छेदनमत्र ।

बन्धननिमित्तकबधे प्राजापत्यस्य द्वौ पादौ नखानां लोम्नाञ्च च योक्तृनिमित्ते च बधे प्राजापत्यपादत्रयं नखलोमशिखावर्जकेशच्छेदनं दण्डादिप्रहारबधे सम्पूर्णप्राजापत्यं ।—अर्थात् निपातने दण्डनिपातनेऽत्यन्तासन्नत्वात् सम्पूर्णप्रायश्चित्तं, न तु श्वभ्रादिनिपातने “कच्छमज्ञानताडने” इति वृहस्पतिवचनात् । नखलोमकेशशिखाच्छेदनञ्च इति कल्पतरुः ।

एतद्विषय एव मिताक्षराष्टतं सम्बर्त्तवचनमित्येकवाक्यात् ।

तद्यथा,—

“पादेऽङ्गलोमवपनं द्विपादे श्मश्रुणोऽपि च ।

त्रिपादे च शिखावर्जं सशिखन्तु निपातने” ॥

अत्र पादादित्वे किं मानमिति चेत्,—

पराशरवचनं,—

“रोधने तु चरेत् पादं बन्धने चार्द्धमेव हि ।

योजने पादद्वौ न स्यात् प्राजापत्यं निपातने” ॥

“कच्छमज्ञानताडने” इति वार्हस्पत्यात् । दण्डोऽत्र हस्तप्रमाणो ग्राह्यः । तदधिके तु द्विगुणप्रायश्चित्तविधानात् ।

यथाऽङ्गिराः,—

“अङ्गुष्ठमात्रः स्थूलान् बाहुमात्रप्रमाणतः ।

सार्द्रश्च सपलाशश्च दण्ड इत्यभिधीयते ॥

अस्मादुर्द्ध्वप्रहारेण यदि गां विनिपातयेत् ।

द्विगुणं तु भवेत्तत्र प्रायश्चित्तमिति स्थितिः” ॥

सपलाशः सपत्रः । एतद्वचनविषय एव च्यवनोक्तप्राजापत्यद्वयमिति, एतच्चाज्ञानतः ।

न यथा बृहस्पतिः,—

“पादचरेद्रोधवधे कृच्छार्हं बन्धघातने ।

अतिवाहे च पादोनं कृच्छ्रमज्ञानलाङ्घने” ॥

अत्र कृच्छ्रपदप्राजापत्यपदश्रवणात् तस्यैव पादादिकमवगम्यते, न च-
यादृशे गोवधे यतप्रायश्चित्तं तस्येति, अज्ञानञ्च क्षीणाया—मक्षीणत्वभ्रमः ।
क्षीणज्ञाने तु प्रायिकमरणं ज्ञात्वा प्रवृत्तस्य चान्द्रायणपादादिकं ।

यथा हारीतः,—

“नासाच्छेदनदाहेषु कर्षच्छेदनबन्धने ।

अतिदोहातिवाहाभ्यां कृच्छ्रं चान्द्रायणचरेत् ॥

इत्येति शेषः । कृच्छ्रं व्रतं तेन चान्द्रायणव्रतमित्यर्थः । इति शूलपाणि-
महामहोपाध्यायाः । भवदेवमद्वैस्तु निपातने कृपावटादिषु इति व्याख्यातं
तदपि युक्तं, अन्यथा तत्र पातजनकभयादिदर्शकस्य प्रायश्चित्तस्यानध्यव-
सायापत्तेः ।

“शस्त्रादिना तु हत्वा गां मानवो व्रतमाचरेत् ।”

“रोधादिना त्वाङ्गिरसमापस्तम्बोक्तमेव चेति” बृहस्पत्युक्तस्य मुष्टिलोद्ग-
लगुडविषाग्नरादीनां प्रायिकसृत्पुफलानां ग्रहणं रोधादिनेति । यच्चा कथं-
चिन्निमित्तमात्रस्य बन्धादेरिति शूलपाणिव्याख्यान्तराच्च तस्मान्निपातनपर-
मुभयपरं । एतच्च राज्ञो रक्षणार्थं रोधवन्धनव्यतिरिक्तविषयम् ।

“सायं संयमनार्थन्तु न दुष्येद्रोधवन्धयोः ॥

इत्यङ्गिरोवचनात् । बन्धने मितालरायां विशेषमाह व्यासः,—

“न नारिकेलैर्न च शालतालैर्न चापि मौञ्जैर्न च वङ्गशृङ्गलैः ।

एतैस्तु गावो न च बन्धनीया बद्धा तु तिष्ठेत् परशुं गृहीत्वा ॥

कुशैः काशैश्च बध्नीयात् स्थाने दोषविवर्जिते” । इति ।

अथापालननिमित्तं गोवधप्रायश्चित्तं ।

तत्र पराशरः,—

“शीतानिलहता चैव उद्वन्धनमृतापि वा ।
 शून्यागारादुरपेक्षायां प्राजापतं विनिर्दिशेत् ॥
 अपालनात् प्रणश्येत्तु गौश्वरन्ती कथञ्चन ।
 जलौघपल्लवे मग्ना नागविदुरङ्गतापिवा ॥
 श्वभे वा पतिता कस्माच्छ्वापदैर्वापि भक्षिता ।
 प्राजापत्यं चरेत् कृच्छ्रं गोस्वामी ब्रतमुत्तमं ॥
 सशिखं वपनं कार्यं त्रिसन्ध्यामवगाहनं ।
 शृङ्गैर्वापि खुरैर्युक्तं लाङ्गूलश्रवणादिभिः ॥
 आर्द्रमेव हि तच्चर्म परिधाय स गां ब्रजेत् ।
 तासां मध्ये वसेद्रात्रौ दिवा ताभिः समं ब्रजेत् ॥
 ब्राह्मणस्य विशेषेण तथा राजन्यवैश्ययोः ।
 प्रायश्चित्ते ततश्चीर्णं कुर्यात् ब्राह्मणभोजनं ।
 अनडुत्-सहितां गां च दद्याद्विप्राय दक्षिणां” ॥

अत्र गोस्वामीत्यभिधानादुत्सृष्टवृषवत्सतरीषु स्वत्वाभावादपालन-
 निमित्तकतद्वधे तदुत्सृष्टदुर्दोषो नास्तीति प्रतीयते, तत्स्वत्वाभावेनान्येषां-
 सन्भाव्यमानमोपाधिकस्वत्वं निराकरोति, कल्पतरुष्टतब्रह्मपुराणं,—

“अथ वृत्ते वृषोत्सर्गे दाता वक्रोक्तिभिः पदैः ।
 ब्राह्मणानाह यत्किञ्चिन्मयोत्सृष्टं तु निर्जनैः ॥
 तत्किञ्चिदन्यो न नयेद्दिभाज्यं च यथाक्रमं ।
 न वाह्यं न च तत्चीरं पातव्यं केनचित् क्वचित्” ॥

वक्रोक्तिभिः काकूक्तिभिः स्वाम्यभावेनोत्सृष्टपशोः पालननियमाभावा-
 दान्यादिभक्षणे मोच्यत्वमाह,—

यथा याज्ञवल्करः,—

“महोचोत्सृष्टपशवः सूतिका गन्तुकादयः ।

अपालो येषां च ते मोच्या दैवराजपरिभुताः” ॥

महोचोऽनिर्वार्यः महावलीवर्द्धः । उत्सृष्टपशवः देवतोद्देशेन पित्रादि-
निष्ठफलोद्देशेन चक्राद्यङ्कितास्त्यक्तपशवः । सूतिका अनिर्गतदाशाहा । आगन्तुका-
यामान्तरादागता आदिशब्दादुशनसोक्ताश्च,—

यथा—

“अदण्डा हस्तिनोऽश्वाश्च प्रजापाला हिते स्मृताः ।

अदण्डा काणकुण्ठाश्च वृषभः कृतलक्षणः” ॥

कुण्ठः खञ्जः, अत्र काणकुण्ठशब्दाभ्यामत्यन्ताक्षम उच्यते वृषभः कृत-
लक्षणः । प्रागुक्तोत्सृष्टपशुः । एते सपाला विपाला वा सर्वथा मोच्याः ।

तथाच मनुः—

“अनिर्दशाहां गां सूतां वृषान् देवपशूंस्तथा ।

सपालान् वा विपालान् वा अदण्डानामनुरब्रवीत्” ॥

तस्मिन्नानां येषां च पालोऽस्ति तेऽपि च मोच्याः । अर्थात् पालो-
दण्डनीयः । देवराजपरिभुताः । गर्जनादिश्रवणात्सेनादिदर्शनाद्वा पलायिताः-
पशवो यदि चेतरे चरन्ति, तदा न दोष इत्यर्थः ।

पालकान्तरसत्वेतु मनुः,—

“दिवा वक्तव्यता पाले रात्रौ स्वामिनि तद्गृहे ।

योगक्षेमेऽन्यथा चेत्तु पालो वक्तव्यतामीयात्” ॥

दिवा पशूनां पालहस्तन्यस्तानां योगक्षेमविषये दोषे जाते पालकस्य-
गर्हणीयता, रात्रौ पुनः पालप्रत्यर्पितानां स्वामिनां दोषः, अन्यथा यदि-
रात्रावपि पालहस्तगता भवन्ति, तदा दोषे उत्पन्ने पाल एव गर्हणीयतां-
प्राप्नोति । इति कुल्लूकभट्टः ।

सृतिसागरसारे बृहदङ्गिराः,—

“अनागतस्य चानेता आगतस्य च रक्षकः ।

रात्रावपि यदन्योऽस्ति तदा स्वामी न दोषभाक्” ॥

ननु दण्डप्रकरणोक्तमनुवचनं प्रायश्चित्ते कथमिति चेन्न, “दण्डवत् प्रायश्चित्तानि भवन्तीति श्रुतेः”, तथा व्यवहाराच्च ।

एवञ्च,—

“यत्रापवर्त्तते युग्यं वैगुण्यात् प्राजकस्य च ।

तत्र स्वामी भवेद्दण्डो हिंसायां द्विशतं दमः” ॥

इति मनुवचने यत्र सारथेरकौशलात् यानमन्यथा गच्छति, तत्र हिंसायामसुशिक्षितसारथिनियोगात् स्वामी द्विशतं दण्डो दाप्य स्यादित्युक्तम् । कुम्भकभट्टव्याख्यानदर्शनात्, अयोग्यपालकसमर्पणे स्वामिनो दोषात्तस्यैव प्रायश्चित्तमुक्तं,—

“यावत् शस्यं विनश्येत्तु चेत्तौ तावत् फलं लभेत् ।

पालस्ताड्योऽथ गोस्वामी पूर्वोक्तं दण्डमर्हति” ॥

इति याज्ञवल्क्यवचने गवादिदोषेण यावत् शस्यं विनश्यति तावदेव पालकात् प्राप्तव्यं, पालकाशक्तौ पालकस्ताड्यः पूर्वोक्तं दण्डादिकमर्हतीति दर्शनाच्च । गोवधप्रायश्चित्ते पालकद्रव्यासम्भवे स्वामिना द्रव्यं दत्त्वा प्रायश्चित्तं कारयितव्यं कर्त्तव्यं वा । ज्ञेच्छपालके स्वयं कर्त्तव्यं । सशिखवपनमित्यत्र नैमित्तिकेन सशिखवपनेन सदा बह्वशिखेन त्वित्यस्य,—

“गायत्र्या तु शिखां वध्वा नैर्ऋत्यां ब्रह्मरन्ध्रतः ।

जुटिकां तु ततो वध्वा ततः कर्म समाचरेत्” ॥

इति ब्रह्मपुराणोक्तस्य च नित्यत्वस्य बाधो न दोषाय फलचमसेन सोमस्य बाधवत् गोदोहेन चमसस्य बाधवच्च ।

“सशिखं वपनं कार्य्यमास्त्रानाद्ब्रह्मचारिणा” । इति ।

यथाकाल्यायनकृतच्छन्दोगपरिशिष्टेऽप्येवं एतदेवश्रुतिमूलकत्वात् तद्वृत्तपार-
 ॥१॥ये पृथक्सशिरसमिति सूत्रेऽपि तथैवार्थः, तन्नाशकता हरिशर्मणापि-
 ताभावेनोक्तशिरसं मुण्डितशिरसमिति व्याख्यातं । न च,—

“एते लूनशिखास्तस्य दशनैरचिरोद्भूतैः ।

कुशाः काशा विराजन्ते वटवः सामगा इव” ॥

इति विष्णुपुराणीयेन सामगा—इति विशेषणान्नायेषां लूनशिखत्वमिति
 वाच्यं प्रागुक्तवचनात् सर्वेषां सशिखवपनप्राप्तेः विध्यन्तरकल्पनापत्तेः । तृण-
 सामगयोरौपस्यन्तु हरिणसुखहेतुत्वेनाप्युक्तं, तयोः सुखहेतुत्वञ्च भक्ष्यत्वेन गायक-
 त्वेनेति शेषः । एवं प्राचीनावीतित्वादिना सदोपवीतिना भाव्यमित्यस्यापि-
 बाध—इति प्रसङ्गादुक्तं । ब्राह्मणस्य विशेषेणेति ब्राह्मणानुगमनं मुख्यं,
 एतेनापालनकृतगोवधे प्राजापत्यं करणीयमिति अत्रेतिकर्त्तव्यतापि प्राजा-
 पत्यतुल्येति पण्डितसर्वस्वे हलायुधः ।

वृषभो गौश्च दक्षिणा ब्राह्मणभोजनं विशेषयति यज्ञपार्श्वः,—

“गर्भाधानादिकृत्येषु ब्राह्मणान् भोजयेद्दश” ।

प्राजापत्यद्वयाशक्तौ धेनुद्वयं, तदशक्तौ षट्कार्षापणाः । एवं च वृषभूत्यं-
 पञ्चकार्षापणाः । गोभूत्यं कार्षापणैकः । शूलपाणिप्रभृतिभिस्तु इतिकर्त्तव्य-
 तायां विशेषोऽनादृतः । एतच्च शूद्रस्वामिकेतरवधविषयं शूद्रस्वामिकस्याज्ञानात्
 साक्षादधे यत्किञ्चिद्दक्षिणकच्छद्वयस्य निववृभिव्यवस्थापितत्वेनापालनकृतवधे-
 तदधिकस्यायुक्तत्वाद्दशं तत्तुल्यं कच्छद्वयं युक्तमुत्पश्यामः ।

अत एवैतद्विषय—एव स्मृतिसागरे वृहदङ्गिराः ।

“अरक्षिते तु कृपादौ हते व्याघ्रादिभक्षिते ।

व्रतार्द्धमाचरेत्स्वामी रक्षिते नास्ति दूषण” ॥

व्रतार्द्धं कामकृतव्रतार्द्धं, नास्ति दूषणमिति यदि प्रमत्ता गौर्निवारयन्तं
 पालमतिक्रम्य गर्त्तकान्तारादौ म्रियते तदा नैत्यर्थः । अन्यत्र सत्येव पालके-
 सम्यक्पालनाभावेन श्वभ्रादौ पातान्नोर्मरणे प्रायश्चित्तमाह,—

विष्णुः,—

“पल्यलौघवृकव्याघ्रश्वापदादिनिपातने ।
श्वभोद्वन्धनसर्पादिरमृते पादोनमाचरेत् ।
अपालने तु कृच्छ्रं स्याच्छून्यागारादुपपन्नवे” ॥

ततो पादोनं प्राजापत्यस्यैव उत्तरवचने कृच्छ्रश्रवणात् । वृकस्तरक्षुः-
व्याघ्रभेदः, श्वापदः श्वविशेषः एवमन्यान्यपि पादोनविधायकादिवचनान्ये-
तद्विषयकाख्येव । यथा यमः,—

“अतिवाहातिदोहाभ्यां नासिकाभेदनेन च ।
नदीपर्वतसंरोहान्मृते पादोनमाचरेत् ॥

तथा,—

“दीर्घरज्जुक्लृते चैव प्रग्रहे युग्मयोजिते ।
हल्युग्ममृते चैव द्विपादं तत्र निर्दिशेत् ॥
घण्टाभरणदोषेण गवां यत्र विपद्-भवेत् ।
चरेद्धर्षव्रतं तत्र भूषणार्थं हि तत्कृतं ॥

अत्र पादोनादिकं प्राजापत्यस्येत्यर्थः ।

तथा,—

“पादश्चाप्राप्तके देयो वत्से स्वामिन्यरक्षिते” ।

अप्राप्तके अप्राप्तदस्यावस्थे बाले अर्थात् त्रिहायनपर्यन्ते इति यावत् ।
एवंभूते वत्सेऽरक्षिते श्वभ्रपातादिना मृते सति स्वामिनि प्राजापत्यपादो देयः,
अर्थात् स्वामिना प्राजापत्यपादः करणीयः ।

अत्र पादमात्रप्रायश्चित्तत्वात् बालत्वादिना नानुग्रहः ततश्चाप्राप्तदस्यावस्थ-
वत्सालननिमित्तकबन्धजन्यपापक्षयकाम इति प्रयोज्यं ।

अत्र,—

“विभृत्याद्वेच्छतः सर्वान् ज्येष्ठो भ्राता यथा पिता ।
भ्राता शक्तः कनिष्ठो वा शक्त्यपेक्षा कुले स्थितिः” ॥

इति नारदोक्तैकगृहिरूपतया स्थितानामविभक्तानां संसृष्टानाञ्चापालनाद्दो-
षाश्चैकतमकृतमकृतेन प्रायश्चित्तेन सर्वेषां पापनाशः ।

“एकपाकेन वसतां पितृदेवद्विजार्चनं ।

एकं भवेद्विभक्तानां तदेव स्याद्गृहे गृहे” ॥

इति बृहस्पतिवचनेन,—

“भाटणामविभक्तानामेको धर्मः प्रवर्तते ।

विभागे सति धर्मो हि भवेदेषां पृथक् पृथक् ॥

इति नारदवचनेन च एकत्र वासिनामेकतमकृतवैदिककर्ममात्रेण सर्वेषां-
फलभागित्वात् । अन्यथैकतमकृतपञ्चमहायज्ञैस्तादृशानां सर्वेषां पञ्चसूना-
पापनाशो न स्यात् ।

तदुक्तं मनुना,—

“अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणं ।

होमो देवो वलिभौर्तो नृयज्ञोऽतिथिपूजनं ॥

पञ्चेतान् यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः ।

स्वगृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते” ॥

सूनादोषैः,—

“पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्लिपेषण्युपस्कारः ।

कण्डनी चोदकुम्भश्च युजाते यास्तु वाहयन्” ॥ इति—

स्त्रीकैः । सूना हिंसास्थानानि चुल्ली पाकस्थानं पेषणी दूषदुपलादि ।
उपस्कारः सम्मार्जन्यादि । कण्डनी मुषलोदूखलादि, एताः सूनाः स्वस्वकार्ये-
प्रापयन् पापेन युज्यते पुरुष इत्यर्थः । अन्यथा च दम्पत्योर्मध्यगं धनमित्यनेन-
तत्र गवि पत्न्याः स्वामित्वात्तस्याऽपि प्रायश्चित्तान्तरं स्यात् ।

ननु,—

“आम्नाये स्मृतितन्त्रे च लोकाचारे च सूरिभिः ।

शरीराद्वा स्मृता जाया पुण्यापुण्यफले समा” ॥

इति बृहस्पतिवचनाज्जायापत्योर्विभागो न विद्यते ।

तथा पुण्यापुण्यफलैष्वित्यापस्तम्बवचनाच्च ।

एवञ्भूतविषये भस्मकृतादेव प्रायश्चित्तास्तन्नाश इति चेद्भ्रात्रादीनाम
पाकेन वसतामिति प्रागुक्तवचनद्वयात्तथेति तु साधारणधनदानेन प्रायश्चित्तं कृतं
तत्र सुतरां सर्वेषां पापक्षयः । अतएव विवादकल्पतरुप्रभृतिषु—

बृहस्पतिः,—

“वह्मनां सम्मतो यस्तु दद्यादेकं धनं नरः ।

करणं कारयेद्वामि सर्वैरेव कृतं भवेत्” ॥

तथाच—

“पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः” ।

इत्याद्युक्तं,—

पापक्षयायाश्वमेधिके पर्वणि युधिष्ठिरं—

प्रति व्यासवाक्यं,—

“अश्वमेधो हि राजेन्द्र ! पावनः सर्वपाप्मनां ।

तेनेष्टा वै विपाप्मत्वं भविता नात्र संशयः” ॥

तत्रैव भगवद्वाक्यं—

“भीमसेनार्जुनौ चैव तथा माद्रवतौसुतौ ।

द्रष्टवन्तो भविष्यन्ति त्वयौष्टवति पार्थिव !” ॥

उपसंहारेऽपि—वैशम्पायनः,—

“गत्वा चावभृथे राजा विपाप्मा भ्रातृभिः सह ।

सम्भ्राज्यमानः शुशुभे महेन्द्रस्त्रिदशैरिव” ॥

अविभक्तानां पालकानामप्येकं प्रायश्चित्तं विभक्तानाञ्च पादं पादं एका चे-
दिति प्रागुक्तत्वात् । वह्मनां गवामपालने तु द्विगुणं प्रायश्चित्तं, व्यापन्नानां
वह्मनामिति प्रागुक्तत्वात्तत्रापि विभक्तवहुकर्तृके तु द्विपादं प्रत्येकं प्रायश्चित्तं
मिति गोवधे लघुगुरुप्रायश्चित्तान्तराणि यथायोग्यं द्रव्यतत्त्वामिसगुणत्वा-

इति निगुणत्वदेशकालविशेषप्रयोजकादिभेदेन व्यवस्थेयानि, इति शूलपाणि-

नन्दनयोविन्दनन्दाः ।

पठितं विष्णुना च,—

“उपपातकिनस्त्वेते कुर्युश्चान्द्रायणं नराः” ।

इत्यनेन चान्द्रायणं विहितं, तत्र पापस्य लघुत्वाच्चान्द्रायणपदं शिशु-
चान्द्रायणपरं । तत्पादोनधेनुचतुष्टयेन सङ्कलितं प्रायश्चित्तविवेकेन-
इत्येतद्विषय एव । चान्द्रायणमकुर्वाणाः कुर्युः कच्छचतुष्टयं । इति समूलकत्वे-
बोध्यम् ।

अपि चात्रोक्तलदेशप्रचलिते प्रायश्चित्तमनोहरे पण्डितसर्वस्वे च यथा ।

अथ गोबधप्रायश्चित्तविधिर्लिख्यते ।

तत्र पराशरः,—

“गवां बन्धनयोक्ते तु भवेन्मृत्युरकामतः ।

अकामकृतपापस्य प्रायश्चित्तं कथं भवेत् ॥

वेदवेदाङ्गविदुषां धर्मशास्त्रं विजानतां ।

स्वकर्मरतविप्राणां स्वकं पापं निवेदयेत् ॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि उपस्थानस्य लक्षणं ।

उपस्थितो हि न्यायेन व्रतादेशनमर्हति ॥

सद्यो निःसंशये पापे न भुञ्जीतानुपस्थितः ।

भुञ्जानो बर्हयेत् पापं पर्षद्-यत्र न विद्यते ॥

संशये तु न भोक्तव्यं यावत् कार्यविनिश्चयः ।

प्रमादस्य न कर्तव्यो यथैवासंशयस्तथा ॥

कृत्वा पापं न गूहेत गुह्यमानं विबर्हते ।

स्वल्पं वाथ प्रभूतं वा धर्मविद्भ्यो निवेदयेत् ॥

ते हि पापे कृते वैद्या हन्तारश्चैव पाप्मनां ।
 व्याधितस्य यथा वैद्या बुद्धिमन्तो रुजापहाः ॥
 प्रायश्चित्ते समुत्पन्ने क्लीमान् सत्यपरायणः ।
 मुहुरार्जवसंपन्नः शुद्धिं गच्छति मानवः ॥
 सचेलं वाग्यतः स्नात्वा क्लिन्नवासाः समाहितः ।
 क्षत्रियो वाथ वैश्यो वा ततः पर्षदमाब्रजेत् ॥
 उपस्थाय ततः शीघ्रमार्त्तिमान् धरणीं ब्रजेत् ।
 गात्रैश्च शिरसा चैव न च किञ्चिदुदाहरेत् ॥
 चातुर्वेद्याऽविकल्पो च अङ्गविह्वर्मपाठकः ।
 प्रपञ्चाश्रमिणो मुख्या परिषत्सुर्दशावराः ॥
 राज्ञां चानुमते चैव प्रायश्चित्तं द्विजो वदेत् ।
 स्वयमेव न वक्तव्या प्रायश्चित्तस्य निष्कृतिः ॥
 ब्राह्मणांश्च व्यतिक्रम्य राजा यत् कर्तुमिच्छति ।
 तत्पापं शतधा भूत्वा राजनमुपगच्छति ॥
 प्रायश्चित्तं सदा दद्यात् देवतायतनाग्रतः ।
 आत्मानं पावयेत् पञ्चाज्जपन् वै वेदमातरम् ॥

राजानुमतिः गुरुतरपापेषु न तु लघुतरेषु, इत्युपदर्शितं पूर्वतः ।
 विषयेऽस्मिन् प्रायश्चित्तविधिमाह—

याज्ञवल्क्यः,—

“पञ्चगव्यं पिवेत् गोघ्नो मासमासीत संयतः ।
 गोष्ठेशयो गोऽनुगामी गोप्रदानेन शुध्यति ॥
 कृच्छ्रं चैवातिकृच्छ्रं च चरेद्वापि समाहितः ।
 दद्याच्चिरात् चोपोष्य वृषभैकादशास्तु गाः” ॥

इति याच विज्ञानेश्वरः,—

“गां कर्तुं” इति गोघ्नः मूलविभुजादित्वात् कप्रत्ययः” ।

यासी मासं समाहित आसीत् किं कुर्वन् ?

यश्च—तानि गव्यानि गोसुत्र-गोमय-क्षीर-दधि-घृतानि यथाविधि मिश्रितानि पिवन् । आहारान्तरपरित्यागेन भोजनकार्यं तस्य विधानात् । तथा-गोष्ठेशयः, प्राप्तशयनानुवादेन गोष्ठे विधानेन दिवा च स्वापप्रतिषेधाद्वाक्षी-गोशालायां शयानो गा अनुगच्छति । तदस्य व्रतमिति गोऽनुगामी । व्रते-रिनिः, अतश्च यासां गोष्ठे शेते सन्निधानात्ता एव गाः प्रातर्वनं विचरन्तीरनु-गच्छेत् । अनुगच्छेदिति वचनात् यदा ता गच्छन्ति, तदैव स्वयमनुगच्छेत्-यदाऽनुतिष्ठन्त्यासते वा तदा पश्चाद्गमनस्याशक्यकरणत्वात् स्वयमपि तिष्ठे-दासीत वेति गम्यते । अनुगमनविधानादेव ताभिः सायं गोष्ठं व्रजन्तीभिः-सह गोष्ठप्रवेशोऽप्यर्थसिद्धः । एवं कुर्वन् मासान्ते गोप्रदानेन एकां गां दत्त्वा-तावता शास्त्रार्थस्य सम्पत्तेर्गोहत्यायाः शुध्यतीतीत्येकं व्रतं । मासं गोष्ठेशयो-गोऽनुगामीत्यनुवर्त्तते । पञ्चगव्याहारस्य तु निवृत्तिः । कृच्छ्रविधानादेव । अतश्च—“मासं निरन्तरं कृच्छ्रं समाहितश्चरेदित्यपरं” अत एव जावालेन मासं-प्राजापत्यस्य पृथक् प्रायश्चित्तत्वमुक्तं ।

“प्राजापत्यं चरेन्मासं गोहन्ता चेदकामतः ।

गोहितो गोऽनुगामी स्यात् गोप्रदानेन शुध्यति” ॥ इति ।

अतिकृच्छ्रं वा तथैव समाचरेदित्यन्यत् । अथवा तिरात्रसुपवासं कृत्वा-वृषभ एकादशी यासां गवां ता दद्यादिति व्रतचतुष्टयं । तत्राकामकृते-जातिमात्रब्राह्मण-स्वामिक-गोमात्रबधे उपवासं कृत्वा वृषभेकादशगोदान-सहितस्त्रिरात्रोपवासो द्रष्टव्यः । विशिष्ट-स्वामिकाया विशिष्टगुणवत्याश्च-बधे गुरुप्रायश्चित्तस्य वक्ष्यमाणत्वात् । क्षत्रियसम्बन्धिन्यास्तु तादृग्विधे व्यापा-दने मासं पञ्चगव्याशित्वं प्रथमं प्रायश्चित्तम् । अत्र मासं पञ्चगव्याशन-स्यातिस्वल्पत्वात्तन्मासोपवासतुल्यत्वं । ततश्च षड्भिः षड्भिरुपवासै-रेकैकप्राजापत्यकल्पनया पञ्चकृच्छ्राणां प्रत्यान्वायेन पञ्चधेनवो मासान्ते च-

दीयमाना गौरेकेति षट् धेनवो भवन्तीति वृषभैकादशगोदानसहितत्रिर-
व्रताक्षधीयस्त्व' । कथं पुनर्ब्राह्मणगवीनां गुरुत्वं । "देवब्राह्मण
तु विज्ञेयं द्रव्यसुत्तममिति नारदेन तद्द्रव्यस्योत्तमत्वाभिधानात् ।
ब्राह्मणसंस्थास्त्विति दण्डभूयस्त्वदर्शनाच्च । वैश्यसम्बन्धिन्यास्तु तादृ-
व्यापादने मासमतिकृच्छ्रं कुर्यात् । अतिकृच्छ्रे त्वाद्ये त्रिरात्रत्रये पाणिपूरान्न-
भोजनमुक्तं । अन्ये त्रिरात्रेऽनशनं । अतोऽतिकृच्छ्रधर्मेण मासव्रते क्रियमाणे-
षड्भूरात्रमुपवासो भवति । चतुर्विंशत्यहे च पाणिपूरान्नभोजनं ततश्च कृच्छ्र-
प्रत्याम्नायकल्पनया किञ्चिन्नूनं धेनुपञ्चकं भवतीति पूर्वस्मात् व्रतद्वयाक्षघिष्ठ-
त्वेन वैश्यस्वामिकगोबधविषयता युक्ता । तादृश एव विषये शूद्रस्वामिक-
गोहत्यायां मासं प्राजापत्यव्रतं, द्वितीयं तत्र च सार्द्धप्राजापत्यद्वयात्मकेन-
प्रत्याम्नायेन किञ्चिदधिकं धेनुद्वयं भवतीति पूर्वभ्यो लघुतमत्वाच्छूद्र-
विषयतोचिता ।

अथैतत् प्रायश्चित्तचतुष्टयं साक्षात्कृतनुग्राहकप्रयोजकाऽनुमन्तृषु गुरु-
लघुभावतारतम्यापेक्षया पूर्वोक्त एव विषये योजनीयं । यत्तु वैष्णवं व्रतत्रयं
यच्च काश्यपीयं । गां हत्वा तच्चर्मणा प्राहतो मासं गोष्ठेशयस्त्रिषवणस्त्रायी-
नित्यं पञ्चगव्याहार इति । यच्च शातातपीयं मासं पञ्चगव्याहार इति ।
तत्पञ्चकमपि याज्ञवल्कीयपञ्चगव्याहारसमानविषयं । यच्च शङ्खप्रचेतोभ्या-
मुक्तं । गोघ्नः पञ्चगव्याहारः पञ्चविंशतिरात्रमुपवसेत् सशिखं वपनं कृत्वा-
गोचर्मणा प्राहतो गायानुगच्छन् गोष्ठेशयो गां च दद्यादिति । एतच्च याज्ञ-
वल्कीयमासातिकृच्छ्रव्रतसमानविषयं दद्यात्त्रिरात्रं चोपोष्येत्येतद्विषयमेवात्यन्त-
गुणिनो हन्तुर्वेदितव्यं । अत्रैव विषये पञ्चगव्याशक्तस्य तु द्वितीयं काश्यपीयं-
मासं पञ्चगव्येनेति प्रतिपाद्ये षष्ठे काले पयो भक्ष्यो वा गच्छन्तीष्वनुगच्छेत्तासु
सुखोपविष्टास्तु चोपविशेन्नातिप्लवं गच्छेन्नातिविषमेणावतारये नाल्योदके पायये-
दन्ते ब्राह्मणान् भोजयित्वा तिलधेनुदद्यात् इति द्रष्टव्यं । अत्राप्यशक्तस्य-
गोघ्नो मासं यवागूप्रसृतितण्डुलशृतां भुञ्जानो गोभ्यः प्रियं कुर्वन् शुध्यतीति-
पेठीनसिनोक्तं वेदितव्यं । यत्तु सोमन्तं । गोघ्नस्य गोप्रदानं गोष्ठेशयनं द्वादश-
रात्रं पञ्चगव्याशनं गवानुगमनं चेति ।

यच्च सम्बन्धेनोक्तं,—

इति “सक्त्यावकभैक्ष्याशी पयो दधि-घृतं सकृत् ।

एतानि क्रमशोऽश्रीयान्मासाद्धं सुसमाहितः ॥

ब्राह्मणान् भोजयित्वा तु गां दद्यादात्मशुद्ध्ये” । इति

यच्च वार्हस्पत्यं,—“द्वादशरात्रं पञ्चगव्याहार इति तत्तितयमपि याज्ञ-
वल्कीयमासप्राजापत्येन समानविषयं” । स्मृतकल्पगोहत्याविषयं वा विषम-
प्रदेशत्रासेन जनितव्याधितो मरणविषयं वा वेदितव्यं । तदिदं सर्वे प्रागुक्तम-
कामविषयं । अकामकृतगोवधदोषमाह यमः, यथा—

“काष्ठलोष्ट्राश्मभिर्गावः शस्त्रैर्वा निहता यदि ।

प्रायश्चित्तं कथं तत्र शास्त्रे शास्त्रे विधीयते ॥

काष्ठे सान्तपनं कुर्यात् प्राजापत्यं तु लोष्ट्रके ।

तप्तकृच्छ्रे तु पाषाणे शस्त्रे चाप्यतिकृच्छ्रकं ॥

प्रायश्चित्ते ततश्चौर्णे कुर्याद्ब्राह्मणभोजनं ।

त्रिंशद्गा वृषभं चैकं दद्यात्तेभ्यश्च दक्षिणां” ॥ इति ।

प्रायश्चित्ताशक्तो धेनुसंख्या यथा,—“सान्तपने धेनुद्वयं । तथा सति
समुदायेन एकवृषभाधिकत्रिंशद्गोभिः सह मिलित्वा एकवृषभद्वात्रिंशद्देनवो
भवन्ति । प्राजापत्ये एका धेनुः । तप्तकृच्छ्रे धेनुद्वयं । अतिकृच्छ्रे धेनुचतुष्टयं ।
सर्वप्रायश्चित्तेषु त्रिंशद्गा वृषभमेकमिति सम्बन्धनीयं । वृषभमूल्यं पञ्चकार्षापणं ।
धेनुमूल्यं द्विकार्षापणमिति पण्डितसर्वस्वे । एतच्च पूर्वोक्तप्रायश्चित्तजातं-
ब्राह्मणस्य हन्तुर्वेदितव्यं । क्षत्रियादेस्तु हन्तुर्वेदविष्णुना विशेषोऽभिहितः,—

“विप्रे तु सकलं देयं पादोनं क्षत्रिये मतं ।

वैश्येऽर्धं शेषपादस्तु शूद्रजातिषु शस्यते” ॥ इति ।

यच्चङ्गिरोवचनं,—

“पर्षद् या ब्राह्मणानां तु सा राज्ञां द्विगुणा मता ।

वैश्यानां त्रिगुणा प्रोक्ता पर्षवच्च व्रतं स्मृतं” ॥ इति ।

तत् प्रातिलौभ्येन वाग्दण्डपारुष्यादिविषयं ।

बहुकर्तृके तु हनने सम्बर्त्तापस्तम्बौ विशेषमाहृतुः ।

“एका चेद्बहुभिः काचित् देवाद्यापादिता क्वचित् ।

पादं पादं तु हत्यायाश्चरेयुस्ते पृथक् पृथक्” ॥ इति ।

यादृग्विधगोहत्यायां यद्व्रतमुपदिष्टं तत् पादं प्रत्येकं कुर्युर्वचनात् ।
एका चेदित्युपलक्षणमित्यतो बहुभिर्द्वयोर्वह्नाञ्च व्यापादनं प्रतिपुरुषं पादद्वयं-
पादोनं वा कल्पनीयं । तच्चाकामतो बधे द्रष्टव्यं । देवादिति विशेषणो-
पादानात् । कामकारे तु बह्वनामपि प्रत्येकं कृत्स्नदोषसम्बन्धात् कृत्स्नव्रत-
सम्बन्धो युक्तः । सत्रिणामिव प्रतिपुरुषं कृत्स्नव्यापारसमवायात् ।

एकं घ्नतां बह्वनान्तु यथोक्तद्विगुणो दमः” ।

इति प्रत्येकं दण्डद्वैगुण्यदर्शनाच्च । यदात्वेकेनैव बन्धनादिव्यापारेण-
बहवो गावो व्यापादितास्तत्र सम्बर्त्तापस्तम्बौ विशेषमाहृतुः,—

“व्यापन्नानां बह्वनां तु रोधने बन्धने तथा ।

भिषग्विध्योपचारे च द्विगुणं गोव्रतं चरेत्” ॥ इति ।

बहुष्वपि व्यापनेषु न प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकानुष्ठानं नापि तन्त्रेण, किन्तु
वचनबलाद्द्विगुणमेव । तथाभिषगपि विरुद्धौषधदानेनैकस्या—अप्य-
कामतो व्यापादने द्विगुणं गोव्रतं कुर्यात् । भिषग्व्यतिरिक्तस्य केवलमुप-
कारार्थं प्रवृत्तस्य त्वकामतः प्रतिकूलौषधदाने व्यास आह,—

“औषधं लवणञ्चैव पुण्यार्थमपि भोजनं ।

अतिरिक्तं न दातव्यं काले खल्पं च दापयेत् ।

अतिरिक्ते विपत्तिञ्चेत् कृच्छ्रपादो विधीयते” ॥ इति ।

पाठान्तरं तद्वचनस्यैवं । यथा,—

“औषधं लवणञ्चैव स्नेहं पिण्याकमेव च ।

अतिरिक्तं न दातव्यं काले खल्पञ्च दापयेत् ।

अतिरिक्ते विपन्नानां कृच्छ्रपादो विधीयते” ॥

यत्त्वापस्तम्बेनोक्तं,—

“पादमेकचरेद्रोधे द्वौ पादौ बन्धने चरेत् ।

योजने पादद्वौ न स्याच्चरेत् सर्वं निपातने” ॥ इति ।

तद्व्यवहितव्यापारिणो निमित्तकर्तृर्विज्ञेयं न साक्षात् कर्तुः । साक्षात्-
कर्तृनिमित्तिनोश्च भेदः तेनैव दर्शितः ।

यथा,—

“पाषाणैर्लगुडैर्वापि शस्त्रेणान्येन वा बलात् ।

निपातयन्ति ये गास्तु कृच्छ्रं कुर्युर्ब्रतं हि ते ।

तथैव बाहुजङ्घोरुपाश्वशीवाङ्घ्रिमोटनैः” ॥ इति ।

एतदुक्तं भवति । पाषाणखड्गदिभिर्ग्रीवामोटनादिना वा ये ऽङ्गानि पातयन्ति-
ते साक्षादन्तारस्तेष्वेव कृच्छ्रं प्रायश्चित्तं । ये तु व्यवहितरोधबन्धादिव्यापार-
योगिनस्ते निमित्तिनस्तेषां न कृच्छ्रव्रतसम्बन्धः । किन्तु तदवयवैरेव पाद-
द्विपादादिभिरिति । तत्र च रोधादिना व्यवहितव्यापारत्वाविशेषेऽपि-
वचनात् क्वचित् पादः क्वचिद्विपादः पादोनं क्वचिदिति युक्तं ।

अत्राह पराशरः,—

“गवां बन्धनयोक्तैस्तु भवेन्मृत्युरकामतः ।

अकामकृतपापस्य प्राजापत्यं विनिर्दिशेत् ॥

प्रायश्चित्ते ततश्चीर्णे कुर्याद्-ब्राह्मणभोजनं ।

अनङ्गुत्सहितां गां च दद्यात् विप्राय दक्षिणां ।” इति ।

अयं च प्राजापत्यो यदि रोधादिकं कृत्वा तज्जन्यप्रमादपरिजिहीर्षया-
प्रत्यवेक्षमाण आस्ते तदा द्रष्टव्यः । अकामकृतपापस्येति विशेषणोपादानात् ।
यदा तु न प्रमादसंस्मरणं करोति तदा,—

“पादमेकं चरेद्रोधे द्वौ पादौ बन्धने चरेत् ।

योजने पादद्वौ न स्याच्चरेत् सर्वं निपातने” ॥

इत्यङ्घ्रिमोटनं त्रैमासिकपादं किञ्चिदधिकं वा विंशत्यङ्गुर्विधव्रतं कुर्यात् ।

आपस्तम्बेनापि विशेष उक्तः,—

“अतिदोहातिवाहाभ्यां नासिकाच्छेदने तथा ।

नदौपर्व्वतसंरोधे मृते पादौ न माचरेत्” ॥ इति ।

लक्षणमात्रोपयोगिनि तु दाहे न दोषः,—

“अन्याचाङ्गनलक्ष्माभ्यां वाहने मोचने तथा ।

सायं संयमनार्थञ्च न दुष्येद्रोधवन्धने” ॥

इति पराशरस्मरणात् । अङ्गनं त्रिशूलादिना स्थिरचिह्नकरणं । लक्ष्मा-
व्याधादिनिवृत्त्यर्थं कर्णकर्त्तनादि । कामकृते तु द्विगुणं प्रायश्चित्तमिति सम्बर्त्ता-
पस्तम्बौ । यदा पुनरीदृग्विधामविशिष्टविप्रस्वामिकामविशिष्टां गां कामतः-
प्रमापयति । तदा मनुना मासं यवागूपानं । मासद्वयं हविष्येण चतुर्थ-
कालभोजनं मासद्वयं वृषभैकादशगोदानयुक्तं शाकादिना वर्त्तनमिति व्रत-
त्रितयमान्नातं । मनुवचनान्युक्तविषयकाणि कथितपूर्व्वतया नोद्धृतान्यत्र ।

एतत्त्रितययाज्ञवल्कीयमासप्राजापत्यमासपञ्चगव्याशनवृषभैकादशगोदान-
युक्तविरात्रोपवासरूपव्रतत्रितयविषयं यथाक्रमेण द्रष्टव्यं । यत्त्वङ्गिरसा मानवेति-
कर्त्तव्यतायुक्तं त्रेमासिकमभिधायाधिकमभिहितं ।

“अक्षारलवणं ऋक्षं षष्ठे कालेऽस्य भोजनं ।

गोमतीं वा जपेद्विद्यामोङ्कारं वेदमेव च ।

व्रतवद्भारयेदृण्डं समन्तां चैव मेखलां” ॥ इति ।

तथा तन्मानवविषयं । एवं पुष्टितारुण्यादिकिञ्चित्गुणातिशययोगिन्यां-
द्रष्टव्यं,—

“अतिबालामतिकृशामतिवृद्धाञ्च रोगिणीं ।

हत्वा पूर्व्वविधानेन चरेद्व्रतं द्विजः” ॥

इति पुष्टितारुण्यादिरहितायां गव्यर्द्धप्रायश्चित्तदर्शनात् । यदा तु-
याज्ञवल्कीयमासातिकृच्छ्रव्रतनिमित्तभूतां गामविशिष्टस्वामिकां जातिमात्र-
योगिनीं कामतो व्यापादयति ।

तदा,—

“विहितं यदकामानां कामात्तद्विगुणं चरेदिति”—

न्यायेन पूर्वोक्तमेवाकामविहितं मासातिवृत्तं द्विगुणं कुर्यात् ।
यत्तु यमेनाङ्गिरसीमिति कर्त्तव्यतामभिधाय,—

“गोसहस्रं शतं वापि दद्यात्सुरचितव्रतः ।

अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भ्यो निवेदयेदिति” ॥

गोसहस्रयुक्तं गोशतयुक्तं च द्वैमासिकं व्रतद्वयमभिहितं । तत्र यदा-
सवनस्य श्रोत्रियातिदुर्गतबहुकुटुम्बब्राह्मणसम्बन्धिनीं कपिलां कर्माङ्गभृतां-
गर्भिणीं बहुचौरतरुणिमादिगुणशालिनीं निर्गुणो धनवान् सप्रयत्नं खज्रादिना-
व्यापादयति तदा गोसहस्रयुक्तं द्वैमासिकं कुर्यात्,—

“गर्भिणीं कपिलां दोग्ध्रीं होमधेनुञ्च सुव्रतां ।

खज्रादिना घातयित्वा द्विगुणं व्रतमाचरेत्” ॥

इति विशिष्टायां गवि वार्हस्पत्ये प्रायश्चित्तदर्शनात् । अतएव प्रचेतसा-
स्त्रीगर्भिणी-गोगर्भिणी-बालवृद्धबधेषु भृणहा भवतीति ईदृग्विधमेव ।
गोबधमभिसन्धाय ब्रह्महत्याव्रतमतिदिष्टं । द्वितीयं तु यास्यं गोशतदानयुक्तं-
द्वैमासिकं व्रतं कात्यायनीयव्रतविषये धनवतो द्रष्टव्यं । यत्तु गौतमेन ।
वृषभैकगोशतदानसमुचितं त्रैवार्षिकं प्राक्तनं ब्रह्मचर्यं वैश्यबधेऽभिधाय-
गोबधेऽतिदिष्टं । गां च हत्वा नैश्यवदिति । एतच्च त्रैवार्षिकव्रतप्रत्याज्जाय-
भूतनवतिधेनुभिः साहं वृषभैकशना गावो नवच्यूनं द्विशतं भवतीति-
गोसहस्रयुक्तद्वैमासिकव्रतान्यूनत्वात् पूर्वोक्तविषये—एव कामतो बधे । यद्वा-
तत्रैव विषये गर्भरहितायाः कामतो बधे द्रष्टव्यं तादृग्विधाया एव गर्भ-
रहितायास्त्वकामतो हननेऽपि कात्यायनीयमेव त्रैवार्षिकं कल्प्यं ।

इति विज्ञानेश्वरः । तथा,—

“मुष्कगोषकरो विप्रो गोबधस्य व्रतं चरेत् ।

प्रयोजकस्तु कुर्वीत व्रतस्याहं विशुद्ध्यै ॥

हले वा शकटे चैव वाहयेदुयो गवां स्वयं ।
प्राजापत्यद्वयं कुर्याद्विगुणं योषितां गवां ॥
वृषभं तु समुत्सृज्य कपिलां वापि कामतः ।
योजयित्वा हले कुर्यात् व्रतं चान्द्रायणद्वयं” ॥

तथा,—

“दोहने वाहने चैव योजने शकटे तथा ।
स्तम्भशृङ्गलपाशैश्च मृते पादोनमाचरेत् ॥
हले च शकटे चैव दुर्वलं योऽभियोजयेत् ।
प्राणत्यागे समुत्पन्ने तत्र प्राप्नोति गोबधम्” ॥

सुष्कसोषकरो बीजनाशकरः । याज्ञवल्क्योक्तदण्डविधौ मृत्युलिङ्गच्छेदयो-
स्तुल्यत्वाभिधानात् प्रायश्चित्तेऽपि तथेति स्वरसः, गोबधं गोबधोक्तप्रायश्चित्तं ।

तथा,—

“प्रेरयन् कूपवापीषु वृक्षच्छेदेषु पातयन् ।
गवाशनेषु विक्रीतस्ततः प्राप्नोति गोबधम् ॥
वेश्मद्वारे निवासेषु यो नरः खातमिच्छति ।
स्वकार्यगृहखातेषु प्रायश्चित्तं विनिर्दिशेत्” ॥

प्रायश्चित्तं गोबधप्रायश्चित्तं यथापापं यथाशक्ति च विदध्यादित्यर्थः ।

तथा,—

“गोवृषाणां विपत्तौ च यावन्तः प्रेक्षका जनाः ।
न वारयन्ति तां तेषां सर्वेषां पातकं भवेत्” ॥

पातकं गोबधजन्यपातकमित्यर्थ इति । गोभिनापस्तम्बपराशरादयः ।

कृच्छ्रव्रतसपि विशेषयति वृक्षस्यतिः,—

“शस्त्रादिना तु हत्वा गां मानवं कृच्छ्रमाचरेत् ।
रोधादिना चाङ्गिरसमापस्तम्बोक्तमेव वा ।

पादचरैर्द्रोधबधे कृच्छार्हं बन्धघातने ।

अतिवाहे च पादोनं कृच्छ्रमज्ञानताडने” ॥

घातन इति दण्डादिनेत्यर्थः ।

कामकृते रोधादिना गोबधे आङ्गीरसमापस्तम्बीयं वा प्रायश्चित्तमिति-
लक्ष्मीधरः ।

तथाऽऽख्यादिभङ्गे मरणाभावेऽपि क्वचित् प्रायश्चित्तमुक्तमापस्तम्बेन,—

“अस्थिभङ्गं गवां कृत्वा लाङ्गूलच्छेदनं तथा ।

पाटनं दन्तशृङ्गाणां मासाद्धं तु यवान् पिवेदिति” ॥

यत्वाङ्गीरसं,—

“शृङ्गदन्तास्थिभङ्गे वा चर्मनिर्मोचनेऽपि वा ।

दशरात्रं पिवेद्वच्चं स्वस्थाऽपि यदि गौर्मवेत्” ॥

वज्रशब्दवाच्यं क्षीरादिवर्त्तनमुक्तं तदशक्तविषयं । इदञ्च प्रायश्चित्तं-
गोस्वामिने व्यापन्नगोषट्दृशीं गां दत्त्वेव कार्यं ।

यथाह पराशरः,—

“प्रमापणे प्राणभृतां दद्यात्तत् प्रतिरूपकं ।

तस्यानुरूपं मूल्यं वा दद्यादित्यब्रवीद्व्यसः” ॥ इति ।

मनुरपि,—

“यो यस्य हिंस्यात् द्रव्याणि ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा ।

स तस्योत्पादयेत्तृष्टिं रात्रौ दद्याच्च तत्सममिति” ॥

तथा पालनाकरणादिनोपेक्षायां क्वचित् प्रायश्चित्तविशेषो व्यासेनोक्तः ।

“जलौघपल्लवे मग्ना मेघविदुरङ्गताऽपि वा ।

श्वभे वा पतिताऽकस्माच्छ्वापदेनाऽपि भक्षिता ॥

प्राजापत्यं चरेत् कृच्छ्रं गोस्वामी व्रतमुत्तमं ।

शीतवातहता वा स्यादुद्वन्धनहताऽपि वा ।

शून्यागार उपेक्षायां प्राजापत्यं विनिर्दिशेत्” ॥ इति ।

इदं तु कार्यान्तरविरहेऽप्युपेक्षायां वेदितव्यं । कार्यान्तरव्यग्रतयो-
पेक्षायां त्वङ्गं ।

“पल्वलौघ-मृगव्याघ्र-श्वापदादिनिपातने ।

श्वभ्रप्रपातसर्पादैर्मृते कृच्छ्राङ्गमाचरेत् ।

अपालत्वात्तु कृच्छ्रं स्याच्छून्यागार उपप्लवे” ॥

इति विष्णुस्मरणात् । तथा स्त्रीवृद्धबालकादीनां त्वङ्गं । अनुपनीतस्य-
बालस्य पाद इति च मितान्तरायां । स्त्रीणां पराशरेण विशेषोऽभिहितः ।

“वपनं नैव नारीणां नानुव्रज्या जपादिकं ।

न गोष्ठे शयनं तासां नो वसौरन् गवाजिनं ॥

सर्वान् केशान् समुद्धृत्य च्छेदयेदङ्गुलिद्वयं ।

सर्वत्रैव हि नारीणां शिरसो मुण्डनं स्मृतं” ॥ इति ।

पुरुषेषु च विशेषः सख्यर्त्तन दर्शितः,—

“पादेऽङ्गरोमवपनं द्विपादे श्मश्रुणोऽपि च ।

त्रिपादे तु शिखावर्जं सशिखं तु निपातने” ॥ इति ।

पादप्रायश्चित्तार्हस्य कण्ठादधस्तनाङ्गरोम्नामेव वपनं । “अर्हप्रायश्चित्ता-
र्हस्य तु श्मश्रूणामपि । पादोनप्रायश्चित्तार्हस्य पुनः शिरोगतानामपि-
शिखावर्जितानां । पादचतुष्टयार्हस्य तु सशिखस्य सकलकेशजातस्येति ।
एवमेतद्दिग्वलम्बनेनान्येषामपि स्मृतिवचसां विषयो निरूपणीयः” ।

तथा केशरक्षणे तु पराशरः,—

“केशानां रक्षणार्थायद्विगुणं गोत्रतं चरेत् ।

द्विगुणे व्रत आदिष्टे दक्षिणा द्विगुणा भवेत् ॥

राजा वा राजपुत्रो वा ब्राह्मणो वा बहुश्रुतः ।

अकृत्वा वपनं तस्य प्रायश्चित्तं विनिर्दिशेत् ॥

यस्य न द्विगुणं दानं केशश्च परिरक्षितः ।

तत्पापं तस्य तिष्ठेत् वक्ता च नरकं व्रजेत्” ॥ इति—

गोबधप्रायश्चित्तविवेचनं निरुक्तग्रन्थद्वये ।

तथा सत्यपि व्यापादने कचिदुपकारार्थप्रवृत्तौ वचनादोषाभावः । यथा —

तत्र पराशरः,—

“धूर्येषु बहमानेषु दण्डेनाभिहतैषु च ।

काष्ठेन लोष्ट्रकेनापि पाषाणेन तु ताडितः” ॥

लेष्णुना वापीति पाठान्तरं ।

“मूर्च्छितः पतितश्चापि मृतो वा सद्य एव वा ।

एवं गतानां धूर्याणां प्रवक्ष्यामि यथाविधि ॥

उत्थितस्तु पदं गच्छेत् पञ्च सप्त दशापि वा ।

ग्रासं वा यदि गृह्णाति तोयं वा पिबति स्नयं ।

पूर्वव्याधिविनष्टानां प्रायश्चित्तं न विद्यते” ॥

यदि व्याधिप्रयुक्तानां वृषाणां हलयोजनभात्रेण स्वल्पतरदण्डाभिधातेन-
वा मूर्च्छया पतनं भवति अनन्तरं गमनग्रासादौ कृते मरणं भवति तदा-
गमनग्रासग्रहणतोयपानैस्तदानीन्तनमरणे हत्वभावं विनिश्चित्य पूर्वव्याधि-
विनष्टत्वं ज्ञायते, इति प्रायश्चित्ताभावः ।

तथाच सम्बर्त्तः,—

“निशि वन्धनरोधेषु व्याघ्रसर्पहतेषु च ।

अग्निविद्युन्निपातेषु प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥

यन्त्रणे रोचिकित्सार्यं मूढगर्भविमोचने ।

यत्ने कृते विपत्तिः स्यान्नस पापेन लिप्यते” ॥

यन्त्रणं व्याधादिनिर्घातनार्थं संदंशाङ्कुशादिप्रवेशनं । मूढगर्भः अन्तर्मृत-
गर्भः, सुहुवैचित्ते इत्यनेन तथार्थदर्शनात् ।

तथा—

औषधं स्नेहमाहारं ददद्गोत्राक्षणे द्विजः ।
द्वीयमाने विपत्तिश्चेन्न स पापेन लिप्यते ॥
ग्रामघाते शरौघेण वैश्वभङ्गान्निपातने ।
दाहच्छेदशिरो भेदप्रयोगैरुपकुर्वतां ।
द्विजानां गोहितार्थं च प्रायश्चित्तं न विद्वते” ॥

द्विजानां गवां च हिनार्थं ।

अत्र पराशरोऽप्याह,—

“अतिवृष्टिहतानाञ्च प्रायश्चित्तं न विद्वते ।
कूपखाते च धर्मार्थं गृहदाहे खलेषु च ॥
ग्रामदाहे तथा घोरे प्रायश्चित्तं न विद्वते” ।

इदन्तु बन्धनरहितस्यैव पशोः ऋयश्चित् गृहादिदाहेन मृतविषयं ।
इतरथापस्तुमेनोक्तं ।

“कान्तारेष्वथ दुर्गेषु गृहदाहे खलेषु च ।
यदि तत्र विपत्तिः स्यात् पाद एको विधीयते” ॥ इति ।

तथैवं,—

“गोपालको गवां गोष्ठे धूमं यस्तु न कारयेत् ।
सन्निकालीननरके सन्निकाभिः स भक्ष्यते” ॥

इति देवीपुराणानुसारादग्निं प्रज्ज्वालय तत्रैव स्थितस्य दैवात्तदग्निना-
भरणे दोषाभावः । तत्रास्थितस्य तु अपालननिमित्तगोबधजन्यदोषः ।
चिकित्सायामत्र पापाभावो यथावदुपचारो बोध्यः । न पुनः सन्निपाताभि-
भूतस्योदकपानादिना । अतएव मनुः,—

“चिकित्सायां च सर्वेषां मिथ्या प्रचरतां दमः” ।

काश्यपोऽत्र प्रायश्चित्तमाह । “दोम्भीदमनातिदोहान्नासापाशदाम-
घण्टाभरणयोजनात् । तैलपानौषधविनियोगाद्यापन्नानां प्रायश्चित्तं, ब्राह्मणेभ्यो-
विनिवेद्य सशिखवपनं कृत्वा प्राजापत्यकृच्छ्रमाचरेत् । चीर्णान्ते गां दक्षिणां-
ब्राह्मणाय दद्यात्, धेनुं तिलधेनुं वेति । अत्र गोधेनुतिलधेनुदानानां शक्त्य-
पेक्षाविकल्पः” ।

तिलधेनुमाह रत्नपुराणे ब्रह्मपुराणं,—

“तिलधेनुं प्रवक्ष्यामि सर्वपापप्रणाशिनौ ।

यां दत्त्वा पापकर्माऽपि मुच्यते नरकान्नरः ॥

चतुर्भिः सेतिकाभिश्च प्रस्थ-एकः प्रकीर्तितः ।

ते षोडश भवेद्धेनुश्चतुर्भिर्वत्सको भवेत् ॥

द्वक्षुदण्डमयाः पादा दन्ताः पुष्पमयास्तथा ।

नासा गन्धमयी तस्या जिह्वा गुडमयी तथा ॥

पृष्ठे ताम्रमयी सा स्याद्घण्टाभरणभूषिता ।

द्वदशीं कल्पयित्वा च स्वर्णशृङ्गीं प्रकल्पयेत् ॥

कांस्योपदोहां रौप्यखुरां पूर्वधेनुविधानतः ।

तिलधेनुं ततो दत्त्वा द्वादश्यां नियतः शुचिः ।

आत्मानं तारयेद्गुर्गान्नरकात् कामभाग्-भवेत्” ॥

सेतिकाः कुड्मवः । स च द्वादशप्रसूतिपरिमितः । चतुर्भिरिति प्रखैरिति-
शेषः । कांस्योपदोहां कांस्यक्रोडां । एतच्च गोः शक्तिमनपेक्ष्यैव दमनादितो-
सरणे बोध्यं । यस्तु व्यासेन,—

“घण्टाभरणदोषेण विपत्तिर्यदि गोर्भवेत् ।

कृच्छ्राङ्घ्रिमाचरेत्तत्र भूषणार्थं हि तत्कृतं ॥

विरेकवमनाभ्यां च संघाते योजने तथा ।

लतासङ्कुलपाशेन मृते पादोनमाचरेत्” ॥

इत्युक्तं । तत्गौररख्यप्रवेशेन लतादिबद्धघण्टादिदोषमरणे ज्ञेयं ।

पुनर्व्यासः,—

“अपि धे तु न दोषोऽस्ति स्वेच्छया प्रिवते यदि ।

अन्यथा दीयमाने तु प्रायश्चित्तं न संशयः” ॥

अन्यथा प्रायश्चित्तं विनाऽतिरिक्तौषधे । तेनानिच्छया स्वल्पदाने दोषा-
भावात्तथा व्यवहारः । तथा भवदेवमद्वहरिनाथोपाध्यायधृतं सम्बर्त्तवचनं,—

“शृङ्गभङ्गेऽस्थिभङ्गे च कटिभङ्गे तथैव च ।

यदि जीवति षण्मासान् प्रायश्चित्तं न विद्यते” ।

अत्र षण्मासोत्तरमरणे तद्दोषोपशमनाय प्रायश्चित्तं नास्ति, तदभ्यन्तरमरणे-
बधप्रायश्चित्तं भवति । एवञ्च शृङ्गभङ्गादिनिमित्तकपापे पृथक् प्रायश्चित्तं न-
कर्त्तव्यं । बधप्रायश्चित्तेनैव गुरुणा प्रसङ्गात्तदपगमसिद्धेः । षण्मासोत्तरं तु शृङ्ग-
भङ्गादिनिमित्तपूर्वोक्तं मासार्द्धयवपानं प्राजापत्यं वा कर्त्तव्यमिति ।

तथा सम्बर्त्तः,—

“देवद्रोण्यां विहारे च कूपेष्वायतनेषु च ।

एषु गोषु विपन्नासु प्रायश्चित्तं न विद्यते” ॥

देवद्रोणी स्वयम्भुलिङ्गाद्यवस्थानगह्वरं । विहारो गोमैथुनं, आयतनं-
सीमानिबन्धस्थानं । अत्र कूपायतनकर्त्तुरेव प्रायश्चित्ताभावो न तु गोस्वामिनः ।
सर्व्वदेवापालने तस्य दोषयुतेः ।

तथा गोभिलः,—

“विक्रयैर्गां विनिमयेर्हत्वा गोमांसखादके ।

व्रतं चान्द्रायणं कुर्याद्वधे साक्षाद्वधी भवेत्” ॥

तथा क्षुद्रपशूनां दुःखादीनुपक्रम्य,—

“लिङ्गस्य छेदने मृत्यौ मध्यमो मूल्यमेव च ।

महापशूनामेतेषु स्थानेषु द्विगुणो दमः” ॥

मध्यमो मध्यमसाहसो दण्डः । स तु चत्वारिंशदधिकपञ्चशतपणकस्ते-
नैवोक्तः । यथा,—

“साशीतिपणसाहसो दण्ड-उत्तमसाहसः ।

तद्वर्द्धं मध्यमः प्रोक्तस्तद्वर्द्धं मध्यमः स्मृतः” ॥

मूल्यमिति पशुस्वामिने च मूल्यं । महापशूनां गवाश्वादीनां, एतेषु-
पूर्ववचनैतद्वचनोक्तेषु । गोमांसखादके यवनादौ । अत्र गवामपण्यत्वेन उप-
पातकत्वादपि चान्द्रायणं युक्तं ।

तथाच गौतमः,—“पशवश्च हिंसासंयोग” इति ।

अस्यार्थः—यत्र विक्रीताः सन्तः पशवो हिंस्यन्ते तत्र तेषामपण्यत्वमिति-
प्रायश्चित्तविवेके । अपण्यानाञ्च विक्रयं मनुनोपपातकगणे पठितं ।

विष्णुनाच,—

“उपपातकिनस्त्वेते कुर्युश्चान्द्रायणं नराः” ।

इत्यनेन चान्द्रायणं विहितं । तत्र पापस्य लघुचान्द्रायणपदं शिशु-
चान्द्रायणपरं । तत्पादोनधेनुचतुष्टयेन सङ्कलितं प्रायश्चित्तविवेकेन । इति ।

एतद्विषय एव,—

“चान्द्रायणमकुर्वीणाः कुर्युः कच्छचतुष्टयं” ।

इति समूलकत्वे बोध्यं । बधे त्वज्ञानबधोक्तं सार्धधेनवष्टकं । एतदपि-
गुरुत्वात् ब्राह्मणस्वामिकविषयं । तेनान्यत्र गोमांसखादकसम्बन्धिविक्रयादि-
मात्रे त्वज्ञानकृतं तत्तत्स्वामिकबधप्रायश्चित्तार्धं बधे सम्पूर्णमिति ।

रहःकृत्येषु प्रकीर्णोपपातकानुपातकमहापातकेषु गायत्र्याः शतसहस्रा-
युतलक्षजपः । तथाच मिताक्षरायां,—गायत्रीमधिकृत्य शङ्केनोक्तं,—

“शतं जप्त्वा तु सा देवी सर्वपापप्रणाशिनी ।

सहस्रं जप्त्वा च तथा पातकेभ्यः प्रमोचिनी ।

दशसाहस्रजापेन सर्वकल्मषनाशिनी” ॥

इति गोबधप्रायश्चित्तविवेचनं समाप्तम् ।

प्रदर्शयतेऽत्र व्यवस्था प्रायेण निरुक्तप्रमाणानुगता ।

यथा,—

ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यकर्तृकज्ञानकृत-ब्राह्मण-स्वामिकगवीबधः । प्रायश्चित्तानि, तैमासिकव्रतं । तद्यथा—कृतसशिखवपनो व्यापादिताया गोश्चर्मणाकृत-परिधानोत्तरावगुण्ठनो मासमेकं गोमूत्रेण यवागूकृतान् यवान् पिवन् गोष्ठे वसेत् । तिष्ठन्तीषु गोष्वनुतिष्ठेत् ब्रजन्तीषु तास्वनुब्रजेत् । आसीनासु तास्वा-सीनः । वीतमत्सरः । आतुरामभिश्च तां पितितां पङ्कलग्नां भयनिमित्तैश्चौर-व्याघ्रादिभिराक्रान्ताश्च गां सर्वशक्तिभिर्विमोचयेत् । श्रीश्वर्षाशीतेषु मारुते भृशं वाति वा गोस्त्राणमकृत्वा आत्मचाणं न कुर्यात् । आत्मनोऽन्धेषां वा गृह-क्षेत्रखलेषु भक्षयन्तीं पिवन्तं वत्सञ्च निवारणाभिप्रायेण न कथयेत् । एतद्विधा-नेन यो गामनुगच्छति स गोहत्याकृतपापात् प्रमुच्यते । एकं वृषं दश गाश्च दक्षिणां दद्यात् । एतदशक्तौ वेदविद्भ्यः सर्वस्वं दद्यात् ।

एतच्चतुर्ह्याख्यादिविषयं । स्त्रीशूद्रबालवृद्धानामर्द्धं ।

एतदशक्तौ धेनुदानं,—द्वादशधेनवो भवदेवभट्टसम्भताः ।

सप्तदशधेनवो बहुसम्भताः । तदशक्तौ वराटकदानं,—षट्त्रिंशत्कार्पा-पणात्मकं । तत्तन्मध्यस्वर्णादिकं, वा सप्तदशधेनुस्थले एकपञ्चाशत्कार्पापणाः । दक्षिणा एकवृषः । दश गावः । अशक्तौ पञ्चदशकार्पापणाः । सप्तदश-धेनुस्थलेऽपि तथा ।

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यकर्तृकब्राह्मणस्वामिकाज्ञानकृतगवीबधः ।

प्रायश्चित्तानि सार्द्धमासिकव्रतं । तद्यथा गोष्ठे गीसमोपे गोघ्नः स्थिति-कुर्यात् । नखरोमविवर्जितस्त्रिषवनस्नानं चरेत् । जितेन्द्रियो वीतमत्सरश्च-भवेत् । यथाशक्ति गायत्रीञ्च जपेत् । सार्द्धमासे पूर्णे सति विप्रान् भोजयेत् । गां तन्मूल्यं वा दक्षिणां दद्यात् । अनेन विधानेन गोघ्नः पापान्मुच्यते । एतन्नतं गोस्वामिने तत्प्रतिरूपं गवान्तरं यथोक्तमूल्यं वा दत्त्वा कर्त्तव्यं । स्त्रीशूद्रबालवृद्धानामर्द्धं प्रायश्चित्तं । तदशक्तौ धेनुदानं षड्धेनवो भवदेवभट्ट-सम्भताः । नवधेनवो बहुसम्भताः । तदशक्तौ वराटकदानं—अष्टकार्पापणात्मकं । तत्तन्मध्यस्वर्णादिकं वा । सार्द्धपञ्चविंशतिकार्पापणाः बहुसम्भताः ; सार्द्धाष्ट-

धेनुसंकलनात् । दक्षिणा एका गौः । अशक्ती एककार्षापणः । स्मार्त्तमते-
सार्द्धसप्तकार्षापणाः । ज्ञानकृतशूद्रकर्तृकब्राह्मणस्वामिकगवीबधः । प्रायश्चित्तानि—
त्रैमासिकव्रतार्द्धं । अज्ञानतस्तदर्द्धं । तदशक्ती धेनुदानं षड्धेनुवो-
भवदेवमद्वयसंज्ञताः । नवधेनुवो बहुसंज्ञताः । तदशक्ती वराटकदानं—अष्टा-
दशकार्षापणात्मकं । सार्द्धपञ्चविंशतिकाक्षपणाः बहुसंज्ञताः । तल्लभ्य-
स्वर्णादि वा—दक्षिणा एका गौः, अशक्ती एककार्षापणः ।

अज्ञानकृतब्राह्मणक्षत्रियवैश्यकर्तृकक्षत्रियस्वामिकगवीबधः ।

प्रायश्चित्तानि,—

षाण्मासिकव्रतं । तदयथा षण्मासान् तच्चर्मणा परिवृतो गोश्रासाहर्त्ता-
गोव्रतो यवाशौ गोभिरेव सञ्चरन् तत्पापाद्विमुच्यते । तदशक्ती धेनुदानं—
द्वादशधेनुवः । तदशक्ती वराटकदानं षट्त्रिंशत्कार्षापणाः । तल्लभ्यस्वर्णादि-
वा दक्षिणा तु यथाशक्त्यनुष्ठेया ।

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यकर्तृकज्ञानकृतक्षत्रियस्वामिकगवीबधः । प्रायश्चित्तानि,
—षाण्मासिकव्रतार्द्धं । तदशक्ती धेनुदानं षड्धेनुसंख्याकं । तदशक्ती वराटक-
दानं अष्टादशकार्षापणयथसंख्याकं तल्लभ्यस्वर्णादि वा । दक्षिणा यथा—
शक्त्यनुष्ठेया । शूद्रकर्तृकज्ञानकृतक्षत्रियस्वामिकगवीबधः । प्रायश्चित्तानि,
—षाण्मासिकव्रतार्द्धं । तदशक्ती धेनुदानं । षड्धेनुवात्मकं । तदशक्ती वराटक-
दानं अष्टादशकार्षापणसंख्याकं । तल्लभ्यस्वर्णादि वा । दक्षिणा यथाशक्त्यनुष्ठेया ।

तत्कर्तृकाज्ञानकृततत्स्वामिकगवीबधः । प्रायश्चित्तानि—एतद्भूतार्द्धं ।
स्त्रीशूद्रबालवृद्धानां सर्व्वत्रार्द्धं । तदशक्ती धेनुदानं—त्रिधेनुवात्मकं । तदशक्ती-
वराटकदानं नवकार्षापणसंख्याकं । तल्लभ्यस्वर्णादि वा दक्षिणा यथा-
शक्त्यनुष्ठेया ॥

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यकर्तृकज्ञानकृतवैश्यस्वामिकगवीबधः । प्रायश्चित्तानि,—
द्विगुणं मासव्रतं । मासव्रतं यथा, मासैकं पञ्चगव्यपानं । गोष्ठे वासः, गवानु-
गमनं, गोमतीजपः । तदशक्ती धेनुदानं दशधेनुवात्मकं । तदशक्ती वराटक-
दानं त्रिंशत्कार्षापणसंख्याकं । तल्लभ्यस्वर्णादि वा दक्षिणा यथाशक्त्यनुष्ठेया ।
तत्कर्तृकाज्ञानकृततत्स्वामिकगवीबधः । प्रायश्चित्तानि । एतदर्द्धं ।

तदशत्तौ धेनुदानं पञ्चधेन्वात्मकं । तदशत्तौ वराटकदानं पञ्चदशकार्षापण-
संख्याकं । तल्लभ्यस्वर्णादि वा । दक्षिणा तु यथाशक्त्यनुष्ठेया ।

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यकर्तृकज्ञानकृतशूद्रस्वामिकगवीबधः । प्रायश्चित्तानि-
चतुःप्राजापत्यात्मकानि । तदशत्तौ धेनुदानं चतुर्धेनुसंख्याकं । तदशत्तौ-
वराटकदानं द्वादशकार्षापणात्मकं तल्लभ्यस्वर्णादि वा । दक्षिणा तु यथाशक्त्य-
नुष्ठेया ।

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यकर्तृकाज्ञानकृतशूद्रस्वामिकगवीबधः । प्रायश्चित्तानि,
—द्विप्राजापत्यात्मकानि, स्त्रीशूद्रबालवृद्धानां सर्वत्राहं । एकस्य स्त्रीत्व-
शूद्रत्वाद्युभयधर्म्मवत्त्वे प्रायश्चित्तपादः । तदशत्तौ धेनुदानं धेनुद्वयसंख्यकं ।
तदशत्तौ वराटकदानं षट्कार्षापणात्मकं । तल्लभ्यस्वर्णादि वा । दक्षिणा तु-
यथाशक्त्यनुष्ठेया ।

ब्राह्मण-स्वामिक-गर्भिणी-कपिला-दोग्ध्री-होमधेनुसुव्रतानां गवां ब्राह्मण-
क्षत्रियवैश्यकर्तृकज्ञानकृतबधः । प्रायश्चित्तानि द्विगुणं त्रैमासिकव्रतं । अज्ञानत-
स्तदहं । तदशत्तौ धेनुदानं चतुर्विंशतिधेनुसंख्यकमिति भवदेवभट्टमतं । चतु
स्त्रिंशधेनवो बहुसम्भताः । तदशत्तौ वराटकदानं द्विसप्ततिकाष्पणात्मकं ।
द्वाधिकशतकार्षापणाः बहुसम्भताः । दक्षिणा तु वृषभद्वयं विंशतिगावश्च ।
अशत्तौ तु त्रिंशत्कार्षापणात्मिका सा ।

ब्राह्मण-स्वामिक गर्भिणी-कपिला-दोग्ध्री-होमधेनुसुव्रतानां गवां शूद्र-
कर्तृकज्ञानकृतबधः । प्रायश्चित्तानि त्रैमासिकव्रतं । अज्ञानतस्तदहं । तदशत्तौ-
धेनुदानं द्वादशधेनुसंख्यकं । सप्तदशधेनवो बहुसम्भताः । तदशत्तौ वराटक-
दानं षट्त्रिंशत्कार्षापणात्मकं । एकपञ्चाशत्-कार्षापणा बहुसम्भताः ।
दक्षिणा त्वेको वृषो दशगावश्च । अशत्तौ पञ्चदशकार्षापणाः ।

क्षत्रिय-स्वामिक गर्भिणी-कपिलादोग्ध्री-होमधेनुसुव्रतानां गवां ब्राह्मण-
क्षत्रियवैश्यकर्तृकज्ञानकृतबधः । प्रायश्चित्तानि द्विगुणं षाण्मासिकव्रतं ।
अज्ञानतस्तदहं । तदशत्तौ धेनुदानं चतुर्विंशतिधेनुसंख्यकं । तदशत्तौ वराटक-
दानं द्विसप्ततिकाष्पणात्मकं । दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ।

क्षत्रिय-स्वामिक-गर्भिणी-कपिलादोग्ध्री-होमधेनुसुव्रतानां गवां शूद्र-

कर्तृकज्ञानकृतबधः । प्रायश्चित्तानि प्राणमासिकव्रतं । अज्ञानतस्तदर्थं । तदशक्तौ धेनुदानं द्वादशधेनुसंख्याकं । तदशक्तौ वराटकदानं षट्त्रिंशत्कार्षापणात्मकं । दक्षिणा तु विधेया यथाशक्ति ।

वैश्य-स्वामिक-गर्भिणी-कपिलादोग्ध्री-होमधेनुसुव्रतानां गवां ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-कर्तृकज्ञानकृतबधः । प्रायश्चित्तानि चतुर्गुणं मासिकव्रतं । अज्ञानतस्तदर्थं । तदशक्तौ धेनुदानं विंशतिधेनुसंख्यकं । तदशक्तौ वराटकदानं षष्टि-कार्षापणात्मकं । दक्षिणा तु विधेया यथाशक्ति ।

वैश्य-स्वामिक-गर्भिणी-कपिलादोग्ध्री-होमधेनुसुव्रतानां गवां शूद्रकर्तृक-ज्ञानकृतबधः । प्रायश्चित्तानि द्विगुणं मासिकव्रतं । अज्ञानतस्तदर्थं । तदशक्तौ धेनुदानं दशधेनुसंख्यकं । तदशक्तौ वराटकदानं त्रिंशत्कार्षापणात्मकं । दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ।

शूद्र-स्वामिक-गर्भिणी-कपिलादोग्ध्री-होमधेनु-सुव्रतानां गवां ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-कर्तृकज्ञानकृतबधः । प्रायश्चित्तानि अष्टप्राजापत्यानि । अज्ञानतस्तदर्थं । तदशक्तौ धेनुदानं अष्टधेनुसंख्यकं । तदशक्तौ वराटकदानं चतुर्विंशति कार्षापणात्मकं । दक्षिणा तु विधेया यथाशक्ति ।

शूद्र-स्वामिक-गर्भिणी-कपिलादोग्ध्री-होमधेनुसुव्रतानां गवां शूद्रकर्तृक-ज्ञानकृतबधः । प्रायश्चित्तानि चतुःप्राजापत्यानि । अज्ञानतस्तदर्थं । तदशक्तौ धेनुदानं चतुर्धेनुसंख्यकं । तदशक्तौ वराटकदानं द्वादशकार्षापणात्मकं । दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ।

ज्ञानकृतब्राह्मणक्षत्रियवैश्यकर्तृकाधमशूद्रस्वामिकगवीबधः । प्रायश्चित्तानि-प्राजापत्यद्वयं । अज्ञानतस्तदर्थं । तदशक्तौ धेनुदानं धेनुद्वयात्मकं । तदशक्तौ-वराटकदानं षट्कार्षापणसंख्याकं । दक्षिणा तु यथाशक्त्यनुष्ठेया ।

ज्ञानकृतशूद्रकर्तृकाधमशूद्रस्वामिकगवीबधः । प्रायश्चित्तानि प्राजापत्य-मेकं । अज्ञानतस्तदर्थं । तदशक्तौ धेनुदानं एकधेनुत्वात्मकं । तदशक्तौ-वराटकदानं त्रिकार्षापणात्मकं । दक्षिणा तु शक्त्यनुरूपा ।

अधमशूद्र-स्वामिक-गर्भिणी-कपिलादोग्ध्री-होमधेनुसुव्रतानां गवां ब्राह्मण-क्षत्रियवैश्यकर्तृकज्ञानकृतबधः । प्रायश्चित्तानि चतुःप्राजापत्यानि । अज्ञानत-

स्तदर्थं । तदशक्तौ धेनुदानं चतुःसंख्यकधेन्यात्मकं । तदशक्तौ वराटकदानं-
द्वादशकार्षापणात्मकं । दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ।

अधमशूद्र-स्वामिक-गर्भिणी-कपिलादोग्धी-होमधेनुसुव्रतानां गवां शूद्र-
कर्तृकज्ञानकृतवधः । प्रायश्चित्तानि प्राजापत्यद्वयं, अज्ञानतस्तदर्थं । तदशक्तौ-
धेनुदानं धेनुद्वयात्मकं । तदशक्तौ वराटकदानं षट्कार्षापणात्मकं । दक्षिणा-
तु विधेया यथाशक्ति ।

ब्राह्मण-स्वामिकाया-गोतृपन्नमात्रगर्भस्य ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यकर्तृकज्ञान-
कृतवधः । प्रायश्चित्तानि त्रैमासिकव्रतपादः । अज्ञानतस्तदर्थं । तदशक्तौ-
धेनुदानं पञ्चधेनुसंख्यकं । तदशक्तौ वराटकदानं सपादद्वादशकार्षापणात्मकं,
सपादधेनुचतुष्टयसंकलनात् । दक्षिणा तु सपादत्रिकाषापणात्मिका ।

ब्राह्मण-स्वामिकाया-गोर्गात्रसम्भितगर्भस्य ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यकर्तृकज्ञान-
कृतवधः । प्रायश्चित्तानि त्रैमासिकव्रतपादद्वयं । अज्ञानतस्तदर्थं । स्त्री-
शूद्रबालवृद्धानामर्धं । तदशक्तौ धेनुदानं नवधेनुसंख्याकं । तदशक्तौ वराटक-
दानं सार्धपञ्चविंशतिकार्षापणात्मकं सार्धष्टधेनुसंकलनात् । दक्षिणा तु-
सार्धसप्तकार्षापणात्मिका ।

ब्राह्मण-स्वामिकाया-गोर्निष्पन्नसकलगात्रचैतन्यरहितगर्भस्य ब्राह्मणक्षत्रिय-
वैश्यकर्तृकज्ञानकृतवधः । प्रायश्चित्तानि त्रैमासिकव्रतपादद्वयं । अज्ञानत-
स्तदर्थं । स्त्रीशूद्रबालवृद्धानामर्धं । चैतन्ययुक्तगर्भवधे कृत्स्नमेव प्रायश्चित्तं ।
तदशक्तौ धेनुदानं त्रयोदशधेनुसंख्यकं । तदशक्तौ वराटकदानं पादोनाष्ट-
विंशत्कार्षापणात्मकं पादोनत्रयोदशधेनुसङ्कलनात् । दक्षिणा तु सपादै-
कादशकार्षापणात्मिका ।

क्षत्रियस्वामिकाया गोर्गात्रसम्भितगर्भस्य ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यकर्तृकज्ञान-
कृतवधः । प्रायश्चित्तानि षाण्मासिकव्रतपादद्वयं । अज्ञानतस्तदर्थं ।
स्त्रीशूद्रबालवृद्धानामर्धं । तदशक्तौ धेनुदानं षड्धेनुसंख्याकं । तदशक्तौ-
वराटकदानं अष्टादशकार्षापणात्मकं । दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ।

क्षत्रियस्वामिकाया-गोर्निष्पन्नसकलगात्रचैतन्यरहितगर्भस्य ब्राह्मणक्षत्रिय-
वैश्यकर्तृकज्ञानकृतवधः । प्रायश्चित्तानि षाण्मासिकव्रतपादद्वयं । अज्ञान-

तस्तदहं । स्त्रीशूद्रबालवृद्धानामहं । चैतन्ययुक्तगर्भवधे कृत्स्नमेव प्रायश्चित्तं । तदशक्तौ धेनुदानं नवधेनुसंख्याकं । तदशक्तौ वराटकदानं सप्तविंशतिकार्षापणात्मकं । दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ।

वैश्यस्वामिकाया गोरुत्पन्नमात्रगर्भस्य ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यकर्तृकज्ञानकृतवधः । प्रायश्चित्तानि द्विगुणमासवतस्य पादः । अज्ञानतस्तदहं तदशक्तौ धेनुदानं त्रिधेन्वात्मकं । तदशक्तौ वराटकदानं सार्द्धसप्तकार्षापणात्मकं, सार्द्धद्वयधेनुसङ्कलनात् । दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ।

वैश्यस्वामिकाया-गोर्गान्नसन्धितगर्भस्य ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यकर्तृकज्ञानकृतवधः । प्रायश्चित्तानि—द्विगुणमासव्रतस्य पादद्वयं । अज्ञानतस्तदहं । स्त्रीशूद्रबालवृद्धानामहं । तदशक्तौ धेनुदानं पञ्चधेनुसंख्याकं । तदशक्तौ वराटकदानं—पञ्चदशकार्षापणात्मकं । दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ।

वैश्यस्वामिकाया-गोर्निष्पन्नसकलगालचैतन्यरहितगर्भस्य ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यकर्तृकज्ञानकृतवधः । प्रायश्चित्तानि द्विगुणमासव्रतस्य पादद्वयं । अज्ञानतस्तदहं । स्त्रीशूद्रबालवृद्धानामहं । तदशक्तौ धेनुदानं अष्टधेन्वात्मकं । तदशक्तौ वराटकदानं सार्द्धद्वविंशतिकार्षापणात्मकं, सार्द्धसप्तधेनुसङ्कलनात् । दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ।

शूद्रस्वामिकाया गोरुत्पन्नगर्भस्य अर्थात् गर्भग्रहणदिनात्सावनमासद्वयानतिक्रान्तगर्भस्य ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यकर्तृकज्ञानकृतवधः । प्रायश्चित्तानि—प्राजापत्यमेकं । अज्ञानतस्तदहं । स्त्रीशूद्रबालवृद्धानामहं । तदशक्तौ धेनुदानं एकधेन्वात्मकं । तदशक्तौ वराटकदानं—त्रिकार्षापणात्मकं । दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ।

शूद्रस्वामिकाया-गोर्गान्नसन्धितगर्भस्य अर्थात् मासद्वयोपरि सावनमासद्वयानतिक्रान्तगान्नायवयवोत्पन्नगर्भस्य ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यकर्तृकज्ञानकृतवधः । प्रायश्चित्तानि प्राजापत्यद्वयं । अज्ञानतस्तदहं । स्त्रीशूद्रबालवृद्धानामहं । तदशक्तौ धेनुदानं धेनुद्वयात्मकं । तदशक्तौ वराटकदानं षट्कार्षापणात्मकं । दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ।

शूद्रस्वामिकाया-गोर्निष्पन्नसकलगालचैतन्यरहितगर्भस्य अर्थात् चतुर्थ-

भासोपरि सावनमासद्वयानतिक्रान्तगर्भस्य ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यकर्तृकज्ञानकृत-
बधः । प्रायश्चित्तानि प्राजापत्यवयं । अज्ञानतस्तदर्थं । स्त्रीशूद्रबालवृद्धानामर्धं ।
चैतन्ययुक्तगर्भवधे कृत्स्नमेव प्रायश्चित्तं । तदशक्तौ धेनुदानं धेनुत्रयात्मकं ।
तदशक्तौ वराटकदानं नवकार्षापणात्मकं । दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ।

ब्राह्मणस्वामिकानामतिवृद्धातिक्रशातिबालातिरोगिणीनां गवां ब्राह्मण-
क्षत्रियवैश्यकर्तृकज्ञानकृतबधः । प्रायश्चित्तानि—त्रैमासिकव्रतार्धं । अज्ञान-
तस्तदर्थं । स्त्रीशूद्रबालवृद्धानामर्धं, तदशक्तौ धेनुदानं नवधेन्वात्मकं । तदशक्तौ-
वराटकदानं,—सार्धपञ्चविंशतिकार्षापणात्मकं, सार्धाष्टधेनुसङ्कलनात् । दक्षिणा
तु सार्धसप्तकार्षापणात्मिका ।

क्षत्रियस्वामिकानामतिवृद्धातिक्रशातिबालातिरोगिणीनां गवां ब्राह्मण
क्षत्रियवैश्यकर्तृकज्ञानकृतबधः । प्रायश्चित्तानि षाण्मासिकव्रतार्धं । अज्ञान-
तस्तदर्थं स्त्रीशूद्रबालवृद्धानामर्धं, तदशक्तौ धेनुदानं षड्धेन्वात्मकं । तदशक्तौ-
वराटकदानं अष्टादशकार्षापणसंख्याकं । दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ।

वैश्यस्वामिकानामतिवृद्धातिक्रशातिबालातिरोगिणीनां गवां ब्राह्मण-
क्षत्रियवैश्यकर्तृकज्ञानकृतबधः । प्रायश्चित्तानि एकमासव्रतं । अज्ञानतस्तदर्थं-
स्त्रीशूद्रबालवृद्धानामर्धं, तदशक्तौ धेनुदानं पञ्चधेन्वात्मकं, तदशक्तौ वराटक-
दानं पञ्चदशकार्षापणात्मकं । दक्षिणा तु यथाशक्ति प्रदेया ।

शूद्रस्वामिकानामतिवृद्धातिक्रशातिबालातिरोगिणीनां गवां ब्राह्मणक्षत्रिय-
वैश्यकर्तृकज्ञानकृतबधः । प्रायश्चित्तानि प्राजापत्यद्वयं, अज्ञानतस्तदर्थं ।
स्त्रीशूद्रबालवृद्धानामर्धं । तदशक्तौ धेनुदानं धेनुत्रयात्मकं, तदशक्तौ वराटक-
दानं षट्कार्षापणात्मकं । दक्षिणा तु यथाशक्ति प्रदेया ।

ब्राह्मणस्वामिकानां बहूनां गवां ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यकर्तृकप्रयत्ननिष्पन्न-
ज्ञानकृतबधः । प्रायश्चित्तानि द्विगुणत्रैमासिकव्रतं । अज्ञानतस्तदर्थं, स्त्रीशूद्र-
बालवृद्धानामर्धं । तदशक्तौ धेनुदानं चतुस्त्रिंशद्धेनुसंख्याकं । तदशक्तौ वराटक-
दानं द्विसप्ततिकार्षापणात्मकं । दक्षिणा तु वृषद्वयसहितविंशतिधेन्वात्मिका ।
तदशक्तौ त्रिंशत्कार्षापणाः ।

क्षत्रियस्वामिकानां बहूनां गवां ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यकर्तृकैकप्रयत्ननिष्पन्न

ज्ञानकृतबधः । प्रायश्चित्तानि—द्विगुणपाश्चात्तिकव्रतं अज्ञानतस्तदर्थं । स्त्रीशूद्रबालवृद्धानामर्धं, तदशक्तौ धेनुदानं चतुर्विंशतिधेनुत्वात्मकं, तदशक्तौ वराटकदानं द्विसप्ततिकार्षापणात्मकं । दक्षिणा तु यथाशक्ति प्रदेया ।

वैश्यस्वामिकानां बहूनां गवां ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यकर्तृकैकप्रयत्नज्ञानकृतबधः । प्रायश्चित्तानि चतुर्गुणमासव्रतं । अज्ञानतस्तदर्थं, स्त्रीशूद्रबालवृद्धानामर्धं । तदशक्तौ धेनुदानं विंशतिधेनुसंख्याकं, तदशक्तौ वराटकदानं षष्टिकार्षापणात्मकं । दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ।

शूद्रस्वामिकानां बहूनां गवां ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यकर्तृकैकप्रयत्ननिष्पन्नज्ञानकृतबधः । प्रायश्चित्तानि अष्टप्राजापत्यानि । अज्ञानतस्तदर्थं, स्त्रीशूद्रबालवृद्धानामर्धं । स्त्रीत्वादुभयधर्मवत्त्वे पादः । प्रयत्नभेदे प्रायश्चित्तावृत्तिः । तदशक्तौ धेनुदानं अष्टधेनुसंख्याकं । तदशक्तौ वराटकदानं—चतुर्विंशतिकार्षापणात्मकं, दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ॥

ज्ञानकृतबहुकर्तृकब्राह्मणस्वामिकैकगवीबधः । प्रायश्चित्तानि प्रत्येकं त्रैमासिकव्रतपादः । अज्ञानतस्तदर्थं, तदशक्तौ धेनुदानं पञ्चधेनुसंख्याकं । तदशक्तौ वराटकदानं सपादद्वादशकार्षापणात्मकं सपादधेनुचतुष्टयसङ्कलनात् । दक्षिणा तु सपादत्रिकार्षापणात्मिका ॥

ज्ञानकृतबहुकर्तृकक्षत्रियस्वामिकैकगवीबधः । प्रायश्चित्तानि प्रत्येकं द्विगुणमासव्रतपादः । अज्ञानतस्तदर्थं, तदशक्तौ धेनुदानं धेनुत्रयसंख्याकं । तदशक्तौ वराटकदानं, नवकार्षापणात्मकं, दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ।

ज्ञानकृतबहुकर्तृकवैश्यस्वामिकैकगवीबधः । प्रायश्चित्तानि प्रत्येकं द्विगुणमासव्रतपादः । अज्ञानतस्तदर्थं, तदशक्तौ धेनुदानं धेनुत्रयसंख्याकं । तदशक्तौ वराटकदानं सार्धसप्तकार्षापणात्मकं, सार्धधेनुद्वयसंकलनात् । दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ।

ज्ञानकृतबहुकर्तृकशूद्रस्वामिकैकगवीबधः । प्रायश्चित्तानि प्रत्येकं प्राजापत्यं । अज्ञानतस्तदर्थं, तदशक्तौ धेनुदानं एकधेनुत्वात्मकं । तदशक्तौ वराटकदानं त्रिकार्षापणात्मकं । दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ।

ह्याभ्यामैकगवीबधः । प्रायश्चित्तानि, यत्-यत्-स्वामिकाया गोवधे यत्-

यत् प्रायश्चित्तमुक्तं प्रत्येकं सम्पूर्णं तत्तत् प्रायश्चित्तं । हाभ्यामेकप्रयत्ननिष्पन्न-
बहुगवीबधः । प्रायश्चित्तानि यद्यत्स्वामिकाया गोर्वधे यत् यत् प्रायश्चित्तं-
प्रत्येकं तत्तत् द्वैगुण्यं ।

एकप्रयत्ननिष्पन्नबहुकर्तृकबहुगवीबधः । प्रायश्चित्तानि प्रत्येकं तत्तद्वधोक्त-
व्रतदिपादप्रायश्चित्तावृत्तिः ।

ज्ञानकृतब्राह्मणचत्त्रियवैश्यकर्तृकब्राह्मणस्वामिकैकहायनगवीबधः । प्राय-
श्चित्तानि—त्रैमासिकव्रतपादः अज्ञानतस्तदहं । स्त्रीशूद्रबालवृद्धानामहं ।
तदशत्तौ धेनुदानं पञ्चधेनुसंख्यकं । तदशत्तौ वराटकदानं—सपादद्वादश-
कार्षापणात्मकं सपादधेनुचतुष्टयसङ्कलनात् । दक्षिणा तु सपादत्रिकार्षा-
पणात्मिका ।

ज्ञानकृतब्राह्मणचत्त्रियवैश्यकर्तृकब्राह्मणस्वामिकद्विहायनगवीबधः । प्राय-
श्चित्तानि त्रैमासिकव्रतपादः । अज्ञानतस्तदहं । स्त्रीशूद्रबालवृद्धानामहं । तदशत्तौ-
धेनुदानं नवधेनुसंख्यकं । तदशत्तौ वराटकदानं सार्द्धपञ्चविंशतिकार्षा-
पणात्मकं, सार्द्धाष्टधेनुसङ्कलनात् । दक्षिणा तु सार्द्धसप्तकार्षापणात्मिका ।

ज्ञानकृतब्राह्मणचत्त्रियवैश्यकर्तृकब्राह्मणस्वामिकत्रिहायनगवीबधः । प्राय-
श्चित्तानि षाण्मासिकव्रतपादः । अज्ञानतस्तदहं । स्त्रीशूद्रबालवृद्धाना-
महं । तदशत्तौ धेनुदानं—त्रयोदशधेनुसंख्यकं । तदशत्तौ वराटकदानं,-
सपादाष्टविंशत्कार्षापणात्मकं, पादोनत्रयोदशधेनुसङ्कलनात् । दक्षिणा तु-
सपादैकादशकार्षापणात्मिका ।

ज्ञानकृतब्राह्मणचत्त्रियवैश्यकर्तृकचत्त्रियस्वामिकैकाहनगवीबधः । प्राय-
श्चित्तानि षाण्मासिकव्रतपादः । अज्ञानतस्तदहं । स्त्रीशूद्रबालवृद्धानामहं ।
तदशत्तौ धेनुदानं धेनुत्रयसंख्यकं । तदशत्तौ वराटकदानं नवकार्षापणात्मकं ।
दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ।

ज्ञानकृतब्राह्मणचत्त्रियवैश्यकर्तृकचत्त्रियस्वामिकद्विहायनगवीबधः । प्राय-
श्चित्तानि षाण्मासिकव्रतपादद्वयं । अज्ञानतस्तदहं । स्त्रीशूद्रबालवृद्धानामहं ।
तदशत्तौ धेनुदानं—षट्धेनुसंख्यकं । तदशत्तौ वराटकदानं अष्टादशकार्षा-
पणात्मकं । दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ।

ज्ञानकृतब्राह्मणचतुर्यवैश्वकर्तृकचतुर्यस्वामिकविहायणगवीबधः । प्रायश्चित्तानि—पादन्यूनषाण्मासिकव्रतं । अज्ञानतस्तदर्थं । स्त्रीशूद्रबालहृद्वानामर्हं । तदशक्तौ धेनुदानं नवधेनुसंख्यकं । तदशक्तौ वराटकदानं-समविंशतिकार्षापणात्मकं । दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ।

ज्ञानकृतब्राह्मणचतुर्यवैश्वकर्तृकवैश्वस्वामिकैकहायनगवीबधः । प्रायश्चित्तानि मासैकव्रतार्हं । अज्ञानतस्तदर्थं । तदशक्तौ धेनुदानं—धेनुत्रयसंख्याकं । तदशक्तौ वराटकदानं सार्द्धसप्तकार्षापणात्मकं, सार्द्धधेनुद्वयसंकलनात् । दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ।

ज्ञानकृतब्राह्मणचतुर्यवैश्वकर्तृकवैश्वस्वामिकैकविहायणगवीबधः । प्रायश्चित्तानि मासव्रतं । अज्ञानतस्तदर्थं । स्त्रीशूद्रबालहृद्वानामर्हं । तदशक्तौ धेनुदानं-पञ्चधेनुसंख्यकं । तदशक्तौ वराटकदानं पञ्चकार्षापणात्मकं, दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ।

ज्ञानकृतब्राह्मणचतुर्यवैश्वकर्तृकवैश्वस्वामिकविहायणगवीबधः । प्रायश्चित्तानि पादोनं द्विगुणमासव्रतं । अज्ञानतस्तदर्थं । स्त्रीशूद्रबालहृद्वानामर्हं । तदशक्तौ धेनुदानं अष्टधेनुसंख्यकं । तदशक्तौ वराटकदानं—सार्द्धद्वाविंशतिकार्षापणात्मकं, सार्द्धसप्तधेनुसंकलनात् । दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ।

ज्ञानकृतब्राह्मणचतुर्यवैश्वकर्तृकशूद्रस्वामिकैकहायनगवीबधः । प्रायश्चित्तानि प्राजापत्यमेकं । अज्ञानतस्तदर्थं । तदशक्तौ धेनुदानं—एकधेनुसंख्यकं । तदशक्तौ वराटकदानं त्रिकार्षापणात्मकं । दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ।

ज्ञानकृतब्राह्मणचतुर्यवैश्वकर्तृकशूद्रस्वामिकविहायणगवीबधः । प्रायश्चित्तानि—प्राजापत्यद्वयं । अज्ञानतस्तदर्थं । स्त्रीशूद्रबालहृद्वानामर्हं । तदशक्तौ धेनुदानं धेनुद्वयसंख्यकं । तदशक्तौ वराटकदानं षट्कार्षापणात्मकं । दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ।

ज्ञानकृतब्राह्मणचतुर्यवैश्वकर्तृकशूद्रस्वामिकविहायणगवीबधः । प्रायश्चित्तानि प्राजापत्यत्रयं । अज्ञानतस्तदर्थं । स्त्रीशूद्रबालहृद्वानामर्हं । तदशक्तौ धेनुदानं—धेनुत्रयसंख्यकं । तदशक्तौ वराटकदानं नवकार्षापणात्मकं । दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ।

क्षीणाया गोरक्षीणत्वभ्रमेणाहारप्रचारनिर्गमरोधनिमित्तबधः । प्रायश्चित्तानि प्राजापत्यपादः । तदशक्तौ धेनुदानं एकधेनुसंख्यकं । तदशक्तौ वराटकदानं त्रिकार्षापणात्मकं धेनुपादसङ्कलनात् । दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ।

क्षैण्यज्ञाने प्रायिकभरणं ज्ञात्वा प्रवृत्तस्य चान्द्रायणपादः । इदं तु सर्वस्वामिकायाः सर्ववयस्काया गोः सर्वकर्तृकबधे बोद्धव्यं । तदशक्तौ धेनुदानं धेनुद्वयसंख्यकं । तदशक्तौ वराटकदानं पादोर्ध्वानपञ्चकार्षापणात्मकं, पादोर्ध्वानधेनुद्वयसङ्कलनात् । दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ।

क्षीणाया गोरक्षीणत्वभ्रमेणाकालबन्धनायथावन्वननिमित्तबधः । प्रायश्चित्तानि प्राजापत्यपादद्वयं । तदशक्तौ धेनुदानं एकधेनुसंख्यकं । तदशक्तौ वराटकदानं सार्धैककार्षापणात्मकं, धेनुवर्द्धसङ्कलनात् । दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ।

क्षैण्यज्ञाने तु प्रायिकभरणं ज्ञात्वा प्रवृत्तस्य चान्द्रायणपादद्वयं । एतदपि सर्वस्वामिकाया सर्ववयस्काया गोः सर्वकर्तृकबधे बोद्धव्यं । तदशक्तौ धेनुदानं चतुर्धेनुसंख्यकं । तदशक्तौ वराटकदानं पादोनैकादशकार्षापणात्मकं, पादोनधेनुचतुष्टयसङ्कलनात् । दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ।

क्षीणाया गोरक्षीणत्वभ्रमेण हलशकटादियोजननिमित्तबधः । प्राश्चयित्तानि प्राजापत्यपादत्रयं । तदशक्तौ धेनुदानं एकधेनुसंख्यकं । तदशक्तौ वराटकदानं पादोनद्विकार्षापणात्मकं, पादोनधेनुसंकलनात् । दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ।

क्षैण्यज्ञाने तु चान्द्रायणपादत्रयं । तदशक्तौ धेनुदानं षड्धेनुसंख्यकं । तदशक्तौ वराटकदानं चतुर्दशपणसहितषोडशकार्षापणात्मकं । दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ।

क्षीणाया गोरक्षीणत्वभ्रमेण कूपावटादिषु भयादिना निपातनेन शास्त्रीयदण्डनिपातनेन च बधः । प्रायश्चित्तानि प्राजापत्यं, तदशक्तौ धेनुदानं एकधेनुसंख्यकं । तदशक्तौ वराटकदानं । क्षैण्यज्ञाने प्रायिकभरणं ज्ञात्वा प्रवृत्तस्य चान्द्रायणं । एतदपि सर्वस्वामिकादिविषयं । यद्यत्स्वामिक-

यद्यत्कर्तृकयद्यद्गवीबधे यद्यत्प्रायश्चित्तमुक्तं अप्रवृत्तप्रवर्त्तकरूपप्रयोजकस्य तत्प्रायश्चित्तस्य पादद्वयं । प्रवृत्तप्रवर्त्तकरूपप्रयोजकस्य पादद्वयं । स्वल्पप्रवृत्तरूपानुग्राहकस्य पादद्वयं । बधाप्रतिरोधकरूपानुग्राहकस्य पादद्वयं । तदशक्तौ धेनुदानं—अष्टधेनुसंख्यकं । तदशक्तौ वराटकदानं, सार्द्धद्वाविंशतिकार्पापणात्मकं सार्द्धसप्तधेनुसङ्कलनात् । दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ।

ब्राह्मणचतुर्यवैश्यकर्तृकशूद्रेतरस्वामिकगवापालननिमित्तबधः । प्रायश्चित्तानि सेतिकर्त्तव्यताकप्राजापत्यं । स्त्रीशूद्रबालवृद्धानामर्द्धं । तदशक्तौ धेनुदानं धेनुद्वयात्मकं । तदशक्तौ वराटकदानं षट्कार्पापणात्मकं । दक्षिणा तु एकवृषभसहितैकधेन्वात्मिका । अशक्तौ षट्कार्पापणाः । इति, कर्त्तव्यता तु पूर्वतः प्रदर्शिता ।

ब्राह्मणचतुर्यवैश्यकर्तृकशूद्रस्वामिकगवापालननिमित्तबधः । प्रायश्चित्तानि प्राजापत्यद्वयं । स्त्रीशूद्रबालवृद्धानामर्द्धं । तदशक्तौ धेनुदानं धेनुद्वयसंख्यकं । तदशक्तौ वराटकदानं षट्कार्पापणात्मकं । दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ।

ब्राह्मणचतुर्यवैश्यशूद्रकर्तृकशूद्रेतरस्वामिकाप्राप्तदस्यावस्थगोवत्सापालननिमित्तबधः । अप्राप्तदस्यावस्था तु लिहायणपर्यन्तं । प्रायश्चित्तानि सेतिकर्त्तव्यताकप्राजापत्यपादः । तदशक्तौ धेनुदानं एकधेनुसंख्यकं । तदशक्तौ वराटकदानं सार्द्धकार्पापणात्मकं । दक्षिणा तु सार्द्धकार्पापणात्मिका ।

उत्सृष्टवृषभस्ततर्थोर्बधः । प्रायश्चित्तानि भृतपूर्वस्वामिकगवीबधप्रायश्चित्तद्विगुणं । पूर्वास्वाम्यज्ञाने ब्राह्मणस्वामिकगवीबधद्विगुणप्रायश्चित्तं ।

गवां शूद्रभङ्गादिना स्थिभङ्गचर्मनिर्घाचनलाङ्गूलच्छेदनं । प्रायश्चित्तानि दशरात्रं बज्रव्रतं । मासाद्वयवपानं, प्राजापत्यं वा । तदशक्तौ धेनुदानं एकधेनुसंख्यकं । तदशक्तौ वराटकदानं त्रिकार्पापणात्मकं । दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया । बज्रव्रतं प्राक् प्रदर्शितं ।

शूद्रभङ्गादिना षण्मासाभ्यन्तरे गोर्मरणे अन्यूनं बधप्रायश्चित्तं करणीयं ।

गुरुणा मासेन वा तेन प्रायश्चित्तेन शूद्रभङ्गादिप्रायश्चित्तसिद्धिः । षण्मासोत्तरमरणे शूद्रभङ्गादिप्रायश्चित्तमात्रं कर्त्तव्यं ।

गवां मुष्कमोषः । प्रायश्चित्तानि यत्कर्तृक-यत्स्वामिक-गोबधे यत्-
प्रायश्चित्तमुक्तं तत्कर्तृकतत्स्वामिकगोमुष्कमोषे तत्प्रायश्चित्तं मृत्युलिङ्ग-
च्छेदयोस्तुल्यत्वाभिधानात् । अत्र प्रयोजकभेदस्यार्द्धं पादोनञ्च ।

वृषस्य स्वयं ब्राह्मणकर्तृकहलशकटादियोजनं । प्रायश्चित्तानि प्राजा-
पत्यद्वयं । तदशक्तौ धेनुदानं धेनुद्वयसंख्यकं ।

योषिदुग्वां ब्राह्मणकर्तृकहलशकटादियोजनं,—प्रायश्चित्तानि, प्राजापत्य-
चतुष्टयं । ब्राह्मणेतरिषां प्राजापत्यद्वयं । तदशक्तौ धेनुदानं धेनुचतुष्टय-
संख्यकं । तदशक्तौ वराटकदानं द्वादश—कार्षापणात्मकं । दक्षिणा तु-
यथाशक्ति विधेया ।

उत्सृष्टवृषस्य कपिलायाश्च ब्राह्मणकर्तृकहलशकटादियोजनं प्राय-
श्चित्तानि—यतिचान्द्रायणद्वयं । ब्राह्मणेतरिषां यतिचान्द्रायणैकं । तदशक्तौ-
धेनुदानं—सार्द्धसप्तधेनुसम्भवात् षट्धेनुदानं । तदशक्तौ वराटकदानं ।
सार्द्धद्वाविंशतिकार्षापणात्मकं । दक्षिणा तु यथाशक्ति विधेया ।

गोमांसखादके गोविक्रयविनिमयादिः । प्रायश्चित्तानि, विक्रयादिमात्रे-
ऽज्ञानकृततत्तत्स्वामिकगोवधप्रायश्चित्तार्द्धं । गोमांसखादककर्तृकतद्गोबधे-
तु अज्ञानकृततत्तत्कर्तृकतत्तत्स्वामिकगोवधोक्तं सम्पूर्णप्रायश्चित्तं । इति गोवध-
प्रायश्चित्तव्यवस्था ।

सौकर्याय महापातकादिसकलपापावशेषे तत्तत्पापप्रायश्चित्तप्रमाणानु-
गतव्यवस्थाप्रदर्शनस्य मनःस्थत्वेऽपि ग्रन्थगौरवमिथा परिहृतमेतदत्रैव । रीत्या-
नया ग्रन्थेऽत्र भविष्यत्लिखितपापप्रायश्चित्तोद्बोधकप्रमाणव्रातसामर्थ्यवलादूह-
नीया व्यवस्थैतादृशी परतः । इति ।

अथ क्षत्रियावधप्रायश्चित्तं ।

यथा—मनुराह तद्विषये,—

“तुरीयो ब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य बधे स्मृतः ।

वैश्येऽष्टमांशो वृत्तस्थे शूद्रे ज्ञेयस्तु षोडशः ॥

अकामतस्तु राजन्यं विनिपात्य द्विजोत्तमः ।
 वृषभैकसहस्रा गा दद्याच्छुद्धार्थमात्मनः ॥
 त्राब्दं चरेद्वा नियतो जटी स ब्रह्मणो व्रतं ।
 वसन्दूरतरे ग्रामाद्वृक्षमूले निक्षेपितः ॥
 एतदेव चरेद्ब्दं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमः ।
 ग्रामाप्य वैश्यं वृत्तस्थं दद्याद्वैकशतं गवां ॥
 एतदेव व्रतं कृच्छ्रं षण्मासान् शूद्रहा चरेत् ।
 वृषभैकादश वापि दद्याद्विप्राय गाः मिताः” ॥

“एकशतं एकाधिकशतमित्यर्थः । ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तस्य शवशिरोध्वज-
 धारणादिसर्वाङ्गोपेतस्य द्वादशवार्षिकस्य यच्चतुर्थांशस्त्रिणि वर्षाणि प्रायश्चित्त-
 तद्वृत्तस्थचतुर्यवधे कामकृते कार्यं, एवं वृत्तस्थवैश्यवधे सार्धवार्षिकं, वृत्तस्थ-
 शूद्रवधे च नवमासिकमिति । वृत्तस्थपदमत्र निर्गुणेतत्परं । अकामतो-
 वृत्तस्थचतुर्यवधे वृषभाधिकगोसहस्रदानं त्रैवार्षिकब्रह्महत्याव्रतं वा । ननु-
 त्रैवार्षिकव्रते पञ्चचत्वारिंशद्वेनवः । अतः कथं विषमशिष्टयोरिच्छाविकल्पः ।
 न च गोमूल्याद्धेनुमूल्यं त्रिगुणेनाधिकं तथात्यल्पन्तवैषम्या “हेनुं दद्याद्दशायवा”
 इति याज्ञवल्क्याच्च, कथञ्च कामतस्त्रैवार्षिकोक्तेरकामतोऽपि त्रैवार्षिकं तदर्थ-
 स्त्वेव युक्तत्वात्, सत्यं, व्यवस्थितविकल्पोऽयं, अतिविपुलधनस्य गोसहस्रदानं,
 निर्धनस्य त्रैवार्षिकं ।

अतएव भविष्ये ब्रह्मवधे महादेवपादैकृतं,—

“द्रव्यतश्च विशेषेण शक्तिं वीक्ष्य महामते ! ।
 द्रव्यतश्च यदाशक्तस्तदा तस्य तपो भवेत् ॥
 वेदाभ्यासविहीनो वै धनवानग्निवर्जितः ।
 प्रायश्चित्तं तदा कुर्यादिदं पापविशुद्ध्ये ।
 धनं वा जीवनायालं गृहं वासपरिच्छदं” ॥ इति ।

अतएवात्ममितसुवर्णदानं द्वादशवार्षिकवैकल्पिकमुक्तं ।

ब्रह्मबधे याज्ञवल्क्येन, यथा,—

“आत्मतुल्यं सुवर्णं वा दद्याद्विप्राय तुष्टिकृतं” ।

इत्यतएव व्रतान्ते दक्षिणायां गौसहस्रदानं विपुलधनविषयमेव” ।

यथा शङ्खलिखितौ ।

“अमतिपूर्वकं चतुर्षु वर्णेषु प्रमाप्य द्वादशवत्सरान् षट्त्रिंशेकम् ।
व्रतान्यादिश्चेष्टेषामन्ते गौसहस्रं ततोऽर्द्धं, तस्यार्द्धमस्यार्द्धं च दद्यात् सर्वेषामनु-
पूर्वेण षट्त्रिंशेकश्चेति, अत्यन्तसगुणक्षत्रियादिविषयं । कामतस्तु क्षत्रियबधे-
श्वशिरोध्वजादिसर्वाङ्गोपेतं त्रैवार्षिकव्रतं ।

अकामतस्तु जटित्वग्रामदूरनिवासित्ववृक्षमूलनिकेतनत्वव्यतिरिक्तश्व-
शिरोध्वजधारणादिसर्वाङ्गरहितं त्रैवार्षिकव्रतं कुर्यात् । अथवा वैरनिर्या-
तनार्थिना गौसहस्रदानं कार्यं । वैरनिर्यातनं जन्मान्तरेऽसौ तमवश्यं हन्ति-
गौसहस्रादिप्रायश्चित्तकृते तु हन्तासौ जन्मान्तरेण हन्यते । अतो वैरनिर्यातनं-
न भवतीत्यर्थः । यथाऽहापस्तम्बोऽत्र “क्षत्रियं हत्वा गवां सहस्रं वैरनिर्या-
तनार्थं दद्यात्, शतं वैश्यं दश शूद्रमिति वृषभश्वात्राधिकः ।”

विशेषमाह याज्ञवल्क्यः,—

“योगस्थक्षत्रविड्घाते चरेद्ब्रह्महणोव्रतं ।

गर्भहा च यथा वर्णं तथात्रेयीनिसूदनः” ।

तथाच यमः,—

“हत्वा सवनगं वैश्यं राजन्यमपि दीक्षितं ।

हत्वा तु ब्रह्महण्येव तथात्रेयीं च ब्राह्मणी” ॥

एतेन यज्ञस्थक्षत्रियवैश्ययोः सम्पूर्णप्रायश्चित्तं व्यस्थितं । तदेव द्विगुणं ।
नृपतिक्षत्रियबधे यथाह विष्णुः, “नृपतिबधे व्रतमेव द्विगुणं कुर्यादिति ।”

यथाच ब्रह्मपुराणे,—

“यज्ञसंस्थौ तु पितरौ राजानञ्चाप्यनागसं ।

हत्वा चरेद्ब्रतं तत्तु चतुर्विंशतिवत्सरान्” ॥

यज्ञसंस्थौ क्षत्रियवैश्यौ पितरौ च ।

तथापस्तम्बः,—

“निपात्य क्षत्रियञ्चैव त्रिभिः कृच्छैर्विशुद्धयति ।

वैश्यहत्यां तु संप्राप्य कथञ्चित् काममोहितः ॥

कृच्छ्रातिकृच्छ्रे कुर्वीत स नरः संयतेन्द्रियः ।

कुर्याच्छूद्रबधं प्राप्य तप्तकृच्छं समाहितः” ॥

तथा शातातपः,—

“राजन्यवैश्यशूद्राणां षट्त्रिण्येकां चरेद्बधे ।

वर्षाणि ब्रह्मचर्य्यञ्च विशुद्ध्यर्थं क्रमेण तु” ॥

एवमादीन्यन्यान्युत्कर्षापकर्षप्रतिपादकवचनानि ब्राह्मणादिजातत्ववत्स-
त्थत्ववेदाग्न्यादियुक्तत्वायुक्तत्वकामाकामकृतत्वव्यवस्थया व्याख्येयानि । एतच्च-
सवर्णोत्तमवर्णकृतक्षत्रियादिबधविषयं ।

अधमवर्णकृते तु,—

“अधमानान्तु वर्णानामुत्कृष्टहनेन गुह ! ।

दोषो गुरुतरो ज्ञेयः क्षत्रादीनां न संशयः” ॥

इति भविष्यपुराणवचनादुत्तमोत्तमक्रमेणाधमाधमानां द्वैगुण्यादिक-
मूहनीयं ।

कामकृते क्षत्रियबधे त्रैवार्षिकं महाव्रतं, तदशक्तौ पञ्चचत्वरिंशद्देनवो-
देयाः । तथा कृते वैश्यबधे सार्धवार्षिकं, तदशक्तौ त्रयोविंशतिधेनवः, तथा-
शूद्रबधे नवमासिकं, तदशक्तौ द्वादशधेनवो देयाः, तन्मूल्यं वा । बालवृद्ध-
स्त्रीणामर्धं देयमिति । इत्येतत् शूलपाणिप्रभृतिधर्मशास्त्रनिबन्धकर्तृमतं ।

इति क्षत्रियादिबधप्रायश्चित्तविवेचनं ।

अथ प्रतिलोमजादिबधप्रायश्चित्तविचारः ।

तत्र प्रायश्चित्तविवेके, याज्ञवल्करः,—

“चान्द्रायणं चरेत् सर्व्वानपकृष्टान्निहत्य तु ।

शूद्रोऽधिकारहीनोऽपि मासेनानेन शुध्यति” ॥

अपकृष्टाः प्रतिलोमजाः सागधा अयोगवादयः । एतच्च ज्ञानतः सर्व्वेषा-
मन्योन्यापकृष्टबधे बुद्धिपूर्व्वके चान्द्रायणमिति, शङ्खलिखितवचनात् ।

अमतिपूर्व्वकबधे त्वङ्गिराः,—

“सर्व्वान्याजानां गमने भोजने संप्रमापणे ।

पराकेण विशुद्धिः स्यादित्याङ्गिरसभाषितम्” ॥

एतच्च सर्व्ववर्णसाधारणमिति ।

अतएव,—

“शूद्रोऽधिकारहीनोऽपि मासेनानेन शुध्यति” ।

इत्युक्तं, अन्यजाश्च रजकनटादयो मनूक्ताः । अन्यजागमने च रेतःसेकात्-
पूर्व्वं ज्ञेयं । भोजने च सकृत् ज्ञानत इति प्रसङ्गादागतमिदं ।

तथाच—पण्डितसर्व्वस्त्रे विशेषोऽत्र,—

तथा,—

“चण्डालो निहतः कश्चित् ब्राह्मणेन कथञ्चन ।

अहोरात्रोपवासेन प्राणायामेन शुध्यति” ॥

प्राजापत्यं चरेत् कृच्छ्रं गोद्वयञ्चापि दक्षिणां ।

क्षत्रियेणापि वैश्येन शूद्रेणैवेतरेण च ।

चण्डाले निधनं प्राप्ते कृच्छ्रार्द्धेन विशुद्ध्यति” ॥

इति प्रतिलोमजादिबधप्रायश्चित्तविवेचनम् ।

अथ स्त्रीबधप्रायश्चित्त विचारः—

तत्र ब्रह्महत्यानुवृत्तौ हारीतः,—

“षड्वर्षाणि राजन्ये, त्रीणि वैश्ये, एकं शूद्रे, क्षत्रियवद्ब्राह्मणीषु, वैश्यवत्-

क्षत्रियासु, शूद्रवदितरासु ; तेन ब्राह्मणीबधे षाड्वार्षिकं महाव्रतं, क्षत्रिया-
बधे त्रैवार्षिकं, वैश्याबधे शूद्राबधे वार्षिकं ।”

तथाच यमः,—

“हत्वा सवनगं वैश्यं राजन्यं वापि दौक्षितं ।

हत्वा तु ब्रह्महत्यैव तथात्त्रैयौ च ब्राह्मणी” ॥

“आहिताग्निपत्रां ब्राह्मण्यां, तथात्रेयां च ब्राह्मण्यां संपूर्णमेव ब्रह्महत्या-
प्रायश्चित्तमाहाङ्गिराः,—

“आहिताग्नेर्द्विजाग्रस्य हत्वा पत्नीमनिन्दितां ।

ब्रह्महत्याव्रतं कुर्यादात्रेयीस्तथैव च” ॥

“आत्रेयी चात्रिगोत्रा ऋतुज्ञाता गर्भिणी चोच्यते प्राग्वोक्तं । यत्र-
यद्वर्णात्रेयी तत्र तद्वर्णबधोक्तं प्रायश्चित्तं कार्यं । कक्षीकरोति याज्ञवल्क्या-
विवरणमेतत् ;—”

“यागस्यक्षत्रविड्घाति चरेद्ब्रह्महणो व्रतं ।

गर्भहा च यथावर्णं तथात्रेयीनिसूदनः” ॥

एतेन ब्राह्मणीबधे षाड्वार्षिकव्रतं । तदशक्तो धेनूनां नवतिर्देया,
क्षत्रियाबधे तु त्रैवार्षिकं, अशक्तो पञ्चचत्वारिंशद्धेनवो देयाः । वैश्याशूद्राबधे-
वार्षिकं, तदशक्तो पञ्चदशधेनवः तन्मूल्यं वा, एतच्च कामतोऽकामतस्तदर्थं ।
एतच्चोक्तमवर्णेन समवर्णेन च करणीयं । अधमेन तु उत्तमवर्णाया द्विगुणादिकं-
कार्यं । स्त्रीबालवृद्धानामर्धं । कामतो गुणहीनब्राह्मणपत्नीमात्रबधे शूद्रे-
सम्बत्सरं । वृषभैकादशा गाश्च दद्यादित्यभिधायाह गौतमः । अनात्रेय्याच्चैव-
मिति अत्र गोदानमुत्कृष्टधेनुरूपं वेदितव्यं । वृषभदानञ्च गोदानाधिकफल-
मित्यन्यत्र दर्शितं । इति महामहोपाध्याय शूलपाणिमतं ।

विशेषमाहुः काङ्क्षुमित्राः—प्रायश्चित्तमनोहरे । यथा याज्ञवल्क्यः,—

“अप्रदुष्टां स्त्रियं हत्वा शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ।

अकामतः स्त्रियं हत्वा ब्राह्मणौ द्विगुणं चरेत् ।

कामतो द्विगुणं प्रोक्तं प्रदुष्टायां न किञ्चन” ॥

न किञ्चनेत्यनेन स्वल्पप्रायश्चित्तसुक्तं । न तु सर्वथा प्रायश्चित्ताभावः ।
वैश्यवदिति वैश्यबधप्रायश्चित्तं । वशिष्ठः,—

“अनात्रेयीं राजन्यहिंसायां राजन्यां, वैश्यहिंसायां वैश्यां, शूद्रहिंसायां-
शूद्रां हत्वा सम्बत्सरं वार्षिकं व्रतं चरेदित्यध्याहारः । तथा यमः,—

“क्रोधादुक्ता ह्यगम्यत्वं स्वभार्यायां नरः क्वचित् ।

प्रायश्चित्तं चरेत् कृच्छ्रं तस्य पापविशुद्ध्यै” ॥

इति स्त्रीबधप्रायश्चित्तविवेचनं ॥

अथ व्यभिचरितस्त्रीबधप्रायश्चित्तविचारः ।

तत्र याज्ञवल्क्यः,—

“अप्रदुष्टां स्त्रियं हत्वा शूद्रहत्याव्रतं चरेत्” । इति ।

प्रकर्षेण दुष्टा प्रदुष्टा या न भवति असावप्रदुष्टा । सकृत्सवर्णव्यभि-
चरित्यर्थः । न तु अप्रदुष्टा तत्र बहुतरप्रायश्चित्तस्योक्तत्वात् ।

यत्पुनर्वहस्यतिनोक्तं,—

“अदुष्टाञ्च स्त्रियं हत्वा शूद्रहत्याव्रतं चरेत्” । इति ।

तदधमब्राह्मणीबधविषयमिति । ततः सकृत् सवर्णव्यभिचरितब्राह्मणी-
बधे शूद्रहत्याव्रतं शास्त्रासिकं कार्यं, चतुर्यादिस्त्रीणां बधे तु एतदेव
पादहीनं कुर्यात्, एतच्चाकामतः, कामतो वार्षिकादि” । भूयोव्यभि-
चरिताया—अधमवर्णव्यभिचरितायाश्च बधे मनुः,—

“जोनकार्मुकवस्तादौन् पृथक्दद्याद्विशुद्ध्यै ।

चतुर्णामपि वर्णानां नारीं हत्वानवस्थिताम्” ॥

तथा याज्ञवल्करः,—

“दुर्वृत्तब्रह्मक्षत्रविट्शूद्रयोषाः प्रमापयतु ।

इति धनुर्वस्तमविं क्रमादद्याद्विशुद्धये” ॥

“अनवस्थिता-दुर्वृत्ता-दुश्चारिणीबधे ह्यागमविं जीनं सकामुक्कमिति-
जावालिवचनात्, जीनं चर्मपटं इतिरपि कामुकं धनुः । वस्तः ह्यागः-
अविर्मेघः एतदकामतः, कामतस्त्वेतदेव द्विगुणं ।

तथा व्यासः,—

“अकामतः स्त्रियं हत्वा ब्राह्मणीं वैश्यवचरेत् ।

कामतो द्विगुणं प्रोक्तं प्रदुष्टायां न किञ्चन” ॥

“एतच्चोत्तमवर्णव्यभिचरिताविषयं चण्डालादिदुष्टायामित्यर्थः । अतः-
सक्तत् सवनव्यभिचरितब्राह्मणीबधे ब्राह्मणस्याकामतः पाश्चात्तिकव्रतं,
तदशक्तौ अष्टौ धेनवः तन्मूल्यं वा । बालवृद्धानामर्चादिकं प्रयोजकादीनां-
पादपादहानिः” इति शूल पाश्चादिविवेकः ।

इति व्यभिचरितस्त्रीबधप्रायश्चित्तविवेचनं ।

अथ गर्भबधप्रायश्चित्तविचारः ।

यथा प्रायश्चित्तविवेके,—“तत्र पुंस्त्वेन ज्ञाते पुरुषबधप्रायश्चित्तं, स्त्रीत्वेन-
ज्ञाते स्त्रीबधप्रायश्चित्तं, अविज्ञाते तु पुंबधप्रायश्चित्तमाह मनुः,—

“हत्वा गर्भमविज्ञातमेतदेव व्रतञ्चरेत् ।

राजन्यवैश्यौ चेज्यानावालेयीमेवच स्त्रियं” ॥

“एतदेवेति ब्रह्महत्याव्रतमित्यर्थः, ब्राह्मणगर्भविषयमिदं तस्यैव प्रकृतत्वात् ।
क्षत्रियादिगर्भबधे तु यद्वर्णगर्भस्तदूधप्रायश्चित्तं कार्यं ।

यथा याज्ञवल्करः,—

“यागस्यक्षत्रविड्घाते चरेद्ब्रह्महणो व्रतं ।

गर्भहा च यथावर्णं तथात्रेयीनिसूदकः” ॥

व्रतपदोपादानात् ज्ञानत इदं, अज्ञानतस्तदर्थं । तेन ज्ञानकृते ब्राह्मण-
गर्भवधे द्वादशवार्षिकं ।

क्षत्रियगर्भवधे त्रैवार्षिकं । वैश्यगर्भवधे सार्धवार्षिकं । शूद्रगर्भवधे नव-
मासिकं । धेनुसंकलनमप्यूहनीयं । इति महामहोपाध्यायशूलपाणिः ।
तथा गर्भिणीगर्भविमोचनप्रायश्चित्तं पण्डितसर्वस्वे,—

“मृतगर्भस्य संस्कर्त्ता अतिकृच्छ्रं समाचरेत् ।

अन्यस्तु कृच्छ्रद्वितयं कृच्छ्रैकां दाहवाहकाः” ॥

अन्यस्तु पत्युरन्य इति ।

इति गर्भवधप्रायश्चित्तविवेचनं ।

अथ गजाश्वादिबधप्रायश्चित्तविचारः ।

“यद्यपि गजाश्वादिबधः संकरीकरणपापमिदं, तथापि हिंसासाजात्या-
दुपपातकप्रकरणे एतत् प्रायश्चित्तं निरूप्यते, तत्र सामान्यतः पशुघाते प्राजा-
पत्यमाह, हारीतः,—

“वृथा पशुघाते प्राजापत्यं वृथेति ग्रहणाद् यागाद्यर्थे प्रायश्चित्ताभावः-
हिंसायां दानस्य मुख्यप्रायश्चित्तत्वात्” । दाने विशेषमाह मनुः,—

“वासौ दद्यात् हयं हत्वा पञ्चनीलान् वृषान् गजं ।

अजमेषावनड्वाहं खरं हत्वैकहायनं” ॥

अजमेषखरान् हत्वा एकहायनं वृषं दद्यादित्यर्थः । यस्तु हारीत-
वचनं “वाजिरासभबधे कृच्छ्रं चान्द्रायणं चरेदिति तदत्यन्तोत्तमवाजिरासभ-
बधविषयं । एतत् ज्ञानतोऽज्ञानतस्तदर्थं ।

“हयव्यागाविक्रोष्ट्रेषु गर्दभेषु च मारणात् ।

प्राजापत्यार्द्धमेवेह प्रायश्चित्तं विधीयते” ॥

विशेषमाह कश्यपः,—

मृगमहिषवराहकुञ्जरगण्डकतरुक्षुत्तवानरसिंहव्याघ्रपृषतचमरतृका-

दीनामन्येषाञ्च बधे रात्रोपोषितश्चीर्णान्ते घृतं दद्यात् । एतत् चाज्ञानतः-
सक्तद्विषयमिति धर्मप्रदीपः ।

ज्ञाने तु सम्बर्त्तः,—

“हस्तिनं तुरगं हत्वा महिषोष्ट्रं कपिं तथा ।

एतत् सर्वेषु कुर्वीत सप्तरात्रमभोजनं” ॥

“अत्र च षडुपवाससंज्ञितप्राजापत्यात् किञ्चिदाधिक्यात् सपादधेनुः-
एतत् सक्तत् ।”

तथाच विशेषमाह जावालः,—

“हस्तिनं तुरगं हत्वा हरिणं गां तथैव च ।

महासान्तपनं कुर्यात् गोभूकन्यान्तरेषु च” ॥

महासान्तपनं सप्ताहसाध्यमत्र धेनुद्वयं, एतच्चाभ्यासविषयं” । वानरादि-
बधेऽपि कामत आह सुमन्तुः, “वानरसिंहमार्जारमण्डूकबधे प्राजापत्यं,
मार्जारादिष्वभ्यासतः” । “दंष्ट्रिणां बधे प्राजापत्यं, दंष्ट्रिणो वराहभक्तूकादयः” ।

हिंसाप्रायश्चित्तेषु दानस्य मुख्यत्वादिशेषमाह,—

मनुः,—

“क्रव्यादांस्तु मृगान् हत्वा धेनुं दद्यात् पयस्विनीं ।

अक्रव्यादान् वत्सतरीमुष्ट्रं हत्वा च कृष्णालं” ॥

“एतच्चाज्ञानतः सक्तद्विषयं । क्रव्यादा व्याघ्रादयः । कृष्णालं कृष्णाल-
परिमितस्वर्णमित्यर्थः । कृष्णालदानं चेदमत्यन्तापक्तष्टोद्विषयं” इति श्रुल-
पाणिमतं ।

तथात्र पण्डितसर्वस्वे पराशरः,—

“हंससारसक्रौञ्चांश्च चक्रवाकञ्च कुक्कुटं ।

हत्वा मयूरमेषौ च अहोरात्रेण शुध्यति ॥

बलाकांष्टिडिभांश्चैव शुकपारावतावपि ।

अविच्चापि निपात्यैव शुध्यते नक्तभोजनात् ॥

गृध्रपुत्रेनकपोतांश्च यष्टितित्तिरिहंसकान् ।
 हत्वा वारिण्युग्रमे सन्ध्ये प्राणायामेन शुध्यति ॥
 कारण्डवचकोराणां कलिङ्गकुक्कुरस्य च ।
 भरद्वाजस्य हन्ता च शुध्यते शिवपूजया ॥
 भेरुण्डस्यैव भासस्य शतपत्रस्य पक्षिणः ।
 सर्वेषाञ्चैव हननादहोरात्रेण शुध्यति ॥
 हत्वा मूषिकमाज्जारिसर्पगण्डूकदर्दुरान् ।
 कृषरं भोजयेद्द्विप्रं लौहदण्डश्च दक्षिणा ॥
 हन्ता शशकगोधानां शल्लकीकूर्मयोरपि ।
 पृदाकुक्कलविज्ञानामहोरात्रेण शुध्यति ॥
 वृकजम्बूकभल्लूकान् हत्वा च वानरानपि ।
 तिलप्रस्थं द्विजं दद्याद्वायुभक्षो दिनत्रयं ॥
 गजस्य सहिषस्यापि कुरङ्गस्य निपातने ।
 प्रायश्चित्तमहोरात्रं तिसन्ध्यमवगाहनं ॥
 तुरङ्गस्य च सिंहस्य चित्रव्याघ्रस्य घातने ।
 शुध्यते सप्तरात्रेण ब्राह्मणानाञ्च तर्पणात् ॥
 वराहस्य कुरोश्चैव गवयस्य च घातने ।
 अफालकृष्टमश्वीयादहोरात्रेण शुध्यति ॥
 एवं चतुष्पदानाञ्च सर्वेषां वनचारिणां ।
 अहोरात्रेण शुध्येत जपन् वै जातवेदसः” ॥

इति । गजाश्वादिबधप्रायश्चित्तविवेचनं ।

अथाजाव्यादिबधप्रायश्चित्तविचारः ।

तत्र कश्यपः,—

“अजाविकबधे त्रिरात्रं चीर्णे हिरण्यं दद्यात् वा” ।

“एतदज्ञानतः अत्यन्तधार्मिकब्राह्मणकर्तृके सकृद्वधे वेदितव्य” ।

इति धर्मप्रदीपः ।

ज्ञानतस्तु चवनः,—

“ग्राम्यपशुवधे प्राजापत्यं चरेत् हिरण्यं दक्षिणा, सृगवधे प्राजापत्यार्घ्यं-
तिलद्रोणञ्च दद्यात् ।”

“एतद्दानं शक्तस्य हिंसायां दानमेव मुख्यं प्रायश्चित्तमित्युक्तत्वात् शक्तस्य-
तु मनुना “अजमेषावनद्धाहं खरं हत्वा एकहायनं इत्येकहायनवृषदानमुक्तं ।”

तथा दद्यादित्यनुवृत्तौ शङ्खलिखितौ,—“अजाविकवधे धेनुमिति तदेतयो-
र्विकल्पः ।

एतयोरिकहायनवृषवधे धेनुदानयोरित्यर्थः” ।

दानाशक्तस्याभ्यासात्यन्ताभ्यासयोस्तु ग्राम्यारण्यानां पशूनां हिंसासंकीर्ण-
करणमित्युक्ता विष्णुः,—

“सङ्कीर्णकरणं कृत्वा मासमश्नीत यावकं ।

कृच्छ्रातिक्कृच्छ्रमथवा प्रायश्चित्तं तु कारयेत्” ॥

ग्राम्यारण्यपशुविवेके पैठीनसिः,—

“ग्राम्यारण्याश्चतुर्दशः गौरविरजोऽश्वोऽश्वतरो गर्हभो मनुष्यश्चेति सप्त-
ग्राम्याः पशवः । महिषवानरऋक्षसरीसृपऋषतसृगाश्चेति सप्तारण्याः पशवः,
गोमनुष्यहिंसाया उपपातकत्वात्तदितरपशुहिंसायामेतद्द्रष्टव्यं । अश्व्यां गर्हभेन-
जातोऽश्वतरः । इति प्रायश्चित्तविवेककारमतं । नात्र केषामपि विरोधः ।

इत्यजाव्यादिबधप्रायश्चित्तविवेचनं ।

अथ मार्जारदिबधप्रायश्चित्तविचारः ।

यथा प्रायश्चित्तविवेके, याज्ञवल्करः,—

“मार्जारगोधनकुलमण्डूकश्वपतद्विणः ।

हत्वात्राहं पिवेत् क्षीरं कृच्छ्रं वा पादिकं चरेत्” ॥

तथा च विष्णुः,—

“मार्जार-सर्प-नकुल-श्वशृगाल-मृगेष्वपि ।
प्रमादाङ्घ्रने कार्य्यः कृच्छ्रपादो विधीयते” ॥

मार्जारादिवधानुवृत्तौ यमः,—

“पयः पिवेत् चिरात् तु योजनं वाध्वनो व्रजेत् ।
उपस्पृशेत् स्रवण्यां वा सूक्तं वाद्देवतं जपेत्” ॥

“अस्यार्थः आहारस्थाने त्र्यहं क्षीरं वा पिवेत् । रोगादिना तत्पाने-
चासमर्थस्त्रिरात्रमेकं वा योजनमध्वनो गच्छेत्, तत्राप्यशक्तौ चिरात् नद्यां-
स्त्रायात्, तत्राप्यशक्तस्त्रिरात्रमापोहिष्ठेतत् सूक्तं जपेत् । एतच्चैकविधे-
वेदितव्यं प्रायश्चित्तशास्त्रात् ।”

तथात्र विष्णुरप्याह,—

“हत्वा मूषिकमार्जारनकुलमण्डूकडुण्डुभाजगराणामन्यतममुपोषितः-
क्षरान् भोजयित्वा लौहदण्डञ्च दक्षिणायै दद्यात् ।”

अत्रैव पराशरः,

“हत्वा मूषिकमार्जारसर्पाजगरडुण्डुमान् ।
क्षरान् भोजयेद्विप्रान् लौहदण्डञ्च दक्षिणा” ॥

“उपवासश्चार्थात् कामतो हेतुष्वं” कामाभ्यासे तु वशिष्ठः,—मार्जार-
मण्डूकनकुलसर्पदहरोमूषिकं हत्वा कच्छं द्वादशरात्रं चरेत् किञ्चिद्दद्यात्” ।

सर्पोऽत्र कृष्णसर्पेतरौ डुण्डुभादिः कृष्णसर्पे दानस्य मुख्यत्वात् । दहरो-
मूषिकविशेषः कुक्षुन्दुरौत्येके । व्यक्तमपरं ।

“दानेन वधनिर्णयं सर्पादीनामशक्तुवन् ।

एकैकशश्चरेत् कृच्छ्रं द्विजः पापापनुत्तये” ॥

इति मनुवचनादस्य मुख्यवाभिधानात् सर्पषण्डयोर्विशेषमाह,—

स एव,—

“अग्नीं कार्णायसीं दद्यात् सर्पं हत्वा द्विजोत्तमः ।

पलालभारकं षण्डं सैसकञ्चैव मासकं” ॥

“एतज्ज्ञानतः तीक्ष्णप्रान्ता कीलिका अग्नीं अर्थात् वृक्षमूलाद्युत्पाटन-
समर्थः खनित्रविशेषः कार्णायसी लौहमयी ।

एतत् कृष्णसर्पबधे पैठीनसिः,—

“वराहे घृतकुम्भं दद्यात् कृष्णसर्पे लौहदण्डमिति” ।

“षण्डश्च पश्चादिसमभिव्याहारात्तज्जातीय एव स च स्त्रीव्यञ्जकः-
पुंव्यञ्जको वा नपुंसकं वा” ।

“स्त्रीलिङ्गस्तु भवेत्षण्डः संस्कारानर्हकः पुमान्” ।

इति लक्षणात् । अत्र त्रिरात्रमुपोष्य एतद्वयं दद्यात् ।

यथाहारीतः,—

“त्रिरात्रोपोषितः षण्डबधे पलालभारकं सैसकमाषकञ्च ब्राह्मणाय-
दद्यात् ।”

मार्जाररादिबधे यथाह मनुः,—

“मार्जारनकुलौ हत्वा चासं मण्डूकमेव च ।

खगोधोलूककाकांश्च शूद्रहत्याव्रतं चरेत्” ॥

शूद्रहत्यायाश्च स्त्रीशूद्रविट्चतुर्वधो नास्तिक्वञ्चोपपातकमिति मनुनैवो-
पपातकत्वमुक्तं ।

उपपातके च गोबधव्रतमुक्त्वा,—

“एतदेव व्रतं कुर्युरुपपातकिनो द्विजाः” ।

इत्यनेन मनुनैव गोबधव्रतमतिदिष्टं ।

अत्र त्रैवर्णिकस्य तुल्यं प्रायश्चित्तं शूद्रस्य त्वर्हमित्युक्तं गोबधप्रायश्चित्तेऽतो-
ऽत्रापि तथैव व्यवस्थेयमिति ।

वसुतस्तु शूद्रबधे मनुक्तं पाण्ड्यासिकं चान्द्रायणतुल्यमत्यन्तचिरकालकृत-
युगपदनेकमार्जाररादिबधविषयं ।

विष्णुयमवचनसमानार्थं मनुनातिदिष्टं ।

यथा विष्णुः,—

“उपपातकिनस्त्वे ते कुर्युश्चान्द्रायणं नराः” ॥ इति ।

तथा यमः,—

“कोकिलशुककपोतकपिञ्जलटिट्ठिभखञ्जरीटानां पुरुषभारवधे” ।

इति शूलपाणिगोविन्दानन्दौ ।

इति मार्जारवधप्रायश्चित्तविवेचनम् ।

अथ विशेषपक्षिवधप्रायश्चित्तविचारः ।

यथा प्रायश्चित्तविवेके तत्र सम्बर्त्तः,—

“टिट्ठिभान् जालपादांश्च मद्गुं कुक्कुटमेव च ।

एतान् हत्वा द्विजः कुर्याद्दिनमेकमभोजनं” ॥

तथाच जावालः,

“हंसं हत्वा बलाकांश्च शुक्रं टिट्ठिभसारकं ।

तित्तिरं श्येनगोमायुं क्रौञ्चमाटीमहः स्मृतं” ॥

तथा काश्यपः,—

“काक-बलाका-हंस-सारस-कारण्डव-चक्रवाक-कुरव-गृध्र-श्येनखञ्जरीट-
टिट्ठिभोलूकशुकशारिकातित्तिरिमयूरकाककालञ्जकमहुकलविङ्ककपोतपारा-
वतादीनां वधे प्रायश्चित्तमहोरात्रोषितः । सर्व्वजीजानि दद्यात् ।

एतान्यज्ञानविषयाणि,—

ज्ञाने तु सम्बर्त्तः,—

“मत्या हंसबलाकाञ्च श्वाविकुक्कुटवर्हिणः ।

वानरं श्येनभासौ च हत्वा त्रहं क्षिपेत्-द्विजः” ॥

एतत् सकृद्वधे ।

तथा,—

“कृमिकीटवयोहत्या मद्यानुगतभोजनं ।

फलैधःकुसुमस्तेयमधैर्यञ्च मलाबहं” ॥

“मद्यानुगतभोजनं मद्यपानसमये यत्समीपे स्थापितं फलमूलादि तद-
भोजनमित्यर्थः । इत्यनेन मनुना पक्षिवधस्य मलिनीकरणत्वमुक्त्वा—

“मलिनीकरणीये च तप्तः स्यादयावकैख्यहमित्युक्तम् ।

“एतच्चोक्तेतरपक्षिणां कामतः सकृद्वधे वेदितव्यं । तत्र चैकपुराणं देयं ।
वयांसि पक्षिणः एतच्च व्रतं दानाशक्तस्य ज्ञेयं” । उक्तेतरपक्षिणां प्रागुक्त-
हंसादीतरपक्षिणामपि कामती बधे ज्ञेयमिति गोविन्दानन्दः ।

यथा भविष्यपुराणं,—

“हिंसात्मकानां सर्वेषां कीर्तितानां मनोषिभिः ।

प्रायश्चित्तकदम्बानां दानं प्रथममुच्यते” ॥

शक्तस्य तु विशेषमाह मनुः,—

“हत्वा हंसं बलाकाञ्च वक्षं वर्हिणमेव च ।

वानरं श्येनभासौ च स्पर्शयेद्ब्राह्मणाय गां” ॥

“अत्र केचित्, गोर्महत्वाच्चिलितबधे गोदानमाहुः, तदसत् हारीत-
विष्णुभ्यां विरोधात् ।

तत्र हारीतः,—मर्कटश्येनभासजालपादवर्हिणामेकतमबधे ब्राह्मणाय-
गां दद्यात् ।

तथा विष्णुः,—

“हंसबलाकामदगुश्येनभासचक्रवाकशाखा । मृगाणामन्यतमं हत्वा ब्राह्म-
णाय गां दद्यात्” ॥

तथा मनुः,—

“घृतकुम्भं वराहन्तु तिलद्रोणं तु तित्तिरिं ।

शुकं विहायनं वत्सं क्रौञ्चं हत्वा विहायणं” ॥

तथा शङ्खलिखितो,—

“क्रौञ्चशुकचक्रवाकमयूरश्चेनगृध्रबधे वत्सतरीं दद्यात् । अजाबधे-
धेनुं एतानि च ज्ञानविषयाणि । इति प्रायश्चित्तविवेककारादिमतं ।

इति विशेष पक्षिवधप्रायश्चित्तविवेचनं ।

अथ मत्स्यादिजलचरबधप्रायश्चित्तविचारः ।

यथा प्रायश्चित्तविवेके शङ्खः,—

“हत्वा द्विजं तथा सर्पं जलेशयविलेशयौ ।

सप्तरात्रं तु कुर्वीत वृतं ब्रह्महणस्तु यत् ।”

“एतदज्ञानतः सक्तबधे । अत्र चाद्विकवनवासव्रतोक्तपञ्चदशधेनुव्यव-
स्थया मासेन सपादधेनुमूल्यं पक्षेण पुराणद्वयं, सप्ताहेन पुराणमेकं ।”

तथा कश्यपः । मण्डूकमकरमत्स्यशिशुमारादीनां बधेष्वेकरात्रं चीर्णान्ते-
लवणं दद्यात् । लवणपरिमाणञ्च घातकशक्त्यपेक्षं । एतत् कामतः सक्तत् ।
अभ्यासात्यन्ताभ्यासयोस्तु यथाक्रमं तप्तकच्छं कृच्छ्रातिकृच्छ्रमिति वेदितव्यं ।
इति शूलपाण्यादिमतं ।

इति मत्स्यादिजलचरबधप्रायश्चित्तविवेचनं ।

अथ साख्यग्रनस्थिवधप्रायश्चित्तविवेचनं ।

यथा मनुविष्णु,—

“अस्थिमतां तु सत्वानां सहस्रस्य प्रमापणे ।

पूर्णे चानस्यनस्थानां तु शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥”

अस्थिमतां ककलासादीनां सहस्रमारणे अनस्थानां पिपीलिकादीनां शकट-
परिमितानां बधे मनुक्तशूद्रहत्याव्रतं प्राणमासिकमज्ञाने, ज्ञाने त्वादिकं कार्यं ।
साख्यग्रनस्थिप्रमापणे यमः,—“अत ऊर्ध्वं कृमिकौटपिपीलिकापतङ्गभ्रमरदंशम-
शकमक्षिकादीनामनोऽस्थिमतां सहस्रं हत्वा शूद्रबधः कोकिलशुकशूद्रबधः ।
अत्र च साख्यग्रनस्थिमनुसमानतैव कोकिलादीनां पुरुषभारपरिमाणबधे
शूद्रबधः स्यादिति विशेषः ।” तथाच मनुः,—

“किञ्चिदेव तु विप्राय दद्यादस्थिमतां बधे ।

अनस्थां चैव हिंसायां प्राणायामेन शुध्यति ॥”

“एतच्च एकैकबधे बोध्यं ।”

यथा गौतमः,—

‘अस्थिमतां सहस्रं हत्वा अनस्थिमतां अनडुङ्गारे च । अपिचास्थिमता-
मेकैकस्मिन् किञ्चिदद्यात् ।’

एकैकस्मिन्नपि हते किञ्चिदद्यादिति सम्बन्धः । चकारादनस्थिमतामपि-
किञ्चित्पदं पणपरं । यथा सुमन्तुः,—

“यूकामशकमक्षिकामत्कुणष्टतकीमाहवाहजलौकीगण्डूपदानामन्यतमेषां-
अनस्थिमताञ्चबधे पणो देयः” इति ।

मत्कुणादयः कीटभेदाः गण्डूपदः किञ्चुलुकः तथाऽन्नादिजातप्राणिबधे
विशेषमाह मनुः,—

“अन्नाद्यजानां सत्वानां रसजानाञ्च सर्वशः ।

फलपुष्पोद्भवानाञ्च घृतप्राशो विशोधनं ॥”

अन्नाद्याः सक्वादयः रसाः गुडादयः फलानि वदर्यादीनि पुष्पाणि-
मधूकादीनि एभ्यो जातानां प्राणिनामज्ञानतो बधे घृतप्राशनपूर्वकमुपवसे-
दित्यर्थः । तथाच “अनस्थाञ्चैव हिंसायां प्राणायामेन शुध्यति” इति
मनूक्तमेतदितरवधे ज्ञेयं ।

ये पुनर्विष्णुमनुभ्यां कृमिकीटादिघातस्य मलावहत्वमभिधाय त्यह-
यावकतप्तकच्छातिकच्छा उक्तास्ते च ज्ञानतोऽभ्यासविशेषतश्चबोध्याः” इति-
शूलपाण्यादिमतं ।

इति सांख्यग्रन्थिबधप्रायश्चित्तविवेचनं ।

अथ वृक्षच्छेदनप्रायश्चित्तविचारः ।

यथाह तत्र यमः,—

“वृक्षलतागुल्मच्छेदने वृक्षच्छेदं फलवतां प्राजापत्यं, वृक्षकच्छत्रं शङ्ख-
लिखितोक्तमष्टदिवससाध्यमत्र पुराणद्वयं, प्राजापत्यं तु द्वादशाहसाध्यं ।

यत्तु मनुवचनं,—

“फलदानाञ्च वृक्षाणां च्छेदने जप्यमृक्शतं ।
दणवल्लीलतानाञ्च पुष्पितानाञ्च वोरुधां ॥”

“तत्फलपरिमाणापकर्षविषयं । अर्थात् अल्पफलधारिणां वृक्षाणां-
तद्विषयमित्यर्थः । अतएव यमवचने फलवतामित्यत्र मनुपातिशय उक्तः ।”

तथाच शङ्खः,—

“क्षत्रियस्तु रणे नष्टः प्रौढः प्राणपरायणः ।
सम्बत्सरं व्रतं कुर्याच्छित्वा वृक्षं फलप्रदं ।”

“एतदत्यन्तोत्कृष्टफलदवृक्षाणामभ्यासच्छेदने” । “नष्टः पलायितः” ।
प्रौढः शूरः वृक्षं च्छित्वा सम्बत्सरव्रतं कुर्यात् ।

तथा—

नीलं वस्त्रं परीधाय मुक्ता स्नानार्हकस्तथा
त्रिरात्रं तु व्रतं कुर्याच्छित्वा गुल्मलतास्तथा ।”

“व्रतं ब्रह्महत्याया एव एतत् सकृदपकृष्टविषयं त्रिरात्रमहाव्रते षट्-
पणा देयाः” । स्थानविशेषजातानामुपजीव्यानाञ्च च्छेदने दण्डद्वेगुण्यमाह—
याज्ञवल्करः,—

“चैत्यश्मशानसीमासु पुण्यस्थाने सुरालये ।
जातद्रुमाणां द्विगुणो दमो वृक्षेऽथ विश्रुते ॥
गुल्मगुच्छक्षुपलताप्रतानौषधवोरुधां ।
पूर्वस्मृतादर्द्धदण्डाः स्थानेषूक्तेषु कर्त्तने ॥
प्ररोहं शाखिनां शाखास्कन्धसर्वविदारणे ।
उपजीव्यद्रुमाणाञ्च विंशतिर्द्विगुणा दमाः” ॥

“द्विगुणा विंशतिद्विगुणाः अर्द्धदण्डा विंशतेरर्द्धदण्डा इत्यर्थः । चैत्यः-
प्रान्तरदेशस्थः विभ्रुते ख्याते छिन्ने इत्यर्थः । गुल्माः कुन्दादयः, गुच्छाः शरा-
दयः, चुपाः शाकोटादयः, लताः वासन्तिकादयः, पुष्पप्रधानाः फलाप्रधानाः-
प्रतानाः, साङ्कोटाः कुष्माण्डादयः । वीरुधः फलप्रधानाः, निरङ्कोटा जोतिष्ण-
त्यादयः, औषधयः फलपाकान्ताः, धान्यादयः प्ररोहशाखिनां वटादीनां उप-
जीव्यद्रुमाणां यान् उपजीव्य लोको वर्तते ते उपजीव्यद्रुमाः तेषां शाखाच्छेदे-
विंशतिपणाः स्कन्धच्छेदे तद्विगुणाः । सर्वच्छेदे तत्त्रिगुणाः ।”

“तदत्र दण्डवत् प्रायश्चित्तानि भवन्तीतिवचनात्तद्विगुणादिकं यथोक्तमेव-
करणीयमिति शास्त्रीयसिद्धान्तः ।”

यस्तु विष्णुपुराणवचनं,—

“छिनत्ति वीरुधो यस्तु वीरुत्संस्थे निशाकरे ।

पत्रं वा पातयत्येकं ब्रह्महत्यां स विन्दति” ॥

“तन्निन्दातिशयाद्विगुणप्रायश्चित्तप्रतिपादनार्थं वीरुत्संस्थेऽभावात्स्याया-
मित्यर्थः । अत्र प्रायश्चित्तविशेषाश्रयणात् ब्रह्महत्यासाम्यात् यथोक्त-
गायत्रीजपः शतावर्तः करणीय इत्येके ।” कथाद्यर्थच्छेदने तु न दोष-
इत्याह वशिष्ठः,—

“फलपुष्पोपगान् पादपान् न हन्यात् कर्षणार्थञ्चोपहन्यात् गाह्येऽप्यङ्गे च ।”

“अस्यार्थः लाङ्गलाद्यर्थं यज्ञपात्राद्यर्थञ्च वृक्षादिच्छेदने दोषाभावः ।
अत्र च द्रुमवत् गुल्मलतौषधादीनां हिंसेत्यनेन स्थावरहिंसायाः विष्णुना-
उपपातकमध्ये पठितत्वादुपपातके च तैर्वर्णिकस्य तुल्यमेव प्रायश्चित्तं-
शूद्रस्यार्द्धमुक्तं, तत्प्रायश्चित्तं चान्द्रायणात्मकं । “उपपातकिनस्त्वेते कुर्यु-
श्चान्द्रायणं नराः ।” इत्यनेन विष्णुनैव चान्द्रायणस्य विहितत्वात् तदत्यन्त-
वेष्टितोत्कृष्टफलपुष्पोपभोगवृक्षादिच्छेदने ज्ञेयं” इति शूलपाण्यादयः ।

इति वृक्षच्छेदनप्रायश्चित्तविवेचनं ।

अथ मण्डपोद्यानादिदेवागारभेदनप्रायश्चित्तविचारः ।

यथा तत्र प्रायश्चित्तविवेके कश्यपः ;—

“वापीकूपारामसेतुसभानङ्गागयज्ञवप्रदेवायतनभेदने प्रायश्चित्तं ब्राह्मणेभ्यो-
निवेद्य चतस्र आज्याहुतीर्जुहुयात् । इदं विष्णुरिति प्रथमां, मानस्तोक—
इति—द्वितीयां, विष्णोः कर्माणीति तृतीयां, पादोऽस्यान्यामिति चतुर्थी,-
यां देवतामुच्छादयति तस्यै देवतायै ब्राह्मणान् भोजयेत्” । अत्र वाप्यादिषु-
सक्तदल्योपघाते । अग्न्यासे महोपघाते च प्राजापत्यादिकमूह्यं । देवतायास्तु-
स्वल्पमृगमयपूजितोज्झितदेवताप्रतिमाभेदने इतिरदेवताभेदने तु यद्यपिनोक्तं-
तथापि दण्डदर्शनेन कल्पनीयं । तत्र विष्णुः,—

“अभक्ष्यस्याविक्रयेयस्य विक्रयी प्रतिमादेर्भेदकश्चोत्तमसाहसं दण्डनीयः ।
उत्तमसाहसश्च निष्णूक्त एव यथा,”—

“पण्यानां द्वे शते सार्धे प्रथमः साहसः स्मृतः ।
मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रन्वेव चोत्तमः” ॥

तथाच शङ्खलिखितौ,—

“प्रतिमारामकूपसंक्रमध्वजसेतुनिपातनभङ्गेषु तत्तत्समुत्थानं प्रतिमा-
संस्कारोऽष्टशतञ्च” ।

“निपातितानां समुत्थानं भग्नानां च प्रतिक्रिया” । अष्टशतपरिमाणं-
दण्डश्चोभयत्रापीत्यर्थः ।

तथाच मनुः,—

“संक्रमध्वजयष्टीनां प्रतिमानाञ्च भेदकः ।
प्रतिकुर्याच्च तत्सर्व्वं पञ्च दद्याच्छतानि च” ॥

तथा कात्यायनः,—

“हरेच्छिन्द्याद्देहापि देवानां प्रतिमां यदि ।
तद्गृहं चैव यो भिन्द्यात् प्राप्नुयात् पूर्व्वसाहसं” ॥

अतो “दण्डवत् प्रायश्चित्तानि भवन्तीत्यभिधानात् उत्कृष्टापकृष्टप्रतिमा-
—भेदनानुरूपदण्डव्यवस्थया प्रायश्चित्तसूत्रनियं” ।

“उभयत्र भङ्गे निपातने चेत्यर्थः । उत्कृष्टेति उत्कृष्टप्रतिमाया-
अत्यन्तभेदनिपातयोरतिशयत्वे उत्तमसाहसो दण्डः । अल्पत्वेऽष्टशतदण्डः ।
अपकृष्टप्रतिमाया भेदनिपातयोरतिशयत्वे पञ्चशतं, अल्पत्वे सार्द्धशतद्वय-
मित्यर्थः । व्यवस्थयाऽनया प्रायश्चित्तमनुष्ठेयमिति सिद्धान्तः ।” इति प्रायश्चित्त-
विवेककारादीनां ।

अथाभिचारप्रायश्चित्तविचारः ।

“अभिचारः परहिंसार्थं होमजपादिकर्म” ।

तत्र मनुः,—

“ब्रात्यानां याजनं कृत्वा परेषामन्यकर्म च ।

अभिचारमहीनञ्च त्रिभिः कृच्छ्रैर्विशुध्यति ॥”

“हीनोऽधार्मिकोऽहीनो धार्मिकः तद्विषयमित्यर्थः । त्रिभिः कृच्छ्रैः-
प्राजापत्यसान्तपनातिकृष्टैरित्यर्थः । अत्र ब्रात्यं याजयतः प्राजापत्यं, तथा-
मूल्यान परस्यान्येष्टिं दहनवहनादिकं कुर्वन्तः सान्तपनं । तथाभिचारतोऽति-
कृच्छ्रमिति यथासंख्यं सम्बन्धः । एतत्सकृदाचरणे, अभ्यासे त्वावृत्तिः, अति-
कृच्छ्रं धेनुत्रयमिति हिंसाप्रायश्चित्तमिति” शूलपाण्यादयः ।

इत्याभिचारप्रायश्चित्तविवेचनं ।

अथाभक्ष्यभक्षणप्रायश्चित्तविचारः ।

“तत्र षड्विधमभक्ष्यमुक्तं भविष्यपुराणे,—

“जातिदुष्टं क्रियादुष्टं कालाश्रयविदूषितं ।

संसर्गाश्रयदुष्टञ्च शृङ्खलेखं स्वभावतः ॥

लशुनं गृध्रं चैव पलाण्डुं करकाणि च ।

वार्त्ताकौ नालिकाऽलावू उपेयाज्जातिदूषितं ॥

न भक्षयेत् क्रियादुष्टं यदुष्टं पतितैः पृथक् ।
 कालदुष्टं तु विज्ञेयं ह्यस्तनं चिरसंस्थितं ॥
 सुरालशूनसंस्पृष्टं पेयूषादिसमन्वितं ।
 संसर्गदुष्टमेतद्धि शूद्रोच्छिष्टवदाचरेत् ॥
 शूद्रोच्छिष्टं तु विज्ञेयं पूर्वं शूद्रे प्रदर्शितं ।
 विचिकित्सा तु हृदये यस्मिन्नेव प्रजायते ॥
 शहृल्लेखं तु विज्ञेयं पूरीषं तु स्वभावतः ।
 रसदुष्टं विकाराद्धि रसस्येति प्रदर्शितं ।
 पायसक्षीरपृषादि तस्मिन्नेव दिने यथा” ॥

“उपेयाज्जानीयात् । वार्त्ताकी श्वेतवार्त्ताकी । “कुविन्दां श्वेतवार्त्ताकी-
 कुष्माण्डञ्च न भक्षयेदिति देवलवचनात्” । नालिका श्वेतकलम्बी, ह्यस्तनं गत-
 दिवसीयं । शूद्रप्रदर्शितं स्थालीस्थमपि । कुविन्दां, घोण्याकां, करकं, छत्राकं-
 कावकमिति पाठान्तरं, उभयत्रार्थः समानः । गृह्णन् पलाण्डुभेदः पश्चिमदेश-
 प्रसिद्धः । पेयूषं अनिर्गतदशाहगवीदुग्धं आदिपदात् तदुदध्यादीनां ग्रहणं ।
 तैः संस्पृष्टं, घोण्याकां शृगालकोनिरिति प्रसिद्धं । शहृल्लेखं शक्तुल्यमित्यर्थः ।”

“तस्मिन्नेव दिने—इति कालदूषिताङ्गेदप्रदर्शनार्थ” ।

तथा अङ्गिराः,—

“द्विविधं गर्हितं प्रोक्तं नित्यमन्नं मनीषिभिः ।

जातितो गर्हितं चैव तथैवाश्रयगर्हितं ॥”

“द्वैविध्यमिदं क्रियादोषादीनां पञ्चानामाश्रयदोष एवान्तर्भावादित्यभि-
 प्रायेण । तच्च गर्हितत्वं संघातान्नगृहपर्युषितान्नशूद्रपतितोपनीतशूद्र-
 वेश्मस्थक्षीरादि” ।

परान्नभक्षणनिन्दायां मनुः,—

“उपासते ये गृहस्थाः परपाकमवुड्वयः ।

तेन ते प्रेत्य पशुतां ब्रजन्यन्नाद्यदायिनां ॥”

तथा याज्ञवल्क्यः,—

“परपाकरुचिर्नस्यादनिन्द्यामन्त्रणादृते ।

दुष्कृतं हि मनुष्याणामन्नमाश्रित्य तिष्ठति” ॥

यथा यमः,—

“दुष्कृतं हि मनुष्याणामन्नमाश्रित्य तिष्ठति ।

यो यस्यान्नमिहाश्नाति स तस्याश्नाति किल्बिषं” ॥

कालविशेषेण दोषभूयस्त्वमाह शातातपः,—

“वनस्पतिगते सोमे परान्नं येऽपि भुञ्जते ।

तेषां मासकृतो होमो दातारमधिगच्छति” ॥

“वनस्पतिगते सोमे इत्यमावास्यायामित्यर्थः । होम—इति इष्टापूर्त्तोप-
लक्षणं” । इति शूलपाणिगोविन्दानन्दौ ।

इति अभक्ष्यभक्षणप्रायश्चित्तविवेचनं ।

अथ सामान्याभक्ष्यभक्षणप्रायश्चित्तविचारः ।

तत्र विष्णुः,—

“अभोज्यानामपेयानामभक्ष्याणाञ्च भक्षणे ।

कृच्छ्रपादं विशुद्ध्यर्थं चरेयुः क्षिप्रशोधनं” ॥

“अभोज्याभक्ष्ययोः पक्वापक्वरूपतया भेदः, एतदत्यन्तलघुविषयं । कृच्छ्र-
पादे द्वादशपणा देयाः, कृच्छ्रपादोऽत्र प्राजापत्यपादः, न तु कृच्छ्रपादव्रतं-
चतुरहः साध्यमिति भावः ।”

तथाच सम्बर्त्तः,—

“अभोज्यभोजनं कृत्वा ब्रह्मक्षत्रविशं गणः ।

गोमूत्रयावकाहारः सप्तरात्रेण शुध्यति” ॥

“सप्तरात्रगोमूत्रयावकाहारेण धेनुपादद्वयं वोद्धव्यं । एतच्च—गुरुविषयं ।

तथा ब्रह्मसूत्रिः,—

“अलेह्यानामपेयानामभक्ष्याणाञ्च भक्षणं ।
रेतोमूत्रपुरीषाणां शुद्धे चान्द्रायणं चरेत् ॥

“एतत् गुरुतरविषयं । सामान्यप्रायश्चित्तमिदं विशेषप्रायश्चित्तानिर्देशे-
वोध्यं ।” इति शूलपाण्यादयः ।

इति सामान्याभक्ष्यभक्षणप्रायश्चित्तविवेचनं ।

अथ विशेषाभक्ष्यभक्षणप्रायश्चित्तविचारः ।

“तत्र प्रथमं शूद्रान्नभक्षणप्रायश्चित्तं निरूप्यते ।

तत्र निन्दायां भविष्यपुराणं,—

“शूद्रान्नं शूद्रसम्पर्कः शूद्रेण च सहासनं ।
शूद्राद्विद्यागमः कश्चित् ज्वलन्तमपि पातयेत्” ॥

तथा हारीतः,—

“शूद्रान्नेन तु भुक्तेन उदरस्थेन यो मृतः ।
स वै खरत्वमुष्ट्रत्वं शूद्रत्वञ्चाधिगच्छति” ॥

तथा वशिष्ठः,—

“शूद्रान्नेन तु भुक्तेन मैथुनं योऽधिगच्छति ।
यस्यान्नं तस्य ते पुत्राः न स स्वर्गाऽर्हको भवेत्” ॥

तथा मनुः,—

“राजान्नं तेज आदत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसं ।
आयुः सुवर्णकारान्नं यशश्चर्मावकर्त्तिनः” ॥

इत्यभिधायाह पुनः स एव,—

“भुक्तातोऽन्यतमस्यान्नममत्या क्षपणं त्रयहं ।
मत्या भुक्ता चरेत् कृच्छ्रं रेतोविण्मवमेव च” ॥

“तेनाज्ञानतः सकृत् शूद्रान्नभोजने त्रिरात्रमभोजनं । तदशक्तौ चतु-
विंशतिपणलभ्यं काञ्चनादि देयं । ज्ञानतः सकृदशने प्राजापत्यं ।” सकृत्-
पदमिदं न निरुक्तप्रमाणोद्भावितं, अतः पदस्यास्य व्याख्याकर्त्तृोद्भाविततया न
सर्वैरङ्गीकरणीयमेतदिति सिद्धान्तः ।

परत एवमूहनीयं ।

तथाच शङ्खवचनं,—

“शूद्रान्नं ब्राह्मणो भुक्त्वा तथा रज्जावतारिणः ।
चिकित्सकस्य क्रूरस्य तथा स्त्रीमृगजीविनः ॥
चाण्डालान्नं भूमिपान्नमजजीविष्वजीविनां ।
शौण्डिकान्नं सूतिकान्नं भुक्त्वा मासं व्रतौ भवेत्” ॥

“व्रतौ यावत्केन । अत्र धेनुद्वयं देयमेतदभ्यासे । आमाम्नभक्षणे तूक्तप्राय-
श्चित्ततुरीयभागः । चाण्डालान्नभक्षणे तथा दर्शनात् ।”

यथा विष्णुः,—“चाण्डालान्नं भुक्त्वा त्रिरात्रमुपवसेत् सिद्धं भुक्त्वा-
पराक-इति” ।

आपदि पराशरः,—

“आपत्काले तु विप्रेण भुक्तं शूद्रगृहे यदि ।
मनस्तापेन शुष्येत द्रुपदां वा शतं जपेत्” ॥

प्रायश्चित्ते सत्यपि अनुष्ठिते न भवेच्चेन्ननस्तापस्तदा प्रायश्चित्तं निष्फलमित्य-
वगन्तव्यं । तदर्थं तदनुष्ठानस्य विहितत्वात् । अतः पापाचरणेन स्वतो-
यद्यपि भवेन्ननस्तापस्तदा तत्र प्रायश्चित्तं सफलमिति निष्कर्षः यान्नवल्कादि-
सम्मतः । तत्तद्वचनं प्रदर्शितव्यं परिशेषे ।

आपद्यामाने दोषाभावमाह मनुः,—

“नाद्याकूटस्य पक्वान्नं विद्वानश्राद्धिनो द्विजः ।
आतृदीताममेवास्मादवृत्तावेकरात्रकं” ॥

“अथाद्धिन इति आहभोजनानहंत्वात् । यतोऽयमथाहो अतोऽस्य पक्वान्नं न भुञ्जीतेत्यर्थः ।”

यथा ब्राह्मेः,—

“राज्ञां पर्वणि वैश्यानामश्वीयान्मङ्गले गवां ।
वासो भूरत्नहेमान्नं सच्छूद्रस्य गृहे तथा” ॥ इति ।

अनापद्यपि तत्रादोष इत्यत्र याज्ञवल्करः,—

“शूद्रेषु दासगोपालकुलमिवाहंसीरिणः ।
भोज्यान्ना नापितश्चैव यश्चात्मानं निवेदयेत्” ॥

गोपालो यस्यैव गां पालयति तस्यैव भोज्यान्न इति भर्तृयज्ञः ।
तथा देवः,—

“स्वदासो नापितो गोपः कुम्भकारः कृषीवलः ।
ब्राह्मणैरपि भोज्यान्नाः पच्येते शूद्रयो नयः” ॥

तथाऽनापद्यपि भोज्यविशेषमाह सुमन्तुः,—

“गोरसञ्चैव शक्तुञ्च तैलं पिण्याकमेव च ।
अपूपान् भोजयेच्छूद्रात् यच्चान्यत् पयसा कृतं” ॥

एतानि शूद्रान्नादनिवृत्तेनैव भक्ष्याणि । इत्यत्र शूलपाण्यादिसम्पत्तिः ।

इति विशेषाभक्ष्यभक्षणप्रायश्चित्तविवेचनम् ।

अथ रजकाद्यन्तजान्नभक्षणप्रायश्चित्तविचारः ।

तत्रापस्तम्बः,—

“रजके चैव शैलूषे वेणुचर्मोपजीविनि ।
एतेषां यस्तु भुञ्जीत द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥”

ज्ञानाभ्यासविषयमेतत् । अत्र केवर्त्तादयोऽपि ग्राह्याः ।

यथाह वीधायनः,—

“बहूनामेकधर्माणामेकस्यापि यदुच्यते ।

सर्वेषामेव तत्कुर्व्यादिकरूपा हि ते स्मृताः” ॥

तथाच यमः,—

“भुक्ता चैषां स्त्रियो गत्वा पीत्वापः प्रतिगृह्य च ।

कृच्छ्राब्दमाचरेत् ज्ञानादज्ञानादैन्दवद्वयं” ॥

कृच्छ्राब्दे त्रिंशद्देनवः । एतद्रजकादीनामष्टधा भोजनाभ्यासे ।

अथ क्षत्रियादीनां पादपादहानिः ।”

तथा संवर्त्तः,—

“अन्यजान्नं यदा मुंक्ते शूद्रो मोहात् कथञ्चन ।

एकरात्रोषितो भूत्वा दानं दत्त्वा विशुध्यति” ॥

उच्छिष्टाशने तूशनाः,—

“अन्यानां भुक्तशेषस्तु भक्षितो येर्हिजातिभिः ।

चान्द्रं कृच्छ्रं तद्वर्द्धं च क्रमात्तेषां विशोधनं” ॥

कृच्छ्रं तप्तकृच्छ्रमिदं सकृदज्ञानविषयं । इति शूलपाण्यादयः ।

इति रजकाद्यन्यजान्नभक्षणप्रायश्चित्तविवेचनम् ।

अथ कापालिकान्नभक्षणप्रायश्चित्तविचारः ।

तत्राङ्गिराः,—

“कापालिकान्नभोक्तृणां तन्नारीगामिनां तश्च ।

ज्ञानात् कृच्छ्राद्विमुद्दिष्टमज्ञानादैन्दवद्वयं” ॥

अत्रापि पूर्ववत् व्यवस्था । इति प्रायश्चित्तविवेककारादयः ।

इति कापालिकान्नभक्षणप्रायश्चित्तविचारः ।

अथ चाण्डालाद्यन्नभक्षणप्रायश्चित्तविचारः ।

तत्राङ्गिराः

“अन्यावसायिनामन्नमश्नीयात् यस्तु कामतः ।

स तु चान्द्रायणं कुर्यात्तप्तकच्छमथापि वा ॥

चाण्डालः श्वपचः क्षत्ता सूतो वैदेहिकस्तथा ।

मागधायोगवौ चैव समैतेऽन्त्यावसायिनः ॥”

कामतः सकृन्नोजने चान्द्रायणं तत्राष्टौ धेनवः । अकामतस्तप्तकच्छं-
अत्र धेनुचतुष्टयं । अत्र चान्द्रायणं चतुरभ्यासे द्विरभ्यस्ते तप्तकच्छमिति-
धर्मदीपव्याख्यानम् ।”

तथा पतिताद्यन्नभोजने प्रायश्चित्तविशेषः, तत्र ब्रह्मसतिः,—

“पतितानां गृहं गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च ।

मासोपवासं कुर्वीत चान्द्रायणमथापि वा ।”

चान्द्रायणमिदमज्ञानाभ्यासे ज्ञानाभ्यासे मासोपवासः । चान्द्रायणे सार्द्ध-
सप्तधेनवः, मासोपवासे पञ्चदशधेनवः । एतेन ज्ञानतः सकृन्नोजने चान्द्रा-
यणमेवावतिष्ठते । अर्थात् अज्ञानकृतद्वैगुण्यं ज्ञानकृतेऽतोऽज्ञानाभ्याससकृद-
ज्ञानकृतयोस्तुल्यत्वमिति भावः ।

तथा वशिष्ठः,—

एतदेव चाण्डालपतितान्नभोजनेषु, ततः पुनरुपनयनं । एतच्चोपनयनं
चान्द्रायणसमं । एतदपि ज्ञानाभ्यासविषयं । कच्छार्द्धपादे सार्द्धसप्तधेनवः ।
पुनरुपनयनेनास्य किञ्चिदगुरुत्वात् द्विरभ्यास इति भावः ।” इति
शूलपाणिमतं न समीचीनं, वचने तु द्विशब्दोक्तेखादर्शनात् । अतएव-
बहुवाराभ्यासविषयकमेतद्वचनमिति परामर्शः ।

आमान्नभक्षणे तूशनाः,—

“पतिताद्द्रव्यमादाय भुङ्क्ते च ब्राह्मणः क्वचित् ।

कृत्वा तस्य समुत्सर्गमतिकृच्छ्रं चरेद् द्विजः ॥”

“एतदज्ञानाभ्यासे, अज्ञानाभ्यासे चादं, अतिकृच्छ्रे धेनुवयं ।” समुत्सर्ग-
वमनम् ।

तथा सुमन्तुः,—

“अभिशस्तपतितपौनर्भवभ्रूणह-पुंश्चल्यशुचि-शस्त्रकार-तैलिक-चान्द्रिक-
ध्वजिक-सुवर्णकारालेख्यकषण्डतन्तुवायकबन्धकगणगणिकान्नानि-चाभोज्यानि-
शौकरिकव्याधनिषादरजकवरुडकैवर्त्तचर्मकारा अभोज्यान्ना-अप्रतिग्राह्याश्च-
तदन्नाशनप्रतिग्रहयोश्चान्द्रायणं चरेत्” । एतद् ज्ञानाभ्यासे, अज्ञाना-
भ्यासे तददं । वरुडः काष्ठभूरादिभेदः । इति शूलपाणिः । अशुचिरशौचं ।
आलेख्यकक्षित्रकरः । कबन्धकः वणिग्भेदः । शौकरिकः शूकरपोषणेन यो-
जीवति सः । निषादः पारशवो मनूक्तः । वरुडः कोठराः इति प्रसिद्धः ।
इतिशूलपाण्यादयः ।

इति चाण्डालाद्यन्नभक्षणप्रायश्चित्तविवेचनं ।

अथ चाण्डालपतितसृष्टान्नभक्षणप्रायश्चित्तविचारः ।

तत्र यथा प्रायश्चित्तविवेके शङ्कः,—

“अमेध्यचाण्डालपतितपुक्कसरजस्वलाबधूतकुणिकुष्ठिसृष्टानि भुक्त्वा कृच्छ्रं-
चरेत् ।” अमेध्यं मद्यभाण्डादि । पुक्कसः क्षत्रियायां शूद्राज्जातः । स्वभावतः-
पाणिविकलः कुणिः, कृच्छ्रं प्राजापत्यं तदशक्तौ धेनुरेका, एतद् ज्ञानतः-
कुण्यादिष्वभ्यासे ज्ञेयं” ।

तथा ब्रह्मपुराणं,—

“चाण्डाल-पतितामेध्यैः कुनखैः कुष्ठिना तथा ।

उदक्या-सूतिकास्मृष्टं भुक्त्वा मासं वने वसेत्” ॥

“चतुर्विंशतिदिनसाध्यमहाव्रतस्य प्राजापत्यतुल्यता, ततश्चेतिकर्त्तव्यता-
शून्यमासव्रतवासप्राजापत्ययोः साम्यमेव एतत् सकृदशने, अभ्यासेत्वावृत्तिरुह-
नीयाज्ञानतश्च रजकादीनान्तु चाण्डालान्नभक्षणप्रायश्चित्ताददं प्रायश्चित्त-

मापस्तम्बादिवचनात् । तदनुसारेण रजकादिस्पृष्टान्नभक्षणे धेनोरर्द्धमन्नाने, ज्ञानतश्च धेनुरेकैव । इति प्रायश्चित्तविवेककारादयः ।

इति चाण्डालपतितस्पृष्टान्नभक्षणप्रायश्चित्तविवेचनं ।

अथ पतितस्पर्शेऽक्तज्ञानस्य भोजने प्रायश्चित्तविचारः ।

तत्र पैठीनसिः,—

“महापातकिसंस्पर्शे ज्ञानमेव विधीयते ।

संस्पृष्टस्तु यदा भुंक्ते तप्तकृच्छ्रं तदा चरेत्” ॥

“एतद्वचनं रजकान्धजस्पर्शविषयं” ।

तथा,—

“ज्ञानार्हस्तु यदा ज्ञानमकृत्वाऽश्नाति वै द्विजः ।

अहोरात्रोषितः ज्ञातः पञ्चगव्येन शुध्यति” ॥

“तप्तकृच्छ्रं पापलाघवाच्चतुरहःसाध्यं याज्ञवल्क्योक्तं ग्राह्यं, तदशक्तौ-
सपादधेनुमूल्यं दातव्यं, एतदुज्ज्ञानतोऽज्ञानतस्तदर्थमत्यन्ताभ्यासे तु-
चान्द्रायणेन चैकेन सर्वपापक्षयो भवेदिति चान्द्रायणं कुर्यात् । शङ्ख-
वज्रपुराणादिषु साहचर्यदर्शनाच्चाण्डालादिस्पर्शेऽप्येतद्देदितव्यं । इति-
शूलपाण्यादयः ।

पतितस्पर्शेऽक्तज्ञानस्य भोजने प्रायश्चित्तविवेचनं ।

अथ गवादिमांसभक्षणप्रायश्चित्तविचारः ।

तत्र सुमन्तुः,—

“गोमांसभक्षणे प्राजापत्यं चरेत् ।”

इदमज्ञानतः सकृद्व्रक्षणविषयं । एतत् प्रायश्चित्तान्ते पुनरुपनयनमाह,—

विष्णुः,—“ग्रामकुक्कुटरगोमांसभक्षणे च सर्वेष्वेव द्विजातीनां प्रायश्चित्तान्ते पुनः संस्कारं कुर्यादिति” ।

तथा पराशरः,—

“अगम्यागमने चैव मद्यगोमांसभक्षणे ।

शुद्धै चान्द्रायणं कुर्यान्नदीं गत्वा समुद्रगाम् ॥

चान्द्रायणे ततश्चीर्णे कुर्याद्ब्राह्मणभोजनम् ।

अनडुत्सहितां गाञ्च दद्याद्विप्राय दक्षिणाम्” ॥

इदं ज्ञानतोऽभ्यासे ।

तथा शङ्खः,—

“गामश्वं कुञ्जरीष्टौ च सर्वं पञ्चनखं तथा ।

क्रव्यादं कुक्कुटं ग्राम्यं कुर्यात् संवत्सरं व्रतम्” ॥

एतच्चिरकालाभ्यासे सम्बत्सरव्रत्तहत्याव्रते पञ्चदशधेनवः पुनरुपनयनञ्च ।

यथा विष्णुः—“विड्वराहग्राम्यकुक्कुटनरगोमांसभक्षणे सर्वेष्वेव द्विजा-
तीनां प्रायश्चित्तान्ते भूयः संस्कारं कुर्यात्” ।

तथा हंसादीनां मांसभक्षणे प्रायश्चित्तमाह ।

शङ्खः,—

“हंसं मद्गुञ्च काकोलं काकं वा खञ्जरीटकम् ।

मत्स्यादांश्च तथा मत्स्यान् वलाकांशुकशारिके ॥

चक्रवाकं प्लवं कोलं मण्डूकं भुजगं तथा ।

मासमेतद्-व्रतं कुर्यात् भूयश्च तन्न भक्षयेत्” ॥

“एतत्तु कामतोऽभ्यासापेक्ष्यं, मासयावकव्रते धेनुद्वयं, अकामतोऽभ्यासे-
चाहं । तथा ज्ञानतः सप्तदशने विष्णुः,—

“कलविङ्कहंसमद्गुचक्रवाकरज्जुवालसारसदात्यूहशुकसारिभासवलाकाको-
किलखञ्जरीटाशने त्रिरात्रमुपवसेत्” ।

मद्गुः जलचरपक्षिविशेषः, काकोलः द्रोणकाकः, मत्स्यादः श्येनादिः, प्लवः-
पक्षिभेदः, कोलो ग्राम्यशुकरः, कलविङ्कः चटकः, रज्जुवालः, दीर्घपुच्छभेदः,

भासो वनकुक्कुटः, गृध्र इति केचित् । तथा चतुर्दश्यादितिषु मांस-
भक्षणनिषेधे—

विष्णुपुराणम्,—

“चतुर्दश्यष्टमी चैव अमावस्याथ पूर्णिमा ।
पर्वाण्येतानि राजेन्द्र ! रविसंक्रान्तिरेव च ॥
स्त्रीतैलमांससम्भोगी पर्वस्वेतेषु वै पुमान् ।
विशमूत्रप्राशनं नाम प्रयाति नरकं मृतः ॥
अशेष पर्वस्वेतेषु तस्मात् संयमिभिर्नरैः ।
भाव्यं सच्छास्त्रवेदेज्याध्यानजप्य परैः सदा” ॥

तत्र भाव्यं अवश्यं भावनीयमित्यर्थः ।

तथा दत्तः,—

“षष्ठ्याष्टमी पञ्चदशी उभे पक्षे चतुर्दशी ।
अत्र सन्निहितं पापं तैले मांसे भगे क्षुरे” ॥

तथा,—

“षष्ठ्यां तैलमनायुष्यमष्टम्यां पिशितं तथा ।
क्षुरकर्म चतुर्दश्यां तथा पर्वणि मैथुनम्” ॥

‘एतच्च ज्ञातकविषयम्’ ।

अतएव पर्वमैथुनविषये मनुः,—

“अमावस्याष्टमी चैव पौर्णमासी चतुर्दशी ।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ ज्ञातको द्विजः” ॥

अत्र प्रायश्चित्ते मनुः,—

“वेदोद्दितानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे ।
ज्ञातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम्” ॥

अभ्यासे तु प्राजापत्यं चान्द्रायणं वा इति आपस्तम्बवचनात् । इति-
शूलपाणिरघुनन्दनादयः ।

इति गवादिमांसभक्षणप्रायश्चित्तविवेचनम् ।

अथ लशुनादिभक्षणप्रायश्चित्तविचारः ।

तत्र याज्ञवल्क्यः,—

“पलाण्डुं विड्वराहञ्च छत्राकं ग्राम्यकुक्कुटम् ।

लशुनं गृञ्जनं चैव जग्ध्वा चान्द्रायणं चरेत्” ॥

एतज्ज्ञानतः सक्तत् । अत्र च पुनरुपनयनं कार्यमित्यत्र ।

विष्णुः,—“मलानां मद्यानां वाऽन्यतमस्य प्राशने चान्द्रायणं कुर्यात्” ।
लशुनपलाण्डुगृञ्जनतदगन्धिविड्वराहग्राम्यकुक्कुटगोमांसभक्षणे च सर्वेष्वेतेषु-
च द्विजातीनां प्रायश्चित्तान्ते भूयः संस्कारं कुर्यात् ।

अज्ञानादाह यमः,—

“पलाण्डुं कवकञ्चैव गृञ्जनं लशुनं तथा ।

चत्वार्यज्ञानतो जग्ध्वा तप्तकृच्छ्रेऽपि हिजः” ॥

विशेषोऽत्र प्रायश्चित्तमनोहरे । यथा—“तप्तकृच्छ्रे धेनुद्वयं इदमकाम-
विषयं । कामकृतविषयमाह स एव,—

“छत्राकं विड्वराहञ्च लशुनं ग्राम्यकुक्कुटम् ।

गृञ्जनं कवकं भुक्त्वा द्विजश्चान्द्रायणं चरेत्” ॥

तथा मनुः,—

“छत्राकं विड्वराहञ्च लशुनं ग्राम्यकुक्कुटम् ।

पलाण्डुं गृञ्जनञ्चैव मत्वा जग्ध्वा पतेद्विजः” ॥

पतेदिति पतितप्रायश्चित्तं कर्तव्यं । एतत् बुद्धिपूर्वकाभ्यासविषयम् ।
अबुद्धिपूर्वकाभ्यासविषये बुद्धिपूर्वकसक्तद्विषये च स एवाह,—

“अमत्या तान् सक्तजग्ध्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत्” ।

तथा सुमन्तुः,—

“लशुनगृच्छनपलाण्डुभक्षणे गायत्राष्टसहस्रेण मूर्द्धिं सम्यक्नयेदिति-
मस्तके जलविन्दून्नयेदित्यर्थः” । अत्रैव हारीतः,—

“पलाण्डुलशुन-गृच्छन-क्षत्राककुष्माण्डप्राशने च चान्द्रायणेऽष्टौ धेनवः ।
तप्तकच्छे पादोनधेनुचतुष्टयम्” ।

एतत्—सदृशेऽपि प्रायश्चित्तमाह देवलः,—

“पलाण्डुसदृशं यत्स्याद्गन्धवर्णरसादिभिः ।

अभोज्यं तत् भवेत् सर्व्वं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

लशुनादिषु ये तुल्या गन्धवर्णरसादिभिः ।

अभक्ष्यास्ते द्विजातीनां भुक्त्वा सान्तपनं चरेत्” ॥

अत्र चान्द्रायणं पूर्व्वोक्तविषयमेव । धेनुद्वयसंकलितसान्तपनन्तु ज्ञानतो-
ऽशक्तस्य” ।

तथा सूतकमृतकान्नभक्षणे प्रदर्शयति प्रायश्चित्तं पराशरः,—

“अज्ञानात् भुञ्जते विप्राः सूतके मृतकेऽपि वा ।

प्रायश्चित्तं कथं तत्र चातुर्वर्ण्ये विधीयते ॥

गायत्राष्टसहस्रेण शुद्धिः स्याच्छूद्रसूतके ।

विशः पञ्चशतेनैव क्षत्रियस्य शतेन च ॥

ब्राह्मणस्य यदा भुंक्ते प्राणायामेन शुध्यति ।

अथवा वामदेव्येन साम्नैव तेन शुध्यति” ॥

एतल्लघुत्वादापन्नतस्य सन्नदज्ञानतः । अष्टसहस्रं अष्टोत्तरसहस्रम् ।

तथा ब्रह्मपुराणे—

“मृतके सूतके चाथ ग्रस्तयोश्चन्द्रसूर्ययोः ।

क्षायायां कुञ्जरस्याच भुक्त्वा तु नरकं व्रजेत्” ॥

“भुक्ता प्रमादात् विप्रसु सम्यक् चान्द्रायणं चरेत्” । दानपक्षे धेनुचतुष्टयं चान्द्रायणे । इति प्रायश्चित्तविवेककारादयः ।

इति लशुनादिभक्षणप्रायश्चित्तविवेचनं ।

अथ हस्तदत्तशूद्रादत्तपृतादिभक्षणप्रायश्चित्तविचारः ।

तत्र निन्दायां वशिष्ठः,—

“हस्तदत्ताश्च ये स्नेहा लवणं व्यञ्जनानि च ।
दातारं नोपतिष्ठन्ते भोक्ता भुंक्ते च किल्बिषं ॥
तस्मादन्तरितं देयं पर्णेनाथ तृणेन वा ।
प्रदद्यान्न तु हस्तेन नायसेन कदाचन ॥
आयसेन तु पात्रेण यदन्नन्तु प्रदीयते ।
भोक्ता विष्ठासमं भुंक्ते दाता तु नरकं व्रजेत्” ॥

तथा पराशरः,—

“माक्षिकं गोरसं स्नेहं लवणं घृतमेव च ।
हस्तदत्तानि भोक्ता चेद्दिनमेकमभोजनम्” ॥

तथा प्रायश्चित्ते यमः,—

“माक्षिकं फाणितं शाकं गोरसं लवणं घृतम् ।
हस्तदत्तानि भुक्ता तु भोक्ता सान्तपनं चरेत्” ॥

सान्तपनञ्च द्वाहसाध्यं अत्रैकपुराणं देयं एतत् ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि-
एतच्छूद्रादत्तेऽपि ब्रह्मपुराणे साहचर्यदर्शनात् ।

तथा शूद्रहस्तदत्तभोजनप्रायश्चित्ते बृहद्व्याजवल्काः,—

“ब्राह्मणान्नं ददच्छूद्रः शूद्रान्नं ब्राह्मणो ददत् ।
उभये ते अभोज्यान्ने भुंक्ता चान्द्रायणं चरेत्” ॥

तथा क्रतुः,—

“शूद्रहस्तेन यो भुंक्ते पानीयन्तु पिवेद्विजः ।

अहीरातोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुद्ध्यति” ॥

अपिचाकृतापोशानाकृतमोनभोजनप्रायश्चित्ते—संवर्त्तः,—

“आपोशानमकृत्वा तु यो भुंक्ते नापदि द्विजः ।

भुञ्जानश्च यदा ब्रूयात् गायत्र्यष्टशतं जपेत्” ॥

आपोशानं प्रथमगण्डूषजलपानं, अष्टशतं अष्टोत्तरशतं । तथाऽकृताच-
मनस्य पानभोजनप्रायश्चित्ते,—

संवर्त्तः,—

“अनाचान्तः पिवेद्-यस्तु भक्षयेद्वापि किञ्चन ।

गायत्र्यष्टसहस्रं तु जप्यं कृत्वा विशुद्ध्यति ॥

आचामेक्ष्वर्षणे नित्यं मुक्ता ताम्बूलचूर्णम् ।

अष्टौ विलोमकौ स्पृष्ट्वा वासो विपरिधाय च ॥

दन्तलग्ने फले मूले भुक्तस्नेहे तथैव च ।

ताम्बूले चक्षुदण्डे च नोच्छिष्टो भवति द्विजः” ॥

तथा लघुहारीतवचनं,—

“कषायकटुताम्बूले भुक्तस्नेहानुलेपने ।

मधुपर्के च सोमे च नोच्छिष्टं मनुरब्रवीत्” ॥

अनाचान्तः कषायकटुताम्बूलेक्षुव्यतिरिक्तं द्रव्यं सकृदभक्षयित्वा दुग्ध-
मधुनारिक्तेलजलादिकञ्च सकृत्-पौत्वा अष्टोत्तरसहस्रवृत्तां गायत्रीं जपेत् ।
अथ्यासे त्वेवं द्विशुणादि । अर्थात् अनाचान्तः अकृतद्विराचमनं । “भक्ष्यमाणस्तु-
प्रयतोऽपि द्विराचामेदिति वशिष्ठवचनात्” । तथाऽचामेदित्यत्र आचमनं-
द्विराचमनं । “द्विराचामेदासः परिधाय अष्टौ च संस्पृश्य यत्रालोमकाविति”
वशिष्ठवचनात् ।

तथोपवीतच्छेदनप्रायश्चित्ते कामरूपीयनिबन्धे स्मृतिसागरे आपस्तम्बः,—

“ब्राह्मणेन यदा दैवात् छिन्नं यज्ञोपवीतकं ।

मनस्तापेन शुद्धिः स्यादापस्तम्बोऽब्रवीन्मुनिः” ॥

“प्राणायामत्रयं कृत्वा निराहारः क्षिपेद्दिनं” ।

बृहन्मनुः,—

“उपवीतं ब्राह्मणस्य छिन्नं शूद्रेण कामतः ।

अन्यदादाय मन्त्रेण जपन्नपवेसेद्दिनम्” ॥

अनादेशे गायत्रीमिति वचनात् । अनादिष्टे शतमिति वचनाच्छतावृत्ति
गायत्रीजपं कृत्वा उपवसेत् । तथा ऋष्यशृङ्गः,—

“चाण्डालैः स्वपचैर्वापि छिन्नं यज्ञोपवीतकम् ।

मुनिभिस्तु विनिर्दिष्टं महाशान्तपनद्वयम्” ॥

तथा बृहस्पतिः,—

“शूद्रेण तु यदा छिन्नमुपवीतं द्विजन्मनः ।

दण्डे त्रिंशत्-पणं दत्त्वा प्राजापत्येन शुद्ध्यति” ॥

प्राजापत्यं धेनुदानसमं तत्तुल्यं कार्षापणत्रयं ।

तथा हारीतः,—

“चाण्डालपुद्गलशस्त्रेच्छान्यजकापालिकैस्तथा ।

छिन्नयज्ञोपवीतो यः सोऽतिकृच्छ्रेण शुद्ध्यति” ॥

अतिकृच्छ्रे द्वे धेनू । तथा यज्ञोपवीतरहितस्य भोजन—

प्रायश्चित्ते लघुहारीतः,—

“विना यज्ञोपवीतेन भुङ्क्ते च ब्राह्मणो यदि ।

ज्ञानं कृत्वा जपं कृत्वा उपवासेन शुद्ध्यति” ॥

“मन्त्रानादेशे गायत्रीति वचनादनिर्दिष्टे शतमिति वचनाच्च शतावृत्ति
गायत्रीजपं कृत्वोपवसेत् । स्नानं भोजनोत्तरमेव जपोपवासी च परे-
ऽहनीत्यर्थः ।

अन्यच्च यथा रेतोमूत्रपूरीषभक्षणप्रायश्चित्ते वृद्धव्यतिः ।

“अलेक्ष्यानामपेयानामभक्ष्याणाञ्च भक्षणे ।

रेतोमूत्रपुरीषाणां शुद्धे चान्द्रायणं चरेत्” ॥

तथा याज्ञवल्करः,—

“अज्ञानात्तु सुरां पीत्वा रेतो विण्मूत्रमेव च ।

पुनःसंस्कारमर्हन्ति तयो वर्णा द्विजातयः” ॥

सुरां मुख्येतरं । गोर्द्धीं माध्वीं च । तथा च गोतमः,—

“अमद्यपाने पयोष्टुतमुदकं वायुं त्र्यहं । सप्ताहानि पिवितु स-
तप्तकच्छः ततः पुनः संस्कारः । मूत्रपुरीषरेतसां प्राशने चैवं । अत्र-
चान्द्रायणतप्तकच्छयोज्ञानाज्ञानाभ्यां व्यवस्था संस्कारस्तूभयत्रैव ।

चान्द्रायणे धेन्वष्टकम् । तथा सम्बर्तः,—

“विण्मूत्रभक्षणे विप्रः प्राजापत्यं समाचरेत्” ।

एतद्वलात्कारविषयं एवं च अमत्या क्षपणं त्र्यहं ।

“मत्या भुक्त्वा चरेत् कृच्छ्रं रेतो विण्मूत्रमेव च” ।

इति मनूक्तमप्येतत्समानविषयं । तथा विण्मूत्रदूषितफलादौ-
प्रायश्चित्तमाह—

लघुविष्णुः,—

“मृदारिकुसुमादौश्च फलकन्देक्षुमूलकान् ।

विण्मूत्रदूषितान् प्राश्याचरेत् कृच्छ्रञ्च पादतः ।

सन्निकृष्टेऽर्द्धमेव स्यात् कृच्छ्रस्याशु विशोधनम्” ॥

दूषितत्वं संसर्गमात्रं, सन्निकृष्टत्वं तु महान् संसर्गः, तेन लघुगुणप्रायश्चित्तं

एतच्च रसास्वादानुपलभ्यपक्षेऽज्ञानतः सकृद्विषयं । ज्ञानतो वैगुण्यं ।
तथा रसाद्युपलभ्ये तु कामतो व्यासः,—

“संसर्गदुष्टं यच्चान्नं क्रियादुष्टं च कामतः ।

भुक्त्वा स्वभावदुष्टञ्च तप्तकृच्छ्रं समाचरेत्” ॥

तप्तकृच्छ्रं गोतमोक्तं द्वादशाहसाध्यं । तेन पादोनधेनुचतुष्टयं दातव्यं ।
अज्ञानत उपलभ्येऽहं ।

तथा मृत्तोद्ग-भक्षणप्रायश्चित्ते भविष्यपुराणं,—

यथा—

“अङ्गुल्या दन्तकाष्ठञ्च प्रत्यक्षलवणं तथा ।

मृत्तिका-भक्षणञ्चैव तुल्यं गोमांस-भक्षणम्” ॥

प्रत्यक्षलवणं चात्र क्षारलवणं

“सैन्धवं लवणञ्चैव यच्च सामुद्रिकं भवेत् ।

पवित्रे परमे ह्येते प्रत्यक्षेऽपि च नित्यशः” ॥

इति वायुपुराणवचनात् ।

अतएव,—

“भुक्त्वा तु क्षारलवणं त्रिरात्रं तु वने वसेत्” ।

इति ब्रह्मपुराणोक्तं । प्रायश्चित्ते चात्र प्रचेताः,—मृत्तोद्गखादनेऽहोरात्र-
मभोजनाच्छुद्धिः । एतत् सकृत् ।

यत्तूशनसोक्तं मृत्तोद्गप्राशने तप्तकृच्छ्रं । तच्चिराभ्यासे तप्तकृच्छ्रश्चतुरह-
साध्यः । तत्र सपादधेनुः । इति शूलपाण्यादयः ।

इति हस्तदत्तशूद्रादत्तष्टतादिभक्षणप्रायश्चित्तविवेचनं ।

अथास्थग्रादिदूषितान्नादिभोजनप्रभृतिप्रायश्चित्तविचारः । तथा ब्रह्मपुराणे,—

“अस्थग्रादि दूषितञ्चान्नं भुञ्जानश्च यदा भवेत् ।

ज्ञात्वार्कमर्चयित्वा तु घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति” ॥

“अस्थिशब्दोऽनाभक्ष्यास्थिमात्रवचनः ।” अतएव हारीतः,—

“मत्स्यकण्टकशम्बूकशङ्खशुक्तिकपर्दकान् ।
पौत्वा नवोदकञ्चैव पञ्चगव्येन शुद्ध्यति” ॥

घृतप्राशनरूपवन्नतं तेन घृतं प्राश्योपवसेत् ।” तथा हारीतः—“कमिकीट-
पिपीलिकाजलौकःपतङ्गास्थिप्राशने गोमूत्रगोमयाहारस्त्रिरात्रेण प्रयतो-
भवेत् । एतज्ज्ञानाभ्यासे अस्य च पावनार्थं प्राशनमात्रात् त्रिरात्रोपवास-
समं सार्द्धपुराणमेव देयं ।”

तथा पराशरः,—

“अस्थिकण्टकशम्बूकशङ्खशुक्तिकपर्दकान् ।
पौत्वा नवाम्बु चोपोष्य पञ्चगव्येन शुद्ध्यति” ॥

नवाम्बु दशाहादर्वाग्वर्त्ति । तथा

“मत्स्यकण्टकशम्बूकशङ्खशुक्तिकपर्दकान् ।
मुखे प्राप्ते त्वहोरात्रं पात्रे स्नानं विधीयते” ॥
केशकौटावपन्नञ्च नीलौकाष्ठोपद्रूषितं ।
स्नायुस्थि-चर्म्मसंसृष्टं मुक्ता तूपवसेदहः” ॥

तथा देवलः,—

“विशुद्धमपि चाहारं मक्षिकाकृमिजन्तुभिः ।
केशलोमनखैर्वापि दूषितं परिवर्ज्येत् ॥
दूषितं केशकौटैश्च माज्जारैर्मूषिकैस्तथा ।
मक्षिकामशकैश्चैव त्रिरात्रं तु व्रतो भवेत्” ॥

कामकृतविषयमेतत् । तथा सुमन्तुः,—“नखकेशरुधिरप्राशने कुश-
हिरण्योदकप्राशनं । इदं च विहितमकामकृतानभ्यासवतां” । इति ।

तथा भोजनकाले गुदस्नावप्रायश्चित्ते आपस्तम्बः,—

“रेतो-मूत्र-पुरीषाणामुत्सर्गश्चेत्-प्रमादतः ।

तत्रादौ च प्रकर्तव्या तेन शुद्धिर्मृदम्बुभिः” ॥

एतदप्य-निगीर्णग्रासे ।—

तथापस्तम्बः,—

“मुञ्जानस्य तु विप्रस्य कदाचित् स्रवते गुदं ।

उच्छिष्टमशुचित्वं च प्रायश्चित्तं कथं भवेत् ॥

आदौ कृत्वा तु शौचं वै ततः पञ्चादुपस्पृशेत् ।

अहो-रात्रो-षितो भूत्वा पञ्चरात्रेण शुध्यति” ॥

उपस्पृशेदाचामेत् ।— उच्छिष्टमिति भावे क्तः उच्छिष्टत्वमित्यर्थः ।

तथा बृहशतातपः,—

“निगिरन् यदि मेहेत भुक्ते वा मेहने कृते ।

अहोरात्रो-षितो भूत्वा जुहुयात् सर्पिषाहुतीः” ॥

एतदुभयं सकृन्निगीर्ण-ग्रासे । उपस्पृशेत् स्नायात् उपवसेदपरदिने सङ्कल्प-
कृत्वेत्यर्थः ।”

अभ्यस्तग्रासाशने बृहशतातपः,—

“मूत्रोच्चारसमुत्सर्गे मोहाद्भुक्तोऽथवा पिवेत् ।

त्रिरात्रं तत्र कुर्वीत इति शातातपोऽब्रवीत्” ॥

तथा भोजनकाले समुपस्थितसूतकाव्यशीचे प्रायश्चित्तमाह बृहशतातपः,—

“यदा भोजनकाले तु अशुचि-र्भवति द्विजः ।

भूमौ निक्षिप्य तद्ग्रासं स्नात्वा विप्रो विशुद्ध्यति ॥

भक्षयित्वा तु तद्ग्रासमहोरात्रेण शुद्ध्यति ।

अशित्वा सर्वमेवान्नं त्रिरात्रेण विशुद्ध्यति” ॥

“अशुचिः सूतकादिनेत्यर्थः,—” । तथा परिहितनीलीवस्त्रस्य भोजने—

प्रायश्चित्तमाह शङ्खः,—

“नीलीवस्त्रं परिधाय भुक्त्वा स्नानार्हकस्तथा ।

त्रिरात्रं तु व्रतं कुर्याच्छ्रित्वा गुल्मलतां तथा” ॥

इदमज्ञानतो, ज्ञानतस्तु द्वैगुण्यं । स्नानार्हकः तैलाभ्यङ्गादिनिमित्तेन-
स्नानार्हः अज्ञतज्ञान इत्यर्थः ।”

तथा स्वकीयोच्छिष्टप्राशने प्रायश्चित्तमाह-शातातपः,—

“उच्छिष्टमगुरोरभोज्यं स्वयमुच्छिष्टोपहतञ्च” ।

गुरुः पित्रादिः । अतएव ब्रह्मपुराणे,—

“माता-पितृभ्यां संभुक्तं श्रेष्ठं वा ब्रह्मचारिणा” ।

भोक्तव्यमिति शेषः ।

तथापस्तम्बः ।—पितुर्ज्येष्ठस्य तु भ्रातुरुच्छिष्टं भोज्यं । स्वोच्छिष्ट-
भोजने प्रायश्चित्तं । प्रायश्चित्तं विष्णुवचनात्,—कच्छपादः ।

यथा—

“अभोज्यानामपेयानामभक्ष्याणाञ्च भक्षणे ।

कच्छपादं विशुद्ध्यर्थं चरेयुः क्षिप्र-शोधनम्” ॥

“एतदज्ञानतः सकृत् । अभ्यासेतु द्वैगुण्यादिकमूहनीयं ।”

तथाऽत्रापवादमाहान्निराः,—

“ब्राह्मण्या सह योऽन्वीयादुच्छिष्टं वा कथञ्चन ।

न तत्र दोषं मन्यन्ते नित्यमेव मनीषिणः” ॥

विवाहपरमेतत् ।

तथा बृहद्वासः,—

“माता वा भगिनी वाथ भार्या वा प्रवश्योषितः ।

न ताभिः सह भोक्तव्यं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्” ॥

माता विमाता ।

तथा ब्रह्मपुराणं,—

“ब्राह्मण्या हि तथा सार्द्धं क्वचित् भुञ्जीत चाध्वनि ।
अधो-वर्णस्त्रिया सार्द्धं भुक्त्वा पतति तत्क्षणात्” ॥

तथा कुत्सितपंक्तिभोजने प्रायश्चित्तमाहाङ्गिराः,—

“यस्तु पंक्तिषु भुञ्जीत कुत्सितासु विशेषतः ।
अहोरात्रोषितः स्नात्वा पंचगव्येन शुद्ध्यति” ॥

“निन्दितब्राह्मणाद्युपवेशनेन कुत्सितासु जलादिना पंक्तिभेदमन्तरेणान्नान-
क्तविषयमिदं । ब्राह्मणः क्षत्रियपंक्त्यां तूपविश्या-संस्मृणन् यदा भुंक्ते-
तदा नक्तमाचरेत् । वैश्यपंक्त्यामेकरात्रं । शूद्रपंक्त्यां द्वयहमाचरेदिति-
विष्णुपुराणात् । अत्रासंस्मृशन्नित्यस्य सर्वत्र सम्बन्धः ।

तथा ब्रह्मपुराणं,—

“एकपंक्तिनिविष्टानां दुष्कृतं यद्दुरात्मनाम् ।
सर्वेषां तत्समं तावत्-यावत्-पंक्तिर्न भिद्यते” ॥
“भस्मस्तम्भजलद्वारमार्गैः पंक्तिञ्च भेदयेत्” ।

अज्ञानकृतविषयमिति, ज्ञाने तु द्वैगुण्यं । असंस्मृणन् जलादिना पंक्ति-
भेदेन संसर्गमकुर्वन् नित्यर्थः ।”

अनिन्दित-पंक्तिष्वपि सहभोजने एकस्योत्थानेऽप्यश्रुतां प्रायश्चित्तमाह—
शङ्कः,—

“एक-पंक्त्युपविष्टानां विप्राणां सहभोजने ।
यद्येकोऽपि त्यजेत्पात्रं शेषमन्नं न भोजयेत्” ॥
“मोहाद्भुञ्जीत यः पंक्त्यामुच्छिष्टं सहभोजनं ।
प्रायश्चित्तं चरेद्विप्रः कृच्छ्रशान्तपनं तथा” ॥

“स्रग्तपनं द्वयहसाध्यम् । अत्र पुराणैकं देयमज्ञानतः सकृत् ।”

तथा चाण्डालकूपभाण्डोदकपानप्रायश्चित्ते आपस्तम्बः,—

“चाण्डालकूपभाण्डेषु यस्त्वज्ञानाज्जलं पिवेत् ।

प्रायश्चित्तं कथं तत्र वर्णं वर्णं विधीयते ॥

चरेत्सान्तपनं विप्रः प्राजापत्यं तु भूमिपः ।

तद्वच्च तु चरेद्वैश्यः पादं शूद्रस्य निर्दिशेत्” ॥

“सान्तपने धेनुद्वयमिदमभ्यासतः” ।

अनभ्यासे तु देवलः ।,—

चाण्डालकूपभाण्डेषु यस्त्व-ज्ञानाज्जलं पिवेत् ।

स तु वाहेण शुद्धेयत शूद्रस्त्वे-केन शुद्ध्यति” ॥

तथाऽन्यखानितचाण्डालपरिगृहीतकूपादावङ्गिराः,—

“चाण्डालपरिगृहीतं यो ह्यज्ञानादुदकं पिवेत् ।

तस्य शुद्धिं विजानीयात्-प्राजापतेन नित्यशः” ॥

एतदभ्यासे । आपदि त्वापस्तम्बः,—

“श्वपाकचाण्डालपरिग्रहेषु पीत्वा जलं शुद्ध्यति पञ्चगव्यैः” ॥

पञ्चगव्यपानं पूर्व्वेद्युक्तपोषेत्यर्थः ।

तथापस्तम्बः,—

“अन्यजैः खानिताः कूपास्तङ्गागानि तथैव च ।

एषु स्नात्वा च पीत्वा च पञ्चगव्येन शुद्ध्यति” ॥

“पञ्चगव्यपानमुपवासपूर्वं व्रतरूपत्वात्, एतदज्ञानतः, ज्ञानतो हेतुः” ।

यत्तु ब्रह्मशातातपवचनं,—

“अन्यैरपि कृते कूपे सेतौ वाप्यादिके तथा ।

तत्र स्नात्वा च पीत्वा च प्रायश्चित्तं न विद्यते” ॥

इति तदत्यन्तापद्विषयं ।

तथा विष्णुसंस्पृष्टकूपजलपाने प्रायश्चित्तमाहाङ्गिराः,—

“कूपे विष्णुसंस्पृष्टे पीत्वा तोयं द्विजोत्तमः ।

विरागेण विशुद्धेऽक्षु कुम्भे सान्तपनं स्मृतम्” ॥

तत्र धेनुद्वयं । ज्ञाने तु लघुविष्णुः,—

“आपो मूत्रपरौषाद्यौर्दूषिताः प्राशयेद्-यदि ।

तदा सान्तपनं प्रोक्तं ब्रतं कायविशुद्धये” ॥

“एतत् कूपादिस्वल्पजलाशये रसाद्यनुपलब्धौ कुम्भे त्वेतदेव द्विगुण-
सुक्तहेतोः” ।

विष्णुः,—

“जलाशयेष्वथाल्पेषु स्थावरेषु महीतले ।

कूपवत्-कथिता शुद्धिर्महत्सु च न दूषणम्” ॥

अल्पेषु जलाशयेषु पल्लववाप्यादिषु स्थावरेषु स्थिरेषु न त्वल्पेष्वपि स्तोतो-
जलेष्वित्यर्थः ।

अतएव हारीतः,—

“अक्षोभ्यानामपां नास्ति प्रसृतानाञ्च दूषणम् ।

स्तोकानामुद्धृतानाञ्च दोषैर्दृष्टत्वमिष्यते ॥

प्रसृतानां स्तोतोजलानामित्यर्थः । महत्स्वप्नशुचिसंसर्गशङ्कया तीर्थ-
समीपे तोयग्रहणवर्जनमाह देवलः,—

“तत्राक्षोभ्यतडागानि नदी वापी सरांसि च ।

कश्मलाशुचियुक्तानि तीर्थतः परिवर्जयेत्” ॥

महाजलाशयस्यापि तीर्थप्रदेशे विष्णुसंस्पृष्टत्वे तदा तज्जलमपि-
वर्जयेदित्याह । महत्स्वप्नशुचिसंसर्गशङ्कयेति । तीर्थमवतरणप्रदेशः ।

तथा श्वदूषितकूपजलपानप्रायश्चित्ते विष्णुः,—

“श्वतपच्चनखात् कूपात् अत्यन्तोपहताच्चोदकं पीत्वा ब्राह्मण-

स्त्रिरात्रमुपवसेत् द्वाहं राजन्यः एकाहं वैश्यः शूद्रो नक्तं सर्वे चान्ते व्रतस्य पञ्चगव्यं पिवेयुः । अत्यन्तोपहतममेध्यादिना ।

तथा लघुहारोतः,—

“यस्तु कृपात् पिवेत्तोयं ब्राह्मणः शवद्रूषितात् ।

उपवासत्रयं कृत्वा पञ्चगव्येन शुद्ध्यति ।”

एतत् द्वयं ज्ञाने, अज्ञानेऽहं । ज्ञानत एव क्लिन्नत्वेन विशेषमाहापस्तम्बः,—

“अन्तस्थितेषु क्लिन्नेषु सर्व्वपञ्चनखेषु च ।

पिवेदपो यः कूपेषु षड्रादेण स शुद्ध्यति ॥

अक्लिन्नेषु तिरातं स्याच्छूद्राणां दिनमेव तु ॥”

“पञ्चनखेष्वभक्ष्येषु एतच्च मानुषेतरक्लिन्नशवे ज्ञेयं ।

अपरं च—“यदि चान्यानि सन्वन्तरोक्तानि अभक्ष्यभक्षणे अपेयपाने-
गुरुलघुप्रायश्चित्तानि, तानि कामाकामसङ्गदभ्यासापेक्षया—

योज्यानि द्रव्याणामानन्त्यात् प्रतिव्यक्तिषु अभक्ष्यत्वमभि—

धातुमशक्यमिति तत् स्मृत्यन्तरादेवावगन्तव्यं । शिष्टवाक्याच्च” ।

यथाह शङ्खः,—

“भक्ष्याभक्ष्याण्यनेकानि ब्राह्मणस्य विशेषतः ।

तत्र शिष्टा यथा ब्रूयुस्तथा कार्य्यो विनिश्चयः ।” इति ।

प्रमाणमिदमन्वेषामुपलक्षकं ।

तथाऽप्रजान्नभोजनप्रायश्चित्ते आपस्तम्बः,—

“नाप्रजायां तु कन्यायामश्नीयात्तस्य वै गृहे ।

मोहाद्वा यदि भुञ्जीत कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ॥”

“श्वशुरो जामातृगृहे पुत्रोत्पत्तिपर्य्यन्तं न भुञ्जीत इत्यर्थः ।”

तथा विधवादीनामामिषभक्षणप्रायश्चित्ते यमः,—

“अज्ञानात्-यदि वा ज्ञानादामिषं यदि भक्षयेत् ।

विधवा ब्राह्मणी चैव ब्रह्मचारौ विशेषतः ॥

विधवा चातिकृच्छ्रेण ब्रह्मचारौ च कृच्छृतः ।

विधवा स्वर्णदानेन ब्रह्मचारौ द्विभोजनात् ॥”

तथा वृहस्पतिः,—

“मधु मांसं यदाश्लीयाब्रह्मचारौ कथञ्चन ।

प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रं व्रतशेषं समापयेत् ॥”

इति महामहोपाध्यायशूलपाण्यादयः ।

इत्यस्यादिदूषितान्नादिभोजनप्रभृतिविवेचनं ।

अथोपपातकान्तर्गतागम्यागमनप्रायश्चित्तविचारः । तत्र सवर्णाऽस्त्रजन-
श्लीगमनप्रायश्चित्ते वर्षाणीत्यनुवृत्तौ गौतमः,—

“हे परदारौ त्रीणि श्रोत्रियस्य द्रव्यलाभे चोत्सर्गो यथास्थानं वा गमयेत् ।”
श्रोत्रियस्य सवर्णां भार्यां गत्वा त्रीणि वर्षाणि प्राकृतं ब्रह्मचर्यं चरेत् ।
अतो हे वर्षे अश्रोत्रियनिगुणब्राह्मणभार्यायां । यदि तु परदारेषु किञ्चि-
दुद्रव्यं प्राप्तं तदा तस्य परित्यागः करणीयः । यया वा दत्तं तस्या एव-
दद्यात् ।”

तथा गमनं कृत्वेत्यनुवृत्तौ यमः,—

“हे परभाष्यांसु त्रीणि श्रोत्रियपत्नीषु” एतत् कामतः सकृत् गमने-
यथापस्तम्बः । “सवर्णायामनन्यपूर्वायां सकृत् सन्निपाते पादः
पततीत्युपदिशति एवमभ्यासे द्विपादः अत्यन्ताभ्यासे त्रिपादः चतुर्थे-
सर्व्वमिति ।”

अस्यार्थः । “पुरुषान्तराव्यभिचरितसवर्णागामिनः पुरुषस्य सकृत्-
सन्निपाते पादः, पततीत्युपदिशति यस्मात् पापात् पततीत्युपदिशति-
सुनिस्तस्य पापस्य पादश्चतुर्थांशो भवतीत्यर्थः ।

एवं द्वितीयाभ्यासे चापरपादः । तृतीयाभ्यासेऽपरपादः, चतुर्थे सम्पूर्णं
भवति । तेनाथासकृदगमने त्रैवार्षिकं ।

तृतीये नववार्षिकं । चतुर्थे सम्पूर्णद्वादशवार्षिकमित्युक्तं ।”

जिह्ननस्तु ।—“सवर्णायामनन्यपूर्वायां सकृत् पुरुषान्तरसन्निपाते-

सम्यग्नेतोविसर्गरूपे अपरस्याभिगन्तुः स्वजातिविहितप्रायश्चित्तस्य पादः पतति ऋसतीत्यर्थः । एवमपरपुरुषगमने अपरपादङ्गासः । एवमपरपुरुषाभिगमने अपरपादङ्गासः । चतुर्थे स्त्रैरिण्यभिगमनप्रायश्चित्तमेव स्वजात्युक्तं कार्यमित्यर्थः ।

स्त्रैरिणीत्वञ्च पुरुषचतुष्टयगमनात्, एकपुंसश्चतुर्धाभिगमनाद्वा न विशेषः-उत्तरोत्तराभ्यासस्य हीनत्वापादकत्वात् ।

ब्राह्मणीविषयाणि चैतानि वचनानि अन्यस्यामल्पप्रायश्चित्तविधानात् । तथा शङ्खलिखितौ,—

“अन्यथा वैश्यायामबकीर्णं सम्बत्सरं तिसवनमनुतिष्ठेत् । क्षत्रियायां द्वे वर्षे, ब्राह्मण्यां त्रीणि, वैश्यावच्छूद्रायां ।” अन्यथेति स्त्रैरिणीत्वभावइत्यर्थः । स्त्रैरिणीप्रायश्चित्तस्य संहितायां पूर्वमुक्तत्वात् । तेन ब्राह्मणस्य ब्राह्मण्यां श्रोत्रियस्य भार्यायां त्रैवार्षिकम् । क्षत्रियस्य क्षत्रियभार्यायां द्वैवार्षिकं, वैश्यस्य वैश्यभार्यायां वार्षिकं । शूद्रस्य पञ्चयज्ञानुष्ठायिन्याय-वत्तत्तशूद्रभार्यायां वार्षिकमेव ।

यथा मनुः,—

“शूद्राणां मासिकं कार्यं वपनं न्यायवर्तिनां ।

वैश्यवच्छोचकल्पश्च द्विजोच्छिष्टं च भोजनं ।”

“अन्यशूद्रागमने पाण्डासिकं, यत्तु वौधायनवचनं पुंसां ब्राह्मणादीनां सम्बत्सरं ब्रह्मचर्यं । शूद्रं कटाग्निना दहेदिति । तत् ब्राह्मणस्यात्यन्त-निर्गुणब्राह्मणपत्नीगामिनः साम्बत्सरिकमेव विधत्ते । क्षत्रियस्य निर्गुण-क्षत्रियपत्नीगमने तदेव । वैश्यशूद्रयोरपि साम्बत्सरिकमेव । शङ्ख-लिखितसमानार्थं । शूद्रन्तु दर्पात् सहृत्तशूद्रपत्नीगामिनं कटादिना दहेत् ।

अतएव परस्त्रीसंग्रहणे ब्रह्मसतिः,—

“उत्कृत्य लिङ्गवृषणौ भ्रामयेद् गर्हभेन तु” । इति —

अतो ब्राह्मणस्य सकृदज्ञानतोऽस्वजनश्रोत्रियब्राह्मणपत्नीगमने त्रैवार्षिकं-व्रतं तदशक्तौ पञ्चचत्वारिंशद्देनवो दातव्याः । वारचतुष्टयगमने द्वादश-

वार्षिकमज्ञानतस्तद्वैमिति ।” तथा क्षत्रियादिस्त्रीणामानुलोभ्येन गमने प्रायश्चित्तं । तत्र यदेव सवर्णपुरुषगमनप्रायश्चित्तं तदेव पादपादहीन-कार्यं ।

यथा स्त्रीव्यभिचारे ब्रह्मप्रचेताः,—

“आनुलोभ्येन विहितं कृच्छ्रं पादावरोपितं ।

इति कृच्छ्रं महाव्रतं तच्च सजातीयगमने, यदुक्तं तदुक्तमेवाधमाया गमने-पादपादहीनं कार्यमित्यर्थः ।

तेन ब्राह्मणस्य क्षत्रियागमने द्विवार्षिकं पादहीनं, वैश्यागमने वार्षिकं पादद्वयहीनं षाण्मासिकव्रतमिति यावत् । विशिष्टशूद्रागमनेऽप्येवं । अधम-शूद्रागमने षाण्मासिकं पादत्रितयहीनं सार्द्धमासिकमित्यर्थः ।

एवं क्षत्रियस्य वैश्यागमने नवमासिकं सच्छूद्रागमनेऽप्येवं । अधम-शूद्रागमने षाण्मासिकपादद्वयहीनं त्रैमासिकं, वैश्यस्य सच्छूद्रागमने-वार्षिकमेव वैश्यवदुभावात्, अधमशूद्रागमने सार्द्धचातुर्मासिकं ।

तथा शूद्रादीनां प्रतिलोभस्त्रीगमनप्रायश्चित्ते वशिष्टः,—

“शूद्रश्चेद्ब्राह्मणीमभिगच्छेद्द्वैरणदलैर्वैष्टयित्वा शूद्रमग्नौ प्राश्नेत् ।

ब्राह्मण्याः शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषाऽभ्यज्य नग्नां खरमारोप्य-महापथमनुब्राजयेत्, पूता भवतीति विज्ञायते । वैश्यश्चेत् ब्राह्मणी-मभिगच्छेत् लोहितदलैर्वैष्टयित्वा वैश्यमग्नौ प्राश्नेत् । ब्राह्मण्याः शिरसि-वपनं कारयित्वा सर्पिषाभ्यज्य नग्नां खरमारोप्य महापथमनुसंब्राजयेत् पूता भवतीति विज्ञायते । राजन्यश्चेद्ब्राह्मणीमभिगच्छेत् शरपत्रैर्वैष्टयित्वा-राजन्यमग्नौ प्राश्नेत् । ब्राह्मण्याः शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषाभ्यज्य नग्नां खरमारोप्य महापथमनुसंब्राजयेत्—पूता भवतीति विज्ञायते । एवं वैश्यो राजन्यायां शूद्रश्च राजन्यवैश्ययोरिति महापथमनुसंब्राज-येदिति राजमार्गेण पुनरावर्त्तयेन्निःसारयेदिति” ॥

एतत् ज्ञानतः । अज्ञानतो मरणवैकल्पिकचतुर्विंशतिवार्षिकस्याहं-दादशवार्षिकं ।

तथाच ब्रह्मत्प्रचेताः,—

“शूद्रस्य ब्राह्मणो मोहाद्ब्रह्मः शुद्धिमिच्छतः ।

पूर्णमेतद्वत् देयं मता यस्माद्वितस्य सा ॥

पादहान्यान्यवर्णेषु गच्छतः सार्व्ववर्णिकं ।

प्रायश्चित्तमिदं देयमगम्यागमने क्रमात् ॥”

“एतेन वैश्यस्याज्ञानतो ब्राह्मणीगमने नववर्षिकं, क्षत्रियस्याज्ञानतो-
ब्राह्मणीगमने षाड्वर्षिकमेवेति । अत्र धेनुमूल्यव्यवस्था सुव्यक्ता ।

यद्यपि शूद्रस्य ब्राह्मणीगमनं महापातकत्वेनोक्तं, तथा क्षत्रियवैश्ययोः-
ब्राह्मणीगमनमनुपातकत्वेन, तथापि अनुलोमस्त्रीगमनं तावदुपपातक-
मेव । तत्प्रसङ्गादसवर्णत्वेन प्रतिलोमस्त्रीगमनप्रायश्चित्तमप्युक्तमतो-
न वैषम्यमिति । तथा समीक्ष्यसवर्णद्वित्रिपुरुषव्यभिचरितसवर्णसवर्ण-
स्त्रीगमनप्रायश्चित्ते तु एकपुरुषव्यभिचरितस्त्रीगमने पतितस्त्रीसंसर्ग-
प्रायश्चित्तमेव ।”

तत्र विप्रस्य सवर्णानुलोमस्त्रीगमने सम्बर्त्तः,—

“शूद्रां तु ब्राह्मणो-गत्वा मासाह्वं मासमेव वा ।

गोमूत्रयावकाहारस्तिष्ठेत्तत्पापशुद्ध्यै ॥”

“सक्तदुग्मने मासाह्वं, अभ्यासे मासं, मासैकगोमूत्रयावकाहारे धेनुद्वयं ।”

“तथा, क्षत्रियां वाय वैश्यां वा गच्छेत् यः काममोहितः ।

तस्य सान्तपनं कृच्छ्रं भवेत्तत्पापमोचनं ॥”

सान्तपने धेनुद्वयं ।

तथा—

“विप्रामखजनां गत्वा प्राजापत्यं समाचरेत् ।”

एतच्च निवृत्तधर्मकर्मणः पत्नीगमने वेदितव्यं ।

यथा वशिष्ठः,—

“ब्राह्मणश्चेदप्रेक्षापूर्व्वकं ब्राह्मणदारानभिगच्छेत्

निवृत्तधर्मकर्मणः कच्छेऽनिवृत्तधर्मकर्मणोऽतिक्च्छः । एवं राज्य-
वैश्ययोः । क्षत्रियवैश्ययोरप्येवंभूतस्वजातीयभार्यागमने कच्छातिक्च्छौ ।

एषु द्विपुरुषव्यभिचारेणाभ्यासानभ्यासाभ्यां च विशेष जहनीयः । एतेन
पुरुषत्रयव्यभिचरितब्राह्मण्यां सकृद्गमने प्राजापत्यं । तथा प्रतिलोमब्राह्मणी-
गमने स एव । द्विपुरुषव्यभिचारितायाः प्रातिलोभ्येन गमने स एव सखर्त्त-
एव” ।

“कथञ्चित्-ब्राह्मणीं गच्छेत्-क्षत्रियो वैश्य एव वा ।

गोमूत्रयावकाहारो मासार्द्धेन विशुध्यति ॥

शूद्रस्तु ब्राह्मणीं गत्वा कथञ्चित्-काममोहितः ।

गोमूत्रयावकाहारो मासैकेन विशुध्यति” ॥

तथा हारीतः,—अभिप्लुतानुपेत्य परदारान् अधोवर्णान् वा इदमापः-
प्रवहतेत्यन्तर्जलेऽष्टशतं जप्त्वा तिलाढकं ब्राह्मणाय दद्यात् ।

एतद्विप्रेतरवर्णस्य सवर्णानुलोमस्त्रीगमनविषयं, विप्रे तु सखर्त्तेन प्राय-
श्चित्तविशेषस्योक्तत्वात् । एवं वैश्यस्य क्षत्रियागमने शूद्रस्य च क्षत्रियावैश्वा-
गमने पादपादहान्या जह्यमिति ।

“अभिप्लुतान् पुरुषत्रयव्यभिचरितान्” ।

तथा,—चातुर्वर्ण्य-स्त्रैरिणीगमनप्रायश्चित्ते शङ्खलिखितौ,—

“स्त्रैरिण्यां वृषण्यां प्रसूतोऽवकीर्णः सचेल ज्ञात—उदकुम्भं ब्राह्मणाय
दद्यात् । वैश्यायां चतुर्थकालाहारो ब्राह्मणान् भोजयेत् । क्षत्रियायां
त्रिरात्रोपोषितो यवाढकं दद्यात्, ब्राह्मण्यां त्रयहसुपोष्य घृतपात्रं दद्यात् ।
प्रकीर्णास्त्रेवमस्वतन्त्रासु स्त्रैरिणी चतुःपुरुषगामिनो प्रकीर्णा केनचिदनवरुद्धा-
अस्वतन्त्रा अनवरुद्धा द्विविधा, तदेवं स्त्रैरिणीतरयोरिदं प्रायश्चित्तमित्यर्थः ।
कल्पतरुकारस्यापि अयमेव स्वरसः ।

प्रसूत इत्यनेन स्त्रैरिण्यामपत्योत्पादनेऽपि तदेव प्रायश्चित्तं ।

एतद्विप्रेतरवर्णत्रयस्य सवर्णानुलोमप्रतिलोमस्त्रीगमनविषयम्” ।

विप्रे त्वस्मिन्नेव विषये यमः,—

“ब्राह्मणो ब्राह्मणो गत्वा द्विजे दद्यान्मृगाजिनं ।
क्षत्रियायां धनुर्दद्यात् वैश्यायामायसौं शिलां ॥
शूद्रां गत्वा तथा विप्र उदकुम्भं द्विजातये ।
विरात्रोपोषितः स्नात्वा दद्यात्-सम्भार्जनौ तथा” ॥

तत्र विरात्रोपोषित इति सर्वत्र सम्बध्यते । एतत् समोत्तमवर्णमात्र-
व्यभिचरितस्त्रैरिण्या गमने ज्ञेयं । शूद्रान्धजादिगामिन्यान्तु महापातकश्रवणात्-
अभिगन्तुर्महापातकप्रायश्चित्तमेव ।

तथा याज्ञवल्क्यः,—

“नौचाभिगमनं गर्भपातनं भर्तृहिंसनम् ।
विशेषपतनौयानि स्त्रीणामेतान्यपि ध्रुवम्” ॥

तथा बृहस्पतिरपि,—

“हीनवर्णोपभुक्ता या त्याज्या बध्यापि वा भवेत्” । इति ।

तथा चातुर्वर्ण्यबन्धकीगमनप्रायश्चित्ते प्रचेताः,—

“बन्धकीगमने उपसृत्य प्राणायामं कुर्यात् ।

ब्राह्मणो बन्धकीगमने कमण्डलुं दद्यात् । क्षत्रियबन्धकीं गत्वाऽऽयुधं ।
वैश्यबन्धकीं गत्वा प्रतोदं । उत्तरोत्तरवर्णत्रयोपादानात् स्नानपुरःसरः प्राणा-
यामः शूद्रबन्धकीविषयः, एतत् सवर्णानुलोमप्रतिलोमविषयं विशेषाश्रवणात् ।
बन्धकी च स्वभर्तृव्यतिरिक्तपञ्चपुरुषगामिनी, स्त्रैरिणी चतुःपुरुषगामिनी” ।

तथा महाभारतीयादिपर्वणि,—

“पाण्डुस्तु पुनरेवैनां एवलाभान्महायशः ।
वक्तुमैच्छद्भर्मापत्नीं कुन्तीत्वेनमथाब्रवीत् ॥
नातश्चतुर्थं प्रसवमापत्स्वपि वदन्तुत ।
अतःपरं स्त्रैरिणी स्यात्पञ्चमे बन्धकी तथा ॥”

अत्यन्ताभ्यस्तबन्धकीगमने प्राजापत्यं ।

यद्योशनाः,—

“यत्रोक्तं यत्र वा नोक्तमिह पातकनाशनं ।

प्राजापत्येन कृच्छ्रेण शुद्ध्यते नात्र संशयः ॥”

तथा वैश्यागमनप्रायश्चित्ते सख्यर्तः,—

“पशुवैश्यागमने प्राजापत्यं । तेन वैश्योपगमने प्राजापत्यं । तदशक्तौ-
धेनुरेका देया । एतत् सक्तदृगमने, अभ्यासे तु, “चान्द्रायणेन चैकेन सर्वपाप-
क्षयो भवेत् ॥” इत्यापस्तम्बवचनाच्चान्द्रायणं ।

तथा रजस्वलाभिगमनप्रायश्चित्ते शङ्खलिखितौ,—

“रजस्वलावधूतागमने त्रिरात्रोपवासो घृतप्राशनञ्च कुर्यात् । अवधूता ।
उन्मत्ता ।”

याज्ञवल्क्यः,—

“त्रिरात्रान्ते घृतं प्राश्य गत्वोदक्यां शुचिर्मवेत् ॥”

त्रिरात्राशक्तौ चतुर्विंशतिपणाः देयाः । एतत्कामतः सक्तदृगमने,
अभ्यासे तु द्वैगुण्यादिकं ।

यथा मनुः,—

“अमानुषीषु पुरुष उदक्यायामथोनिषु ।

रेतः सिक्ता जले चैव कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ॥”

“सान्तपने धेनुद्वयं मनुनोक्तत्वात् । अमानुषीषु वड्वाव्यासु अथोनिषु-
स्त्रिया अपि योनीतरस्थानेषु ।” यत्तु,—शातातप आह,—

अनुदकमूत्रपुरीषकरणे सचेलक्षानं महाव्याहृतिहोमश्च रजस्वलाभि-
गमने चैतदेव । तत्प्रमादतो गमने रेतःसेकात् प्राक् ।

यच्च ब्रह्महत्यानुवृत्तौ शङ्खः,—

“पादैकं शूद्रहत्याथामुदक्यागमने तथा ।

गोवधे च तथा कुर्यात् परस्त्रीगमने तथा ॥”

तद्द्विपूर्वक-सानुवन्धात्यन्ताभ्यासे वेदितव्यमिति धर्मप्रदीपः ।

तथर्त्तौ भार्याभग्नमनप्रायश्चित्ते विष्णुः,—

“पर्वानारोग्यवर्जस्तवावगच्छन् पत्नीं त्रिरात्रमुपवसेत् ।”

तथाच ब्रह्मसूतिः,—

“ऋतौ भार्यां न गच्छेद्यः सोऽपि कृच्छार्द्धमाचरेत् ॥”

एतदप्रोक्षितस्य नीरुजः ज्ञानदिनात् प्रभृति द्वादशदिनाभ्यन्तरे-
पर्वव्यतिरिक्ते सहाजज्ञाने वेदितव्यं, कृच्छार्द्धाशक्तौ चतुर्विंशतिपणा देयाः ।

तथा, सम्बर्त्तः,—

“ऋतौ नोपैति यो भार्यां नियतां ब्रह्मचारिणीं ।

नियमातिक्रमात्तस्य प्राणायामशतं स्मृतं ॥”

एतदज्ञानविषयं, ज्ञानाभ्यासे प्राजापत्यं ।

तथा पर्वसु स्त्रीगमनप्रायश्चित्ते वराहपुराणं,—

“षष्ठ्याष्टमौममावास्यामुभे पक्षे चतुर्दशी ।

मैथुनं नैव सेवेत द्वादशौ च मम प्रियां ॥”

तथा विष्णुपुराणं,—

“चतुर्दश्यष्टमौ चैव अमावस्याथ पूर्णिमा ।

पर्वण्येतानि राजिन्द्र ! रविसंक्रान्तिरेव च ॥

स्त्रीतैलमांससम्भोगौ पर्वस्वे तेषु यो नरः ।

विषमूत्रभोजनं नाम प्रयाति नरकं मृतः” ॥

तथाच मनुः,—

“अमावस्याष्टमौ चैव पौर्णमासौ चतुर्दशी ।

ब्रह्मचारौ भवेन्नित्यमप्युतौ ज्ञातको द्विजः ॥”

तथा प्रायश्चित्ते मनुः,—

“वेदोदितानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे ।

ज्ञातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनं ॥”

“स्नातको गृहस्थः । अभ्यासे कृच्छ्रमत्यन्ताभ्यासे चाङ्गायणमनिर्दिष्ट-
पापोक्तं ज्ञेयं । तथा आह्वादिनमैथुनप्रायश्चित्ते विष्णुपुराणं,—

“आह्वे नियुक्तो भुक्त्वा वा भोजयित्वा नियोज्य च ।

व्यवायी रेतसो गत्तुं मज्जयत्यात्मनः पितृन् ॥”

“अत्रापि स्नातकव्रतलोपत्वादभोजनमेव प्रायश्चित्तं ।”

तथा दिवामैथुनप्रायश्चित्ते शङ्खः,—

“दिवे तु मैथुनं गत्वा नग्नः स्नात्वा तथान्धसि ।

नग्नां परस्त्रियं दृष्ट्वा दिनमेकं व्रतौ भवेत्” ॥

एतत् सकृदभ्यासे त्वावृत्तिः, व्रतौ यावत्तेन नग्नपरस्त्रीदर्शने कामतो-
ज्ञेयम् ।

तथा हारीतः,—

“अजीर्णवान्तश्मश्रुकर्मायोनिपशुदिवामैथुनगमने च” । “अयोनि-
पशुदिवशब्दानां प्रत्येकं मैथुनगमनशब्देन सम्बन्धः । मैथुनप्राप्तावित्यर्थः ।

तथा मनुः,—

“मैथुनन्तु समासेव्य गोयानेऽप्यु दिवापि वा ।

स्नात्वा वस्त्रैर्जपित्वाऽप्याः प्राणायामेन शुध्यति” ॥

यानि वस्त्राणि परिधाय मैथुनं कृतं तैर्वस्त्रैः सह स्नात्वा आप्याः ‘देवीराप’-
इति ऋचो जपित्वेत्यर्थः ।

तथा यमः,—

“यदि गोभिः समायुक्तं यानमारुह्य वै द्विजः ।

मैथुनं सेवते तत्र तस्य स्वायम्भुवोऽब्रवीत्” ॥

द्विरात्रक्षपणं कृत्वा सचेलं स्नानमाचरेत्” ॥

तथा मनुः,—

“मैथुनं यः समासाद्य पुंसि योषिति वा द्विजः ।

गोयानेऽप्यु दिवा चैव सवासाः स्नानमाचरेत्” ॥

अत्र शुक्लवृक्षकल्पना सगुणनिर्गुणादिविषयतया व्यवस्थातव्या ।

तथा—स्वधर्मपत्नीमुखमैथुनप्रायश्चित्ते,—

“यस्तु पुनर्ब्राह्मणो धर्मपत्नीमुखमैथुनं सेवते स दुष्यतीति वैवस्वतः,—

तथा

“यस्तु पाणिगृहीताया मुखे कुर्वीत मैथुनं ।

तस्येह निष्कृतिर्नास्तीत्याह पारस्करो मुनिः ॥”

इदं सार्वत्रिकम् ।

तथाच याज्ञवल्क्यः,—

“प्राणायामं जले स्नात्वा खरयानोष्ठयानगः ।

नग्नः स्नात्वा च सुप्ता च गत्वा चैव दिवानिशम्” ॥

अन्नानादिष्टे शतमिति वचनात् प्राणायामशतं ज्ञेयं तदेतेषां विकल्पः ।

तथा स्त्रीव्यभिचारप्रायश्चित्ते मनुः,—

“विप्रदुष्टां स्त्रियं भर्ता निरुन्ध्रादेकवेश्मनि ।

यत् पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद्ब्रतं” ॥

“निरुन्ध्रादिति अङ्गसंस्काररहितां मलिनां भूमिशायिनीं प्राणधारण-
निमित्तमात्राहारां परिभृतां कृत्वा अपृथक्वेश्मनि ऋतुपर्यन्तं भर्ता
स्थापयेत्” ।

तथा च याज्ञवल्क्यः,—

“हृताधिकारां मलिनां पिण्डमात्रोपजिविनौ ।

परिभृतामधःशय्यां वासयेद्-व्यभिचारिणौ ॥

व्यभिचारे ऋतौ शुद्धिर्गर्भे त्यागो विधौयते ।

गर्भभर्तृबधादौ तु तथा महति पातके” ॥

यस्मिन् व्यभिचारे गर्भो भवति तत्र परित्याग एव । यदा सगर्भे-
व्यभिचरति तदा गर्भे निःसृते प्रायश्चित्तं कुर्यात् ।

यथा ऋषयः,—

“अन्तर्वत्नी तु युवतिः कामिता यान्ययोनिना ।
 प्रायश्चित्तं नैव कुर्यात् यावद्गर्भो न निःसृतः ॥
 न प्रभावं गृहे कुर्यान्न चाङ्गादिप्रसाधनं ।
 न शयीत समं भर्ता न वा भुञ्जीत बान्धवैः” ॥
 “प्रायश्चित्तं सृते गर्भं विधिं कृत्वाब्धिकं चरेत् ।
 हिरण्यमथवा धेनुं दद्यात्-विप्राय दक्षिणाम्” ॥

“अन्ययोनिना असम्बन्धिना आह्निकमिति प्रदर्शनार्थं, यत् पुंसः-
 परदारिष्वित्यनेन त्रैवार्षिकविषये त्रैवार्षिकं, द्विवार्षिकविषये द्विवार्षिकं,
 एकवार्षिकविषये एकवार्षिकमित्येवमादि प्रायश्चित्तमुक्तं ।”

तथाच ब्रह्मसूत्रिः,—

“यत् पुंसः परदारेषु समानेषु व्रतं स्मृतम् ।
 व्यभिचारे तु भर्तुः स्त्री तदशेषं समाचरेत्” ॥

“समानेषु सर्वेषु समानग्रहणं हीनवर्णव्यभिचारेऽधिकप्रायश्चित्तदानार्थं-
 न तूत्तमाधमव्यभिचारे प्रायश्चित्तनिषेधार्थं । अशेषमिति स्त्रीत्वादहं नास्तीति,-
 तेन त्रैवार्षिकाशक्तौ पञ्चचत्वारिंशद्वेनो देयाः, तदशक्तौ पञ्चविंशदुत्तरपुराण-
 शतमूल्यं काञ्चनं देयं ।”

तथा महापातकिगमनेऽङ्गिराः,—

“व्रतं यच्चोदितं पुंसां पतितस्त्रीनिषेवणात् ।
 तच्चापि कारयेन्मूढां पतितासेवनात् स्त्रियं” ॥

तथाऽनिच्छन्त्या बलात्कारोपभोगे तु ब्रह्मसूत्रिराह,—

“अनिच्छन्तौ तु या भुक्ता गुप्तां तां कारयेद् गृहे ।
 मलिनाङ्गौमधःशय्यां पिण्डमात्रोपजौविनौ” ॥

“कारयेन्निष्कृतिं कृच्छ्रं पराकं वा समङ्गतां ।

हीनवर्णोपभुक्ता या त्याज्या वध्यापि वा भवेत्” ॥

“समङ्गतामिति समानजातीयामित्यर्थः ।

अत्र सक्तद्वगमने प्राजापत्यं, द्विरभ्यासे पराकः । त्रिरभ्यासे चान्द्रायणं” ।

यथोशनाः,—

“व्यभिचारिणीं भार्यां कुचेलपिण्डभूतां निवृत्ताधिकारां चान्द्रायण-
पराकं प्राजापत्यं वा कारयेत् यदि तु क्षत्रियवैश्यशूद्रैरनिच्छन्ती ब्राह्मण्युप-
भुक्ता पश्चात्तदनुरक्ता भवेत्, तद्विषयं ब्रह्मस्यतिवचनमिति धर्मप्रदीपः ।”

अतएवानिच्छन्तीगमनमात्रे स्त्र्यप्रायश्चित्तमाह सम्बर्त्तः,—

“धलात् प्रमथ्य मुक्ता चेत् दह्यमानेन चेतसा ।

प्राजापत्येन शुद्धिः स्यात्तत्तस्याः पावनं परं ॥

यदि तु ब्राह्मणी गच्छेत् क्षत्रियं वैश्यमेव वा ।

गोमूत्रयावकैर्मासात्तदर्द्धाच्च विशुद्धाति ॥

ब्राह्मण्याः शूद्रसम्पर्को कथञ्चित् समुपागते ।

चान्द्रायणेन शुद्धिः स्यात्तदस्याः पावनं स्मृतं” ॥

“अत्र वलाद्रजकादिगते जाते शूद्रगमनप्रायश्चित्तादधिकं धेनुचतुष्टयं-
बोधव्यं विषमशिष्टत्वात् सार्द्धमात्रेण षड्धेनवः ।” विषमशिष्टत्वादिति-
मासादर्द्धाच्चेति विषमशिष्टत्वात् ।

यच्च मनुः,—

“सा चेत्-पुनः प्रदुष्येत्तु सदृशेनोपयन्विता ।

कृच्छ्रं चान्द्रायणञ्चैव तदस्याः पावनं स्मृतम्” ॥

तदप्यनिच्छन्त्या एव चतुर्थाभ्यासविषयं ।

यत्तु कृच्छ्रशुद्धवचनं,—

“वलेन कामिता नारी सवर्णेन कथञ्चन ।

प्रायश्चित्तं चिराच्च वै तस्याः शुद्ध्यर्थमादिशेत्” ॥

कामिता स्यादथान्यैर्यथा सा क्लृप्ताब्दं समाचरेदिति” ॥

तदपि सवर्णेन बलादभुक्ताया रेतःसेकात्पूर्वं त्रिराच' अन्यैश्चाण्डालादिभिश्च-
बलादभुक्ताया रेतःसेकपर्यन्तगमने क्लृप्ताब्दमिति धर्मप्रदीपः,—

अनिच्छन्तीविषय एव बलात्कारगमने रेतःसेकात् प्राक् चान्द्रायण-
माह—सम्बर्त्तः,—

“चाण्डालं पुक्कसं म्लेच्छं शूद्रपाकं पतितं तथा ।

एतान् गत्वा स्त्रियः श्रेष्ठाः कुर्युश्चान्द्रायणं परम् ॥”

“यानि चान्यानि गुरुलघुप्रायश्चित्तानि तानि एवंविधविषय एव यथा-
योग्यं व्यवस्थेयानि ।”

परित्यागमाह अङ्गिराः,—

“चतसस्तु परित्याज्याः शिष्यगा गुरुगा तथा ।

पतिव्री च विशेषेण जुङ्गितोपगता च या ॥”

“जुङ्गितः कुत्सितः होनवर्ण इत्यर्थः । गुरुशिष्यौ स्वामिसम्बन्धिनौ-
एतत् सर्वं स्वेच्छागमनविषयम् ।”

तथान्तरजस्त्रीगमनप्रायश्चित्ते सम्बर्त्तः,—

“नटीं शैलूषिकीञ्चैव रजकीं वेणुजीविनीम् ।

गत्वा चान्द्रायणं कुर्यात्तथा चर्म्मोपजीविनीं ॥”

एतदज्ञानतः सक्तदुग्मनविषयं । तेन अज्ञानतः सक्तदुग्मने चान्द्रायणं-
तदशक्तो अष्टौ धेनवः । शैलूषश्च । “वृत्त्यन्वेषी नटानान्तु स तु शैलूषकः स्मृतः”—
इति ब्रह्मपुराणोक्तः ।

ज्ञानतः सक्तदुग्मने सम्बर्त्तः,—

“रजकव्याधशैलूषवेणुचर्म्मोपजीविनाम् ।

कामतस्तु यदा गच्छेच्चरेच्चान्द्रायणद्वयम्” ॥ इति ।

“तद्विद्विपूर्वकद्विरभ्यासविषये कच्छान्दं, अज्ञाने चान्द्राणद्वयं विदधाति ।”
यच्च यसवचनं,—

“रजकश्चर्म्मकारश्च नटो वरुड एव च ।

कैवर्त्तोभेदभिलाश्च सप्तेते अन्यजाः स्मृताः ॥

एतेषां च स्त्रियो गत्वा मुक्ता च प्रति गृह्य च ।

पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात्साम्यन्तु गच्छति” ॥

भिक्षो गण्डवारः, वरुडः कोष्ठभूर इति प्रसिद्धः, तत् शूद्राभ्रमसंश्रुत-
रजकादिस्त्रीषु चतुर्विंशतिधाभ्यस्तगमने पतितत्वात्द्वादशवार्षिकव्रत-
प्रायश्चित्तं विदधाति चतुर्विंशतिधागमनैश्चतुर्विंशतिश्चान्द्रायणानि भवन्ति-
चतुर्विंशत्या तु चान्द्रायणैर्द्वादशवार्षिकव्रतस्य समानत्वात् चतुर्विंशतिधाभ्या-
सकृते ज्ञानतो रजकादिस्त्रीगमने तत्समानत्वाद्द्विगुणद्वादशवार्षिकरूप-
प्रायश्चित्ते कृतेऽपि अव्यवहार्यतेत्यर्थः इति शूलपाणिमतं । तत्तु खण्डितं-
पूर्वतः । प्रायश्चित्ताभावपरत्वे तु तत्संसर्गिणः प्रायश्चित्तव्यवस्था न स्यात्-
अतोऽज्ञानतः सकृद्रजकादिस्त्रीगमने चान्द्रायणं । तदशक्तौ धेन्वष्टकं देयं ।”

तथा कापालिकस्त्रीगमनप्रायश्चित्ते—आपस्तम्बः,—

“कापालिकान्नभोक्तृणां तन्नारौगामिनां तथा ।

ज्ञानात्कच्छान्दमुद्दिष्टमज्ञानादेन्दवद्वयम् ॥”

“अत्र ज्ञाने त्रिंशद्वेनवः, अज्ञाने पञ्चदशधेनवः । इदमुपलक्षकं वेद-
वह्निभृतसाम्प्रदायिकानां ।” इति शूलपाणिः ।

इत्यगम्यागमनादिप्रायश्चित्तविवेचनं ।

—o—

अथ तिर्यग्योनिगमनप्रायश्चित्तविचारः ।

तत्र शङ्खलिखितौ,

“तिर्यग्योनिषु गोवर्जं सचेलः स्नात्वा तु यवसभारं गोभ्यो दद्यात् ।”

इदमज्ञानतः सकृद्गमने । तथा सख्यर्त्तः,—

“पशुवेष्ट्याभिगमने प्राजापत्यं विधीयते” ।

“इदमभ्यासतः वेष्ट्यायां सकृद्देव, प्राजापत्याशक्तौ धेनुरेका देया ।”

यत्तु जावालवचनं,—

“द्वुतरेषां पशूनां तु कृच्छ्रपादो विशोधनं” ।

तद्वितीयाभ्यासविषयं एवं यानि अन्यानि मुन्यन्तरोक्तगुरुलघुप्रायश्चित्तानि-
तानि अभ्यासे रेतःसेकात् पूर्व्वं गमने योज्यानि ।”

तथा गोगमनप्रायश्चित्ते विष्णुः,—

“गोव्रतं गोगमने च, इदं च गोव्रतं—गोवधोक्तं मासिकं विष्णूक्त-
मिदं सकृद्गमने, अत्र धेनुचतुष्टयं देयम्” ।

शङ्खलिखितौ,—

“ गोष्ववकीर्णः सख्यत्सरं प्राजापत्यं चरेत् ।” “इदमभ्यासेऽत त्रिंश-
द्देनवः ।” तथा गोतमः,—

“गवि तु गुरुतल्पसमः” । “अनेन द्वादशवार्षिकमत्यन्ताभ्यासे । निरन्तरं-
वर्षाभ्यासे सरणान्तिकं । यानि स्मृत्यन्तरोक्तानि लघुप्रायश्चित्तानि, तानि गवां-
ग्रहणमात्रविषयाणि” । इति शूलपाणिप्रभृतयः ।

इत्यगम्यागमनान्तर्भूततिथ्यग्योनिगमनप्रायश्चित्तविवेचनं ।

अथ ब्राह्म्यप्रायश्चित्तविचारः,—

तत्र मनुविष्णु,—

“येषां द्विजानां सावित्री नानुतिष्ठेद्यथाविधि ।

तांश्चारयित्वा त्रीन् कृच्छ्रान् यथाविध्युपनाययेत् ॥”

“प्राजापत्यत्रये धेनुत्रयं, एतत् पिढमातरहितस्य निःस्वजनस्य सावित्री-
पाते । आलस्यानवधानादिना तु सावित्रीपाते ।

यान्नवल्क्यः,—

“आषोडशाच्च द्वाविंशाच्चतुर्विंशाच्च वत्सरात् ।

ब्रह्मचरविशां काल-औपनायनिकः परः ॥

अत-ऊर्ध्वं पतन्त्येते सर्वधर्मवहिष्कृताः ।

सावित्रीपतिता ब्राह्म्या ब्राह्म्यस्तोमाहते क्रतोः ॥”

आङ्घ्र्यान् मर्यादावचनत्वं तेन ब्राह्मणस्य षोडशवर्षस्य मर्यादाभूतत्वात्-
पञ्चदशाब्दपर्यन्तं कालः । एवं राजन्यवैश्ययोरेकविंशतित्रयोविंशतिवर्ष-
यावत् कालद्वयं, एतच्चानन्तरं यमवचने स्फुटीभवित्यति अत्रैव विषये-
ब्राह्म्यस्तोमं वैकल्पिकं दिनत्रयाधिकमासचतुष्टयं समाप्योद्दालकव्रतमाह—
वशिष्टः,—

“पतितसावित्रीक उद्दालकव्रतं चरेत् । द्वौ मासौ यावत्केन वर्त्तयेत् मासं-
पयसा अर्द्धमासमाभिचया अष्टरात्रं घृतेन षड्रात्रमयाचितं त्रिरात्रमवभृच्च-
अहोरात्रमुपवसेत् अश्वमेधावभृथं वा गच्छेत् ब्राह्म्यस्तोमेन वा यजेत, आमिच्चा-
च “आमिच्चा सा शृतोष्णे या क्षीरे स्यादधियोगत”-इत्यभिधानोक्ता,—
अत्र द्विमासयावकव्रते धेनुचतुष्टयं, मासैकक्षीरपाने सपादधेनुत्रितयं, पञ्चमा-
मिच्चाशने त्वेकधेनुः, क्षीरादामिच्चायाः कठिनत्वेन वलहेतुत्वात्, अष्टरात्रं-
घृतपाने अर्द्धधेनुः, त्र्यह्रावभक्षणे एकाहोरात्रोपवासाभ्यां मिलित्वा अर्द्ध-
धेनुः एवं सपादनवधेनवः स्युः, अस्य चोत्कृष्टगोदानसहितचान्द्रायण-
तुल्यत्वेनैतद्विषयं ।

एवं शङ्खलिखितौ,—

“ब्राह्म्यश्चान्द्रायणं चरेत्, गोदानं च कुर्यादिति ।”

देशोपप्लवादिना पतितसावित्रीके यमः,—

“पतिता यस्य सावित्री दशवर्षाणि पञ्च च ।

ब्राह्मणस्य विशेषेण तथा राजन्यवैश्ययोः ॥

प्रायश्चित्तं भवेत्तेषां प्रोवाच वदतां वरः ।

विवस्वतः सुतः श्रीमान् यमो धर्मार्थतत्त्ववित् ॥

सशिखं वपनं कृत्वा व्रतं कुर्यात् समाहितः ।

हविष्यं भोजयेदन्नं ब्राह्मणान् सप्त पञ्च वा ॥

एकविंशतिरात्रं तु पिवेत् प्रसृति यावकं ।

ततो यावकशुद्धस्य तस्योपनयनं स्मृतं ॥”

“अत्रैकविंशतिरात्रे यावकप्रसृतिपाने मासपयःपानतुल्यत्वात् सपाद-
धेनुत्रयमेव” । तथाऽस्मिन्नेव विषये अतिक्रान्ते काले ब्राह्म्याधिकारे हारीतः,—

“तेषां प्रायश्चित्तं मासं पयोभक्ष्या गामनुगच्छेयुश्चीर्णप्रायश्चित्तं तमिष्टव्रतै-
रूपनयेयुः यथा प्रकृति ऋतुछन्दोविशेषात् ऋतुर्वसन्तग्रीष्मशिशिरात्मकः-
छन्दो वेदः स्ववेदोक्तविधिना इत्यर्थः, यद्यपि यमोक्तमेकविंशतिरात्रं, अत्र तु-
मासस्तथापि क्षीरपरिमाणानुपदेशात् यथेष्टमेव पानं, यावकपानन्तु प्रसृति-
परिमितं, अतस्तुल्यत्वादिकल्पः, अतएवाख्येतिकर्तव्यतया किञ्चिद्गुरुत्वात्-
यथोक्तविषयत्वमेवेति”श्रुलपाणिः ।

अपिच यथाह याज्ञवल्क्यः,—

“उपपातकशुद्धिः स्यादेवं चान्द्रायणेन वा ।

पयसा वापि मासेन पराकेणायवा पुनः” ॥

तथा मिताक्षरायां विज्ञानेश्वरः,—

“एवमुक्तेन गोवधव्रतेन मासं पञ्चगव्याशनादिनान्तेषां ब्राह्म्यतादीना-
मुपपातकानां शुद्धिर्भवेत् । चान्द्रायणेन वा वक्ष्यमाणलक्षणेन मासं पयो-
व्रतेन वा पराकेण वा शुद्धिर्भवेत् । अत्रातिदेशसामर्थ्यात् गोचर्चवसनः-
गोपरिचर्यादिभिर्गोवधासाधारणैः कतिपयैर्नूनत्वमवगम्यते । एतच्च व्रत-
चतुष्टयमकामकारे शक्त्यापेक्षया विकल्पितं द्रष्टव्यं । कामकारे तु,—

“एतदेव व्रतं कुर्युरूपपातकिनो द्विजाः ।

अवकीर्णवर्ज्यं शुद्धयर्थं चान्द्रायणमथापि वा” ॥

इति मनूक्तं—तैमासिकं द्रष्टव्यं । अतएव वचनादयं प्रायश्चित्तातिदेशः-
सर्वेषामुपपातकगणपठितानामुक्तप्रायश्चित्तानां चावकीर्णवर्जितानामविशेषेण-
वेदितव्यं । अतो ब्राह्म्यादिषु अस्मिन् शास्त्रे शास्त्रान्तरे वा दृष्टैः प्रायश्चित्तैः-
सहोपपातकशुद्धिः स्यादेवमित्यादिना प्रतिपादितव्रतचतुष्टयस्य समविषमता-
कल्पनेन विकल्पो विषयविभागो वाश्रयणीयः । तानि स्मृत्यन्तरदृष्टप्राय-

श्चित्तानि पाठक्रमेण ब्राह्म्यादिषु योजयिष्यामः । तत्र ब्राह्म्यतायां-
मनुनेदमुक्तं,—

“येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविधि ।
तांश्चाययित्वा त्रीन् कृच्छ्रान् यथा विध्युपनाययेदिति ॥”

यच्च यमेनोक्तं,—

“सावित्री पतिता यस्य दशवर्षाणि पञ्च च ।
सशिखं बभनं कृत्वा व्रतं कुर्यात् समाहितः ॥
एकविंशतिरात्रं च पिवित् प्रसृतियावकं ।
हविषा भोजयेच्चैव ब्राह्मणान् सप्त पञ्च च ॥
ततो यावकशुद्धस्य तस्योपनयनं स्मृतमिति ।”

तदुभयमपि याज्ञवल्कीय मासपयोव्रतविषयं । यस्तु वशिष्ठेनोक्तं,—

“पतितसावित्रीक उद्दालकव्रतं चरेत्, द्वौ मासौ यावकेन वर्त्तयेन्मासं-
पयसा पक्षमासिच्ययाऽष्टरात्रं घृतेन षड्रात्रमयाचितेन त्रिरात्रमवभृथो-
ऽहोरात्रमुपवसेदश्वमेधावभृथं गच्छेद्ब्राह्म्यस्तोमेन वा यजेतेति ।”

अत्रेयं व्यवस्था—यस्योपनेत्राद्यभावेन तत्कालातिक्रमस्तस्य याज्ञवल्कीय-
व्रतानामन्यतमं शक्तपेक्षया भवति । अनापद्यतिक्रमे तु मानवं त्रैमासिकं ।
तत्रैव पञ्चदशवर्षादूर्ध्वमपि कियत्कालातिक्रमे तूद्दालकव्रतं ब्राह्म्यस्तोमो वेति ।

येषां तु पित्रादयोऽप्यनुपनीतास्तेषामापस्तम्बोक्तं । यस्य पिता-
पितामहावनुपनीतो स्यातां तस्य सम्बत्सरं त्रैविद्यकं ब्रह्मचर्यं । यस्य-
प्रपितामहादेर्नानुस्रियते तस्योपनयनं तस्य द्वादशवर्षाणि त्रैविद्यकं-
ब्रह्मचर्यमिति शूलपाणिविज्ञानेश्वरादयः ।

इति ब्राह्म्यप्रायश्चित्तविवेचनं ।

अथावकीर्णप्रायश्चित्तविचारः ।

“अत्र अवकीर्णी मैथुनेन क्षतव्रतः ।”

यथा याज्ञवल्करः,—

“अवकीर्णी भवेद्गत्वा ब्रह्मचारी च योषितं ।” इति ।

तथा प्रायश्चित्ते ऽङ्गिराः—

“अवकीर्णनिमित्तन्तु ब्रह्महत्याव्रतं चरेत् ।

स्वकर्मवासाः षण्मासांस्तथा मुच्येत कित्त्विषात् ॥”

“अवकीर्ण-मवकीर्णता भावे क्तः । अत्र सार्द्धं सप्तधेनवः इदं प्रमाद-
सम्पन्ने ।”

एतद्विषय-एव याज्ञवल्करः,—

“अवकीर्णी-भवेद्गत्वा ब्रह्मचारी च योषितं ।

गर्हभं पशुमालभ्य नैर्ऋतं स विशुद्धयति ॥

प्रयत्नात् स्त्रियमुत्साद्य प्रवृत्ते त्ववबोध्यनुः ।

“एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते संवेष्ट्य गर्हभाजिनं ॥

सप्तागारं चरेद्भक्ष्यं स्वकर्म परिकीर्तयन् ।

तेभ्यो लब्धेन भैक्ष्येण वर्तयेत्वेककालिकं ।

उपस्पृशंस्त्रिसवनमन्त्रेण स विशुद्धयति ॥”

एतद्विषय—एवाभ्यासे शातातपः ।—“अथातोऽवकीर्णिप्रायश्चित्तं व्याख्या-
स्यामो ब्रह्मचारी यद्यवकीर्ण्येत्, चतुर्थकालमन्त्रं भैक्ष्यं चरेदेवं पूतो भवतीति” ।
तथा पैठीनसिरपि,—

“अवकीर्णी गर्हभाजिनं बसेत् । सम्बत्सरं प्राजापत्यं चरेत् ।”

तथा शङ्खलिखिताभ्यान्तु विकल्प एवोक्तः,—

तद्यथा—“सप्तरात्रेणावकीर्ण्येत् भैक्ष्याग्निकाये अकुर्वन् सद्यः-
कामाद्युत्सर्गे रेतसोऽन्यत्र स्वप्राक्तन प्रायश्चित्तं महाव्याहृतिभिर्जुहुयात्,
औङ्कारपूर्विकाभिः सम्बत्सरं वा नक्तं भैक्ष्यं चरेत्, चतुर्थकालमित-
भुगायत्रीं सम्बत्सरानुगां जपेदिति ।”

गायत्रीमपि सम्बत्सरं जपेदित्यर्थः, महाव्याहृतिहोमश्च लङ्घत्वादाति-

देशिकावकीर्णित्वेन भेद्याग्नित्यागे स्त्रियं विना कामाद्रेतस्यागे च व्यव-
तिष्ठते ।” इति शूलपाण्यादयः ।

इत्यवकीर्णप्रायश्चित्तविवेचनं ।

अथासत्याभिधानप्रायश्चित्तविचारः ।

तत्र सकृदसत्यभाषणे कृष्णानुस्मरणं प्रायश्चित्तं, यथा विष्णुपुराणे,—

“कृतं पापेऽनुतापस्तु यस्य पुंसः प्रजायते ।

प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं हरेः संस्मरणं परं ॥”

अत्यन्ताभ्यासे—

“निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं कुषौदजीवनं ।

असत्यभाषणं शूद्रसेवनं” मित्यपात्रीकरणं कृत्वा-

तप्तकच्छेण शुद्ध्यति । तप्तकच्छे धेनुचतुष्टयं ।

अति बहुतरकालाभ्यासे मनुः,—

‘सङ्करापात्रकृत्यासु मासं शोधनमैन्दवं ॥”

“साक्षिणोऽसत्याभिधाने’ उक्ता चैवानृतं साक्ष्ये ॥” इति

इति मनु वचनात् । ज्ञानतो द्वादशवार्तिकमित्युक्तं प्राक् । अत्र पापला-
घवाद्द्वार्षिकं ।’

चातुर्वर्ष्यवधे साक्ष्ये तु अनृतभाषणेऽनुपातकत्वाभावात् लघुप्रायश्चित्त-
माह—याज्ञवल्काः—

“वर्णानां हि वधो यत्र तत्र साक्ष्येऽनृतं वदेत् ।

तत्पावनाय निर्ब्बाप्यश्चरुः सारस्वतो द्विजैः ॥”

यत्पुनर्मनुः,—

“शूद्रविट्क्षत्रविप्राणां यत्र तूक्तो भवेदधः ।

तत्र बलव्यमनृतं तद्विसत्याद्विशिष्यते ॥”

“तत्प्रशंसापरं यतस्तेनापि प्रायश्चित्तस्योक्तत्वात्” ।

यथा मनुः,—

“वाग्दैवतैश्च चरुभिर्यजेरंस्ते परस्वतौ ।

अनृतस्येनसस्तस्य कुर्व्वाणा निष्कृतिं परां ॥”

“एतत्त्रैवर्णिकपरं ।”

शूद्रे तु विष्णुः,—

“तत्पावनाय कुष्माण्डौभिर्द्विजोऽग्निं जुहुयात् ।

शूद्रश्चैकाङ्गिकं गोदशकस्य ग्रासं दद्यात् ॥”

विषयविशेषेऽपवादमाह—हारीतः,—

“सोमविक्रयकन्याविवाहभयमेयुनवालसन्नपनं गोब्राह्मणहितञ्च कुर्वन्-
मिथ्या न लिप्यत—इति । सन्नपनं प्रतारणं । तथा च यमः,—

“न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न खैरवाक्यं न च मैथुनार्थं ।

प्राणातपये सर्व्वधनापहारे पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ॥”

“तथा सोमविक्रयस्य गर्हितत्वात् अनुकूलानृतानभिधाने क्रेतुर्न दोषः ।
तथा उत्तमकुलजकन्याविवाहे वालप्रतारणवाक्ये सुहृदोरन्योन्यपरिहासा-
भिधाने तथोपांशुवचने मैथुनार्थं अलीकभावदर्शने चेत्यर्थः” । इति ।
शूलपाण्यादयः ।

इत्यसत्याभिधानप्रायश्चित्तविवेचनं ।

अथ ब्रणकस्युत्पत्तिप्रायश्चित्तविचारः ।

तत्र भविष्यपुराणं,—

“ब्राह्मणस्य ब्रणद्वारे पूयशोणितसम्भवे ।

कृमिरूतपद्यते यस्य निष्कृतिं वच्मि तस्य तु ॥

गवां मूत्रपुरीषेण द्विसन्धं स्नानमाचरेत् ।

दधिक्षीरघृतं पीत्वा कृमिदष्टो विशुद्ध्यति ॥

अधोनाभ्याः प्रदष्टस्य प्रमादाद्दिनतात्मज । ।

एतत् विनिर्दिशेत् प्राज्ञः प्रायश्चित्तं खगाधिप ! ॥

नाभिकण्ठान्तरे वीर ! यदा चोत्पद्यते कृमिः ।
 षड्भ्रातन्तु तदा प्रोक्तं प्रायश्चित्तं मनीषिभिः ॥
 यदा दंशन्ति शिरसि कृमयो विनतात्मज ! ।
 कृच्छ्रं तदा चरेत् प्राज्ञः शुद्धये कश्यपात्मज ! ॥”
 “दधिक्षीरघृतपानञ्चात्र तिरात्रमाचरणीयं ।”

यथा वीधायनः,—

“ब्राह्मणस्य ब्रणद्वारे पूयशोणितसम्भवे ।
 कृमिरुत्पद्यते यस्य प्रायश्चित्तं कथं भवेत् ॥
 गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकं ।
 त्राहं ज्ञात्वा च पीत्वा च कृमिदष्टः शुचिर्भवेत् ॥”
 “इदञ्च नाभ्यघोदेशदंशविषयं ।”

एतद्विषय-एव शातातपः,—

“ब्राह्मणस्य ब्रणद्वारे यदा सम्पद्यते कृमिः ।
 प्रायश्चित्तं तदा कुर्यादिति शातातपोऽब्रवीत् ॥
 गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकं ।
 त्राहं ज्ञात्वा च पीत्वा च कृमिदष्टः शुचिर्भवेत् ॥”

“ब्राह्मणपदसुपलक्षणार्थं, भविष्योक्तकृच्छ्रपदं तप्तकृच्छ्रपरं ।”

यथा च्यवनः,—

“कृमिदंशने सान्तपनं वृषभो दक्षिणा एतदपि शिरोदंशविषयं ।”
 अत्र सप्ताहसाध्यमनूक्तसान्तपनवृषदानयोः समुच्चयः, तेनास्य प्राजापत्याद्-
 गुरुत्वं, अतो भविष्यपुराणोक्तं कृच्छ्रपदं तप्तकृच्छ्रपरं, अत्र च पादोनधेनु-
 चतुष्टयं तेन विकल्पः । किञ्च शिरस-उत्तमाङ्गत्वात्-कण्ठनाभिस्थलोक्त-
 कृच्छ्रसमानषड्भ्रात्रापेक्षया प्रायश्चित्तगौरवमुचितमेव ।” इति ।

तथा एकादश्यादिब्रतभङ्गप्रायश्चित्ते वायुपुराणे,—

“लोभान्मोहात् प्रमादाद्वा ब्रतभङ्गो यदा भवेत् ।

उपवासत्रयं कुर्यात् कुर्याद्वा केशमुण्डनं ॥

प्रायश्चित्तमिदं कृत्वा पुनरेव ब्रतौ भवेत् ॥”

“वाशब्दः समुच्चये तेन मुण्डनं च कुर्यादित्यर्थः ।”

इति प्रायश्चित्तविवेककारकृष्णमिश्रप्रभृतयः ।

इत्यसत्याभिधानादिप्रायश्चित्तविवेचनं ।

इति समाप्तमुपपातकविवेचनं ।

अथ जातिभ्रंशकरप्रायश्चित्तविचारः ।

तत्र मनुः,—

“ब्राह्मणस्य रुजः कृत्वा प्रातिरत्रेयमदयोः ।

जैह्वञ्च मैथुनं पुंसि जातिभ्रंशकरं स्मृतं ॥

जातिभ्रंशकरं कर्म कृत्वान्यतममिच्छया ।

चरेत् सान्तपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छया ॥”

“रुजः कृत्वा पीडाकरणं, अत्रेयः लशुनादि, जैह्वं मित्ते कुटिलत्वं, पुंसि-
मैथुनं पुरुषे ग्राम्यधर्म्यकरणं । तत्र कामतः सान्तपनं तत्र धेनुद्वयं, अकामतः-
प्राजापत्यं तत्र धेनुरेका, एतच्चाभ्यासे बोद्धव्यं ।”

रुजः कृत्वेति विशेषमाह मनुः,—

“अवमुर्या चरेत् कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं निपातने ।

कृच्छ्रातिकृच्छ्रं कुर्वीत विप्रस्योत्पादशोणितं ॥”

तथा याज्ञवल्क्यः,—

“विप्रदण्डोदामे कृच्छ्रस्त्वतिकृच्छ्रो निपातने ।

कृच्छ्रातिकृच्छ्रोऽसृक्पाते कृच्छ्रोऽभ्यन्तरशोणिते ॥”

“अत्र दण्डशब्दः शस्त्रमपि लक्षयति, अतिकृच्छ्रे धेनुद्वयं, कृच्छ्रातिकृच्छ्रे-
धेनुपञ्चकं” ।

तथा यमः,—

“कृच्छातिकृच्छं कुर्वीत चान्द्रायणमथाचरेत् ।

दश संख्याश्च गा दद्यादङ्गच्छेदो यदा भवेत् ॥”

“अत्र च द्विजाङ्गच्छेदे व्रतद्वयस्य गोदानानाञ्च समुच्चयः ।”

विशेषमाह बृहस्पतिः,—

“काष्ठादिना ताडयित्वा वृग्भेदे कृच्छमाचरेत् ।

अस्थिभेदे तु कृच्छ्रन्तु पराकं चाङ्गकर्त्तव्यम् ॥”

इति शूलपाण्यादयः ।

इति जातिभ्रंशकरप्रायश्चित्तविवेचनं ।

अथ सङ्करीकरणापात्रीकरणमलावहपापप्रायश्चित्तविचारः । तत्र मनुः,—

“स्वरोष्ट्रश्वमृगेभानामजाविकवधस्तथा ।

सङ्करीकरणं ज्ञेयं मौनाहिमहिषस्य च ॥

निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिजं शूद्रसेवनं ।

अपात्रीकरणं ज्ञेयमसत्यस्य च भाषणं ॥

कृमिकौटवयोहत्या मद्वानुगतभोजनं ।

फलैधःकुसुमस्तेयमधैर्यग्रच्च मलावहं ॥”

“मद्यानुगतभोजनं मद्यपानसमये यदुपस्थापितं फलमूलादि अर्घ्यं
गीतश्रवणादि अल्पेऽप्यपचये अत्यन्तवेक्तव्यमिति कल्पतरुः,—

“सङ्करापात्राकृत्यासु मासं शोधनमेन्द्रं ।

मलिनीकरणौये तु तप्तः स्यात् यावकस्त्रहं ॥”

“सङ्करीकरणापात्रीकरणयोश्चान्द्रायणमत्यन्ताभ्यासविषयं, मलिनीकरणे-
स्त्रहं यावकं कामतः सक्तद्विषयमिति” ।

तथाच विष्णुः,—

“ग्राम्यारण्यपशूनां च हिंसा संकीर्णकारणं ।

संकीर्णकरणं कृत्वा मासमश्रौत यावकं ॥

कृच्छातिकृच्छमथवा प्रायश्चित्तं तु कारयेत् ।
निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं कुषीदजीवनं ॥

असत्यं शूद्रसेवनमित्यपात्रोत्तरणं ।

“अपात्रोत्तरणं कृत्वा तप्तकृच्छ्रेण शुद्ध्यति ।

शीतकृच्छ्रेण वा भूमिं महासान्तपनेन वा ॥”

“पक्षिणां जलचराणाञ्च घातनं कृमिकीटघातनं मद्यानुगतभोजनसिति-
मलावहानि ।”

“मलिनोत्तरणीये तु तप्तकृच्छ्रं समाचरेत् ।

कृच्छातिकृच्छमथवा प्रायश्चित्तविशोधनं ॥”

अत्र संकीर्णकरणे सक्तत्करणे मासयावकं, अभ्यासे कृच्छातिकृच्छ्र-
अत्यन्ताभ्यासे चान्द्रायणं ।

अपात्रोत्तरणे च सक्तत्करणे तप्तकृच्छ्रं चतुरहसाध्यं शीतकृच्छ्रं वा-
शीतकृच्छ्रे तप्तकृच्छ्रे तिकर्त्तव्यतैव, किन्तु तदेव द्रव्यमत्र शीतकृच्छ्रमिति विशेषः,
अभ्यासे तु महासान्तपनं अत्यन्ताभ्यासे तु चान्द्रायणं, मलावहे तु सक्तदाचरणे
त्रयं यावकं, अभ्यासे तप्तकृच्छ्रं, अत्यन्ताभ्यासे तु कृच्छातिकृच्छ्रमिति-
यथायोग्यमूहं । एषु चतुर्षु यत्र यत्र प्रायश्चित्तविशेषो नोक्तस्तत्रैव एव-
बोद्धव्यः ।

इतिशूलपाण्यादयः ।

इति संकीर्णकरणादिप्रायश्चित्तविवेचनं

अथप्रकीर्णप्रायश्चित्तविचारः ।

तत्र मनुविष्णुविश्वामित्राः,—

“अनुक्तनिष्कृतीनां तु पापानामपनुत्तये ।

शक्तिश्चावेक्ष्य पापञ्च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् ॥”

“अनुक्तनिष्कृतीनि विशेषतोऽनुक्तप्रायश्चित्तानि । तथा विष्णुः,—

“यदनुक्तं तत् प्रकीर्णकं”—

“प्रकीर्णपातके ज्ञात्वा गुरुत्वमथ लाघवं ।

प्रायश्चित्तं बुधः कुर्यात् ब्राह्मणानुमतः सदा ॥”

“अनुक्तं अनुक्तनिष्कृतिकं पापं” ।

तथा शङ्खलिखितौ,—

“क्रयविक्रयदुष्टभोजनप्रतिग्रहेष्वनादिष्टप्रायश्चित्तेषु चान्द्रायणं प्राजा-
पत्यं वा ।”

तथा हारीतः,—

“चान्द्रायणं पराको वा तुलापुरुष एव वा ।

गवाञ्चैवानुगमनं सर्वपापप्रणाशनं ॥”

तथा डशनाः,—

“यतोक्तं यत्नं वा नोक्तमिह पातकनाशनं ।

प्राजापत्येन कृच्छ्रेण शुध्यते नात्र संशयः ॥”

पापस्य गुरुत्वलाघवं वीक्ष्य प्रायश्चित्तान्येतानि शिष्टैर्व्यवस्थेयानि । इति-
शूलपाण्यादयः ।

इति प्रकीर्णप्रायश्चित्तविवेचनं,—

अथ नरास्थिस्पर्शादिप्रायश्चित्तविचारः ।

तत्र मनुः,—

“नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुद्धयति ।

आचम्यैव तु निःस्नेहं गामालभ्यार्कमौक्ष्य वा ॥”

इदमकामतः,—

कामतस्तु विष्णुः,—

“नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं गायत्र्यष्टशतं जपेत् ।”

“द्वतं प्राश्य पुनः स्नात्वा त्रिरात्रमाचमिन् । अष्टशतं अष्टोत्तरशतं ।

कामतोऽत्यन्ताभ्यासे सुमन्तुः,—

“सोपस्नेहमानुषास्थिसर्गे कच्छपादस्त्रिरात्रमशौचञ्चात्र भवतीत्याह-
वशिष्टः । मानुषास्थि स्निग्धं सृष्ट्वा त्रिरात्रमशौचमस्निग्धत्वहोरात्रमिति ।”

तथाच चाण्डालसङ्करप्रायश्चित्ते-आपस्तम्बः,—

“अन्यजातिरविज्ञातो निवसेत् यस्य वैश्वमनि ।
स वै ज्ञात्वा तु कालेन कुर्यात्तत्र विशोधनं ॥
चान्द्रायणं पराकं वा द्विजातीनां विशोधनं ।
प्राजापत्यं तु शूद्राणां तथा संसर्गदूषणे ॥
यैस्तत्र भुक्तं पक्वान्नं तेषां कच्छं विनिर्दिशेत् ।
तेषामपि च यैर्भुक्तं कच्छाङ्गं तु विधीयते ॥
तेषामपि च यैर्भुक्तं कच्छपादो विधीयते ।
कूपैकपानदुष्टानां तथा संसर्गदूषणे ।
उपवासेन शुद्धिः स्यात् पञ्चगव्येन शुद्ध्यति ॥
वालापतया तथा रोगौ गर्भिणी वृद्ध एव यः !
तेषां नक्तं प्रदातव्यं वालानां प्रहरद्वयं ॥
अथवा क्रियमाणे तु येषामार्तिः प्रदृश्यते ।
शेषं सम्पादयेत्तेषां विपत्तिर्न भवेद्यथा ॥”

“तत्र पूर्वोक्तकालादल्पकालसङ्करे चान्द्रायणं, स्वल्पतरे पराकः, शूद्रस्य-
प्राजापत्यं । कूपैकपानदुष्टानामिति एकस्मिन्नेव कूपे द्विजातीनां सह जलपानं
कूर्वतां संसर्गदुष्टानां सोपवासः पञ्चगव्यं विशोधनमित्यर्थः” ।

तथा सम्बर्त्तः,—

“चाण्डालसङ्करे विप्रः श्वपाके पक्षशेषि वा ।
गोमूत्रयावकाहारो मासार्द्धेन विशुद्ध्यति ॥”

एतदपि स्वल्पकालसङ्करविषयं, मासार्द्धपठितं—

विष्णुना च ।

“उपपातकिनस्त्वेते कुर्युश्चान्द्रायणं नराः” ॥

द्वत्यनेन चान्द्रायणं विहितं । तत्र पापस्य लघुत्वा—

चान्द्रायणपदं शिशुचान्द्रायणपरं । तत् पादेनधेनुचतुष्टयेन सङ्कलितं-
प्रायश्चित्तविवेकेन इति । एतद्विषय एव “चान्द्रायणमकुर्वाणाः कुर्युः कच्छ-
चतुष्टयं इति समूलकत्वे बोध्यं ।

“यावत्काहाराशक्तौ षड्धेनवः ।”

तथाच सुमन्तुः,—

“अगम्यागमनस्त्रीवधचाण्डालसम्पर्केषु कच्छत्रय”मेतदत्यन्तस्वल्पकाल-
विषयं, कच्छत्रयाशक्तस्य धेनुत्रयं” ।

तथा,—

“अविज्ञातम् चाण्डालो निवसेद्यस्य वैश्वानि ।

विज्ञाते चोपपन्नस्य द्विजाः कुर्युरनुग्रहः” ॥

तथा द्वादशाहमुपक्रम्याह—पराशरः,—

“दधि-सर्पिः-पयोयुक्तं सदा गोमूत्रयावकं ।

भुञ्जीत सह भृत्यैस्तु त्रिसन्ध्यमवगाहनं ॥

भावदुष्टं न भुञ्जीत भोक्तव्यं गोरसम्भृतं ।

त्रिपलं क्षीरदध्नीश्च पलमेकञ्च सर्पिषः ॥

तथा,—

स पूतः सह भृत्यैस्तु कुर्याद्वाह्मणभोजनं ।

अनुद्धुत्सहितां गाञ्च दद्याद्विप्राय दक्षिणां ॥

“दधिसर्पिःपयोयुक्तं गोमूत्रयावकं द्वादशाहं भुञ्जीतेत्यर्थः । अत्र-
परिमाणमेषां त्रयाणामुक्तं । चर्मकारादौनामविज्ञातसङ्करे तु चाण्डाल-

सङ्करप्रायश्चित्तस्य षष्ठो भागः प्रायश्चित्तं कल्पनीयं चाण्डालस्पर्शप्रायश्चित्ता-
चर्मकारादिस्पर्शे प्रायश्चित्तस्य षष्ठभागदर्शनात् ।”

तथाच वृद्धशतातपः,—

“अशुचिं संस्पृशेद्यस्तु एक एव स दुष्यति ।

तत्स्पृष्टान्यो न दुष्येत सर्वद्रव्येष्वयं विधिः ॥

तथा,—

संहतनान्तु पात्राणां यद्येकमुपहन्यते ।

तस्य तच्छोधनं प्रोक्तं न तु तत्स्पृष्टिनामपि” ॥

तथाचापस्तम्बः,—

“एकशाखां समारूढश्चाण्डालादिर्यदाभवेत् ।

ब्राह्मणस्तत्र निवसन् ज्ञानेन शुचितामियात् ॥”

“आदिशब्दादुदक्वादीनां ग्रहणं । शाखाग्रहं मेकावयव्युपलक्षणार्थं ।

तेनैकपाषाणादेरपि ग्रहणं ।”

तथा स एव,—

एकवृक्षं समारूढौ चाण्डालब्राह्मणौ यदि ।

फलं भक्षयतस्तत्र प्रायश्चित्तं कथं भवेत् ॥

ब्राह्मणानामनुज्ञाप्य सवासाः ज्ञानमाचरेत् ।

अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुद्ध्यति ॥

तथा स एव,—

“एकशाखां समारूढः फलान्यश्नात्यसौ यदि ।

प्रायश्चित्तं त्रिरात्रं स्यात् पञ्चगव्यं विशोधनं ॥”

अत्र व्यवधानाव्यवधानाभ्यामेकरात्रत्रिरात्रौ ज्ञानविषयश्चेतदुभयं” ।

तथाच ब्रह्मपुराणं,—

“विप्रश्चाण्डालसहितो यत्रैकस्मिन् वनस्पतौ ।

अज्ञानात् फलं भुङ्क्ते चरेत्तत्राघमर्षणं ॥”

तथा नौकादिषु न दोष इत्याह—पराशरः,—

“रथ्याकर्दमतोयानि नावः पन्यास्तृणानि च ।
स्पर्शनान्न प्रदुष्यन्ति पक्षेष्टकाचितानि च ॥” इति ॥

“ढणानि ढणसमूहः पक्षेष्टकाचितानि मठादीनि” ।

इति शूलपाण्यादयः ।

इति चाण्डालसङ्गरादिप्रायश्चित्तविवेचनं ।

अथ कारागृहवासप्रायश्चित्तविचारः ।

तत्र देवलः,—

“कारागृहे वलात्कारात् स्थित्वा मासमतन्द्रितः ।

न स्नानञ्च न सन्ध्यादि न देवपितृतर्पणं ॥

न स्वाध्यायो न वा होमः शूद्र-एव न संशयः ।”

तथा मरीचिः,—

“भासं कारागृहे वाऽपि नौभिर्यातो दिनत्रयं ।

स्नेच्छावासस्तथा पक्षं यो वर्तेत् स तु पातकी ॥”

तथाच गौतमः,—

“जलाहासोक्तता ये तु स्नेच्छचाण्डालदस्युभिः ।

अशुभं कारिताः कर्म गवादिप्राणिहिंसनं ॥

उच्छिष्टमार्जनं तेषां तथा तस्यैव भक्षणं ।

तत्-स्त्रौणाञ्च तथा सङ्गस्ताभिश्च सह भोजनं ॥

मासेऽपि तद्द्विजातौ तु प्राजापत्यं विशोधनं ।

प्राजापत्यं च चान्द्रश्च चरेत् सम्बत्सरोषितः ॥

आहितान्निस्त्रयं कुर्व्याद् यदि कारागृहे वसेत् ॥

“स्त्रीणामेतस्मिन् सम्भवे विप्रस्य प्रायश्चित्तार्द्धमनूदितं ।”

तथा यमः,—

“कारागृहादिनिर्गत्य प्रायश्चित्तं यथोदितं ।

कृत्वा विप्रः पुनः कर्म कुर्याच्छुद्धिमवाप्नुयात् ।

नान्यथा शुद्धिमाप्नोति यथा भुवि सुराघटः ।”

इति चतुर्वर्गचिन्तामणौ कल्पतरुः ।

इति कारागृहवासप्रायश्चित्तनिवेचनं ।

अथ रहस्यप्रायश्चित्तविचारः ।

तत्र याज्ञवल्क्यः,—

“विखरातदोषः कुर्वीत पर्षदोऽनुमतं व्रतं ।

अनभिज्ञातदोषस्तु रहस्यव्रतमाचरेत् ॥”

“विखरातदोषोऽन्येन ज्ञातदोषः, अनभिज्ञातदोषस्तृतीयेनेत्यर्थः । अन्यथा-
अगमप्रागमनादो व्यभिचारात्, अर्थात् अगमप्रागमने हिंसायाश्च अगमप्रा-
वध्ययोरवश्यं ज्ञानात् अन्यथानुपपत्तया तृतीयेनेति कल्पनीयं, अन्यत्र तु-
द्वितीयेनापि अन्यथा सर्वत्र द्वितीयज्ञानमात्रकल्पने तु अगमप्रागमने-
हिंसायाश्च व्यभिचारः स्यादित्यर्थः । तेन रहस्यकृते पापे रहस्यप्रायश्चित्तं-
करणीयं अन्येनावेदितमित्यर्थः ।”

अतएवाह यमः,—

“रहस्ये रहस्यं प्रकाशमिति तच्च यदि कर्त्ता स्वयं प्रायश्चित्तानभिज्ञस्तदा-
कस्यचिद्रहस्यपापस्य किं प्रायश्चित्तमिति सामान्येन प्रायश्चित्ताभिज्ञं
पृष्ट्वा रहस्यप्रायश्चित्तं कुर्यात् । तत्र यत्र मरणान्तिकं प्रायश्चित्तं तत्र रहस्य-
कृतेऽपि मरणान्तिकं कर्त्तव्यं मरणे ज्ञासासम्भवात् । यत्र तु व्रतादिकं तच्च
जात्याद्यपेक्षया उक्तव्रतस्य विंशतिभागादिकं कार्यम्” ।

यथा विश्वामित्रः,—

“प्रकाश—उक्तं यत्किञ्चिद्विंशो भागो रहस्यके ।

त्रिंशद्भागः षष्टिभागः कल्पो जात्याद्यपेक्षया ॥”

“आदिशब्दाज्जातिशक्तिगुणापेक्षं” सकृदुद्धिक्कृतयेत्यादिरूपसंग्रहः । अथवा-
महापातकेषु सामान्यमहापातकरहस्यप्रायश्चित्तं मनुनीतं करणीयं ।” —

यथा मनुः,—

“महापातकसंयुक्तोऽनुगच्छेद्गुणः समाहितः ।

अभ्यस्याब्दं पावमानौ भैक्ष्याहारो विशुद्धाति ॥”

एतेन महापातकेषु कामत—आब्दिकं व्रतं करणीयं, अशक्ती पञ्चदश-
धेनवो देयाः । अन्येषु पापेषु याज्ञवल्क्योक्तं प्राणायामशतं करणीयं ।”

यथा याज्ञवल्क्यः,—

“प्राणायामशतं कार्यं सर्वपापपनुत्तये ।

उपपातकयुक्तानामनादिष्टेषु चैव हि ॥”

“अत्र गुणत्वलाघवापेक्षया प्राणायामशतमेव एकाहद्वयत्रयादिक्रमेण-
मासं षण्मासं सम्बत्सरं वा अभ्यसनीयमिति” । व्रतकरणाशक्तेनापि जपहो-
मादयोऽत्र कार्याः ।

इत्याह मनुः,—

“एतैर्द्विजातयः शोध्या व्रतैराविष्कृतैर्नसः ।

अनाविष्कृतपापांस्तु मन्त्रैर्द्विजैस्तु शोधयेत् ॥”

तथाच वशिष्ठः,—

“जापिनां होमिनाञ्चैव ध्यायिनां तीर्थसेविनां ।

निवसन्ति न पापानि ये च स्नाताः शिरोव्रतैः ॥”

तथाच सम्बर्तः,—

“दानैर्द्विजैर्जपैर्नित्यं प्राणायामैर्द्विजातयः ।

पातकेभ्यः प्रमुच्यन्ते वेदाभ्यासान्न संशयः ॥”

ते जपहोमादयः स्मृत्यन्तरेऽनुसन्धेयाः विस्तरभयान्नेह प्रस्तूयन्ते ।” इति-
शूलपाण्यादयः ।

इति रहस्यप्रायश्चित्तविचिनं ।

ब्राह्मणकर्तृकचक्रियवैश्यादिवृत्तिकरणताकधनोपार्जनानादिनिन्दितकार्या-
नुष्ठानेन सत्यामतिवाहितायामापदि तदन्ते यादृक्-प्रायश्चित्ताचरणेन भवेत्-
पापनिवृत्तिः, तत्पापप्रायश्चित्तविवेचनमत्राऽरभ्यतेऽवस्थात् ।

ननु पापस्यैतस्योपपातकान्तर्भूततया तत्प्रायश्चित्तविचारावसरेऽस्य
प्रायश्चित्तविवेके सत्यप्यावश्यकं कथमत्र निवेशितमेतदिति चेदुच्यते, एतद्-
ग्रन्थीयप्रायश्चित्तविभागस्य विशेषत—एतत्प्रायश्चित्तविवेचनप्रदर्शनप्रधानो-
द्देश्यतया सर्वशेषे पृथक्तया सन्निवेशितं साधारणसुखबोधार्थमिति बोद्धव्यं ।

अथ ब्राह्मणस्य चक्रियवैश्यादिवृत्तिधनार्जनानादिगर्हितकर्मप्रायश्चित्तविचारः ।

तत्र याज्ञवल्क्यः,—

“क्षत्रेण कर्मणा जीवेद्विशां वाप्यापदि द्विजः ।

निस्तीर्यार्थं समुत्सृज्य वाप्रात्मानं न्यसेत् पथि ॥”

“पथि यथोक्तवर्त्मनि आत्मानं निवेशयेदित्यर्थः ।”

तथा प्रायश्चित्तमाह—प्रचेताः,—

“ब्राह्मणस्यापत्काले मातापितृमतो बहुभृत्यस्थानन्तरं क्षत्रोपनिवेशस्तत्र-
सम्बत्सरमनुप्राप्तौ चान्द्रायणञ्चरेत् सम्बत्सराभ्यन्तरे मासैकाब्दिकादौ
चान्द्रायणभागहारः कल्प्यः, एवं सम्बत्सरादूर्ध्वं हैगुण्यत्वेगुण्यादिकं कल्प-
नीयं; अनेनापदोऽपि बहुसमयस्थायित्वं सूचितं स्फुटतः । चान्द्रायणे
धेन्वष्टकं देयं, याज्ञवल्क्यावचने साहचर्य्यश्रवणात्, वैश्यवृत्तावपि चान्द्रायणमेव ।”

वैश्यवृत्तौ शास्त्रीयनियमे पापपवादमाह बृहस्पतिः,—

“कुषौदक्क्षषिवाणिज्यं प्रकुर्वीतास्वयं कृतं ।

आपत्काले स्वयं कुर्वन्नैनसा लिप्यते द्विजः ॥

लब्धलाभः पितृन् देवान् ब्राह्मणांश्चापि पूजयेत् ।

ते तृप्तास्तस्य तं दोषं शमयन्ति न संशयः ॥

वणिककुषौदौ दद्यात्तु वस्त्रगोकाञ्चनादिकं ।

क्षषीबलोऽन्नपानानि यानशय्यासनानि च ॥

ब्राह्मणस्य क्षत्रियवैश्यादिवृत्तिधनार्जनादिगर्हितकर्म-प्रायश्चित्त-विचारः । ७६७

पशुभ्यो विंशकं दत्त्वा पशुस्वर्णादिकं शतं ।

वणिक्पौष्टदोषः स्याद्ब्राह्मणानां च पूजनात् ॥

राक्षसे दत्त्वा च षड्भागं देवतानाञ्च विंशकं ।

त्रिंशद्भागञ्च विप्राणां कृषिं कृत्वा न दोषभाक् ॥” इति ।

तथा ब्राह्मणस्य सेवावृत्तिधनार्जनप्रायश्चित्तविषये —

मनुः,—

“न कथञ्चन कुर्वीत ब्राह्मणः कर्म वार्षलं ।

दृषलः कर्म वा ब्राह्मं पतनीये हि ते तयोः ।”

पुनरुपनयनसहितकृच्छ्रयानुवृत्तौ यमः,—

“प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति विकर्मस्थास्तु ये द्विजाः ।

ब्रह्मणा च परित्यक्तास्तेषामपेयतदादिशेत् ॥”

“तस्य विकर्मसेवा तस्या वार्षलत्वेन निषिद्धत्वात्तथा शूद्रस्यापि ब्राह्म-
कर्म विकर्म तेन द्रव्यत्यागपूर्वकं कृच्छ्रयं कर्तव्यं पुनरुपनयनञ्च, कृच्छ्रत्रये-
षेनुत्तरं” । एतत् त्वनापदीति ज्ञेयं ।” तथा ब्राह्मणस्य गीतादिना धनार्जन-
प्रायश्चित्ते यमः,—

“नटनर्तकतन्त्राणश्चर्मकारः सुवर्णकृत् ।

स्थायुकाः षण्डगणिका अभोज्यान्नाः प्रकीर्त्तिताः ॥

गान्धर्वी लौहकारश्च सौचिकस्तनुवायकः ।

चक्रोपजीवी रजकः कितवस्तस्करस्तथा ॥

ध्वजी मानोपजीवी च शूद्राध्यापकयाजकौ ।

कुलालश्चित्रकर्मा च वार्हुषिकश्चर्मविक्रयी ॥” इत्यादि ।

“स्थायुकाः ग्रामाधिकारिणः, स्थायुकोऽधिवृत्तो ग्रामे इत्यमरः । गान्धर्वी-
गायकः, चक्रोपजीवी वलीवर्दचक्रेण तैलनिष्पादकः, ध्वजी शोण्डिकः,
मानोपजीवी तुलाधारकः,” एतदप्यनापदिष्यं ।



आपदि तु निरुक्तगर्हितकर्म्मजातानुष्ठानस्य शास्त्रकारैरभ्यनुज्ञातत्वात् ।
यदा मातापित्रादिभरणाशक्तौ ब्राह्मणो गीतवार्हुषिकादिवृत्तिमनुतिष्ठति,
तदाऽतीतायामापद्यजितभुक्तावशिष्टं धनं परिहाय चान्द्रायणञ्चरेत्, तदशक्तौ
धेन्वष्टकं सम्बत्सराश्रुतावपि चात्रवत्युक्तः सम्बत्सरो ब्राह्मणः, सम्बत्सराश्रुतावा-
वृत्तिश्चान्द्रायणस्येत्यर्थः । इति शूलपाण्यादयः,

एतदप्यनापदीति बोध्यं ।

तथा क्षत्रियादिजातिवृत्तिजाताभ्यन्तरतो ब्राह्मणस्यैकदा कतिपयवृत्त्यव-
लम्बनेनातियापितापदोऽन्ते यादृग्प्रायश्चित्ताचरणमभ्यनुज्ञातं मन्वादिभिस्तत्-
प्रदर्श्यतेऽधः,—

तत्र यथाह—पराशरः,—

“सर्वेषामेव पापानां सङ्घरे समुपस्थिते ।

शतसाहस्रमभ्यस्ता गायत्री शोधनं परं ॥”

तथाच शङ्खः,—

“सव्याहृतिकां सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह ।

ये जपन्ति तदा तेषां न भयं विद्यते क्वचित् ॥

दश जप्ता तु सा देवी दिनपापप्रणाशिनौ ।

सहस्रं जप्ता सा नृणां पातकीभ्यः समुद्धरेत् ॥

स्वर्णस्तेयौ कृतघ्नश्च ब्रह्महा गुरुतल्पगः ।

मुरापश्च विशुद्धोऽत लक्षजप्तेन सर्वदा ।” इति ।

तथा स एव,—

“धृतयुक्तैस्त्रिलैर्वङ्गौ हुत्वा तु सुसमाहितः ।

गायत्र्यायुतहोमात्तु सर्वपापः प्रमुच्यते ॥

हस्तत्राणप्रदा देवी पततां नरकार्णवे ।

तस्मात्तामभ्यसेन्नित्यं ब्राह्मणो नियतः शुचिः ॥” इति ।

ब्राह्मणस्य क्षत्रियवैश्यादिद्विजधनार्जनादिगर्हितकर्म-प्रायश्चित्त-विचारः । ७६८

तथाच याज्ञवल्क्यः,—

“यत्र यत्र च सङ्कीर्णमात्मानं मन्यते द्विजः ।

तत्र तत्र तिलैर्होमो गायत्र्या वाचनं द्विजः ॥”

तथाच मिताक्षरायां विज्ञानेश्वरः,—

“किञ्च यत्र यत्र ब्रह्मवधादौ तज्जनितदोषजातेनात्मानं सङ्कीर्णमभिभूत-
द्विजो मन्यते तत्र गायत्र्या तिलैर्होमः कार्यः । तत्र महापातकेषु गायत्र्या
लक्षहोमः कार्यः ।

“गायत्र्या लक्षहोमि च मुच्यते सर्वपातकै”रिति यमस्मरणात् । अति-
पातकादिषु पादपादङ्गासः कल्पनीयः । तथा तिलैर्वाचनं दानं कार्यं ।

तथा रघुस्याधिकारे वशिष्ठः,—

“वैशाख्यां पौर्णमास्यां च ब्राह्मणान् पञ्च सप्त च ।

चौद्रयुक्तैस्तिलैः कृष्णैर्वाचयेद्यवेतरेः ॥

प्रीयतां धर्मरोजेति यद्वा मनसि वर्तते ।

यावज्जीवं कृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ॥”

अनियतकालेऽपि दानं तेनैवोक्तं ।

“कृष्णाजिने तिलान् कृत्वा हिरण्यं दधिसर्पिषौ ।

ददाति यस्तु विप्राय सर्वं तरति दुष्कृतं ॥” इति ।

तथा व्यासेनोक्तं,—

तिलधेनुं च यो दद्यात् संयतात्मा द्विजन्मने ।

ब्रह्महत्यादिभिः पापैर्मुच्यते नात्र संशयः ॥” इति

तथा मिताक्षरायां पुनः स एव,—

“तथा गायत्र्याश्च महापातकेषु लक्षमतिपातकोपपातकयोर्दशसहस्र-
मुपपातकेषु सहस्रं प्रकोर्षकेषु शतमित्येवं विशेषतो जपः सर्वपापहरः ।”

तथा च गायत्रीमधिकृत्य श्लोकः शंखेनोक्तः,—

“शतं जप्ता तु सावित्रौ महापातकनाशिनौ ।

सहस्रजप्ता तु तथा पातकेभ्यः प्रमोचिनौ ॥

दशसाहस्रजाप्येन सर्वकिल्बिषनाशिनौ ।

लक्षं जप्ता तु सा देवौ महापातकनाशिनौ ॥

सुवर्णस्तेयकृद्दिप्रो ब्रह्महा गुरुतल्पगः ।

सुरापश्च विशुद्धान्ति लक्षं जप्ता न संशयः ॥ इति ।

निरुक्तप्रमाणानि ब्राह्मणेतरजात्युपलक्षकानीति ज्ञेयं । तथा येषां-
जातीयानां जपादौ नाधिकारस्तेषां धेनुदानात्मकप्रायश्चित्तं विधेयमिति-
धर्मशास्त्रीयाभिप्रायः ।

तथाच विद्वानेश्वरः,—

“निगमागमोक्तमन्त्रजपे स्त्रीशूद्रयोरधिकारित्वाभावाज्जपात्मकप्रायश्चित्ता-
देशः, तथा तपोव्रतानुष्ठानाशक्तस्य व्रततप—आत्मकप्रायश्चित्तविधानं च-
न दातव्यमिति ।”

प्रायश्चित्तानुष्ठानमेतदनापद्यापत्कालाभ्यन्तरे च विधातव्यं तयोरन्यान्य-
प्रायश्चित्तविषये गुरुलघुभावेन सत्यपि शास्त्रीयविभिन्नव्यवस्थावलोकनेऽत्र-
तथाऽदर्शनात् । यद्वाऽतीतायामापद्युपस्थितायामनापदि विपत्त्यवलम्बित-
निन्दितचक्रियादिद्विजनितापराधतः परिशोधयितुमात्मानं गुरुतर-
प्रायश्चित्तस्यादितः प्रदर्शिततया विपदभ्यन्तराचरितशास्त्रविगर्हितकार्य-
जातोत्पन्नव्रजिनराजितः शुद्धिमानेतुमात्मानं प्रमाणानामेतेषामन्तराले-
ऽशौचवत् संकोचविधया द्विविधात्मकं प्रायश्चित्तमुद्गासितं धर्मशास्त्रकारैरित्यूह-
नीयं । तथाऽनापदि सति पापसंकरे विपत्कालीनपापसांकर्यप्रायश्चित्ता-
पेक्षयैतत्कालीनपापव्रतस्य गौरवलाघवदृष्ट्या प्रायश्चित्तस्य द्वैगुणादिकं
कल्पनीयमिति शास्त्राकृतं इति पापसङ्करप्रायश्चित्तविवेचनं ।

अपिच—प्रदर्शितमत्र विवेचनमावश्यकीयप्रायश्चित्तानां एतद्भिन्न,—
प्रायश्चित्तजातस्य मितान्नरानामकयान्नवल्काटीकायां तथा प्रायश्चित्त-

ब्राह्मणस्य क्षत्रियवैश्यादिद्विचिधनार्जनादियर्हितकर्म-प्रायश्चित्त-विचारः । ८०१

विवेकचतुर्वर्गचिन्तामणिनामककतिपयभारतप्रसिद्धनिबन्धग्रन्थेषु च विवेचित-
तथा नोत्तोलितं तदत्र ग्रन्थवाङ्मयभिया । तथाविधानि निरुक्तपाप-
सङ्करप्रायश्चित्तभिन्नानि सर्वाख्येतानि प्रायश्चित्तान्यनापदि नत्वापदि,
केषामपि पापानामपदि सत्यनुष्ठाने प्रायश्चित्ताभावस्य तथा कतिपय-
वृजिनानां सत्यप्याचरणे प्रायश्चित्तलाघवस्य च धर्मशास्त्रकारैरभ्यनुज्ञातत्वात् ।

तथा चापद्यपि कतिपयपापजाते सत्यनुष्ठिते सत्यधर्मशसम्भावनया
सन्निवेशितमत्तावश्यकत्वेन निरुक्तप्रायश्चित्तव्रातं तद्विरामार्थमिति बोध्यं ।

अन्यच्च,—कृच्छादिब्रतव्रातानुष्ठानमन्तरापदि मनस्तापाद्याचरणपूर्वक-
दानेनापराधिनां पापमोचनस्य शास्त्रकारैरभ्यनुज्ञातत्वाल्लोके तथैव व्यवहार-
दर्शनाच्चैतत्समयानुपयोगितया ग्रन्थान्तरोयतस्तद्वृत्तस्वरूपविवृतेरुत्तोलनं
नाचरितमत्रैवेति विज्ञेयं ।

तथा प्रायश्चित्तविभागोपसंहारे वक्तव्यमेतत्,—

यद्यपि प्रायश्चित्ताचरणेन न भवेच्चेन्ननस्तापादिकं, तदा तत्प्रायश्चित्तानु-
ष्ठानं न भवेत् सफलं ।

यतः प्रायश्चित्तानुष्ठानेऽपि केवलमनस्तापादिकरणाच्छुद्धिं लभन्ते-
पापिन इति प्रतिपादयन्ति पूज्यपादा मन्वादयः,—

यथाह — मनुः,—

“स्यापनेनानुतापेन तपसाध्ययनेन च ।

पापकृन्मुच्यते पापात्तथा दानेन शुद्ध्यति ॥

यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयं कृत्वानुभाषते ।

तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाधर्म्येण मुच्यते ॥

यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गृह्णति ।

तथा तथा शरीरं तत् तेनाधर्म्येण मुच्यते ॥

कृत्वा पापं हि सन्तप्य तस्मात् पापात्प्रमुच्यते ।

नैवं कुर्यात् पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः ॥

इदं सञ्चिन्ता मनसा प्रेत्य कर्म फलोदयं ।
 मनोवाङ्मूर्तिभिर्नित्यं शुभं कर्म समाचरेत् ॥
 अज्ञानाद् यदि वा ज्ञानात् कृत्वा कर्म विगर्हितं ।
 तस्माद् विमुक्तिमन्विच्छन् द्वितीयं न समाचरेत् ॥
 यस्मिन् कर्मण्यस्य कृते मनसः स्यादलाघवं ।
 तस्मिंस्तावत् तपः कुर्याद्यावत्तुष्टिकरं भवेत् ॥”

तथा—“पापकारी नरलोकेषु निजपापकथनेन धिङ्मामिति पाप-
 कारिणमिति पश्चात्तापेन शुद्ध्यति । अस्य पापकारिणो यस्मिन् प्रायश्चित्ताख्ये
 कर्मण्यनुष्ठिते न चित्तस्य सन्तोषः स्यात्, तस्मिन् तदेव प्रायश्चित्तं तावदा-
 वर्त्तयेत् यावन्नसः सन्तोषः प्रसादश्च स्यात् ” इति कुल्लूकभट्टः ।

तथाच याज्ञवल्करः,—

“प्रायश्चित्तमकुर्वाणाः पापेषु निरता नराः ।

अपश्चात्तापिनः कष्टान्नरकान् यान्ति दारुणान् ॥” इति ।

प्रमाणेऽस्मिन् अपश्चात्तापिनः—इति विशेषणोपादानेन न गच्छन्ति-
 नरकं पश्चात्तापिन-इत्यवगम्यत इत्यर्थः ।

तथा प्रमाणान्यवलम्ब्य कौटुशी व्यवस्था करणीयेति संशयनिरसनार्थ-
 मन्ते प्रदत्ता व्यवस्थैकावलोकनीया व्यवस्थादित्सुभिर्नवीनप्रेक्षावद्भिरिति-
 दिक् ।

इति परिसमाप्तं प्रायश्चित्तविवेचनं ।

अथ गुरुदेवचरितवर्णनपूर्वकग्रन्थसमापनकरणं ।

यो द्भयसमानवुद्धिविभवः प्रख्यातकीर्तिर्गुणैः,
 श्रौतस्मार्त्तसमस्तकर्मकुशलः श्रौगोपिनाथाभिधः ।
 नानाशास्त्रविचारशुद्धहृदयो निर्मत्सरोऽमायिको,
 योगाभ्यासरतः सदा समभवत् संख्यावतामग्रणौः ॥

चातुर्यं चतुराननस्य निभृतं गाम्भीर्यमम्भोनिधे,—
 रौढार्यं विबुधद्रुमस्य मधुरां वाचं च वाचस्पतेः ।
 धैर्यं धर्मसुतस्य शर्म सकलं देवाधिपस्याहरत्,
 श्रीमान्खगातनयः सदा सविनयो यो गोपिनाथाक्षयः ॥
 कौर्त्तीर्दिक्षु विदिक्षु यस्य रजनीजानिप्रभाभास्वरा,—
 गायन्ति द्विजहारका हिमहरक्षीराब्धिशुभा भुवि ।
 काव्ये व्याकरणे तथा विवरणे योऽनन्यसाधारणो,—
 गोपीनाथपदाब्जचिन्तनपरोऽन्ते प्राविशद्ब्रह्मणि ॥
 श्रीहारीतकुलार्णवेन्दुरतुलैः शिष्यैः सदाभ्यर्चितो,
 योऽगान्धे पदवीं गुरोरिव गुरुः सर्व्वासु विद्यासु च ।
 तस्यानुग्रहतोऽधमोऽप्यहमिमं ग्रन्थं कृपावारिधे—
 विघ्नव्यूहमतीत्य शेषमनयं भक्त्या विशुद्धात्मनः ।

शक्तेऽद्विवक्ष्याष्टशशाङ्कसंखे,
 वारे गुरोर्माधवशुक्लपक्षे ।
 नवोद्वयं भूततिथौ निवन्धो,—
 गतः समाप्तिं नृहरेः प्रसादात् ॥
 समाप्तोऽयं निवन्धः कल्याणद्वर्गसर्वस्वाक्षयः ।

१५७

SRI
 JI
 VISHWANADHYA
 NANAMANDIR
 Varanasi
 Acc. No. 1584

परिशिष्टं

परिशिष्टं

—श्रीजगन्नाथदेवोविजयतेतरां—

श्रीपुरुषोत्तमचेतान्तर्गत-श्रीजगन्नाथमन्दिरावस्थितश्रीमुक्तिमण्डपस्थपण्डित-
सभा-व्यवस्थापक-पण्डितानां व्यवस्थेयं ।

भरतखण्डदुर्लभां विद्यामध्येतुं विलासितामन्तरा वाणिज्याद्यावश्यक-
कार्यजातमनुष्ठातुमर्णवपथे वाष्पीयपोतेन श्वेतद्वीप (इंलण्डादिनानादेशं)
मनुगच्छतां तत्रैव वर्षादूर्द्ध्वसमयमधिवसतां गत्यन्तराभावात्तद्देशीयव्यक्ति-
हस्तपाचितहिन्दुजातीयभक्ष्यद्रव्यजातेन प्राणरक्षणमनुतिष्ठतां सुयोगाभावात्
स्वस्वजातीयनित्यनैमित्तिककर्मव्रतं कर्त्तुमक्षमाणां विद्याध्ययनादिसमा-
प्त्यनन्तरं स्वदेशं प्रत्यावृत्तानां भारतीयसनातनार्थसामाजिकादिनियमव्रत-
मवलम्ब्येदानीमत्रैव यथाविधानमवस्थातुं यावज्जीवनमभिलषतां ब्राह्मणादि-
शूद्रान्तानां तथाऽनुलोमजानां प्रतिलोमजानां च भारतीयलोकनिवहानां
तथाऽसति सुयोगेऽगतिकतया निरुक्तदेशीयव्यक्तिहस्तपाचिततद्देशीय-
हिन्दुधर्मविगर्हितभक्ष्यद्रव्यनिकरेण जीवनधारणमाचरतां केषांचिद्भारतीया-
र्थ्याणां वा देशकालपात्रदृष्ट्या प्रायश्चित्तविधानेन, समाजार्हत्वं भवति न
वेति प्रश्नः ।

उत्तरं—प्रश्नमेतं मन्वादिधर्मशास्त्रनिवहेन साकं पर्यालोच्य यादृक्-
सिद्धान्ते वयमुपनीताः समुल्लिख्यतेऽधस्तात् सः ॥

यथा बृहन्नारदीयपुराणप्रभृतिकतिपयग्रन्थेषु कलिवर्जप्रकरणे शोधित-
स्यापि संग्रहः” इत्यादि प्रमाणनिकरोल्लेखदर्शनेऽपि भरतखण्डसुप्रसिद्धमन्वा-
द्यतिप्राचीनधर्मशास्त्रजालेषु तादृक् प्रमाणवृन्दसङ्गावानवलोकनात्, तथा
वेदादौ भारतीय सकलहिन्दुधर्मावलम्बिनां तथा बौधायनसूत्रेऽपि भारतवर्षोत्तर-
दिग्भागवासिनामार्थ्याणां प्रायश्चित्तमन्तरा दृष्टसमुद्रनौगमनव्यवहारत्वात्,
तथा समुद्राधिकरणकनौगमनजनितपापप्रायश्चित्तविधानेन समाजार्हत्वं
बौधायनेनाप्यनुमोदितत्वात्, तथा सत्यपि निरुक्तपुराणोपपुराणीयादि-

ग्रन्थपतितकलिवर्जप्रकरणान्तःपातिनः कलियुगानुष्ठितसागरनौगमननिषेध-
कस्य शोधितस्येति प्रमाणजातस्य प्रामाण्येऽङ्गीकृते सत्यादिद्वापरान्तयुगान्त-
र्गतापत्समयेष्विव कलियुगान्तभूतापत्समयेऽप्यनापत्कालीनविधिलङ्घनस्य
धर्मशास्त्राभ्यनुज्ञातत्वात्,

तथा समुद्रगमनजनितपापसंमिश्रणे सांकर्यविषयकप्रायश्चित्तविधायक-
धर्मशास्त्रीयप्रमाणवृन्दसमीक्षणञ्च यथादेशकालपात्रशक्तिप्रायश्चित्तानुष्ठानेन
भवेयुः स्वसमाजभुक्ताः प्रश्नोक्तपुरुषा निर्विवादमिति विदुषां राक्षान्तः ।

राक्षान्तमेतं कच्चीकुर्वन्त्यधस्तात् प्रमाणानि यथा क्रमं । तथा प्रायश्चित्त-
मन्तरा सकलहिन्दुधर्मावलम्बिनां समुद्रपोतगमनानुष्ठानविषयकप्रमाणानि-
यथा, ऋग्वेदे,—ऋक् १ मं, २५ सू म ७, “वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण
पततां वेद नावः समुद्रियः” भाष्ये “अन्तरिक्षेण पततां आकाशमार्गेण
गच्छतां वीनां पक्षिणां पदं यो वरुणो वेद तथा समुद्रियः समुद्रेऽवस्थितो
वरुणः नावो जले गच्छन्त्याः पदं वेद जानाति सोऽस्मान् वन्धनान्मोचयत्विति शेषः”
इति सायनः । तथा ऋक् १० म सू १३६, म५, “वातस्याश्वो वायोः सखायो-
देवेषितो मुनिः । उभौ समुद्रा वाचेति यश्च पूर्वं उतापरः” भाष्ये,—

“वातस्य वायोः गतिरिव अश्वोव्याप्तः, यद्वा वायोरशिता भोक्ता, वायुरेव-
तस्याहार इत्यर्थः, अतएव वायोः सखा मित्रभूतः, अथो अपिच देवेषितः
देवेन द्योतमानेन वायुना सूर्येण वा इषितः प्राप्तः इदृशो मुनिः—

करिक्रतास्य ऋषिः उक्तप्रकारेण वायुरूपः सूर्यरूपो वा सन् उभौ समुद्रौ
उदधी आचेति अभिगच्छति, कौ तौ समुद्रौ यः पूर्वः समुद्रः उतशब्दस्यार्थे
यथापरः समुद्रः, इति तद्व्याख्यातारः ॥

तथा, ऋक् ७ मं द्द सू, ३, म “आयद्रुहाव वरुणश्च नावं प्रयत्समुद्र-
मीरयावमध्यं । अधियदपां क्षुभिश्चराव प्रप्रेख ईङ्गयावहै शुभे कं” । भाष्ये—

“यत् यदा वरुणे प्रसन्ने सति अहं वरुणश्चोभौ नावं द्रुममयीं तरणसाधन-
भूतां आरुहाव उभाव आरुढाव भूविवतां च नावं यत् यदा समुद्रं मध्यं
समुद्रस्य मध्यं प्रति प्रेरयाव प्रकर्षेण गमयाथ, यत् यदा च अपां उदकानां
अधि उपरि क्षुभिः गन्तौभिरन्याभिरपि नौभिः चराव वत्तार्वाहै तदानीं

शुभे शोभार्थं प्रेखे नौरूपायां दोलायामिव प्रेखयावहे निम्नोन्नतैस्तरङ्गै रितसेतस्य-
प्रविचलन्ती संक्रीडावहे कं सुखं यथा भवति तथेत्यर्थः” ।

तथा ऋक् १-५६-२-“तं गूर्तयो नेमन्निषः परीणसः समुद्रं न संचरणे
सनिष्ववः । पतिं दक्षस्य विदथस्य न, सहो गिरिं न वेना अधिरोह तेजसा”
भाष्ये,—“गूर्तयः स्तोतारः नेमन्निषः नमस्कारपूर्वं गच्छन्तः यद्वा नीत—

हविष्का परीणसः परितो व्याप्नुवन्तः एवं गुणविशिष्टा यजमानाः तं इन्द्रं
सुतिभिः अधिरोहन्ति सुवन्ति इत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः सनिष्ववः सनिं धनं
आत्मन इच्छन्तो वणिजः धनार्थं संचरणे संचारे निमित्तभूते सति समुद्रं न
यथा नावा समुद्रमधिरोहन्ति एवं स्तोतारोऽपि स्वाभिमतधनलाभाय इन्द्रं
सुवन्तीति भावः हे स्तोतः ! त्वं च दक्षस्य प्रवृद्धस्य विदथस्य यज्ञस्य पतिं
पालयितारं सहः सहस्र तं चलवन्तमिन्द्रं तेजसा देवताप्रकाशकेन स्तोत्रेण तु
क्षिप्रं अधिरोह सुहीति यावत् । वेनाः कान्ताः स्त्रियः गिरिं न यथा पर्वतं
स्वाभिमतपुष्पोपचयार्थमधिरोहन्ति” ।

तथा, मनुः,—

“समुद्रयाने कुशलाः देशकालार्थदर्शिनः ।

स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति” ।

तथा अथर्ववेदमहाभारतादिग्रन्थेषु एवंविधानां प्रमाणानां विद्यमान-
त्वेऽपि व्यवस्थावाहुल्यमिया नोत्तोलितानि तानेप्रवात्र ।

तथा वौधायनसूत्रे,—

“पञ्चधा विप्रतिपत्तिर्दक्षिणतस्तथोत्तरतो यानि दक्षिणतस्तानि व्याख्या-
स्यामो, यथैतदनुपनीतेन सह भोजनं पर्युषितभोजनं मातुलपिटृष्वदुहित-
परिणयनमित्यथोत्तरतः उर्णाविक्रयः शीधुपानमुभयतोदङ्घ्रिर्व्यवहार-
आयुधीयकं—

समुद्रयानमितीतरदितरस्मिन् कुर्वन् दुष्यतीतरदितरस्मिंस्तत्र तत्र देश-
प्रामाण्यात् । इति ।

तथा समुद्रनौगमनकर्तुः प्रायश्चित्तविधानेन समाजार्हत्वानुमोदने मिता-
चरायां वौधायनः,—“यत्तु वौधायनेनोक्तं समुद्रयानं ब्राह्मणस्य न्यासापहरणं
सर्वपण्यैर्व्यवहरणं भूम्यवृतं शूद्रसेवा यश्च शूद्रायामभिजायते तदपत्यं च भवति
तेषां तु निर्देशश्चतुर्थकालं मितभोजिनः स्युरपोऽभ्युपेयुः सवनानुकल्पस्थाना-
सनाभ्यां विहरन्त एतैस्त्रिभिर्वर्षैस्तदपन्नन्ति पापमिति तद्वहुकालसेवाविषयं ।”
निरुक्तप्रमाणानि युगान्तरविषयकाणि इति केचन यदर्थोपयन्ति तत्तुच्छं !
तत्तदग्रन्थेषु तद्विषयस्याप्रकाशिततया विभिन्नमतानामेकमतानयनेन
(१)सत्यमपलपितुमयुक्तत्वात् । अतस्तदर्थानुष्ठानं न प्रतिभाति समीचीन-
मित्याशयः ।

अपिच निरुक्तप्रमाणजालावलीकनवत्त्वात्समुद्रनौगमनमासीत्पूर्वतो-
भारते निर्विवादमिति सुस्थिरं ।

अन्यच्च—समुद्रनौगमनविषये सत्यपि निरुक्तप्रमाणजाले जागरूके दोष-
दृष्ट्या तदनन्तरभाविपूज्यपादमहर्षिहन्देन खल्वक्तृकग्रन्थनिबन्धेषु तद्वसनस्य
कलावनुपयोगितया कृतनिषेधत्वेऽपि तदन्तर्भूतापत्समये तन्निषेधस्या-
परिदर्शनात् समयेऽस्मिन् तदनुष्ठानं न दोषाधायकमित्युद्भास्यते सप्रमाण-
पर्यालोचनं निम्नतः ।

यथा,—नच समयोऽयमनापत्समय इति वाच्यं । खल्वजातीयवृत्त्या-
जीविकानिर्वाहाभावस्यापद्रूपात्मकत्वेन शास्त्रानुमोदितत्वात्, तथा,
तादृग्वृत्त्येदानीं जीविकानिर्वाहाभावस्य दृष्टिविषयत्वाच्च । कथमिति
चेदुच्यते खण्डनमण्डनयुक्तिनिर्देशपूर्वकं । यथा,—

इदानींतनसमये सत्यापत्कालात्मकत्वेन निश्चीति, रोगदुर्भिक्षादि
प्रपीडितावस्थाया आपद्रूपत्वेन परिसंख्यातत्वात्तदीयकाल एवापत्समय-
इत्यापत्समुत्थापयन्ति केचन तर्ककुशलाः निम्नस्थयुक्तिप्रदर्शनेनैव ।

यथा,—निरुक्तकालस्य बहुवर्षानवस्थायितया समयस्याधुनातनस्य बहुवत्-
सरव्यापित्वेन च कथमापत्समयात्मकत्वेन भवेत् परिगणितत्वमस्य ।

अपिच—वित्ताद्यभाववशतः कतिपयानां मानवानां सत्यां विपत्ती संघटितायामपि सृष्टिनियमाधीनतया क्रोडीकर्तुं मानवान् सर्वान् विपदियं न संघटेतेति पूर्वपक्षः । सिद्धान्ते तु वक्ष्यमाणविधया सत्याचरिते समाधाने न सम्भवेत् काप्यापत्तिः । कुत इति चेत् विवृत्यतेऽत्र संक्षेपतः । यथा—धर्मशास्त्रानुगतापत्तिविधा, रोगाद्यभिभूतावस्था, सम्यक्वर्त्तनीपायानुपलम्भः, धर्मविप्लवश्च, अर्थात् रोगशोकादिभिः प्रपीडितप्राणिनां याऽवस्था, सम्यक् रूपेण स्त्रीयस्त्रीयवृत्त्या स्वस्वजीविकानिर्वाहोपायस्य योऽभावः, क्रमशो धर्मलोपोपक्रमश्च, सर्वमेतदापदात्मकत्वेनाभिहितमेव, तदात्मकानामापदां सर्वासां स्यादेवात्मकालावस्थायित्वं तथा बहुवर्षव्यापित्वं च, ज्वरादिषु कतिपयेषु गदेषु कियत्समयमुपगतेषु सत्स्वप्युपशमं कुष्ठादयो रोगा भवन्त्यामरणं लेशदायकाः, तथा सति स एव समयः किमापत्काल इति न परिगण्यते सर्वैः । यदा कस्मादभाववशतोऽप्याजीवनावधि स्वाच्छन्द्रेण परिचालयितुं स्वजीविकां न कमप्युपायमुपलभेरन् लोकाः, तदा स एव समयो विपत्समयात्कोऽन्य इति कथ्यते लोकैः ।

भवति नैतच्छास्त्रदुष्टं । अतः स एवापत्काला-तिरिक्त इति नोच्यते सर्वैः । नच सांसारिकनियमानुसारिणेकदा सर्वे लोका नाभावग्रस्ता इत्यापत्तिः सुसंगतेति वाच्यं, सति पारावारनिमग्ने पोते तदारोहिणां प्राणिनां सर्वेषामेकदा दृष्टप्राणविसर्जनत्वात्, ग्रामदाहाद्यवसरे तदग्रामावस्थितानां जन्तूनां युगपदीक्षितभस्मीभावत्वाच्च । अशौचादिप्रकरणेऽवलोकितान्येवैतद्विषयकाणि साक्षिवचनानि सकलेषु धर्मशास्त्रेषु । तावदवलोक्यते प्रायशो यथैव महाव्यावसरेऽन्नाद्यभावप्रपीडितानां प्राणिनां व्याकुलता सदातनी । तथैव परिदृश्यन्तेऽभावशून्या धनिका वित्तादेः संरक्षणवेषणि । तथा राजानोऽपि प्रजादिपरिपालने तदपेक्षया विशेषाकुलाः । सकलानामेतेषां व्याकुलता एका विभिन्ना वा । न तावद्विभिन्ना व्याकुलतात्वावच्छिन्नव्याकुलताया-ऐक्यात् । अतः सर्वैरेवावश्यमङ्गीक्रियते सैकेति । ततो व्याकुलतोपलक्षितः कालः एवापत्समयो नान्य इत्यवश्यमेव स्वीकरणीयं सर्वैर्निर्विवादं । परामर्ष्टु-मिदानीं भवेद्युद्धेदयसरास्तदा ज्ञास्यन्ति यदेकांशोऽवस्थापन्नः, अन्योऽभावाक्रान्त-

इति । अतएव समयोऽयं न सार्वजनीनापत्समय इति न कथयिष्यते कैरपि हृदयवज्जिर्लोकैः । श्रीजगदीश्वरसृष्टेर्नियमोऽयं यत्क्रियत्स्वेकविषयकाभावाभि-
भूततया सत्स्वपि दुःखितेषु केचनान्यविषयकाभावेन भवन्ति कातराः ।
किन्तु तदुपलक्षितः कालः आपत्समय एवेति वक्ष्यते सर्वैः । सत्यामियत्-
समयपर्यन्तव्यापिन्यामापदि तदभिलक्षितः कालो विपत्समयात्मकत्वेन
कथनीय इति न ब्रुवन्ति शास्त्राणि । वरं शास्त्राणि यथा विपत्समयत्वं प्रति-
पादयन्त्यल्पकालव्यापिदुःखितावस्थायास्तथा बहुसम्बत्सरव्यापिदुःखापन्ना-
वस्थायाश्च, अतो या आपद्यत्समयव्यापिनी तद्विपदस्तत्समय एवापत्काल
इति निर्गलितार्थः । एतेनापत्कालस्य यावत्कालं रोगाद्यभिभूतता-
सम्यग्वर्त्तनोपायानुपलभ्यान्यतरजन्यनिषिद्धकार्यानुष्ठानप्रवृत्तिजनकत्वं । अथवा,
धर्मविप्लवस्यापत्कालात्मकत्वेन विद्यमानतया विधीयते लक्षणान्तरं यथा,—
यावत्कालं रोगाद्यभिभूततासम्यग्वर्त्तनोपायानुपलभ्यधर्मविप्लवान्यतमजन्य-
निषिद्धाचरणप्रवृत्तिजनकत्वविशिष्टत्वमापत्कालत्वमिति लक्षणं समायातं ।
त्रिविधात्मकापत्समय-विषयेऽस्मिन् प्रदर्श्यन्ते शास्त्रीयप्रमाणानि यथायथमत्र ।
यथा, महाभारते” पीडा चापत्कालश्च पत्तिज्ञानं च पाण्डव इति” तथाच
सम्यग्वर्त्तनोपायानुपलभ्यात्मकापद्विषये—

यथाह मनुः,—

“अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा ।

जीवेत् क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः ॥”

उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ।

कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद्दैत्यस्य जीविकामिति ॥

अधुनापदममाह कुल्लूकभट्टः—अजीवन्निति । यथोक्तेनाध्यापनादि स्वकर्मणा
ब्राह्मणो नित्यकर्मानुष्ठान-कुटुम्बसम्बर्द्धनपूर्वकमजीवन् क्षत्रियकर्मणा ग्राम-
नगररक्षणादिना जीवेत् । यस्मात् क्षत्रियधर्मोऽस्य सन्निकृष्टा वृत्तिः ।
उभाभ्यामिति । ब्राह्मणः उभाभ्यां स्ववृत्तिक्षत्रियवृत्तिभ्यामप्यजीवन् केन

प्रकारेण वर्त्तेतेति यदि संशयः स्यात् तदा कृषिपशुरक्षणे आश्रित्य दैश्यस्य
वृत्तिमनुतिष्ठेत्, कृषिगोरक्षणे वाणिज्यस्यापि प्रदर्शनार्थं । तथा च विक्रेयाणि
वक्ष्यति । स्वयं कृतं चेदं कृष्यादि ब्राह्मणापवृत्तिः । अस्ययं कृतस्य कृता-
नृताभ्यां जीवेत इत्यनापद्येव विहितत्वादिति ।

तथा स-एव,—

“वैश्यवृत्तिमनातिष्ठन् ब्राह्मणः स्वे पथि स्थितः ।

अवृत्तिकर्षितः सीदन्निमं धर्मं समाचरेत् ॥

सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद्ब्राह्मणस्त्वनयं गतः ।

पवित्रं दुष्यतीत्येतद्धर्मतो नोपपद्यते ॥

नाध्यापनाद्याजनाद्वा गर्हिताद्वा प्रतिग्रहात् ।

दोषो भवति विप्राणां ज्वलनाम्बुसमा हि ते ॥

जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणापन्नयं गतः ।

न त्वेव ज्ञायसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित् ॥

वैश्योऽजीवन् स्वधर्मेण शुद्रवृत्त्यापि वर्त्तयेत् ।

अनाचरन्नकार्याणि स वर्त्तेत च शक्तिमान् ॥

अशक्तुर्वस्तु शुश्रूषां शुद्रः कर्तुं द्विजन्मनां ।

पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत् कारुककर्मभिः ॥

यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः ।

तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विद्विधानि च ॥ इति

सर्वत इति ब्राह्मण आपदं प्राप्तः सर्वेभ्योऽपि निन्दितनिन्दिततर-
निन्दिततमेभ्यः क्रमेण प्रतिग्रहं कुर्यात् । अत्रार्थान्तरन्यासनामालङ्कारः ।
यस्मात् पवित्रं गङ्गादि रथोदकादिना दुष्यतीत्येतत्शस्त्रदृष्ट्या नोपपद्यते,
यस्मान्नाध्यापनादिति ब्राह्मणानामापदि गर्हिताध्यापनयाजनप्रतिग्रहैरधर्मो
न भवति, यस्मात् स्वभावतः पवित्रत्वेनाप्युदकतुल्यास्ते, जीवेदिति,-

क्षत्रियः आपदं प्राप्तः, एतेनेत्यभिधाय सर्वेणेत्यभिधानात् ब्राह्मणगोचरतया निषिद्धेनापि रसादिविज्ञयणेन वैश्यवज्जीवेत् । न पुनः कदाचित् ब्राह्मण-जीविकामाश्रयेत् । न केवलं क्षत्रियः वैश्यादयोऽन्येऽपि । शक्तिमानित्युपादानेनैव शक्तिविहीनस्याकार्याचरणेन दोष इत्यवगम्यते । विप्रादीनामुपलक्षणमेतत् । इति व्याख्यानकर्तारः । एवं याज्ञवल्क्यादिग्रन्थेषु प्रमाणानां सत्त्वेऽपि व्यवस्थाप्राचुर्येभिर्यो नोद्धृतान्येव तानि । तथाच धर्मविष्णुवाल्मीकापदि महाभारतीय शान्तिपर्वान्तर्गतापद्धर्मपर्वणि—

युधिष्ठिर उवाच,—

“हीने परमके धर्मे सर्वलोकाभिलंघिते ।
अधर्मे धर्मतां नीते धर्मे चाधर्मतां गते ॥
मर्यादासु विनष्टासु क्षुभिते धर्मनिश्चये ।
कथमापत्सु वर्त्तत तन्मे ब्रूहि पितामह ! ॥
येन येन विशेषेण कर्मणा येन केनचित् ।
अभुञ्जीवेत् साद्यमानः समर्थो धर्ममाचरेत् ॥
यथायथैव जीवेद्भि तत्कर्तव्यमहेतया ।
जीवितं मरणाच्छ्रेयो जीवन् धर्ममवाप्नुयात् ॥
सोऽहं जीवितमाकाङ्क्षन्नभक्ष्यस्यापि भक्षणं ।
व्यवस्थेद्बुद्धिपूर्वं वै तद्भवाननुमन्यतां ॥

इत्यादिवहुप्रमाणानि सन्त्यपि व्यवस्थावाहुव्यभिर्यो नोक्तोलितानि । न च निरुक्तत्रिविधात्मकापत्समयस्य प्रोक्तप्रमाणजालेन कृतायामपि सत्यां स्थिरतायां युगान्तरापेक्षया युगेऽस्मिन् भविष्यमाणनानाविधानिष्टसंघस्यार्भेय-प्रमाणैः सूचितत्वात् कलिसामान्यमेवापत्समय इति वाच्यं “चत्वार्यब्द-सहस्राणि चत्वार्यब्दशतानि च । कलेर्यदा गमिष्यन्ति तदा त्रेतापरिग्रहः ।”

इति व्यासोक्तवचनेन चतुःशताब्दसहितचतुःसहस्राब्दपरिमितस्य कल्पाशस्य त्रिपादधर्माधारत्रेतायुगात्मकत्वेन परिगणिततया कलिसामान्य-

स्यानापत्कालत्वात् “आपट्टस्तिर्हिजाग्रगणा”मित्यादिवाक्येनैव विप्राणां पूर्वतो व्याख्यातकियत्परिमाणकापट्टच्यनवलम्बनस्यातिदिष्टतया विवादास्पदत्वाभावाच्च । अनेन कलिसामान्यमेवापत्समय इति राद्धान्तः । न चास्येदानीं तनस्य समयस्यानापत्कालत्वमिति शङ्कनीयं । बहुवासरतो भरतखण्डस्य विदेशीयभिन्नधर्मावलम्बनरपत्यधीनकलिप्रावल्त्यस्य शास्त्रीयप्रमाणसुविदितत्वेनापत्समयत्वात् । कलिप्रवलताया आपत्समयत्वाच्च । प्रमाणितं चैतदनेन, यदा तु क्लेशजातोया राजानो धनलोलुपा भविष्यन्ति मङ्गाप्राप्ते तदैव प्रबलः कलिरित्याद्युक्तासतन्त्रवचनेन । अपिच जीवनहेतुत्वेनापदि स्थूलतो ह्यन्तराद्युपाये सत्यपि निरुक्तप्रमाणव्रातेन निरूपिते संप्रति विभागशस्तद्वेतुतया मनुयाञ्चवल्काप्रदर्शिता बहुविधा उपायाः प्रकाश्यन्तेऽत्र यथाह मनुः,—

“विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः ।

धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः ॥”

“विद्येति—आपत्प्रकरणाज्जीवनहेतव इति निर्देशादेतेषां मध्ये यया ह्यथा यस्यानापदि जीवनं निषिद्धं तथा तस्यापद्यभ्यनुज्ञायते । यथा ब्राह्मणस्य भृतिसेवादि एवं शिल्पादावपि ज्ञेयं । विद्या वेदविद्याव्यतिरिक्ता (जीविकानिर्वाहहेतुका) वैद्यतर्कविषापनयनादिविद्या (आदिपदेन मौलिकधर्माविरोधिविदेशीयविद्याशिक्षादिसंग्रहः) सर्वेषामापदि जीवनार्थं न दुष्यति । शिल्पं लिखनादिकरणं । आदिपदोपादानेन सकलकारकर्मणां संग्रहणं । भृतिः प्रेम्णभावेन वेतनग्रहणं । सेवा पराज्ञासम्पादनं । अर्थात् नृपादिधनिक्रमानवसेवया जीविकापरिचालनं । गोरक्ष्यं पाशुपाल्यं । विपणिर्वाणिज्यं । कृषिः स्वयंक्रता । धृतिः सन्तोषः । तस्मिन्नल्पकेनापि जीव्यते । भैक्ष्यं भिक्षासमूहः, कुसीदं वृद्ध्या धनप्रयोगः, स्वयंक्रतोऽपि ह्यत्येभिर्दशभिरापदि जीवनीयमिति कुल्लूकभट्टः । तथाहि मेधातिथिः,— सर्वपुरुषाणामापदि वृत्तिरियमनुज्ञायते । तत्र विद्या वेदविद्याव्यतिरेकेण वैद्यतर्कभृतविषापनयनविद्या सर्वेषां जीवनार्था न दुष्यति शिल्पं व्याख्यातं,

भृतिः प्रेक्षकत्वं । सेवा परवृत्तानुवर्तित्वं । धृतिः सन्तोषः दृष्टार्थं चैतत् ।
अतो विहितवृत्त्यभावेन एते जीवनोपायाः संकीर्त्यन्ते पुरुषमात्रविषयत्वात् ।
इति,

याज्ञवल्करः,—

“कृषिः शिल्पं भृतिर्विद्या कुसीदं शकटं गिरिः ।

सेवानूपं नृपो भैक्ष्यमापत्तौ जीवनानि तु” ॥

“किंच आपत्तौ जीवनानीति विशेषणात्कृष्यादीनां मध्येऽनापदवस्थायां
यस्य या वृत्तिः प्रतिषिद्धा तस्य सा वृत्तिरनेनाभ्यनुज्ञायते । यथापदि वैश्य
वृत्तिः स्वयंक्रता कृषिर्विप्रचत्रिययोरभ्यनुज्ञायते । एवं शिल्पादीन्यस्याभ्य-
नुज्ञायन्त । शिल्पं सूपकरणादि । भृतिः प्रेक्षकत्वं । विद्या भृतकाध्यापकत्वाद्या
(आद्यपदोपादानेन कुल्लूकभट्टव्याख्यातविषयाः संगृहीता अत्र ।) कुसीदं
दृष्टार्थं द्रव्यप्रयोगः । तत्स्वयंक्रतमभ्यनुज्ञायते । शकटं भाटकेन धान्यादि-
वहनद्वारेण जीवनहेतुः । गिरिस्तद्वत्तद्वारेण जीवनं । सेवा, पर-
चित्तानुवर्तनं । अनूपं प्रचुरवृत्तवृत्तजलप्रायप्रदेशः । तथा नृपयाचनं ।
भैक्ष्यं स्नातकस्यापि एतान्यापत्तौ जीवनानीति विज्ञानेश्वरः” । प्रोक्तव्याख्या-
कर्तृभिः,—सन्निपतो विहितस्यापेक्षतद्वचनद्वयोक्तजीविकानिर्वाहप्रयोजनकोपाय-
विसराभ्यन्तरे प्रकृतोपकारकतयाऽनुष्ठायतेऽत्र विशेषविवरणं विद्यावाणिज्यादेः ।
यथा विद्या ज्ञानार्थकविदुधातोः करणे क्यप् प्रत्ययः । ततः स्त्रियां टाप् ।
अनया रीत्या विद्येतिपदं निष्पन्नं । सा अध्ययनजन्यज्ञानात्मिका । सा तु
वेदादिचतुर्दशविधा । किन्त्वेषा निःश्रेयससाधिका नत्वापदि जीविका-
प्रचलनापादिका । अतस्तन्निर्वाहार्थमभ्युदयसाधनं नैदानिकधर्मानुशङ्कं यत्
किञ्चिदपि विद्याध्ययनं करणीयमिति कुल्लूकभट्टाभिप्रायः । सति जीवन-
धारेण निःश्रेयससाधनधर्मः सुसाध्य एव । अन्यथा तद्वृत्तं निराधारमेव ।
शरीरधारणमन्तरा धर्मसम्पादनस्यासाध्यत्वात् विषयेऽस्मिन् प्रमाणानि
मन्वादिधर्मशास्त्रेषु द्रष्टव्यानि ॥ अपिचानधीतविद्यानां द्विजातीनां राज्ञा
दण्डश्रममपि प्रतिपादितं धर्मशास्त्रकारैरधख्यप्रमाणजालेनैव ।

पराशरः,

अनृता ह्यनधीयानां यत्र भैक्ष्यचरा द्विजाः ।

तं ग्रामं दण्डयेद्राजा चौरभक्तप्रदो हि सः ॥ इति

वशिष्ठोऽपि,—

अनृता ह्यनधीयानां यत्र भैक्ष्यचरा द्विजाः ।

तं ग्रामं दण्डयेद्राजा चौरभक्तप्रदो हि सः ॥ इति

प्रोक्तप्रमाणद्वयस्थानधीयाना इति विशेषणपदस्य भैक्ष्यचरविशेषण-
साहचर्यस्थानधीतजीविकानिर्वाहकविद्यारूपोऽर्थो बोद्धव्यः । अतो द्विजानामु-
भयविधविद्याध्ययनं सदैव करणीयं । किन्त्वापत्सम्भवनया निषिद्धाया अपि
यस्याः कस्याचित् विद्याया द्विजातिकर्तृकाध्ययनस्य धर्मशास्त्रकारैरभ्यनुज्ञात-
त्वाद्विदेशीयार्थकर्मविद्याशिद्धानुष्ठानं न दोषाधायकमिति राक्षान्तः । न
च निम्नजातेरध्ययनं धर्मशास्त्रविरुद्धमिति वाच्यं । आपदि निम्नजातेरध्ययनस्य
शास्त्राभ्यनुज्ञातत्वात् । एतत्तु निम्नजात्यध्यापनस्योपलक्षकं । प्रमाणमत्र
जागरूकं । प्रमाणं यथा बृहदारण्यकोपनिषदि "वाचा स्म वै पूर्वे उपयन्ति
सङ्गोपायनकीर्त्यावास । अत्र भाष्यं वाचा स्म किल पूर्वे ब्राह्मणा विद्यार्थिनः
सन्तः क्षत्रियान् वैश्यान् उपयन्ति शिष्टवृत्त्या उपगच्छन्ति । नोपायेन शुश्रूषाभिः
अतः स गौतमः उपायेन कीर्त्या उपगमनकीर्त्तनमात्रेणैव उवास जपिवान् ।
नोपायनं चकार । तथानन्दगिरिः । आपदि समादधिकाद्वा विद्यां प्राप्य
सम्भाववस्थायां उपायनमुपगमनं पादोपसर्पणं ।

गौतमोप्याह,—

आपत्कल्पो ब्राह्मणस्य ब्राह्मणाद्विद्योपयोगोऽनुगमनं, शुश्रूषासमाप्तेः
ब्राह्मणो गुरुः, याजनाध्यापनप्रतिग्रहाः सर्वेषां पूर्वः पूर्वीं गुरुः, तदलामे
चाचवृत्तिस्तदलामे वैश्ववृत्तिः" ।

तथाच मनुवचनं,—

"अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते ।

अनुब्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः" ॥ इति

यथा यत् न स्नेच्छभाषां शिचेतेति वशिष्ठवचनप्रदर्शनेनैव स्नेच्छविद्याध्ययने विरोधमुत्पादयन्ति तत्तुच्छं । जीविकानिर्वाहनिषिद्धविद्यापठनस्यापि शास्त्रानुकूलत्वात् । तथा यवनीयराजत्वावसरतस्तच्छिद्यायाः शिष्टेरादृतत्वाच्च । किन्तु प्रायशो विनापि भारतभिन्नदेशान्तरगमनं न सम्भवति बहुविषयककौशलाधायकविद्याध्ययनं विपत्कष्टनिवारकवाणिज्यानुष्ठानं च । तत्तु शिद्याद्युद्देश्य-कपोतकरणकसमुद्राधिकरणकगमनानुकूलकल्याण्यत्वमपेक्षते । किन्तु निरुक्त-द्विकस्येत्यादिकतिपयमुनिभाषणोक्तसमुद्रयाननिषेधस्य पूर्वप्रदर्शितकलिसा-मान्यपरतया तदनुष्ठानमापदि न विगानमिति धर्मशास्त्रकाराभिप्रायः । न च—“आपहृत्तिर्द्विजाग्रगणामश्वस्तनिकता तथे”ति वचनवलात् कलावेवाप-दृष्टेर्निषिद्धतया कथमत्रावलम्बनीयाऽपदृष्टिरितिवाच्यं, वचनस्यास्य चाक्रा-यणादिमहर्षिभिरन्यथाव्याख्यातत्वेन तदवलम्बनस्यादोषावहत्वात् । तत् व्याख्यानादिकं प्रचुरतया नोत्तोलितमत्र । सति सन्देहे व्याख्यानमिदं कल्या-पहर्मसर्वस्वग्रन्थेऽवलोकितव्यमेव । केवलं तु तद्गमनदेशावस्थानाद्यवसरेऽगतिक-तया सति सन्धवे सन्ध्यादिनित्यकर्मानुष्ठानविसर्जनस्य तथा हिन्दुधर्मविगर्हित-भक्ष्यभक्षणविजातीयसंसर्गादेश प्रोक्त विद्याध्ययनादिकार्यसमापनानन्तरं कृते सति स्वदेशप्रत्यावर्त्तने देशकालपात्रदृष्टितः सामान्येन प्रायश्चित्तं विधाय विप्रादिशूद्रान्तःपूतो व्यवहार्यश्चेति विदुषां परामर्शः । नन्वनिश्चितावधिकस्य कल्यभ्यन्तरपातिनोऽधुनातनापत्समयस्य विद्यमानतया “निस्तीर्थ्य तामया-त्मानं पावयित्वा न्यसेत्पथि” । इत्यादि याज्ञवल्क्यीयवचनेनोत्तीर्णापत्समय-स्याभ्यनुज्ञातप्रायश्चित्तत्वेन च विद्याध्ययनादिकर्मसमापनानन्तरं कथं विप्रा-दिना प्रायश्चित्तं विधातव्यमिति व्यवस्थापितमिति चेन्न । अहरहः सन्ध्यामुपा-सीत इति श्रुतिप्रमाणात्, “नोपतिष्ठति यः पूर्वं नोपास्ते यश्च पश्चिमां । स शूद्रवद्विष्कार्यः सर्वस्मात् द्विजकर्मणः ।” इति मनुस्मृत्युक्तवचनवलाद्वाञ्छी-चवदापद्यपि संकोचेनापि प्रात्याहिकसंध्यानुष्ठानस्याभ्यनुज्ञाततयाऽकरणे प्रत्य-वायव्यवणात्तथा भक्ष्यभक्षणादेर्मनुना निषिद्धत्वपरिदर्शनाच्चोपायान्तरबिही-नतया कादाचित्कतदतिक्रमजन्यपापोपशमनाय कृतेऽपि प्रायश्चित्ते “अधिकं तु प्रविष्टं न च तद्धानिरिति” न्यायेन प्रकृतस्य क्षत्यसम्भवेन दोषाभावात् ॥

अत्राप्ययमेव विशेषोऽनापदि सत्यप्यविहिताचरणे कृतगुरुप्रायश्चित्तस्या-
प्यव्यवहार्यता । अपिच सन्ध्यादिनित्यकर्मोपकरणानां तथा धर्मशास्त्रविहिता-
हारीयद्रव्याणां च सत्यपि प्राप्तिसम्भवे तदन्यथाचरणजन्यपापानुत्तये-
ऽनुष्ठेयं गुरुतरप्रायश्चित्तं । तथा तदसम्भवेऽगतिकतया तदनुष्ठानस्य धर्म-
शास्त्राभ्यनुज्ञाततया लघुतरप्रायश्चित्तविधाने न कापि विप्रतिपत्तिरिति
परामर्शः ॥

ननु पापस्य निरुक्तसन्ध्यादिनित्यकर्मविसर्जनप्रभृतिशास्त्राविहितकार्या-
नुष्ठानजन्यात्मकतया बहुविधत्वात् प्रायश्चित्ताचरणं पार्यक्येन उत तन्त्रेणेति
चेदुच्यते । यथा न तावदाद्यः, सति पापसंकर्ये पृथक् प्रायश्चित्तविधायक-
धर्मशास्त्रीयप्रमाणपरिदर्शनात् । अतएव द्वितीयपक्षावलम्बनं शास्त्रानुकूल-
मेव । कथमेतदित्याकांक्षायां प्रदर्श्यन्तेऽधस्तात् शास्त्रीयप्रमाणानि ॥

यथाह पराशरः,—

सर्वपापमेव पापानां संकरे समुपस्थिते ।

शतसाहस्रमभ्यस्ता गायत्री शोधनं परं ॥ इति

तथाच गङ्गः,—

सव्याहृतिकां सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह ।

ये जपन्ति तदा तेषां न भयं विद्यते क्वचित् ॥

दशजप्ता तु सा देवौ दिनपापप्रणाशिनी ।

सहस्रं जप्ता सा नृणां पातकेभ्यः समुद्धरेत् ॥

स्वर्गस्तेयौ कृतघ्नश्च ब्रह्महा गुरुतल्पगः ।

सुरापश्च विशुध्येत लज्जजप्तेन सर्वदा ॥ इति ॥

अथवा स एव—

द्वतयुतैस्त्रिलैर्वक्त्रै ह्रत्वा तु सुसमाहितः ।

गायत्र्यायुतहोमात्तु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ इति ।

हस्तत्राणप्रदा देवी पततां नरकार्णवे ।

तस्मात्तामभ्यसेन्नित्यं ब्राह्मणो नियतः शुचिः ॥

तथाच याज्ञवल्करः—

यत्र यत्र च संकीर्णमात्मानं मन्यते द्विजः ।

तत्र तत्र तिलैर्होमो गायत्र्या वाचनं द्विज । इति ।

तथाच मिताक्षरायां विज्ञानेश्वरः,—

“किं च यत्र यत्र ब्रह्मवधादौ तज्जनितदोषजातेनात्मानं संकीर्णमभिभूतं द्विजो मन्यते तत्र तत्र गायत्र्या तिलैर्होमः कार्यः ॥ तत्र महापातकेषु गायत्र्या लक्षहोमः कार्यः ॥ “गायत्र्या लक्षहोमे च मुच्यते सर्वपातकै”रिति यमस्मरणात् । अतिपातकादिषु पादपादङ्गासः कल्पनीयः । तथा तिलैर्वाचनं दानं कार्यं । तथा रहस्याधिकारे वशिष्ठः । “वैशाख्यां पौर्णमास्यां वा ब्राह्मणान् पञ्च सप्त च । क्षौद्रयुक्तैस्त्रिलैः क्षण्यैर्वाचयेदथवेतरे ॥ प्रीयतां धर्मराजेति यद्वा मनसि वर्तते । यावज्जीवं कृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति” । अनियतकालेऽपि दानं तेनैवोक्तं । “क्षणाजिने तिलान् कृत्वा हिरण्यं मधु सर्पिणी । ददाति यस्तु विप्राय सर्वं तरति दुष्कृतमिति” ।

तथा व्यासेनाप्युक्तं,—

तिलधेनुं च यो दद्यात् संयतात्मा द्विजन्मने ।

ब्रह्महत्यादिभिः पापैर्मुच्यते नात्र संशयः । इति ।

एवमादिदानजातं रहस्यकाण्डोक्तमविदुषां द्विजातीनां स्त्रीशूद्रयोश्च वेदितव्यमिति । मिताक्षरायां पुनः स एव । तथा गायत्र्याश्च महापातकेषु लक्षमतिपातकोपपातकयोर्दशसहस्रमुपपातकेषु सहस्रं प्रकीर्णकेषु शत-मित्येवं विशेषतो जपः सर्वपापहरः । तथाच गायत्रीमधिकृत्य श्लोकः शङ्के-
नोक्तः ।

शतं जप्ता तु सावित्री महापातकनाशिनौ ।

सहस्रं जप्ता तु तथा पातकेभ्यः प्रमोचिनौ ॥

दशसाहस्रजापेन सर्वकिल्बिषनाशिनौ ।

लक्षं जप्ता तु सा देवौ महापातकनाशिनौ ॥

सुवर्णस्तेयकृद्भिप्रो ब्रह्महा गुरुतल्पगः ।

सुरापश्च विशुध्यन्ति लक्षं जप्ता न संशयः ॥ इति ।

प्रमाणानामेतेषामभ्यन्तरेऽशौचवत् संकोचविधयापदि द्विविधात्मकं प्रायश्चित्तमुद्गाधितं । तत्र गायत्रीमन्त्रेण घृतयुक्ततिलहोमात्मकं प्रायश्चित्तं पक्षैकं ॥ तत्तु महापातकादिपापसांकार्ये लक्षैकपरिमितं अतिपातकादिपापसंमिश्रणे पादपादक्लासात्मकं । अन्यत्र गायत्रीजपात्मकं तत्तद्ब्रह्महत्यादिपापसंमिश्रणे लक्षैकसंख्यातं तदन्यपातकसांकार्ये दशसहस्रगायत्रीजपपरिमितं प्रायश्चित्तमिति शास्त्रीयमर्थ्यादा । विवेचनेनानेन सत्यपि निर्दिष्टे महापातकादिपापप्रायश्चित्ते किन्त्वत्र प्रश्नोक्तसमुद्गमनौगमनहोपान्तरावस्थानजनितपापानामतिपातकोपपातकसंकीर्णादिपापात्मकतया घृतयुक्ततिलेन लक्षपरिमितहोमस्य पादपादक्लाससंख्यया प्रायश्चित्तमनुष्ठाय्यं । अथवा दशसाहस्रगायत्रीमन्त्रजापेन प्रायश्चित्तं विधातव्यमेव । यस्य यस्मिन्नभिरुचिस्तेन तदनुष्ठाय्यं निर्विवादमिति निर्गलितार्थः ॥

नच प्रायश्चित्तद्वयमिदं भवेद्ब्राह्मणादिप्रतिलोमजान्यजातोयव्यक्तिविषयकमिति वाच्यं जातिविशेषे धर्मशास्त्रनिवहे पृथक्व्यवस्थापरिदर्शनात् । तथा मिताक्षरायां विज्ञानेश्वरः— एवं च ब्राह्मणानां येन हन्तृहन्त्यमानमतगुणविशेषेण यः प्रायश्चित्तविशेषो व्यवसितः, स एव तद्गुणविशिष्टे क्षत्रियादौ हन्तरि द्विगुणस्त्रिगुणो वेदितव्यः । अन्येव दिशा क्षत्रियवैश्यादावपि हीनेन चतुष्कलवधे दोषगौरवात् प्रायश्चित्तस्यापि द्वैगुणादि कल्पनीयं । दोषगौरवं च दण्डगौरवादवगम्यत एव । यथोक्तं “प्रतिलोमापवादेषु द्विगुणस्त्रिगुणो दमः । वर्णानामानुलोम्ये च तस्मादर्धाद्विज्ञानितः इति” । यत्तु चतुर्विंशतिमतवचनं, “प्रायश्चित्तं तदाज्जातं ब्राह्मणस्य महर्षिभिः । पादोनं क्षत्रियः कुर्यादहं वैश्यः समाचरेत् । शूद्रः समाचरेत् पादमशेषेष्वपि पाप्मसु” ।

तत्प्रतिलोमानुष्ठितचतुर्विधसाहस्यतिरिक्तविषयं । तथा मूर्ध्नात्रसिक्ता-

दीनामप्यनुलोमोत्पन्नानां दण्डवत्प्रायश्चित्तमूहनीयं । दर्शितं दण्डतारतम्यं ।
 “दण्डप्रणयनं काथ्यं वर्णजात्युत्तराधरै”रिति । ततश्च भूर्ध्ववर्षाक्षिप्तस्य
 ब्राह्मणवधे ब्राह्मणादतिरिक्तं क्षत्रियान्नूनमध्यर्धं द्वादशवार्षिकं भवति ।
 अनयेव दिशा प्रतिलोमोत्पन्नानामपि प्रायश्चित्तगौरवमूहनीयं । तथा
 आश्रमिणामपि अङ्गिरसा विशेषो दर्शितः । इत्यादि । इत्यादिप्रमाण-
 ब्राह्मणपर्यालोचनतोऽवबुध्यते ब्राह्मणैतरनिम्नतमजातीयानां स्वस्त्रापेक्षयोत्
 कृष्टजातीयलोकवधे तथोत्कृष्टजातीयस्त्रीसंभोगादौ च विप्रापेक्षयाऽन्येषां
 जातीयानां प्रायश्चित्ताधिक्यं तथा पापेष्वेतद्भिन्नेषु ब्राह्मणादप्यन्येषां जातीयानां
 क्रमशः क्षीणात्क्षीणतमप्रायश्चित्तानुष्ठानमिति, तथाच सकलजातीयवृत्त-
 स्त्रीपुरुषबालकवृद्धानां स्वस्त्रजातुक्तप्रायश्चित्तज्ञासविषयेऽपि न पराङ्मुखा-
 धर्मशास्त्रकाराः ॥

यथा, याज्ञवल्करटीकायां विज्ञानेश्वरः,—

“अकार्यकारिणस्त्वेषां प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् ।” इति

तथा बालवृद्धानां साक्षात्कर्तृत्वेऽर्हमेव । “अशीतिर्यस्य वर्षाणि-
 वाली वा पूरुषोऽष्टशः । प्रायश्चित्तार्द्धमर्हन्ति स्त्रियो-रोगिण एव चेत्यङ्गिरसः”
 स्मरणात् । तथावाङ्क्तु द्वादशवर्षादशीतेरर्द्धमेव वा । अर्द्धमेव भवेत् पुंसां-
 तुरीयं तत्र योषिता”मिति । तथानुपनीतस्यापि बालकस्य पादमात्रमेव
 प्रायश्चित्तं, “स्त्रीणामर्द्धं प्रदातव्यं वृद्धानां रोगिणां तथा । पादो बालेषु
 दातव्यः सर्वपापेष्वयं विधिः” इति स्मरणात् । तथाप्यत्र देशकाल-
 पात्रशक्ति-दृष्टिरपि यथा जागरूका पूज्यपादानां महर्षीणां सापि प्रदर्श्यते
 निम्नतः ।

याज्ञवल्करः,—

“देशं कालं वयः शक्तिं पापं चावेक्ष्य यत्नतः ।

प्रायश्चित्तं प्रकल्प्य स्यात् यत्नोक्ता न निष्कृतिः” ॥

तथा च मिताक्षरायां विज्ञानेश्वरः,—

यदुक्तं प्रायश्चित्तजातं वक्ष्यमाणं वा तद्देशादिकमवेक्ष्य यथा कर्तुः

प्राणविपत्तिर्न भवति तथा विषयविशेषे कल्पनीयं । इतरथा प्रधाननिवृत्ति-
प्रसंगात् । तथा वक्ष्यति “वायुमच्छो दिवा तिष्ठन् रात्रिं नीत्वाप्सु सूर्यदृगिति”
तत्र यदि हिमगिरिनिकटवर्तिनामुदकवास उपदिश्यते अति-शीताकुलिते
वा शिशिरादिकाले तदा प्राणवियोगो भवेदिति तद्देशकालपरिहारेणोदक-
वासः कल्पनीयः, तथा वयोविशेषादपि यदि नवतिवार्षिकादेरपूर्णद्वादश-
वार्षिकस्य वा द्वादशाब्दिकं प्रायश्चित्तमुपदिश्यते तदा प्राणा विपद्येरन्निति ।
ततोऽन्यवयस्के तत्प्रायश्चित्तं कल्प्यम् । अतएव स्मृत्यन्तरे कचिदर्थं कचित्पाद-
इति वृद्धादिषु प्रायश्चित्तस्य क्लृप्तोऽभिहितः । तत्तु प्राक् प्रपञ्चितं । तथा,
धनदानतपश्चरणादि शक्त्यपेक्षया च, नहि निर्हन्तस्य पात्रे धनं वा पथ्यामं
इत्याद्युपपद्यते । तद्योद्धिक्तपित्तादेर्वा पराकादिकं नापि स्त्रीशूद्रादेर्जपादिकं ।
अतएव गजादीनामशक्नुवन् “दानं दातुं चरेत्कच्छ्रं एकैकस्य विशुद्धय” इत्युक्तं ।
तथा, “प्रायश्चित्तार्हमर्हन्ति स्त्रियो रोगिण एव वा” चेति । तपस्यशक्तस्य स्मृ-
त्यन्तरे प्राक् प्रायश्चित्तस्य क्लृप्तोऽभिहितः । इत्यादि ॥ निगमागमोक्त-मन्त्रजपे
स्त्रीशूद्रयोरधिकारित्वाभावाज्जपात्मकप्रायश्चित्तादेयः ॥ तथा, तपोव्रता-
नुष्ठानाशक्तस्य तपोव्रतात्मकप्रायश्चित्तविधानं च न दातव्यमिति विज्ञानेश्वरेण
प्रकटीकृतं स्नाकृतं निरुक्तयाज्ञवल्क्यवचनव्याख्यानेन । तथा प्रायश्चित्तविषये-
ऽस्मिन् विशेषविवृतिः प्रदर्श्यते पण्डितसर्वस्वनिबन्धकर्तृभिः । व्रतग्रहणविधिः ।
एतानि कच्छ्रचान्द्रायणादीनि पापप्रायश्चित्तार्थमनुष्ठीयन्ते । तदा केशादिव-
पनपूर्वकं व्रतात् पूर्वद्युः सायंकाले यहीतव्यानि । अभ्युदयार्थं तु नैव वपनं ।

“सर्वपापेषु सर्वेषां व्रतानां विधिपूर्वकं ।

ग्रहणं संप्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्ते चिकीर्षिते ॥

दीयते नखरोमादीन् प्रवाप्य स्नानमाचरेत् ।

भस्मगोमयमृद्वारिपञ्चगव्यानि कल्पते ॥

मलापकर्षणं कार्यं वाह्याशौचोपशुद्धये ।

क्षन्तधावनपूर्वेण पञ्चगव्येन संयुतं ॥

व्रतं निशामुखे ग्राह्यं वहिस्तारकदर्शने ।
 आचक्ष्णाः परं मौनी ध्यायन् दुष्कृतिमात्मनः ॥
 मनःसन्तापनं तीव्रमुद्वेगच्छोकमन्ततः ।
 दिनान्ते व्रतस्य दिनस्य पूर्वेषु सायं । वहिः ग्रामाद्वहिः ॥
 आरम्भे सर्वकृच्छ्राणां समाप्तौ च विशेषतः ।
 आज्येनैव हि शालात्मौ जुहुयाद्वाह्यतीः पृथक् ॥
 रात्राभ्यङ्गं शिरोऽभ्यङ्गं ताम्बूलमनुलेपनं ।
 व्रतस्थो वर्जयेत्सर्वं यच्चान्यद्वलकारकं ॥

स्त्रियाऽप्येवं व्रतपरिग्रहः कार्यः केशनखरोमवपनवर्जं । “विद्वद्विप्रवृत्तप-
 स्त्रीणां नेष्यते केशवापनं । ऋते महापातकिनो गोहन्तृद्यावकीर्णिनः” इति
 वचनात् । तथा मुण्डनविषयेऽस्मिन् विशेषमाह मिताक्षरायां विज्ञानेश्वरः,-
 एतानि कृच्छादिव्रतानि प्रायश्चित्तार्थमनुष्ठेयन्ते तदा केशादिवपनपूर्वकं
 परिग्रहीतव्यानि । “वपनं तु व्रते चरेत्” इति मौतमस्मरणात् । अभ्युदयार्थे
 तु नैव वपनं । वशिष्ठेनाप्यत्र विशेष उक्तः,—

“कृच्छ्राणां व्रतरूपाणां श्मश्रुकेशादि वापयेत् । कुचिरोमशिखा-
 वर्जं” इति । कृच्छ्राणां व्रतरूपाणां वपनान्यङ्गानि वक्ष्यन्त इति शेषः ।

वपनानिच्छेस्तु हारीतेन विशेष उक्तः,—

“राजा वा राजपुत्रो वा ब्राह्मणो वा बहुश्रुतः ।
 केशानां वपनं कृत्वा प्रायश्चित्तं समाचरेत् ॥
 केशानां रक्षणार्थं तु द्विगुणं व्रतमाचरेत् ।
 द्विगुणे च व्रते चीर्णे दक्षिणा द्विगुणा भवेत् ॥
 इत्येतच्च महापातकादिदोषविशेषाभिप्रायेण द्रष्टव्यं ।
 विद्वद्विप्रवृत्तपस्त्रीणां नेष्यते केशवापनं ।
 ऋते महापातकिनो गोहन्तृद्यावकीर्णिनः” इति-

मनुस्मरणात् ॥ निरुक्तप्रमाणव्रातपर्यालोचनतः ब्रह्महत्यानोवधाव-
कीर्णपातकजातप्रायश्चित्तविधानीयमुच्छ्रितमन्तराऽभ्युदयार्थप्रायश्चित्तजाज्ञाचरणे
वपनं नानुष्ठातव्यमिति प्रतिभाति धर्मशास्त्रीयाकृतं । संप्रति द्विजानां
कायेन तत्तद्गुणादिकरणाशङ्कौ तथानुपनीतानां वैश्यानां तदन्वेषां विभिन्न-
जातीयानां च गायत्र्याद्यनुष्ठाने शास्त्रीयाभ्यनुज्ञाभावदर्शनात्तत्तत्प्रायश्चित्ता-
नुष्ठाने च कीदृमनुकल्पविधेः प्रदर्शयामासुर्भागं धर्मशास्त्रकर्तारोऽवलोक्यतां
सादरं सोऽधः ॥ यथा पण्डितसर्वस्वे सुमन्तुः,—

“यदप्यसक्तदभ्यस्तं बुद्धिपूर्वमघं च यत् ।

तच्छुद्धेयतादृक्कच्छेयं महतः पातकादृते ॥”

अदृक्कच्छाद्यशङ्कौ ॥ ‘प्राजापत्येऽग्निशङ्कौ धेनुं दद्याद्विचक्षणः’ ॥
तथा छच्छ्राणामेषां कर्त्तव्यताशङ्कौ धेनुदानविधिः ।

“प्राजापत्ये भवेद्धेनुस्तिस्रः शान्तपने तथा ।

पञ्च चान्द्रायणे प्रोक्तास्तसो वाश्च धेनवः ॥”

“पराकिं वे तु निर्दिष्टे तप्तकच्छे तथैव चेत्यादि ।”

तदभावे नायत्रीजपः उदवासी वा कार्यः ।

कच्छेऽयुतं च गायत्र्या उदवासस्तथैव च ।

धेनुप्रदानं विप्राय सममेतच्चतुष्टयमिति ।

तथा धेनोरभावे—

तत्कूल्यकलनायां यथाह पराशरः,—

“धेनोरभावे दातव्यं तुल्यं मूल्यं न संशयः ।

मवामभावे निष्कं स्वात्तद्वर्णं पाद एवचेति पराशरः” ॥

तथा—

वृषभमूल्यं तु पञ्चकार्षापणं । धेनुमूल्यं त्रिकार्षापणमिति भारतप्रसिद्ध-
पण्डितसर्वस्वान्तरे । “विप्रेतु सकलं देयं पादोनं चत्त्रिये मतं । वैश्येऽर्धं
श्रेष्ठपादस्तु शूद्रजातिषु शस्यते । प्रायश्चित्ते ततश्चीर्णे कुर्वाद्वाज्जलभोजनं ।

त्रिंशद्वा वृषभं चैकं दद्यात्तेभ्यो विचक्षणः” । कामकृते द्विगुणं प्रायश्चित्तमिति सम्बर्त्तापस्तम्बी ॥ प्राजापत्यादिब्रतानां कायेनाकरणाशक्तौ तत्तत्प्रतिनिधित्वेन यथाक्रममेकैकस्य निर्णीते धेनुपरिमाणे सत्यपि निरुक्तप्रश्नोपयोगि प्रायश्चित्तात्मकत्वेन निरूपितायुतसंख्यकगायत्रीजपस्य धेनुसंख्याया अनिर्दिष्टतया तन्निरूपणमारभ्यतेऽत्र शास्त्रीयप्रमाणनिर्देशद्वारेण । यथा पण्डितसर्वस्वे । धेनुदानासम्भवेऽयुतजप्रस्यैककृच्छ्रप्रतिनिधित्वोक्तेर्यावत्कृच्छ्रानुरूपं कार्यं । तदाचरणाशक्तौ तत्प्रत्याङ्मातत्वेन कृच्छ्रे तिस्रो धेनवो देयाः । संख्यामेतां समर्थयति मिताचरायां विज्ञानेश्वरः तथा—पराकृतमङ्गच्छ्रातिकृच्छ्रेषु तिस्रस्तु गास्तथेति चतुर्विंशतिसतेऽभिधानात् । धेनोर्मूल्यं तु प्रदर्शितं पूर्वतः सर्वप्रायश्चित्तेषु वृषभैकाधिकत्रिंशद्वावो दक्षिणारूपेण प्रदेयाः । इति पण्डितसर्वस्वकारः ॥

उपसंहारितु—विलासितामन्तरा प्रश्नोक्तविषयजातानुष्ठानं परिसमाप्य हीपान्तरात् प्रत्यागतानां ब्राह्मणादिसकलजातीयानामभ्यन्तरे ब्राह्मणः सर्वजात्यपेक्षया सूक्ष्मतमासनाधिरूढत्वेन समुद्रनौगमनहीपान्तराधिष्ठानादिजनितपापनिचयापनुत्तये प्रायश्चित्तस्यास्याभ्युदयार्थकत्वेन वपनमन्तरानिरुक्तप्रायश्चित्तविधुप्रक्तविधानानुष्ठानानन्तरमापद्यकामतः संपूर्णप्रायश्चित्तात्मकत्वेन दशसहस्रसंख्यकगायत्रीजपानुष्ठानस्य प्राप्तावपि कामतो द्विगुणविधया पापनिचयस्यास्य ज्ञानतोऽनुष्ठिततया विंशतिसहस्रपरिमितगायत्रीजपानुष्ठानं विदध्यादिति मुख्यः कल्पः, तत्करणाशक्तौ सकलविधयायुतगायत्रीजपविधाने तत्प्रत्याङ्मातत्वेन षड्धेनवः प्रायश्चित्तात्मकत्वेन प्रदेया ब्राह्मणेनेति द्वितीयः कल्पः । तदभावे तु देशकालपात्रावस्थादृष्टितो धेनोर्निष्कनिष्कार्द्वनिष्कपादत्रिकार्षापणमूल्यव्यवस्थया धेनोर्मूल्यं प्रदेयं विप्रेणेति तृतीयः कल्पः । दक्षिणायां तु त्रिंशद्धेनूनां यथावस्थादिकं पूर्वोक्तमूल्यकल्पनया तथा वृषभस्यैकस्य निष्कादिपञ्चकार्षापणान्तमूल्यकल्पनेन च मूल्यद्वयस्यास्य योगेन भवति यत्परिमितं तत्परिमितं प्रदेयं दक्षिणास्वरूपेण, प्रायश्चित्तान्ते ब्राह्मणभोजनं चेति धर्मशास्त्रीयाशयः, तथैवं रीत्या प्रायश्चित्तं चक्षियस्य किन्तु तज्जातेर्द्वितीयासनारोहणाधिकारितया त्रिपादात्मक-

प्रायश्चित्तं विधेयं तेनैव । दक्षिणा तु सकलजातिषु समानैव केवलमवस्था-
दृष्ट्या मूल्यकल्पनायां सर्वजातिषु नूनाधिक्यं बोध्यं । तथैवं वैश्यस्य, केवल-
मस्या जातेस्तृतीयासनाधिष्ठिततया द्विपादात्मकप्रायश्चित्तमाचरितव्यं
अन्यत् सर्वं मूल्यं समानं किन्तु क्षत्रियवैश्यजातिषु येषामुपनयनाभावः तेषां
गायत्रीजपानुष्ठानमन्तरा तत्पराणुकल्पद्वयाचरणेऽधिकारित्वमिति ज्ञेयं ।

तथा शूद्रस्यापि गायत्रीजपानुष्ठानेऽधिकाराभावान्निरुक्तानुपनीतक्षत्रिय-
वैश्ययोः प्रायश्चित्तस्यैव वेदितव्यं । तथा बालहृद्बहोऽग्यातुरादीनां प्रायश्चित्ता-
र्हादिन्यूनत्वं दृश्यते यच्छास्त्रं तत्तु स्वस्वजात्युक्तप्रायश्चित्तव्रतस्य तत्तज्जातीय-
बालस्त्रोद्वादीनां बोध्यं । तत्प्रायश्चित्तविधानं प्रश्नोक्तप्रथमपक्षव्यक्तीनां
प्रश्नोक्तद्वितीयपक्षीयव्यक्तीनां तु पापस्य गुरुत्वेन प्रायश्चित्तस्यास्य चातुर्गुण्य-
मिति निष्कर्षाऽयमस्या व्यवस्थायाः । अपरं च विद्याध्ययनं परिसमाप्य
द्वीपान्तरात् (इंग्लण्ड प्रदेशात्) आगतस्य मार्कण्डेयाभिधस्य वैश्य-
जात्यन्तर्भूतकरणवंशोद्भवस्य पुरुषस्य तद्देशीयशिष्टव्यक्तप्राप्त्यतो निरूपिताकिं
चनत्वेन निरुक्तव्यवस्थोक्तद्वितीयकल्पोक्तनिजतमधेनुमूल्यात्मकप्रायश्चित्तविधानेन
स्यात्समाजाहृतं निर्वाधमिति प्रेक्षावतां राक्षान्तः ।

इत्यलमतिप्रपञ्चेन ।

श्री सुः मः पं सभा सभासदः, (गोवर्द्धनमठ)

शंकराचार्य श्री १०८ मधुसूदनतीर्थस्वामी सभापति

श्रीमहामहोपाध्यायपण्डितश्रीसदाशिवमिश्रशर्मासंपादकोव्यवस्थापकश्च

श्रीशंकरश्रीरामकृष्णानन्दसरस्वती सः सभापतिः (शङ्करानन्दमठ)

श्रीबलदेवप्रकाशब्रह्मचारो सः सभापतिः (महीप्रकाशमठ)

सामन्त श्रीविश्वनाथमहापात्रशर्मा (तर्कभूषण)

पण्डित श्रीहरिहरमिश्रन्यायभूषणः

“ श्रीयोगेन्द्रमिश्रकाव्यविशारदः

“ श्रीगदाधरत्रिपाठी

“ श्रीवैद्यनाथषडङ्गी काव्यतीर्थः

पण्डितश्रीवैद्यनाथमिश्र काव्यतीर्थं

“ श्रीधनन्तरथ “

“ श्रीसोमनाथ महापात्र “ (सामन्त)

“ श्रीसोमनाथमिश्रशास्त्री

“ श्रीजयकृष्णमिश्र रायगुरु काव्यतीर्थः (सहकारिसंपादकः)

“ श्रीमाधवनन्दकाव्यतीर्थः—

“ श्रीविष्णुनाथरथकाव्यतीर्थः

“ श्रीवासुदेवमिश्र “

“ श्रीवासुकृष्णदास “

“ श्रीसोमनाथमहापात्र “

“ श्रीभानन्दमिश्रकाव्यस्मृतितीर्थः

“ श्रीहरिहररथ शर्मा

“ श्रीभागीरथिरथशर्मा (वामण्डाराजधानी पण्डित)

“ श्रीयमेश्वरमिश्रकाव्यतीर्थः

“ श्रीनारायणमिश्रकाव्यवेदतीर्थः

“ श्रीरामचन्द्ररथवेदतीर्थः

“ श्रीपरमानन्दमिश्रशर्मा

“ श्रीजगन्नाथषडङ्गीशर्मा

“ श्रीमागुणमिश्रशर्मा

“ श्रीवासुदेवमिश्रशर्मा

“ श्रीभुवनेश्वरमिश्रकाव्यतीर्थः

“ श्रीवल्लभभट्टमिश्रशर्मा

“ श्रीपद्मनाभमिश्रशर्मा

“ श्रीरघुनाथमिश्रशर्मा

श्री सुः सः पः सभाः श्रीजगन्नाथमन्दिरः पुरो ।

शुद्धिपत्रम् ।

| पृष्ठा | पंक्ति | अशुद्धिः | शुद्धिः |
|--------|--------|----------------------|-----------------------|
| ४ | २ | व्यपपद्यते | व्युपपद्यते |
| ५ | १ | अशिवचैव | मशिवचैव |
| ६ | ८ | यः कुरुते | यत्कुरुते |
| ६ | २० | तूरष्ककाः | तुषष्ककाः |
| ७ | ७ | अचित | सचित |
| ७ | १६ | प्यनावश्यकतादृष्ट्या | ऽप्यनावश्यकतादृष्ट्या |
| ७ | २२ | दानस्यैव | दानस्यैव |
| ७ | २५ | द्विजं | भूयं |
| ८ | २१ | चान्तवृत्तत्वा | चान्तवृत्तत्वा |
| ८ | ३ | भाष्याचार | भाष्याचारः |
| १० | ४ | हिन्दुधर्मा | हिन्दुधर्मा |
| १० | ५ | उतेभी | हृतेभ्यो |
| १० | १८ | नामृतः | नामृतः |
| ११ | ५ | याम्रदा | याम्रप्रदा |
| १२ | ६ | व्यष्टवर्षी | व्यष्टवर्षी |
| १३ | १५ | षोडशाब्द | षोडशाब्द |
| १३ | १३ | कन्यावा | कन्यका |
| १५ | १० | दानवादा | दनुवादा |
| १५ | १८ | भाष्यान्वीपपत्ति । | भाष्यान्वीपपत्तिः |
| १६ | १७ | कोऽपि | कोऽपि |
| १६ | २८ | विघ्न | विघ्न |
| १६ | २८ | सङ्गठना | सङ्गठना |
| १७ | १४ | मथमन्तमान | मथास्तमानं |
| १७ | १६ | राजानीति | राजनीति |
| १८ | २६ | शास्त्राकाये | शास्त्रकारे |
| १८ | ७ | चर्मा | षट्मा |
| १८ | ८० | पतियुद्धः | प्रतियुद्धः |
| २० | ६ | गोहृतानि | गोहृतानि |
| २१ | ११ | मसत्यामपि | मसत्यामपि |
| २१ | १२ | कठिदेश | कचिहृश |
| २१ | १२ | क्लृप्त | क्लृप्त |
| २१ | २ | सम्प्रति | सम्प्रति |
| २१ | २२ | मङ्गलना | मङ्गलना |

| पृष्ठा | पंक्ति | अशुद्धिः | शुद्धिः |
|--------|--------|--------------------|------------------|
| २१ | २४ | लने | नेने |
| २१ | २७ | तन्त्रियमङ्गयं | तन्त्रियमङ्गयञ्च |
| २४ | ६ | वि॥यकः | विषयः |
| २४ | ७ | मृष्ट | मृष्ट |
| २४ | १० | मनुमानं | मनुमानं |
| २४ | १५ | तरानां ने | तरानां नो |
| २४ | २३ | रातीत | हारीत |
| २५ | ३ | गुह्यस्त्रितव्यानि | गुह्यस्त्रितव्या |
| २६ | ५ | भान्यन | भाण्डीयन |
| २६ | १३ | वर्णानी | वर्णानी |
| २७ | १ | निष्ठतया | निष्ठतया |
| २७ | ५ | गुह्यस्त्रित | गुह्यस्त्रित |
| २७ | २४ | नानुभूयस्त्र | नानुभूयस्त्र |
| २७ | २८ | चाप्राश | चाप्राश |
| २८ | ४ | रञ्जन्तसत्ता | रञ्जन्तसत्ता |
| ३० | १० | वहनादि | वहनादि |
| ३० | २८ | चाण्डविष्ठ | चाण्डविष्ठ |
| ३० | ३० | वहनागु | वहनागु |
| ३१ | १४ | साधारणा | साधारणी |
| ३१ | २३ | हस्तशेषं | हस्तशेषं |
| ३२ | २० | दोषश्रवण | दोषश्रवणं |
| ३३ | २४ | तन्मद्दता | तन्माहता |
| ३५ | २८ | वर्णान्यत्र | वर्णान्यत्र |
| ३६ | ३४ | किमिताणी | किमितानि |
| ३७ | ५ | प्रकटाङ्गत | प्रकटीकृत |
| ३७ | १४ | भमघाने | समाधाने |
| ३७ | २४ | फुप्याय | प्युपाय |
| ३७ | २८ | भूतत्वाच्च | भूतत्वकत्वाच्च |
| ३८ | ११ | प्रतिपादा | प्रतिपाद |
| ३८ | १४ | लिखितव्या | लिखितव्या |
| ३८ | १३ | स्येव्यमान | स्येव्यमान |
| ४० | १० | मुस्यकाले | स्वास्थ्यकाले |
| ४० | १५ | कश्चि-दृश्यते | कश्चिद्दृश्यते |

| पृष्ठा | पंक्ति | अक्षरः | शब्दः |
|--------|--------|---------------|-----------------|
| ४० | २० | पठः | पठः |
| ४० | २३ | क्लिप्तत् | क्लिप्तत् |
| ४२ | १० | आशाच्छेद | आशाच्छेदी |
| ४१ | ८ | मुखोद्देश्य | मुखोद्देश्य |
| ४४ | ४ | नुमत्या | नुमित्या |
| ४५ | १२ | प्रमाणये | प्रमाणमये |
| ४६ | १ | अर्थवादीना | अर्थवादादीना |
| ४६ | १ | विध्यैकवाक्यत | विध्यैकवाक्यतया |
| ४६ | ८ | अपरोपताञ्च | अपरोपतापिता |
| ४८ | २० | क्रतु | क्रतु |
| ५१ | १० | लोकायनं | लोकायतं |
| ५२ | ४ | तदंशवे | तदंशएव |
| ५२ | ११ | हिरण्यगर्भे | हिरण्यगर्भौ |
| ५३ | १ | शब्दं च | शब्दं च |
| ५६ | १८ | मस्तेह्यं | मस्तेयं |
| ५८ | ८ | बहुलतया | बहुलतया |
| ६० | १ | परोक्षेष्टा | परोक्षेष्टा |
| ६० | ३ | दृष्टं | दृष्टं |
| ६० | २३ | अपिशब्दाच्च | अपिशब्दाच्च |
| ६१ | २० | दिर्जाग्राणा | दिर्जाग्राणा |
| ६१ | ११ | पदवृत्तिः | पदवृत्तिः |
| ६२ | १२ | पठतिः | पठतिः |
| ६३ | १६ | पठतिः | पदवृत्तिः |
| ६३ | १७ | स्वस्तनिकता | स्वस्तनिकता |
| ६३ | १८ | पठत्तिला | पदवृत्तिला |
| ६४ | ११ | विप्रोहजीव | विप्रोहजीवन् |
| ६४ | २१ | रस्वस्तनिको | रस्वस्तनिको |
| ६६ | ८ | सन्नमूले | सन्नमूलै |
| ६६ | १४ | वर्ज्यानी | वर्ज्याणी |
| ६७ | २२ | सदाणृत्यं | सदानृत्यं |
| ६८ | १० | जनाञ्च | जनाः सर्वे |
| ७० | ८ | यं | व० |
| ७५ | २२ | उदिष्टां | उदीष्टां |

| पृष्ठा | पंक्ति | अद्युष्टिः | युष्टिः |
|--------|--------|---------------|---------------|
| ७७ | २० | चक्षितकन्द | चक्षितकन्द |
| ७७ | २२ | बहुसमय | बहुसमय |
| ७८ | ३ | भावरूपा | भावरूपा |
| ७८ | ६ | शिष्टाचारं | शिष्टाचारं |
| ७८ | १८ | शिष्टाण | शिष्टाण |
| ७८ | २२ | अनायातेषु | अनायातेषु |
| ७९ | ८ | सामाजिकधर्म | सामाजिकधर्म |
| ७९ | २८ | चात्रेण | चात्रेण |
| ७९ | २५ | मङ्गीकायं | मङ्गीकायं |
| ८१ | ११ | नामाक | नामाक |
| ८२ | १ | चात्रे | चात्रे |
| ८३ | ५ | विनाशितव्यं | विनाशयितव्यं |
| ८४ | १५ | वाणिज्या | वाणिज्यं |
| ८४ | २३ | संकीर्त्यन्ते | संकीर्त्यन्ते |
| ८५ | १८ | ध्यायनं | ध्यायनं |
| ८६ | ४ | ध० | ध० |
| ८६ | ४८ | विकृत | विकृत |
| ८६ | १८ | विविदुषणा | विविदिषुणा |
| ८७ | १८ | ब्रह्महत्या | ब्रह्महत्यां |
| ८८ | ८ | शिष्टै | शिष्टे |
| ८० | २५ | काव्यवच्छिन्न | काव्यवच्छिन्न |
| ८२ | ३ | नात्स्थेव | नात्स्थेव |
| ८२ | ७ | खिखनेन | खिखनेन |
| ८२ | १७ | श्रुद्राभिगमन | श्रुद्राभिगमन |
| ८३ | २१ | निषिद्धत्वेन | निषिद्धत्वेन |
| ८५ | १ | प्रतितीच्छया | nil |
| ८६ | २७ | मभिवाप्य | मभिव्याप्य |
| ८७ | १३ | चरितं | चरितं |
| ८७ | १५ | पतत्यर्धं | पतत्यर्धं |
| ८७ | १७ | स्युठतः | स्युठतः |
| १०० | ३ | प्रात्यङ्गिक | प्रात्यङ्गिक |
| १०० | १६ | पापीपनुत्तये | पापापनुत्तये |
| १०१ | १४ | वाच्यं | वाच्यं |

| | | | |
|--------|--------|--------------------|----------------------|
| पृष्ठा | पंक्ति | अशुद्धि | शुद्धि |
| पृष्ठा | पंक्ति | अशुद्धि | शुद्धि |
| १०२ | ७ | पशुपाव्य | पाशुपाव्य |
| १०२ | ११ | बोध्यं | बोध्यं |
| १०२ | २२ | चौमादिका | चौमादिका |
| १०४ | ७ | शाल | शाल |
| २०४ | १४ | गैह्वणं | गैह्वणं |
| १०५ | १८ | तउद्देश | तउद्देश |
| १०५ | २२ | वगीताचार | विगीताचार |
| १०६ | २२ | तउद्देशीय | तउद्देशीय |
| १०८ | ८ | त्वच्यं | त्वच्यं |
| ११२ | १८ | यदगृह्यते | यदगृह्यते |
| ११५ | ४ | सापकाचंन | शापकाचंन |
| ११५ | १८ | नूपविचार | नूपविचारः |
| ११५ | २२ | त्यर्थांनुष्ठाने | त्यर्थांनुष्ठाने |
| ११७ | ११ | सूख्य | सूख्य |
| १२२ | १६ | भार्थ्या | भार्थ्याः |
| १२२ | २५ | भ्रूपुठाम | भ्रूपगम |
| १२३ | ५ | निष्पादिक | निष्पादक |
| १२३ | २५ | विचभि | विचभिः |
| १२५ | ३ | विगुणां | विगुणः |
| १२६ | १८ | प्रतिपादि तेक्यात् | प्रतिपादिनैक्यत्वात् |
| १२७ | २० | तदा | यदा |
| १२१ | २६ | गुणाविधाना | गुणविधाना |
| १२१ | २६ | नुवेदितव्यः | नुवेदितव्यः |
| १२२ | २५ | विष्ठा | वीष्ठा |
| १२२ | २८ | त्ववव | त्ववव |
| १२४ | १८ | साकुल्यो | सकुल्यो |
| १२६ | १२ | तौ | तौ |
| १२६ | २५ | परतो | परत |
| १२८ | १६ | खभाष्ये | खभाष्ये |
| १४१ | ४ | परिवर्त्त्या | परवर्त्त्या |
| १४२ | १८ | यो | ये |
| १४२ | २६ | पैत्रे | पैत्रे |

| पृष्ठा | पंक्ति | अशुद्धिः | शुद्धिः |
|--------|--------|-----------------------|----------------------|
| १४३ | २५ | निरपेक्ष्यत्वे न | निरपेक्षत्वे न |
| पृष्ठा | पंक्ति | अशुद्धिः | अशुद्धि |
| १४४ | २४ | पौढ़ा | प्रौढ़ा |
| १४८ | १७ | तत्तन्निगवन्वी | तत्तन्निगवन्वी |
| १५० | ६ | अष्टवर्षो | अष्टवर्षो |
| १५० | ११ | प्रयेनेतावता | प्रायेणैतावता |
| १५१ | २१ | नक्षिकाले न | नक्षिकाले न |
| १५२ | ४ | तत्सार्द्धद्विगुणवयसा | — |
| १५३ | १७ | व्यायुस्त्राञ्च | व्यायुश्चाञ्च |
| १५५ | ७ | प्रत्यावर्त्तनस्थे | प्रत्यावर्त्तनस्थे व |
| १५५ | २५ | प्रनिधि | प्रतिनिधि |
| १५७ | ६ | नक्षिकाल | नक्षिकाल |
| १५७ | १० | रजस्वलत्वे | रजस्वलत्वे |
| १५८ | १८ | ऋतुमत्कस्या | ऋतुमतीवस्या |
| १६८ | २० | वटानाह | वज्यानाह |
| १७० | १० | वाचनिक | वाचनिकौ |
| १७१ | ६ | नसङ्गततया | nil |
| १७२ | ११ | स्यामसङ्गत इति | स्यासङ्गत इति |
| १७४ | १८ | मातृदोष | मातृदोष |
| १७५ | २४ | पाराशवीय | पाराशवीय |
| १७७ | १८ | भांवहित | भांवविहित |
| १७८ | २१ | व्यापकव्यापित | व्यापकव्याप्यल |
| १७८ | ३ | प्रशस्यमतः | प्रशस्यतमः |
| १८० | ५ | तत्तद्वच्च | तत्तद्वच्च |
| १८२ | ४ | वेदीयार्च | वेदीयार्चा |
| १८३ | १० | दुत्प्रति | दुत्प्रति |
| " | २४ | वाहुस्यां | वज्जस्यां |
| १८४ | ३ | पृष्ठपोष | पृष्ठपोष |
| " | १७ | स्थूलशक | स्थूलशब्दा |
| " | १८ | द्वादशाध्याय | द्वादशाध्याये |
| १८६ | ८ | सिद्धान्ते | सिद्धान्त |
| १८६ | १० | इक्षतेर्ना | ईक्षतेर्ना |
| " | १४ | शूक्ष्मरूप | सूक्ष्मरूप |

| पृष्ठा | पंक्ति | अशुद्धि | गृद्धि |
|--------|--------|---------------------|----------------------|
| १८७ | १० | नैकठ्या | नैकठ्या |
| १८८ | १० | देशीयायां | देशीयायां |
| " | १६ | शखापशाखा | शाखोपशाखा |
| १८० | १ | निष्क्रीयत्वत्मकाया | निष्क्रीयत्वत्मिकाया |
| " | २६ | पुराकाले | पुराकाले |
| १८१ | २ | लौलावस्थया | लौलावस्थया |
| " | १२ | तज्जडतां | तज्जडता |
| " | २० | यद्यय | यद्दुय |
| १८२ | ८ | कुर्वेति | कुर्वेति |
| " | २५ | ससमष्टि | समष्टि |
| १८४ | ८ | जनैको | — |
| " | ११ | भिक्टोरिया | भिक्टोरिया |
| १८५ | १६ | सुत्तिष्ठति | सुत्तिष्ठते |
| " | २६ | स्वत्तममसी | स्वत्तममसी |
| १८७ | १८ | यनिष्ठो | घनिष्ठो |
| १८८ | २२ | वह्नो | वह्नो |
| २०० | ६ | तच्छरीरस्थ | तत्तच्छरीरस्थ |
| २०१ | २५ | प्रदश्यतत् | — |
| २१५ | १५ | कम्पितआसी | कम्पितमासी |
| २१८ | २६ | न्नारस्थयचोथा | — |
| २१९ | १६ | मतित्य | मतौत्य |
| " | १६ | गताथरा | गतौयवा |
| २२० | ४ | तन्वः | तन्वा |
| २२२ | २२ | द्वारा | द्वारा |
| " | " | नक्षोथैक | नक्षोथे |
| २२३ | ११ | उत्कृष्टो | उत्कृष्टो |
| २२४ | १ | वथाच | तथाच |
| " | ८ | समानर्ष | समानार्ष |
| २२६ | २० | दशपुरुष | दशपुरुष |
| २२६ | २१ | स्त्रीताद | स्त्रीताद |
| २२८ | १० | प्रत्तना | प्रत्ताना |
| २२९ | ७ | वादिभूत | — |
| २३० | २४ | नजर्थेविशेषः | नजर्थेविशेषः |

| पृष्ठा | पंक्ति | अध्यायः | शुद्धिः |
|--------|--------|----------------|----------------|
| " | २० | दुष्मत्त | दुष्मत्त |
| २३३ | ११ | यद्गुरिन् | यद्गुरिण |
| " | १२ | मावाखाया | मावाखाया |
| २३४ | २४ | निष्ठहेतुत्वं | निष्ठहेतुत्वं |
| " | २६ | विपरीतः | विपरीतं |
| २३५ | ११ | दावा | द्रावा |
| २३६ | १० | परुणां | पञ्चानां |
| २३७ | ५ | वेयठ | कैयठ |
| २३८ | ६ | पौलभ्या | पौलोम्य |
| २४२ | १३ | द्वितिये | द्वितीये |
| २४३ | १६ | इथाः | इथोः |
| २४७ | १८ | मूलपुरुष | मूलपुरुष |
| २४८ | ८ | बादशजानाह | बादशजानाह |
| " | ११ | अपसक्त्या | अप्रसक्त्या |
| " | १२ | अंशमागिल | अंशभागिल |
| २४८ | १६ | साप्तपौरुषं | — |
| " | २० | बुद्धिस्थता | बुद्धिस्थता |
| " | २६ | सन्नाय | सन्नाय |
| २४८ | २६ | पर्युद्गितं | पर्युद्गुत् |
| २५० | ७ | प्रसङ्गी | प्रासाङ्गी |
| " | १८ | मुलकल्पना | मूलकल्पना |
| २५१ | ३ | रित्यप्यपास्तं | रित्यप्यपास्तं |
| २५३ | २५ | सापिण्डस्यावि | सापिण्डस्यावि |
| २५४ | १६ | ब्रह्महेतुत्वा | — |
| " | २६ | प्रतानां | प्रेतानां |
| २५५ | १८ | विच्छित्तिरिति | विच्छित्तिरिति |
| " | २३ | भयवयन्यपः | — |
| २५७ | २५ | घाटपुरुष | वरयेदि |
| २५८ | ८ | वायवेदि | विवाह |
| २६० | १३ | विहाह | संवश्यभावेन |
| २६२ | १८ | संकीचावश्यभा | जाताः |
| २६४ | ४ | जाताः | भागधेयं |
| " | १५ | अभागधेयं | |

| पृष्ठा | पंक्ति | अशुद्धिः | शुद्धिः |
|--------|--------|---------------|-----------------|
| ” | २५ | यथा | यथा |
| २६५ | ३ | वौ | वौ |
| २६६ | १५ | त्युपेक्षणीयं | त्युपेक्षणीयं |
| २६८ | ६ | सूट्टा | सूट्टा |
| २७० | २२ | स्खलनिष्ठता | स्खलनिष्ठता |
| २७३ | १८ | अयिधौनकं | आयुधियकं |
| २७४ | २५ | विन्नेष्टव्यं | वन्नेष्टव्यं |
| २७६ | १५ | असमानाधेयं | nil |
| २७७ | ३ | सुमन्तोवचने | सुमन्तोवचने |
| २७८ | १७ | मातृवेदनां | मातृवेदना |
| २८१ | २ | विणौति | विनिति |
| २८५ | २० | शतातोपि | शतातोपि |
| २८५ | २५ | दाक्षित्ये | दाक्षिण्ये |
| २८७ | १६ | पित्रादायः | पित्रादयः |
| २८० | ७ | दूक्तं | दूक्तं |
| २८१ | ६ | काष्ठाटिका | काष्ठाटिका |
| २८२ | २२ | सत्योन्नतया | nil |
| २८३ | ४ | चतुष्पात् | चतुष्पात् |
| २८८ | १६ | दर्शयितव्यानि | दर्शयितव्यानि |
| ३०० | ४ | दासिन्यं | दासीन्यं |
| ३०३ | ४ | सङ्गठितुं | सङ्गठयितुं |
| ३०३ | २१ | गृहेष्वपि | गृहेष्वपि |
| ३०४ | १२ | सत्यपि | सत्यपि |
| ३०५ | १० | स्वातन्त्र्यो | स्वातन्त्र्यो |
| ३०५ | २६ | पुञ्चल्या | पौञ्चल्या |
| ३०६ | ४ | वं | वं |
| पृष्ठा | पंक्ति | अशुद्धिः | शुद्धिः |
| ३०७ | १७ | वालिकायुवत्यो | वालिकायुवतिभ्यो |
| ३१४ | — | निऊन्दो | — |
| ३१५ | ३ | कापप्रधाना | कोपप्रधाना |
| ३१६ | ३ | वर्षन्ति | कर्षन्ति |
| ३१६ | १२ | हयमान | हयमान |
| ३१७ | ११ | सरस्वर | परस्वर |

| पृष्ठा | पंक्ति | अशुद्धिः | शुद्धिः |
|--------|--------|------------------|--------------------|
| ३१८ | ७ | निषेधस्य | निषेधस्य |
| ३१८ | २३ | कुलचर्च | कुललचर्च |
| ३२५ | १० | पुनर्भूवां | पुनर्भूवां |
| ३२६ | १६ | अधाय्यंत्वे | अधायत्ति |
| ३२७ | १३ | वशिष्टः | वशिष्टः |
| ३३१ | २ | विद्वाह | विवाह |
| ३३२ | १६ | मानैसह | मानवैः सह |
| ३३३ | ७ | सगीवा | सगीवो |
| ३३३ | १२ | वगम्येनां | भोगम्येनां |
| ३३६ | ३ | स्वेच्छाया | स्वेच्छया |
| ३३८ | १८ | रिङ्गल्यस्य | रित्यस्य |
| ३४० | ४ | सद्वहृष्टेया | सदननुष्ठेया |
| ३४० | ८ | निरिसनीय | निरसनीय |
| ३४४ | १ | तनीरुक्त | निरुक्त |
| ३४४ | १३ | वह्नी | वह्नी |
| ३४५ | १६ | विशदितव्यं | — |
| ३४६ | १ | यदस्यापयन्त्या | यदुत्थापयन्त्या |
| ३४६ | १० | शिष्टद्वत | शिष्टाद्वतता |
| ३४८ | ३ | सौवर्णां | सौवर्णी |
| ३४८ | १६ | दग्निमाकुर्वन् | दग्निमान् कुर्वन् |
| ३५० | ८ | कृतापुत्रा | कृताः पुत्रा |
| ३५२ | २ | सुरेताधाः | — |
| ३५३ | १४ | वर्जयौत | वर्जयेत |
| ३५५ | १७ | चाल्प | बाल्प |
| ३५६ | १ | न्यपेक्षत | न्यपेक्षित |
| ३५७ | १४ | विश्वामित्रजाघनौ | विश्वामित्रश्चाघनौ |
| ३५८ | १० | उत्प्रचलने | उत्प्रचलने |
| ३५८ | १७ | किञ्चिद्भ्रयात् | किञ्चिद्भ्रयात् |
| ३६० | ३ | स, विधवात्मकानां | स, विधवात्मिकानां |
| ३६३ | १८ | भवलोकितव्यं | — |
| ३६४ | १७ | सजातसन्तानं | सञ्जातसन्तानं |
| ३६८ | १५ | द्वौषधैः | द्वौषधैः |
| ३६८ | १४ | पुरुषपरिचा | पुरुषपरिचा |

| पृष्ठा | पंक्ति | अशुद्धिः | शुद्धिः |
|-----------|---------|----------------|----------------|
| ३६८ | १६ | दानोत्तन | दानोत्तन |
| ३७१ | ३ | बिजयिजाति | |
| ३७१ | १३ | विधोपयम | विधवोपयम |
| ३७१ | २५ | शास्त्राविधि | शास्त्रविधि |
| ३७२ | ७ | करासर्व | कराः सर्व |
| ३७२ | २३ | शक्तुम | शक्तुमो |
| ३७३ | १६ | सभायतु | समयातु |
| ३७३ | १८ | विधवोय | विधवोपय |
| ३७५ | ५ | शौचं | शौचं |
| ३७५ | १६ | सुतयव | सुभयव |
| ३७७ | २१ | यशसे | यशसे |
| ३७८ | ८ | त्यवसनी | त्यव्यसनी |
| ३८१ | ८ | प्रभवानि | प्रभवाणि |
| ३८१ | २० | अनिर्दिष्टां | अनिर्दिष्टां |
| ३८३ (३८२) | ८, (१०) | सत्त्वीनी | सत्त्विनी |
| ३८४ | ११ | प्रत्यय | प्रत्यय |
| ३८५ | २ | श्रीष्ट | श्रीष्ट |
| ३८८ | २० | पदविषयं | पदविषयं |
| ३८९ | २१ | वल्गुर | वल्गुर |
| ३८४ | ५ | मृज्जपन्तु | मृज्जीषन्तु |
| ३८४ | ११ | ज्ञाताश्च | ज्ञाताश्च |
| ३८५ | २२ | अर्णजल | |
| ३८६ | २२ | चातुर्वर्ण्यं | चातुर्वर्ण्यं |
| ४०१ | ३ | रस्या | रस्या |
| ४०१ | १८ | उभयासक्तः | उभयद्वारकः |
| ४०१ | १८ | उभयोक्तु | उभयद्वारकस्तु |
| ४०५ | १० | सात्त्विक | सात्त्विका |
| ४०६ | ५ | दीर्घायुष्ट | दीर्घायुष्ट |
| ४०७ | १६ | क्षतवचोऽभिहितं | क्षतवचोऽभिहितं |
| ४०८ | १२ | वर्जयेत् | वर्जयेत् |
| ४१२ | २२ | तत्तद्विवेचनं | तत्तद्विवेचनं |
| ४१३ | २३ | अपूपवोगधूम | अपूपवोगधूम |
| ४१६ | १८ | प्रोहायते | प्रोहायते |

| पृष्ठा | पंक्ति | अशुद्धिः | शुद्धिः |
|--------|--------|-----------------------------|-----------------|
| ४१६ | २१ | निषिद्ध | निषिद्धं |
| ४१८ | १७ | समुद्रस्य | सच्छुद्रस्य |
| ४२० | ५ | सत्वात् | सत्त्वात् |
| ४२१ | १२ | "चण्डाललक्ष्यः यत्तत्त्यादि | पद्येतेसंशय" |
| ४२१ | १२ | मागधयोगवौ | मागधयोगवौ |
| ४२८ | १ | गीतव क्वं | गीतावाक्क्वं |
| ४३० | ३ | सूद्धि | सूद्धिं |
| ४३० | ॥ | गूढदात् | गूढादात् |
| ४३० | २२ | अविगीतमेव | अविगीतत्वमेव |
| ४३५ | १६ | वशिष्टं | वशिष्टं |
| ४३६ | १० | शुचि | शुचिः |
| ४३६ | १४ | पीठाधिष्ठितः | पीठाद्यधिष्ठितः |
| ४४४ | १४ | सुज्ञानो | सुज्ञाना |
| ४४७ | १८ | शूद्राचमिय | शूद्राचमिय |
| ४४८ | ३ | व्यभिचारजनां | व्यभिचारजानां |
| ४४८ | २१ | व्रतपूजन | व्रतपूजन |
| ४४८ | ८ | प्रमाणजाल | प्रमाणजाल |
| ४४८ | १८ | पुक्कश | पुक्कस |
| ४५१ | २१ | फलाद्य | फलाद्या |
| ४५२ | १५ | समाचीन | समीचीन |
| ४५४ | २० | धर्मराठ | धर्मराट् |
| ४५५ | ११ | सर्वस्वे | सर्वस्वे |
| ४५५ | ३१ | "जलादिग्रहणार्थसंशय" | |
| ४५५ | २५ | राजन्यवैश्याभावः | राजन्यवैश्याभाव |
| ४५७ | १ | त्यादि | त्यादि |
| ४५७ | ३ | काचित्वेन | काचित्वेन |
| ४५७ | २३ | कर्तृकधर्म | कर्तृकामर्म |
| ४५८ | १५ | अचारण | आचार |
| ४६० | ७ | सदचार | सदाचार |
| ४६२ | ५ | सदार | सदाचार |
| ४६२ | १६ | सिद्धिमनुपाचरेत | सिद्धिसमुपाचरेत |
| ४६४ | ८ | शुश्रुत | शुश्रुत |
| ४६४ | १५ | सूद्धते | सूद्धते |

| पृष्ठा | पंक्ति | अशुद्धिः | शुद्धिः |
|--------|--------|---|-------------------|
| ४६६ | १४ | हतोसाह्वत्वात् | हतोत्साहत्वात् |
| — | — | कट | वट |
| ४६८ | ५ | सिन्दुर | सिन्दुर |
| ४६८ | १६ | गङ्गेन्दु | शङ्गेन्दु |
| ४६८ | — | पापापहात्यादिस्थले सम्बोधन चिह्न असङ्गत | |
| ४७० | २१ | पवित्रेण वाज्य | पवित्रेणोवाज्य |
| ४७२ | ४ | शक्नो | शक्नो |
| ४७८ | ७ | खड्गं | खड्गं |
| ४७८ | १८ | शमयाय | शमय |
| ४८० | ३ | इतिमन्तः | इतिमन्तः |
| ४८० | १२ | मन्तः | मन्तः । |
| ४८० | १५ | परिसमुद्भा | परिपसुद्भा |
| ४८२ | १७ | ओशीभूष | ओशीभूष |
| ४८२ | २४ | न्याव्या | नाव्या |
| — | — | सहस्रयोनि | सहस्रयोजने |
| ४८६ | ५ | नितन्मसि | नितन्मसि |
| ४८८ | ५ | प्रदर्शितस्या | प्रदर्शिताया |
| ४८८ | १८ | साकारोपासनाकान | साकारोपासनास |
| ४८८ | १८ | लेहलम्बितु | लेहलम्बितु |
| ४८८ | १ | भक्तियोगा । पर | भक्तियोगापर |
| ४८८ | १ | तदभसात्मक | तदभसात्मक |
| ४८८ | ४ | सतिपथवसायिनौ | पथ्यवसायिनौ |
| ४८८ | ५ | प्रकृते वा वास्तुप्रयोगी | प्रकृतोपयोगि |
| ४८८ | ५ | इतिचिन्न | इतिवाच्यं |
| ४८९ | २३ | निवर्हा | निवर्हा |
| ४८९ | ८ | नन्नाति | निर्णीतं |
| ४८९ | ३ | चक्षुर्विषय | चक्षुर्विषय |
| ४८९ | १४ | निवन्द | निवन्द |
| ४८९ | २५ | धर्म्यन्यिक्रमेन | धर्म्यन्यिःक्रमेण |
| ५०३ | १२ | प्राप्तिः | प्राप्तिः |
| ५०८ | १३ | त्यागत्मक | त्यागात्मक |
| पृष्ठा | पंक्ति | अशुद्धिः | अशुद्धि |
| ५०८ | २२ | जितस्य | जितस्य |

| पृष्ठा | पंक्ति | अशुद्धि | शुद्धि |
|--------|--------|----------------------|----------------------|
| ५०८ | २१ | स्वमिना | स्वामिना |
| ५१२ | १ | विभागमुक्ता | विभागमुक्ता |
| ५१६ | १ | जेष्वत्तिः | जेष्वत्तिः |
| ५२१ | २१ | वश | विश |
| ५२२ | १ | तदनभिज्ञया | तदनभिज्ञपा |
| ५२३ | ७ | भट्टभिज्ये | भट्टभिज्ये |
| ५२३ | १८ | प्रत्याकपरिकल्पितानि | प्रत्येकपरिकल्पितानि |
| ५२४ | २६ | सपद्मयाच | सपद्मयाच |
| ५२७ | १८ | कुमार | कुमार |
| ५२८ | १६ | भर्तुरिति | भर्तुरिति |
| ५३० | ५ | पुत्रा | पुत्रा |
| ५३१ | २१ | कृषिभू | कृषिभू |
| ५३५ | १८ | टीकाकृतद्वया | टीकाकृतद्वया |
| ५३६ | ५ | शास्त्रस्यैव | शास्त्रस्यैव |
| ५४४ | ३ | शेषां | शेषां |
| ५४४ | ७ | पिण्डोदक | पिण्डोदक |
| — | — | धर्मशेषः | धर्मशेषः |
| ५४६ | ११ | याशा | यासा |
| ५४६ | २४ | किमुत्पत्तार्थे | किमुत्पत्त्यर्थे |
| ५४७ | ५ | चतुर्थ | चतुर्थ |
| ५४७ | ८ | यदिसाकर | यथादर |
| ५४७ | २४ | भर्त्तरि | भर्त्तरि |
| ५४७ | २४ | भर्त्तेश | भर्त्तेश |
| ५४८ | १२ | आत्मनयः | आत्मनय |
| ५५० | १८ | प्रदर्शननान्त | प्रदर्शनमनु |
| ५५० | १४ | अस्मिन् | अस्मिन् |
| ५५३ | ६ | अवशिष्टं | अवशिष्टं |
| ५५३ | ७ | विंशत् | विंशत् |
| ५५४ | १६ | कापप | पाप |
| ५५८ | ११ | विज्ञानेखरे | विज्ञानेश्वरे |
| ५६० | ३ | यस्वीकृत्या | तस्वीकृत्या |
| ५६२ | ५ | व्यावहार | व्यवहार |
| ५७० | ५ | निर्णयमाह | निर्णयमाह |

| पृष्ठा | पंक्ति | अशुद्धिः | शुद्धिः |
|--------|--------|---------------------|---------------------|
| ५७० | २२ | उच्यते | उच्यते |
| ५७८ | २४ | कुत्रा | कुत्रा |
| ५७९ | १० | पेक्षया | पेक्षया |
| ५८४ | ३ | धेन्वन्मिका | धेन्वन्मिका |
| ५८४ | १३ | वधकर्तृ | वधकर्तृ |
| ५८४ | १६ | कर्तृ | कर्तृ |
| ५८६ | १६ | त्रैवापिकं | त्रैवापिकं |
| ५८६ | १८ | प्रवर्तक | प्रवर्तक |
| ५८६ | १९ | Do | Do |
| ५८७ | २५ | दुष्कासा | दुष्कासा |
| ५८८ | १४ | वीरो | वीरो |
| ५८८ | २२ | ध्वनेक | ध्वनेक |
| ५८९ | २३ | शब्दावसङ्गा | शब्दावसङ्गा |
| ५८२ | २५ | उपपन्नानि | उपपन्नानि |
| ५— | — | प्रणायाम | प्रणायाम |
| ५८५ | १५ | एतदर्थं | एतदर्थं |
| ५८७ | १४ | लोमाप्यावादे | लोमाप्यावादे |
| ५८८ | २३ | भष्टाः | भष्टाः |
| ५८९ | १७ | सप्तलूङ् | सप्तलूङ् |
| ६०५ | १९ | माध्वी | माध्वी |
| ६०८ | २२ | इतरासामसुराणां | इतरासामसुराणां |
| ६०८ | २४ | तिरिक्तायास्सुराया | तिरिक्तायास्सुराया |
| ६०९ | ११ | पादाहाने | पादाहाने |
| ६०९ | १४ | तङ्गा | तङ्गा |
| ६१० | १४ | संख्याक | संख्याक |
| ६१० | १७ | Do | Do |
| ६१० | २१ | Do | Do |
| ६११ | १९ | मैवत् | मैवत् |
| ६१५ | १५ | क्षेयकृत्त्रिरात्रो | क्षेयकृत्त्रिरात्रो |
| ६२१ | २ | संख्या | संख्या |
| ६२१ | १७ | तत्संगं | तत्संगं |
| ६२१ | २१ | वजेत् | वजेत् |
| ६२२ | १२ | सम्बन्धाव | सम्बन्धाव |

| पृष्ठा | पंक्ति | अथर्व | शुद्धि |
|--------|--------|-----------------|-----------------|
| ६३० | २२ | संसर्गादेवैव | संसर्गादेव |
| ६३६ | १२ | संख्याकं | संख्याकं |
| ६३६ | २२ | स्ततीय | स्तुतीय |
| ६३७ | ८ | वराष्टकदानं | वराठका |
| ६३७ | १० | पञ्चविंशति | पञ्चविंशति |
| ६३८ | ३ | वत्समयेण | वत्सरमयेण |
| ६४० | १४ | पेशुनं | पेशुनं |
| ६४० | २४ | किंचिदपि | किंचिदपि |
| ६४४ | १२ | मिश्रस्य | मिश्रस्य |
| ६४५ | ११ | तप्तकच्छं | तप्तकच्छं |
| ६४६ | २० | चैव | चैव |
| ६४८ | —१४ | वद्मसदसम्बन्धं | वद्मसदसम्बन्धं |
| ६४८ | १० | चतुर्विंशति | चतुर्विंशति |
| ६४८ | १० | निन्दार्थोवा | निन्दार्थोवा |
| ६५१ | १२ | चानितु | यानितु |
| ६५१ | १८ | शान्तरश्मि | शान्तरश्मि |
| ६५१ | —२२ | मियेतानुपातकानि | मियेतानुपातकानि |
| ६५२ | १८ | निष्वदको | निष्वदको |
| ६५३ | २ | गुरु | गुरुं |
| ६५५ | ८ | रजस्था | रजःस्था |
| ६५५ | १२ | संयोगे । | संयोगे |
| ६५६ | ८ | चर्मोपजोविनां | चर्मोपजोविनी |
| ६५७ | २२ | निःक्षेप | निक्षेप |
| ६५८ | २ | पितृस्त्वृगमनं | पितृस्त्वृगमन |
| ६५८ | ८ | कविधेयं | विधेयं |
| ६६१ | २१ | वेदाध्यापकं | विद्याध्यापनं |
| ६६२ | २६ | पितृणं | पितृणं |
| ६६० | ३ | निषेवणं | निषेवणं |
| ६६४ | १३ | सम्बन्धार्थस्य | सम्बन्धार्थस्य |
| ६६५ | ७ | गोरो | गुरो |
| ६६५ | २५ | भिचर | भिचार |
| ६६५ | २७ | पेशुन्य | पेशुन्य |
| ६६७ | १२ | नौति | निति |

| पृष्ठा | पंक्ति | अशुद्धि | शुद्धि |
|--------|--------|-----------------|-----------------|
| ६७० | ३ | विसवर्ण | विषवर्ण |
| ६७१ | ११ | मृल्युक्लकै | मृल्युफलकैः |
| ६७१ | २३ | संस्कारैर्युक्त | संस्कारैर्युक्त |
| ६७२ | ६ | एतदुज्जानतो | एतज्ज्ञानतो |
| ६७७ | —१२ | गोमतोज्जदुपे | गोमतोज्जजपे |
| ६७५ | —८ | पूयथे | पुयथे |
| ६७८ | २३ | विसानं | विषवर्ण |
| ६७७ | २० | तस्यै | तस्य |
| ६८१ | ४ | कथयण | कथञ्जन |
| ६८२ | २० | सौध्यात् | मियात् |
| ६८६ | —२ | एकतमकृतमकृतेन | एकतमकृतेन |
| ६८६ | १३ | भौतो | भौतो |
| ६८६ | १७ | चक्षि | चुक्षौ |
| ६८६ | २२ | तस्याऽपि | अस्याऽपि |
| ६८७ | ३ | भर्तृकृता | भर्तृकृता |
| ६८८ | ८ | चातुर्वेद्या | चातुर्वेद्या |
| ६८१ | ८ | खमिक | खामिक |
| ६८१ | २४ | धेनु | धेनु |
| ६८७ | —१ | दुयो | द्यौ |
| ६८७ | १४ | गवाग्निषु | गवाग्निषु |
| ७०५ | २१ | स्त्रिषवण | स्त्रिषवण |
| ७०६ | —१५ | कार्पापणचयसं | कार्पापणसंख्याक |
| ७०६ | १८ | यथाशक्त्य | यथाशक्त्य |
| ७०७ | ८ | संख्याक | संख्याक |
| ७०७ | २० | Do | Do |
| ७०८ | ६ | Do | Do |
| ७०८ | १० | Do | Do |
| ७०८ | १ | Do | Do |
| ७०८ | ८ | Do | Do |
| ७१० | ८ | वतस्य | वतस्य |
| ७१२ | १४ | संख्याक | संख्याक |
| ७१२ | १८ | Do | Do |
| ७१३ | ८ | Do | Do |
| ७१३ | १६ | प्रावयितानि | प्रावयितानि |
| ७१३ | १७ | संख्याक | संख्याक |
| ७१३ | २२ | Do | Do |
| ७१३ | २६ | Do | Do |

| पृष्ठा | पंक्ति | व्युत्पत्तिः संख्याक | व्युत्पत्तिः संख्याक |
|--------|--------|-------------------------|-------------------------|
| ७१४ | ३ | Do | Do |
| ७१४ | १५ | Do | Do |
| ७१४ | १८ | Do | Do |
| ७१४ | २२ | Do | Do |
| ७१४ | २६ | Do | Do |
| ७१५ | २ | Do | Do |
| ७१५ | ७ | Do | Do |
| ७१५ | १० | Do | Do |
| ७१६ | ४ | Do | Do |
| ७१७ | ५ | Do | Do |
| ७१७ | ८ | Do | Do |
| ७१८ | ६ | दद्यादैक | दद्यादैक |
| ७१८ | ८ | वृषभैकादश | वृषभैकादशा |
| ७२० | १८ | गा.मिता | गासिताः |
| ७२० | १८ | चत्वारिंशत् | चत्वारिंशत् |
| ७२१ | ५ | मागधासयोग | मागधायोग |
| ७२२ | ५ | आतेर्यौ | आतेर्यौ |
| ७२४ | २१ | सादृधप्राय | सादृधप्राय |
| ७२८ | १६ | चतुर्दशः | चतुर्दश |
| ७३२ | २१ | शाखा । सृगा | शाखासृगा |
| ७३१ | १४ | तत्तिरि | तत्तिरि |
| ७३३ | २३ | मनोऽस्थिमतां | मनस्थिमतां |
| ७३४ | १८ | व्यह | वाह |
| ७३७ | ८ | इतिर | इतर |
| ७४१ | २३ | चिष्मव | विष्मव |
| ७४३ | १४ | जैव | जैव |
| ७४६ | २१ | भुक्ता | भुक्ता |
| ७४८ | १५ | हंस | हंस |
| ७५३ | ४ | मीन | मीन |
| ७६० | २२ | शान्तपनं | शान्तपनं |
| ७६४ | १२ | निगुणं | निगुणं |
| ७६५ | ८ | विषवण | विषवण |
| ७८१ | १३ | पङ्कत | पङ्कत |
| ७८२ | १५ | खिनवन | विषवण |
| ७८३ | १४ | इत, इति | इति |
| ७८३ | २२ | भूक्तो | भूक्तो |
| ७८४ | २३ | विशुद्धाविति | विशुद्धा |
| ७८५ | १८ | भाञ्जनं | भोजनं |

५६६, ५६०, ५६१, ५६८, ६०१, ६०४, ६०७, ६१३, ६२४, ६२८, ६४२, ६४३, ६४६, ६४७,
६५५, ६६८, ६७२, ६७६, ६७७, ६८५, ६८२, ६८६, ७२१, ७२८, ७३१, ७३४, ७४०, ७४४,
७५०, ७५२, ७६८, ७७२, ७७७, ७७८, ७८१, ७८३, ७८४, ७८४, ७८७, ७८८.

ब्रह्मयमः :—६५४, ६५५.

पराशरः :—५, ५८, ८५, ८७, ८५, १४६, १६७, ३२६, ३५५, ४०१, ४२०, ४३३, ४५२,
४५८, ६०८, ६२३, ६७८, ६८१, ६८४, ६८५, ६८८, ७००, ७०१, ७२६, ७२८, ७४२, ७४८,
७५१, ७५२, ७५७, ७८१, ७८३, ७८८,

सुमन्तुः :—२६८, ४०७, ४१४, ४३७, ५७६, ५८६, ५८४, ७३४, ७४३, ७४६, ७४७, ७५१,
७५७,

ब्रह्मन्तुः :—२८८, ३१८, ५८३, ७५४ ।

सम्बन्तः :—११, १२, १४५, १५८, ५८५, ६०३, ६३८, ६४५, ६४६, ६६८, ६६८, ६७१,
६७५, ६७७, ६८२, ६८८, ७००, ७०३, ७२५, ७२६, ७३१, ७४०, ७४४, ७५३, ७५५, ७६०,
७६८, ७७१, ७७५, ७७६, ७७८, ७७८, ७८०, ७८१, ७८५.

श्रातातपः :—१५, ३३, २२१, २२३, २६८, २८२, २८५, ३२८, ३४४, ४२०, ६७२, ७३०,
७४०, ७५८, ७७०, ७८२, ७८५,

ब्रह्मश्रातातपः : ६३२, ७५८, ४०४, ७६१, ७८२,

भृगुः :—२०६,

ब्रह्मस्यतिः :—१, २, ८, १३, १५, २२, ३१, ५५, ५७, १००, ११२, २५०, २८५, ३१८,
३५१, ३८३, ४५०, ६०५, ६०८, ६१६, ६२२, ६२७, ६२८, ६३३, ६६८, ६७१, ६७४, ६७८,
६८०, ६८६, ६८७, ६८७, ७२३, ७४१, ७४३, ७४५, ७५४, ७५८, ५१३, ५१७, ५१८, ५२५,
५५०, ७६४, ७६५, ७६८, ७७१, ७७४, ७८७, ७८७,

दक्षः :—१६६, ६०७, ६७१, ६७५, ७४८,

क्रातुः :—३५२, ४०८, ६४७, ७५३,

वशिष्ठः :—८६, १२२, १६७, २२२, २५७, २६०, २८०, ३२८, ३४४, ३७३, ३७५, ३८८,
४२८, ४५८, ५२७, ५२८, ५२८, ५३४, ५३६, ५४२, ५५६, ६०६, ६०७, ६३४, ६४१, ६४२,
६६०, ७२३, ७२८, ७३६, ७४१, ७४५, ७५२, ७५३, ७६६, ७६७, ७७८, ७८१,

संस्कारकौस्तुभकारः :—१३, १५,

छान्दोग्योपनिषत् :—१८४,

छन्दीगपरिशिष्टः :—३८२

छन्दीग्यब्राह्मणः :—३५१

बीधायनः :—३५५, ३८३, ३८८, ५२०, ६०३, ६२६, ७४४, ७६५, ७८५

काव्यायमः :—६, ६६, १६६, १६८, ३२६, ३२७, ३२८, ३२८, ३४३, ३४४, ३४७, ३४८,
३७६, ४५८, ५४३, ५४६, ५४७, ५६८, ३३७, ६३८, ७३७,

गावालिः :—६२१, ६८०, ७२६, ७२७, ७३१, ७७८

शङ्खः :—४७, ५३, २२८, २५७ २६४, २४८, ३४८, ३७५, ४०८, ४१४, ३८३, ४२१, ४७३, ६१५,
६६८, ३८३ ४०६, ६१८, ६२८, ६४५, ७०४, ७१८ ७२८, ७३३, ७३५, ७३७, ७४४, ७४६ ७४८, ८५८,
७६०, ७७०, ७६५, ७६३, ७६४ ७७२, ७७७, ७७८, ७७९, ७४२, ७६८, ७८२, ७८८, ७८९,

लिखितः :—४७, ५३, २२८, २५७, २६४, २४८ ४०८, ४१४, ४२१, ५६८, ६४५, ७१८, ७२८
७६५, ७६८, ७७०, ७७७, ७७८, ७७९, ७८२ ७८८

मेधातिथिः :—३१, ८४, १२८, १३८, २२५, ३५७

बृहन्निष्ठाः :—६८२

बृहन्नासः :—७८५

तन्त्रवार्तिकः :—३२

श्रीधरः :—३१, ३२, ३२, १८६

युक्तयुक्तवर्दः :—२००

सौमंस्काः :—२७

पुरुषसूक्तं :—४०५, ४८०

सुयुतः :—१७१, ३६७, ४०३, ४०५, ४११, ४१२, ४१७ ४२१, ४२५, ४२८, ४४०, ४४१, ४४२,
४४३, ४४४, ४४५ ४६४

चरकः :—४१४, ४३१, ४३२, २७, १२८, ४४१,

आचारसारः :—२१

अथर्ववेदः :—१८२

निगमः :—२५, ६६,

सौवामणीनामकयागियुतिः :—२५

श्रुतिः :—३१४, ६१४, ६२२, ४८१

पञ्चदेवी :—४८८

वाग्भटः :—१५५

कुल्लूकभट्टः :—२१, ३१, ६४, ८०, १२०, १२८, १४८, १६४, १७२, १७३, १७४, १८२,
२८४, १८५, २२४, २२५, ३०५, ३११, ३१६, ३३८, ३२८, ३४०, ३५०, ३८२, ४५८, ६८२, ८०२

मदनपारिजातः :—२५३,

बुधस्मृतिः :—२५३

पारस्करः :—२५५, ३३८, ३४१,

शतानन्दः :—११, १५५

श्रीकवशिष्टः :—२५७

संयहः :—२३८, २५२, २८२

संयहकारः :—५११,

मार्कण्डेयपुराणः :—२४४, २७०, २७१, ३४६

लिङ्गपुराणः :—२१६, २६७, २७६,

- वृद्धपराशरः :—३५१
 वृद्धगौतमः :—२५१
 वृद्धपराशरः :—१०८
 व्युत्तिः :—३६६, ३८८, ५०५, ५०६, ५२१, ३५८, ४३८,
 आदित्यपुराणम् :—८, २३, ३६, ३५३, ७२२
 आग्नेयपुराणम् :—५८५
 अग्निपुराणम् :—३५६
 नारदीयव्युत्तिः :—३६७
 षट्दशमः :—२६५, २८५, ३८८, ४०७, ६१४, ६७३, ६७५
 यज्ञपाठः :—१६२, ३७६
 भूजवल भीमः :—१५६,
 पुरश्चरणसौल्लासीयतन्त्रम् :—६, ८
 स्युत्यर्थसारः :—१६३, २८०, ३१७
 यजुर्वेदीयवाजसनेयसंहिता :—२६५, ४८५
 काष्ठांजलिः :—२५१, २५५
 निघण्टुकारः :—४८८
 नित्यकर्मपद्धतिः :—४६६
 वामनपुराणम् :—४१६, ४६१
 मदनरत्नाकरः :—५२१,
 योगीश्वरः :—५१८, ५२४
 हिमचन्द्रः :—४५८
 पराशरीयमाधवभाष्योक्तपुराणम् :—४५०
 पण्डित सर्वस्वम् :—४५५, ६८४, ६८८, ७२१, ७२५,
 पण्डित सर्वस्वकारः :—६१६, ६३४, ६८४,
 पण्डित सर्वस्वोद्धृतवचनम् :—६५७, ७२१, ७२५,
 व्युत्तिचन्द्रिका :—३४१, ५२४
 व्युत्तिसंग्रहः :—५२३
 कल्पतरुः :—८८, ७८७
 वैद्यनाथः :—८३,
 गरुडपुराणम् :—६८, ११२
 सङ्गासतन्त्रम् :—८८
 पृथ्वीचन्द्रः :—६६
 विष्णुपुराणम् :—७४७, ४८, १८२, २१३, २५७, २६१, २७५, २८३, २८८, ३११, ३४७,
 ४३६, ४३७, ६६८, ६७४, ६८४, ७६०, ७७१, ७७२, ७८३

चन्द्रिकाकारः :—३१४,

शिवपुराणम् :—३४२, ६७४, ६८४, ७३६, ७४६, ७७१, ७८३,

देवीभागवतं :—३४२

सनत्कुमार संहिता :—३४३

वेदीयप्रमाणम् :—३४४

सृतेभास्करः :—३४६,

घौस्यः :—४१०,

गादाधरीयाचारसारः :—

देवलः—२१, ४६, ५७, १७५, २४८, २५६, २८६, ३२२, ३८६, ३८८, ३९०, ३९३, ३५३, ४१६,
५०२, ५२७, ४३५, ४३६, ४३८, ५५१, ५६८, ५८०, ५८०, ६११, ६१८, ६२३, ६२५, ६२८, ६३०,
६६१, ६७२, ७४३, ७५१, ७५७, ७६१, ७६२, ७८३,

जैमिनिः—१, ४४, २३२, २८१,

माधवीयकारिकाः—१, १६, ३६, ८४, ११६, ११८,

चार्वाकदर्शनं—२

भागवतं—३, ४, ५, ८, ३२, ४४, ५६, ५८, ६२, १२७, १७८, १८३, २६६, २८५, ३७७

गीतगोविन्दः :—३

अत्रिः—३, १३, १४८, ५३०, ४४८

विमानेश्वरः :—३, १८, २१, ३३, ११८, १२५, १३०, १३८, १५३, २२६, १६५, ३०७, ६५६, ६६४,
६८०, ६८६, ४५५, ५१८, ७८०, ७८१, ७८८

विज्ञानेश्वरधृतस्युतिः :—३८७, ३८२

कालिदासः :—१४४,

स्कान्दपुराणः :—५, ४१५, ४७५

अविष्यपुराणः :—१३३, १४६, ३४७, ४८६ ३८७, ४०५, ४१०, ५४१, ५४२, ५४३, ५४६ ५८७,
५८८, ५८९, ५९३, ५९६, ५९७, ६०२ ६०५, ६०८, ६०८, ६१२, ६१४, ७३२, ७३४ ७४१, ७४६, ७५६,
७२०, ७४

कालसारः :—५, १०, १२५, १४५, ३४७

कश्यपः :—१४५, १४६, १६०, २३०, २४२, ३८४ ७२५, ७३७

कश्यपः :—७३१, ४०८, ७०२, ७३१

आश्वलायनः :—१२, ६२, १५२, १६१, ३१०, ३१२

हारीतः :—६, १२, ४५, ३५५, ३८६ ३८१, ३८८, ४१८, ४६०, ५१४, ५२१, ५८२ ६०४, ६२४,
६२७, ६३४, ६६७, ६८०, ७२१ ७२५, ७३०, ७३२, ७४१, ७५४, ७५७, ७६२ ७६८, ७७२, ७८०,
७८४, ७८६

विष्णुः :—६, ५६, २५६, २५८, २५८, २६०, ३१३, ३१५, ३१७, ३४८, ३८२, ४०८, ४१६ ५२७,
५८५, ५८७, ६००, ६०१, ६०३, ६११ ६१७, ६२६, ६३०, ६४१, ६४२, ६४६, ६५७ ६८५, ६८६,

७०४, ७२८, ७२८ ७३१, ७३२, ७३३, ७३७, ७४०, ७४७, ७४८ ७५८, ७६२, ७७१, ७८०, ७८४, ७८७
७८८, ७८८, ७८९

लघु-विष्णुः :—५८८, ७५५, ७६२,

गारदः :—१८, १४२, १६८, २२३, २५७, २५८, २७७, २७८, २८८, ३२५, ३२६, ३३२, ३३२, ३३२, ३३३, ३३४, ३४८, ३५५, ५३२, ५४२, ६०३, ६४४, ४८८, ५०१, ५११, ५१२, ५१३, ५१८, ६८५, ६८९.

विद्याकरीयनित्याचार पद्धतिः :—१५, १४२, १४३, २८०

वृद्धहारीतः :—२०, १६०

जघ्नहारीतः :—७५३, ७५४, ६, १६४, ७६३,

कृष्यशङ्कः :—७५४, ७७४,

नीरुतन्त्रः :—७,

गर्गः :—१५६

प्रचेताः :—६, ६२८, ६२८, ६३०, ६७५, ६७८, ७६८, ७६६

वृद्धप्रचेताः :—७६६, ७६७,

लङ्काः :—२२१,

मत्स्यसूक्तमहातन्त्रः :—२२६,

चण्डीचरणः :—२३१

मलमासतन्त्रः :—२३२, २३४

गौतमः :—१०५, ११३, १६५, १२१, २३५, २४७, २५५, २५८, २६७, २६३, ३२८, ३४५, ३८८, ४०१, ४०८, ११४, ४२८, ५००, ५६६, ५२४, ६१७, ६२२, ६३३, ६४८, ७०४, ७३४, ७६४, ७७८, ७८३

आपस्तम्बः :—३३, २७८, २८१, ३१२, २४६, ३४८, ३८८, ३८२, ४०७, ४०८, ४०८, ४१०, ४१३, ४१६, ४१८, ४३३, ४१८, ५२७, ५८०, ६३३, ६४८, ६७७, ६८३, ६८४, ७०१, ७२०, ७४३, ७५०, ७५७, ७५८, ७५८, ६८५, ६८८, ७६१, ६७३, ७७७, ७८०, ७८०, ७८२,

रघुनन्दनः :—२४७, ६७०, १४७,

शूलपाणिः :—२८८, ६०५, ६६१, ७७७, ७८३, ७८४, ७८८, ७८३, ७८५, ७८८

दाक्षिणात्यसंग्रहकारिका :—२८१

मरीचिः :—२८४, २४८, २८८, ७८२

विश्वरूपनिवृत्तः :—२८२,

वोपदेवः :—२८१,

आच्यः :—२८३, ४३२

चक्रपाणिदत्तः :—२८३,

महानिर्वाणतन्त्रः :—२८६

श्रीनकः :—३०८, ३२२, ५००,

भगवद्गीता :—३०, ४२, १७८, १८१, १८२, १८३, १८६, २०१, ३०४, ३०६,

भविष्ये :—११, २५, ४८, २३,

कमलाकरभट्टीयै :—

महाभारतम् :—११, १३, ५४, ५६, ७७, ७०, १४६, १४८, १५७, १६८, १७८, ३४४,
३४२, ३८४, ३८७, ४५८, ४६०, ४८६, ५६८, ६८७, ६००, ७६८

कैयटः :—३३

ऋग्वेदः :—२६४, ४८४,

ऋग्वेदभाष्यः :—४४, १८१

यजुः संहिता :—१८१,

श्रवचिन्तामणिः :—४४,

गोविन्दराजः :—४६

वाराहः :—४२, ४२, ४५,

यजुर्वेदीय सत्यापद्धतिः :—४७४

ब्राह्मे :—२८८, ३४८, ३८६, ३८६, ३८७, ३८१, ३८२, ३८४, ४०६, ४०८, ४११, ४१६,
४१८, ४३६, ४३७, ४३७, ४३८, ४३९, ७४३,

ब्रह्मपुराणम् :—२६२, ३२१, ३३५, ४५६, ५८१, ६८८, ६६७, ६७०, ६८१, ६८३, ७४६,
७५१, ७५६, ७५८, ७६०, ७७२, ७७६,

रामायणः :—६४८, ४८७,

विद्यामित्रः :—३८५, ५६७, ६००, ६११, ६७३, ७८८, ७८४

पैठीनतिः :—२५७, २५८, २६२, २८०, ३८५, ३८८, ४१८, ४२१, ६००, ६२७, ७२८,

७३०, ७४७, ७८२,

उज्जनाः :—३४८, ३५१, ३७५, ३८८, ४०८, ६२५, ६८२, ७४४, ७४४, ७४४, ७४५, ७८५, ७८८,

पण्डित सर्वस्वः :—४५५, ६८४, ६८८, ७२१, ७२६

पण्डित सर्वस्वकारः :—६१६, ६३४, ६८४

पण्डित सर्वस्वोक्त वचनम् :—६५७, ७२१, ७२५

श्रुतिचन्द्रिका :—३४१, ५२४

श्रुतिसंग्रहः :—५२२

शाल्यवकः :—८८, ७८७

वैद्यनाथः :—८३,

गरुडपुराणः :—६८, ११२

उल्लासतलः :—८८

श्रुचिन्द्रः :—६६

विष्णुपुराणम् :—४७, ४८, १८२, २१३, २५७, २६१, २७५, २८३, २८८, ३११, ३४७, ४३६, ४३७,
६६८, ६७४, ६८४, ७३०, ७७१, ७७२, ७८३

चन्द्रिकाकारः :—३१४

शिवपुराणम् :—३४२, ६७४, ६८४, ७३६, ७४८, ७७१, ७८३

देवीभागवतं :—३४२

सगन्तुमारसंहिता :—३४३

वेदीयप्रमाणम् :—३४४

सृतिभास्करः :—३४६

शौन्यः :—४१०

गादाधरीयाचारसारः :—४४८

अगस्त्यसंहिता :—४४६

आचारपल्लवः :—४५०

जमदग्निः :—४१८

बृहद्बर्धनपुराणं :—३४८

कुमारवचनं :—४००

आयुर्वेदः :—४००, ४११

भाव प्रकाशः :—४०१, ४०३, ४१६

बृहन्नारदीयपुराणं :—५८, ८३, ३५३

प्रायश्चित्तमनीहरः :—५८६, ६१४, ६१५, ६२०, ६०६, ६८८, ७२२

षड्विंशतः :—६३८

चतुर्विंशतिमतः :—५५, २२३, २२४, २५७, २६१, २६२, २७१, २७३, २८३, २८४, ६५३

पराशरोपपुराणं :—५१

पद्मपुराणम् :—५०, ५३, ४४६,

निर्णयसिन्धुः :—१४६, १६०, २८६

राजमार्तण्डः :—१२, १५७, १५८, २२६

वीषावनसूत्रं :—१२, ८८, १४७, १६२, २२१, २२४, २३०, २५५, २७४, २७८, ३२४, ३२५, ३२८, ३२९

३२८

चरणव्यूहः :—४७,

कूर्मपुराणं :—४८, ५१

मत्स्यापुराणं :—५०, २३८, २४०, २४४, २४६, २७५, २८६, २८१

तन्त्रारण्यः :—३६६

हिमाद्रिः :—५५, ५८, ५९, २८६

प्रयोगप्रारिजातः :—५४, १६८

लोमाचिः :—५४, ७७, २००

भट्टवासिककृतः :—५३

विष्णुचर्मोत्तरः :—६१३, ६६७

जावालिपः :—६२४

गोविन्दानन्दः :—६६१, ७३२, ७४०

गोभिलः :—६६८, ७०३, ७०४

अवतः :—६७८, ७२८

चन्द्रप्रदीपः :—७२८, ७८५

प्रायश्चित्ततत्त्वः :—६६२

वीरमिमीक्षः :—१६६, २१६, २४४, ३२१

भविष्योत्तरः :—२६८

शाकलः :—५३३

व्यासः :—६, ५४, ८८, १०५, १८५, २२५, २६८, २७५, ३१५, ३१७, ४५३, ५१४, ५२३, ५७८, ५८१, ५८३, ६०२, ६१८, ६२६, ६३१, ६३३, ६६७, ६८०, ६८३, ६८८, ७०२, ७०३, ७२४, ७५६, ७८८

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR
LIBRARY.

Jangamwadi Math, VARANASI.

Acc. No.

1584



प्रयोगप्रति

ली

भट्टवर्मा

विश्वप्रयोग

प्र
खान
भट्टवा
विष्णुवर्मा

